विचार-पीयूष

हि. ८२५
वि. ४९ क्रम
४७

लेखक
पूज्य श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज

प्रकाशक
श्रीसन्तशरण वेदान्ती
प्रचारमंत्री
अखिल भारतीय रामराज्य-परिषद्
वाराणसी

प्रथमावृत्ति] १९७५ ई० [सहायतार्थ : बाईस रुपये

प्रकाशक :
श्रीसन्तशरण वेदान्ती
प्रचारमंत्री,
अखिल भारतीय रामराज्य-परिषद्
वाराणसी

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्राप्ति-स्थान :
धर्मसंघ, प्रचार-विभाग
दुर्गाकुंड, वाराणसी

सहायतार्थ : रु० २२–००

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
सी–के० ३६/२०, ढुंढिराज
वाराणसी

प्रकाशकीय

अनन्तश्री पूज्य स्वामी करपात्रीजी महाराज मानवके समग्र दिव्य-जीवन के लिए वरदानस्वरूप भारतके प्राचीन वैदिक दर्शन एवं आचारों के गंभीर चिन्तन-मनन-कर्ताओं तथा उसका तात्त्विक स्वरूप प्रस्तुत करनेवाले अंगुलिगण्य भारतीयों में प्रमुख हैं, इस विषय में कम-से-कम किसी निष्पक्ष विचारशील विद्वान् की दो राय नहीं हो सकती, भले ही उसे उनके विचार पूर्णतः या अंशतः मान्य न हों। हम तो एक कदम आगे बढ़कर यह भी कहेंगे कि आजके उदारतावादी युग में प्राचीन भारतीय वैदिक विचारों को जितना उदार बनाने पर उनका मौलिक स्वरूप भ्रष्ट नहीं हो पाता, पूज्य स्वामीजी ऐसे युगानुरूप प्राचीन भारतीय वैदिक विचारों के प्रस्तोताओं में अग्रणी ही कहे जायेंगे।

सौभाग्य की बात है कि अपने जीवन का बहुत अधिक समय भारतीय संस्कृति के विभिन्न विषयों को सुनियोजित रूप में लिपिबद्ध करने के अपने व्यापक अध्यवसाय के सन्दर्भ में स्वामीजी ने आज हम भारतीयों को यह 'विचार-पीयूष' नामक विशालकाय ग्रन्थ भेंट करने की

महती कृपा की है। इस पुस्तक में जहाँ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय वैदिक दृष्टिकोण का उपस्थापन किया गया है, वहीं उस तथाकथित वैदिक भारतीय दृष्टिकोण की युक्ति एवं प्रमाण-पुरस्सर विस्तृत समीक्षा भी की गयी है, जो दृष्टिकोण ज्ञात-अज्ञातरूप में पाश्चात्य दृष्टिकोण एवं विचारधारा से अभिभूत, स्वयं को भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू-संस्कृति के उन्नायक घोषित करनेवाले समाजसेवी विद्वानों ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। सचमुच सनातन वैदिक धर्मानुयायी जगत् के लिए यह अत्यन्त आवश्यक, एवं अनुपेक्षणीय विषय रहा, जिसकी पूर्ति की सर्वांगीण क्षमता हमें तो पूज्य स्वामीजी में ही दीखती है। वैदिक दृष्टिकोण के सर्वथा विरोधी लोगों द्वारा की जानेवाली इस धर्म की और इसके प्रमेयों की निन्दा या उसका विकृत रूप में उपस्थापन उतना घातक नहीं होता। कारण, जनसाधारण सहज ही समझ जाता है कि ये उस दृष्टिकोणके मूलतः विरोधी ही हैं। किन्तु जो उस दृष्टिकोण के समर्थक होकर भी पाश्चात्य प्रभाव या अपने अभिप्राय-विशेषसे उसका भ्रामकरूप प्रस्तुत करते हैं, उससे विशुद्ध वैदिक दृष्टिकोण की महती क्षति संभाव्य होती है। आगे चलकर उसके वास्तविक रूप और रहस्य से अनभिज्ञ जन उसी रूप को यथार्थ मानने लगते हैं और मूल विशुद्ध वैदिक दृष्टिकोण संकरदोष से दूषित हो जाता है। इसी दृष्टि से महाराजश्री का यह प्रयास मननीय एवं समादरणीय है। हम समझते हैं कि स्वयम् वे भी समालोच्य विद्वानों के प्रति अत्यन्त आदरभाव और उनके भारतीय संस्कृति के वास्तविक समुन्नायक प्रयासों के प्रति कृतज्ञता रखते हैं। विचारों का कसकर खण्डन करते हैं, पर साथ ही उनके उपस्थापक का हार्दिक आदर-सम्मान भी। अतएव यह प्रयास उनके या उनके विचारशील अनुयायियों के लिए कभी उद्वेजक सिद्ध नहीं होगा। अन्ततः 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' भारतीयों का सिद्धान्त है ही।

हाँ, तो प्रस्तुत ग्रन्थ में 'भारतीय राजनीति एवं आधुनिक वाद' पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में भारतीय राजनीति का विशुद्ध विवेचन है, जिसमें 'वेदों से स्मृतियों तक', (१–२५), 'महाभारत की दृष्टि में' (२६–१३९), 'नीतिकारों की कसौटी पर' (१४०–१५२), 'कवियों की काव्य-कला में' (१५३–१८८), 'तत्त्वज्ञान और वर्णाश्रम-धर्म' (१८९–२०८), और 'शास्त्रोक्त धर्म एवं भगवन्नाम' (२०९–२४१) ये छह प्रकरण आते हैं।

द्वितीय भाग है, आधुनिक वाद। यद्यपि इसमें ११ प्रकरण हैं, तथापि प्रथम प्रकरण 'क्या वेद-शास्त्र का प्रामाण्य मानना अपकर्ष ?' (२४३–४७४) सबसे बड़ा है। इसमें पूज्य

स्वामीजी ने स्वर्गीय श्री मा० स० गोलवलकरजी के 'विचार-नवनीत' ग्रन्थ में संकलित विभिन्न विचारों की विस्तरशः समीक्षा की है, जिसमें उनका प्रमुख विचार है : 'हमारी सांस्कृतिक परम्परा का दूसरा विशिष्ट पहलू यह है कि हमने किसी भी ग्रन्थ को अपने धर्म और संस्कृति की एकमेव सर्वोच्च सत्ता नहीं माना।' पूज्य स्वामीजी एवं समस्त वैदिक सनातनी जगत् की मान्यता है कि हमारी संस्कृति की सर्वोच्च, चरम सत्ता वेद-शास्त्र ही हैं। उनके विपरीत हम एक कदम भी नहीं चल सकते। इसीलिए इस प्रकरण का नाम 'क्या वेद-शास्त्र का प्रामाण्य मानना अपकर्ष ?' रखा गया। जैसा कि कहा गया है, इस प्रकरण में 'विचार-नवनीत' के कितने ही पृष्ठों पर अंकित विभिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक विचार, पाश्चात्त्य राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों की समीक्षा, कम्यूनिज्म, विकासवाद आदि वादों की आलोचना आदि विभिन्न विषयों पर स्वामीजी ने अपना पृथक्-पृथक् वैदिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। अतः प्रत्येक के अलग-अलग प्रकरण न कर इसी प्रमुख समालोच्य विषय के नाम पर ही यह करीब ढाई सौ पृष्ठों का प्रकरण रख दिया गया। पाठक इसे पढ़कर अपने सुविधानुसार विषय-विभाग कर लेंगे। इसके बाद दूसरा प्रकरण है 'हमारी राष्ट्रियता : एक समीक्षा' (४७५–४८१)। इसमें भी स्वर्गीय श्री गोलवलकर के 'विचार-दर्शन' एवं 'हमारी राष्ट्रियता' ग्रन्थों के प्रकाश में शास्त्रीय दृष्टि का समुपस्थापन किया गया है। इसके पश्चात् 'राष्ट्रियता की कसौटी' (४८२–४९२) प्रकरण है, जिसमें राष्ट्रियता का विशुद्ध शास्त्रसिद्ध रूप प्रस्तुत किया गया है। आगे 'संस्कृति का अर्थ और वर्ण-व्यवस्था' (४९३–४९८) प्रकरण है और फिर "जाति और हिन्दुत्व : शास्त्रीय दृष्टि में" (४९९–५११) प्रकरण, जिनके विषय नामतः स्पष्ट हैं। 'तीन राष्ट्रिय स्वतन्त्रताएँ' (५१२–५२३) इस छठे प्रकरण में शिक्षा की स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता और धन की स्वतन्त्रता के औचित्य पर शास्त्रीय दृष्टि उपस्थापित है। सातवें प्रकरण 'वैयक्तिक सम्पत्ति और आर्थिक सन्तुलन' (५२४–५२९) को शास्त्रीय दृष्टि में देखा गया है। आगे 'धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन राज्य' (५३०–५४२) भारतीय राजनीति का प्रधान लक्ष्य प्रौढ़ि के साथ वर्णित है। नवाँ प्रकरण 'मार्क्सवाद और स्वेतलाना' (५४३–५६३) में कम्यूनिज्म के महान् प्रयोक्ता स्टालिन की बेटी की जबानी में कम्यूनिज्म का धूर्ततापूर्ण खोखलापन अपनी टिप्पणी के साथ प्रदर्शित है। दसवाँ प्रकरण 'भारत में जनतन्त्र' (५६४–५६९) वर्तमान चालू राजनीति का विषय है। अन्तिम ग्यारहवाँ प्रकरण है 'कौटिल्य और अध्यात्म' (५७०–५८२)। इस तरह यह द्वितीय भाग (२४३–५८२) इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा भाग और पाश्चात्त्य-पौर्वात्य उभयविध विभिन्न-विषयक विचारधाराओं का अपूर्व संगम कहा जा सकता है।

ग्रन्थ का तृतीय भाग है, 'सुधारक हिन्दू और शास्त्रीय सनातनधर्म'। इसमें मुख्यतः स्वर्गीय वि० दा० सावरकरके 'भारतीय इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ' ग्रन्थ की तात्त्विक समीक्षा है। जहाँ उनकी विचारधारा सर्वथा युक्तियुक्त एवं शास्त्रशुद्ध है, पूज्य स्वामीजी ने बड़े आदर के साथ उसका समर्थन किया है और उसके माननीय लेखक का हार्दिक सम्मान किया है। किन्तु जहाँ लेखक पाश्चात्त्य प्रभाव से प्रभावित हो भारतीय दृष्टिकोण का विवेचन करता है या हिन्दुत्व के वितथ अभिनिवेश में पड़कर वदतोव्याघात जैसी बातें करते हैं या शास्त्रनिष्ठा से परे नास्तिक बनने में ही अपना गौरव दिखलाते हैं, वहाँ उन्हींकी बात, उन्हींके गले में डालने में भी पूज्य स्वामीजी ने कोई कोर-कसर नहीं की है। हमें तो 'भारतीय इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ' पर पहले से आदर था ही। कारण, उसमें वीर सावरकरजी ने इतिहास के अब तक अप्रसिद्ध अनेक पृष्ठ खोले हैं, जो भारतीयों के व्यक्तित्व में असाधारण निखार लाते हैं। किन्तु उनके कई उपर्युक्त अटपटे विधान हमें भी तब से खटकते रहे हैं। सौभाग्य की बात है कि पूज्य स्वामी ने उनकी यह विस्तृत समीक्षा कर उसे और भी उपादेय बना दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक की समीक्षा के प्रसंग में पूज्य स्वामीजी ने सुधारक हिन्दुओं में महात्मा गांधी, महामना मालवीय को लेने के साथ आजके तथाकथित सनातनी सुधारकों को भी आड़े हाथ लेने में कसर नहीं की। उनका नामोल्लेख व्यर्थ ही उन्हें महत्त्व देना है। कुल मिलाकर यह तृतीय भाग इसी विषय पर है, यद्यपि अन्तर्गत अनेक विषय चर्चित हैं। अतएव इस भाग के भी पृथक् प्रकरण न बनाकर एक ही प्रकरण रख दिया गया है।

इस तरह यह 'विचार-पीयूष' सचमुच विशुद्ध भारतीय वैदिक विचारसागर से पूज्य स्वामीजी द्वारा बड़े श्रम एवं अध्यवसाय से मथित पीयूष ही है। यह दैवी या आसुरी सम्पदा-सम्पन्न जिस किसीके हाथ लगेगा, अविशेषेण सभीको अमर बना देगा। इस कृपा के लिए विचारक-जगत् पूज्य स्वामीजी का आभारी रहेगा।

—सन्तशरण वेदान्ती

धन्यवाद-प्रकाश

विचार-पीयूष के प्रकाशन में

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज के अनन्य शिष्य

श्री स्वामी ईशानानन्द सरस्वतीजी महाराज (श्री बाबा)

की सत्प्रेरणा से

जिन भक्तों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, वे धन्यवाद के पात्र हैं। साथ ही इसकी प्रकाशन-व्यवस्था में जिन महानुभावों द्वारा सहयोग प्राप्त हुए हैं, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

—प्रकाशक

अ नु क्र म

॥ श्रीहरिः ॥

विचार-पीयूष

भारतीय राजनीति : प्रथम भाग

१. वेदों से स्मृतियों तक

वेद समस्त विद्याओं का उद्‌गम-स्थान है, फलतः राजनीति एवं दण्डनीति का भी वही आधार है। सूत्ररूप से वेद-मन्त्रों, उपनिषदों में उनका जो वर्णन है, उसीका पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्रों में विवरण किया गया है। राजधर्म में संपूर्ण राज्य का प्रतिनिधि राजा ही माना जाता है। अतः वहाँ उसीको सदाचारी एवं स्थिर-स्थावर बनाने का प्रयत्न किया गया है :

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम्॥

(अथर्ववेद संहिता ६.८८.१)

अर्थात् जैसे द्युलोक ध्रुव या स्थिर है; पृथ्वी ध्रुव है, नित्य है; ये सारे पर्वत ध्रुव, अडिग हैं; यह सम्पूर्ण जगत् भी प्रवाह-रूप में ध्रुव है वैसे ही संपूर्ण प्रजा का यह राजा भी ध्रुव है।

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥

(अथर्व० ६.८७.१)

हे राजन्, आपको हम लोग अपने राष्ट्र में लाये हैं। आप हमारे राष्ट्र के अधिपति हैं और इस प्रकार अविचल होकर आसीन हैं। सभी प्रजा सानुराग होकर आपकी अपने स्वामी के रूप में वाञ्छा करे। यह राज्य कभी भी आपसे भ्रष्ट न हो, सदैव आपके शासन में रहे।

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत्॥

(अथर्व० ७.९९.१)

ध्रुव, स्थिर, सुप्रतिष्ठित पुरोडाश आदि हवि से युक्त ध्रुव-ग्रह (यज्ञीय विशेष पात्र) में स्थित सोम को हम इन्द्र के लिए अवनमन, उपस्थापन करते हैं।

अथवा ध्रुव सोम को हम शकट से आसन्दी (कुरसी) पर अवतारित करते हैं जिससे इन्द्र असाधारण रूप में समस्त प्रजा को मेरे प्रति संगत-मनस्क अर्थात् अनुरागिणी बनायें।

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत्।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥
(अथर्व० ६.८७.२)

राजन्, आप इसी राज्यसिंहासन पर सर्वदा विराजते रहें। कभी भी प्रच्युत न हों। आप पर्वततुल्य अत्यन्त अविचल रहें। इन्द्र की तरह स्थिर रहें और इस राष्ट्र का धारण-पोषण करें।

इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः॥
(अथर्व० ६.८७.३)

स्थिरताप्रद, हमारे द्वारा प्रदत्त इस हवि से सन्तुष्ट इन्द्रदेव ने इस राज्य में इस राजा को अधिष्ठित किया है। इसके लिए राजा सोम सानुराग होकर कहें कि 'यह मेरा है।' इसी प्रकार ब्रह्मणस्पति भी कहें।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥
(अथर्व० ६.८८.२)

हे राजन्, आपके राष्ट्र को राजमान ईश्वरस्वरूप वरुण ध्रुव, स्थिर करें। देवमन्त्री बृहस्पति भी आपके राज्य को स्थिर करें। इसी प्रकार इन्द्र तथा अग्नि भी आपके राज्य को स्थिर रखें।

अथर्ववेद-संहिता के पन्द्रहवें काण्ड के दूसरे अनुवाक में कहा है कि परमात्मा ने प्रजा का अनुरंजन किया, उसीसे राजा का आविर्भाव हुआ : **सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत।** (अथर्व० १५.८.१)

द्वितीय अनुवाक के प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है कि वह बन्धुओं सहित प्रजाओं को अन्न प्राप्त कराने और उनको पाचन-शक्तिसम्पन्न बनाने के उद्देश्य से प्रयत्नशील हुआ : **स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत्।** (अथर्व० १५.८.२)

वह राजन्यरूप व्रात्य परमेश्वर प्रजाओं को उन्नति के अनुकूल चला : **स विशोऽनु व्यऽचलत्।** (अथर्व० १५.९.१.)

उसके पीछे सभा, समिति, सेना तथा मादनी शक्ति भी चली : **तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानु व्यऽचलन्।** (अथर्व० १५.९.२.)

आजकल विधान-निर्मात्री, कार्यपालिका और न्यायपालिका ये तीन सभाएँ हुआ करती हैं। किन्तु भारतीय संविधान वेद नित्य (स्वयम्भू) हैं। उनका निर्माण नहीं, अर्थ-निर्णय ही करना होता है। अतः यहाँ कार्यपालिका विधान को कार्यान्वित कराती है तो न्यायपालिका विवाद उपस्थित होने पर विधान के तात्पर्य का निर्णय करती है। सेना कार्यपालिका की सहायता करती है। यह सब व्रात्यरूप परमेश्वर की क्रीड़ा है। अतः इसका चिन्तन करने से भी प्राणी प्रजाओं, बन्धुओं, अन्न और अन्नाद, सभा, समिति, सेना तथा मादनी शक्ति का प्रिय-धाम बनता है :

सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।
(अथर्व० १५.९.३)

इसके पश्चात् ब्रह्मबल और क्षत्रबल उठते हैं। ब्रह्मबल बृहस्पति में और क्षत्रबल इन्द्र में प्रविष्ट हुआ। अधिभूत में पृथ्वी, बृहस्पति, द्युलोक, इन्द्र और अधिदैव में अग्नि, ब्रह्म तथा आदित्य इन्द्र हैं।

उस राजधर्म का सभा, समिति और सेना तीनों मिलकर पालन करें। सभीसे राजा अनुरोध कर कहे कि हे सभ्य, मुख्य सभासद, आप मेरी सभा और सभा की व्यवस्था का पालन करें। अन्य जो सभ्य सभासद हैं, वे भी सभा की व्यवस्था का पालन करें :

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।
(अथर्व० १९.५५.५)

जो मनुष्यों में परम ऐश्वर्यशाली इन्द्र शत्रुओं को जीतता है और पराजित नहीं होता; राजाओं का भी अधिराज, सर्वोपरि विराजमान होकर बल-वीर्य द्वारा हम सबको प्रख्यापित करता है; जो अत्यन्त योग्य, प्रशंसनीय, सत्करणीय, वन्दनीय तथा सबका माननीय होता है, उसीको राजा बनाना उचित है :

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्योऽभवेह॥
(अथर्व० ६.९८.१)

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय
महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। (शुक्लयजुः० ९.४०)

"हे देवाः सवित्रादयः, इममुकसंज्ञं यजमानमसपत्नं सपत्नरहितं कृत्वा सुवध्वं प्रेरयध्वम् । किमर्थम् ? महते क्षत्राय महत्यै क्षत्रपदव्यै । महते ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय । महते जानराज्याय, जनानामिदं जानं जानं च तद्राज्यं च जानराज्यम् । जनानामाधिपत्यायेत्यर्थः । इन्द्रस्यात्मनः इन्द्रियाय वीर्याय आत्मज्ञानसामर्थ्याय । इमं यजमानं सुवध्वमित्यर्थः ।"

(भाष्य)

अर्थात् हे सवितृ आदि देवताओ ! इस राजा को शत्रुरहित महती क्षत्र-पदवी, महती उत्कृष्टता तथा महान् जनाधिपत्य के लिए प्रेरित करें एवं आत्म-ज्ञान-सामर्थ्य के लिए भी प्रेरित करें ।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥

(अथर्व० १.३९.२)

यह मरुत्-देवताओं का स्तावक मन्त्र है । प्रसंगानुसार बलप्रधान, देशरक्षक सैनिक एवं सेनापतियों को भी प्रोत्साहन देनेवाला है । इसमें कहा गया है कि आप लोगों के आयुध (अस्त्र-शस्त्र) शत्रुओं को पराभूत करने के लिए स्थिर (समर्थ) हों । शत्रुओं के प्रतिष्कम्भ (प्रतिरोध) करने में वीळू (दृढ़) रहें । आप लोगों की तविषी (बल या सेना) अत्यन्त प्रशंसनीय हो । जो 'मायिनः' (अर्थात् हमारे और हमारे देश के साथ छद्मय व्यवहार करनेवाले), मनुष्य (शत्रु) हों, उनका बल ऐसा न हो और उनके आयुध भी स्थिर न हों ।

'बृहदारण्यक' उपनिषद् में कहा गया है कि यद्यपि अभिषिक्त क्षत्रिय सम्राट् सब प्रजा का नियामक होता है, तथापि उसका भी नियन्त्रण करनेवाला धर्म होता है । इसीलिए धर्म क्षत्र का भी क्षत्र है । वही राजा का भी राजा है : **तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः** (बृ. उ. १.४.१४) । धर्म-नियन्त्रित राजा ही सम्यक् रक्षण एवं पालन कर सकता है ।

ऐसे ही धर्म-नियन्त्रित शासक ने उपनिषद् में कहा था कि मेरे राज्य में कोई भी चोर, कदर्य (कृपण), मद्यप, अनाहिताग्नि (स्वधर्मविमुख) और अविद्वान् नहीं है । कोई व्यभिचारी पुरुष नहीं, तो फिर व्यभिचारिणी स्त्री हो ही कैसे ?

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

कितना सुन्दर आदर्श है ! यदि इसका पालन किया जाय तो सम्पूर्ण विश्व वैकुण्ठ-धाम ही बन जाय। ऐसे राज्य या विश्व में सभी प्रजा को अनायास ही लौकिक-पारलौकिक उन्नति और मोक्ष (भगवत्पद-प्राप्ति) सिद्ध हो जाते हैं।

धर्म-नियन्त्रित राजतन्त्र एक विशुद्ध शास्त्रीय व्यवस्था है। इसी व्यवस्था में महाराज रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, दिलीप, शिवि, रन्तिदेव आदि लोकप्रिय आदर्श राजर्षि हुए। वे योग्य मन्त्रियों, निःस्पृह सभ्यों की सभा में कार्याकार्य का विचार कर प्रजा-हितार्थ अपने सर्वस्व की बाजी लगाने के लिए हर समय प्रस्तुत रहते थे। पद-लोलुप लोग उनकी शासन-सभाओं के सभ्य नहीं हो सकते थे। व्यवहार-वेत्ता, प्राज्ञ, वृत्त-शील-गुणान्वित, शत्रु-मित्र में समान-बुद्धि रखनेवाले, निरालस, धर्मनिष्ठ, सत्यवादी, काम-क्रोध-लोभ को जीतनेवाले, प्रियंवद (प्रियभाषी) सभ्य ही उन शासन-सभाओं के सदस्य होते थे। वे भिन्न-भिन्न जातियों के हुआ करते थे :

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः॥
निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः।
राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु॥

(शुक्रनीति ४.५३९-४०)

इस तन्त्र को वर्गों-जातियों का भेद मिटाना अभीष्ट न था। किन्तु सबको योग्य एवं एक दूसरे का पूरक तथा पोषक बनाना ही उनके प्रयत्न का उद्दिष्ट था।

शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण, शूर, धनुर्धर, महारथी एवं लक्ष्यभेदी क्षत्रिय, दोग्ध्री गौ तथा भारवहन-समर्थ बलवान् वृषभ एवं शीघ्रगामी अश्वों की कामना की जाती थी।

घरों में कुलपालिनी पतिव्रता स्त्री, विजयरथी प्रियदर्शी सभ्य वीर युवक, यथेष्ट वृष्टि, फलयुक्त औषधियों तथा सबके योग-क्षेम की कामना की जाती थी।

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।

(शुक्लयजुः० २२.२२)

केवल सीमित एक राष्ट्र का ही नहीं, अपितु वैदिक-दृष्टि से राजसूय-यज्ञ का अनुष्ठान करके अखण्ड भूमण्डल में शान्ति एवं सुव्यवस्था करना वैदिक-सम्राट् का परम कर्तव्य था।

राजाओं को वश में करके राजसूय-यज्ञ का पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य का अनुष्ठान किया जाता था। निम्नलिखित वेदमन्त्र में इसी साम्राज्य-स्वाराज्य का वर्णन करते हुए समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी के एक राष्ट्र का वर्णन है :

…साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः… । पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति… ।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति (मनु० ७.८) तथा **नराणां च नराधिपम्** (गीता १०.२७) इन वचनों के आधार पर राजा को ईश्वर का प्रतिभू माना जाता है। फलतः उसमें आंशिक रूप में ईश्वर के गुण भी होने ही चाहिए।

'ईशावास्योपनिषद्' में ईश्वर को कवि, मनीषी, परिभू कहा गया है। ईश्वर कवि, क्रान्तदर्शी = अतीत-अनागत-वर्तमान का द्रष्टा होता है। इसी तरह राजा को भी कवि होना चाहिए। अर्थात् इतिहास का अध्ययन कर स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के अतीत का ज्ञान, चारों एवं वृत्तपत्रों द्वारा वर्तमान का अनुभव तथा अनुमानों द्वारा भविष्य का अनुमान लगाकर नीति-निर्धारण करना चाहिए। इस प्रकार अतीत, अनागत, वर्तमान का द्रष्टा होने से राजा भी 'कवि' हो जाता है।

ईश्वर मनीषी होता है, अर्थात् मन का प्रेरक अन्तर्यामी होता है। राजा को भी मन एवं तदुपलक्षित इन्द्रियों का शासक एवं नियामक होना चाहिए। इन्द्रियों का गुलाम, मन का किंकर, विषयों का अनुगामी न बनकर उन सबका नियन्ता ही रहना चाहिए। जितेन्द्रिय तथा जितषड्वर्ग मनीषी राजा ही प्रजापालन में समर्थ होता है।

ईश्वर परिभू अर्थात् सबके ऊपर होता है। इसी तरह राजा अपने प्रभाव से सबको प्रभावित करनेवाला होना चाहिए।

ईश्वर स्वयम्भू अर्थात् स्वयं ही सबके ऊपर होता है। सब कुछ स्वयं ही होता है, अतएव वह स्वयम्भू है। राजा को भी ऐसा स्वावलम्बी होना चाहिए। सर्वदा सेना एवं अमात्यों पर निर्भर न रहकर स्वयं शक्तिशाली होना चाहिए। राजा रामचन्द्र आदि शासकों की सेना केवल शोभा के लिए हुआ करती थी। युद्ध का अन्तिम निर्णय उन्हींके पौरुष-पराक्रम पर होता था :

द्वंद युद्ध देखहु सकल, श्रमित भये सब वीर।

(रामचरितमानस)

आश्चर्य है कि आज वकील बनने के लिए ला-कानून पढ़ना पड़ता है। चिकित्सक बनने के लिए आयुर्वेद, एलोपैथी आदि पढ़नी पड़ती है। इंजीनियर

बनने के लिए नाना प्रकार की शिल्प-विद्याएँ पढ़नी पड़ती हैं। किन्तु शासक बनने के लिए, विधि-निर्माता (एम० पी०, एम० एल० ए०) होने के लिए कुछ भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी अनपढ़ हो, धड़ल्ले से शासक बन बैठता है। जो मुकदमे की पैरवी के लिए घर की औरतों के जेवर बेच वकील-बैरिस्टरों की पूजा करता है, स्वयं अपने मुकदमे की पैरवी या बहस नहीं कर पाता, वही राष्ट्र का कानून बनानेवाला, 'विधायक' बन जाता है। किन्तु भगवान् मनु ने तो राजपुत्र को ही, शासक बनने के लिए विविध संस्कारों से संस्कृत एवं शिक्षित होना आवश्यक बताया है।

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्॥

(मनु० ७.२)

अर्थात् वेद-प्राप्त्यर्थं उपनयन-संस्कार प्राप्तकर, यथाविधि अभिषिक्त होकर क्षत्रिय को स्वराज्यस्थित सभी प्रजा का यथान्याय पालन करना चाहिए। एतावता उपवीत, अभिषिक्त क्षत्रिय ही मुख्यरूप से राज्य-पालन का अधिकारी होता है।

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः॥
इन्द्रा-ऽनिल-यमा-ऽर्काणा-मग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्र-वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥

(मनु० ७.३-४)

अर्थात् अराजकता के कारण संसार में सभी 'मात्स्यन्याय' से भयभीत एवं पीड़ित थे। अतः सबकी रक्षा के लिए सर्वेश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर के सारभूत अंशों का संकलन कर राजा का निर्माण किया। इन्द्रादि सभी लोकपालों के तेजों से निर्मित होने के कारण ही राजा अपने तेज से सबको अभिभूत करता है। वह आदित्य के समान तपता है, अग्नि आदि के समान तेजस्वी एवं अप्रधृष्य होता है।

इसीलिए राजा चाहे बालक ही हो, तो भी उसका कभी अपमान नहीं करना चाहिए; महती देवता ही राजा के रूप में स्थित समझनी चाहिए :

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

(मनु० ७.८)

राजा विष्णु की पालनी-शक्ति का प्रतिनिधित्व करता हुआ विष्णु ही होता है। इसीलिए कहा गया है : **नाविष्णुः पृथिवीपतिः**। अर्थात् अविष्णु पृथिवीपति नहीं होता। उसके प्रसाद से श्री प्राप्त होती है, उसके पराक्रम से विजय प्राप्त होती है, उसके क्रोध से मृत्यु होती है। उसका सम्मान अवश्य करना चाहिए। उसके राज्य-पालनरूप कार्य की सिद्धि के लिए ही पहले परमेश्वर ने सर्वप्राणियों के रक्षार्थ अपने पुत्रस्वरूप धर्ममय दण्ड को, जो कि ब्रह्मतेजरूप ही है, रचा है :

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः॥

(मनु० ७.१४)

दण्ड के भय से स्थावर, जंगम सभी चराचर भूत अपने-अपने भोग में समर्थ होते हैं और अपने कर्म पर चलते हैं। अन्यथा प्रबल लोग दुर्बलों के धन-दारादि का हरण कर सकते हैं। सज्जन लोग भी अकरण में प्रत्यवाय एवं यमयातना आदि के भय से ही नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते रहते हैं :

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥

(मनु० ७.१५)

राजा को देश-काल, दण्डच को शक्ति एवं विद्यादि की शक्ति को तत्त्वतः जानकर अन्यायियों को शास्त्रानुसार ही दण्ड देना चाहिए :

तं देशकालौ शक्तिञ्च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु॥

(मनु० ७.१६)

वस्तुतः वह दण्ड ही राजा है, क्योंकि उसके होने पर ही राजशक्ति का योग होने से पुरुष राजा होता है। वही नेता, शासक, चारों वर्णों, आश्रमों तथा उनके धर्मों के संपादन का प्रतिभू (जिम्मेदार) होता है :

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणाञ्च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥

(मनु० ७.१७)

वह दण्ड ही सब प्रजा का शासन करता है, वही रक्षा करता है। सबके सो जाने पर भी वही जागता रहता है। वही धर्म का हेतु होने से 'धर्म' कहलाता है। ऐहिक, आमुष्मिक दण्ड के भय से ही सभी धर्मानुष्ठान में संलग्न होते हैं :

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥
(मनु० ७.१८)

वह दण्ड शास्त्रानुसार यथायोग्य प्रयुक्त होने पर प्रजा का रंजन कर उसे राजा के प्रति सानुराग बनाता है। बिना विचार किये लोभादि से प्रयुक्त होने पर वही राजा का विनाश कर देता है :

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥
(मनु० ७.१९)

यदि राजा निरालस होकर दण्ड्यों को दण्ड न दें तो बलवत्तर लोग दुर्बलों को शूलविद्ध मत्स्य के समान संतप्त करने लगेंगे। अथवा जल में जैसे प्रबल मत्स्य दुर्बल मत्स्यों का भक्षण करते हैं, वैसे ही प्रबल दुर्बलों के भक्षक-शोषक हो जायँगे :

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले[1] मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥
(मनु० ७.२०)

यदि योग्य राजा के दण्ड का भय न होता तो कौआ (पक्षी) पुरोडाश को खा जाता और कुत्ता पायसादि चरु पी जाता। तब किसीका किसी वस्तु पर स्वत्व नहीं रहता और ब्राह्मणादि वर्णों में उलट-पुलट हो जाती :

अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्यात् हविस्तथा ।
स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥
(मनु० ७.२१)

संसार में सभी दण्ड से नियन्त्रित हो सन्मार्ग पर चलते हैं। स्वभाव से शुद्ध मनुष्य अतिदुर्लभ है। करोड़ों में कोई एकआध शुद्ध होता है। दण्ड के भय से ही सारा जगत् आवश्यक भोग में समर्थ होता है :

सर्वो दण्डजितो लोके दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगत् भोगाय कल्पते ॥
(मनु० ७.२२)

---

१. 'जले मत्स्यानिवार्ऽहिंस्युः' यह पाठान्तर है।

दण्ड का अप्रयोग या अनुचित प्रयोग होने पर सांकर्य फैलकर सम्पूर्ण वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है। चोरी, डाका, बलात्कार द्वारा सम्पूर्ण शास्त्रीय मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं। अपकार-वृद्धि से परस्पर अपकार के कारण लोक-क्षोभ हो जाता है :

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥

(मनु० ७.२४)

जहाँ दण्ड-प्रणेता नेता यथावत् विषयानुरूप दण्ड-विधान करता है और श्यामवर्ण, लोहित-नयन देवता से अधिष्ठित दण्ड प्रचलित रहता है, वहाँ प्रजा कभी व्याकुल नहीं होती :

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति॥

(मनु० ७.२५)

अभिषिक्त, सत्यवादी, धर्म-अर्थ-काम का वेत्ता, तत्त्वातत्त्वविचार करनेवाला प्राज्ञ राजा ही उस दण्ड का विधाता होता है :

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥

(मनु० ७.२६)

प्रकृष्टतेजःस्वरूप वह दण्ड अकृतात्माओं के लिए दुर्धर होता है। वही दण्ड (राज) धर्म-विमुख होने पर पुत्र-बान्धवादिसहित राजा को ही नष्ट कर देता है :

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥

(मनु० ७.२८)

गुण-दोषों के विवेक के बिना प्रयुक्त दण्ड नृप-नाश के अनन्तर दुर्ग, राष्ट्र, चराचर प्राणिसहित पृथिवी एवं अन्तरिक्ष लोकगत मुनियों एवं देवताओं को भी पीड़ित करता है, क्योंकि सांकर्य एवं अव्यवस्था फैलने से हविःप्रदानादि का लोप हो जाने से यह सब होना अवश्यम्भावी है।

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत्॥

(मनु० ७.२९)

शुचि, सत्यसन्ध एवं यथाशास्त्र व्यवहार करनेवाला, शोभनसहाययुक्त श्रीमान् तत्त्वज्ञ राजा ही ठीक-ठीक दण्ड का प्रयोग कर सकता है :

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रयोक्तुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥
(मनु० ७.३१)

राजा का कर्तव्य है कि प्रातः उठते ही त्रैविद्य (ऋक्, यजुः, सामवेदों के सम्यक् ज्ञाता), वृद्ध तथा नीतिशास्त्र के विद्वान् ब्राह्मणों की उपासना करे। वेद-वेत्ता, पवित्र, वृद्ध विप्रों की सदा सेवा करनी चाहिए; क्योंकि वृद्धसेवी का राक्षस लोग भी सम्मान करते हैं। विनीतात्मा होकर भी राजा सदैव उनसे विनय का अभ्यास करता रहे। विनीतात्मा राजा कभी नष्ट नहीं होता :

ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥
वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥
तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥
(मनु० ७.३७–३९)

अविनय के कारण हाथी, घोड़े, कोश आदि से युक्त भी बहुत-से राजा नष्ट हो गये और विनय के कारण ही निःसाधन एवं वनस्थों ने भी राज्य प्राप्त कर लिया था। अविनय के कारण वेन, नहुष, सुद, पैजवन, सुमुख, निमि नष्ट हो गये। विनय से ही वैन्य, पृथु एवं मनु ने राज्य प्राप्त किया तथा कुबेर ने ऐश्वर्य एवं विश्वामित्र ने ब्राह्मण्य प्राप्त किया। राजा को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्याश्रम में पठित वेदों का ऋक्-यजुः-सामवेदरूप त्रयी के वेत्ताओं से ग्रन्थतः एवं अर्थतः अभ्यास करता रहे। इसी प्रकार योग-क्षेम का प्रतिपादन करनेवाली अर्थशास्त्ररूप दण्डनीति का भी परम्परापूर्वक अभ्यास करता रहे।

राजा आन्वीक्षिकी, त्रयीविद्या, दण्डनीति एवं अभ्युदय तथा व्यसन में हर्ष-विषाद का प्रशमन करनेवाली ब्रह्मविद्या का भी उसके वेत्ताओं से ज्ञान प्राप्तकर अभ्यास करता रहे। वह लोक-व्यवहार से कृषि, वाणिज्य, पशुपालनादिरूप वार्ता-शास्त्र का भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे :

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥
(मनु० ७.४३)

गीता के अनुसार भी राजर्षियों को ससाधन सांख्यविद्या का ज्ञान होता था। राज्य-संचालन में सन्धि विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव आदि अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ब्रह्मविद्या के बिना धैर्य तथा शोक-मोह-राहित्य होना सम्भव नहीं।

राजा को चाहिए कि चक्षुरादि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्वदा प्रयत्न करता रहे; क्योंकि विषयासक्तिवर्जित जितेन्द्रिय ही प्रजा को वश में कर सकता है :

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥

(मनु० ७.४४)

रावण के मरने पर विलाप करती हुई मन्दोदरी ने कहा था कि 'आपको राम के बाणों ने रणांगण में धराशायी नहीं किया, किन्तु आपकी इन्द्रियों ने ही आपको पराजित किया है' : **इन्द्रियैरेव निर्जितः** (वा० रा० युद्ध० १११. १६)। इन्द्रियों का गुलाम, विषयों का कीड़ा और कामिनी-कांचन का किंकर कभी शासनाधिकारी नहीं हो सकता।

दस कामज और आठ क्रोधज, इस तरह अष्टादश व्यसन दुरन्त होते हैं। अतः प्रयत्नपूर्वक सर्वदा इनसे बचना चाहिए। कामज व्यसनों में फँसकर राजा अर्थ-काम से वंचित हो जाता है, तो क्रोधज व्यसनों में व्यासक्त होने पर उसे प्रकृति-कोप-द्वारा अपने शरीर से भी हाथ धोना पड़ता है।

शिकार करना, जुआ खेलना, दिवा-निद्रा, परदोषवर्णन, स्त्री-प्रसंग, मद्य-पान, नृत्य, गीत, वादित्र, वृथा भ्रमण ये दस कामज दुर्गुणों के गण हैं :

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥

(मनु० ७.४७)

पैशुन्य (अविज्ञात दोष का आविष्कार), साहस (साधुपुरुषों का वध-बन्धन आदिरूप निग्रह) द्रोह, (छद्म से विरोधियों का वध करना), ईर्ष्या (अन्यों के गुणों की असहिष्णुता), असूया (परगुणों में दोष का आविष्करण), अर्थदूषण (अर्थ का अपहरण एवं देय का अदान), वाक्-पारुष्य (कटुवादिता), दण्डपारुष्य (ताड़नादि) ये आठ क्रोधज व्यसन हैं :

पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥
(मनु० ७.४८)

इन दोनों गणों का भी परम मूल लोभ है, अतः लोभ को जीतने का पर्याप्त प्रयत्न होना चाहिए।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥
(मनु० ७.४९)

मद्यपान से संज्ञानाश और यथेष्टचेष्टा आदि से देह और धन दोनों ही का नाश सम्भव है। द्यूत से वैर, विग्रह आदि दोष होते हैं। स्त्री-प्रसंग से सत्क्रियाओं का कालातिक्रमण एवं धर्म-लोप होता है। अंगच्छेदनादि दण्ड-पारुष्य अशक्य-समाधान होता है। वाक्पारुष्यसंभूत कोपानल की प्रशान्ति दान-सम्मानादि पानीय के सिञ्चन से हो सकती है; किन्तु मर्म-पीड़ाकर होने से प्रायः वाक्-प्रहार दुश्चिकित्स्य होता है। उसकी अपेक्षा अर्थदूषण का समाधान प्रचुरतर धन-प्रदान आदि से हो सकता है।

इनमें भी कामजगण में मद्यपान, द्यूत, अवैध स्त्री-प्रसंग एवं मृगया ये चार परम अनर्थ के हेतु हैं :

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥
(मनु० ७.५०)

क्रोधजगण में भी दण्डपातन, वाक्-पारुष्य और अर्थदूषण, ये तीन अत्यन्त हेय हैं :

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥
(मनु० ७.५१)

इन सातों में भी पूर्व-पूर्व अत्यन्त अनर्थ-हेतु हैं। व्यसन मृत्यु से भी अधिक भयंकर होता है। कारण अव्यसनी मरकर स्वर्ग जाता है, किन्तु व्यसनी तो उत्तरोत्तर अधोगति को ही प्राप्त करता है।

राज्य में राजा के पश्चात् दूसरी कोटि का महत्त्व मन्त्री का होता है। कहीं-कहीं तो योग्य मन्त्री घोर संकट के समय भी अपने बुद्धि-वैभव द्वारा राजा का

उद्धार करते हैं। राष्ट्रव्यापी महान् कार्यों का निर्वहण एक व्यक्ति से सम्भव नहीं। इसीलिए मनु के अनुसार सात या आठ मन्त्रियों का संकलन करना अत्यावश्यक है। वे पितृ-पितामहादि क्रम से राष्ट्र के भक्त तथा शास्त्रवित्, शूर, कुलीन एवं परीक्षित होने चाहिए :

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥
(मनु० ७.५४)

सामान्य मन्त्रों में अगोपनीय सन्धि, विग्रहादि का विचार करना चाहिए। दण्ड, कोश, पुर, राष्ट्र इन चतुर्विध स्थानों का चिन्तन करना चाहिए : **तिष्ठत्यनेनेति स्थानम्**। दण्ड अर्थात् हस्ति, अश्व, रथ, पदाति प्रभृति दण्ड-साधनों एवं उनके पोषण-रक्षणादि का विचार करना चाहिए। कोश अर्थात् अर्थसंग्रह एवं आय-व्ययादि, पुररक्षण, राष्ट्र अर्थात् देश एवं तद्वासी मनुष्य-पश्वादि सर्वसाधारण के योग-क्षेमादि का विचार करना चाहिए। प्रत्येक का एकान्त में अभिप्राय जानकर फिर सामूहिक रूप से सबके साथ भी अभिप्राय जानते हुए राज्यहित का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

इन सब मन्त्रियों में भी जो विशिष्ट धार्मिक, विद्वान् ब्राह्मण हों, उसके साथ षाड्गुण्य-संप्रयुक्त मन्त्रणा करनी चाहिए। उसके प्रति विश्वस्त होकर उसके परामर्श से ही सब कर्मों का प्रारम्भ करना चाहिए।

इसी प्रकार राजा के लिए अनुरक्त, शुचि, दक्ष एवं स्मृतिमान् तथा देश-वित्, वपुष्मान् निर्भय एवं वाग्मी दूत भी होना चाहिए। अमात्य सेनापति के अधीन हस्त्यश्वादि दण्ड का होना तथा उन्हींकी इच्छानुसार दण्ड की प्रवृत्ति होनी चाहिए। सन्धि-विग्रहादि दूत के आयत (अधीन) होते हैं। संहतों के भेदन एवं भिन्नों के सन्धान में दूत ही समर्थ होता है। दूत को निगूढ़ अनुचरों द्वारा प्रतिपक्ष के आकार को जानना चाहिए और उनके द्वारा क्षुब्ध, लुब्ध, अपमानितों के सम्बन्ध तथा उनके चिकीर्षित (करने के लिए इष्ट) को भी जानना चाहिए।

राजा की राजधानी ऐसे स्थान पर होनी चाहिए, जहाँ जल एवं तृण का आधिक्य न हो; प्रचुर वात-आतप (हवा-धूप) आते हों तथा जो बहुत धन-धान्यादि से परिपूर्ण हों, प्रचुर धार्मिकजनों से प्रकीर्ण, रोग-दोषादि से रहित, पुष्प, तरु, लता, वल्ली से मनोहर हो। वहाँ समीप के वास्तव्य, आटविक आदि सर्वथा प्रणत हों और कृषि-वाणिज्यादि जीविकाएँ सुलभ हों।

अवश्य ही आज के वैज्ञानिक युग में विविध दुर्गों का महत्त्व कम समझ में आता है। वायुयान, राकेट, प्रक्षेप्यास्त्रों तथा परमाणुबम, उद्जनबम के सक्षम

सामान्य दुर्गों का उपयोग अत्यल्प है। फिर भी विविध 'दुर्गों' का उपयोग नगण्य नहीं है। प्राचीनकाल में भी पुष्पक आदि विमान तथा आग्नेय, ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र ही नहीं; त्रैलोक्यसंहारक्षम पाशुपतास्त्र तक थे; किन्तु उनका प्रयोग साधारण-सी स्थिति में कभी नहीं होता था। अत्यन्त असाधारण परिस्थिति में ही उनका उपयोग होता था :

'धन्यदुर्ग' (चारों ओर दूर-दूर तक मरुप्रदेश) का होना भी आवश्यक है। राजधानी पाषाण, इष्टकादि के विस्तार की द्विगुणित उच्चता से युक्त प्राकार द्वारा वेष्टित होनी चाहिए, जहाँ युद्ध के समय सैनिकों का भ्रमण हो सके। जिसमें सावरण गवाक्ष हों जिनके द्वारा शत्रु पर गोले बरसाये जा सकें, वह 'महीदुर्ग' है। अगाधजल से वेष्टित होना 'जलदुर्ग' है। चारों ओर ८ मील महावृक्षों एवं कंटकवाले गुल्म-लतादि से परिवृत होना 'वार्क्षदुर्ग' है। चारों ओर हस्ति, अश्व, रथ तथा तात्कालिक अन्य वाहनों से समन्वित एवं पदाति-सेना से पुर का वेष्टित करना 'नृदुर्ग' है। संकुचित एक मार्ग से युक्त तथा दुरारोह नदी-प्रस्रवणादियुक्त गुप्त पर्वतपृष्ठ 'गिरिदुर्ग' है।

इन सभी दुर्गों में 'गिरिदुर्ग' का सर्वाधिक महत्त्व है। चतुर्दिग् तृणाकीर्ण महीदुर्ग मूषकादि से व्याप्त हो। जलदुर्ग नक्र-मकरादि से दुर्गम होना चाहिए। वृक्षदुर्ग वानरादि से व्याप्त, नृदुर्ग मनुष्यों एवं गिरिदुर्ग देवों से आश्रित होना चाहिए। दुर्गाश्रित एक योद्धा सौ शत्रुओं से और सौ दस सहस्र सैनिकों का सामना कर सकता है। यह दुर्ग विविध आयुधों, वाहनों धन-धान्यों, ब्राह्मणों एवं शिल्पियों तथा यन्त्रों एवं पर्याप्त, अन्न, जल, यवस् से परिपूर्ण रहना चाहिए। उस दुर्ग के भीतर देवमन्दिर, राजकीय प्रासाद, अग्निशाला, आयुधागार आदि होने चाहिए।

राजा को समान वर्ण की, सर्वलक्षण-सम्पन्न महाकुलोत्पन्न, मनोहारिणी तथा सुन्दर रूपगुणों से युक्त कन्या के साथ विवाह कर उसे महारानी बनाना चाहिए :

तदध्यास्योद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्॥
(मनु० ७.७७)

पुरोहित एवं ऋत्विजों का भी वरण करना आवश्यक है। वे ही राजा के श्रौत एवं स्मार्त कर्मों के सम्पादक हैं, जो गृह्य तथा त्रेता अग्नियों से संपाद्य होते हैं। राजा पर्याप्त दक्षिणावाले अश्वमेध, राजसूय आदि बड़े-बड़े यज्ञों से देवों का पूजन करे और धर्मार्थ नाना प्रकार के भोग, कन्या, गृह, सुवर्ण, वस्त्रादि, विविध धन ब्राह्मणों को प्रदान करे :

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम्।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥
यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान् धनानि च ॥
(मनु० ७.७८-७९)

राजा आप्त अमात्यादि द्वारा शास्त्रानुसार राष्ट्र से वार्षिक कर उगहवाये। इसी तरह स्वदेशवासी प्रजा के साथ स्नेहादि द्वारा पितृतुल्य स्नेही वनकर व्यवहार करे :

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥
(मनु० ७.८०)

राजा को चाहिए कि हस्ति, अश्व, रथ, पदाति, कृषि, वाणिज्यादि विविध विभागों के पृथक्-पृथक् कुशल अध्यक्षों को नियुक्त करे। वे लोग तत्-तत् विभागों के कार्यकर्ताओं के कार्यों की देखरेख करें। राजा को गुरुकुल से समावृत ब्राह्मणों का पूजक होना चाहिए। उनको दिया हुआ धन-धान्य ही राजा की अक्षय निधि है। उसे चोर या शत्रु कोई नहीं नष्ट कर सकता। ब्राह्मण के हाथ पर दिया हुआ दान अग्निहोत्र से भी वरिष्ठ होता है। कारण अग्निहोत्र का हवि; कभी स्रुत, अधःपतित या दाहादि से शुष्क हो सकता है; किन्तु ब्राह्मण के मुख में हुत अर्थात् ब्राह्मण-हस्त पर प्रदत्त दान में उक्त कोई भी दोष नहीं आता :

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥
(मनु० ७.८४)

अब्राह्मण को दिया दान कथित फल समगुण देता है। क्रियारहित ब्राह्मण-ब्रुव को दिया दान दुगुना फल देता है। अध्ययन प्रारम्भ करनेवाले ब्राह्मणको दिया दान लक्षगुण फल देता है। किन्तु समस्त शाखीय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करनेवाले ब्राह्मण को प्रदत्त दान अनन्त-गुणित फल देता है।

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
[1]प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥
(मनु० ७.८५)

---

१. 'सहस्रगुणमाचार्ये' यह पाठान्तर है।

पात्र के तारतम्य से श्रद्धा का तारतम्य होता है। उत्तम श्रद्धा एवं उत्तम पात्र के अनुसार ही परलोक में दान का उत्तम फल होता है :

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धधानतयैव च।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते॥
(मनु० ७.८६)

प्रजा का सम्यक् पालन और संग्राम में अनिवर्तितत्व (पीठ दिखाकर न आना) एवं ब्राह्मण-सुश्रूषा राजा के लिए स्वर्गादि श्रेय का परम साधन है :

सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्॥
(मनु० ७.८८)

परस्पर एक दूसरे को हनन करने की इच्छा से सम्मुख युद्ध करते हुए रण से अपराङ्मुख होनेवाला राजा स्वर्ग का भागी होता है। फिर भी आस्तिकों की परम्परा के अनुसार कूट छन्दमय आयुधों से रण में शत्रु का वध उचित नहीं। राजा कर्ण्याकार फलक, विषदिग्ध या अग्निदीप्त फलकवाले बाणों से भी प्रहार न करे। रथ त्यागकर भूमि पर खड़े, क्लीब तथा कृतांजलि, मुक्तकेश, उपविष्ट, तथा 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसी प्रार्थना करनेवाले को भी कभी नहीं मारना चाहिए। सुप्त, कवचहीन, नग्न, निरायुध, अयुध्यमान तथा प्रेक्षक को भी कभी न मारें। भग्नायुध, पुत्रशोकादि से आर्त, बहुप्रहार से व्याकुल, भीत एवं युद्धपराङ्मुख रिपु को शिष्ट क्षत्रियों का धर्म स्मरणकर कभी नहीं मारना चाहिए। वैसे संग्राम में क्षत्रिय का भयभीत होना या रण से पराङ्मुख होना पाप है। ऐसा योद्धा संग्राम में शत्रु द्वारा हत होकर स्वामी के दुष्कृतों का भागी होता है।

वेदान्त में निर्णय किया गया है कि उपासक या ज्ञानी के द्वेषी उनके पाप-कृत्यों के भागी होते हैं, तो उनके भक्त उनके पुण्यकृत्यों के भागी होते हैं : **सुहृदः पुण्यकृत्यानां दुहृदः पापकृत्यानाम्।** जो उसके आमुष्मिक सुकृत होते हैं, उनका भागी स्वामी होता है। संग्राम में पृथक्-पृथक् जीतकर जो रथ, अश्व, हस्ति, छत्र, वस्त्रादि, धनधान्यादि, गवादि, दास्यादि, गुड-लवणादि, सुवर्ण-रजत-व्यतिरिक्त ताम्रादि प्राप्त करता है, वह उसीका होता है। फिर भी उसमें राजा को उद्धार के रूप में सुवर्ण, रजतादि तथा हस्ति, तुरगादि समर्पण करने चाहिए। इस विषय में निम्नलिखित श्रुति प्रमाण है : **इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा स महान् भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं समुद्धरत।**

राजा के साथ सबने मिलकर जो जीता हो, उसमें प्रत्येकको अपने पुरुषार्थं के अनुसार मिलना चाहिए। योद्धाओं का यह परम्पराप्राप्त अनिगर्हित धर्म है।

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्॥
यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्-जितम्॥

(मनु० ७.९०—९७)

रण में शत्रुओं को मारता हुआ भी क्षत्रिय धर्मच्युत नहीं होता। क्षत्रिय के अतिरिक्त धर्मयुद्ध में सम्मिलित अन्य लोगों पर भी यही धर्म लागू होता है।

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून्॥

(मनु० ७.९८)

राजा का धर्म है कि वह अलब्ध भूमि, हिरण्य आदि को युद्ध से जीतने का प्रयत्न करे और लब्ध की ठीक-ठीक देखरेख करते हुए उनके रक्षण का प्रयत्न करे। रक्षित का व्यापारादि द्वारा वर्धन करे और वृद्धि का धन (व्याज) पात्रों को बाँट दे :

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥

(मनु० ७.९९)

राजा सदा युद्धादि के अभ्यास द्वारा उद्यत-दण्ड रहे, अस्त्रविद्यादि द्वारा पौरुष का प्रकाशन करता रहे, गोपनीय मन्त्र आदिकों को गुप्त रखे और शत्रु के छिद्रानुसन्धान में तत्पर रहे :

नित्यमुद्यतदण्डः स्यात् नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥

(मनु० ७.१०२)

नित्य उद्यतदण्ड से सब उद्विग्न होते हैं । अतः दण्डसे सब भूतों को वश में करना चाहिए (७.१०३) । राजाको सदा ऐसा यत्न करना चाहिए जिससे शत्रु उसके प्रकृति-भेद आदि छिद्रों को न जाने । किन्तु स्वयं वह चारों द्वारा शत्रु के प्रकृति-भेद आदि छिद्रों को जाने । जैसे कछुवा चरणादि अङ्गों को अपनी देह में छिपा लेता है, वैसे ही राजा अपने अमात्य आदि अङ्गों को दान, सम्मान आदि से अपने वश में रखे । फिर भी यदि दैववशात् प्रकृति-भेद आदि छिद्र हो जायँ तो यत्नपूर्वक उनका प्रतीकार करे :

नास्य छिद्रं परो विद्याद् विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥

(मनु० ७.१०५)

जैसे जल में अतिचंचल-स्वभाव मीन को पकड़ने के लिए बक एकाग्र अन्तःकरण से चिन्तन करता है, वैसे ही अत्युत्तम रक्षा का प्रबन्ध करनेवाले भी विपक्ष के देश-ग्रहणादि अर्थों का एकाग्रता से चिन्तन करे । जैसे प्रबल एवं अति-स्थूल गजसमूह पर भी व्याघ्र आक्रमण करता है, वैसे ही बलवान् द्वारा आक्रमण होने पर संश्रयादि उपायान्तर की सम्भावना न होने पर सर्वशक्ति से आक्रमण करे । जैसे पालकों द्वारा पूर्ण रक्षण-प्रयास होने पर भी दैवात् असावधानीवश वृक पशुओं का हरण कर ही लेता है वैसे ही दुर्गादि में अवस्थित रिपु को भी प्रमाद में पाकर व्यापादित कर देना चाहिए । जैसे वधार्थ सर्वथा तत्पर अनेक व्याधों के मध्य पड़ा हुआ भी शश (खरगोश) कुटिलगति से उछलकर भाग निकलता है, वैसे ही स्वयं निर्बल होकर बलवानों से घिरा होने पर भी राजा किसी प्रकार शत्रुओं में व्यामोह उत्पन्न कर गुणवान् तथा बलवान् अन्य राजाओं का संश्रय पाने के लिए निकल जाय :

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥

(मनु० ७.१०६)

राजा का कर्तव्य है कि जो उसके परिपन्थी (बाधक) हों उन्हें भी साम, दान, भेद, दण्डरूप उपायों से वश में लाये (७.१०७) । यदि प्रथम तीन उपायों से वे वश में न आयें तो क्रमशः लघु, गुरु दण्ड से भी उन्हें वश में लाये (७.१०८) । नीतिज्ञ लोग साम आदि चारों उपायों में राष्ट्रवृद्धि के लिए साम एवं दण्ड की

ही प्रशंसा किया करते हैं। साम में प्रयास, धनव्यय, सैन्यक्षयादि दोषों के बिना ही काम चल जाता है। दण्ड में यद्यपि प्रयासादि अपेक्षित होते हैं, फिर भी कार्य-सिद्धि होती है (७.१०९)। जैसे कर्षक क्षेत्र में एक साथ उत्पन्न होने पर भी धान्य का रक्षण और तृणादि का उद्धरण (उखाड़ना) करता है, वैसे ही राजा अपने राष्ट्र में विरोधी दुष्टों का संहार कर शिष्ट पुरुषों तथा उनके बन्धु-बान्धवों का रक्षण करे (७.११०)।

जो राजा बिना विचार किये सभी राष्ट्रिय जनों का धन-ग्रहण तथा मारणादि कष्टों से पीड़न करता है, वह शीघ्र ही जनपद-वैररूप प्रकृति-कोप एवं अधर्म के कारण राज्य, जीवन एवं बन्धु-बान्धवादिसहित नष्ट हो जाता है। जैसे अनशन आदि से शरीर का शोषण तथा प्राणों का क्षय हो जाता है, वैसे ही राष्ट्र-पीड़न द्वारा प्रकृति-कोप से राजाओं के भी प्राण नष्ट हो जाते हैं :

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥
शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥

(मनु० ७.१११-१२)

राष्ट्र-रक्षण के लिए आवश्यक है कि एक ग्राम, दश ग्राम एवं विंशति ग्रामों के गुणवान् धार्मिक अधिपति बनाये जायँ। इसी प्रकार शत-ग्राम-पति एवं सहस्र-ग्रामपति नियुक्त किये जायँ। ग्राम में चोर आदिके उपद्रव दूर करने के लिए ग्रामपति स्वयं प्रयत्न करे। सफलता न मिलने पर दशेश से सहायता ले। दशेश विंशतीश से। इसी प्रकार विंशतीश शतेश से और शतेश सहस्रेश से सहायता प्राप्त करे।

ग्रामवासियों द्वारा राजा के लिए प्रतिदिन देय जो अन्न या इन्धनादि द्रव्य हों उन्हें ग्रामपति अपनी वृत्ति के लिए प्राप्त करे। यह वार्षिक राजकीय कर से भिन्न देय समझना चाहिए। इसी प्रकार दश-ग्रामपति एक कुल का भोग करे। विंशी पंचकुल, ग्रामशताध्यक्ष मध्यम एक ग्राम और सहस्रधिपति मध्यम पुर का उपभोग करे। षड्गव हल 'मध्यम हल' होता है। ऐसे दो हलों से जितनी भूमि में कृषि होती है, वह 'कुल' कहलाता है। दशग्रामपति वृत्त्यर्थ उसे स्वीकार करे। राजा का स्निग्ध मन्त्री सावधानी से उनके सब कामों की देखरेख करे।

अवश्य ही आजकल पारिश्रमिक या वेतन बहुत ऊँचा है; फिर भी वस्तुओं का मूल्य उससे भी बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा है। जैसे-जैसे वेतनवृद्धि की माँग होती है, वैसे ही वैसे ही वस्तु का मूल्य बढ़ता है। जैसे-जैसे वस्तु-मूल्य बढ़ता है, वैसे-

वैसे वेतनवृद्धि की माँग होती है। फलतः चारों ओर अव्यवस्था और अशान्ति ही दिखाई देती है। आज की अपेक्षा प्राचीन प्रणाली बहुत ही अच्छी थी, जिसमें उत्पादित वस्तु का षष्ठांश ही कररूप में लिया जाता था। काम के अनुसार ही वेतन की व्यवस्था होती थी।

गृहसम्मार्जन, जलवहनादि अपकृष्ट कार्यों के लिए प्रतिदिन एकपण भृति (वेतन) मिलती थी और आच्छादन के लिए षाण्मासिक दो वस्त्र मिलते थे। उन्हें प्रतिमास द्रोण-परिमित अन्न दिया जाता था। आठ मुष्टियों का 'किञ्चित्', आठ किञ्चित् का 'पुष्कल', चार पुष्कलों का 'पूर्णपात्र' होता है, जैसा कि महाभारत (शान्ति० ६०.३८) की टीका 'भावदीप' में नीलकण्ठ कहते हैं :

अष्टमुष्टिर्भवेत्किञ्चित् किञ्चिदष्टा तु पुष्कलम्।
पुष्कलानि तु चत्वारि पूर्णपात्रं प्रचक्षते॥

'पूर्णपात्र' या 'आढक' एक ही है और चार आढकोंका 'द्रोण होता है।

मध्यम को प्रतिदिन तीन पण वेतन, ६ महीने में तीन जोड़ी वस्त्र और प्रतिमास तीन द्रोण अन्न मिलता था।

उत्कृष्ट कार्य के लिए प्रतिदिन ६ पण भृति, ६ महीने में ६ जोड़ी वस्त्र और प्रतिमास ६ द्रोण अन्न मिलता था।

शास्त्रों ने मजदूरी या वेतन के सम्बन्ध में मुख्यरूप से यही नियम माना है कि मालिक और नौकर के बीच आपसी सम्मति से जो तय हुआ हो, वही उसकी मजदूरी है।

मिताक्षरा में 'भृतक' की इस प्रकार व्याख्या की है : **मूल्येन यः कर्म करोति स भृतकः।** (याज्ञवल्क्यस्मृति, व्यव०, मिता०, १८३) अर्थात् मजदूरी या नौकरी को 'भृति' कहा जाता है। भृतिकी परिभाषा यह है :

यत्र यादृशी भृतिः परिभाषिता स्वामिभृत्याभ्यां तादृशी तत्र भृतिर्भृत्येन लभ्यते।
(या० स्मृ० वीरमित्रोदय-टीका, १९३)

वहीं 'मिताक्षरा' में नारद-स्मृति का यह वचन उद्धृत किया गया है :

भृत्याय वेतनं दद्यात् कर्मस्वामी यथाकृतम्।
आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम्॥
(नारदस्मृ० ६.२)

भृत्य एवं स्वामी द्वारा निश्चित मूल्य ही वेतन है। हाँ, जहाँ वेतन बिना निश्चित किये ही मालिक काम कराता है, वहाँ वाणिज्य, पशु तथा सस्य

(फसल) से होनेवाले लाभ का दसवाँ भाग नौकर को राजा द्वारा दिलाया जाना चाहिए :

भृतिमपरिच्छिद्य यः कर्म कारयति तं प्रत्याह—(मिता०)

दाप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः ।
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत् स महीक्षिता ॥

(या०स्मृ० २.१९४)

खाली हल चलानेवाला उससे होनेवाली आमदनी से तीसरा भाग पा सकता है । यदि भोजन-वस्त्र भी मिलता हो, तो उसे लाभांश का पाँचवाँ भाग मिलना चाहिए :

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात् सीरवाहकः ।
भक्ताच्छादभृतः सीराद् भागं भुञ्जीत पञ्चमम् ॥

(बृहस्पतिस्मृति)

किन्तु जहाँ नौकर देश-कालानुसार विक्रय, कर्षण आदि कार्य ठीक-ठीक नहीं करता और प्रकारान्तर से व्ययादि बढ़ाकर लाभ संकुचित कराता है, वहाँ स्वामी की इच्छा ही मुख्य है । अर्थात् उसे सम्पूर्ण वेतन नहीं देना चाहिए । अधिक लाभ कराता है, तो दशमांश से अधिक देना चाहिए :

देशं कालं च योऽतीयाल्लाभं कुर्याच्च योऽन्यथा ।
तत्र स्यात् स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके ॥

(याज्ञ० स्मृ० २.१९५)

अनेक मजदूर जहाँ मिलकर काम करते हैं, वहाँ उनके काम के अनुसार वेतन मिलना चाहिए । कोई नौकर दो आदमी का काम करे तो उसे दुगुना वेतन दिया जाय । यदि कोई एक आदमी से भी कम काम करे तो उसे कुछ कम वेतन भी मिलना चाहिए । सारांश, यथानिश्चय अथवा मध्यस्थ द्वारा निर्णीत वेतन ही भृत्यों को मिलना उचित है, सभीको समान नहीं :

यो यावत् कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम् ।
उभयोरप्यसाध्यं चेत् साध्ये कुर्याद्यथाश्रुतम् ॥

(याज्ञ० २.१९६)

गोपालन करनेवाले गोपाल की मजदूरी का रूप मनु ने लिखा है कि 'जो भोजन-वस्त्र पानेवाला गोपाल दस गौओं का पालन करता हो, उसे मजदूर के रूपमें एक गाय का दूध दिया जाय :

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद् दशतो वराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात् पालेऽभृते भृतिः॥
(मनु० ८.२३१)

राजकीय कर्मचारियों के लिए दूसरे ढंग का भी वेतन है। दस ग्राम पर शासन करनेवालों के लिए एक 'कुल' का लाभ मिलना चाहिए। बीस गाँवों पर शासन करनेवाले को पाँच कुलों का, शताध्यक्ष को एक 'ग्राम' एवं सहस्राध्यक्ष को 'पुर' का लाभ मिलना चाहिए। ग्रामवासी जो अन्न-पान, ईंधन आदि राजा को देते हैं, वह उस कर्मचारी को मिलना चाहिए। यह सब अधिकार शिक्षा, योग्यता आदि के आधार पर समझने चाहिए :

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम्॥
(मनु० ७.११९)

कौटल्य ने वेतन-निर्णय के प्रसंग में सूत कातने के लिए कहा है कि सूत की चिक्कणता, स्थूलता, मध्यता आदि जानकर वेतन-निर्धारण करे :

श्लक्ष्ण-स्थूल-मध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत्।
(कौटलीय अर्थशास्त्र ३.२३.३)

वे आगे कहते हैं कि अच्छा काम देखकर वेतन से अतिरिक्त तेल, उबटन आदि देकर भी मजदूरों को सम्मानित करे : **सूत्रप्रमाणं ज्ञात्वा तैलामलकोद्वर्तनैरेतान् अनुगृह्णीयात्** (कौट० अर्थ० २.२३.५)। वे काम में कमी होने पर वेतन में भी कमी करने को बताते है : **सूत्रह्रासे वेतनह्रासः** (वही, ७)। वेतन का समय बीत जाने पर मध्यम वेतन का विधान है : **वेतनकालातिपातने मध्यमः** (वही १६)।

अर्थशास्त्रके तीसरे अधिकरणके १४वें अध्याय के १३वें सूत्र में कौटल्य ने मजदूरों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। उससे भी प्रायः मालिक एवं नौकर द्वारा वेतन और काम का परिमाण निश्चित होता है। इसीलिए कहा गया है कि मालिक द्वारा निर्धारित काम से अधिक काम करने पर उतनी मेहनत व्यर्थ नहीं समझनी चाहिए :

सम्भाषितादधिकक्रियायां प्रयासं न मोघं कुर्यात्।

इस प्रकरण में याजकों तथा ऋत्विजों के वेतन पर भी विचार किया गया है।

महाराज मनु कहते हैं कि प्रत्येक नगर में एक उच्चकुलसम्पन्न, सर्वार्थचिन्तक प्रधान नगराधिकारी (महापौर) नियुक्त किया जाय जो हस्ति, अश्वादि

सामग्री से सम्पन्न एवं तेजस्वी हो। वह सदैव बलसहित ग्रामपति, सहस्राधिपति आदि के अधिकृत क्षेत्रों का दौरा करता रहे और चारों द्वारा सभी अधिपतियों को चेष्टाओं एवं प्रजा की स्थिति की सम्यक् जानकारी प्राप्त करता रहे। प्रायः राजकीय रक्षाधिकारी अधिकतर परस्व-ग्रहण के अभ्यासी एवं वन्धक होते हैं। अतः उनसे अपनी प्रजा की सदा रक्षा करनी चाहिए। जो कार्यार्थियों से लोभवशात् वाक्छलादि द्वारा अशास्त्रीय धन ग्रहण करते हों, राजा उनका सर्वस्व हरण कर उन्हें देश से निकाल दे। राजा को उचित है कि वह तत्तत् कर्म में नियुक्त स्त्रियों एवं अन्य भृत्यों की स्थान एवं योग्यता के अनुरूप वृत्ति निश्चित करे :

नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥
स तानुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम्॥
राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानकर्मानुरूपतः॥

(मनु० ७.१२१–२५)

आगे कहा गया है कि व्यापारियों, वैश्यों से कर ग्रहण करते समय इस बात पर अवश्य विचार करें कि वे अन्न-वस्त्रादि कितने मूल्यमें खरीदे गये हैं और बिकने पर उनसे कितना मूल्य मिलेगा; कितनी दूर से ये वस्तुएँ लायी गयी हैं; इस व्यापारी के भोजनादि तथा यात्रा में कितना खर्च हुआ है; अरण्यादि मार्ग के बीच चौरादि की रक्षा में कितना व्यय हो गया है और अब इससे उसे कितना लाभ होगा? जिस तरह राजा को एवं कृषि-वाणिज्यादि कर्मों के कर्ताओं को अपने-अपने कर्मों का ठीक-ठीक फल मिले, इस तरह सम्यक् विचार करके करों का निर्धारण किया जाय :

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान्॥
यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान्॥

(मनु० ७.१२७-२८)

जैसे जलौका, बछड़े एवं भ्रमर थोड़ा-सा ही रक्त, क्षीर एवं मधु का ग्रहण करते हैं, वैसे ही राजा भी मूलधन का उच्छेद न करता हुआ राष्ट्र से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करे। मूल से अधिक लाभ में प्राप्त पशु एवं हिरण्य का पचासवाँ, धान्यों के लाभ का छठाँ या बारहवाँ भाग राजा को करके रूप में मिलना चाहिए। भूमि के उत्कर्ष, अपकर्ष एवं कर्षणादि श्रम के न्यूनाधिक्य के विचार से देयांश का तारतम्य होना उचित ही है। वृक्ष, मांस, मधु, घृत, गन्ध, औषधि, रस, पुष्प, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण चर्म, बाँस, मृण्मय भाण्ड तथा पाषाणमय भाण्ड आदि के लाभांश का षष्ठांश राजा का कर होना चाहिए। किन्तु राजा क्षीणधन होने पर भी कभी श्रोत्रिय ब्राह्मणों से कर न ले। वह ध्यान रखे कि उसके राज्य में कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित न हो। जिसके राज्य में श्रोत्रिय क्षुधा से पीड़ित होता है, वह राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अतः उसके श्रुत एवं वृत्त अर्थात् शास्त्रज्ञान एवं क्रियानुष्ठान जानकर तदनुरूप ही उसकी धर्मयुक्त जीविका निश्चित करे। जैसे पिता पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है, वैसे ही उसकी वह रक्षा करे (मनु० ७.१२९–३५)।

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषदुर्गराष्ट्रबलानि च। राज्याङ्गानि—इस अमरकोश (२.८.१७) के अनुसार राज्य राजा, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र दुर्ग एवं बल (सेना) इन सात अंगोंवाला होता है। इनमें प्रधान राजा है और अन्य सब उसीसे नियन्त्रित हैं। अतएव सभी धर्मशास्त्रों एवं नीतिशास्त्रों में राजा को ही पूर्ण धर्मनियन्त्रित, सदाचारी, जितेन्द्रिय, निर्व्यसन, निर्लोभ एवं ब्रह्मवित् बनाने पर सर्वाधिक जोर दिया है। योग्य राजा न केवल अमात्य, सुहृद्, दुर्ग, कोश को योग्य बना सकता है, बल्कि वह युग का भी प्रवर्तक होता है, जैसा कि महाभारत में स्पष्ट कहा है :

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥

(महाभा० शान्ति० ६९.७९)

अर्थात् राजा के अनुसार काल होता है या काल के अनुसार राजा? इस सम्बन्ध में कथमपि संशय न करें। यह निश्चित है कि राजा ही काल का कारण होता है।

भले ही आज 'राजा' का नाम न हो, फिर भी जिसके हाथ में शासनसूत्र है राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री एक या अनेक अथवा अन्य जो भी हैं, वे राजा ही हैं। यह अवश्य है कि संसार में उत्तम गुणवाले लोगों की संख्या कम ही होती है। साथ ही बहुकाल के अभ्यास एवं शिक्षण से समुचित योग्यता आती है। उसमें भी यदि क्षणे क्षणे परिवर्तन होता रहे तो और भी कठिनता आ सकती है।

२. महाभारत की दृष्टि में

महाभारत एक प्रकार से समग्र वेदों का एक विशद व्याख्यान ही है। भगवान् व्यास ने विदुर, भीष्म आदि द्वारा वर्णित लोक-कल्याणकारी दिव्य नीतितत्त्वामृत का वर्णन किया है। महाभारत के अनुसार पवित्र धर्मनिष्ठ राजा अपना और अपने राष्ट्र के सभी अधिकृत प्राणियों का पूर्णरूप से अभ्युदय एवं निःश्रेयस् सम्पादन कर सकता है। इसीलिए महाभारत में विश्व के सभी धार्मिक एवं अधार्मिक पुरुषों के प्रतीकरूप में युधिष्ठिर एवं दुर्योधन को स्वीकार कर दोनों प्रकार की नीतियों का वर्णन किया है, जिनमें आस्तिक और धार्मिक लोगों के लिए युधिष्ठिर की ही नीति अनुसरणीय होती है। 'युधिष्ठिरादिवद् वर्तितव्यं न दुर्योधनादिवत्' आदि महाभारत का निष्कर्ष प्रसिद्ध ही है।

आरम्भ में ही महाभारतकार भगवान् वेदव्यास भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में कहते हैं :

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥
(आदिपर्व १.११०)

अर्थात् युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं, अर्जुन उसके स्कन्ध, भीमसेन शाखा और नकुल-सहदेव समृद्ध पुष्प-फल हैं। मैं कृष्ण, ब्रह्म (वेद) और ब्राह्मण उसके मूल हैं।

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी॥
(आदि० १.१११)

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्ष है, कर्ण स्कन्ध, शकुनि शाखा, दुःशासन समृद्ध पुष्प-फल और अमनीषी राजा धृतराष्ट्र उसके मूल हैं।

माता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम्।
स्मयमानाः समायान्तु पाञ्चालाः कुरुभिः सह॥
(महाभा०, उ० प०, ३१.२१)

भाई-भाईके साथ, पिता पुत्र के साथ, मुस्कुराते हुए मिलें। पांचाल कुरुओं के साथ प्रसन्नता से मिलें :

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय सञ्जय।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च॥
(म० भा० उ० प० ११.२३)

शम और युद्ध के लिए भी मैं पर्याप्त हूँ, धर्म और अर्थ दोनों के लिए भी मैं समर्थ हूँ। यथासमय मृदु होना और कठोर होना भी मैं जानता हूँ।

स्थिताः सुश्रूषितुं पार्थाः स्थिताः योद्धुमरिन्दमाः।
यत्कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः॥
(म० भा० उ० प० २८.५७)

अरिन्दम पाण्डव सेवा करने के लिए तैयार हैं, युद्ध के लिए भी प्रस्तुत हैं। राजा धृतराष्ट्र जो चाहें सो करें।

उद्योगपर्व ३३ अध्याय में प्रजागरग्रस्त धृतराष्ट्र को समझाते हुए विदुरजी कहते हैं कि जो दुर्बल हो, बलवान् से अभिभूत तथा साधनहीन हो, जिसका सर्वस्व हरण कर लिया गया हो, उसे तथा कामी एवं चोर को नींद नहीं आती :

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः॥
(म० भा० उ० प० ३३.१३)

साक्षात् धर्मरूप विदुरजी किसी ऋषि के शाप से शूद्रयोनि में उत्पन्न हुए थे, पर वे परम धर्मिष्ठ और कृष्ण एवं ब्राह्मणों के अत्यन्त प्रिय थे। उन्होंने महाराज धृतराष्ट्र को धर्म एवं नीति के रहस्यों का उपदेश करते हुए अनेक प्रकार से पण्डित और मूर्ख के लक्षण समझाये हैं। वे कहते हैं : आत्मज्ञान, उत्तम कर्मारम्भ, सहिष्णुता तथा धर्म में स्थिरता ये दिव्यगुण जिसे पुरुषार्थ से विचलित नहीं होने देते, वही पण्डित है। जो सदैव उत्तम कर्मों का सेवन और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करता है, वही पण्डित है। जिसके कृत्य या मंत्र (मंत्रणा) को काम पूरा होने तक दूसरे लोग नहीं जानते वही पण्डित है। शीत, उष्ण, भय, राग, समृद्धि या असमृद्धि जिसके कार्य में बाधा नहीं डाल पाते वही पण्डित है। जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थ का अनुसरण करती है, जो काम की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्त्व देता है, जो विवेकपूर्वक शक्तिके अनुसार ही काम की इच्छा रखता और वैसा करता भी है और किसी वस्तु को तुच्छ समझकर निरादर नहीं करता, वही पण्डित है। जो शीघ्र ही समझता, किन्तु देरतक सुनता है और जाकर कर्तव्यबुद्धि से पुरुषार्थ में लगता है, कामना से नहीं; बिना किसी के सम्बन्ध से कोई बात नहीं करता; दुर्लभ वस्तु की कामना नहीं करता; खोयी हुई वस्तु के बारे में चिन्तित नहीं होता; आपत्ति से मोहित नहीं होता; निश्चय कर कार्यारम्भ करता है, आरम्भ कर पुनः बीच में

रुकता नहीं; जो समय व्यर्थ नहीं खोता और अपने चित्त को वश में रखता है, वही पण्डित है।

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ।। २४ ।।[1]

विदुरजी आगे करहते हैं : जो आर्य-कर्मों में रमता है; अभ्युदय के कार्य में लगा रहता है; भलाई करनेवालों का दोषान्वेषण नहीं करता; आत्मसम्मान से प्रहृष्ट तथा अपमान से संतप्त नहीं होता; गंगा के गहरे गर्त के तुल्य अक्षोभ्य रहता है, भौतिक पदार्थों की असलियत को जानता है, सभी कर्म करने के ढंग जानता है, कार्य-सिद्धि के उपाय जानता है; जिसकी वाणी रुकती नहीं, जो आश्चर्यपूर्ण ढंग से अपनी बातें कहता है, तर्कपटु एवं प्रतिभाशाली है, शीघ्र ही सद्ग्रन्थों का आशय निरूपण करता है; जिसका वेद-शास्त्रादिजनित श्रुतज्ञान प्रज्ञा के अनुकूल है और प्रज्ञा श्रुत-शास्त्रीयज्ञान के अनुगुण होती है, जिसकी प्रज्ञा एवं शास्त्रविद्या में समन्वय रहता है, जो मार्यादाओं का उल्लङ्घन नहीं करता वही पण्डित है।

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ।। २९ ।।

मूर्खों के लक्षण बताते हुए विदुरजी आगे कहते हैं : जो वेदादि शास्त्रश्रवण-जनित ज्ञान से हीन होकर भी गर्व करता है, दरिद्र होकर भी ऊँचे मनोरथ करता है, बिना काम किये धन पाना चाहता है, वह मूर्ख है। जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरों के कर्मों का आचरण करता है, मित्रों से मिथ्या-व्यवहार करता है, न चाहने-वालों को चाहता और चाहनेवालों को त्यागता है, बलवान् से द्वेष करता है, अमित्र को मित्र बनाता है, तथा मित्र से द्वेष करता और उसे कष्ट देता तथा निकृष्ट कर्म आरम्भ करता है, सब पर सन्देह करता है, वह मूढ़ है। जो अपने कृत्यों को व्यर्थ में ही प्रचारित करता है, सब पर सन्देह करता है, क्षिप्र-करणीय कार्य में देरी करता है, पितरों का श्राद्ध तथा देवताओं की अर्चा नहीं करता, मित्रलाभ नहीं कर पाता, बिना बुलाये भीतर प्रवेश करता और बिना पूछे ही बहुत बोलता तथा अविश्वस्त में विश्वास करता है, वह मूढ़ है।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्ठो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ।। ३६ ।।

जो दूसरों पर तरह-तरह के आक्षेप करता है, पर स्वयं भी वैसा ही है, साथ ही जो समर्थ न होने पर भी क्रोध करता है, वह मूढ़तम है :

१. ये श्लोक यथाक्रम महाभारत, उद्योगपर्व के ३३ वें अध्याय के हैं।

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा।
यश्च क्रुद्ध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः॥ ३७॥

जो अपना बल न समझकर धर्म-अर्थ से विरुद्ध तथा अलभ्य वस्तु को बिना कुछ किये पाना चाहता है, वह मूर्ख है। जो अनधिकारी को उपदेश करता है, शून्य की उपासना करता तथा कृपण का आश्रय लेता है, वह मूढ़ है। जो महान् अर्थ, विद्या और ऐश्वर्य प्राप्त करके भी गर्वरहित होकर व्यवहार करता है, वही पण्डित है। जो अपने रमणीय कुटुम्बियों तथा भृत्यों को बिना प्रदान किये स्वयं अच्छा भोजन, वस्त्र स्वीकार करता है, वह मूढ़ है। एक मनुष्य पाप करके धन कमाता है, उसका फल बहुत लोगों को भोगना पड़ता है। भोक्ता तो फल भोगकर निकल जाते हैं, पर कर्त्ता को उस अनर्थ के अदृष्ट दोष से भी लिप्त होना पड़ता है।

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते॥ ४२॥

धनुष्मान् द्वारा छोड़ा हुआ तीर किसी एक को मारे या न भी मारे, किन्तु बुद्धिमान् द्वारा प्रयुक्त तीक्ष्ण बुद्धिरूप बाण राजासहित राष्ट्र को नष्ट कर देता है:

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम्॥ ४३॥

एक बुद्धि से दो बातों-कर्तव्य-अकर्तव्य को सम्यक् जानकर साम, दाम, दण्ड, भेदरूप चार उपायों से अरि, मित्र उदासीनरूप तीन लोगों को वश में करो। पाँचों इन्द्रियों को जीतकर सन्धि, विग्रह, यान, आसन समाश्रय और द्वैधीभाव, इन छह को जानकर स्त्री (अवैध), जुआ, मृगया, मद्य, वाक्पारुष्य (कठोरवाणी) दण्ड-पारुष्य (कठोर दण्ड) और अर्थदूषण इन सातों का त्याग कर दे:

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशं कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव॥ ४४॥

विषरस केवल एक पीनेवाले को ही मारता है, शस्त्र से भी केवल एक ही मारा जाता है; किन्तु मन्त्र का विप्लव (फूट जाना) सम्पूर्ण प्रजासहित राष्ट्र को नष्ट कर देता है। अकेले स्वादिष्ट भोजन नहीं करना चाहिए। अकेले रास्ता नहीं चलना चाहिए और सबके सो जाने पर अकेले जागते नहीं रहना चाहिए:

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकश्चार्थान् विचिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्॥ ४६॥

एकमात्र सत्य ही सोने का द्वार है, जैसा कि पारावार समुद्र पार करने का एकमात्र साधन नाव ही होती। क्षमावान् का एकमात्र दोष यही है कि लोग उसे असमर्थ समझने लगते हैं :

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः॥ ४८॥

किन्तु इसे दोष नहीं समझना चाहिए। क्षमा बहुत बड़ा बल है। वह अशक्त पुरुषों का गुण एवं समर्थों का भूषण भी है :

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम्।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा॥ ५२॥

क्षमा वशीकरण-मन्त्र है, क्षमा से कुछ भी असाध्य नहीं। शान्तिरूप खड्ग जिसके हाथ में हो, दुर्जन उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। तृणरहित स्थान में गिरी आग अपने आप बुझ जाती है। क्षमा-हीन स्वयं तथा दूसरों को भी दोषी बना लेता है। क्षमा परम कल्याण तथा शक्ति का साधन है। विद्या ही परम तृप्ति है तथा अहिंसा ही सुखदायिनी है :

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शक्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा॥ ५२॥

सागरपर्यन्त पृथिवी में दो ही प्रकार के पुरुष अधम हैं, जो गृहस्थ होकर निरुद्योगी हैं और संन्यासी होकर समारम्भ-निमग्न हैं :

पृथिव्यां सागरान्तायां द्वावेव पुरुषाधमौ।
गृहस्थश्च निरारम्भः सारम्भश्चैव भिक्षुकः॥

राजा होकर भी अनाक्रमणशील तथा ब्राह्मण होकर अप्रवासी इन दो प्रकार के पुरुषों को यह भूमि वैसे ही निगल जाती है, जैसे बिल में रहनेवाले को सर्प :

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणञ्चाऽप्रवासिनम्॥ ५३॥

कुछ भी कठोर न बोलनेवाले और दुष्टों का आदर न करनेवाले ये दो प्रकार के पुरुष संसार में विशेष शोभा पाते हैं :

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिन् लोके विरोचते।
अब्रुवन् परुषं किञ्चिदसतोऽनर्चयंस्तथा॥ ५४॥

अन्य स्त्री द्वारा कामित पुरुष की कामना करनेवाली स्त्रियाँ और दूसरों द्वारा पूजित की पूजा करनेवाले लोग, दोनों पर-विश्वास पर चलनेवाले हैं :

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ५५ ॥

जो समर्थ होकर क्षमावान् हो और दरिद्र होकर भी दाता हो, वे दोनों प्रकार के पुरुष स्वर्ग के भी ऊपर स्थित होते हैं :

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५६ ॥

जो निर्धन होकर बहुमूल्य वस्तु की कामना करते और असमर्थ होकर क्रोध करते है, दोनों तीक्ष्ण कण्टक हैं जो अपने ही शरीरका शोषण करते हैं :

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ५८ ॥

न्यायार्जित धन के दो दुरुपयोग हैं : एक अपात्र में प्रदान न करना और दूसरा सत्पात्र को न देना :

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ५९ ॥

दो प्रकार के लोगों को गले में शिला बाँधकर पानी में डुबो देना चाहिए : १. जो धनवान् होकर भी दान नहीं करता और २. जो दरिद्र होकर भी तपस्या नहीं करता :

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६० ॥

योगयुक्त परिवाट् और शत्रुओं के सम्मुख युद्ध में मारा गया योद्धा, दोनों प्रकार के पुरुष सूर्यमण्डल भेदकर ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं :

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६१ ॥

संसार में उत्तम मध्यम, कनिष्ठ तीन प्रकार के उपाय और उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तीन ही प्रकार के पुरुष भी होते हैं। उन्हें यथायोग्य कर्मों में नियुक्त करना ही उचित है। भार्या, दास और पुत्र ये तीनों धन के अधिकारी नहीं होते। वे जो कुछ कमाते हैं, वह उन्हींका होता है, जिनके वे अधीन होते हैं :

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ६४ ॥

फिर भी विवाह में प्राप्त भूषण तथा श्वसुर एवं पति आदि द्वारा प्राप्त धन 'स्त्री-धन' होता है। वैसे ही मालिक द्वारा प्रदत्त कुछ धन भृत्य, पुत्रादि के भी कुछ धन मान्य हैं। परधन-हरण, परदार-संसर्ग, सुहृद का परित्याग ये तीन दोष क्षय के हेतु हैं। काम, क्रोध, लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं।

वर-प्रदान, राज्य-प्राप्ति, पुत्र-जन्म ये तीनों एक तरफ हैं, तो शत्रु को संकट से छुड़ाना एक तरफ। तात्पर्य यह कि तीनों शत्रु को संकट से छुड़ाने के समान समझने चाहिए :

वरप्रदानं राज्यञ्च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ६७ ॥

भक्त, सेवक और 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहनेवाला तीनों शरणागतों को संकटकाल में भी नहीं छोड़ना चाहिए :

भक्तं वा भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतान् शरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ६८ ॥

अल्प-प्रज्ञों, दीर्घसूत्रियों, जल्दबाजों तथा स्तुति करनेवाले चारण आदिकों से नीति की मन्त्रणा नहीं करनी चाहिए। धनवान् गृहस्थ के घर जाति-बिरादरी का वृद्ध पुरुष, सङ्कटग्रस्त कुलीन पुरुष, धनहीन मित्र और सन्तानहीन भगिनी इन चारों का रहना कल्याणकारी है। देवताओं का सङ्कल्प, बुद्धिमानों का अन्दाजा, विद्वानों की नम्रता, पापकर्मों का विनाश ये चारों शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं।

संसार में अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन और यज्ञानुष्ठान ये चारों कर्म भय दूर करते हैं, पर वे ही यथोक्त न होने पर भयप्रद भी हो जाते हैं। दिखावे के अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन और यज्ञानुष्ठान में दम्भ का प्रवेश होने से ही वे भयङ्कर होते हैं :

चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७२ ॥

पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु इन पाँच अग्नियों की सेवा मनुष्य को बड़ी तत्परता से करनी चाहिए :

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताऽग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४ ॥

इसी तरह देवता पितर, मनुष्य, अतिथि एवं यति इन पाँचों की पूजा करनेवाला यश का भागी होता है :

पञ्चैव पूजयल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ७५ ॥

मित्र, शत्रु उदासीन, आश्रय देने और पानेवाले हर जगह पुरुष के साथ लगे रहते हैं।

पाँच इन्द्रियोंवाले पुरुष की इन्द्रियाँ भी यदि छिद्रयुक्त, दोषी होती हैं तो उन्हींके द्वारा उसकी प्रज्ञा उस प्रकार वह जाती है जिस प्रकार दृति (मशक) के छिद्र से पानी। निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य दीर्घसूत्रता ये पाँच दोष अभ्युदयाकांक्षी को अवश्य त्यागने चहिए।

१. अप्रवक्ता (वेदादिशास्त्रों का प्रवचन न करनेवाले) आचार्य, २. वेदाध्ययनशून्य ऋत्विक्, ३. अरक्षिता राजा, ४. अप्रियवादिनी भार्या, ५. ग्राम में रहने की इच्छा करनेवाले गोपाल और ६. वन में रहने की इच्छा करनेवाले नापित इन छहों को वैसे ही त्याग देना चाहिए, जैसे समुद्र का यात्री छिद्रयुक्त नाव त्याग देता है :

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्य - मनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामञ्च गोपालं वनकामञ्च नापितम् ॥ ८० ॥

सत्य, दान, अनालस्य, अनसूया, धृति इन गुणों का सदैव संग्रह आवश्यक है। संसार में निम्नलिखित छह सुख हैं : अर्थागम, सदा नीरोग रहना, प्रियवादिनी प्रियभार्या, वश्य पुत्र और अर्थकरी विद्या। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन छहों को जो वश में रखता है, वह कभी पापों और अनर्थों से संश्लिष्ट नहीं होता।

आरोग्य, आनृण्य, अविप्रवास, सत्संगति, मनोनुकूल जीविका और निर्भय निवास पुण्यों का फल है।

विशेषतः राजा के लिए—स्त्री, जुआ, मृगया, पान, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, अर्थदूषण ये सप्तदोष सर्वथा त्याज्य हैं। ब्राह्मण-द्वेष, ब्राह्मण-विरोध, ब्राह्मण-स्वापहार, ब्राह्मण-जिघांसा, ब्राह्मण-निन्दारति, ब्राह्मण-प्रशंसा में उद्वेग, धर्मानुष्ठानों में उन्हें न बुलाना, कुछ माँगने पर उनमें दोष निकालना, ये आठ दोष विनाश के मुख में पड़नेवाले मनुष्य के चिह्न होते हैं। इन्हें सर्वथा त्याग देना

चाहिए। मित्रों का समागम, अधिक धनप्राप्ति पुत्र का परिष्वङ्ग, प्रियाभार्यासङ्गति यथासमय प्रियालाप, स्ववर्ण में उन्नति, अभीष्ट लाभ और समाज में सम्मान भी पुण्यों का फल है। प्रज्ञा, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, मितभाषिता, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ये गुण पुरुष के प्रभाव बढ़ाते हैं। नौ द्वारोंवाले, सत्त्व, रज, तमोरूप तीन खम्भोंवाले, पाँच ज्ञानेन्द्रियवाले क्षेत्रज्ञ आत्मा से अधिष्ठित इस शरीररूपी गृहको जो तत्त्वतः जानता है, वही ज्ञानी है। मतवाला, असावधान, पागल, भ्रान्त, क्रुद्ध, बुभुक्षित, जल्दबाज, लुब्ध, भीत और कामी ये धर्म की बातें नहीं समझते; अतः इनके संग से सदैव बचना चाहिए।

जो मनुष्यों में विश्वास उत्पन्न करना जानता और अपराधी प्रमाणित होनेवालों को दण्ड देता है तथा दण्ड की न्यून-अधिक मात्राएँ एवं क्षमा करना जानता है, राज्य-श्री उस शासक का सदैव सेवन करती है। जो किसी दुर्जन का अपमान नहीं करता और सावधान रहकर शत्रु के साथ बुद्धिमानी से व्यवहार करता है, जो बलवानों से विग्रह पसन्द नहीं करता, पर समय आने पर विक्रम दिखाता है, वही धीर है :

सुदुर्बलं नावजानाति कञ्चिद् युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम्।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः काले च यो विक्रमते स धीरः॥ १०६॥

जो भयानक आपत्ति आने पर भी व्यथित नहीं होता, सावधानी से उद्योग का आश्रय लेता है; यथासमय दुःख भी सहता है और निरर्थक घर से प्रवास, पापियों से मेल, परदारसंगति, दम्भ, स्तैन्य, पैशुन्य, मद्यपान आदि से बचता रहता है, वही सुखी है। जो क्रोध या उतावलेपन से त्रिवर्ग का सेवन नहीं करता, पूछने पर यथाशक्ति तत्त्व की बातें करता है, मित्र के सम्बन्ध से झगड़ा पसन्द नहीं करता, आदर न पाने पर क्रुद्ध नहीं होता, विवेक नहीं खोता, दूसरों का दोष नहीं देखता, दया करता है, दुर्बल होकर विरोध प्रकट नहीं करता, बढ़-चढ़कर बातें नहीं करता, विवाद सह लेता है, ऐसा पुरुष सर्वत्र प्रशंसनीय होता है। जो उद्धत वेष नहीं बनाता, अपने पराक्रम की श्लाघा नहीं करता, क्रोधातुर होने पर भी कटुवचन नहीं बोलता, उसे सभी प्रिय मानते हैं। जो प्रशान्त वैर को उत्तेजित नहीं करता और स्वयं को विपत्ति में पड़ा देखकर भी अनुचित कर्म नहीं करता, वही आर्यशील पुरुष है :

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः॥ ११२॥

जो अपने सुख तथा अन्य के दुःख में प्रहृष्ट नहीं होता, जो देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह आर्यशील होता है। जो देशाचारों, व्यवहारों तथा जाति-धर्मों

को तत्त्वतः जानता है; जिसे उत्तम-मध्यम का विज्ञान रहता है, वह जहाँ भी कहीं जाता है, महान् जनसमूह पर आधिपत्य करता है। जो दम्भ, मोह, मत्सर, पापकर्म, राजद्रोह, चुगली या समूह से वैर नहीं करता तथा मतवालों, पागलों एवं दुर्जनों से वाद-विवाद में नहीं उलझता, वह श्रेष्ठ होता है। जो दान, होम, देवपूजन, मांगलिक कर्म, प्रायश्चित्त आदि विविध नित्यकर्मों को सादर करता है, देवता लोग भी उसका उत्थान चाहते हैं। जो जाति, अभिजन आदि की दृष्टि से अपने बराबर-वालों से ही विवाह, सख्य एवं व्यवहार करता है, हीनों से विवाद आदि नहीं करता तथा गुणी एवं विशिष्ट लोगों को सदा आगे रखता है, उस विद्वान् की नीति ही श्रेष्ठ नीति है। जो आश्रितों में बाँटकर थोड़ा खाता है, बहुत काम करके थोड़ा सोता है तथा माँगने पर शत्रुओं को भी धन देता है, उस मनस्वी को सभी अनर्थ दूर से छोड़ भागते हैं:

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सन् तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः॥ ११८॥

जिसके स्वाभीष्ट एवं शत्रु-विरुद्ध कार्यों को अन्य कोई भी नहीं जानता, जिसकी गुप्त-मंत्रणा एवं कार्य-सम्पत्ति से कोई भी कार्य बिगड़ने नहीं पाता, जो सब भूतों के प्रश्रय में तत्पर रहता है; सत्यवादी, कोमल, दूसरों का आदर करने-वाला शुद्ध-स्वभावयुक्त होता है, वह जाति में महान् रत्न के समान चमकता है। जो स्वभावतः अधिक लज्जाशील सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध मन, एकाग्रता से सूर्य के समान शोभा पाता है। जिसका हम पराभव न चाहते, हों, उसे बिना पूछे भी अच्छी-बुरी या हित-अहित, की जो भी बात हो, बता देनी चाहिए:

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयात् यस्य नेच्छेत् पराभवम्॥ ४॥[1]

असत् उपायों से किसी कार्य के सिद्ध हो जाने पर भी उसमें मन नहीं लगाना चाहिए। अच्छे उपायों का उपयोग कर सावधानी से किसी कर्म के करने पर भी सफलता न मिले, तो मन में ग्लानि नहीं करनी चाहिए:

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्ध्येयुर्यानि भारत।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः॥ ६॥
तथैव योगविहितं यत्तु कर्म न सिद्ध्यति॥
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः॥ ७॥

---

१. यहाँ से यथाक्रम श्लोक महाभारत उद्योगपर्व के ३४वें अध्याय के हैं।

किसी कर्म को जल्दबाजी में नहीं, परिणामों को खूब सोच-विचार कर ही करना चाहिए। पश्चाद्भावी परिणाम, कर्म का प्रयोजन तथा अपना उत्थान सोचकर ही कोई कर्म आरम्भ करें या न करें। जो राजा स्थिति, वृद्धि, क्षय, कोश, देश, दण्ड आदि की मात्रा को नहीं जानता, वह स्थिर नहीं रह सकता। जो पूर्वोक्त सब विषयों को जानकर धर्म और अर्थ के ज्ञान में तत्पर रहता है, वही राज्य का अधिकारी होता है। अविनय राज्यश्री को ऐसा नष्ट कर देता है, जैसे जरा रूप को। जैसे मछली उत्तम भक्ष्य से प्रतिच्छन्न लोह की काँटी को लोभ से निगल जाती है, वैसे ही लोभी प्राणी परिणाम पर विचार नहीं करता। जो खाने के योग्य हो तथा खायी जा सके, खाने पर पच सके और पचने पर हितकारी भी हो, अभ्युदयाकांक्षी को वही वस्तु ग्रहण करनी चाहिए :

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥

वृक्ष से अपक्व फल तोड़ने पर उसमें कुछ रस तो मिलता ही नहीं, वृक्ष का बीज भी नष्ट हो जाता है। लेकिन जो यथासमय पक्व फल तोड़ता है, वह उससे रस के साथ बीज भी प्राप्त करता है। जैसे भ्रमर फूलों की रक्षा करता हुआ उनसे मधु का ग्रहण करता है, वैसे ही प्रजा को बिना कष्ट दिये ही राजा को धन ग्रहण करना चाहिए। जैसे मालाकार उद्यान का मूलच्छेद न करके एक-एक फूल तोड़ता है, वैसे ही राजा प्रजा की रक्षा करते हुए उससे कर ले; अङ्गार (कोयला) बनानेवाले की तरह उसे जड़ से न काटे :

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न तथाङ्गारकारकः ॥ १८ ॥

जिसका क्रोध एवं प्रसाद दोनों ही निष्फल होते हैं, उसे प्रजा वैसे ही नहीं चाहती जैसे किसी षण्ढ पति को कोई उपवर कन्या। जिसके साधन (उपाय) लघु तथा फल बड़ा हो, ऐसे कार्य शीघ्र प्रारम्भ करने चाहिए; उनमें विघ्न न आने देना चाहिए। जो राजा चुप बैठे हुए भी प्रजा को सरलता एवं प्रेम की दृष्टि से देखता है, जनता का उसके प्रति अनुराग बढ़ता है। राजा को चाहिए कि वह पुष्पित वृक्ष के समान सदैव प्रसन्न रहने पर भी अफल रहे (अधिक देनेवाला न हो)। फलित रहने पर भी दुरारोह रहे (जिस पर चढ़ा न जा सके), पहुँच से बाहर रहे। अपक्व या अल्प-शक्ति रहने पर भी अपने को पक्वतुल्य, शक्तिसम्पन्न ही प्रकट करे। जो राजा मन, वचन और कर्म से प्रजा को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता है, प्रजा उसीसे प्रसन्न रहती है। व्याध से भयभीत हरिण की तरह जिससे सारी प्रजा त्रस्त रहती है, सागरमेखलायुक्त पृथिवी पा जाने पर भी वह प्रजा

द्वारा त्याग दिया जाता है। अनीतिनिष्ठ राजा अपने कर्मों से परम्पराप्राप्त राज्य को भी वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे वायु बादल को। सत्पुरुषों द्वारा आचरित धर्मों का आचरण करनेवाले राजा के लिए धनपूर्ण वसुधा उसका ऐश्वर्य बढ़ाती है। धर्मत्याग एवं अधर्म के आचरण से उसकी राज्य-भूमि आग पर रखे चमड़े को तरह सिकुड़कर छोटी हो जाती है :

अथ संत्यज्यतो धर्ममधर्ममनुतिष्ठतः।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा॥ २९॥

परराष्ट्र के विनाश में जो घोर प्रयत्न किया जाता है, वही शक्ति अपने राज्य के पालन में लगानी उचित है :

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने॥ ३०॥

राजा धर्म से राज्य प्राप्त करे, धर्म से ही उसका पालन करें। धर्ममूलक राज्यश्री प्राप्त करने पर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजा को छोड़ती है। निरर्थक बोलनेवाले, उन्मत्त तथा बकवाद करनेवाले बालक से भी वैसे ही सार-संग्रह करना चाहिए, जैसे कंकर-पत्थर से सोना ग्रहण किया जाता है।

जैसे शिलु-वृत्तिवाला एक-एक दाना बटोरता है, वैसे ही जहाँ-तहाँ से भावपूर्ण वचनों, सूक्तों एवं सुकृतों को संगृहीत करना चाहिए। गायें गन्ध से, ब्राह्मण वेदों से और राजा लोग चारों (गुप्तचरों) से देखते हैं, जब कि साधारण लोग लौकिक आँखों से देखा करते हैं।

जो गाय सीधे दूध नहीं देती, उसे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। आसानी से दूध देनेवाली को कोई कष्ट नहीं देता। जो धातु बिना तपाये ही मुड़ जाती है, उसे आग में नहीं तपाया जाता। जो काष्ठ स्वयं झुक जाता है, उसे झुकाया नहीं जाता। इसी तरह बुद्धिमान् को अधिक बलवान् के सामने झुक जाना चाहिए। बलवान् के सामने नत होना इन्द्र के सामने ही नत होना है। पशुओं के बादल स्वामी होते हैं, राजाओं के मन्त्री सहायक होते हैं, स्त्रियों के पति तथा ब्राह्मणों के वेद ही सहायक होते हैं :

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः॥ ३८॥

सत्य से धर्म, अभ्यास से विद्या, मार्जन से सुन्दर रूप तथा सदाचार से कुल की रक्षा होती है। संभालने से अन्न की, फेरने से अश्व की, बार-बार संभालने से गायों की और मैले वस्त्रों से स्त्री की रक्षा होती है : **स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः।** (४०)

वृत्तहीन कुलमात्र प्रमाण नहीं होता, निम्नश्रेणी के कुलों में उत्पन्न लोगों का भी सदाचार से महत्त्व मान्य होता है। जो दूसरों के वित्त, सौन्दर्य, पराक्रम कुल, वंश, सुख, सौभाग्य, सत्कार पर डाह करता है, उसका यह रोग असाध्य ही है। अकार्य करने तथा कर्तव्य कर्म त्यागने और मन्त्र-भेद से डरना चाहिए। जिससे बुद्धि मन्द हो, ऐसे पेय का पान नहीं करना चाहिए। विद्यामद, धनमद तथा कुलीनता का मद घमंडियों के लिए मद है; किन्तु सज्जनों के लिए ये सब धर्म के साधन हैं। अर्थात् इनके सम्बन्ध से सज्जन अपनी इन्द्रियों को कुमार्ग में जाने से रोककर निग्रह करता है। विद्वान, धनवान् तथा कुलीन अपनी महत्ता की रक्षा के लिए निम्नस्तर के कर्मों से बचने का प्रयत्न करता है। किसी कार्य के लिए अभ्यर्थित असन्त लोग दुष्ट जानते हुए भी अपने को सन्त जानने लगते हैं। आत्मवानों के आश्रय सन्त होते हैं और वे ही सन्तों के भी सहारा होते हैं; किन्तु कभी भी असन्त सन्तों की गति नहीं होते। अच्छे वस्त्रवाला सभा पर प्रभाव जमा लेता है। गायवाला दुग्ध, दधि, मक्खन आदि पदार्थों द्वारा मीठा खाने की आशा जीत लेता है। यान (सवारी) वाला मार्ग को जीत लेता है, तो शीलवान् पुरुष सभीको जीत लेता है :

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ ४७ ॥

शील ही पुरुष में प्रधान है। जिसका वह नष्ट हो गया, उसका जीवन, धन तथा बन्धुओं से कुछ भी नहीं होता। दरिद्र पुरुष सदैव स्वादिष्ट भोजन करता है; क्योंकि क्षुधा ही स्वाद उत्पन्न करती है। वह भूख आढ्यों के लिए दुर्लभ ही रहती है।

प्राय: श्रीमानों में भोजन पचाने की शक्ति नहीं रहती, जब कि दरिद्रों के पेट में काठ भी पच जाता है। निम्नश्रेणी के लोगों को जीविका न होने का भय रहता है, मध्यम लोगों को मरने का तो उत्तम लोगों को अपमान का बड़ा भय रहता है। पान, मद आदि मद हैं, पर ऐश्वर्य का मद सबसे पापिष्ठ है; क्योंकि ऐश्वर्यमदवाला बिना भ्रष्ट हुए जगता ही नहीं। प्राणी विषयों में संलग्न, अनिगृहीत इन्द्रियों से वैसे ही अभिभूत हो जाता है जैसे सूर्य से नक्षत्र। पञ्चेन्द्रियों ने जिसे जीत लिया, उसकी आपत्तियाँ शुक्लपक्षीय चन्द्र की तरह बढ़ती हैं। जो अपने मन एवं इन्द्रियों को बिना जीते अमात्यों को और बिना अमात्यों को जीते शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह परवश होकर सबसे जीत लिया जाता है। जो जितेन्द्रिय एवं जितात्मा है, अपराधियों को यथायोग्य दण्ड देता है, परीक्ष्यकारी और धीर होता है, राज्यश्री उसकी सेवा करती है।

पुरुष का शरीर रथ है, आत्मा रथी है, बुद्धि सारथी और इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं। सावधान धीर पुरुष नियंत्रित अश्वों द्वारा रथ की भाँति सुखपूर्वक संसार-पथ का अतिक्रमण करता है। अनिगृहीत घोड़े जैसे कुसारथि को मार्ग में गिरा देते हैं, वैसे ही असंयत इन्द्रियाँ भी पुरुष को नष्ट कर सकती हैं। जो धर्म और अर्थ को त्यागकर इन्द्रियों के वश में रहता है, वह श्री, प्राण, धन तथा दाराओं से भी रहित हो जाता है। जो अर्थों का स्वामी होकर इन्द्रियों का स्वामी, नियामक (ईश्वर) नहीं होता, वह सभी ऐश्वर्यों से भ्रष्ट हो जाता है। जिसने स्वयं आत्मा को जीत लिया, उसका आत्मा ही उसका बन्धु है; अन्यथा वही उसका शत्रु है। जैसे क्षुद्र छिद्रवाले जाल में फँसी दो बड़ी मछलियाँ जाल काट देती हैं, वैसे ही काम-क्रोध प्रज्ञान को नष्ट कर देते हैं। जो धर्म और अर्थ का विचार करके विजय-साधनों का संग्रह करता है, वह सदा सुख पाता है। जो भीतर के शत्रुओं को बिना जीते बाह्य शत्रुओं को जीतना चाहता है, वे शत्रु ही उसे अभिभूत कर देते हैं। बहुत से राजा इसी कारण नष्ट हो गये। पापियों का संसर्ग न त्यागने से निष्पाप लोगों को भी उनके तुल्य दण्ड भुगतना पड़ता है; शुष्क काष्ठ के मिश्रण से ही आर्द्र भी काष्ठ जलता है। अतएव पापिष्ठ पुरुषों से कभी सन्धि नहीं करनी चाहिए। जो विषयाभिमुख इन्द्रियों को निगृहीत नहीं करता, वह निश्चय ही आपद्ग्रस्त होता है। अनसूया, गुणों में दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, सन्तोष, प्रियवादिता, सत्य, दम तथा अनायास सहजप्रसन्नता आदि गुण दुरात्माओं में नहीं हो सकते :

अनसूयार्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम्॥ ७२॥

आत्मज्ञान, असंरम्भ (अक्रोध), सहिष्णुता, धर्मपरायणता, वचन का पालन एवं गुप्तदान ये गुण अधम पुरुषों में नहीं होते :

आत्मज्ञानमसंरम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
वाक् चैव गुप्तदानञ्च नैतान्यन्त्येषु भारत॥ ७३॥

मूर्ख लोग निन्दा एवं गाली देकर विद्वानों को कष्ट पहुँचाते हैं, किन्तु वहाँ वक्ता पाप का भागी और क्षमा करनेवाला पापों से मुक्त हो जाता है :

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान्।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षमावान् पुण्यवान् भवेत्॥ ७४॥

असाधुओं का बल हिंसा है, राजाओं का बल है दण्डविधान। स्त्रियों का बल सुश्रूषा है तो गुणवानों का बल है क्षमा :

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥

वाक्-संयम तो बहुत कठिन होता ही है; अर्थयुक्त, चमत्कारपूर्ण बहुभाषण भी संभव नहीं होता। इसीलिए चित्रभाषित्व और बहुभाषित्व परस्पर विरुद्ध माने जाते हैं :

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रञ्च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥ ७६ ॥

मधुर शब्दों से युक्त सुभाषित वाणी बहुप्रकार कल्याण करती है। वही कटु शब्दों से युक्त दुर्भाषित वाणी अनर्थ का हेतु हो जाती है। बाणों से बिद्ध घाव फिर से भर जाता है तथा फरसे से कटा वन फिर से अङ्कुरित हो उठता है; किन्तु कटु-वाणी से लगा भयंकर, दुर्वचनजन्य घाव फिर से नहीं भरता :

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

कर्णि, नालीक नाराच आदि भीषण बाणों को शरीर से निकाला जा सकता है। किन्तु मर्मभेदी कटु-वचनरूपी शल्य निकाला नहीं जा सकता; क्योंकि वह तो हृदय के भीतर धँसा होता है :

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥

कटु-वचनरूपी वाणी मुख से निकलकर दूसरों के मर्म-स्थान पर ही चोट करती है। उससे आहत मनुष्य दिन-रात शोक में निमग्न रहता है। अतः विद्वान् कभी दूसरों पर कटु-वचनों का प्रयोग न करे। देवता जिसे पराभव देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि पहले से ही हर लेते हैं। इससे वह निम्नस्तर की बात ही सोचता है :

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥

विनाश-काल आने पर बुद्धि कलुषित हो जाती है। फिर न्यायतुल्य प्रतीत होनेवाला अन्याय उसके हृदय से निकलता ही नहीं :

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥

विदुरजी के अनुसार सब तीर्थों में स्नान करना और सब प्राणियों के साथ सरलता का बरताव, दोनों एकसमान है। अथवा सरलता के बर्ताव को अधिक ही समझना चाहिए :

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥[1]

जबतक संसार में मनुष्य की पुण्य-कीर्ति गायी जाती है, तबतक वह स्वर्ग-लोक में प्रतिष्ठित रहता है :

यावत् कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्यलोकेषु गुज्यते।
तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥

सौतवाली स्त्री, जुए से हारा जुआरी, भार ढोने से व्यथित मनुष्य की रात में जैसी स्थिति होती है, वैसे ही स्थिति उल्टा न्याय देनेवाले विवक्ता की होती है :

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यांश्च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ॥ ३१ ॥

जो पूछे जाने पर सत्य न कहकर झूठी गवाही देता है, वह नगर में कैद होकर दरवाजे पर भूखा रहकर बहुत-से उत्कर्षप्राप्त शत्रुओं को देखता है :

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३२ ॥

स्वार्थान्ध होकर पशु के लिए झूठ बोलने से पाँच, गौ के लिए बोलने से दश, अश्व के लिए सौ तथा मनुष्य के लिए झूठ बोलने से एक सहस्र पूर्वजों को मनुष्य नरक में गिराता है। सुवर्ण के लिए झूठ बोलनेवाला भूत-भविष्य की सभी पीढ़ियों को नरक में गिराता है। पृथिवी के लिए झूठ व्यवहार करनेवाला अपना सर्वस्व ही नाश कर देता है :

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४ ॥

देवता चरवाहों की तरह डण्डा लेकर किसीकी रखवाली नहीं करते; किन्तु जिसकी रक्षा चाहते हैं, उसको उत्तम बुद्धि से युक्त कर देते हैं :

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ॥ ४० ॥

---

१. यहाँसे यथाक्रम श्लोक उद्योगपर्व के ३५वें अध्याय के हैं।

जैसे-जैसे मनुष्य कल्याण में मन लगाता है, वैसे-वैसे उसके अभीष्ट सिद्ध होते हैं। कपटी पुरुष को वेद भी पापों से नहीं बचाते। किन्तु पंख निकलने पर जैसे पक्षी घोसला छोड़ देते हैं, वैसे ही अन्तकाल में वेद उस मायावी को त्याग देते हैं :

नैनं छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ४२ ॥

पान, कलह, समूह-वैर, स्त्री, पुरुष तथा जाति में भेद पैदा करना, स्त्री-पुरुष में विवाद तथा राजविद्वेष सब त्याज्य हैं। हस्तरेखा देखनेवाला, चोरीकर व्यापार करनेवाला जुआरी, चिकित्सक, शत्रु, मित्र, नर्तक ये सात साक्ष्य में अग्राह्य होते हैं। अग्नि लगानेवाला, विष देनेवाला जारज सन्तान की कमाई खानेवाला, सोम-विक्रेता शस्त्र-निर्माता, परदोषसूचक, मित्रद्रोही, परस्त्री-संसर्गी, भ्रूणहा, गुरुतल्पगामी, सुरापायी ब्राह्मण, तीक्ष्णस्वभाव वाला, काकभाषी, नास्तिक, वेदनिन्दक, ग्रामपुरोहित, व्रात्य, क्रूर तथा शरणागत-घातक ये सब ब्रह्महा के तुल्य हैं। प्रज्वलित काष्ठ से सुवर्ण की, सदाचार से भद्रपुरुषों की, व्यवहार से साधु पुरुष की, आर्थिक कठिनाई में धीर की, आपत्ति में मित्र-शत्रु की परीक्षा होती है। बुढापा रूप को, आशा धीरता को, मृत्यु प्राण को, असूया धर्माचरण को, क्रोध लक्ष्मी को, नीच-सेवा स्वभाव को, काम लज्जा को, तो अभिमान सब कुछ हर लेता है। शुभकर्मों से लक्ष्मी उत्पन्न होती है, प्रागल्भ्य से वह बढ़ती है, दक्षता से जड़ पकड़ती तो संयम से प्रतिष्ठित हो जाती है :

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् संप्रवर्धते।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

यज्ञ, दान, अध्ययन, तप ये चार सज्जनों में नित्य-सम्बद्ध होते हैं। दम, सत्य सरलता, कोमलता इन चारों का सब लोग अनुसरण करते हैं।

इज्या, अध्ययन, तप, शौच, सत्य, क्षमा, घृणा (दया) अलोभता ये धर्म के आठ मार्ग हैं। इनमें पूर्व के चार दम्भार्थ सेवन किये जाते हैं, पर उत्तर के चार महात्माओं में ही रहते हैं, तद्भिन्न में रह ही नहीं सकते। वह सभा सभा नहीं, जहाँ वृद्ध न हो। जो धर्म की बात नहीं कहते, ये वृद्ध ही नहीं और वह धर्म ही नहीं, जिसमें छल मिला हो :

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ५८ ॥

सत्य, रूप, श्रुत, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शौर्य, चित्रभाषिता ये दश गुण स्वर्ग से आये हुए लोगों में होते हैं। पाप करनेवाला निन्दित होकर पाप

का ही फल भोगता है। पुण्यकारी पुण्य-कीर्ति होकर अत्यन्त पुण्यफल का भागी होता है। अतः प्रशंसित-व्रत मनुष्य कभी पाप न करे। बार-बार पाप का आचरण प्रज्ञा नष्ट कर देता है :

तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥

नष्ट-प्रज्ञ नित्य पाप ही करता है। पुण्य का बार-बार अनुष्ठान करने से प्रज्ञा बढ़ती है और उससे प्राणी नित्य पुण्य ही करता है। पुण्य करता हुआ प्राणी पुण्य-कीर्ति होकर पुण्यस्थान पाता है। असंयत, मर्मघाती, निष्ठुर, वैरकृत्, शठ प्राणी पाप करता हुआ शीघ्र ही महान् संकट में पड़ जाता है। अनसूयु, कृतप्रज्ञ, शुभकर्म करनेवाला सदा महान् सुख पाता तथा सर्वसम्मानित होता है। जो प्राज्ञों से प्रज्ञा प्राप्त करता है, वही पण्डित है। प्रज्ञा, धर्म और अर्थ प्राप्तकर वह अनायास अभ्युदय प्राप्त करता है। दिनभर वह कार्य कर लेना चाहिए, जिससे रातभर सुख से रह सकें। आठ महीनों में इतना कार्य कर लेना चाहिए जिससे वर्षा के चार मास सुख से व्यतीत हो सकें।

दिवसेनैव तत्कुर्यात् येन रात्रौ सुखं वसेत्।
अष्टमासेन तत्कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥ ६७ ॥

पूर्व-वय में वैसा काम करना चाहिए, जिससे वृद्धावस्था में सुखपूर्वक रह सकें। यावज्जीवन वह काम करना चाहिए जिससे मरने के बाद परलोक में सुख से रहा जा सके :

पूर्वे वयसि तत्कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत्।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

सज्जन पचे अन्न की ही प्रशंसा करते हैं। यौवन बीत जाने पर स्त्री की, संग्राम जीत लेने पर शूर की, संसार पार कर लेने पर तपस्वी की प्रशंसा की जाती है :

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम्।
शूरं विजितसङ्ग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥

अधर्म से प्राप्त धन द्वारा जो दोष छिपाया जाता है, वह छिपता नहीं; किंतु उससे भिन्न और भी नये-नये छिद्र प्रकट हो जाते हैं :

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥

आत्मवानों का शासक गुरु होता है, दुरात्माओं का शासक राजा होता है, और प्रच्छन्न पापों का शासक वैवस्वत यमराज होते हैं :

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥

ऋषियों, नदियों, कुलों और महात्माओं तथा स्त्रियों के दुश्चरित का उद्भवस्थान नहीं जाना जा सकता :

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ७२ ॥

द्विजाति की पूजामें रत, दाता तथा जाति के लोगों में कोमलता रखनेवाला, शीलवान् क्षत्रिय चिरकालतक पृथ्वी का शासक होता है। पृथिवी में सुवर्ण के फूल लगते हैं। किन्तु उसे शूर, कृतविद्य तथा जो सेवा करना जानता है, ये तीन प्रकार के पुरुष ही उनका सञ्चय कर पाते हैं :

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥

बुद्धि से किया कर्म श्रेष्ठ, बाहुबल से किया मध्य, जंघा से कृत कर्म जघन्य तथा भार ढोने का काम अधम होता है।

श्री दत्तात्रेय ने साध्य देवताओं से कहा था कि धैर्य, मनोनिग्रह, सत्य और धर्म की अनुवृत्तिका आश्रयण कर हृदय की ग्रंथि खोलें तथा प्रिय, अप्रिय सबको आत्मा के समान समझें (म० भा० उ०, ३६.४)। दूसरों से गाली सुनकर भी उन्हें गाली न दें। सहन करनेवालों का निरुद्ध क्रोध ही क्रोध करनेवालों को जला देता और उनका पुण्य भी ले लेता है :

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन् मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ५ ॥[1]

दूसरों का आक्रोश न करे, न अपमान करे, मित्रद्रोही नीच-सेवी, अभिमानी एवं हीनवृत्त न हो और न किसीके प्रति रोषभरी रूखी वाणी ही बोलें। रूखी वाणी दूसरों के मर्मस्थान, हृदय एवं प्राणों को दग्ध कर देती है। अतः धर्मनिष्ठ सदैव उससे बचता रहे। जिसकी वाणी मर्मभेदी, रूखी और कठोर होती है, वह उसी वाणी से मनुष्यों को चोट पहुँचाता है। उसे सदा दरिद्र समझना चाहिए, वह मुख में दरिद्रता और मृत्यु को बाँधे रहता है। बुद्धिमान् को चाहिए कि वह उसे

१. यहाँसे यथाक्रम श्लोक महाभारत उद्योगपर्व के ३६वें अध्याय के हैं।

सहन करता हुआ समझे कि गाली देनेवाला मेरे पुण्यों को पुष्ट कर रहा है। वस्त्र जिस रंग में रंगा जाता है, वैसा ही बन जाता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य, सन्त, असन्त, चोर, तपस्वी जैसों की सेवा करते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। जो न तो स्वयं अतिवादी होता है और न दूसरों को वैसा करने के लिए बाध्य करता है; जो न मार खाता है, न दूसरों को मारता या मरवाता है; जो पापी को भी मारना नहीं चाहता, देवता भी उसके आगमन की बाट जोहते हैं :

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद् योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ ११ ॥

बोलने से न बोलना अच्छी वाणी की पहली विशेषता है। सत्य बोलना दूसरी विशेषता है। प्रिय बोलना तीसरी और धर्म बोलना चौथी विशेषता है। मनुष्य जैसे लोगों के साथ रहता है, जैसों का सेवन करता है जैसा बनना चाहता ही है, वैसा ही हो जाता है :

यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

जैसे-जैसे प्राणी निवृत्त होता है, वैसे-वैसे मुक्त होता है। सब तरह से निवृत्त होने पर प्राणी सर्वथा मुक्त हो जाता है :

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १५ ॥

जो न किसीसे जीता जाता है और न किसीको जीतना चाहता है; न वैर करता है और न किसीको चोट पहुँचाता है; निन्दा-प्रशंसा में समस्वभाव रहता है, वह शोक और हर्ष को पार कर लेता है। जो सबका भाव चाहता है, किसीका अभाव नहीं चाहता; जो सत्यवादी, मृदु एवं दान्त होता है, वही उत्तम पुरुष है :

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥

जो झूठी सान्त्वना नहीं देता, प्रतिज्ञा करके दे ही देता है, दूसरों के दोषों को जानता है, वह मध्यम पुरुष है।

जो दुःशासन या कठोर-शासन, अनेक दोषों से दूषित, कलङ्कित होकर क्रोध-वश किसी भी बुराई से नहीं हटता, जो किसीके किये उपकार को नहीं मानता, जो किसीका मित्र नहीं होता और जो दुरात्मा है, वह अधम पुरुष है। जो अपने पर भी शंका करता है तथा दूसरों से कल्याण होने में विश्वास नहीं करता, मित्रों

का भी निरादर करता है, वह अधम पुरुष है। भूति चाहनेवाले पुरुष को चाहिए कि उत्तम पुरुषों की ही सेवा-संग करे। समय आ पड़ने पर मध्यमों की भी सेवा कर ले, किन्तु अधम पुरुषों की कभी भी सेवा-संग न करे। मनुष्य दुष्ट पुरुषों के बल से उद्योग, प्रज्ञा, पुरुषार्थ द्वारा भले ही धन प्राप्त कर ले, किन्तु उससे सम्मान एवं महाकुलों का सदाचार कदापि नहीं पा सकता।

धृतराष्ट्र ने पूछा कि विदुर, धर्म और अर्थ के अनुष्ठान में परायण, बहुश्रुत देवता लोग भी जिस महाकुल में उत्पन्न होने की इच्छा करते हैं, वे महाकुल कौन-कौन-से होते हैं :

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

श्री विदुर जी ने विस्तार से महाकुल एवं कुलीनों के लक्षण बताये हैं। वे कहते हैं : जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषों से माता-पिता को कष्ट नहीं देते, जो प्रसन्न-चित्त होकर धर्म का आचरण करते हैं, जिनमें तप, इन्द्रिय-संयम, वेदों का स्वाध्याय, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार ये सात गुण सदैव रहते हैं, वे ही 'महाकुल' कहलाते हैं :

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

जिनके सदाचार एवं योनि (माता-पिता) व्यथित न हों, जो असत्य का परित्याग कर अपने कुल की विशेष कीर्ति चाहें, ऐसे लोगों का कुल 'महाकुल' कहलाता है। अनिज्या (यज्ञादि न करने), निन्दित विवाह, वेदों का परित्याग एवं धर्म का अतिक्रमण करने से महाकुल भी अकुल अर्थात् अधम-कुल हो जाते हैं :

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥

देवताओं के धन का नाश तथा परद्रव्य का हरण करने तथा ब्राह्मण का अतिक्रमण करने से कुल अकुल हो जाते हैं :

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

ब्राह्मणों के अनादर और निन्दा तथा किसीकी धरोहर हरण कर लेने से कुल अकुल हो जाते हैं :

ब्राह्मणानां परिभवात् परीवादाच्च भारत।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

गायों, पुरुषों तथा धन से सम्पन्न होने पर भी जो सदाचारहीन हैं, वे अच्छे कुलों की गणना में नहीं जाते। अल्प धनवाले भी जो सदाचार-सम्पन्न हैं, वे सत्कुल माने जाते हैं और महान् यश प्राप्त करते हैं :

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ २९ ॥

संसार में बलपूर्वक सदाचार की रक्षा करनी चाहिए; वित्त तो आता-जाता रहता है। धन क्षीण होने पर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता। पर जो सदाचार से भ्रष्ट है, उसे क्षीण ही समझना चाहिए :

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥

जो वृत्त से हीन हो गये, वे विद्या, पशुओं, घोड़ों तथा हरी-भरी खेती से उन्नत होने पर भी उन्नति नहीं कर पाते :

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

भले पुरुष यही कामना किया करते हैं कि हमारे कुल में कोई वैरभाव करनेवाला, दूसरों का धन हरण करनेवाला राजा अथवा मंत्री न हो; मित्र-द्रोही, कपटी तथा असत्यवादी न हो; माता-पिता, देवता तथा अतिथियों को भोजन कराने से पहले भोजन करनेवाला न हो। हम लोगों में से जो ब्राह्मणों की हत्या करे, ब्राह्मणों से द्वेष करे, पितरों को पिण्डदान एवं तर्पण न करे, वह हमारी सभा में प्रवेश न करे :

यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद् यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत्।
न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् पितॄन् ॥ ३३ ॥

तृणका आसन, भूमि, जल और मीठी वाणी—सज्जनों के घरों में इन चार वस्तुओं की कभी कमी नहीं रहती :

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥

मनुस्मृति (३. १०१) में थोड़े अन्तर से यही श्लोक है :

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

उक्त चारों वस्तुएँ धर्मात्मा पुरुषों के यहाँ बड़े सत्कार से उपस्थित की जाती हैं। रथ छोटा-सा होने पर भी भार ढोने में समर्थ होता है, जब कि अन्य काष्ठ बड़े होने पर भी वैसा नहीं कर पाते। इसी तरह महाकुलीन पुरुष ही धर्म का भार वहन कर सकते हैं, अन्य नहीं। जिसके कोप से भयभीत होना पड़े तथा शंकित होकर जिसकी सेवा करनी पड़े, वह मित्र नहीं। मित्र वही है, जिसमें पिता के समान विश्वास किया जा सके। अन्य सभी साथी हैं, मित्र नहीं :

न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति यद्वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम्।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाऽऽश्वसीत तद्वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥

पहले से कोई सम्बन्ध न होने पर भी जो मित्रता का बर्ताव करे, वही बंधु, वही मित्र, वही सहारा और वही आश्रय है :

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत्परायणम् ॥ ३८ ॥

जो चञ्चलचित्त है तथा वृद्धों की सेवा नहीं करता, उस अनिश्चित-मति के लिए मित्र-संग्रह स्थायी नहीं होता :

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसङ्ग्रहः ॥ ३९ ॥

जैसे सूखे सरोवर पर हंस मँड़रा कर रह जाते हैं, प्रवेश नहीं करते; वैसे ही चञ्चल, अज्ञानी एवं इन्द्रियाराम पुरुषों को अर्थ त्याग देते हैं। अकस्मात् कुपित होनेवाले, विना निमित्त ही प्रसन्न होनेवाले, असाधु पुरुषों का मन चञ्चल मेघ के समान होता है। जो मित्रों द्वारा सत्कृत होकर तथा उनकी सहायता से कृत-कार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नों के मरने पर मांसभोजी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते। मित्रों के पास धन रहे या न रहे, सर्वथा उनका सम्मान करना चाहिए। बिना विशिष्ट प्रयोजन उपस्थित हुए मित्रों की महत्ता एवं तुच्छता का ज्ञान नहीं हो सकता। सन्ताप (शोक) से रूप नष्ट होता है। सन्तापसे बल क्षीण होता है। सन्ताप से ज्ञान नष्ट होता है। सन्तापी व्याधि को प्राप्त होता है। अभीष्ट वस्तु शोक से नहीं मिलती, केवल ताप ही हाथ लगता है। उससे अमित्र प्रसन्न होते हैं। अतः शोक में कभी मन संलग्न नहीं करना चाहिए।

मनुष्य को बार-बार मरना, जन्म लेना, क्षीण-वृद्ध होना और बार-बार दूसरों से माँगना पड़ता है। दूसरे भी उससे माँगते हैं। वह बार-बार दूसरों के लिए शोक करता है, तो लोग भी उसके लिए शोक करते हैं। सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, हानि-लाभ, जीवन-मरण क्रमशः सभीको प्राप्त होते रहते हैं। अतः धीर पुरुष को कभी हर्ष और शोक नहीं करना चाहिए।

विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह और लोभ-त्याग के बिना कभी शान्ति नहीं मिलती। मनुष्य बुद्धि से ही भय दूर करता और तपस्या से ही महत्पद प्राप्त करता है। गुरु-शुश्रूषा से ज्ञान एवं योग से शान्ति प्राप्त करता है। मोक्ष चाहनेवाले लोग दान-पुण्य, वेद-यज्ञादि का आश्रय न लेकर राग-द्वेषरहित हो सुख से विचरते हैं। जिनमें आपसी फूट होती है, उन्हें अच्छे बिछौने से युक्त पलंग पर भी नींद नहीं आती। स्त्रियों के पास रहकर तथा सूत-मागधों द्वारा स्तुति सुनकर भी वे प्रसन्न नहीं होते। ऐसे लोग न धर्म का आचरण कर सकते हैं, न सुख ही पाते हैं। उन्हें न गौरव मिलता है और न शान्ति की बात ही सुहाती है :

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ ५६ ॥

उन्हें कही हुई हित की बात भी नहीं सुहाती। उनके योग-क्षेम की सिद्धि भी नहीं होती। फूटवाले लोगों के लिए सिवा विनाश के दूसरी कोई गति नहीं :

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं न विद्यते किञ्चिदन्यद् विनाशात् ॥ ५७ ॥

जैसे गायों में दुग्धादि, ब्राह्मणों में तप और स्त्रियों में चाञ्चल्य सम्भाव्य होता है, वैसे ही अपने जाति-बान्धवों से भय भी सम्भव है। नित्य सींचकर बढ़ायी बहुत-सी पतली-पतली शाखाएँ बहुत होने के कारण वर्षों तक पवन के अनेक झोंके सहती रहती हैं; इसी प्रकार दुर्बल भी सामूहिक शक्ति से बलवान् होकर प्रबल विरोधी का मुकाबिला कर लेते हैं :

तन्तवोऽप्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ५९ ॥

जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होकर धुआँ फेंकती हैं, लेकिन एक साथ होने पर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जाति-बन्धु भी फूट होने पर दुःख उठाते हैं, जब कि एक होने पर तेजस्वी होते हैं :

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥

जो ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों तथा गायों पर शौर्य दिखाते हैं, वे डण्ठल से पके फल के समान गिर पड़ते हैं। महान्, दृढ़मूल, बलवान् तथा सुप्रतिष्ठित होने पर भी कोई वृक्ष यदि अकेला हो तो एक ही क्षण में आँधी द्वारा शाखाओं-सहित धराशायी किया जा सकता है। इसी प्रकार बहुगुणोपेत भी एक मनुष्य को शत्रु लोग एकाकी वृक्ष की तरह शक्ति के अन्दर समझते हैं। किन्तु बहुत-से कमजोर भी वृक्ष एक साथ समूह के रूप में खड़े रहें तो एक दूसरे के सहारे वे बड़ी-से-बड़ी आँधियों को भी सह लेते हैं :

> महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः।
> प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥
> अथ ये संहता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः।
> ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥ ६३ ॥

परस्पर मेल से, एक दूसरे के सहारे से जाति-बान्धव समाज में सर्वत्र वैसे ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं, जैसे सरोवर में कमल। ब्राह्मण, गाय, जातिवाले लोग, बालक एवं स्त्रियाँ तथा अन्नदाता एवं शरणागत ये अवध्य हैं। मनुष्य में धनवत्ता एवं नीरोगता को छोड़ दूसरा कोई बड़ा गुण नहीं, क्योंकि रोगी में कितने ही गुण क्यों न हों, वह मुर्दे के समान है। विदुरजी कहते हैं कि महाराज, जो क्रोध बिना रोग से उत्पन्न, कड़वा, सिर-में दर्द पैदा करनेवाला पाप से सम्बद्ध, कठोर, तीखा तथा गर्म है और जिसे सज्जन पी जाते हैं, पर दुर्जन पी नहीं पाते, आप उसे पीकर शान्त हो जाइये :

> अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
> पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम्।
> सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
> मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६४ ॥

दृढ़ रोग से पीडित व्यक्ति पुत्र, पशु आदि का आदर नहीं करते। विषयों में भी उन्हें कुछ तत्त्व नहीं मिलता। वे सदा दुःखी रहते हैं। धनसम्बन्धी भोग और सुख का भी वे अनुभव नहीं करते। वह बल नहीं, जिसका स्वभाव मृदुता से विरुद्ध हो। धर्म सूक्ष्म है, उसका शीघ्र ही सेवन करना चाहिए। क्रूरता से उपार्जित लक्ष्मी नश्वर होती है। यदि वह मृदुमार्ग से बढ़ायी जाती है तो पुत्र-पौत्रों तक स्थिर रहती है।

महाभारत उद्योग-पर्व के ३७वें अध्याय में धृतराष्ट्र से विदुरजी कहते हैं कि संसार में सत्रह प्रकार के पुरुष आकाश पर मुक्कों से प्रहार करते हैं, वर्षाकालीन

न झुकनेवाले इन्द्रधनुष को झुकाने की चेष्टा करते और सूर्य की किरणों को पकड़ने का उद्यम करते हैं। अर्थात् उनके सभी प्रयत्न निष्फल होते हैं. वे १७ प्रकार के पुरुष निम्नलिखित हैं : १. जो अशिष्य पर शासन करता है, २. जो मर्यादा का उल्लङ्घन करके सन्तुष्ट होता है, ३. जो शत्रुओं की सेवा करता है ४. जो अरक्षणीय स्त्रियों की रक्षा का प्रयत्न कर कल्याणभागी होना चाहता है, ५. जो अयाच्य याचना करता है, ६. जो आत्मप्रशंसा करता है, ७. जो कुलीन होकर अकार्य-कर्म करता है, ८. जो दुर्बल होकर बलवान् से वैर करता है, ९. जो अश्रद्धालुओं को उपदेश देता है, १० जो निषिद्ध या अकाम्य की कामना करता है, ११. जो श्वसुर होकर वधू से परिहास करता है, १२. जो वधू के साथ निर्भयता से रहकर भी समाज में मान चाहता है, १३. जो परक्षेत्र में अपना बीज बोता है, १४. जो मर्यादा के बाहर स्त्री-निन्दा करता है, १५. जो किसीसे कोई वस्तु लेकर भी 'स्मरण नहीं' कहकर टाल देता है, १६. जो माँगने पर दान देकर आत्मश्लाघा करता है, १७. जो झूठ को सच सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। पाश हाथ में लिये यमदूत ऐसे पुरुषों को नरक में ले जाते हैं।

जो जिसके साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, यह नीति-धर्म है। कपट का आचरण करनेवाले से कपटपूर्ण बर्ताव और अच्छा बर्ताव करनेवालों के साथ साधुभाव से ही बर्ताव करना चाहिए :

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥७॥

यद्यपि पुरुष शतायु होता है; तथापि अतिमान, अतिवाद, त्याग का अभाव तथा उदरम्भरिता एवं मित्रद्रोहरूप तीक्ष्ण तलवारें उसकी आयु को छिन्न-विच्छिन्न करती रहती हैं। विश्वस्त पुरुष की स्त्री के साथ गमन करनेवाला, गुरुतल्पगामी, वृषलीपति ब्राह्मण तथा मद्यपान करनेवाला, ब्राह्मण पर आदेश चलानेवाला, ब्राह्मण की जीविका नष्ट करनेवाला, सेवा के लिए ब्राह्मणों को इधर-उधर भेजनेवाला, शरणागतकी हिंसा करनेवाला ये सभी ब्रह्मघ्न के तुल्य हैं। बड़ों की आज्ञा माननेवाला, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष-भोक्ता, अहिंसक, अनर्थकारी कार्यों से दूर रहनेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी और मृदुस्वभाव मनुष्य स्वर्गगामी होता है। प्रियवादी पुरुष सुलभ होते हैं, लेकिन अप्रिय, किन्तु तथ्य के वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं :

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १५ ॥

---

१. यहाँसे यथाक्रम श्लोक महाभारत, उद्योगपर्व ३७वें अध्याय के हैं।

जो शुद्ध धर्म का आश्रय लेकर, प्रिय-अप्रिय का विचार त्याग अप्रिय भी हित की बात कहता है, वही मुख्य सहायक होती है। कुल की रक्षा के लिए एक मनुष्य को, ग्राम की रक्षा के लिए कुल को, देश की रक्षा के लिए ग्राम को और आत्मा की रक्षा (आत्मकल्याण) के लिए सारी पृथ्वी को भी त्याग देना चाहिए :

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामार्थे च कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १७ ॥

आपत्ति के लिए धन की रक्षा करें, धन द्वारा भी दारा की रक्षा करे तथा स्त्री और धन दोनों के द्वारा अपनी रक्षा करें; क्योंकि आत्मा अङ्गी है, अन्य सब उसके अङ्ग हैं :

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ १७ ॥

जो सर्वदा हित में लगे भृत्यों पर क्रोध नहीं करता, भृत्य भी उस स्वामी में विश्वस्त होते हैं और कभी भी उसका त्याग नहीं करते। कर्तव्यों एवं आय-व्यय का सम्यक् निश्चय करके योग्य सहायकों का संग्रह करना उचित है; क्योंकि कोई भी बड़ा काम बिना सहायकों के ठीक नहीं हो पाता। स्वामी का अभिप्राय जानकर जो निरालस्य होकर सब काम करता है तथा जो स्वामिभक्त होकर उसके हित की बातें करता है, अपनी आत्मा ही समझकर सदैव उस पर कृपा करनी चाहिए।

जो स्वामी के आदेश का आदर नहीं करता, किसी काम में लगाये जाने पर उससे इनकार करता है, घमण्डी बनकर प्रतिकूल बोलता है, उस भृत्य का शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिए। अहंकार-रहित, क्लीबता (कायरता)-शून्य, अदीर्घसूत्री, दयालु, शुद्धहृदय, दूसरों के बहकावे में न आनेवाला, नीरोग और उदार वचनवाला व्यक्ति राजदूत के योग्य होता है :

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २७ ॥

सावधान मनुष्य को चाहिए कि वह विश्वास कर असमय में किसीके घर न जाय। रात्रि में छिपकर चौराहे पर खड़ा न हो। राजा की चाहती स्त्री की कामना न करे। बहुतों के साथ मंत्रणा करते हुए राजा की बात का खण्डन न न करे। साथ ही यह भी न कहे कि 'मैं तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं करता।' बल्कि युक्तिसंगत बहाना बनाकर वहाँसे हट जाय। अधिक दयालु राजा, व्यभि-

चारिणी स्त्री, राजकर्मचारी, पुत्र, भाई, छोटे बच्चोंवाली विधवा स्त्री, अधिकार-च्युत सैनिक, इन सबके साथ लेन-देन का व्यवहार नहीं करना चाहिए।

प्रज्ञा, कुलीनता, शास्त्रज्ञान, दम, पराक्रम, मितभाषिता, यथाशक्ति दान, और कृतज्ञता ये गुण प्रभाव बढाते हैं। फिर भी राज-सम्मान इन सबसे ऊँचा है। स्नानशील प्राणी को रूप, स्वर, वर्ण, बुद्धि, प्रकृष्ट शुद्धि, सुन्दर वर्ण, कोमलता, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता और प्रवर नारियाँ ये सब वरण करते हैं।

मितभोजी मनुष्य को आरोग्य, आयु, बल, सुख और उत्तम सन्तान प्राप्त होती है। अकर्मण्य, बहुभोजी, सर्वभूतों से वैर करनेवाले, अधिक मायावी, क्रूर, निन्दित वेष धारण करनेवाले मनुष्य को अपने घर में नहीं रखना चाहिए।

बहुत दुःखी होने पर भी कृपण, गाली बकनेवाले, अशास्त्रज्ञ, जंगलों में रहनेवाले, धूर्त, नीच-सेवी, निष्ठुर, वैर बाँधनेवाले, कृतघ्न आदि से कभी सहायता नहीं माँगनी चाहिए :

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम्।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नमेतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत्॥ ३६॥

क्लेशप्रद कर्मरत, अत्यन्त प्रमादी, नित्य मिथ्याभाषी, अस्थिरमति, स्नेहहीन, अपने को बहुत चतुर माननेवाले लोगों का कभी सेवन न करना चाहिए। धन-प्राप्ति सहायक-सापेक्ष हुआ करती है और सहायक भी धन-सापेक्ष होते हैं, परस्पर सहयोग के बिना इनकी सिद्धि नहीं होती।

पुत्रों को उत्पन्न कर और उन्हें अनृण बनाकर, उनकी जीविका का प्रबन्ध कर तथा कुमारियों का योग्य वरों से विवाह कर देने के पश्चात् ही अरण्यवासी होकर मुनिवृत्ति धारण करनी चाहिए। जो सर्वभूतों का हितकारक तथा अपने लिए भी सुखद हो, ऐसे कर्म का ईश्वरार्पण-बुद्धि से अनुष्ठान करना चाहिए। वही सर्वसिद्धियों का मूल है :

हितं यत्सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम्।
तत्कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये॥ ४०॥

जिसमें बढ़ने की शक्ति, प्रभाव, तेज, पराक्रम, उत्तम सत्त्व, उत्थान, दृढ़-निश्चय ये गुण होते हैं, उसे जीविका के अभाव का भय कैसे हो सकता है ?

विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा कि राजन्, पाण्डवों के साथ वैर-विग्रह बढ़ने से इन्द्रादि देवताओं को भी कष्ट उठाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त पुत्रों से वैर, उद्वेग-पूर्ण जीवन, यज्ञ का नाश तथा शत्रुओं को आनन्द होगा। तुमारे पुत्र दुर्योधन

आदि वन की तरह हैं तो पाण्डव हैं वहाँ रहनेवाले व्याघ्र। आप व्याघ्रोंसहित वन का विनाश न करें। वन के विना व्याघ्र और व्याघ्रों के बिना वन की रक्षा नहीं हो सकती।

पापचित्तवाले लोग दूसरों के कल्याणमय गुणों को वैसे ही जानना नहीं चाहते जैसे कि अवगुणों को जानना चाहते हैं। अर्थ को चाहनेवाले को धर्म का ही आचरण करना चाहिए। जैसे स्वर्ग से अमृत अलग नहीं होता, वैसे ही धर्म से अर्थ दूर नहीं हो सकता। जिसका मन पाप से विरक्त होकर कल्याण से सन्निविष्ट है, उसने संसार की प्रकृति, विकृति सबको जान लिया। धर्म, अर्थ, काम का यथायोग्य सेवन करनेवाला पुरुष इहलोक तथा परलोक में भी सुखी रहता है।

जो क्रोध एवं हर्ष के वेग को नियन्त्रित रखता है, वह किसी आपत्ति में भी मोह को नहीं प्राप्त होता। वही राज्यश्री का भाजन होता है।

संसार में बाहुबल तो कनिष्ठ बल है, उत्तम मन्त्री का लाभ दूसरा बल है, धनलाभ तीसरा बल है और पितृ-पितामहादिप्राप्त सहज 'आभिजात्य' (उत्तम कुल में जन्म) चौथा बल है। ये सब बल जिसके द्वारा संगृहीत होते हैं, वह सबसे बड़ा बल प्रज्ञा-बल है :

येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत।
यद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥

जो महान् अपकार कर सके तथा बुद्धिमान् हो, उससे वैरकर कभी यह समझ निश्चिन्त नहीं बैठना चाहिए कि 'मैं उससे बहुत दूर हूँ।' क्योंकि बुद्धिमान् की बाँहें बड़ी लम्बी होती हैं। अपकृत होकर वह उन दीर्घबाहुओं से दूरस्थ अपकर्ता को भी दण्ड दे सकता है :

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

स्त्रियों, राजाओं, साँपों, स्वाध्यायों, अधीत-वेदादिशास्त्रों, सामर्थ्यप्रयुक्त प्रभुओं तथा आयु के विषय में कोई भी प्राज्ञ विश्वास नहीं करता। 'मानस' में भी कहा है :

'शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि चिन्तिय।'
'युवती शास्त्र नृपति बस नाहीं।'

नीतिज्ञ पुरुष द्वारा प्रज्ञारूपी बाण से जिस पर आघात होता है, उसके लिए न कोई चिकित्सक होता है, न कोई औषधि ही होती है। वहाँ न कोई मन्त्र काम

करता है, न कोई तन्त्र; न कोई मांगलिक कार्य और न आथर्वणिक प्रयोग या सुसिद्ध जड़ी-बूटी ही काम करती है। सर्प, अग्नि, सिंह तथा अपने कुल में उत्पन्न व्यक्ति का अनादर नहीं करना चाहिए; क्योंकि ये सब अपमानित होकर अत्यन्त तेजस्वी हो जाते हैं।

लोक में अग्नि महान् तेज है, पर वह काष्ठ में गूढ़ रहता है। जबतक दूसरे लोग उसे उद्दीप्त न करें, तबतक वह काष्ठ को नहीं जलाता। किन्तु वही जब मन्थन द्वारा काष्ठ से उद्दीप्त कर दिया जाता है, तो उस काष्ठ को, जंगल को तथा अन्य सभीको शीघ्रातिशीघ्र दग्ध कर डालता है। इसी तरह अपने कुल में उत्पन्न, पावकतुल्य तेजवाले पाण्डव क्षमावान् तथा निराकार अग्नि की तरह सुप्तरूप में स्थित हैं।

जब कोई माननीय वृद्ध पुरुष निकट आता है, तो उस समय युवक के प्राण ऊपर को उठने लगते हैं। जब वह वृद्ध के स्वागत में खड़ा होता और प्रणाम करता है, तब उसके प्राणों को पुनः स्वाभाविक स्थिति प्राप्त हो जाती है :

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥ १॥[1]

अतः साधु अभ्यागत को पीठ (आसन) देकर जल लाकर उससे उसका पाद-प्रक्षालन करना चाहिए। फिर कुशलवृत्त पूछकर तथा आत्मस्थिति बताकर आवश्यकतानुसार उसे भोजन भी कराना चाहिए।

जिसके घर पर वेदविद् ब्राह्मण दाता के लोभ, भय या कृपणता से मधुपर्क और गाय नहीं स्वीकार करता, उसका जीवन व्यर्थ है। चिकित्सक (चीर-फाड़ करनेवाला), ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट, चोर, क्रूर, मद्यप, भ्रूणहा, सेनाजीवी, वेदविक्रेता—अत्यन्त प्रिय होने पर भी ये अतिथि मधुपर्कार्ह नहीं हैं।

नमक, पक्वान्न, दही, दूध, मधु, तेल, घृत, तिल, मांस, फल, मूल, शाक, लाल कपड़ा, सर्वप्रकार के गन्ध, गुड़ इन वस्तुओं का विक्रय निषिद्ध है।

क्रोधशून्य, पत्थर और सुवर्ण को समान समझनेवाला, शोकहीन, सन्धि-विग्रहरहित, निन्दा-प्रशंसावर्जित, प्रिय-अप्रिय का त्याग करनेवाला उदासीन भिक्षु प्रशंसनीय है। नीवार (बिना बोये तालाबों में उत्पन्न धान), कन्द-मूल और इंगुदी-फल खाकर नित्य निर्वाह करनेवाला, मन को वश में करके अग्निहोत्र कर्म करनेवाला, अतिथि की सेवा में सदैव सावधान, पुण्यात्मा, तपस्वी वानप्रस्थ प्रशस्त है।

---

१. यहाँसे यथाक्रम श्लोक महाभारत, उद्योगपर्व के ३८वें अध्याय के हैं।

अविश्वस्त में विश्वास नहीं करना चाहिए तथा विश्वस्त में भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। विश्वास से उत्पन्न भय मूल का भी उच्छेद कर देता है :

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ९ ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह ईर्ष्यारहित, स्त्रियों का रक्षक, बाँटकर खानेवाला, प्रियंवद, स्निग्ध, स्त्रियों से मधुर बोलनेवाला हो; किन्तु कभी उनके वश में न हो। स्त्रियाँ महाभाग्य हैं, घर की लक्ष्मी हैं। वे पवित्र, आदरयोग्य और घर की शोभा हैं। उनकी विशेष रूप से रक्षा होनी चाहिए :

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः ॥ ११ ॥

पिता के जिम्मे अन्तःपुर की रक्षा का भार दें। माता के जिम्मे रसोई का काम दें। गौ की सेवा के लिए अपने तुल्य व्यक्ति को लगायें तथा पुत्रों द्वारा ब्राह्मणों की सेवा करायें। जल से अग्नि, ब्रह्म से क्षत्र और पत्थर से लोहा उत्पन्न होता है। इनका तेज सर्वत्र भविष्णु है, परन्तु अपने उत्पत्ति-स्थान में प्रयुक्त होने पर क्षीण हो जाता है।

जिस राजाका मन्त्र गुप्त रहता है, वह सर्वदृष्टि और चिरऐश्वर्यभागी होता है। धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी बातें करने से पहले न बतायें, करके ही दिखायें। ऐसा होने पर ही मन्त्रणा की सुरक्षा रहती है। जो सुहृद् न हो, उसे मन्त्र का ज्ञान कभी न होना चाहिए। सुहृदय होने पर भी पण्डित तथा नीतिमान् न हो और पण्डित होने पर भी अजितेन्द्रिय हो तो उसे भी मन्त्रणा का ज्ञान न होने देना चाहिए। बिना पूर्ण परीक्षण के मन्त्री नहीं बनाना चाहिए; क्योंकि मन्त्र, रक्षा, धनप्राप्ति सब उसीके अधीन रहते हैं। जिसके धर्म, अर्थ कामसम्बन्धी सभी कार्य पूर्ण होने पर ही सभासदगण जान पाते हैं, उस गूढ़मन्त्र शासक को निःसन्देह सिद्धि मिलती है।

उत्तम कर्मों का अनुष्ठान सुख देता है और उनके न करने पर पश्चात्ताप ही होता है। जैसे वेदरहित ब्राह्मण श्राद्धयोग्य नहीं होता, वैसे ही सन्धि-विग्रहादि षाड्गुण्यज्ञानहीन व्यक्ति मंत्रणा सुनने योग्य नहीं। जिसका क्रोध और हर्ष अमोघ होता है, जो स्वयं सब कामों को देखता है, जिसे अपने खजाने का स्वयं ज्ञान और विश्वास हो, पृथिवी ही उसे पर्याप्त धन देती है।

राजा को चाहिए कि वह अपने 'राजा' नाम से, राजोचित छत्रधारण मात्र से सन्तुष्ट रहे। सेवकों को पर्याप्त धन दे, सब कुछ अकेला ही न हरण करे।

ब्राह्मण को ब्राह्मण जानता है, स्त्री को पति जानता है, अमात्य को राजा तथा राजा को राजा ही जानता है। वश में आये, योग्य शत्रुओं को कभी न छोड़ना चाहिए। यदि बल अधिक न हो तो नम्र होकर उसके पास समय बिताना चाहिए। बल होने पर उसे मार ही डालना चाहिए; क्योंकि अहतशत्रु शेष रहने पर शीघ्र ही भय उपस्थित होता है।

देवताओं, राजाओं, ब्राह्मणों, वृद्धों, बालों एवं आतुरों के बारे में प्रयत्न-पूर्वक क्रोध नियंत्रित करना चाहिए। मूर्खों द्वारा सेवित निरर्थक कलह से सदैव बचे रहना चाहिए। ऐसा करने पर कीर्ति होती है और अनर्थ का सामना नहीं करना पड़ता। जिसका प्रसाद और क्रोध दोनों निरर्थक हों, ऐसे राजा को प्रजा वैसे ही पसन्द नहीं करती, जैसे स्त्री नपुंसक पति को।

बुद्धि धनलाभ के लिए है और मूर्खता दरिद्रता का हेतु है, यह कोई नियम नहीं। संसार-चक्र का वृत्तान्त विद्वान् ही जानता है, दूसरे नहीं। मूर्ख पुरुष विद्या-वृद्ध, शील एवं अवस्था में वृद्ध, बुद्धि-धन और कुल में वृद्ध और माननीय पुरुषों का सदा अपमान करता है। निन्दनीय चरित्रवाले, मूर्ख, निन्दक, अधार्मिक तथा वाणी के दुष्ट और क्रोधी पुरुष पर शीघ्र ही अनर्थों के हमले होते हैं।

मिथ्या व्यवहार न करना, दान देना, प्रतिज्ञा का उल्लङ्घन न करना और सम्यक् रूप से प्रयुक्त हित, प्रिय, मित और प्रीतियुक्त वाणी सब प्राणियों को अपने वश कर लेती है।

किसीको धोखा न देनेवाला, चतुर, कृतज्ञ, बुद्धिमान्, कोमल-स्वभाव राजा क्षीण-कोश होने पर भी सहायक-परिकर पा लेता है :

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

धृति, शम, दम, शौच, करुणा, कोमलवाणी, मित्रों से द्रोह न करना ये सात बातें राज्यश्री को उद्दीप्त करनेवाली हैं।

आश्रितों के लिए धनका ठीक वितरण न करनेवाला, दुष्टात्मा, कृतघ्न, निर्लज्ज, राजा लोक में सर्वथा त्याज्य है। जो स्वयं सदोष होकर भी निर्दोष आत्मीय जनों को कुपित करता है, वह रात्रि में वैसे ही सुखपूर्वक नहीं सो पाता, जैसे सर्पयुक्त घर में कोई मनुष्य :

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥

जिन दुष्टों पर दोषारोपण करने से अपने योगक्षेम में बाधा पड़ सकती है, उन्हें देवता की तरह सदैव प्रसन्न रखना चाहिए। जो धन आदि पदार्थ स्त्रियों, प्रमत्तों, पतितों एवं नीच पुरुषों के हाथ में आ जाते हैं, वे सब संशयापन्न ही समझने चाहिए। जो मित्रों की बात नहीं सुनता, असत्-पुरुषों का सेवन करता है, जिसका आचरण वृथा होता है, जो अपनों को ठुकराता और दूसरों को अपनाता है, पृथ्वी स्वयं उसे त्याग देती है :

योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां गिरः।
परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत॥ (उद्योगपर्व)

जहाँ स्त्री, जुआरी तथा बालक शासक होते हैं, वहाँके लोग पत्थर की नाव पर बैठकर नदी पार करनेवालों के समान विवश होकर विपत्ति के समुद्र में डूब जाते है :

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव॥ ४३॥

जो लोग प्रयोजनीय, अत्यावश्यक कामों में ही लगे रहते हैं, अधिक में हाथ नहीं डालते, वे ही पण्डित हैं। विशेषासक्त लोग तो प्रसंग के साथ चलनेवाले गतानुगतिक मात्र हैं। अवसर के विपरीत कहते हुए बृहस्पति भी अपमान के भागी होते हैं :

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन्।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च भारत॥ २॥[1]

कोई दान से, कोई प्रियवचन से तो कोई मन्त्र और औषधबल से प्रिय होता है। जो वास्तव में प्रिय है, वह सदैव प्रिय ही है। जिससे द्वेष होता है वह न साधु, न विद्वान्, न मेधावी प्रतीत होता है। प्रिय व्यक्ति के सभी कार्य शुभ तथा द्वेष्य के सभी कार्य अशुभ ही प्रतीत होते हैं। जो वृद्धि भविष्य में क्षय का कारण बने, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। उस क्षय का भी बहुत आदर करना चाहिए जो भविष्य में वृद्धि का कारण हो :

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत्।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत्॥ ६॥

वह क्षय क्षय नहीं, जिससे भविष्य में वृद्धि होती हो। उस लाभ को क्षय ही समझना चाहिए, जिससे बहुत-से लाभों का विनाश हो :

१. यहाँसे यथाक्रम महाभारत, उद्योगपर्व ३९वें अध्याय के श्लोक हैं।

न क्षयः स महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥ ७ ॥

कुछ लोग गुण से समृद्ध होते हैं तो कुछ छल से; किन्तु गुणहीन धनी और समृद्ध सदैव त्याज्य ही हैं ।

धृतराष्ट्र ने कहा : 'विदुर, तुम जो कुछ कह रहे हो वह परिणाम में हितकर है । तुम्हारा कहना प्राज्ञ समझ सकते हैं । यह भी ठीक है कि जहाँ धर्म होता है वहीं जय होती है; फिर भी पुत्र दुर्योधन के त्याग का मुझे उत्साह नहीं होता ।'

विदुर ने पुनः कहा : 'राजन्, जो अधिक गुणों से सम्पन्न तथा विनययुक्त होता है, वह प्राणियों का थोड़ा-सा भी विनाश होते देख कभी उपेक्षा नहीं कर सकता ।

जो परनिन्दा-रत, परदुःखों के उदय के लिए प्रयत्नशील तथा परस्पर विरोध कराने, फूट डालने में सन्नद्ध रहते हैं, उनका दर्शन भी दोषयुक्त है । उनके सहवास से महान् भय होता है । उनसे धन लेने तथा देने में भी महान् भय होता है । ऐसे लोग अपवाद तथा क्षय का ही महान् प्रयत्न करते हैं । थोड़ा-सा भी अपराध हो जाने पर वे विनाश के लिए प्रयत्न करते हैं । ऐसे लोगों से दूर रहना ही श्रेष्ठ है ।

जो जाति के लिए अनुग्रह करता है, दरिद्र, दीन तथा रोगी पर कृपा करता है, वह पुत्र-पशुओं की वृद्धि प्राप्तकर अत्यन्त श्रेय का भागी होता है ।

जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें अपने जाति-बान्धवों की वृद्धि का यत्न करना चाहिए । निर्गुण भी जातिवालों की रक्षा करनी चाहिए । फिर गुणी लोगों और आपकी प्रसन्नता चाहनेवालों का तो कहना ही क्या ? जातिवालों के साथ भोजन, वार्तालाप तथा प्रेम ही करना चाहिए, कभी विरोध नहीं । सुवृत्त जातिवाले तारते हैं, जब कि दुर्वृत्त डुबोते हैं :

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति हि ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ ३१ ॥

विषैले बाणवाले व्याध के पास पहुँचनेवाले किसी मृग की तरह जो जाति-बन्धु अपने धनी बन्धु के पास पहुँचकर दुःख पाता है, उसके पाप का भागी वह धनी बन्धु बन जाता है ।

जिस कर्म की खाट पर शयन के लिए प्रवृत्त होते ही पछताना पड़े, वह कर्म पहले से ही नहीं करना चाहिए । भार्गव शुक्राचार्य को छोड़कर कोई भी

मनुष्य ऐसा नहीं, जिससे अपनय (नीति का उल्लङ्घन) नहीं हुआ। अतः जो हो गया सो हो गया, शेष कर्तव्य का विचार बुद्धिमानों पर ही निर्भर होता है :

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात्।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥

जो धीर पुरुषों के वचनों को परिणाम सोचकर कार्यरूप में परिणत करता है, वह चिरकाल तक यश का भागी होता है। सकुशल व्यक्तियों से भी प्राप्त ज्ञान व्यर्थ ही हो जाता है, यदि उसे कर्तव्य में परिणत न किया जाय। जो पापमय फल देनेवाले कर्मों को पहचान कर उनका आरम्भ नहीं करता, वह बढ़ता है। किन्तु जो किये हुए पापकर्मों का विचार न कर उन्हींका अनुसरण करता है, वह दुर्मेधा अगाध कीचड़ से भरे नरक में गिराया जाता है।

मादक वस्तु का सेवन, अधिक निद्रा, आवश्यक वस्तुओं की जानकारी न होना, अपने मुख, नेत्र आदि का विकार, दुष्ट मन्त्रियों पर विश्वास, अकुशल दूत पर भरोसा, ये सब मन्त्रभेद के द्वार हैं। इन द्वारों को बन्दकर जो त्रिवर्ग के साधन में लगता है, वह शत्रुओं पर विजय पाता है। बृहस्पतितुल्य भी मनुष्य शास्त्रज्ञान और वृद्धों की सेवा के बिना धर्म तथा अर्थ को नहीं जान सकता :

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ३९ ॥

समुद्र में गिरी वस्तु के समान न सुननेवाले को कही हुई बात नष्ट हो जाती है। अजितेन्द्रिय का शास्त्रज्ञान भी राख में डाली आहुति के समान व्यर्थ ही होता है।

मेधावी पुरुष का कर्तव्य है कि बुद्धि से परीक्षण और अनुभव से बार-बार निश्चय कर दूसरों से सुनकर तथा स्वयं देखकर विद्वानों से मित्रता करे। विनय अकीर्ति का नाश करता है, पराक्रम अनर्थ दूर करता है। क्षमा क्रोध को नष्ट करती है तो सदाचार कुलक्षण मिटा देता है। परिच्छद (भोग्यवस्तु) जन्मस्थान, घर, सेवा-सुश्रूषा, आचार, भोजन तथा वस्त्र द्वारा कुल की परीक्षा करनी चाहिए। विरक्त पुरुष भी न्याययुक्त उपस्थित काम का प्रतिवाद नहीं करते। फिर काम-रत के लिए कहना ही क्या है ?

प्राज्ञों की सेवा करनेवाला, वैद्य, धार्मिक, प्रियदर्शन, मित्रों से युक्त और मधुरभाषी मित्र की सर्वथा रक्षा करना चाहिए। भले ही कोई दुष्कुलीन या उत्तम कुल का हो, यदि वह मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता और धार्मिक, मृदुस्वभाव तथा सलज्ज हो, तो सैकड़ों कुलीनों से अच्छा है :

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत्।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद्वरः ॥ ४७ ॥

जिनके चित्त से चित्त, गुप्त-रहस्य से गुप्त-रहस्य, बुद्धि से बुद्धि मिलती है, उनकी मैत्री कभी नष्ट नहीं होती। तृणों से ढँके कूप के तुल्य दुर्बुद्धि तथा शास्त्राचार्योपदेशजन्य संस्कारों से असंस्कृत बुद्धिवाले मनुष्य का सर्वथा परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उसकी मैत्री टिक नहीं पाती। आत्माभिमानी, मूर्ख, उग्र, साहसी और धर्महीनों से कभी मैत्री उचित नहीं है।

इन्द्रियों को सर्वथा नियन्त्रित रखना मृत्यु से भी कठिन है। उन्हें खुली छूट देना देवताओं को भी नष्ट कर देता है।

सबके साथ कोमलता, गुणों में दोष न निकालना, क्षमा, श्रुति, मित्रों का अपमान न करना ये सब गुण आयु बढ़ानेवाले हैं। जो बिगड़े हुए काम को दृढ़-मति का सहारा लेते हुए सुन्दर नीति से सुधारता है, वह वीरव्रती है। जो आने-वाला दुःख रोकने का उपाय जानता है, वर्तमान में कर्तव्य-परायण और अतीत के कार्य-शेष को भी जानता है, वह कभी अर्थ से हीन नहीं होता। मनसा, वाचा, कर्मणा बार-बार मनुष्य जिस बात का सेवन करता है, वही उस पुरुष को अपनी ओर खींच लेता है। अतः वचन, कर्म से सदैव कल्याण का ही सेवन करना चाहिए।

माङ्गलिक पदार्थों का स्पर्श, चित्तनिरोध, शास्त्र का अभ्यास, उद्योग, सरलता, सत्पुरुषों का बार-बार दर्शन ये सभी ऐश्वर्य देनेवाले कर्म हैं:

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम्।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५६ ॥

उद्योगशीलता श्री का मूल है। वही लाभ एवं शुभ का भी मूल है। निर्वेद-रहित प्राणी महान् होकर अनन्त सुख का भागी होता है:

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ ५७ ॥

जो निर्लोभ, तथा कम-से-कम चाहनेवाला, भोगों की चिन्ता से दूर और समुद्र के समान गम्भीर रहता है, वह जितेन्द्रिय या 'दान्त' कहलाता है:

अलोलुपस्तथाऽल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता।
समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ॥ (६३.१७)[1]

---

१. यहाँसे यथाक्रम प्रथम संख्या महाभारत, उद्योगपर्व के अध्याय की तथा दूसरी संख्या उस अध्याय के श्लोकों की है।

जो सदाचारी, सुशील, प्रसन्नचित्त तथा आत्मवित् होता है, वह इस लोक में सम्मान प्राप्त कर अन्त में सुगति पाता है :

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति॥ (६३.१८)

जिसे सब प्राणियों से निर्भयता प्राप्त हो गयी हो, जिससे सभी प्राणियों का भय दूर हो गया हो, वह परिपक्व-बुद्धि कहलाता है :

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
स वै परिणतप्रज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः॥ (६३.१९)

जो सर्वभूतहितैषी और सबके प्रति मैत्रीभाव रखता है, उससे किसीको उद्वेग नहीं होता। जो समुद्र के तुल्य गम्भीर और प्रज्ञानामृततृप्त है, वह परम शान्ति प्राप्त करता है। (६३.२०) जाल में फँसे दो पक्षी जब एकमत थे तो जाल लेकर उड़ चलने में समर्थ हुए। किन्तु जब उनमें विवाद हो गया तो दोनों लड़कर जालसहित गिरकर मृत्यु को प्राप्त हो गये। (६४.२,८) जो धन पाकर भी दीनों के समान तृष्णा से पीड़ित रहते हैं, वे आपस में कलह करके अपने वैभव तथा सम्पत्ति को शत्रु के हाथ में दे डालते हैं :

येऽर्थं सन्ततमासाद्य दीना इव समासते।
श्रियं ते सम्प्रयच्छन्ति द्विषद्भ्यो भरतर्षभ॥ (६४.१३)

विदुरजी ने कहा कि बहुत से विद्वान् ब्राह्मणों और किरातों के साथ गन्धमादन पर्वत पर मैंने देखा कि पर्वत की एक दुर्गम गुहा है, जहाँ कोई कूल (किनारा) न होने से गिरने का ही भय था। वहाँ मधुकोष है, वह मक्खियों का बनाया नहीं था। वह सुवर्ण के समान पीला था, भयंकर विषधर सर्प उसकी रक्षा कर रहे थे। साथी ब्राह्मण बता रहे थे कि इस मधु को पाकर मर्त्य भी अमृत तथा अन्धा भी आँखोंवाला हो जाता है। वृद्ध भी युवा हो जाता है। यह सुनकर किरात लोग उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करने लगे। किन्तु सर्पों से भरी उस दुर्गम गुहा में जाकर सब नष्ट हो गये। कई लोग संसार में मोहवश केवल मधु को देखते हैं। भावी पतन एवं भावी नाशकी ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती :

मधु पश्यति संमोहात् प्रपातं नैव पश्यति॥ (६४.२२)

वस्तुतः जहाँ धर्म होता है, वहीं कृष्ण रहते हैं; जहाँ कृष्ण रहते हैं, वहीं विजय होती है। भगवान् कृष्ण ही सब जगत् के सार और अधिष्ठान हैं। जिन्होंने खेल-खेल में नरक, शम्बर, कंस, चैद्य जैसे घोर दैत्यों-दानवों को जीत लिया है, वे

भगवान् पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक को संकल्पमात्र से अपने अधीन कर सकते हैं :

पृथ्वीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव पुरुषोत्तमः।
मनसैव विशिष्टात्मा नयत्यात्मवशं वशी॥ (६८.५)

एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो, दूसरी ओर अकेले कृष्ण भगवान् तो सारभूत बल की दृष्टि से भगवान् जनार्दन ही सबसे बढ़कर सिद्ध होंगे :

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः॥ (६८.७)

श्रीकृष्ण संकल्पमात्र से सब जगत् को भस्म कर सकते हैं, किन्तु कृष्ण को भस्म करने में सारा जगत् मिलकर भी समर्थ नहीं हो सकता :

भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम्॥ (६८.८)

जहाँ सत्य, धर्म, लज्जा और आर्जव होता है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं; जहाँ कृष्ण रहते हैं, वहीं विजय है :

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ (६८.९)

श्रीकृष्ण, मृत्यु तथा सचराचर जगत् के शासक तथा स्वामी हैं, यह परम सत्य है :

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते (६८.१३)

सत्य में कृष्ण प्रतिष्ठित हैं और कृष्ण में सत्य प्रतिष्ठित हैं। इसीलिए उनका नाम सत्य है। कृष्ण अतत्त्व को तत्त्व तथा तत्त्व को अतत्त्व बनाकर मोहित करते हैं :

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्।
सत्यासत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः॥ (७०.१४)

शान्ति-प्रयासार्थ दूत बनकर जाने पर जब दुर्योधन श्रीकृष्ण को पकड़ने चला तो श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा था : 'यदि पाण्डवों के धन के लोभ से ये मुझसे टकराते हैं, तो उन्हें स्वयं अपने अर्थ से भी हाथ धोना पड़ेगा। तब तो

युधिष्ठिर अनायास ही कृतकार्य हो जायँगे । यदि मैं आज ही दुर्योधन और उनके साथियों को कैद कर कुन्तीपुत्रों के हाथ सौंप दूँ तो क्या बुरा होगा :

एते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः ।
अद्यैव ह्यहमेनांश्च ये चैनाननु भारत ।
निगृह्य राजन् पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्कृतं भवेत् ॥ (१३०.२६-२७)

धृतराष्ट्र भी उन त्रैलोक्य-निर्माता कृष्ण को सर्व-प्रधान, सर्वेश्वर को प्रपन्न हुए थे :

त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं देवासुराणामथ नागरक्षसाम् ।
नराधिपानां विदुषां प्रधानमिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥ (७१.७)

तत्वज्ञ श्री विदुरजी ने कहा था कि कमलनयन श्रीकृष्ण, आपके दर्शन से हमें जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसे कैसे कहा जाय ? आप सर्व-प्राणियों के अन्तरात्मा है । अन्तरात्मा निरतिशय, निरुपाधिक प्रेम का आस्पद हुआ करता है :

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्माऽसि देहिनाम् ॥
(उद्योग प०८९.२४)

नरस्वरूप अर्जुन भगवान् कृष्ण के लोकोत्तर माहात्म्य से परिचित थे ही, युद्ध-निमन्त्रण देने तथा सहायता माँगने के लिए दुर्योधन और अर्जुन दोनों एक साथ श्रीकृष्ण के पास पहुँचे । दुर्योधन यद्यपि पहले पहुँचे थे, फिर भी अभिमानी होने के कारण भगवान् के सिरहाने सिंहासन पर बैठकर उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे । अर्जुन यद्यपि पीछे पहुँचे, तथापि प्रिय भक्त होने के कारण भगवान् के चरणों के समीप ही बैठकर उनके जागने की प्रतीक्षा कर रहे थे । जागने पर भगवान् ने पहले अर्जुन को देखा और आगमन का प्रयोजन पूछा । पश्चात् दुर्योधन के बोलने पर पीछे की ओर मुड़कर दुर्योधन को भी देखा । दोनों का निमन्त्रण स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि एक तरफ हमारी नारायणी सेना रहेगी तो दूसरी तरफ निःशस्त्र मैं । तुम दोनों इनमें जो चाहो, एकमत से स्वीकार कर लो । फिर भी छोटा होने के नाते दोनों में अर्जुन को प्रथम ग्रहण करने का अधिकार है । लेकिन अर्जुन ने निःशस्त्र कृष्ण को ही वरण किया और वैसा करने का कारण बताते हुए कहा कि प्रभो, संसार में कीर्ति के एकमात्र आस्पद आप ही है, अतः युद्ध-विजय का यश भी आपको ही प्राप्त होगा । यश मैं भी चाहता हूँ । अतः मैंने आपका ही वरण किया :

भवांस्तु कीर्तिमांल्लोके तद्यशः त्वां गमिष्यति।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मात्त्वमसि मया वृतः॥ (८.३६)

अर्जुन ने आगे कहा : मेरे मन में बहुत दिनों से यह आकांक्षा रही कि आप मेरे रथ का सारथ्य करें और मैं अपने रथ के घोड़ों की बागडोर आपके हाथों सौंप निश्चित हो युद्ध करूँ। अतः आप मेरे रथ के सारथि बनें। साङ्गोपाङ्ग समग्र यश के भाजन आपके हाथ में जिसके रथ का सारथ्य होगा, यश एवं विजय-श्री उसे छोड़ कहाँ जा सकती है ?

सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसे सदा।
चिररात्रेप्सितं यन्मे तद्भवान् कर्तुमर्हति॥ (८.३७)

अर्जुन और कृष्ण दोनों नर-नारायण थे, अभिन्न ही थे। सञ्जय ने शुद्धान्तःपुर में जाकर दोनों की अभिन्नता, आत्मीयता को प्रत्यक्ष देखा। भगवान् कृष्ण के दोनों चरण अर्जुन के अङ्क में थे। अर्जुन का एक चरण द्रौपदी के अङ्क में था तो दूसरा सत्यभामा के अङ्क में। दोनों तेज सर्वथा एक हैं, उनमें भेद कोई भी नहीं डाल सकता :

अर्जुनोत्सङ्गगौ पादौ केशवस्योपलक्षये।
अर्जुनस्य च कृष्णायां सत्यायां च महात्मनः॥ (५९.७)

कौरव की सभा में जब द्रौपदी को विवस्त्र करने का प्रयत्न किया जा रहा था, उस समय द्रौपदी ने 'गोविन्द' नाम लेकर आर्तस्वर से मुझे पुकारा। मैं दूर था, मैंने दिव्य अदृश्यशक्ति से यद्यपि वस्त्रावतार धारणकर उसकी लाज बचायी, तथापि मुझपर अभीतक वह ऋण बना हुआ है और बढ़ता जा रहा है। कारण, द्रौपदी ने अभीतक दुःशासन द्वारा स्पृष्ट बालों को बाँधा नहीं है। उसकी प्रतिज्ञा है कि दुःशासन की भुजा उखाड़ी जाय, तभी उसके खून से इन बालों का प्रक्षालन करूँगी और उन्हें बाँधूँगी। तबतक ये बाल खुले ही रहेंगे। वह ऋण मेरे हृदय से कभी निकल नहीं पाता :

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥ (५९.२२)

दुर्योधन ने कृष्ण को भोजन के लिए निमंत्रित किया, तो भी कृष्ण ने स्पष्टतः यही कहा कि राजन्, किसीका अन्न या तो प्रेम होने पर भोज्य होता है या आपत्ति आने पर ग्राह्य होता है। न तो आपका हमसे प्रेम है और न हमपर कोई विपत्ति ही आ पड़ी है। फिर आपका अन्न कैसे ग्रहण कर सकते हैं ?

संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥ (९१.२५)

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से स्पष्ट कहा कि जो पाण्डवों से द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है। जो उनका अनुसरण करता है, वह मेरा अनुसरण करता है। धर्मशील पाण्डवों के साथ मेरा ऐकात्म्य हो गया है, यह समझ लें। वस्तुतः न तो शत्रुका अन्न स्वयं खाना चाहिए और न अपना अन्न शत्रु को खिलाना चाहिए। राजन्, तुम पाण्डवों से द्वेष करते हो, किन्तु पाण्डव मेरे प्राण हैं :

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः॥ (९१.२८)
द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्।
पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः॥ (९१.३१)

यह सब होने पर भी धर्मबुद्धि से भगवान् कौरव-पाण्डव-सन्धि कराने की दृष्टि से ही दुर्योधन की सभा में गये, यद्यपि विदुर ने अपनी असम्मति प्रकट कर दी थी कि हे माधव, आपके माहात्म्य को न जाननेवाले निर्मर्याद कौरवों को जाकर कुछ उपदेश करना वैसा ही अनुचित है, जैसे चाण्डालों के बीच जाकर किसी द्विजोत्तम का वेदपाठ करना :

अविजानत्सु मूढेषु निर्मर्यादेषु माधव।
न त्वं वाक्यं ब्रुवन् युक्तश्चाण्डालेषु द्विजो यथा॥ (९२.१४)

श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा कि पृथ्वी विनष्ट होना चाहती है। जो इसे मृत्यु-पाश से छुड़ाने का प्रयत्न करेगा, उसे उत्तम धर्म प्राप्त होगा। जो शक्तिभर धर्म-कार्य संपादन के लिए कार्य करता है, उसे लौकिक सफलता न मिलने पर भी धर्म-कार्य के प्रयत्न से जनित दिव्य-पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय ही नहीं। जो संकट में पड़े मित्र को समझा-बुझाकर यथाशक्ति बचाने का प्रयत्न नहीं करता, उसे विद्वान् नृशंस कहते हैं :

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद्धर्ममुत्तमम्॥
धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत्पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भगवान् तो शरणागत-वत्सल हैं ही, किन्तु शरण में आये हुए की रक्षा करना किसी भी आस्तिक व्यक्ति का परम धर्म है और

शरणागत की उपेक्षा करना पाप है। वह विवेकशून्य निरर्थक ही अन्न खाता और निश्चेष्ट होकर स्वर्ग से गिर जाता है, जो भीत एवं शरणागत को शत्रु के हाथों सौंप देता है। देवता लोग ऐसे व्यक्ति का हवि भी ग्रहण नहीं करते :

मोघमन्नं विन्दति चाप्यचेताः स्वर्गाल्लोकात् भ्रश्यति नष्टचेष्टः।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति यो वै न तस्य हव्यं प्रतिगृह्णन्ति देवाः॥
(महा० उद्योग० १२.२०)

उसकी सन्तान अकाल में ही मर जाती है, उसके पितर सदा नरक में पड़े रहते हैं, जो भयभीत शरणागत को शत्रु के हाथ सौंप देता है। उस पर इन्द्रादि देवता वज्र का प्रहार करते हैं :

प्रमीयते चास्य प्रजा ह्यकाले सदा विवासं पितरोऽस्य कुर्वते।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम्॥ २१॥

उसका बोया हुआ बीज समय पर नहीं उगता, उसके यहाँ ठीक वर्षा नहीं होती। जब कभी वह अपनी रक्षा चाहता है, उसे कोई रक्षक नहीं मिलता :

न तस्य बीजं रोहति रोहकाले न तस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे न स त्रातारं लभते त्राणमिच्छन्॥ १९॥

भगवान् कृष्ण ने भी गीतामें कहा है कि अर्जुन, तुम सर्वधर्म छोड़कर मेरी शरण आ जाओ। मैं तुम्हें सब पाप-तापों से बचा लूँगा, चिन्ता-शोक मत करो :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भगवान् राम ने भी कहा है, जो मित्रभाव से मुझे प्रपन्न होता है कि उसमें भले ही दोष क्यों न हो, मैं उसे त्याग नहीं सकता। एकबार भी जो मेरी प्रपत्ति (शरणागति) स्वीकार करता या 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसी माँग करता है, उसे मैं सब भूतों से सर्वथा अभय प्रदान करता हूँ :

मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वाल्मीकिरामा० युद्ध० १८.३.३३)

मम प्रण शरणागत भय हारी ॥ (मानस)

धार्मिक लोग धर्म के लिए धन का भी आदर करते हैं। कारण, धन के बिना धर्म भी सम्पन्न नहीं होता। युधिष्ठिर ने कहा है : लज्जा नष्ट होने पर धर्म को नष्ट करती है। नष्ट हुआ धर्म मनुष्य की श्री (सम्पत्ति) नष्ट करता हैं। निर्धनता मनुष्य का विनाश कर देती है। सचमुच धन का अभाव मनुष्य का विनाश ही है :

ह्रीर्हता बाधते धर्मं धर्मो हन्ति हतः श्रियम्।
श्रीर्हता पुरुषं हन्ति पुरुषस्याधनं वधः[1] ॥ १९ ॥

व्यावहारिक जीवन धनमूलक है, पर वह धन धर्ममूलक ही है और धर्म भी लज्जामूलक है। जो निर्लज्ज हो जाता है वह शास्त्र, सत्पुरुष किसीकी भी परवाह न करके धर्म का उल्लंघन करता है। जैसे पुष्प और फल से हीन वृक्ष से पक्षी उड़ जाते हैं, वैसे ही भाई, बन्धु, सुहृद्, ब्राह्मण लोग भी धनहीन को छोड़कर मुँह मोड़ लेते हैं :

अधनाद्धि निवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदो द्विजाः।
अपुष्पादफलाद् वृक्षाद्यथा कृष्ण पतत्रिणः ॥ २० ॥

जहाँ आज और कल सबेरे के लिए भोजन नहीं दिखायी देता, उस दरिद्रता से बढ़कर कोई दुःखदायिनी अवस्था नहीं, यह शम्बर का कहना है :

अतः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत्।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ २१ ॥

धन को उत्तम धर्म का साधन कहा गया है। धन में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। संसार में धनी ही जीते हैं, निर्धन तो मरे के समान हैं :

धनमाहुः परो धर्मो धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥ २२ ॥

किसीको धनहीन कर देने का अर्थ है, उसे धर्म, अर्थ, काम से वंचित कर देना। निर्धनता को प्राप्त होकर कोई मृत्यु का वरण करता है, तो कुछ लोग घर छोड़कर दूसरे गाँव चले जाते हैं। कोई वन में चले जाते हैं, तो कोई नाश के लिए चल पड़ते हैं। कोई पागल हो जाते हैं, तो कोई शत्रु के वश पड़ जाते हैं। धन के लिए ही कोई दूसरों की दासता स्वीकार कर लेते हैं। धन का नाश मरण से अधिक

१. यहाँसे क्रमशः महाभारत, उद्योगपर्व के अध्याय ७२ के श्लोक चलते हैं।

भीषण आपत्ति है; क्योंकि उसके विनाश से धर्म और काम भी संकटग्रस्त हो जाते हैं। धर्मानुकूल मरण तो परलोक के लिए सनातन मार्ग है। स्वाभाविक निर्धन को दरिद्रता उतना नहीं सताती, जितनी सम्पत्ति पाकर सुख में पले व्यक्ति को सताती है। निर्धन यद्यपि अपने अपराध से ही विपत्ति पाता है, तथापि वह देवताओं को दोषी ठहराता है, अपनेको तो निर्दोष ही बताता है। उस समय सब शास्त्र भी उसका संकट टालने में समर्थ नहीं होते। वह सेवकों एवं सगे-सम्बन्धियों पर कुपित होता है। उस अवस्था में क्रोध भी बढ़ जाता है, जिससे वह मोहित होकर क्रूरकर्म करता है। पापकर्म के कारण वह वर्णसंकर सन्तानों का पोषण करता है। उसके कारण, यदि फिर से कर्तव्य का बोध नहीं होता तो, वह नरक की ओर ही बढ़ता जाता है। उस समय कर्तव्यबोध करानेवाली मात्र प्रज्ञा है।

प्रज्ञारूप नेत्र से ही प्राणी संकट से पार होते हैं। प्रज्ञालाभ से ही मनुष्य केवल शास्त्रों पर दृष्टि रखता है। शास्त्रनिष्ठ प्राणी पुनः धर्म का अनुष्ठान करता है। धर्म के साथ ही उसका उत्तमांग लज्जा आ जाती है। लज्जाशील मनुष्य पाप से द्वेषकर उससे दूर हो जाता है। फिर उसकी सम्पत्ति बढ़ने लगती है। जो जितना ही श्रीसम्पन्न होता है, उतना ही 'पुरुष' माना जाता है :

तस्य प्रबोधः प्रज्ञैव प्रज्ञाचक्षुस्तरिष्यति ॥ ३४ ॥
प्रज्ञालाभे हि पुरुषः शास्त्राणि पर्यवेक्षते ।
शास्त्रनिष्ठः पुनर्धर्मं तस्य ह्रीरङ्गमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
ह्रीमान् हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्धते ॥ ३६ ॥

धर्मनिष्ठ निरन्तर सत्कर्म में लगा रहता है। वह अधर्म में मन नहीं लगाता, पाप में प्रवृत्त नहीं होता। निर्लज्ज पुरुष मूढ है। वह न स्त्री है और न पुमान् हो। उसका धर्म में अधिकार नहीं। ह्रीमान् देवों और पितरों की तथा अपनी भी रक्षा करता और अमृतत्व भी प्राप्त कर सकता है।

अपनी बपौती, सम्पत्ति के लिए युद्ध भी करना पड़ता है। युद्ध में उत्तम लोगों का वध होता और अधम श्रेणी के लोग बच रहते हैं। पराजय में तो मरण से भी अधिक कष्ट होता है, लेकिन विजय में भी धन-जन की भारी हानि उठानी पड़ती है। भागे हुए का पीछा करना भी पापपूर्ण कार्य है। किन्तु वैसा न करने पर भी शिष्ट शत्रु अपनी शक्ति का सञ्चयकर विजेता के पक्ष को समूल नष्ट करने का प्रयत्न करता है। इस तरह जयप्राप्ति चिरस्थायी शत्रुता को जन्म देती है, तो पराजित बड़े दुःख से समय बिताता है। जो शत्रुकुल के आबाल-वृद्ध सबका उच्छेद कर देता है, वह यश से वञ्चित हो जाता है। प्राणियों में उसकी शाश्वत अकीर्ति होती है।

दीर्घकालतक दबाये रहने पर भी वैर की आग सर्वथा बुझ नहीं पाती, यदि कुल में कोई भी होता है, तो उसे वैर बढ़ानेवाली पूर्वघटनाएँ बतानेवाले बहुत-से लोग मिल जाते हैं। जैसे घी डालने से अग्नि नहीं बुझती, वैसे ही वैर से वैर नहीं मिटता। या तो वैराग्यपूर्वक वैर त्यागने पर शान्ति मिलती है या मरने से अथवा शत्रु को समूल नष्ट करने पर ही शान्ति होती है। स्वार्थत्याग से शान्ति हो सकती है, पर वह वधक समान है; क्योंकि उस दशा में भी शत्रुओं को सन्देह बना रहता है, कि अभी ये कमजोर हैं, अवसर आने पर अवश्य प्रहार करेंगे। साधनहीन होने से अपने विनाश की सम्भावना भी बनी ही रहती हैं। त्याग की हालत में भी तो दुर्योधन ने पाण्डवों के विनाश के लिए प्रयत्न किया तथा इन्द्र ने बलि के विनाश के लिए प्रयत्न किये थे। कुत्ते पहले पूंछ हिलाते, फिर गुर्राते और जवाब में बोलते हैं। एक दूसरे के चारों ओर घूमते हैं, एक दूसरे को दाँत दिखाते तथा भूकते हैं। उसके पश्चात् ही वे युद्ध करते हैं। ठीक इसी तरह शान्ति का सारा प्रयत्न विफल होने पर ही मनुष्यों में भी युद्ध होता है। बलवान् दूसरों को मारकर उसका मांस खाता है, इसी तरह मनुष्यों में एक दूसरे को मारकर उसका धन हरण किया जाता है :

लाङ्गूलचालनं क्ष्वेडा प्रतिवाचो विवर्तनम्।
दन्तदर्शनमारावस्ततो युद्धं प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

जो झुकने को तैयार होता है वही दुर्बल समझा जाता है : **प्रणिपाती हि दुर्बलः।**

फिर भी जय या वध ही क्षत्रिय का धर्म है। उसके लिए ब्राह्मण के तुल्य भिक्षावृत्ति सर्वथा निषिद्ध है। दीनता, कायरता उसके लिए सर्वथा निन्द्य है :

जयो वधो वा सङ्ग्रामे धात्रादिष्टः सनातनः।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते ॥[1] (७३.४)

दुष्ट लोग कृपाकर या दीन-दुर्बल समझकर अथवा धर्म, अर्थ और काम को मद्देनजर कर अच्छा व्यवहार नहीं करते। किन्तु वे तो दबे हुए को और भी दबाने का प्रयत्न करते हैं। अतः पुरुष को अपने शास्त्रोक्त धर्म के अनुसार कर्तव्यपालन में ही अग्रसर होना चाहिए, फलसिद्धि तो दैव पर निर्भर होती है। पुरुष अपने पुरुषार्थ से खेत की जुताई-बुआई, सिंचाई करता है; किन्तु वहाँ भी दैववश सूखा पड़ता है। मूषक, शलभ, कीटादि के उपद्रव खड़े हो जाते हैं।

---

१. यहाँसे श्लोक के आगे ब्रैकेट की संख्या क्रमशः महाभारत, उद्योगपर्व के अध्याय और श्लोक की है।

भगवान् कृष्ण ने पाण्डवों से कहा था कि मैं पुरुषार्थ से जितना हो सकता है, सन्धि के लिए यत्न करूँगा। किन्तु दैव का विधान टालना तो मेरेलिए भी सम्भव नहीं :

अहं हि तत्करिष्यामि परं पुरुषकारतः।
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथञ्चन ॥ (७९.५)

फिर भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार मनुष्यों के विचार भी बदलते हैं। अतः जो समयोचित कार्य हो, वही करना पड़ता है। किसी भी विषय में सोचा कुछ जाता है और हो जाता है कुछ निराला ही; क्योंकि संसार में मनुष्यों की बुद्धि स्थिर नहीं होती :

अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा।
अनित्यमतयो लोके नराः पुरुषसत्तम ॥ (८०.६)

द्रौपदी ने कहा है कि जैसे अवध्य का वध करने पर पाप लगता है, वैसे ही वध्य का वध न करने पर भी पाप लगता है। क्षत्रिय का यह परम कर्तव्य है कि वह लोभादि उत्पथ में प्रवृत्त क्षत्रिय, अक्षत्रिय सभीका वध करे। हाँ, यह नियम ब्राह्मणों पर लागू नहीं होता। ब्राह्मण चाहे सब पापों में डूबा हो, तो भी उसे प्राणदण्ड नहीं देना चाहिए; क्योंकि वह सर्ववर्णों का गुरु है। दान में समर्पित सब वस्तुओं का सर्वतः प्रथम भोक्ता वही है :

क्षत्रियेण हि हन्तव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः।
अक्षत्रियो वा दाशार्ह स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥
अन्यत्र ब्राह्मणात्तात सर्वपापेष्ववस्थितात्।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् ॥ (८२.१६-१७)

भगवान् नर ने दृप्त दम्भोद्भव को समझाते हुए कहा था कि हे राजन्, तुम ब्रह्मण्य एवं धर्मनिष्ठ बनो। आज से दर्पवश छोटे या बड़े किन्हीं भी पुरुषों पर किसी भी प्रकार का आक्षेप मत करो। कृतप्रज्ञ, निर्लोभ, निरहंकार, शान्त दान्त, होकर प्रजा का पालन करो :

मा च दर्पं समाविष्टः क्षेप्सीः कांश्चित् कथञ्चन।
अल्पीयांसं विशिष्टं वा तत्ते राजन् समीहितम् ॥ (९६.३५)

सर्ववर्णों की गर्हणा न कर सबका आदर करना एक महान् पुण्य है। राजर्षि वसुमाना ने ययाति से कहा था कि मैंने जगत् में सभी वर्णों की निन्दा से

दूर रहकर जो पुण्य प्राप्त किया है, वह भी आपको दे रहा हूँ। आप उस पुण्य से युक्त होकर स्वर्ग जाइये :

प्राप्तवानस्मि यल्लोके सर्ववर्णेष्वगर्हया।
तदप्यथ च दास्यामि तेन संयुज्यतां भवान्॥ (१२२.४)

प्रतर्दन ने धर्मनिष्ठा तथा धर्मपरायणता का दिव्यपुण्य देकर ययाति को स्वर्ग भेजने में योगदान किया। उशीनर-पुत्र शिवि ने कहा कि 'मैंने बालकों, स्त्रियों और हास-परिहासयोग्य सम्बन्धियों में एवं युद्धों-आपत्तियों तथा संकटों में भी पहले कभी असत्यभाषण नहीं किया। उस सत्य के प्रभाव से आप स्वर्गलोक जाइये। मैं अपने प्राण, राज्य एवं मनोवांछित सुसंभोग भी त्याग करता हूँ; पर सत्य नहीं छोड़ सकता। यदि मेरे सत्य से धर्म, अग्नि तथा देवराज तुष्ट हुए हों तो आप उसके प्रभाव से स्वर्ग जाइये :

यथा बालेषु नारीषु वहार्येषु तथैव च।
समरेषु निपातेषु तथा तद्व्यसनेषु च॥
अनृतं नोक्तपूर्वं मे तेन सत्येन खं व्रज।
यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन् कामसुखानि च।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज॥ (१२२.८—१०)

अष्टक ने भी कहा है कि मैंने सैकड़ों पुण्डरीक, गोसव तथा वाजपेय यज्ञ किये हैं; आप उन सबका फल प्राप्त करें। मेरे पास कोई भी रत्न धन अथवा अन्य सामग्री ऐसी नहीं, जिसका मैंने यज्ञ में उपयोग न किया हो।

ययाति ने हजारों वर्ष अनेकानेक यज्ञों तथा दानों से महान् पुण्य का उपार्जन किया था। उनकी तपस्या ऋषियों, महर्षियों को भी चकित करनेवाली थी। फिर भी अभिमान के कारण उन्हें स्वर्ग से गिरना पड़ा। ययाति के प्रश्न करने पर स्वयं लोकपितामह ब्रह्मदेव ने कहा था :

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम्।
अनेकक्रतुदानाद्यैर्यत् त्वयोपार्जितं फलम्॥
तदनेनैव दोषेण क्षीणं येनासि पातितः।
अभिमानेन राजेन्द्र धिक्कृतः स्वर्गवासिभिः॥ (१२३.१४-१५)

मान, बल, हिंसा या माया तथा शठता से पुण्यलोक नहीं मिलता। दुर्योधन को समझाते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा था कि जो मनुष्य सुहृदों के मुख से शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर भी स्वीकार नहीं करता, उसे परिणाम में शोक उसी प्रकार

दग्ध करता है, जिस प्रकार खाया हुआ इन्द्रायण का फल पाचन के अन्त में दाह उत्पन्न करता है।

जो कल्याण की बात सुनकर आग्रह छोड़ उसे ग्रहण करता है, वह सुखपूर्वक उन्नति पाता है। किन्तु जो मन:प्रतिकूल होने के कारण सुहृदों के वचनों को नहीं सुनता, उसे शत्रुओं के वश होकर उनके कटु-वचन सुनने पड़ते हैं :

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते।
शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः॥ (१२४.२५)

जो सत्पुरुषों की सम्मति का उल्लंघन करके दुष्टों के मत का अनुसरण करता है, उसके सुहृद् शीघ्र ही उसे विपत्ति में पड़ा देख शोक मनाते हैं। जो दुष्ट पुरुषों का संग करता है, मिथ्याचारी होकर श्रेष्ठ सुहृदों की बात नहीं सुनता, दूसरों को अपनाता और आत्मीयजनों से द्वेष करता है, उसे यह पृथ्वी त्याग देती है :

योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम्।
परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत॥ (१२४.२८)

अर्थ-काम चाहनेवालेको भी पहले धर्म का ही आचरण करना चाहिए, क्योंकि अर्थ और काम भी कभी धर्म से पृथक् नहीं रह सकते :

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवाऽऽदितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन॥ (१२४.३७)

मनुष्य जिसका पराभव न चाहे, उसकी बुद्धि का उच्छेद न करे। अविच्छिन्न-मति की बुद्धि कल्याण-कार्यों की ओर अग्रसर होती है। आत्मवान् प्राणी त्रिलोक में किसीका निरादर नहीं करता, फिर वह गुणवानों का निरादर कैसे करेगा? दुर्जन प्राणी के सामने विस्तृत बहुत-से प्रमाण भी उच्छिन्न हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से कहा कि अपने पक्ष से किसी ऐसे पुरुष को ढूँढ़ निकालो जो युद्ध में अर्जुन का सामनाकर सकुशल घर लौट सके! व्यर्थ जनक्षय से क्या लाभ? जिसको जीत लेने पर तुम्हारे पक्ष की विजय मान ली जाय, ऐसे एक भी पुरुष को देख लो।

गान्धारी ने दुर्योधन से कहा था कि प्रभुत्व ही 'राज्य' नामक ईप्सित स्थान है। दुरात्मा उसकी रक्षा नहीं कर सकता। जैसे अनियन्त्रित घोड़े काबू में न होने पर सारथिको मार्ग में ही मार डालते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ वश में न रखने पर वे भी

मनुष्य का नाश कर सकती हैं । इसलिए महत्त्वपूर्ण पद चाहनेवाले का कर्तव्य है कि वह धर्म और अर्थ में इन्द्रियों को नियन्त्रित करे । इन्द्रियों को जीत लेने पर बुद्धि वैसे ही उद्दीप्त होती है, जैसे इन्धन डालने से अग्नि की ज्वाला :

इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुर्नियच्छेदर्थधर्मयोः ।
इन्द्रियै नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ॥
अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥
(१२९.२६-२७)

जो पहले अपने मन को न जीतकर मन्त्रियों को जीतने की इच्छा रखता है, अथवा मन्त्रियों को जीते बिना शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह विवश होकर राज्य और जीवन दोनों से वञ्चित हो जाता है :

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ (१२९.२८)

जो पहले शत्रु के स्थान पर मन को रखकर उसे जीतता है, फिर मन्त्रियों एवं अमित्रों को जीतने की इच्छा करता है, उसकी इच्छा अमोघ होती है । जो मन एवं इन्द्रियों को जीतकर मंत्रियों पर विजय पाता है, वह परीक्ष्यकारी तथा धीर होता है । राज्यश्री उसकी अत्यन्त सेवा करती है :

वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यर्थं श्रीर्निषेवते ॥ (१२९.३०)

देवताओं ने स्वर्ग जानेवालों के लिए काम-क्रोध द्वारा ही उस लोक का द्वार बन्द कर रखा है । वीतराग पुरुषों से डरकर ही देवों ने काम-क्रोध बढ़ाये हैं । अतः जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दर्प को ठीक-से जीतने की कला जानता है, वही पृथ्वी का शासन कर सकता है । जो काम-क्रोध से अभिभूत होकर स्वजनों तथा दूसरों के प्रति मिथ्या वर्ताव करता है, उसके कोई भी सहायक नहीं होते :

कामाभिभूतः क्रोधाद्वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते ।
स्वेषु चान्येषु वा तस्य न सहाया भवन्त्युत ॥ (१२९.३५)

कुन्ती ने श्रीकृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को संदेश भेजते हुए कहा था कि जैसे अर्थज्ञानशून्य पाठमात्र-पारायणी वेदपाठी की बुद्धि वेदपारायणमात्र धर्म में स्थिर रहती है वैसे ही तुम्हारी बुद्धि भी केवल शान्तिरूप धर्म में स्थिर है । किन्तु स्वयम्भू

ने जिस धर्म की सृष्टि तुम्हारे लिए की है, उस पर दृष्टिपात करो। विधाता ने अपनी भुजाओं से क्षत्रिय को रचा है, अतः बाहुबल से ही क्षत्रिय की जीविका निश्चित है, युद्धरूप कठोर धर्म करने तथा प्रजापालनरूप धर्म में ही क्षत्रियों की प्रवृत्ति उचित है।

कुबेर प्रसन्न होकर राजर्षि मुचुकुन्द के लिए सारी पृथिवी दे रहे थे, किन्तु उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। उन्होंने कहा कि 'अपने बाहुबल से उपार्जित राज्य का ही उपभोग करूँ, ऐसी मेरी कामना है।' इससे कुबेर बड़े ही प्रसन्न और विस्मित हुए :

मुचुकुन्दस्य राजर्षेरददात् पृथिवीमिमाम्।
पुरा वैश्रवणः प्रीतो न चासौ तां गृहीतवान्॥
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये।
ततो वैश्रवणः प्रीतो विस्मितः समपद्यत॥ (१३२.९-१०)

मुचुकुन्द ने क्षात्रधर्म का सहारा ले बाहुवीर्य से सारी पृथिवी पर शासन किया।

राजा द्वारा सुरक्षित प्रजा जो धर्म अर्जन करती है, राजा को उसका भी चतुर्थांश मिलता है। धर्मपालन करनेवाले राजा को देवत्व की प्राप्ति होती है, किन्तु यदि वह अधर्म करता है तो नरक में गिरता है :

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा विन्देत भारत॥
राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति॥ (१३२.१२-१३)

राजा की दण्डनीति धर्मानुसार प्रयुक्त होने पर चारों वर्णों का नियन्त्रण करती है। उन्हें अधर्म से निवृत्त करती है। जब राजा दण्डनीति के प्रयोग में पूर्णतः न्याय से काम लेता है, तब कृतयुग (सत्ययुग) नाम का श्रेष्ठ काल आता है। राजा ही काल का कारण होता है, इस विषय में तनिक भी संशय नहीं होना चाहिए। कृतयुग के प्रवर्तन से राजा अक्षय्य स्वर्ग पाता है। त्रेता के प्रवर्तन से स्वर्ग मिलता है, पर अक्षय्य नहीं। द्वापर के प्रवर्तन से पुण्य-पाप का यथाभाग फल मिलता है। लेकिन कलि के प्रवर्तन से राजा को अत्यन्त पाप भोगना पड़ता है। ऐसा करनेवाला राजा दोष से बहुत काल तक नरक में पड़ा रहता है। राजा के दोष का स्पर्श जगत् को और जगत् के दोष का स्पर्श राजा को लगता है।

कुन्ती ने युधिष्ठिर को सन्देश भेजते हुए कहा कि आप जिस बुद्धि के सहारे चलते हैं, उसके लिए आपके पिता पाण्डु, मैंने या आपके पितामह ने कभी आशी-

वाद नहीं दिया। यज्ञ, दान, तप शौर्य, प्रज्ञा, सन्तान, महत्त्व, बल और ओज की प्राप्ति हो, यही आशीर्वाद दिया था। दानपति, शूर क्षत्रिय के पास जाकर सभी पूर्णतया सन्तुष्ट होकर अपने घर लौटते हैं। फिर उससे बढ़कर क्या धर्म होगा? धर्मनिष्ठ क्षत्रिय किसीको दान से, किसीको बल से तो किसीको मधुर-वाणी से अपना लेता है।

श्रीकृष्ण के माध्यम से धर्मराज युधिष्ठिर को सन्देश देती हुई कुन्तीमाता ने इस प्रसंग में विदुला और उसके पुत्र संजय के वार्तालाप का इतिहास विस्तार से कह सुनाया।

दीर्घदर्शिनी राजरानी विदुला ने सिन्धुराज से पराजित होकर अत्यन्त दीनभाव से सोते हुए पुत्र को ललकारते हुए कहा था :

"पुत्र, तू मेरे गर्भ से उत्पन्न होकर मुझे तो क्या, अपने पिता को भी प्रसन्न न कर सका। प्रत्युत तेरे कारण शत्रुओं का ही आनन्द वर्धित हुआ। तुझे मैंने तथा तेरे पिता ने इसलिए नहीं पैदा किया। तू क्लीब कहाँसे आ गया? तू क्रोधशून्य है, क्षत्रियों में गणना करने योग्य नहीं। तू नाममात्र का पुरुष है। तेरे मन आदि सभी साधन नपुंसकों के समान हैं। क्या तू जीवनभर के लिए निराश हो गया? उठ, अपने कल्याण के लिए युद्ध का भार वहन कर!

"अपनेको दुर्बल मानकर स्वयं ही अपनी अवहेलना न कर। अपनी आत्मा का थोड़े-से धनादि से पोषण मत कर। मन को शुभ-संकल्प से कल्याणमय बनाकर, निर्भय होकर सर्वथा भय दूर कर दे। कायर पुरुष, उठ खड़ा हो। शत्रु से पराजित होकर घर में शयन न कर। इस प्रकार उद्योगशून्य और मान-प्रतिष्ठा-रहित होकर शत्रुओं को आनन्दित करता हुआ तू बन्धु-बान्धवों को शोक-सिन्धु में डाल रहा है :

उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः।
अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धुशोकदः॥ (१३३.८)

"छोटी कुनदी थोड़े-से जल से भर जाती है, चूहे की अञ्जलि थोड़े-से ही अन्न से भर जाती है। इसी तरह कापुरुष भी थोड़े-से ही सन्तुष्ट हो जाता है।

"वत्स! शत्रुरूपी सर्प के विषदन्त तोड़ता हुआ तू भले ही तत्काल मर जा, या प्राणों को संकट में डालकर भी पराक्रम कर। निःशंक हो बाज-पक्षी की तरह रणभूमि में निर्भय विचारता गर्जना कर अथवा चुप रहकर शत्रु के छिद्र देखता रह। दीन-हीन होकर अस्त मत हो। शौर्यपूर्ण कर्मों से ख्याति प्राप्त कर। कभी भी मध्यम या जघन्य (निकृष्ट) भाव का आश्रय न कर। युद्ध-भूमि में

सिंहनाद करता हुआ सुस्थिर हो। प्रज्वलित तिंदुक-काष्ठ के तुल्य मुहूर्तभर शत्रु के लिए प्रज्वलित हो। किन्तु जीने की इच्छा से ज्वालारहित भूसी की अग्नि की भाँति धूमिल न बना रह :

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः॥ (१३३.१४)

"प्रज्वलित रहना दो घड़ी भी अच्छा, दीर्घकाल तक धुआ छोड़ते हुए सुलगते रहना कभी अच्छा नहीं। वीर-पुरुष युद्ध में जाकर, उत्तम पुरुषार्थ कर धर्म के ऋण से मुक्त होता है और अपनी कभी निन्दा नहीं कराता :

कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाऽऽजिं यावदुत्तमम्।
धर्मस्यानृण्यमाप्नोति न चात्मानं विगर्हते॥ (१३३.१६)

"अभीष्ट-सिद्धि हो या न हो, विद्वान् उसकी चिन्ता नहीं करते। वे अपनी शक्तिभर प्राण-पण से निरन्तर चेष्टा करते हैं, कभी प्राण नहीं चुराते। पुत्र, धर्म को सामने रख अपना वीर्य (पराक्रम) दिखा या उस ध्रुवगति मरण को प्राप्त कर, जो अन्त में सबके लिए निश्चित है। क्लीब! तू किसलिए जीता है? तेरे इष्ट तथा आपूर्त कर्म नष्ट हो गये। सारी कीर्ति धूल में मिल गयी। भोग का मूल राज्य भी छिन गया। अब तेरा जीना किसलिए? डूबते समय या ऊँचे से गिरते समय शत्रु की टाँग अवश्य पकड़ें, फिर भले ही मूलोच्छेद हो जाय। कभी निरुद्यम न होना चाहिए। उत्तम जाति के घोड़े न थकते हैं और न शिथिल ही होते हैं। उनके इस कार्य का स्मरण करते हुए अपने ऊपर रखे युद्ध के भार का वीरता से वहन करना चाहिए। तू धैर्य और स्वाभिमान का अवलंबन कर अपने पुरुषार्थ को समझ और अपने कारण डूबते इस वंश का स्वयं ही उद्धार कर। जिसके महान् और अदभुत पुरुषार्थ या चरित्र की लोग चर्चा नहीं करते, वह मात्र जनसंख्या की वृद्धि करता है। वास्तव में वह न स्त्री है और न पुरुष ही :

कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः॥
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि।
यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम्॥
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान्॥ (१३३.२१–२३)

"दान, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनार्जन में जिसके सुयश का सर्वत्र बखान नहीं होता, वह माता का पुत्र नहीं, मल-मूत्र मात्र है।

"श्रुत, तप, श्री या विनय द्वारा जो दूसरों को अभिभूत (पराजित) करता है, वही श्रेष्ठ पुरुष है। तुझे हिजड़ों, कापालिकों तथा कायरों की-सी

निन्दनीय भिक्षा-वृत्ति का आश्रय नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वह अपयश फैलानेवाली तथा दुःखदायिनी होती है। तेरी क्लीबता से हम लोग राष्ट्र से निर्वासित होकर मनोवाञ्छित सुखों से हीन, स्थानभ्रष्ट और अकिञ्चन होते हुए जीविका के अभाव से विपन्न हो जायँगे। जान पड़ता है, पुत्र के नाम पर मैंने कलि-पुरुष को ही जन्म दिया। संसार में कोई नारी ऐसे पुत्र को जन्म न दे, जो अमर्षशून्य, उत्साह, बल एवं पराक्रम से रहित तथा शत्रु का आनन्द बढ़ानेवाले हो :

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ॥ (१३३.३०-३१)

"धूम की तरह मत उठ, किन्तु अत्यन्त प्रज्वलित हो वेगपूर्वक आक्रमण कर। शत्रु के सैनिकों का संहारकर एक मुहूर्त या क्षणभर ही शत्रुओं के सिर पर जलती आग बन छा जा :

मा धूमाय ज्वलाऽत्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ॥
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम् ॥ (१३३.३१-३२)

"जिस क्षत्रिय के हृदय में शत्रुओं के प्रति क्रोध और असहिष्णुता नहीं होती, वह न स्त्री है और न पुरुष। क्रोध और असहिष्णुता धारण करने के कारण ही मनुष्य पुरुष कहलाता है :

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ॥
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥ (१३३.३२-३३)

"अनुचित सन्तोष, दया तथा उद्योगशून्यता श्री का विनाश कर देते हैं। निश्चेष्ट मनुष्य कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं पा सकता। अतएव पुत्र ! निन्दा और तिरस्कार के हेतुभूत दोषों से स्वयं मुक्त हो लोह के समान दृढ़-हृदय बन और अपने योग्य राज्य-वैभव की तलाश कर। जो शत्रु का मुकाबिला कर उसका वेग सहन कर सकता है, वही पुरुषार्थ के कारण 'पुरुष' कहलाता है। जो स्त्री के समान भीरुतापूर्ण जीवन बिताता है, उसका 'पुरुष' नाम निरर्थक ही है। जो राजा तेज और उत्साह से सम्पन्न हो, सिंह के समान विक्रमी हो और दैववशात् युद्ध में वीरगति प्राप्त कर ले, तो भी उसकी प्रजा सदैव प्रसन्न रहती है। जो राजा अपने प्रिय और सुख को त्यागकर श्री का अन्वेषण करता है, शीघ्र ही वह अपने मंत्रियों का हर्ष बढ़ाता है। शत्रुओं को उन दरिद्रों के लोक प्राप्त होने चाहिए जो 'आज क्या भोजन होगा ?' इस प्रकार की चिन्ता में पड़े रहते हैं। इसके विपरीत सर्वत्र सम्मानित होनेवाले पुण्यात्माओं के लोक हमारे सुहृदों को मिलें। सञ्जय ! भृत्यों से हीन, दूसरों के अन्न पर जीनेवाले दीन-दुर्बलों की वृत्ति का अनुसरण मत

कर। तू ऐसा बन कि सभी ब्राह्मण और सुहृद उसी प्रकार तेरा आश्रय लें, जिस प्रकार प्राणी पर्जन्य (बादलों) का या देवता लोग देवराज इन्द्र का आश्रय लेते हैं। पक्व फलवाले वृक्ष की तरह जिस पुरुष का आश्रय लेकर सभी अपनी जीविका चलायें, उसीका जीवन सार्थक है।

"जो अपने बाहुबल का आश्रय ले उच्च जीवन व्यतीत करता है, वह लोक में उत्तम कीर्ति तथा परलोक में शुभगति पाता है। दूसरे राजा भी तेरा पुरुषार्थ देख विशेष चेष्टाकर सहायक-साधनों को जोड़ तेरे शत्रु के विरोधी हो सकते हैं। उनके साथ सन्धि करके दुर्गम पर्वतों में विचरता हुआ तू शत्रु के व्यसन (विपत्ति) या छिद्र को प्रतीक्षा कर। कोई भी शत्रु अजर-अमर नहीं होता।

"उत्तम ब्राह्मणों ने तेरे विषय में मुझे बताया था कि यह महान् संकट में पड़कर भी पुनः वृद्धि को प्राप्त होगा। अतएव आशा करती हूँ कि तेरी विजय निश्चित होगी। युद्ध से मेरी या पूर्वजों की समृद्धि हो या असमृद्धि, युद्ध मेरा कर्तव्य है, यह समझकर सर्वथा कमर कस ले। अपनी माँ और भार्या को दुर्बल तथा वस्त्राभूषणों से रहित तथा भृत्यवर्ग, ऋत्विक्, पुरोहित आदि सभीको जीविका-हीन अन्यत्र जाते हुए देखें तो वैसे जीवन से क्या लाभ ? यदि किसी ब्राह्मण द्वारा अभीष्ट वस्तु माँगने पर ना कहना पड़े, तो मेरा हृदय उसी समय विदीर्ण हो जायगा। आजतक मैंने और मेरे पति ने कभी किसी ब्राह्मण से 'ना' नहीं कहा। हम सदैव सबके आश्रयदाता रहे हैं, दूसरों के आश्रित कभी नहीं। अतएव भविष्य में भी अन्य का आश्रय लेने की अपेक्षा जीवन का परित्याग ही श्रेष्ठ समझूँगी। तू अपार विपत्समुद्र में डूबनेवाले अपने कुटुम्बियों को पार कर। नौका-विहीनों की नौका बन मृतप्राय उनके प्राणों को जीवन-दान दे। यदि तू जीवन का मोह छोड़ दे तो अभी भी तेरे शत्रु अजेय नहीं, तू उन्हें सहज ही परास्त कर सकता है। खेद है कि फिर भी तू कायरों का-सा विपद्ग्रस्त होकर क्लीबवृत्ति अपना रहा है।

"इसलिए वत्स ! शीघ्र उठ खड़ा हो और यह पापपूर्ण जीविका त्याग दे। एक ही शत्रु का वध करने से पुरुष विख्यात हो जाता है। वृत्र के वध से ही इन्द्र 'महेन्द्र' बनकर लोकों का ईश्वर हो गया। वीर-पुरुष युद्ध में अपना नाम सुनाकर, कवचधारी शत्रुओं को ललकार कर, सेना के अग्रभाग को खदेड़कर अथवा शत्रु के किसी प्रख्यात पुरुष का वधकर जब उत्तम यश प्राप्त करता है, तो उसके शत्रु व्यथित हो मस्तक झुका देते हैं। भले ही राज्य का उग्र विध्वंस हो, नाम या जीवन संकट में पड़ जाय, अच्छे लोग कभी भी शत्रु को शेष नहीं रहने देते। युद्ध को स्वर्गद्वार के सदृश उत्तमगति अथवा अमृतोपम राज्य-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग समझकर प्रज्वलित उल्मुक-सा शत्रुओं पर टूट पड़नेवाला तू अपनी पत्नियों

के साथ प्रसन्न रह । पहले के समान अपनी सम्पत्ति पर गर्वकर शत्रु-कन्याओं के वश में मत हो । तुझ-जैसा वीर-पुरुष पराक्रम के समय अड़ जाय या भार ढोने के समय नथे बैल-सा बैठा रहे या भाग जाय, तो इसे मैं तेरा मरण ही समझती हूँ । यदि तू शत्रु की चापलूसी करता हुआ उसके पीछे-पीछे जाता है, तो क्या उससे मेरे हृदय को शान्ति मिलेगी ?

"आजतक इस कुल में ऐसा कोई नहीं हुआ जो दूसरों का सेवक बनकर जीवित रहा हो । अतः तू भी वैसा होकर जीना पसन्द न कर । मैं चिरन्तन क्षत्रिय हृदय से परिचित हूँ । कोई क्षात्र-धर्मवित् क्षत्रिय भय या जीविका की ओर देख किसीके सामने नत-मस्तक नहीं हो सकता । सदैव उद्यम कर किसीके सामने सिर न झुकाते भले ही असमय में नष्ट हो जा । कारण, उद्यम ही पुरुषार्थ है :

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ (१३४.३९)

"संजय ! महामना वीरक्षत्रिय मत्त मातंग की तरह सर्वत्र निर्भय विचरण करे । वह सदैव ब्राह्मणों तथा धर्म को ही नमस्कार करे । क्षत्रिय चाहे ससहाय हो या असहाय, अन्य वर्ण के लोगों को नियन्त्रण में रखकर पापियों को दण्ड देता हुआ यावज्जीवन प्रयत्नशील रहे । यह तेरे उत्तम पराक्रम दिखाने का मुख्य समय प्राप्त है । ऐसे समय भी यदि तू कर्तव्य न करेगा तो तेरा महान् अपयश फैलेगा । यदि इस समय मैं तेरेलिए कुछ न कहूँ, तो मेरा वह वात्सल्य गर्दभी के स्नेह-सा शक्तिहीन और व्यर्थ होगा । अतः साधुविगर्हित, मूर्खसेवित मार्ग का तत्काल त्याग कर । जो विनयशून्य और अशिक्षित पुत्र से हर्षित होता तथा उद्योगरहित, दुर्विनीत, कुबुद्धि पुत्र से सुख मानता है, उसका सन्तानोत्पादन ही व्यर्थ है । ऐसे अयोग्य, नराधम, पुत्र-पौत्र पहले तो कर्म ही नहीं करते और करते हैं तो वे निन्दित कर्म करते हैं । वे लोक या परलोक कहीं भी सुख नहीं पाते । हे पुत्र ! इन्द्रलोक में भी वह सुख नहीं जो शत्रुओं का नाश करने से क्षत्रियों को सुलभ होता है । जो मनस्वी अनेक बार पराजित हो क्रोध से पागल हो रहा हो, विजय की इच्छा से पुनः शत्रुओं पर आक्रमण कर दे । सच्चा वीर शरीर त्यागकर या शत्रुओं को मार-गिराकर ही शान्ति पाता है, अन्यथा नहीं । प्राज्ञ पुरुष संसार में स्वल्प होते हैं, तो उनका अप्रिय भी अत्यल्प ही होता है । प्रिय के अभाव में पुरुष की वैसी ही शोभा नहीं जैसे समुद्र में विलुप्त होकर गंगा की । तू जब शत्रुओं को मारकर लौट आयेगा, तभी मैं तेरा स्वागत करूँगी । मुझे विश्वास है कि मैं अति-कष्टसाध्य तेरी विजय अवश्य देखूँगी ।"

"माता ने उस पुत्र के विकल्पों का निराकरण करते हुए पुनः कहा कि पुत्र, पूर्व की असमृद्धियों से आत्मा की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। कई बार धन-वैभव नष्ट होकर भी फिर प्राप्त होते और प्राप्त होकर भी नष्ट हो जाते हैं। साथ ही केवल ईर्ष्यावश धनप्राप्ति के लिए कर्मों का आरम्भ नहीं करना चाहिए :

पुत्र नात्माऽवमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे।
अमर्षणैव चाप्यर्था नारब्धव्याः सुबालिशैः॥ (१३५.२५)

कारण, सभी कर्मों का कभी कोई फल मिलता है तो कभी नहीं भी मिलता। कर्मफल की इस अनित्यता को जानते हुए भी बुद्धिमान् कर्म करते हैं। फलतः वे कभी असफल होते हैं तो कभी सफलता भी पाते हैं। किन्तु जो कर्मों का आरम्भ ही नहीं करते, वे कभी अभीष्टसिद्धि नहीं पा सकते। निश्चेष्ट बैठने का एक ही परिणाम है, मनोरथ की कभी प्राप्ति न होना। किन्तु सोत्साह कर्मों में लग जाने पर तो कभी वाञ्छित फल प्राप्त भी हो जाता है। जो ज्ञानी पुरुष सभी समृद्धियों की पहले से ही अनित्यता जान लेता है, वह तो विचार द्वारा ही शत्रु की उन्नति और अपनी अवनति परखकर उसे दूर करता है। अतः मन में ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर कि सफलता मिलकर रहेगी, निरन्तर विवादरहित होकर उठना और सजग रहना और ऐश्वर्यप्राप्ति के कर्मों में लग जाना चाहिए।"

"हे वत्स! मंगलाचारपूर्वक ब्राह्मणों एवं देवताओं की पूजाकर प्रत्येक कार्य का आरम्भ करनेवाले राजा की शीघ्र ही उन्नति होती हैं। जैसे भगवान् भास्कर पूर्व-दिशा का आश्रय लेकर उसे प्रकाशित करते हैं, वैसे ही उक्त प्रकार से कार्य करनेवाले राजा को सब ओर से राज्यलक्ष्मी प्राप्त होकर यश और तेज से सम्पन्न कर देती है :

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु॥
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः।
मङ्गलानि पुरस्कृत्य ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह॥
प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक।
अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः॥ (१३५.२९-३१)

"हे पुत्र, मैंने तुम्हें अनेक दृष्टान्त, बहुत से उपाय और उत्साहजनक वचन सुनाये। लोक-वृत्तान्त का भी बार-बार दिग्दर्शन कराया। अब तू पुरुषार्थ कर। मैं तेरा पौरुष देखूँ। जो लोग शत्रु से क्रुद्ध हों, जिन्हें धन का लोभ हो, जो आक्रमण से क्षीण हुए हों, जिन्हें अपने बल एवं पौरुष पर गर्व हो, जो तेरे शत्रुओं से

अपमानित हों, उनसे बदला लेने के लिए होड़ लगाये बैठे हों, उन सबको तू साव-धानी से दान-मान द्वारा अपने पक्ष में कर ले। इस प्रकार तू बड़े से बड़े समुदाय में उसी तरह भेद पैदा कर सकेगा, जिस तरह वेगवान् वायु महावेग से उठकर बादलों को छिन्न-भिन्न कर देता है। तू उन सबको अग्रिम वेतन दिया कर। प्रति-दिन प्रातः सबेरे ही उठ जा। सबसे प्रिय-वचन बोल। ऐसा करने से वे सब तेरा प्रिय करेंगे और निश्चय ही तुझे अगुवा बनायेंगे" :

तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्योत्थायी प्रियंवदः॥
ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरो धास्यन्ति च ध्रुवम्॥ (१३५.३५-३६)

"जैसे ही शत्रुओं को पता चलता है कि उसका विपक्षी प्राणों की परवाह न कर युद्ध के लिए तैयार है, वैसे ही वे गृहस्थित सर्प की तरह उसके भय से उद्विग्न हो उठते हैं। यदि शत्रु को पराक्रम-सम्पन्न जानकर अपनी असमर्थता के कारण उसे वश में न कर सके, तो विश्वसनीय दूतों द्वारा साम एवं दान-नीति का प्रयोग कर उसे अपने अनुकूल बना लेना चाहिए। ऐसा करने पर अन्ततः उसका वशीकरण हो ही जाता है। इस प्रकार शत्रु को शान्त करने पर ही निर्भय आश्रय मिलता है। फिर युद्ध में न फँसने से अपने धन की वृद्धि होती है। धनसम्पन्न राजा के पास बहुत से मित्र आश्रय लेते हैं। अर्थहीन राजा को मित्र एवं बन्धु भी त्याग देते हैं। उसपर लोग विश्वास नहीं करते, उसकी निन्दा ही करते हैं। जो शत्रु को सहा-यक बनाकर उसपर विश्वास करता है, वह राज्य प्राप्त कर लेगा, इसकी कभी सम्भावना ही नहीं करनी चाहिए" :

नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्यांचिदापदि।
अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत्॥ (१३६.१)

"कैसी भी आपत्ति क्यों न हो, राजा को कभी भयभीत होना या घबराना नहीं चाहिए। यदि वह डरा भी हो, तो डरे हुए के समान कोई व्यवहार न करे। सदैव अपने-आपको निडर ही व्यक्त करे। कारण, राजा को डरा जानकर सभी भयभीत हो जाते हैं। फिर राज्य की प्रजा, सेना और मन्त्री भी उससे पृथक् अपना विचार रखने लगते हैं। उनमें से कोई शत्रुओं की शरण चले जाते हैं तो कुछ लोग उसे मात्र त्याग देते हैं। जो कुछ लोग पहले राजा द्वारा अपमानित हुए होते हैं, वे प्रहार करने की भी इच्छा करते हैं। किन्तु वे भी बँधे बछड़ोंवाली गायों की भाँति कुछ कर नहीं पाते, केवल मन ही मन उसके मंगल की कामना करते हैं।"

"ऐसे लोग विपत्ति में पड़े शोक करते हुए राजा के साथ स्वयं भी ऐसे शोकमग्न हो जाते हैं, मानो उनके सगे भाई ही विपन्न हो गये हों। क्या ऐसे ही

लोगों को तुमने सुहृद् माना है ? क्या तुमने भी पहले ऐसे सुहृदों का सम्मान किया है ? जो संकट में पड़े राजा के राज्य को अपना ही समझकर रक्षा के लिए कृत-संकल्प होते हैं, उन्हें तू कभी अपने से विलग न कर। भयभीत अवस्था में भी कभी वे तेरा त्याग न करें।"

"मेरे पास गुप्त धनराशि है, उसे ले। अभी तेरे सैकड़ों सुहृद् विद्यमान हैं। वे सुख-दुःख सहनेवाले तथा युद्ध से पीछे हटनेवाले नहीं हैं।"

विदुला के ये वचन सुनकर सञ्जय उठ खड़ा हुआ और बोला : "मेरी भूमि जल से डूब गयी। इसकी रक्षा करनी है, नहीं तो युद्ध में शत्रुओं का सामना करते हुए प्राणों का विसर्जन करना है। जब मुझे भावी वैभव को सुझानेवाली तुझ जैसी सञ्चालिका (नेत्री) प्राप्त है, तब ऐसा साहस होना ही चाहिए। मैं तुम्हारी अमृत तुल्य बातों को सुनने के लिए ही कुछ समय तक मौन रहा। यह देख, मैं अब शत्रुओं के दमन और विजय के लिए सन्नद्ध हूँ" :

अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात्।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमाय जयाय च ॥ (१३६.१५)

कुन्तीमाता ने वीरभाव पैदा करनेवाला यह आख्यान बतलाया और कहा कि "इसे सुनकर गर्भिणी निश्चय ही वीरपुत्र को जन्म देती है।"

इस तरह कुन्ती ने अपने पुत्रों को विविध सन्देश भेजते हुए अन्त में कहा कि "मैं धर्म को नमस्कार करती हूँ, क्योंकि वही समस्त प्रजाका धारण करनेवाला है। श्रीकृष्ण ! तुम अर्जुन और भीम से कहना कि क्षत्रिया जिसके लिए पुत्र को जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है। श्रेष्ठ पुरुष किसीसे वैर ठन जाने पर उत्साहहीन और शिथिल नहीं होते" :

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः॥
यदर्थं क्षत्रियासूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः॥ (१३७.९-१०)

पितामहभीष्म धर्मराज युधिष्ठिर से राजा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण व्यवहारों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि धर्मराज ! पवित्र, लोकचित्तग्राही राजा का कभी पतन नहीं होता। क्रोध और व्यसनहीन, मृदुदण्ड, जितेन्द्रिय राजा पर प्रजा धैर्य के साथ हिमालय-सा विश्वास करती है। बुद्धिमान्, त्यागगुणयुक्त, शत्रुछिद्रा-

न्वेषी राजा प्रशस्य होता है। जैसे पुत्र पिता के घर निर्भय हो घूमते हैं, वैसे ही जिसके राज्य में प्रजा निर्भय विचरण करे, वही श्रेष्ठतम राजा है :

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः।
अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः॥
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव।
प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः॥ (५७.२८-३०)
पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥ (५७.३३)

जिस राजा के पुर और जनपद में रहनेवालों को चोरी के डर से अपना धन छिपाकर नहीं रखना पड़ता और वे नीति-अपनीति को समझते हैं, वही श्रेष्ठ राजा है। यथाविधि प्रजा की रक्षा करनेवाले जिस राजा के राज्य में लोग अपने कर्म से सन्तुष्ट और जितेन्द्रिय रहते हैं तथा अपना-अपना संघ बनाकर गुटबन्दी नहीं करते, वही श्रेष्ठ राजा है। सेना के लिए परस्पर संघटन या गुटबन्दी और वैमनस्य दोनों ही खतरे हैं,[1] ऐसा भारवी का मत है। सज्जनों के मार्ग पर चलने वाला राजा ही राज्य का उत्तम अधिकारी होता है :

अगूढविभवाः यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः॥
स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः।
असंङ्घातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि[2]॥ (५७.३४-३५)
सतां धर्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति॥ (५७.३८)

पहले राजा का आश्रय प्राप्त करना चाहिए। उसके बाद भार्या और धन के लिए प्रयत्न करे। बिना राजा के भार्या और धन सुरक्षित नहीं रह सकते।

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम्॥ (५७.४१)

इसलिए राज्य चाहनेवालों के लिए स्पष्ट है कि लोकरक्षा को छोड़कर अन्य कोई धर्म नहीं। लोकरक्षा ही विश्व का धारण करनेवाली है। जैसे समुद्र में जहाज भग्न हो जाने पर उसे त्यागकर अपना हित सोचा और किया जाता

---

१. यहाँ ये महाभारत, शान्तिपर्व के श्लोक हैं। ब्रैकेट में प्रथम संख्या अध्याय की और द्वितीय श्लोक की है।

२. 'न संहता नैव च भिन्नवृत्तयः' किरातार्जुनीय (१.१९).

है, उसी प्रकार निम्नलिखित छह प्रकार के पुरुषों को त्याग अपना हित सोच-समझकर उसे कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। ये छह पुरुष हैं—१. वह आचार्य, जो आचार्य होकर वाक्पटु न हो, २. ऋत्विक् होकर वेदाध्यायी न हो, ३. राजा होकर रक्षा नहीं कर सके, ४. भार्या होकर अप्रियवादिनी हो, ५. गोपाल होकर सर्वदा ग्राम में ही निवास करे, और ६. नापित होकर बराबर जंगल में सैर करता हो :

तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी॥
षडेतान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥ (५७.४२-४४)

भीष्मपितामह कहते हैं कि धर्मराज! बृहस्पति, विशालाक्ष और शुक्राचार्य आदि नीतिशास्त्र के आचार्य राजा के लिए प्रजापालन ही प्रमुख धर्म बताते और उस रक्षात्मक धर्म की प्रशंसा करते हुए उसके साधन बताते हैं कि गुप्त और प्रकट दोनों प्रकार के गुप्तचर रखना, सेवकों को समय पर बिना मात्सर्य के भोजन और वेतन देना, युक्तिपूर्वक कर ग्रहण करना और असत् उपाय से प्रजा का धन न हड़पना, सज्जनों का संग्रह करना, शौर्य, दक्षता, सत्यभाषण, प्रजा का हितचिन्तन सरल और कुटिल उपायों से शत्रुओं में भेद पैदा करना राजा का कर्तव्य है :

चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात्।
युक्त्यादानं न चादानमयोगेन युधिष्ठिर॥
सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम्।
अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम्॥ (५८.५-६)

जीर्ण गृहों का निरीक्षण, अवसरानुसार शारीरदण्ड और अर्थदण्ड का प्रयोग, सज्जनों का अपरित्याग, कुलीनों का धारण, धान्यादिसंग्रह, बुद्धिमानों की सेवा, सेना की प्रसन्नता, प्रजा के हित-अहित और अनुराग-विराग पर ध्यान, कार्य करके थकावट का अनुभव न करना, कोषवृद्धि, नगर-रक्षा, अंगरक्षकों पर भी पूर्ण विश्वास न रखना, शत्रुओं द्वारा वाणिज्यादि के माध्यम से संघटित संघटनों में फूट डालना, शत्रु, मित्र और मध्यस्थ को यथावत् समझना, नीति और धर्म का अनुसरण करना, नित्य उद्योगी रहना, शत्रुओं को हीनशक्ति समझकर उनका अपमान न करना, नित्य ही अनुचित उपायों से दूर रहना, आदि उपायों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।

केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम् ।
द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ॥
साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम् ।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥
बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम् ।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥
पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसंङ्घातभेदनम् ।
अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम् ॥
नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥ (५८.७-१०;१२)

आज धर्म एवं संस्कृति के नाम पर बनी संस्थाओं में भी झूठ का बोलबाला रहता है। किन्तु भीष्मोक्त राजधर्म में प्रथमतत्त्व सत्यनिष्ठा ही है।

न हि सत्यादृते किञ्चिद् राज्ञां वै सिद्धिकारकम् ।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ (५६.१७)

सत्य को छोड़कर राजाओं की सफलता का और कोई मूल नहीं है। सत्य-निष्ठ राजा इस लोक और परलोक दोनों में ही आनन्द पाता है। हे राजेन्द्र ! ऋषियों का भी सत्य ही परम धन है। राजाओं के लिए भी सत्य से बढ़कर कोई अन्य विश्वासकारण नहीं :

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम् ।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम् ॥ (५६.१८)
रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्राण जाहिं बरु बचन न जाई ॥

यह मानस-वचन प्रसिद्ध ही है। वाल्मीकि कहते हैं : **रामो द्विर्नाभिभाषते** (वा० रा० २.१८.३०) अर्थात् श्री राम कभी दो बात नहीं बोलते थे। एक बार जो कह दिया, उसी पर सदा अडिग रहते थे।

धर्मात्मा और सत्यवादी राजा ही प्रजा का अनुरंजन कर सकता है। नीच लोग क्षमाशील राजा का नित्य ही तिरस्कार करते हैं। जैसे महावत हाथी के सिर पर चढ़ता है, वैसे ही नीच लोग राजा के सिर चढ़ना चाहते हैं। इसलिए राजा को न तो नित्यमृदु होना चाहिए और न तो नित्य तीक्ष्ण ही। उसे वसन्त ऋतु के सूर्य के समान होना चाहिए जो न अत्यन्त शीत होता है और न अत्यन्त उष्ण ही :

धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ॥ (५६.३६)
क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ।
हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ॥
तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः ।
वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च घर्मदः ॥ (५६.३९-४०)

राजा को सदा गर्भिणी के समान होना चाहिए। जैसे गर्भिणी अपने मन को अच्छे लगने वाले अपने प्रिय का परित्याग कर गर्भस्थ शिशु के हित का ध्यान रखती है, वैसे राजा को भी अपने प्रिय की परवाह न कर जो कुछ लोकहित हो, वही करना चाहिए।

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा ॥
यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाऽप्यसंशयम् ॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥ (५६.४४-४६)

महाराज युधिष्ठिर ! राजा को नित्योद्योगी होना चाहिए। स्त्री के समान उद्योगविहीन राजा की प्रशंसा नहीं होती। विल में शयन करने वाले जन्तुओं को जैसे सर्प खा जाता है, वैसे ही युद्ध के डर से किसी से विरोध न करने वाले राजा और अप्रवासी ब्राह्मण को भूमि खा जाती है। राजा को सन्धेय से सन्धि और विरोधियों से विरोध अवश्य करना चाहिए। उसे चातुवर्ण्य के धर्म की रक्षा भी करनी चाहिए।

इस नीति की उपेक्षा के कारण ही आज भारत की लाखों वर्ग मील भूमि पाकिस्तान एवं चीन के कब्जे में पड़ी है और हमारे कर्णधार पंगु नीति धारण किये बैठे हैं :

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर ।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ॥ (५७.१)
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥
सन्धेयानभिसन्धत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता ॥ (५७.१५-१६)

राजा को कहीं विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि विश्वास करना ही पड़े तो अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। शत्रु छिद्रदर्शी राजा की नित्य ही

प्रशंसा होती है। राजा को वृद्धों की सेवा करने वाला, आलस्यविहीन, निर्लोभ, सज्जनों के आचरण का दृढ़ता से अनुसरण करने वाला, शीघ्र ही प्रसन्न होने वाला और प्रियदर्शी होना चाहिए।

न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत्।
छिद्रच्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते॥ (५७.१७)
उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः।
सतां वृत्ते स्थितमतिः सन्तोष्यश्चारुदर्शनः॥ (५७.२०)

बृहस्पति ने बताया है कि राजधर्म का मूल उद्योग है। उद्योग से ही देवों ने अमृत प्राप्त किया और उद्योग से ही असुरों को हटाया है। उद्योगहीन राजा बुद्धिमान् होता हुआ भी नित्य ही निर्विष सर्प के समान शत्रुओं के अपमान का विषय बन जाता है :

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत।
उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः॥ (५८.१३.१४)
उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः॥ (५८.१६)

न राज्य था, न राजा था, न दण्डविधान था और न तो दण्ड-प्रणेता ही सभी परस्पर धर्म से ही पालित होते थे। इससे उन्हें श्रम हुआ। श्रम से मोह (अविवेक) हुआ। उससे उनका धर्म नष्ट हो गया। फिर सभी लोभ के वश हो गये और अप्राप्त की प्राप्ति के लिए कामना करने लगे। उन उन वस्तुओं में लोगों का राग बढ़ने लगा। राग बढ़ने से लोगों को कार्याकार्य का ज्ञान नहीं रहा :

न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
पाल्यमानास्तथाऽन्योऽन्यं नरा धर्मेण भारत॥
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्॥
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम॥
अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो॥
तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्यं युधिष्ठिर॥ (५९.१४.१९)

किसी को भी अगम्यागमन, वाच्यावाच्य, भक्ष्याभक्ष्य, दोषादोष किसी से भी परहेज नहीं रह गया। नरलोक में कोई मर्यादा नहीं रह गयी। अमर्यादा

होने पर वेद लुप्त हो गये। उससे धर्म का नाश हो गया। वेद और धर्म दोनों के नष्ट होने पर देवताओं को बहुत भय हुआ :

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥
विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥
नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्। (५९.२०-२२)

हे पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! वेद और धर्म के नाश से भयभीत देवगण ब्रह्माजी की शरण गये और प्रार्थना के बाद ब्रह्माजी से कहा कि हे त्रिभुवनेश्वर ! वेद और धर्म के विनाश से हम लोग मर्त्यों के समान हो गयें हैं। हम लोग मर्त्यलोक में नीचे वर्षा करते हैं और मनुष्यों द्वारा यज्ञ से ऊपर वर्षा की जाती है। अब यज्ञ-यागादि के उपाय से हम लोगों की सत्ता में सन्देह हो गया है। यह सुनकर ब्रह्माजी ने अपनी निर्मल सर्वतोमुखी प्रतिभा से एक लाख अध्याय का ग्रन्थ बनाया।

ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः।
ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर ॥
ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर।
अधो हि वर्षमस्माकं नरास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः ॥
क्रियाव्युपरमात् तेषां ततो गच्छाम संशयम्। (५९.२२,२५-२६)
ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिभिः ॥ (५९२९)
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः।
चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥ (५९.२९-३०)

त्रयी (कार्मकाण्डः) चान्वीक्षिकी (ज्ञानकाण्डः) वार्ता (कृषिवाणिज्यादि जीविकाकाण्डः) दण्डनीतिः (पालनविद्या)श्च विपुला विद्यास्तत्र निर्दशिता :

साम भेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव।
उपेक्षा पञ्चमी चात्र कार्त्स्न्येन समुदाहृताः ॥ (५९.३५)

इस ग्रन्थ में धर्म, और काम का वर्णन किया गया है; त्रयी (कर्मकाण्ड) आन्विक्षिकी (ज्ञानकाण्ड) वार्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) और दण्डनीति (पालनविद्या) उसमें विस्तार से बतायी गयी है। साम, दान, भेद और दण्ड तथा उपेक्षा सभी उपाय उसमें बताये गये हैं। राजा भगवान् विष्णु की पालिनी शक्ति

का प्रतिनिधित्व करता है । इसलिए अभ्युदय एवं निःश्रेयस में उसका पूर्ण सहयोग होता है :

नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचार ।
प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु ॥ (५९.१०३-४)
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ।
अस्मिन् धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टास्तस्माद्धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति ॥
(६४.२१-२२)
यदि ह्यसो भगवान् नाहनिष्यद्रिपून् सर्वानसुरानप्रमेयः ।
न ब्राह्मणा न च लोकादिकर्ता नायं धर्मो नादिधर्मो भविष्यत् ॥
(६४.२४)

फिर देवताओं और ऋषियों ने मिलकर आदिराज से कहा कि अपने प्रिय, अप्रिय की परवाह न कर सभी प्राणियों में एक आत्मा को देखते हुए निश्चित धर्मपक्ष का निविशङ्क होकर आचरण करे ।

इन्हीं आदिदेव भगवान् से सर्व प्रथम राजधर्म की प्रवृत्ति हुई । अन्य धर्म उसके अंगोपांग होकर बाद में प्रवृत्त हुए । राजधर्म में सभी धर्म प्रविष्ट हैं, इसलिए राजधर्म सर्वश्रेष्ठ है । यदि वे अप्रमेय भगवान् सभी असुरों का विनाश नहीं करते तो न तो ये ब्राह्मण होते और न आदिकर्ता ब्रह्म ही । न यह धर्म होता और न आदि धर्म राजधर्म ही । यद्यपि वेद एवं तदुक्त धर्म अनादि ही हैं; तथापि उन सबमें राजधर्म प्रधान है, उपर्युक्त वचनों का यही तात्पर्य है और धर्मों का सारित्व बताने में नात्पर्य नहीं है । निम्नलिखित वचनों में इसी का स्पष्टीकरण किया गया है :

यदि आदिदेव भगवान् असुरों सहित पृथिवी को अपने पराक्रम से नहीं जीतते, तो ब्राह्मणों के विनाश से चातुर्वर्ण्य, चातुराश्रम्य कोई भी धर्म नहीं रह जाता । जब भी कभी अन्य धर्म नष्ट हुए तो क्षात्र-धर्म से ही वे पुनः उज्जीवित होकर बढ़े हैं । प्रतियुग में आदिधर्म प्रवृत्त होते हैं । विश्व में सर्वतो महान् क्षात्र-धर्म ही है । क्षात्र-धर्म में राजाओंके लिए युद्ध में आत्मत्याग, सर्वभूतानुकम्पा, लोकज्ञान, पालन और पीड़ितों का विपत्ति से छुटकारा यह सभी कुछ निहित है ।

इमामुर्वी नाजयद्विक्रमेण देवश्रेष्ठः सासुरामादिदेवः ।
चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः सर्वे नश्युर्ब्राह्मणानां विनाशात् ॥
नष्टा धर्माः शतधा शाश्वतास्ते क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः ।
युगे युगे ह्यादिधर्माः प्रवृत्ता लोकज्येष्ठं क्षात्रधर्मं वदन्ति ॥

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥
(६४.२५-२७)

यदि भूतल पर दण्डविधायक राजा न हो तो जल में मछलियों के समान बली दुर्बल को खा जायँ :

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥ (६७.१६)

यह विश्रुत है कि बिना राजा के प्रजा पहले नष्ट हो गयी थी। जिस राष्ट्र में राजा नहीं होता वहाँ का पराक्रम भी समाप्त हो जाता है। अराजकता से बढ़कर और कोई पापीयसी अवस्था नहीं है। हे राजन्, जैसे चन्द्रमा और सूर्य के उदय न होने पर प्राणी परस्पर एक दूसरे को न देखते हुए गाढ़ अन्धकार में डूबे रहते हैं, इसी तरह बिना राजा के समस्त प्रजा नष्ट हो जाती है। स्त्री पुत्र, धन सम्पत्ति किसी के विषय में कोई नहीं कह सकता कि यह हमारा है। यदि राजा पालन नहीं करता, तो सब व्यवस्था लुप्त हो जाती है :

अराजकाः प्रजा पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्। (६७.१७)
अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः ॥
नहि पापात् परतरमस्ति किञ्चिदराजकात्। (६७.६-७)
यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥ (६८.१०)
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः। (६८.१३)
ममेदमिति लोकेऽस्मिन् नाभवेत् संपरिग्रहः ॥
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः।
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥ (६८.१५)
पतेद् बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥ (६८.१७,१८)
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत्।
न यज्ञाः संप्रवर्तेयुर्विधिवत् स्वाप्तदक्षिणाः ॥
न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत्। (६८.२१,२२)

धर्माचरण करनेवाले लोग अनेक प्रकार से शस्त्र-प्रहार द्वारा सताये जायँ

और अधर्म ही धर्म बन जाय, यदि राजा पालन न करे। माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरुजनों को लोग पीड़ा दे-देकर मार डालें, यदि राजा पालन न करे। विधि-विधानपूर्वक अच्छी दक्षिणावाले यज्ञ न हो सकें, न विवाह हो सकें और न उत्सव हो सकें यदि राजा पालन न करे।

वार्ता या व्यवहारमूलक इस लोक का वार्ता ही मूल है। त्रयी (ऋक्, यजुः, साम,) द्वारा इसका पालन होता है। राजा द्वारा रक्षा होने पर ही वार्ता और त्रयी का ठीक-ठीक प्रयोग हो सकता है। 'मनुष्य' समझकर राजा का अपमान कभी नहीं करना चाहिए। वास्तव में वह मनुष्यरूप में एक महती देवता है॥ राजा समय-समय पर अग्नि, आदित्य, मृत्यु, कुबेर और यम का रूप धारण करता है। अपने उग्र तेज से पापियों को जलाने पर राजा अग्नि होता है। इसी तरह उसकी यमादिरूपता भी कही गयी है :

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।
तत्सर्वं वर्तते सम्यग् यदा रक्षति भूमिपः॥ (६८.३५)
न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः।
यदा ह्यासीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा॥
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः॥ (६८.४०-४२)

ऐसे अलौकिक माहात्म्यवाले राजा का कर्तव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। राजा को पहले अपने मन और इन्द्रिय पर विजय पा लेनी चाहिए। अजितेन्द्रिय राजा शत्रुओं पर विजय कैसे पा सकता है? राज्य कामनावाले राजा को साम, दाम और भेद रूप तीन उपायों से सदैव अर्थसंग्रह करना चाहिए। जब तक अनिवार्य न हो, युद्ध के पास फटकना भी नहीं चाहिए। राजा वेदवेदांगवित्, बुद्धिमान्, शोभन, तपस्वी, दानशील और यज्वा (यज्ञकर्ता) होना चाहिए। प्रजा की ठीक-ठीक रक्षा करनेवाले राजा के लिए न तो किसी तपस्या की आवश्यकता है, और न यज्ञ की। प्रजापालन मात्र से वह सभी धर्मों का अनुष्ठाता बन जाता है। अतः दान-यज्ञादि करते हुए भी उसे प्रजापालन पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। अनिवार्य होने पर तो वीरता एवं निर्भयता के साथ युद्ध करना भी राजा का उत्कृष्ट धर्म है।

आज के शासक तो खाद्यान्न-संकट दूर करने के लिए संतति-निरोध, गर्भपात और लूले-लँगड़े बुड्ढों का सफाया करना चाहते हैं। चारे की कमी को दूर करने के लिए वृद्ध एवं अनुपयोगी कहकर गायों-बैलों को कटाना चाहते हैं, पर वे

उस राजधर्म का महत्त्व नहीं जानते, जिसके प्रभाव से सर्वत्र समृद्धि (बरक्कत) होती है। धर्मशील राजा युग बदल देता हैं। संसार के धनधान्य, वैभव का आश्चर्य-जनक विस्तार होता है। उसके बिना इन जघन्य उपायों से तो उत्तरोत्तर और दरिद्रता ही बढ़ेगी :

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥ (६९.४)
वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥ (६९.२३)
वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत्।
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥ (६९.३१)
किं तस्य तपसा राज्ञः किञ्च तस्याध्वरैरपि।
सुपालितप्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥ (६९.७३)

राजा का कारण काल है या काल का कारण राजा? ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है। जब राजा यथार्थतः पूर्णतया दण्डनीति का पालन करता है, तो उस समय कृतयुग होता है। कृतयुग में सर्वत्र धर्म ही विद्यमान रहता है, ढूँढ़ने पर भी अधर्म नहीं मिलता। किसी के भी मन का झुकाव अधर्म की ओर नहीं होता। प्रजा का योगक्षेम ठीक से चलता है और सभी प्रकार वैदिक गुण प्रतिष्ठित होने लगते हैं। रत्नगर्भा धरित्री काम-धेनु है, इसी तरह द्युलोक में भी सब कुछ है। प्रजा के धर्मनिष्ठ होने पर राजा परमेश्वरानुग होता है। फिर किसी वस्तु की कभी कमी नहीं होती :

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते।
ततः कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥
ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥
योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ॥ (६९.७९-८२)

सभी ऋतुएँ नीरोग और सुखदायी होती हैं। मनुष्यों के स्वर, वर्ण और मन प्रसन्न रहते हैं। उस समय व्याधियाँ नहीं होतीं और न कोई अल्पायु ही दीखता है। कोई विधवा नहीं होती और न कोई कृपण ही होता है। पृथिवी

अकृष्टपच्या (बिना जोते ही फसल देनेवाली) होती है। बिना श्रमके अनन्त धन-धान्य फल-फूल देती है। औषधियाँ पर्याप्त होती हैं। त्वक्, पत्र, फल और मूल शक्तिशाली होते हैं। उस समय पूर्णरूप से धर्म रहता है, अधर्म कहीं नहीं भी रहता :

ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः।
प्रसीदन्ति नराणां च स्वरवर्णमनांसि च ॥
व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥
नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम्। (६९.८३-८६)

जब राजा चौथाई अंश छोड़ तीन चौथाई दण्डनीतिका पालन करता है तो त्रेता युग होता है। उस समय धर्म के तीन अंश अशुभ के चतुर्थांश से अनुविद्ध हो जाते हैं और पृथिवी कृष्टपच्या हो जाती है। औषधियाँ भी बीजवपन से होती हैं।

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्त्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवीभवन्त्योषधयस्तथा ॥ (६९.८७-८८)

जब राजा आधी दण्डनीति छोड़कर आधी का अनुसरण करता है तो उस समय द्वापर नामक युग होता है। द्वापर में पृथिवी कष्टपच्या होती है और फलोत्पत्ति आधी हो जाती है। लेकिन राजा जब दण्डनीति का तनिक भी स्पर्श न कर असत् उपायों से प्रजा-पीड़न करता है तो कलियुग की प्रवृत्ति होती है।

आज तो हजार प्रयत्न करने पर भी प्रजा को पेट भरने को अन्न नहीं मिल रहा है। अन्न-संकट दूर करने के लिए भोक्ताओं की संख्या घटाने का प्रयत्न हो रहा है। सन्तति-निरोध, नसबन्दी, वन्ध्याकरण, लूप-प्रयोग, गर्भपात जैसे जघन्य कृत्यों का प्रचार किया जा रहा है :

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्त्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते ॥
अशुभस्य यदा त्वर्धं द्वावंशावनुवर्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्धफला तथा ॥

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः॥ (६९.८९-८१)

कलियुग में प्रायः अधर्म ही होता है। धर्म का कहीं नाम भी नहीं सुनायी पड़ता। सभी वर्णों का मन अपने-अपने धर्म से हट जाता है। शूद्र भिक्षा माँगने लगते हैं तो ब्राह्मण सेवा करने लगते हैं। किसी का योगक्षेम सुरक्षित नहीं रह पाता। सर्वत्र वर्णसंकर हो जाता है। यदि कथंचित् वैदिक धर्म रहते हैं, तो वे भी विकलांग। ऋतुएँ सुखकारिणी नहीं होतीं। रोग की बहुतायत हो जाती है। मनुष्यों के स्वर, वर्ण और मन का ह्रास होने लगता है। व्याधि से प्रजा मरने लगती है। स्त्रियाँ विधवा होने लगती हैं, प्रजा में क्रूरता बढ़ जाती है :

कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः॥
शूद्रा भैक्षेण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्तते वर्णसङ्करः॥
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा॥
ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः॥
विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा। (६९.९२-९६)

राजा के शास्त्रविरोधी अपचार से ही धरित्री स्वल्पसस्या हो जाती है। प्रजा अल्पायु दरिद्र एवं व्याधि-पीड़ित हो उठती है। कहीं खण्डवृष्टि होती है तो कहीं सस्य उपजता है, सर्वत्र नहीं। जब राजा सावधानी से दण्डनीति द्वारा प्रजा-पालन करना नहीं चाहता तो यह सारी दुर्दशा होती है। पदार्थों से भी सभी रस क्षीण हो जाते हैं :

राज्ञोऽपचारात् पृथिवी अल्पसस्या भवेत् किल।
अल्पायुषः प्रजाः सर्वा दरिद्रा व्याधिपीडिताः॥
क्वचिद्वर्षति पर्जन्यः क्वचित् सस्यं प्ररोहति॥
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः॥ (६९.९६-९७)

कृतयुग के प्रवर्तन से राजा सर्वथा स्वर्ग का भागी होता है। त्रेता के प्रवर्तन से उसकी अपेक्षा कुछ कम स्वर्ग का भागी होता है। द्वापर के प्रवर्तन से यथाभाग स्वर्ग प्राप्त करता है तो कलि के प्रवर्तन से राजा सर्वथा पाप का भागी होता है :

कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ॥
प्रवर्त्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्त्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ (६९.९९-१००)

राजन्, तुम लोभाक्रान्त होकर अधर्म से अर्थसंग्रह करने की बात मत सोचो। क्योंकि शास्त्र का उल्लंघन करनेवाले के धर्म और अर्थ दोनों ही टिका नहीं पाते। शास्त्र से अननुमत करों (टैक्सों) की भरमारकर मोहवश प्रजा-पीडन करनेवाले राजा का व ही हाल होता है जैसे कोई दूध के लिए गाय का थन ही काट डाले और दूध पाने से मुँहताज हो जाय :

मा स्माधर्मेण लोभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम् ।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥ (७१.१३)
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् सम्पीडयन् प्रजाः ।
ऊधश्छिन्द्याद्धि यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत्पयः ॥ (७१.१५-१६)

राज्य के अधिकारी अपना मनोरथ पूर्ण न होने पर राष्ट्र में पीड़ा पहुँचाते हैं, फलतः राष्ट्र कभी समृद्ध नहीं होता। जो गाय की नित्य सेवा-सुश्रूषा करता है, वही दूध पा सकता है। इसी तरह अच्छे उपायों से जो राज्य का भोग करता है, वही धन-धान्यादि फल पाता है। राजन्, आपको माली के समान (जैसे माली पौधों को सींचकर उनसे फल ग्रहण करता है, वैसे ही) बनना चाहिए, कोयला बनानेवालों के समान नहीं; क्योंकि कोयला बनानेवाला पेड़ को जड़मूल से काट, जलाकर ही कोयला बनाता है :

एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ।
यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ॥
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् । (७१.१९-१७)
मालाकारोपमो राजन् भव माऽऽङ्गारिकोपमः ॥ (७१.२०)

राजा का योगक्षेम पुरोहित के अधीन है। जिस राज्य में प्रजाओं का अदृष्ट भय अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि पुरोहित तथा दृष्टभय चोरी, डाका, दूसरे का आक्रमण आदि राजा अपने बाहुबल से दूर करता है, वही राज्य समृद्ध होता है :

योगक्षेमो हि राष्ट्रो हि समायत्तः पुरोहिते ।
यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत ॥
दृष्टं च राजा बाहुभ्यां तद्राज्यं सुखमेधते । (७४.१-२)

ब्राह्मणों में नित्य ही तपोबल और मन्त्रबल रहता है तो क्षत्रियमें बाहुबल और शस्त्रबल प्रतिष्ठित है। दोनों को मिलाकर प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। ब्राह्मण को नित्योदकी और क्षत्रिय को नित्य शस्त्रयुक्त होना चाहिए। पृथिवी में जो कुछ है, वह सब इन दोनों के अधीन है :

तपो मन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम्।
अस्त्रबाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम्॥
ताभ्यां संभूय कर्तव्यं प्रजानां परिपालनम्। (७४.१४-१५)
नित्योदकी ब्राह्मणः स्यान्नित्यशस्त्रश्च क्षत्रियः॥
तयोर्हि सर्वमायत्तं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्। (७४.३२)

राजा को दानशील, यज्ञशील, उपवास-तपःशील और प्रजापालन में तत्पर रहना चाहिए :

दानशीलो भवेद्राजा यज्ञशीलश्च भारत।
उपवासतपश्शीलः प्रजानां पालने रतः॥ (७५.२)

चोरों द्वारा चुराया हुआ उपजीवी (प्रजा) का धन यदि बरामद न किया जा सके तो राजकोष (शाही खजाने) से तत्काल वह धन उपजीवियों को दिला देना चाहिए :

प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद्धनं चौरैर्हृतं यदि।
तत् स्वकोशात् प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवतः॥ (७५.१०)

कोई धर्मनिष्ठ, प्रजापालन-परायण राजा किसी राक्षस का तर्जन करता हुआ कहता है :

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नाऽनाहिताग्निर्नाऽयज्वा मामकान्तरमाविशः॥
न च मे ब्राह्मणो विद्वान्नाव्रती नाप्यसोमपः॥ (७७.८-९)
न याचन्ते प्रयच्छन्ति सत्यधर्मविशारदाः।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति न॥
ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति संग्रामेष्वपलायिनः।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥ (७७.१३-१४)
न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धुर्न ब्राह्मणः कितवो नोत चौरः।
अयाज्ययाजी न च पापकर्मा न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥
(७७.२६)

अर्थात् मेरे देश में कोई चोर नहीं, कोई कंजूस नहीं, कोई मद्यप नहीं, कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र से रहित) नहीं, कोई अयज्वा (यज्ञ न करनेवाला) नहीं। फिर तुम मेरे अन्दर कैसे प्रवेश कर गये ? मेरे देश में कोई ब्राह्मण मूर्ख नहीं, अव्रती नहीं, असोमपायी (सोमयज्ञ कर सोमपान न करनेवाला) नहीं, फिर तुम मेरे अन्दर कैसे प्रवेश कर गये ? मेरे देश के क्षत्रिय सत्य और धर्म का पालन करते हैं। कोई भी माँगने की रुचि नहीं रखता। कोई भी संग्राम से पलायन नहीं करता। सभी ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं। सभी अपने कर्म में परिनिष्ठित हैं। फिर तुम मेरे अन्दर कैसे प्रवेश कर गये ? मेरे राष्ट्र में विधवा नहीं, कोई भी ब्राह्मण ब्रह्मबन्धु नहीं, कोई भी जुआरी नहीं, कोई भी चोर नहीं, कोई भी अयाज्य-याजी नहीं, कोई भी पापी नहीं, इसलिए मुझे राक्षसों से भय नहीं है।

येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्म परं बलम्।
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः॥ (७७.३१)

जो राजा प्रत्येक कर्म में ब्राह्मणों को आगे रखते हैं, वेद ही जिनके परम-बल हैं, जिनके नगर-निवासी अतिथिप्रिय हैं वे राजा स्वर्ग पर भी विजय प्राप्त करते हैं। क्षत्रिय के अभाव में शक्तिशाली शूद्र भी राज्य-सम्मान का भागी होता है। गिर पड़ने पर सहारा देनेवाला, डूबते को बचानेवाला शूद्र हो या कोई भी हो, उसका सम्मान होना ही चाहिए। जिसके सहारे दस्युओंसे पीड़ित, इधर-उधर भटकती अनाथ प्रजा सुखपूर्वक जीवनयापन कर सके, वही राजा होना चाहिए।

अपारे यो भवेत् पारमप्लवे यो प्लवो भवेत्।
शूद्रो वा यदि वाऽप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति॥
यमाश्रित्य नरा राजन् वर्तयेयुर्यथासुखम्।
अनाथास्तप्यमानाश्च दस्युभिः परिपीडिताः॥ (७८.३८-३९)

लोग अपने बन्धु के समान उसीकी पूजा करते हैं। रक्षा न करनेवाला राजा व्यर्थ ही होता है। असत्-पुरुषों को उनके कार्य से पृथक् कर जो राजा नित्य सत्पुरुषों की रक्षा करते हैं, उन्हींको राजा बनाना चाहिए। वे ही सम्पूर्ण विश्व को धारण करने की क्षमता रखते हैं :

तमेव पूजयेयुस्ते प्रीत्या स्वमिव बान्धवम्॥
वन्ध्यया भार्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाऽप्यरक्षता॥ (७७.४०-४१)
नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राजा कर्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम्॥ (७७.४४)

वेदों का प्रामाण्य न मानना, शास्त्रों का उल्लंघन और सर्वत्र अव्यवस्था मचाना, यह सब अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार लेने जैसा है :

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम् ।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद्वै नाशनमात्मनः ॥   (७९.१९)

कहीं भी पूर्णतया विश्वास धर्म और अर्थ दोनों का नाशक होता है। साथ ही सर्वत्र अविश्वास भी मृत्यु से भयङ्कर होता है :

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः ।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥   (८०.१०)

उपर्युक्त वचनों में वेदादिशास्त्रों का प्रामाण्य न मानना, धर्म का उल्लंघन करना मृत्यु से भी भयङ्कर माना गया है। जो कहते हैं कि हम कोई पुस्तक प्रमाण नहीं मानते, उन्हें अभिमान छोड़कर अपने निर्णय पर फिर से विचार करना चाहिए। अन्यथा वे निश्चय ही अपना और अपने अनुयायियों का अहित करेंगे।

विश्वास ही अकालमृत्यु है और विश्वास के कारण ही प्राणी धोखा खाता है। जो मित्र ऐसा समझता हो कि मेरी हानि से इसकी भी हानि होगी, उस पर पिता के समान विश्वास करना चाहिए। मेधावी, स्मृतिमान्, कुशल, स्वभाव से दयालु, सम्मान या अपमान पाकर भी कभी विकृत न होनेवाला, अर्थ की अपेक्षा कीर्ति को महत्त्व देनेवाला, मर्यादा का कभी उल्लंघन न करनेवाला, शक्तिशाली से द्वेष न करनेवाला, अनर्थ में प्रवृत्त न होनेवाला, काम, भय, लोभ या क्रोध से कभी धर्म का परित्याग न करनेवाला, वचन देकर उसे पूरा करनेवाला ही तुम्हारा प्रतिनिधि होना चाहिए। कुलीन, शीलसम्पन्न, सहिष्णु, अपने आप अपनी प्रशंसा न करनेवाला, शूर, श्रेष्ठ, विद्वान्, मौके पर सूझ-बूझ रखनेवाला ही मन्त्री बनने-योग्य है। क्या शास्त्र एवं धर्म की उपेक्षा करनेवाला अहंमन्य व्यक्ति कभी विश्वसनीय हो सकता है ? :

अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन् हि विपद्यते ।
यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति ॥ (८०.११)
तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ।
मेधावी स्मृतिमान् दक्षः प्रकृत्या चानृशंस्यवान् ॥
यो मानितोऽमानितो वा न च कुष्येत् कदाचन ।
कीर्तिप्रधानो यस्तु स्याद्यश्च स्यात् समये स्थितः ॥
समर्थान् यश्च न द्वेष्टि नानर्थान् कुरुते च यः ।
यो न कामाद् भयाल्लोभात् क्रोधाद्वा धर्ममुत्सृजेत् ॥
दक्षः पर्याप्तवचनः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः ।
कुलीनः शीलसम्पन्नस्तितिक्षुरविकत्थनः ॥

शूरश्चार्यश्च विद्वांश्च प्रतिपत्तिविशारदः।
एते ह्यमात्याः कर्तव्याः ·········॥(८०.१७,२२,२६–२८)

पंचतन्त्र के काकोलूकीय प्रकरण में बताया गया है कि अविश्वस्त पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए तथा विश्वस्त पर भी अत्यन्त विश्वास नहीं करना चाहिए :

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।

बताया गया है कि अपनी वाणी का दोष दूरकर उसमें प्रीतिरूप गुण का आधान कर हृदयच्छेदी मुलायम अलौह-शस्त्र से सबकी जबान बन्द करनी चाहिए :

अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा।
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च॥ (८१.१९)

यथाशक्ति निरन्तर अन्नदान (भोजन कराना), सहिष्णुता, सरलता, रूक्षता न रखना और यथायोग्य सत्कार ये ही अलौह-शस्त्र हैं। वृष्णि एवं अन्धकों के महान् नेता कृष्ण के घरेलू कठिनाइयों पर विजय पाने का मार्ग पूछने पर श्री नारदजी ने यह उपाय बताया था :

शक्त्याऽन्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम्।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम्॥ (८१.२१)

जातिवाले कड़वी और ओछी बात कहना चाहते हों तो अलौह-शस्त्र और मधुरवाणी से उनके हृदय (क्रूर निश्चय), वाणी और मन (कुसंकल्पजाल) को शान्त करना चाहिए। जो महापुरुष नहीं होता, अजितेन्द्रिय होता है और जिसके सहायक नहीं होते, वह बड़ा भार नहीं उठा सकता। बड़े भार को हृदय से स्वीकार कर क्षमा से उसका निर्वाह करना चाहिए। कठिनाई के समय का प्रतीक सुगव (बढ़िया बैल) होता है। जो दुर्वह भार को भी विषमावस्था में ढो लेता है। बुद्धि, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, धनत्याग के बिना गण बुद्धिमान् के वश में नहीं रहता :

ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च॥
नाऽमहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नाऽसहायवान्।
महतीं धुरमादत्ते तामुद्यम्योरसा वह॥
दुर्गे प्रतीतः सुगवो भारं वहति दुर्वहम्।
नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्॥
नान्यत्र धनसंत्यागाद् गणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते॥

(८१.२२–२४,२६)

इसी तरह उत्तमकुलोत्पन्न धर्मार्थ-कामसंयुक्त मन्त्री भी यदि अल्पश्रुत होता है तो वह मन्त्र की यथार्थ परीक्षा नहीं कर सकता। इसी तरह भले ही मन्त्री बहुश्रुत हो, यदि उत्तम कुलीन नहीं होता तो वह भी सूक्ष्म-निर्णय में नायकविहीन अन्धे के समान पद-पद पर ठोकर खाता है। जो बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञानसम्पन्न, समय पर सूझ-बूझवाला होकर भी अस्थिर-विचारवाला हो तो वह अधिक समय तक सफलताप्रद कर्म नहीं कर सकता :

एवमल्पश्रुतो मन्त्री कल्याणाभिजनोऽप्युत।
धर्मार्थकामसंयुक्तो नालं मन्त्रं परीक्षितुम्॥
तथैवानभिजातोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।
अनायक इवाचक्षुर्मुह्यत्यणुषु कर्मसु॥
यो वाऽप्यस्थिरसङ्कल्पो बुद्धिमानागतागमः।
उपायज्ञोऽपि नालं स कर्म प्रापयितुं चिरम्॥ (८३.२६–२८)

सान्धिविग्रहिक धर्मशास्त्रीय अर्थतत्त्वज्ञाता होना चाहिए। मतिमान्, धृतिमान्, लज्जाशील, रहस्य छिपानेवाला, कुलीन, महासत्त्व और निर्दोष मन्त्री प्रशस्त होता है :

धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सान्धिविग्रहिको भवेत्।
मतिमान् धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता॥
कुलीनः सत्त्वसम्पन्नः शुक्लोऽमात्यः प्रशस्यते॥ (८५.३०-३१)

जब शासन द्वारा भयङ्कर दुष्टों और दुराचारियों का नियन्त्रण नहीं होता तो उस शासन से जनता वैसे ही घबराती है, वैसे गृह में रहनेवाले सर्प से :

दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान् न नियच्छति।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव॥ (१२३.१७)

नित्य वेद-विद्या सुननी चाहिए। वेदज्ञ विद्वानों का सत्कार करना चाहिए। धर्म के विषय में उदार होना चाहिए और महाकुल में विवाह करना चाहिए :

सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च।
महामना भवेद्धर्मे विवहेच्च महाकुले॥ (१२३.२०-२१)

गुरु लोग जैसा परम धर्म बतलायें, वैसा ही करना चाहिए। गुरुओं की कृपा से परम कल्याण मिलता है :

गुरवो हि परं धर्मं यं ब्रूयुस्तं तथा कुरु।
गुरूणां हि प्रसादाद्धि श्रेयः परमवाप्स्यसि॥ (१२३.२५)

धर्मराज ने भीष्म से प्रश्न किया :

आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते।
क्षीणे कोशे श्रुते मन्त्रे किं कार्यमवशिष्यते॥ (१३१.९)

अर्थात् जब अमात्यादि कुपित हो जायँ, किला, जनपद आदि आक्रान्त हो जाय, खजाना खाली हो जाय, गुप्त मन्त्रणा भी सबके सामने प्रकट हो जाया करे, तो राजा का क्या कर्तव्य है ? इस पर भीष्म पितामह ने उत्तर दिया :

क्षिप्रं वा सन्धिकामः स्यात् क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः।
तदापनयनं क्षिप्रमेतावत् साम्परायिकम्॥ (१३१.१०)

अर्थात् आक्रमणकारी यदि धर्मात्मा हो, तो उससे तत्काल सन्धि कर लेनी चाहिए। यदि वह धर्मात्मा न हो, तो तीक्ष्ण पराक्रम दिखाना चाहिए। ऐसा करने पर शत्रु का शीघ्र अपनयन हो जाता है। अथवा धर्मयुद्ध में मृत्यु प्राप्त हो जाने पर परलोक में हित होता है। पराक्रम का परिणाम युद्ध ही है। युद्ध होने पर दोनों ही बातें हो सकती हैं जो निम्नोद्धृत दो श्लोकों में कही गयी हैं :

अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः॥ (१३१.११)

अर्थात् यदि थोड़ी भी सेना हृष्ट-पुष्ट, सन्तुष्ट और अनुरक्त हो तो वह विजय करानेवाली होती है।

युद्ध में लड़ते हुए मरने पर स्वर्गप्राप्ति और विजय प्राप्त होने पर पृथिवी का राज्य मिलता है। युद्ध में, समरांगणपर प्राण परित्यागकरनेवाला इन्द्रलोक प्राप्त करता है :

हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा क्षितिमावसेत्।
युद्धे हि सन्त्यजन् प्राणान् शक्रस्यैति सलोकताम्॥ (१३१.१२)

सभी धनादि सज्जनों के लिए है, असज्जनों के लिए कुछ भी नहीं। स्थान-भ्रष्ट राजा को सज्जनों के पालन के लिए दुष्टों का धन छीनने में कोई दोष नहीं है। छीननेवाला स्थानभ्रष्ट राजा दोनों को ही तारता है और वही आपद्धर्म का यथार्थ ज्ञाता है :

सर्वं साध्वर्थमेवेदमसाध्वर्थं न किञ्चन॥
असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृच्छ्रधर्मविदेव सः॥ (१३२.३-४)

आपत्काल में कंजूसी करनेवाला धनी दण्ड का भागी है। उसका धन छीन लेना चाहिए। किन्तु अत्यन्त आपत्काल में भी धनवान् ऋत्विगादि का धन दण्डरूप में भी नहीं छीनना चाहिए। धन छीनना उनकी हत्या करना है।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृतानभिसत्कृतान्।
न ब्राह्मणान् घातयीत दोषान् प्राप्नोति घातयन्॥ (१३२.९)

अर्थात् अपने द्वारा सत्कृत अथवा अनभिसत्कृत ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य या ब्राह्मण का धन छीनने से भयङ्कर दोष होता है। किन्तु जिन्हें शङ्खलिखित न्याय प्रिय है, वे वैसा पसन्द नहीं करते। उनके मतानुसार मात्सर्य अथवा लोभ से ऋत्विक्-पुरोहितादि का दण्डरूप में भी धन नहीं छीनना चाहिए, ऐसी बात भी नहीं कहनी चाहिए। अपने भाई के ही उद्यान से मालिक की अनुमति बिना एक फल उठा लेने के कारण लिखित को उनके भाई शंख ने राजा के पास जाकर दण्ड माँगने का परामर्श दिया और उनके परामर्शानुसार लिखित ने राजदण्ड के रूप में अपना हस्तच्छेद कराकर उस पाप का प्रायश्चित्त किया :

अपरे नैवमिच्छन्ति ये शङ्खलिखितप्रियाः।
मात्सर्यादथवा लोभान्न ब्रूयुर्वाक्यमीदृशम्॥
आर्षमप्यत्र पश्यन्ति विकर्मस्थस्य पातनम्।
न तादृक्सदृशं किञ्चित् प्रमाणं दृश्यते क्वचित्॥ (१३२.१६-१७)

यद्यपि कर्तव्याकर्तव्य-विवेक से शून्य, मदान्ध, विकर्मस्थ गुरु का भी शासन करना चाहिए, ऐसा आर्षवचन मिलता है :

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥

फिर भी इसके समान कोई (जहाँ यह वचन लागू किया गया हो ऐसी) नजीर नहीं मिलती। इसलिए भीष्म पितामह अपना मत बतलाते हैं :

देवताश्च विकर्मस्थं पातयन्ति नराधमम्। (१३२.१८)

अर्थात् विकर्मस्थ ऋत्विगादि को देवता स्वयं दण्डित करते हैं। राजा को उनके विषयमें उदासीन ही रहना चाहिए।

कोष (श्री) भरपूर रहने पर राजा का बहुत आदर होता है। कपड़ा जैसे स्त्री का गुप्त अंग छिपा लेता है, वैसे ही कोष राजा के दुर्गुणों को छिपा लेता है :

श्रियो हि कारणाद्राजा सत्क्रियां लभते पराम्।
साऽस्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियः॥ (१३३.७)

धर्म या अधर्म का फल यहाँ किसी को प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता। इसलिए उनकी परवाह न कर विशालाक्ष द्वारा बतलाये दश प्रकार के बलों का ही संग्रह करना चाहिए। (विद्या, अभिजन, मित्र, बुद्धि, सत्त्व, धन, तप, सहायक, वीर्य और दैव) :

विद्याभिजनमित्राणि बुद्धिसत्त्वधनानि च।
तपःसहायवीर्याणि दैवं च दशमं बलम्॥

'बलसम्पन्न पुरुष ही श्री, सेना, अमात्यादि संग्रह करने में समर्थ हो सकता है। सभी जंगम पृथिवी के आश्रित होते हैं। बिना बल का सहारा पाये धर्म अकिंचित्कर होता है, जैसे वृक्ष का बिना सहारा पाये लता अकिंचित्कर होती है' यह बल का अर्थवादमात्र है। वस्तुतस्तु प्रबल प्रमाण वेदादि शास्त्रों द्वारा धर्म-अधर्म दोनों ही प्रसिद्ध और मान्य हैं। अतः धर्माविरुद्ध मार्ग से ही विद्या, अभिजन, मित्रादि बलों के संग्रह का प्रयास करना उचित है। कर्म का आदर करनेवाला दस्यु भी आदरणीय होता है और वह सफलता प्राप्त करता है :

धर्माधर्मफले जातु ददर्शेह न कश्चन।
बुभूषेद् बलमेवैतत् सर्वं बलवतो वशे॥
श्रियो बलममात्यांश्च बलवानिह विन्दति।
यो ह्यनाढ्यः स पतितस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम्॥
अतिधर्माद् बलं मन्ये बलाद्धर्मः प्रवर्तते।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम्॥
धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्तते।
अनीश्वरो बले धर्मो द्रुमे वल्लीव संश्रिता॥ (१३४.३-४, ६-७)

कायव्य नामक दस्यु ने धर्मपरायणता से ही अपना और अपने कबीलेवालों का उद्धार किया था :

निषादी में क्षत्रिय से उत्पन्न 'कायव्य' नामक दस्यु बुद्धिमान्, प्रतिभावान् शत्रुओं पर निष्ठुर प्रहार करनेवाला तथा क्षत्रधर्म का पालन करनेवाला था। वह ब्राह्मणों का भक्त, गुरुओं की सेवा करनेवाला और आश्रमधर्म का विशेष रक्षक था :

प्रहर्ता मतिमान् शूरः श्रुतवाननृशंसवान्।
रक्षन्नाश्रमिणां धर्मं ब्रह्मण्यो गुरुपूजकः॥

निषाद्यां क्षत्रियाज्जातः क्षत्रधर्मानुपालकः।
कायव्यो नाम नैषादिर्दस्युत्वात् सिद्धिमाप्तवान्॥ (१३५.३)

दस्युभोजन की आशंका से जो ब्राह्मणादि इससे प्रतिग्रह न लेते, अत्यन्त प्रातःकाल ही उनके घर वह सामग्री रखकर चल देता था :

येऽस्मान्न प्रतिगृह्णन्ति दस्युभोजनशङ्कया।
तेषामासज्य गेहेषु कल्य एव स गच्छति॥ (१३५.९)

अत्यन्त निष्ठुर, निर्दय और मर्यादाविधुर हजारों दस्युओं ने अपने दल का प्रधान बनने के लिए उससे प्रार्थना की। तब उसने यह शर्त उन लोगों के सामने रखी :

स्त्रियों का, डरे हुओं का, बच्चों का, तपस्वियों का तुम लोग कभी वध मत करो। जो समर में नहीं उतरता उसका भी कभी वध न करो। बलात् स्त्रियों का अपहरण मत करो। किसी भी अवस्था में स्त्री का वध नहीं करना चाहिए। सदा ब्राह्मणों का कल्याण सोचो। ब्राह्मणों की रक्षा के लिए युद्ध करो। सत्य का परित्याग न करो। किसीके विवाहादि कार्य में विघ्न उपस्थित न करो। जहाँ देवता, पितर और अतिथियों का पूजन होता हो, वहाँ विघ्न मत करो। जो ब्राह्मणों की निन्दा करता है अथवा उनका विनाश चाहता है, उसका वैसे ही पराभव होता है जैसा सूर्योदय होने पर अन्धकार का। दण्डविधान दुष्टों का शासन करने के लिए ही है, अपनी वृद्धि के लिए नहीं। जो शिष्टों को पीड़ा पहुँचाते हैं, उनका वध निश्चित होना चाहिए :

मा वधीस्त्वं स्त्रियं भीरुं मा शिशुं मा तपस्विनम्।
नायुध्यमानो हन्तव्यो न च ग्राह्या बलात् स्त्रियः॥
सर्वथा स्त्री न हन्तव्या सर्वसत्त्वेषु केनचित्।
नित्यं तु ब्राह्मणे स्वस्ति योद्धव्यं च तदर्थतः॥
शस्यं च नापि हर्तव्यं सारविघ्नं च मा कृथाः।
पूज्यन्ते यत्र देवाश्च पितरोऽतिथयस्तथा॥
यो ब्राह्मणान् परिवदेद्विनाशं चापि रोचयेत्।
सूर्योदय इव ध्वान्ते ध्रुवं तस्य पराभवः॥
शिष्ट्यर्थं विहितो दण्डो न वृद्ध्यर्थं विनिश्चयः।
ये च शिष्टान् प्रबाधन्ते दण्डस्तेषां वधः स्मृतः॥
(१३५.१३-१५,१८,२०)

क्षत्रिय को चाहिए कि वह यज्ञ करनेवालों का द्रव्य तथा देव-द्रव्य हरण न करे। दस्यु एवं यज्ञ-याग, दान आदि न करनेवालों का द्रव्य क्षत्रिय हरण कर सकता है। यह सारी प्रजा, राज्य, भोग और धन क्षत्रिय का ही है, दूसरे का नहीं।

क्षत्रिय का धन सैन्यसंघटन अथवा यज्ञ के लिए होता है। जैसे अभोग्य औषधियों को काटकर इन्धन बनाकर भोग्य औषधियों को उसी इन्धन से पकाया जाता है, वैसे ही दुष्टों का सफाया कर उनके धन से सज्जनों का पालन करना चाहिए। धर्मज्ञानी लोगों का कहना है कि जो देवताओं, पितरों और मनुष्यों की हवि से पूजा नहीं करता, उसका धन अनर्थक है। धार्मिक राजा को चाहिए कि वह अनर्थक धन ले ले। इससे विश्व में खतरा नहीं होता, किन्तु सुख-शान्ति एवं समृद्धि बढ़ती है। जो अपने आपको द्वार बनाकर असज्जनोंका धन छीनकर सज्जनों को देता है, वही कृत्स्न-धर्मज्ञानी है। दंश, मच्छर, चींटी आदि के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है अर्थात् गौ आदि से उन्हें दूर खदेड़ दिया जाता है, वैसे ही निरर्थक धनवालों को राष्ट्र से दूर कर देना चाहिए। यही धर्म है :

न धनं यज्ञशीलानां हार्यं देवस्वमेव च।
दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति॥
इमाः प्रजाः क्षत्रियाणां राज्यभोगाश्च भारत।
धनं हि क्षत्रियस्यैव द्वितीयस्य न विद्यते॥
तदस्य स्याद्‌बलार्थं वा धनं यज्ञार्थमेव च।
अभोग्याश्चौषधीश्छित्त्वा भोग्य एव पचन्त्युत॥
यो वै न देवान्न पितॄन्न मर्त्यान् हविषाऽर्चति।
अनर्थकं धनं तत्र प्राहुर्धर्मविदो जनाः॥
हरेत् तद् द्रविणं राजन् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ततः प्रीणयते लोकं न कोशं तद्विधं नृपः॥
असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः॥
यथैव दंशमशकं यथा चाण्डपिपीलिकम्।
सैव वृत्तिरयज्ञेषु यथा धर्मो विधीयते॥ (१३६.२–७,१०)

किसी नदी के ह्रद में अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और दीर्घसूत्री नामक मत्स्य थे। मछुओं ने जाल डालकर उस सरोवर से मछलियों को पकड़ने का तीन निश्चय किया। उनकी बातें सुनकर अनागतविधाता (संकट आने के पहले ही उपाय करनेवाले) ने मछुओं के जाल डालने के पहले वहाँसे हट जाने की सलाह दी। लेकिन दोनों ने नहीं सुना, तब अनागतविधाता नीति का उपदेशकर वहाँसे चला गया। इसीलिए कहा गया है :

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति॥

अनागतमनर्थं हि सुनयैर्यः प्रबाधयेत्।
स न संशयमाप्नोति रोचतां भो व्रजामहे॥
आदौ न कुरुते श्रेयः कुशलोऽस्मीति यः पुमान्।
स संशयमवाप्नोति यथा सम्प्रतिपत्तिमान्॥ (१३७.१.८.१९)

अर्थात् भावी संकट का पहले से ही प्रतीकार करनेवाला और संकट उपस्थित होने पर खतरे का सामना करने की क्षमता रखनेवाला दोनों प्रकार के मनुष्य सुखी रहते हैं। दीर्घसूत्री (आलसी) विनष्ट हो जाता है। भावी खतरे को सोचकर सुन्दर नीति के प्रयोग द्वारा जो खतरा टाल देता है, उसको अपना जीवन संशय में नहीं डालना पड़ता। जो पुरुष यह सोचकर कि 'जब खतरा आयेगा तब देख लिया जायगा', पहले से ही खतरे के निवारण का प्रयत्न नहीं करता, उसका जीवन अवश्य संशय में रहता है। प्रत्युत्पन्नमति संकट आने पर बुद्धिमानी से भाग निकलता है पर दीर्घसूत्री अन्तमें मारा ही जाता है।

एक वृक्ष के समीप में ही लोमश नामक बिल्ला और पलित नामक मूषक रहता था। बिल्ला जाल में फँसा था, पलित भी साँप एवं श्येन जैसे दो-दो शत्रुओं से घिरकर संकट में पड़ गया। बुद्धिमान् पलित ने बिल्ले से संधि का प्रस्ताव किया, उसे जाल काट देने का वचन दिया। बिल्ले ने भी पलित के रक्षण का आश्वासन दिया। दोनों की संधि हुई, मूषक जाल में फँसे बिल्ले के पास कूदकर पहुँच गया :

अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति।
सामर्थ्ययोगात् कार्याणामनित्या वै सदा गतिः॥
तस्माद्विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत्।
देशंकालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये॥
सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः।
अमित्रैरपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत॥
यो ह्यमित्रैर्नरो नित्यं न सन्दध्यादपण्डितः।
न सोऽर्थं प्राप्नुयात् किञ्चित् फलान्यपि च भारत॥
(१३८.१३-१७)

काय (अर्थात्, देश, काल, परिस्थिति) के अनुसार शत्रु भी मित्र हो जाता है और मित्र भी भड़क जाता है। अतः कोई नित्य ही शत्रु हो या नित्य ही मित्र रहे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए देश, काल और अवसर के अनुसार शत्रु पर विश्वास भी करना पड़ता है और विग्रह भी करना पड़ता है। इसलिए हित चाहनेवाले बुद्धिमान् लोगों को चाहिए कि कर्तव्याकर्तव्य निश्चित करके किसी भी नरम शर्त पर शत्रुओं के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए और हर

हालत में प्राणों की रक्षा करनी चाहिए। जो शत्रुओं से कभी भी सन्धि के पक्ष में नहीं रहता, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता। न तो उसे कुछ सम्पत्ति मिलती है और न सफलता ही।

यथा सन्धाय पलितो मार्जारेण तरस्विना।
बुद्धिमाश्रित्य चात्मानं ररक्ष बुद्धिसत्तमः॥

इसलिए जैसे सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् पलितनामक मूषक ने अपने से शाश्वतिक विरोध रखनेवाले बलवान् लोमश मार्जारसे सन्धि करके अपने प्राणों की रक्षा की, वैसे ही बुद्धिमान् लोगों को कार्य के अनुसार शत्रुओं से भी सन्धि करनी चाहिए।

कदाचिद् व्यसनं प्राप्य सन्धिं कुर्यान्मया सह।
बलिना सन्निकृष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः॥
कार्य इत्याहुराचार्या विषये जीवितार्थिना।
श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः॥
मम त्वमित्रे मार्जारे जीवितं सम्प्रतिष्ठितम्। (१३८.४५-४७)

मूषक ने सोचा कि बलवान् को भी विषय समम में जीवन-रक्षा के उद्देश्य से समीप में रहनेवाले शत्रु से मेल-मिलाप करना चाहिए, ऐसा नीतिशास्त्र के आचार्यों का मत है। शत्रु भी यदि बुद्धिमान् हो तो अच्छा, किन्तु मित्र भी मूर्ख हो तो अच्छा नहीं। इस समय मेरे जीवन की रक्षा मेरे शाश्वतिक शत्रु मार्जार के अधीन है। फलतः सन्धि करके मूषक ने अपना प्राण बचाव किया। उसके शत्रु निराश होकर हट गये। मूषक धीरे-धीरे जाल काटने लगा। बिल्ले ने शीघ्रता के लिए बार-बार अनुरोध किया। मूषक ने अपनी गति से ही जाल काटकर मार्जार को पाशमुक्त कर दिया।

इसीलिए कहा है कि जिस पर किसीका विश्वास नहीं जमता तथा जो किसी पर विश्वास नहीं करता, वे दोनों ही सदा अशान्त रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् लोग उन दोनों को अच्छा नहीं समझते :

यस्मिन्नाश्वसते कश्चिद्यश्च नाश्वसिति क्वचित्।
न तौ धीराः प्रशंसन्ति नित्यमुद्विग्नमानसौ॥ (१३८.५९)

कोई लकड़ी के सहारे गहरी, बड़ी नदी पार कर जाता है। वहाँ पुरुष लकड़ी को पार ले जाता है और स्वयं वह लकड़ी द्वारा ही पार जाता है :

कश्चित्तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम्।
स तारयति तत्काष्ठं स च काष्ठेन तार्यते॥ (१३८.६२)

अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते॥ (१३८.९५)

अनवसर में कार्य प्रारम्भ करने पर कर्ता का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वही कार्य यदि अवसर पर प्रारम्भ किया जाय तो उससे बहुत बड़ा कार्य बन जाता है। मूषक ने बिल्ले के आग्रह पर भी जाल काटने में शीघ्रता नहीं की। उसे भय था कि व्याघ्र के आने से पहले में जाल काट देता हूँ तो क्षुधातुर बिल्ला निश्चय हो मुझे खा जायगा। मूषक ने ठीक अवसर पर जब कि व्याध आया, शीघ्रता से जाल काट दिया। भयभीत बिल्ला तुरन्त जालमुक्त हो भाग गया। उसे मूषक के खाने का अवसर ही कहाँ था? व्याध के निराश चले जाने पर बिल्ले ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए मूषक से बहुत अनुरोध किया कि अब हम तुम मित्र हो गये। निःशंक हो साथ-साथ क्रीड़ा-विहार आदि करें। फिर भी चतुर मूषक ने स्पष्ट कह दिया कि चूहे-बिल्ले की मैत्री अवसर-विशेषमें ही हो सकती है, स्थायी नहीं।

कृत्वा बलवता सन्धिमात्मानं यो न रक्षति।
अपथ्यमिव तद्भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते॥
न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः।
अर्थतस्तु निबद्ध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥
(१३८.१०९-१०)

अर्थात् जो बलवान् से सन्धिकर अपनी रक्षा में सचेष्ट नहीं रहता, उसे किसी दिन बलवान् के आगे विना शर्त आत्मसमर्पण करना पड़ता है। जैसे अपथ्य भोक्ता द्वारा किया भोजन उसके हित में न होकर विनाश का ही कारण होता है, वैसे ही उक्त तथाविध सन्धि भी दुर्बल के विनाश का कारण होती है। स्वभावतः न कोई किसीका मित्र होता है और न कोई किसीका रिपु (शत्रु)। प्रयोजन-वशात् ही मित्र और शत्रु हुआ करते हैं।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति॥
(१३८.१४४.४५)

कारणात् प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात्॥
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः।
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम्॥
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह।
(१३८.१५१-५३)

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः।
मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्यार्थं प्रीयते जनः॥
(१३८.१५४-५५)

आत्मा हि सर्वदा रक्ष्यो दारैरपि धनैरपि। (१३८.१८१)
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा॥
समाहितश्चरेद्युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत्।
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्॥
नित्यं विश्वासयेदन्यान् परेषां तु न विश्वसेत्।
(१३८.१९३-९५)

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन्॥
न ह्यप्रमत्तश्चलति चलितो वा विनश्यति॥
(१३८.२०६-७)

अर्थात् जो विश्वास-योग्य नहीं, उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। किन्तु विश्वास-योग्य पुरुष पर भी अत्यन्त विश्वास नहीं करना चाहिए, कारण अत्यन्त विश्वास करने पर बाद में कारण न पटने पर वह विद्रोही हो जाय तो उसके उत्पन्न आशंका (भय) समूलघात (जड़मूल-सहित) विनाश कर देती है। कारणवश ही कोई प्रिय होता है और कोई द्वेषी। यह दुनिया मतलब की साथी है, कोई किसीका वस्तुतः प्रिय नहीं। सहोदर भाइयों या दम्पती में परस्पर प्रीति होती है। अन्यत्र बिना मतलब के किसीकी प्रीति नहीं होती। कोई दान से, कोई प्रिय बोलने से, तो कोई मन्त्र-होम, जपादि से प्रिय होता है। सभी अपने मतलब से ही प्रिय होते हैं। धन और स्त्री द्वारा भी अपनी सदा रक्षा करनी चाहिए। अपना और शत्रु का यदि समान प्रयोजन हो तो बलवान् शत्रु से प्रयोजनसिद्धि के लिए सन्धि कर और सर्वदा उससे सावधान रहना चाहिए। प्रयोजन सिद्ध होने के अनन्तर पुनः उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। अविश्वसनीय कथमपि विश्वास न करें। विश्वसनीय पर भी अत्यन्त विश्वास ठीक नहीं। दूसरों को सदा विश्वास दिलाते रहना चाहिए तथा स्वयं किसीका भी विश्वास नहीं करना चाहिए। अभीत होते हुए भी सदा आशंकित रहना चाहिए और बहुत विश्वास रखने की बात करते हुए भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

क्षत्रियों (शासकों) से सबके अपकार की सम्भावना रहती है, अपकार करके भी वे निरर्थक सान्त्वना देते रहते हैं। उन पर कथमपि विश्वास नहीं करना चाहिए। जान बूझकर यदि किसीका अपराध किया जाता है और उसमें बदला लेने की शक्ति है, तो वह जल्दी ही बदला ले लेता है। कोई भी जान-बूझकर किया हुआ अपराध हजम नहीं कर पाता। यदि करनेवाले को पापका फल नहीं मिलता

तो उसके लड़के को मिलता है। लड़के को नहीं मिलता तो पौत्र को मिलता है, नाती (दौहित्र)को मिलता है। जिनका कुछ काम अपने से बिगड़ जाय, उन पर विश्वास न करना ही सुखदायी होता है। विश्वासघाती पर एकदम विश्वास नहीं करना चाहिए। राजन्, लोग हृदय में वैर छिपाकर भी ऊपर से सान्त्वना देते हैं और मौका आने पर उसे ऐसा पीस डालते हैं, जैसे पूर्णघट को पत्थर पर पटककर फोड़ दिया जाता है। भाग्य और पुरुषार्थ एक दूसरे के सहारे फलते-फूलते हैं। उदार लोग सत्कर्म को ही महत्त्व देते हैं। निकम्मे लोग सब कुछ भाग्य पर टालते रहते हैं। प्रजापालन के लिए ही शासकों को कभी कुछ कूटनीति का भी प्रयोग करना पड़ता है :

विशेषतः क्षत्रियों के लिए कहा गया है कि

क्षत्रियेषु न विश्वासः कार्यः सर्वापकारिषु।
अपकृत्यापि सततं सान्त्वयन्ति निरर्थकम् ॥ (१३९.१७)
इच्छेयेह कृतं पापं सद्यस्तं चोपसर्पति।
कृतं प्रतिकृतं येषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥
पापं कर्म कृतं किञ्चिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥ (१३९.२१–२२)
सर्वेषां कृतवैराणामविश्वासः सुखोदयः।
एकान्ततो न विश्वासः कार्यो विश्वासघातके ॥ (१३९.२८)
उपगृह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिप।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥ (१३९.७३)
दैवं पुरुषाकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात्।
उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीबा उपासते ॥ (१३९.८२)

प्रजा से कर ग्रहण कर जो उसका पालन नहीं करता वह राजा नहीं, किन्तु राजा के रूप में चोर है। जो राजा प्रजा को अभय देकर पैसे के लोभ से स्वयं अभयदान का उल्लंघन कर प्रजा का पीड़न करता है, वह अधर्मबुद्धि राजा सारी प्रजा का पाप अपने सिर पर रखकर नरक जाता है। प्रजापति मनु ने राजा के सात गुण बताये हैं। राजा ही प्रजा की माता, पिता, गुरु, रक्षक होता है। वह अग्नि है, कुबेर है और यम भी है। प्रजा पर अनुकम्पा करने से राजा राष्ट्र का पिता कहा जाता है। वह माता के समान दोनों का भी पालन करता है। अनिष्टोंका दहन करने के कारण वह अग्नि, दुष्टों का नियमन करने के कारण यम, इष्टपुरुषों की धनादि से सम्भावना करने के कारण मनोरथ पूर्ण करनेवाला कुबेर कहा जाता है। धर्म का पालन कराने से गुरु और रक्षा करने के कारण रक्षक होता है :

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत्।
न रक्षति प्रजाः सम्यक् यः स पार्थिवतस्करः॥
दत्त्वाऽभयं यः स्वयमेव राजा
न तत्प्रमाणं कुरुतेऽर्थलोभात्।
स सर्वलोकादुपलभ्य पापं
सोऽधर्मबुद्धिर्निरयं प्रयाति॥
माता पिता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः।
सप्त राज्ञो गुणानेतान् मनुराह प्रजापतिः॥
पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पनः।
सम्भावयति मातेव दीनमप्युपपद्यते।
दहत्यग्निरिवानिष्टान् यमयन्नसतो यमः॥
इष्टेषु विसृजन्नर्थान् कुबेर इव कामदः।
गुरुर्धर्मोपदेशेन गोप्ता च परिपालयन्॥
(१३९.१००–६)

आधुनिक लोकतन्त्र शासन के भी सत्ताधारी शासकों में राजोचित गुणों का संनिवेश होना चाहिए। सच्चरित्र एवं सन्नीतिनिष्ठ हुए बिना कोई भी शासक प्रजा-हित नहीं कर सकता।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृत्तपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः॥ (१४०.७)

राजा को चाहिए को सेना-समुद्योग (सैनिकों का प्रशिक्षण और अभ्यास) बराबर करता रहे और नित्य ही पराक्रम के लिए तैयार रहे। अपने छिद्र को कथमपि प्रकट न होने दे और शत्रु का छिद्र देखने के लिए सतत प्रत्नशील रहें तथा छिद्र मिलते ही आक्रमण करे। आपत्ति पड़ने पर अवसर के अनुसार राजा को शोभन मन्त्र, शोभन पराक्रम तथा शोभन अपक्रमण करना चाहिए, उसमें कुछ विचार नहीं करना चाहिए। वाणीमात्र से राजा को विनय का प्रदर्शन करना चाहिए और हृदय से क्षुर-जैसा व्यवहार करना चाहिए। काम-क्रोध का परिवर्जन करते हुए पहले ही मृदु भाषण करना चाहिए। जिस कार्य से शत्रु के समान अपना भी हित होता हो, उसके लिए शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए। सन्धि करके भी शत्रु पर विश्वास नहीं करना चाहिए। कार्य सम्पन्न हो जाने पर फिर वहाँसे हट जाना चाहिए। मूर्ख को भावी भय दिखाकर और विद्वान् के आगे तात्कालिक संकट का वातावरण खड़ाकर हाथ जोड़कर शत्रु को धोखा देना चाहिए। बाद में उसके आँसू भी पोंछने चाहिए। जबतक समय अनुकूल न हो, शत्रु को, कन्धे पर

चढ़ाकर भी ढोना पड़े तो ढोना चाहिए। जहाँ मौका लगे, पत्थर पर पटककर घड़े को जैसे फोड़ा जाता है, उसे फोड़ देना चाहिए। तेंदू का अलात (लुकाटी) जैसे जल उठना है, भले ही वह थोड़ी देर में शान्त हो जाता है; वैसे तेजस्वी पुरुष का थोड़ी देर का भी जीवन जाज्वल्यमान होना चाहिए; भूसे के अग्नि के समान धूमिल दीर्घजीवन अच्छा नहीं। अपने पोष्य का दूसरों से पोषण करना कोयल की विशेषता है। राजा को उसका अनुसरण करना चाहिए :

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत्॥
वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत्॥
सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा सन्धिं न विश्वसेत्।
अपक्रामेत् ततः शीघ्रं कृतकार्यो विचक्षणः॥
यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत्।
अनागतेन दुष्प्रज्ञं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम्॥
अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत्।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता॥
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।
प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिद्याद् घटमिवाश्मनि॥
मुहूर्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत्।
न तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायेत चिरं नरः॥
(१४०.१०–१४; १६–१९)

कृषि व्यापार, दुर्ग, सेतु, कुञ्जरबन्धन, खान, आकर (भण्डार) तथा कर-ग्रहण इन आठ स्थानों से अर्थसंचय होता है। जो किसान सौ बीघा जमीन जोतता है, उसे राजा की भी दस बीघा जमीन जोतनी चाहिए। अपने खेत के समान ही उसकी भी रक्षा करनी चाहिए तथा उसमें उत्पन्न अन्नादि राजा को देना चाहिए। जो व्यापारी सौ बैलों पर सामान लादकर ले जाता है, उसे राजा के भी दस बैल ले जाने चाहिए और उन बैलों का पोषण करना चाहिए। जहाँ यात्रा करने में दिक्कत होती है, ऐसे भयंकर जंगल में रक्षा के नाम पर यात्रियों से कर लेना चाहिए। इसी तरह सेतु (पुल) पर भी कर-ग्रहण करना चाहिए। ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिए।

लोकतन्त्र में उपर्युक्त सभी कार्य राष्ट्र के लिए किये जाते हैं। कर-ग्रहण में जो छठा हिस्सा लिया जाता है, वह खजाने की पूर्ति के लिए होता है। खजाना धर्म या शत्रुओं के उन्मूलन के लिए प्रयुक्त होता है।

इसी तरह मूलोत्खनन वराह का श्रेय है। उसका अनुसरण करते हुए राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं को जड़मूल से उखाड़ फेंके। राजा को मेरु के समान अचल और अनुल्लंघनीय होना चाहिए। खाली घर से सम्पत्ति और धान्यादि-परिपूर्णता होना सबको अभीष्ट है। राजा को भी सम्पत्ति और धनधान्यादि से परिपूर्ण होना चाहिए। नट नानारूप धारण करता है, वैसे ही राजा को भी स्निग्ध, प्रसन्न आदि अनेक गुण धारण करने चाहिए। जो भक्ति-प्रचुर मित्र है, वह अपने आराध्य का सदा अभ्युदय चाहता है; वैसे ही राजा को सदैव प्रजा का अभ्युदय अभीष्ट होना चाहिए :

कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत्॥ (१४०.२१)

राजा को कछुवे के समान अपने अङ्ग छिपाने चाहिए और विटकी तरह स्वयं की रक्षा करनी चाहिए। उसे बक के समान एकाग्र होकर विचार करना चाहिए, सिंह के समान निर्भय होकर पराक्रम दिखाना चाहिए। वृक के समान शीघ्रता से अपहरण करना चाहिए और बाण के समान लक्ष्य पर अवश्य पहुँचना चाहिए, बीच से लौटना नहीं चाहिए :

गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विटवदात्मनः॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत्॥ (१४०.२४-२५)

राजा को अवसर के अनुसार अन्धा और बहरा भी बन जाना चाहिए। कईबार देखी अनदेखी और सुनी अनसुनी करने में ही हित होता है :

अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत्। (१४०.२७)

परिस्थितिवशात् राजा को कभी किसीको बहुत आशा देकर भी उसे पूरा नहीं करना चाहिए। कथंचित् सफलता दिखाना अनिवार्य हो जाय, तो ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देनी चाहिए, जिससे आशा रखनेवाला कुछ प्रार्थना ही न कर सके। अपनी अपरिपक्क स्थिति में भी दूसरों को परिपक्वता ही दिखानी चाहिए। किसीके सम्मुख दीनता नहीं दिखानी चाहिए :

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरासदः।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च शीर्यंत कस्यचित्॥ (१४०.३१)

जबतक भय उपस्थित न हो जाय तबतक उससे डरते हुए प्रतीकार करने

का उपाय करना चाहिए। किन्तु भय उपस्थित ही हो जाय तो निर्भय होकर प्रहार कर देना चाहिए :

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत्॥ (१४०.३३)

खतरे में अपने आपको डाले बिना कोई महत्त्वपूर्ण कल्याणकारी भद्र वस्तु मिल नहीं सकती। वैसा करने पर यदि जीवन शेष रह जाता है, तो महत्त्वपूर्ण पदार्थ अवश्य मिलता है :

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥ (१४०.३४)

भविष्य सोचकर भावी भय पर पहले से ही नियन्त्रण कर लेना चाहिए। भय नियन्त्रित हो जाने पर भी सर्वदा भय की वृद्धि के डर से साशंक ही रहना चाहिए।

अनागतं विजानीयाद् यच्छेद् भयमुपस्थितम्।
पुनर्वृद्धिभयात् किञ्चिदनिवृत्तं निशामयेत्॥ (१४०.३५)

माननीय महर्षियों ने त्रिगुण संसार को पारकर निस्त्रैगुण्य परब्रह्मकी प्राप्ति के ही उद्देश्य से धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्वर्ग का वर्णन किया है। सभी पुरुष एक मार्ग से नहीं चल सकते, अतः सत्वर जगत् के अनुसार विभिन्न अधिकारियों के लिए सभीका ही उपयोग है। ज्ञातव्य है नीति का वर्णन इष्ट है; तथापि अधिकारानुसार अर्थप्रधान कूटनीति का भी वर्णन किया गया है। उसके बिना नीति का वर्णन अपूर्ण ही कहा जा सकता था। अर्थ-प्रधान नीति में कभी-कभी धर्म का तात्कालिक संकोच भी संभव हो जाता है।

कोमल या कठोर जिस किसी कर्म से पहले अपनी दीनता दूर करनी चाहिए। शक्तिशाली होकर पुनः धर्म का आचरण करना चाहिए :

कर्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्॥ (१४०.३८)

शत्रु से नित्य सशंक रहना चाहिए। कभी-कभी अशंक्य से भी शंका करनी चाहिए। कारण, यदि कभी अशंक्य से भय उत्पन्न हुआ तो वह जड़मूल से खोदकर फेंक देता है :

अशङ्क्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात् ।
भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति ॥ (४०.४५)

दूसरे का मर्म दुखाये बिना, दारुण कर्म किये बिना जैसे मछुआ मछली नहीं पकड़ता, वैसे ही बिना दूसरे का मर्म दुःखाये और दारुण कर्म किये महती लक्ष्मी भी प्राप्त नहीं होती :

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ (१४०.५०)

प्रहार करने की इच्छा रखते हुए भी प्रिय बोलना चाहिए। प्रहार करके अत्यन्त प्रिय बोलना चाहिए। तलवार से सिर काटकर भी शोक करना और रोना भी चाहिए :

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहृत्य च प्रियोत्तरम् ।
असिनाऽपि शिरश्छित्त्वा शोचेत च रुदेत च ॥ (१४०.५४)

कठोर वचन सहते हुए, शान्ति से सम्मानपूर्वक लोकाराधन की भावना से दूसरों को अपने पास आने के लिए निमन्त्रण देना चाहिए :

निमन्त्रयीत सान्त्वेन सम्मानेन तितिक्षया ।
लोकाराधनमित्येतत् कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ (१४०.५५)

ऋण का शेष, अग्नि का शेष और शत्रु का शेष रहने पर वह बार-बार बढ़ता ही है। अतः इनका शेष कभी नहीं रहने देना चाहिए। पैर में गड़ा काँटा भीतर कुछ रहकर टूट जाय तो बहुत दिनोंतक विकार पैदा करता है :

ऋणशेषमग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥ (१४०.५८)
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् । (१४०.६०)

राजा को चाहिए कि वह गृध्र के समान दूरदर्शी, बक के समान निश्चल, कुत्ते के समान जागरूक, सिंह के समान पराक्रमी, काक के समान दूसरे की चेष्टा समझनेवाला और सर्प के समान दूसरे के बिल (किले) में अकस्मात् प्रवेश करनेवाला और बिना घबराये यह सब करनेवाला हो :

गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः ।
अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजङ्गचरितं चरेत् ॥ (१४०.६२)

शूर-वीरों को प्रणामादि द्वारा अपने अनुकूल बनाना चाहिए; डरपोक को भेद द्वारा डरा-धमकाकर, लोभी को कुछ सोना आदि देकर अनुकूल बनाना चाहिए और समान के साथ विग्रह करना चाहिए :

शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत् ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ॥ (१४०.६३)

जब दल का मुखिया फूट जाय और अपने मित्रों से भी अन्य लोग अनुनय-विनय करने लगें तो उस समय विशेष ध्यान देना चाहिए कि अपने मन्त्री न फूटें और न सब मन्त्रियों का ऐकमत्य हो जाय; क्योंकि ऐसा होने पर तत्काल शासन हाथ से निकल सकता है :

श्रेणीमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च ।
अमात्यान् परिरक्षेत भेदसङ्घातयोरपि ॥ (१४०.६४)

जो राजा अवसर के अनुसार मृदु और अवसर के अनुसार तीक्ष्ण होता है, वह अपना काम बनाकर शत्रुओं पर अधिकार जमा लेता है। आपत्तिकाल में ऐसा करने में कोई दोष नहीं है, उससे भिन्न काल में दोष है ही। कूटनीति वस्तुतः आपत्काल के लिए ही उपयुक्त है। स्वाभाविक रूप से धर्मनियन्त्रित राजा द्वारा सर्वहितकारी मार्ग ही आदरणीय होता है।

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ॥ (१४०.६७)

अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का परिरक्षण और शोभन वृष्टि राजा के ही कारण होती है और राजा से ही प्रजा में सामुदायिक रोग (हैजा, प्लेग आदि), सामुदायिक मरण और सामुदायिक भय होता है :

राजमूला महाबाहो योगक्षेमसुवृष्टयः ।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥ (१४१.९)

भीष्म पितामह ने कहा कि मैं मानता हूँ कि कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये सभी युग राजमूलक ही होते हैं। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं :

कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः ।
विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत्तदा ॥ (१४१.११)

अर्थात् इतिवृत्त एवं ऐसे विषम समय में भूत और भविष्य के ज्ञानबल से

जीवननिर्वाह करना चाहिए। चारचक्षु राजा अतीत का अध्ययन, वर्तमान का अनुभव तथा भविष्य का अनुमान करके जो नीति-निर्धारण करता है, वह कभी विफल नहीं होता।

आपत्ति-काल में बड़े लोगों को भी चोरी करनी चाहिए। विशेषतः प्राण-रक्षा के लिए चोरी निन्दित नहीं :

> आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टसमहीनतः।
> विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्तव्यमिति निश्चयः॥ (१४१.३९)

आफत का मारा हुआ व्यक्ति जिस किसी क्षुद्र से क्षुद्र उपाय द्वारा भी जीवन धारण करे और समर्थ होने पर पुनः धर्मानुष्ठान में लग जाय :

> येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित्।
> अभ्युज्जीवेत् सावमानः समर्थो धर्ममाचरेत्॥ (१४१.१६)

हे भरतवंश श्रेष्ठ युधिष्ठिर, आपत्ति-काल में भी शुक्राचार्य ने क्षत्रिय के लिए दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का परिपालन कर्तव्य बताया है :

> अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम्।
> एवं शुक्रोऽब्रवीद् धीमानापत्सु भरतर्षभ॥ (१४२.३४)
> नैकशाखेन धर्मेण राज्ञो धर्मो विधीयते।
> दुर्बलस्य कुतः प्रज्ञा पुरस्तादनुपाहृता॥ (१४२.७)

अर्थात् धर्म की अनेक शाखाएँ हैं, किसी एक शाखा से ही राजा के धर्म का विधान नहीं किया गया है। अध्ययनकाल में जिसने सम्पूर्ण अध्ययन नहीं किया, केवल एकदेश का ही अध्ययन किया है, वह ज्ञानदुर्बल पुरुष समीचीनतया धर्माधर्मनिर्णय नहीं कर सकता। देश-काल-भेद परिस्थिति-भेद, आपत्, संयम-भेद तथा अधिकार-भेद से धर्माधर्म में वैविध्य होता जाता है। सांगोपांग अध्ययन से ही समुचित निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

एक ही कर्म किसी स्थिति में धर्म तो किसी स्थिति में अधर्म होता है। जिसे कर्मों की इस द्वैधता का ज्ञान नहीं, वह द्वैधता के संकट में पड़ जाता है। किसी-की रक्षा से धर्म होता है, किन्तु चोर की रक्षा से अधर्म ही होता है। अध्ययन-काल में ही यह सारा ज्ञान सम्पादन कर लेना चाहिए :

> अद्वैधज्ञः पथि द्वैधे संशयं प्राप्तुमर्हति।
> बुद्धिद्वैधं वेदितव्यं पुरस्तादेव भारत॥ (१४२.८)

अगले वर्ष प्रजा से छठे हिस्से का आधा या तिहाई लेने का निश्चय करके आपत्तिकाल में उससे जबर्दस्ती छठे हिस्से का सवाई या डेढ़ा लेना मूढ़दृष्टि से पाप हो सकता है, पर प्राज्ञदृष्टि से नहीं। आपत्ति-काल में राष्ट्रहित की दृष्टि से दुश्मन द्वारा राष्ट्र पर आक्रमण किये जाने पर आज भी शासन को विशेषाधिकार मिल जाया करता है, जिससे किसी भी नागरिक के धन, भवन, वाहन आदि पर सरकार अधिकार कर लेती है।

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि धर्मस्य परिपन्थिनः।
वैषम्यमर्थविद्यानां निरर्थाः ख्यापयन्ति ते॥ (१४२.११)

धर्मशास्त्र-विरुद्ध अर्थशास्त्र सर्वथा अनादरणीय है, ऐसा कहनेवाले धर्म के शत्रु और शास्त्र-चोर हैं। वे बेकार ही अर्थशास्त्र का अप्रामाण्य ख्यापन करते हैं। धर्म का निर्णय केवल, बुद्धि अथवा केवल शास्त्र से नहीं, किन्तु दोनों के सामंजस्य से ही होता है। **आततायी ब्राह्मणोऽपि हन्तव्यः** (आततायी भले ही ब्राह्मण हो, उसका वध कर देना चाहिए) आदि वचन **कामतो ब्राह्मणं हन्तुः प्रायश्चित्तं न विद्यते** (जानबूझकर मारने की नीयत से ब्रह्महत्या करनेवाले के लिए कोई शोधक प्रायश्चित्त ही नहीं) इससे विरुद्ध होने पर भी निष्कारण नहीं प्रवृत्त होते। किन्तु उनका तात्पर्य यही है कि आततायी का वध अवश्य विधेय है। वह आततायी 'ब्राह्मण के वध' का विधान नहीं कर सकता। जैसे **को हि तद्वेद यद्यमुष्मिंल्लोकोऽस्ति न वेति** (अर्थात् कौन जानता है कि परलोक में कुछ है भी या नहीं) यह वचन परलोक-सन्देहकारक नहीं; किन्तु **दिक्षु अतीकाशान् करोति** (परलोक में कुछ है या नहीं; हम लोग तो यहीं धूप से मरे जा रहे हैं, इसलिए ऊपर मण्डप में प्रत्येक दिशा में अतीकाश, खुली जगह बनानी चाहिए) इस विधिका प्रशंसक है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।

कुछ लोग स्वधीत युक्त्यनुगृहीत शास्त्र से आततायिवध बोधित होने पर भी अहिंसाशास्त्र को प्रबल मानते हुए आततायी के वध का समर्थन नहीं करते। उनका कहना है कि जैसे गौ मारने के लिए उद्यत हो तो उससे अपना बचाव कर लेना चाहिए, किन्तु उसे मारना नहीं चाहिए।

लोकयात्रामिहैके तु धर्मं प्राहुर्मनीषिणः।
समुद्दिष्टं सतां धर्मं स्वयमूहेत पण्डितः॥ (१४२.१९)

किन्तु मुख्य आचार्य लोग जिससे लोकयात्रा का निर्वाह हो उसीको 'धर्म' मानते हैं। चौरादिवध के बिना लोकयात्रा असम्भव है, अतः उनकी दृष्टि में हिंसा भी कर्तव्य ही है। इसीलिए कल्पसूत्रकारों ने श्रुति उद्धृत की है :

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि अनेन अभिशंसति । स्तेनः प्रमुक्तो राजनि याचन्ननृतसङ्करे । गुरौ याजश्च शिष्यश्च भर्तुर्व्यभिचारिणीति मार्ष्टि स्त्रियश्च पापमिति शेषः ।

इस तरह मतभेद होने पर भी धर्म का 'ऊह' करना चाहिए ।

प्रमुक्त चोर राजा पर अपना पाप डालता है । भ्रूणहा अपना पाप अन्नाद पर डालता है । निष्पाप प्राणी निन्दा करनेवाले में अपने पाप का मार्जन करता है । संग्राम में प्राणभिक्षा माँगनेवाला कूटयोधी में यजमान एवं शिष्य गुरु में पापमार्जन करता है ।

अमर्ष, शास्त्रसंमोह (शास्त्र का यथार्थ तात्पर्य न समझना) और अज्ञान से समूह में शास्त्रार्थ-व्याख्यान करते हुए विद्वान् का शास्त्र लुप्त हो जाता है । अतः इन सबसे दूर हटकर प्रकृतिस्थ होकर शास्त्रार्थ-निर्णय करना चाहिए :

अमर्षाच्छास्त्रसंमोहादविज्ञानाच्च भारत ।
शास्त्रं प्राज्ञस्य वदतः समूहे यात्यदर्शनम् ॥ (१४२.२०)

श्रुत्यनुगृहीत और तर्कयुक्त वचन से ही धर्म प्रशस्त होता है, न केवल श्रुति से और न केवल तर्क से । कुछ लोग तर्कनिरपेक्ष वचन को ही धर्म में प्रमाण मानते हैं: क्योंकि वह अज्ञात का ज्ञापक होता है । दूसरे लोग युक्तिहत वचन को व्यर्थ मानते हैं, प्रमाण नहीं मानते । किन्तु ये दोनों ही अज्ञानी हैं । इसलिए तर्क से शास्त्रका और शास्त्र से तर्क का बाधन करके उभयसम्मत धर्म ही प्रयोग में लाना चाहिए, यह शुक्राचार्य का मत है । बृहस्पति के मत से भी इसकी एकवाक्यता है ।

आगतागमया बुद्ध्या वचनेन प्रशस्यते ।
अज्ञानाज्ज्ञानहेतुत्वाद् वचनं साधु मन्यते ॥ (१४२.२१)

जैसे बकरे के हित के लिए उसे यज्ञ में ले जाया जाता है, वैसे ही अश्व और क्षत्रिय को उनको हित के लिए युद्ध में ले जाया जाता है ।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

यह शास्त्र-वचन इसमें प्रमाण है । यज्ञ में मारे पशु के लिए स्वर्ग-प्राप्ति कही गयी है । इसमें निम्नलिखित वेदवचन प्रमाण है :

पशुर्वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत् । स देवान्नान्वकामयत ।
तं देवा अब्रुवन्-एहि, स्वर्गं वै त्वा लोकं गमयिष्यामः ।

दण्ड का प्रयोग ब्राह्मण से नीचे ही सीमित है । ब्राह्मण दण्डच नहीं, पूज्य ही होता है । ब्राह्मणों के साथ नित्य देवों जैसा व्यवहार करना चाहिए । ब्राह्मणों ने

क्रोध में आकर अनेक प्रकार के भीषण कर्म किये हैं। ब्राह्मणों की प्रसन्नता से मुख्य यश और नाराजी से परम भय प्राप्त होता है। प्रसन्न होने पर ब्राह्मण अमृत-तुल्य होते हैं तो क्रुद्ध होने पर विषतुल्य :

या देवतासु वृत्तिस्ते साऽस्तु विप्रेषु नित्यदा।
क्रुद्धैर्हि विप्रैः कर्माणि कृतानि बहुधा नृप॥
प्रीत्या यशो भवेन्मुख्यमप्रीत्या परमं भयम्।
प्रीत्या ह्यमृतवद्विप्राः क्रुद्धाश्चैव विषं यथा॥ (१४२.३७ ३८)

जनमेजय ने कहा कि विप्रवर ! मैं आपका चरण-स्पर्श कर कह रहा हूँ कि वाणी, मन और कर्म से कभी भी ब्राह्मणों का द्रोह नहीं करूँगा :

नैव वाचा न मनसा पुनर्जातु न कर्मणा।
द्रोग्धाऽस्मि ब्राह्मणान् विप्र चरणावपि ते स्पृशे॥ (१५१.२२)

जैसे पर्वतारूढ पुरुष भूमितलगत लोगों को देखता है, वैसे ही प्रज्ञारूप महल पर चढ़ा हुआ व्यक्ति स्वयं अशोच्य होकर प्रज्ञाविहीन लोगों के लिए सोचता है :

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान्।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः प्रज्ञया प्रतिपत्स्यति॥ (१५१.११)

इसी प्रकार शरणागत-रक्षण भी राजा का परम धर्म है।

एकबार पाप करने पर पश्चात्तापमात्र से तो दुबारा पाप करने पर 'पुनः ऐसा नहीं करूँगा' ऐसी शपथ लेनेपर पाप से छुटकारा मिल जाता है। तीसरी बार पाप करने पर धर्म का ही पालन करने की प्रतिज्ञासे पाप से छुटकारा मिलता है तो बहुत बार पाप करने पर तीर्थस्नानादि से वह दूर होता है :

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
नैतत्कार्यं पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते॥
करिष्ये धर्ममेवेति तृतीयात् परिमुच्यते।
शुचिस्तीर्थान्यनुचरन् बहुत्वात् परिमुच्यते॥ (१५२.२३-२४)

महान् बनने के लिए सदा कल्याणप्रद कर्म ही करना चाहिए। तपःपरा-यण प्राणी तत्काल पाप से छूट जाता है :

कल्याणमनुकर्तव्यं पुरुषेण बुभूषता।
तपश्चर्यापरः सद्यः पापाद्विपरिमुच्यते॥ (१५२.२५-२६)

अज्ञानपूर्वक पाप करनेवाला यदि बुद्धिपूर्वक सत्कर्म का आचरण करता है, तो वह वैसे ही पाप से मुक्त हो जाता है जैसे क्षारयुक्त वस्त्र मलसम्पर्क से शून्य हो जाता है :

कृत्वा पापं पूर्वमबुद्धिपूर्वं पुण्यानि चेत्कुरुते बुद्धिपूर्वम्।
स तत्पापं नुदते कर्मशीलो वासो यथा मलिनं क्षारयुक्तम्॥ (१५२.३४)

मात्सर्यशून्य होकर श्रद्धालुजन पाप करके कर्तृत्वाभिमान नहीं करता तो वह कल्याण ही करना चाहता है, अकल्याण नहीं :

पापं कृत्वाऽभिमन्येत नाहमस्मीति पुरुषः।
तच्चिकीर्षति कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः॥ (१५२.३५)

इसलिए बाल, जड़, अन्ध, बधिर और अपने से अधिक-बलशाली की बात सह लेनी चाहिए और यह बात हे शत्रुहन्ता, तुममें देखी जाती है :

तस्मात् क्षमेत बालाय जडान्धबधिराय च।
बलाधिकाय राजेन्द्र तद्दृष्टं त्वयि शत्रुहन्॥ (१५७.१३)

बहुश्रुत होना, स्वधर्माचरण करना, दान, श्रद्धा (आस्तिकता) सोमसंस्था आदि, किसीके द्वारा निन्दा किये जाने या ताड़न करने पर भी मन में विकार न आना, निष्कपटता, दया, सत्य (हिंसाशून्य यथार्थ वचन) और इन्द्रिय-निग्रह ये ही धर्म की सम्पत्ति हैं। ये ही धर्म और अर्थ के मूल हैं, यह मेरा निश्चित सिद्धान्त है :

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः।
एतन्मूलौ हि धर्मार्थौ एतदेकपदं हि मे॥ (१६७.५-६)

राजन्, विद्वान् लोग धर्म को श्रेष्ठ, अर्थ को मध्यम और काम को हीन कहते हैं। अतः जितेन्द्रिय होकर प्रधानतया धर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिए। सभी प्राणियों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा अपने साथ :

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः॥
तस्मात् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि॥ (१६७.८-९)

कोई वार्ता की, कोई अर्थ की तो कोई काम की प्रशंसा करते हैं; किन्तु

धर्म, अर्थ, काम का समान रूप से ही परस्पर अविरोधेन सेवन करना चाहिए। जो एक में ही निरत होता है, वह मनुष्य जघन्य है। जो अर्थ और काम के सम्पादन में प्रवीण है वह मध्यम है। किन्तु जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के साधन में निरत है वही उत्तम है। उसमें भी सर्वोत्कृष्ट उत्तम वही है जो पाप, पुण्य, अर्थ, धर्म, काम किसीमें निरत नहीं। ऐसा व्यक्ति रागादि दोषों से हीन होकर मिट्टी के ढेले और सुवर्ण में समबुद्धि रखता हुआ सभी कर्म-जालों से छुटकारा पा जाता है :

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे॥
यो वै न पापे निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः॥
(१२७.४०,४४)

अवश्य ही यह पक्ष सर्वसाधारण के लिए कठिन है। राजधर्म के अनुसार सन्धि और विग्रह अनिवार्य होता है। फिर भी निम्नोक्त श्रेणी के लोगों से कभी सन्धि नहीं करनी चाहिए :

लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतिः शठ एव च।
क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशङ्की तथाऽऽलसः॥
दीर्घसूत्रोऽनृजुः क्रुष्टो गुरुदारप्रधर्षकः।
व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः॥
सर्वतः पापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः।
सम्प्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामं निरतश्चरेत्॥
असत्यो लोकविद्विष्टः समये चाऽनवस्थितः।
पिशुनोऽथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः॥
दुःशीलोऽथाऽकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा।
मित्रैरपकृतिर्नित्यमिच्छतेऽर्थं परस्य यः॥ (१६८.६-१०)

अर्थात् लोभी, क्रूर, धर्मपरित्याग करनेवाले, छल-कपट करनेवाले, शठ, क्षुद्र पाप-परायण सर्वशंकी तथा आलसी, विलम्ब से कार्य करनेवाले, कुटिल, लोकनिन्दित, गुरुस्त्रीगामी, विपत्ति में परित्याग करनेवाले, दुष्ट, निर्लज्ज, सर्वत्र पाप-भावना रखनेवाले, वेदनिन्दक, नास्तिक, यथेच्छ आहार-विहार करनेवाले, मिथ्याभाषी, लोकविद्विष्ट, मर्यादा उल्लंघन करनेवाले, चुगलखोर, शास्त्र-विरुद्ध बुद्धिवाले, डाह रखनेवाले, पापनिश्चयी, दुःशील, अजितेन्द्रिय, निष्ठुर, जुआरी और नित्य ही मित्रों से दूसरों का अपकार ही कराने की बात सोचनेवाले।

दत्तश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः ।
अमैत्रमपि यो युङ्क्ते सदा मित्रं नरर्षभ ॥
अस्थानक्रोधनोऽयुक्तो यश्चाकस्माद् विरुद्ध्यते ।
सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्बिषी ॥

अर्थात् जो मूर्ख यथाशक्ति देने पर भी सन्तुष्ट नहीं होता और जो अविरत मित्र को काम में लगाया करता है, बेमौके क्रोध करनेवाला, असावधान, अकस्मात् विरोधी बननेवाला और भूल से कुछ अपकार हो जाने पर या थोड़ा भी अपकार हो जाने पर अच्छे मित्रों का परित्याग करनेवाला, मतलब के लिए मित्रों की सेवा करनेवाला, मित्रद्वेषी, मित्रमुख शत्रु कुटिलता से व्यवहार करनेवाला, विपरीत दृष्टि, मद्यपान करनेवाला, द्वेषी, क्रोधी, निर्दय, रूक्ष, परोपतापी, मित्र-द्रोही, प्राणियों का वध करनेवाला, कृतघ्न, अधम और दोषदर्शी है, उससे कभी सन्धि नहीं करनी चाहिए । अब जिनसे सन्धि की जा सकती है उन्हें भी सुनो । निम्नोक्त श्रेणी के लोगों से सन्धि अत्यन्त लाभदायक होती है :

अल्पेऽप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात् कृतेऽपि च ।
कार्यसेवी च मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप ॥
शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोचनः ।
न विरज्यति कल्याणे यस्त्यजेत् तादृशं नरम् ॥
पानपो द्वेषणः क्रोधी निर्घृणः परुषस्तथा ।
परोपतापी मित्रध्रुक् तथा प्राणिवधे रतः ॥
कृतघ्नश्चाधमो लोके न सन्धेयः कदाचन ।
छिद्रान्वेषी ह्यसन्धेयः सन्धेयानपि मे शृणु ॥ (१६८.११–१६)

अर्थात् जो कुलीन, बोलने में समर्थ, ज्ञान-विज्ञान में कुशल, रूपवान्, गुणवान्, लोभहीन, काम करने में कभी न थकनेवाले, अच्छे मित्रों से सम्पन्न, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, निरन्तर व्यायामशील, अच्छे कुल में उत्पन्न, कुल का सञ्चालन करनेवाले हैं, ऐसे निर्दोष एवं सुप्रसिद्ध लोगों से राजा को सन्धि करनी चाहिए :

कुलीना वाक्यसम्पन्ना ज्ञानविज्ञानकोविदाः ।
रूपवन्तो गुणोपेतास्तथाऽलुब्धा जितश्रमाः ॥
सन्मित्राश्च कृतज्ञाश्च सर्वज्ञा लोभवर्जिताः ।
माधुर्यगुणसम्पन्नाः सत्यसन्धा जितेन्द्रियाः ॥
व्यायामशीलाः सततं कुलपुत्राः कुलोद्वहाः ।
दोषैः प्रमुक्ताः प्रथितास्ते ग्राह्याः पार्थिवैर्नराः ॥ (१६८.१७–१९)

यथाशक्ति समाचाराः सम्प्रतुष्यन्ति हि प्रभो।
नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद्विरागिणः॥
विरक्ताश्च न दुष्यन्ति मनसाऽप्यर्थकोविदाः।
आत्मानं पीडयित्वाऽपि सुहृत्कार्यपरायणाः।
विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम्॥
क्रोधाच्च लोभमोहाभ्यां नानर्थं युवतीषु च।
न दर्शयन्ति सुहृदो विश्वस्ता धर्मवत्सलाः॥
लोष्ठकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्सु दृढबुद्धयः।
ये चरन्त्यभिमानानि सृष्टार्थमनुषङ्गिणः॥
संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा।
ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैर्यः सन्धिं कुरुते नृपः॥
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव।(१६८.२०–२५)

अर्थात् यथाशक्ति मर्यादा-पालन करनेवाले, सन्तोषी, उचित अवसर पर क्रोध करनेवाले अकस्मात् प्रेम न तोड़नेवाले, विरागी होकर भी मनसे द्वेष न करनेवाले, स्वयं कष्ट सहकर भी मित्र का कार्य करनेवाले, जैसे भेड़ के बाल का कम्बल कभी रंग नहीं छोड़ता वैसे ही मित्र से कभी विरक्त न होनेवाले, क्रोध में आकर मित्रों का अनर्थ करने में प्रवृत्त न होनेवाले, लोभ तथा मोह के वशीभूत होकर मित्रों की युवतियों पर अपनी आसक्ति न दिखलानेवाले, विश्वस्त तथा धर्मवत्सल, दूसरों की सम्पत्ति को ढेले के समान समझनेवाले, दृढ़ मैत्री रखनेवाले, शास्त्रों को पूर्ण प्रमाण मानकर उनका अनुसरण करनेवाले, आत्मसम्भावनाशून्य, परिजनों के लिए संग्रही और सदा मालिक के काम का ध्यान रखनेवाले श्रेष्ठपुरुषों से जो राजा सन्धि करता है, चन्द्र की चाँदनी की तरह उसका राज्य सर्वत्र फैल जाता है।

शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो रणे सदा।
जन्मशीलगुणोपेताः सन्धेयाः पुरुषोत्तमाः॥ (१६८.२५-२६)

नित्य शास्त्रविश्वासी, जितक्रोध और युद्ध में नित्य ही पराक्रम दिखानेवाले, जन्म से ही शील और गुणी पुरुषों से सन्धि करनी चाहिए।

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥
क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः॥ (१७२.२५-२६)

ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी और व्रतभंग का प्रायश्चित्त तो शास्त्रों में बताया

गया है; किन्तु कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित्त है ही नहीं। कच्चा मांस खानेवाले जानवर और कृमि भी कृतघ्न का मांस नहीं खाते।

सदा कृतज्ञ होना चाहिए और सदा मित्र बनाने की कामना रखनी चाहिए। मित्र से ही सब कुछ मिलता है और मित्र से ही पूजा होती है :

कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चैव ह।
मित्राच्च लभते सर्वं मित्रात् पूजां लभेत च॥ (१७३.२२)

मित्र से ही भोग प्राप्त होता है और मित्र से ही आपत्ति से छुटकारा मिलता है। बुद्धिमान् को उत्तम सत्कारों द्वारा मित्र की पूजा करनी चाहिए। पापी, कृतघ्न, निर्लज्ज, मित्रद्रोही, कुलाङ्गार, नीच पुरुष का परित्याग कर देना चाहिए :

मित्राद् भोगांश्च भुञ्जीत मित्रेणापत्सु मुच्यते।
सत्कारैरुत्तमैर्मित्रं पूजयेत विचक्षणः॥
परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो निरपत्रपः।
मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः॥ (१७३.२३-२४)

श्री प्रह्लादजी कह रहे हैं कि हे इन्द्र, मैं कृतप्रज्ञ, आशा एवं तृष्णा से रहित और आत्मदर्शी हूँ। अतः मुझे कोई आयास (श्रम) नहीं है। मैं प्रकृति एवं उसके विकारों से न तो प्रेम करता हूँ और न द्वेष। मेरी दृष्टि में न कोई द्वेष्टा है और न कोई ममता और स्नेह करनेवाला। गुणातीत ज्ञानी न तो निवृत्त सत्त्वमयी प्रकृति की आकांक्षा करता है और न प्रवृत्त राजस-तामस विकृतियों से द्वेष ही करता है। कारण वह सबका अन्तरात्मा है और सबसे निर्लेप है।

कृतप्रज्ञस्य दान्तस्य वितृष्णस्य निराशिषः।
नायासो विद्यते शक्र पश्यतो लोकमव्ययम्॥
प्रकृतौ च विकारे च न मे प्रीतिर्न च द्विषे।
द्वेष्टारं च न पश्यामि यो मामद्य ममायते॥ (२२२.३०-३१)

गीता भी कहती है :

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।

पहले महाराज बलि की बड़ी समृद्धि थी, कालक्रम से वह नष्ट हो गयी। तब इन्द्र ने पूछा कि तुम्हारा मन कैसा है ? बलि ने उत्तर दिया :

न त्वं पश्यसि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च ।
ब्रह्मदत्तां च मे मालां न त्वं द्रक्ष्यसि वासव ॥
गुहायां निहितानि त्वं मम रत्नानि पृच्छसि ।
यदा मे भविता कालस्तदा त्वं तानि द्रक्ष्यसि ॥
न हि दुःखेषु शोचन्ते न प्रहृष्यन्ति चर्द्धिषु ।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः ॥
(२२३.२६-२७,२९)

अर्थात् हे इन्द्र, तुम अभी हमारी सोने की झारी, छत्र, व्यंजन और ब्रह्मदत्त माला नहीं देख सकोगे । अभी तो हमारे ये सभी रत्न मूलप्रकृति में अन्तर्हित हैं , जब हमारा समय अनुकूल होगा, तब तुम पुनः इन्हें देख सकोगे । कृतप्रज्ञ ज्ञानतृप्त, क्षमाशील मनीषी सज्जन न तो विपत्ति में शोक में डूबते हैं और न सम्पत्ति में हर्षातिरेक से फूल ही उठते हैं ।

पुनः इन्द्र ने प्रश्न किया कि असुरराज ! पहले तुम्हारी प्रीति, आनन्दसामग्री अतुलनीय थी । सम्पूर्ण संसार तुम्हारे वश में था, पर आज तुम्हारा भयंकर पतन हो गया है । अपनी पहली अवस्था यादकर तुम्हें शोक होता है या नहीं ? :

प्रीतिं प्राप्यातुलां पूर्वं लोकांश्चात्मवशे स्थितान् ।
विनिपातमिमं बाह्यं शोचस्याहो न शोचसि ॥ (२२४.४)

तब बलि ने उत्तर दिया :

अनित्यमुपलक्ष्येह कालपर्यायधर्मतः ।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥
भूतानां निधनं निष्ठा स्रोतसामिव सागरः ।
नैतत् सम्यग्विजानन्तो नरा मुह्यन्ति वज्रधृक् ॥ (२२४. ५, ११)

हे इन्द्र, यह समस्त जगत् विनाशी है । कालक्रम से एक न एक दिन सबका नाश होगा, यह मैं जानता हूँ । अतः मुझे शोक नहीं होता । हे वज्रधारिन्, पुरुष ज्ञान से सभी पाप-तापों से छुटकारा पा जाता है । निष्पाप होकर शुद्ध सत्त्व प्राप्त करता है और मोहजनित कालुष्य छोड़ देता है ।

जहाँ कोई राजा अच्छे कुल में पैदा होकर, सुन्दर और प्रतापी होकर भी मन्त्रियों के साथ दुःखप्राय जीवन व्यतीत करता हुआ देखा जाता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि उसका वैसा ही भवितव्य है । इसी तरह बुरे कुल में व्यभिचार-जन्य मूर्ख भी कोई राजा अपने मन्त्रियों के सहित सुखमय जीवन व्यतीत करता है, तो वहाँ भी उसकी वैसी ही भावी समझनी चाहिए :

दृश्यते हि कुले जातो दर्शनीयः प्रतापवान्।
दुःखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत्तथा॥
दौष्कुलेयस्तथा मूढो दुर्जातः शक्र दृश्यते।
सुखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत्तथा॥ (२२४.३२-३३)

हे इन्द्र, जो तुम इस समय ऐश्वर्य में हो, यह कोई तुम्हारा प्रभाव नहीं और हम ऐश्वर्य-भ्रष्ट हैं, तो उसमें न हमारा कोई दोष है। सब कुछ काल से ही सम्पादित है :

नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र त्वया कृतम्।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यच्चाप्येवंगता वयम्॥ (२२४.३५)

हे इन्द्र, जिस अनुत्तम राज्यश्री को पाकर तुम समझ रहे हो कि हमारी समृद्धि टिकाऊ है, अब यह नहीं जा सकती, वह सब मिथ्या है; क्योंकि राज्य-लक्ष्मी कभी एक के हाथ में नहीं रहती। यह चंचला लक्ष्मी अबतक तुमसे विशिष्ट हजारों इन्द्रों के पास रही है। इस समय मुझे छोड़ तुम्हारे पास चली गयी है। इन्द्र, तुम पुनः ऐसा मत करो जिससे यह तुम्हें भी छोड़ दूसरे के पास चली जाय। यह सब सोचकर शान्त हो जाओ :

यामेतां प्राप्य जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम्।
स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति॥
स्थिता हीन्द्र सहस्रेषु त्वद्विशिष्टतमेष्वियम्।
मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद्विबुधाधिप॥
मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि।
त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति॥ (२२४.५८-६०)

जगत् का एक ही शास्ता अन्तर्यामी है, दूसरा कोई नहीं। उसीकी प्रेरणा से मैं कार्य कर रहा हूँ, जैसे कि जल निम्नस्थल से किसीकी प्रेरणा से उसके मन के अनुसार क्यारियों में या और कहीं जाता है :

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता।
तेनानुयुक्तः प्रवणादिवोदकं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि॥
(२२६.८)

बहुत बड़ा लाभ भी जिसे मोहित नहीं करता और जो विपत्ति से नहीं घबड़ाता, किन्तु मध्यमवृत्ति से सुख-दुःख दोनों को भोगता रहता है, वही धुरन्धर पुरुष कहलाता है :

यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत् तथैव काले व्यसनं न मोहयेत् ।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरन्धरो नरः ॥ (२२६.१६)

पुरुष को मात्र लब्धव्य का ही लाभ होता है, गन्तव्य स्थान में ही वह जाता है तथा प्राप्तव्य सुख-दुःख को ही प्राप्त करता रहता है। फलोन्मुख प्राक्तन कर्म ही 'दैव' है। सम्पूर्ण जगत् प्रायः दैवपराधीन होता है। अतः विद्वान् को शोक-मोहरहित होकर कर्तव्य-परायण होना चाहिए :

लब्धव्यान्येव लभते गन्तव्यान्येव गच्छति ।
प्राप्तव्यान्येव प्राप्नोति दुःखानि च सुखानि च ॥ (२२६.२२)

इन्द्र ने बलि से पुनः कहा कि तुम्हारी श्री नष्ट हो गयी है, तुम वैभव से भ्रष्ट हो गये हो; फिर भी तुम्हें शोक नहीं होता, यह बहुत ही कठिन है। तुम्हें छोड़ कौन दूसरा तीनों लोकों का राज्य नष्ट होने पर भी जीवित रहने का साहस कर सकता है ? :

नष्टश्रीर्विभवभ्रष्टो यन्न शोचसि दुष्करम् ।
त्रैलोक्यराज्यनाशे हि कोऽन्यो जीवितुमुत्सहेत् ॥ (२२७.१९)

इसपर बलि ने कहा :

कालः काले नयति मां त्वां च कालो नयत्ययम् ।
तेनाहं त्वं यथा नाद्य त्वं चापि न यथा वयम् ॥ (२२७.२९)

अर्थात् इन्द्र ! काल हमें इस अवनति की अवस्था में पहुँचा रहा है और तुम्हें भी उन्नत अवस्था में पहुँचा रहा है। इसलिए हम तुम्हारे समान उन्नत नहीं और न तुम ही हमारे समान अवनत हो।

अतिक्रम्य बहूनन्यांस्त्वयि तावदियं गता ।
कञ्चित्कालमियं स्थित्वा त्वयि वासव चञ्चला ।
गौर्निपानमिवोत्सृज्य पुनरन्यं गमिष्यति ॥ (२२७.४६-४७)

यह लक्ष्मी अन्य बहुत-से लोगों का उल्लंघन कर तुम्हारे पास आयी है। यह स्वभाव से ही चञ्चला है। पृथिवी जैसे एक राजा को छोड़ दूसरे राजा के पास चली जाती है, वैसे ही यह कुछ काल तुम्हारे पास ठहरकर फिर किसी दूसरे के पास चली जायगी। अतः तुम्हें शोककाल में अधिक शोक और हर्षकाल में अधिक हर्ष नहीं होने देना चाहिए। भूत और भविष्य की परवाह न कर वर्तमान काल में यथोचित व्यवहार करना चाहिए :

शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः।
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ॥ (२२७.६५-६६)

फिर इन्द्र ने कहा कि आप पदार्थों का तत्त्व समझानेवाले विद्वान् हैं। ज्ञान और तप से युक्त हैं। आप हस्तामलक के समान काल को देखते हैं :

भवांस्तु भावतत्त्वज्ञो विद्वान् ज्ञानतपोऽन्वितः।
कालं पश्यति सुव्यक्तं पाणावामलकं यथा ॥ (२२७.१०५-६)

आप कालचरित्र के तत्त्वज्ञ और सभी शास्त्रों के महाविद्वान् हैं। ज्ञानी भी आप जैसे होने की स्पृहा रखते हैं :

कालचारित्रतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
विवेचने कृतात्माऽसि स्पृहणीयो विजानताम् ॥ (२२७.१०६-७)

बलि की देह से लक्ष्मी निकल आयी और इन्द्र के पूछने पर उससे कहने लगी :

सत्ये स्थितास्मि दाने च व्रते तपसि चैव हि।
पराक्रमे च धर्मे च पराचीनस्ततो बलिः ॥
ब्रह्मण्योऽयं पुरा भूत्वा सत्यवादी जितेन्द्रियः।
अभ्यसूयद् ब्राह्मणानामुच्छिष्टश्चास्पृशद्घृतम् ॥ (२२५.१२-१३)

मैं सत्य, दान, व्रत, तप, पराक्रम और धर्म में स्थित रहती हूँ। बलि इन सबसे पराङ्मुख हो गया। पहले यह ब्राह्मणों का भक्त था, सत्यवादी और जितेन्द्रिय था। बाद में इसे ब्राह्मणों में ही दोषदृष्टि हो गयी और उच्छिष्ट होकर यह घृत का स्पर्श करने लगा। अर्थात् किसी प्रकार के प्रमाद से ही लक्ष्मी विमुख होती है।

धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ॥ (२२८.२६)

धर्मात्मा, महाबुद्धिमान्, ब्रह्मण्य, सत्यवादी और दानशील के पास ही मैं सदा निवास करती हूँ।

इन्द्र ने पूछा कि सुमुखि ! दैत्य लोग कैसा आचरण करते थे जिससे तुम उनके यहाँ निवास कर रही थी और क्या देखकर दैत्यों को छोड़ तुम देवताओं के पास आ गयी ? :

कथंवृत्तेषु दैत्येषु त्वमवात्सीर्वरानने।
दृष्ट्वा च किमिहागास्त्वं हित्वा दैतेयदानवान् ॥

श्री ने उत्तर दिया :

स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु धैर्यादचलितेषु च ।
स्वर्गमार्गाभिरामेषु सत्त्वेषु निरता ह्यहम् ॥
दाना - ऽध्ययन - यज्ञेज्या - पितृ - दैवतपूजनम् ।
गुरूणामतिथीनां च च तेषां सत्यमवर्तत ॥
सुसंमृष्टगृहाश्चासन् जितस्त्रीका हुताग्नयः ।
गुरुशुश्रूषका दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥
श्रद्धाना जितक्रोधा दानशीलानसूयवः ।
भृतपुत्रा भृतामात्या भृतदारा ह्यनीर्षवः ॥
अमर्षेण न चान्योन्यं स्पृहयन्ते कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ति धीराः परसमृद्धिभिः ॥
दातारः संगृहीतार आर्याः करुणवेदिनः ।
महाप्रसादा ऋजवो दृढभक्ता जितेन्द्रियाः ॥ (२२८.२९–३४)

अर्थात् देवराज इन्द्र ! सुन्दर स्वर्गमार्ग के लिए धैर्य से अविचलित होकर अपने धर्म का अनुष्ठान करनेवाले हमें अच्छे लगते हैं। आप भली भाँतिजान लें कि दैत्यों के यहाँ यथार्थरूप में दान, अध्ययन, यज्ञ-याग, पितृ-देव-पूजन तथा गुरुपूजा और अतिथि-सत्कार होता रहा। उनके घर साफ-सुथरे रहते थे। वे लोग स्त्रियों के वश में नहीं थे और अग्निहोत्र करनेवाले, गुरुसेवा करनेवाले, जितेन्द्रिय, ब्राह्मण-भक्त और सत्यवादी थे। वे लोग श्रद्धालु, जितक्रोध, दाता, गुणों में दोष न देखनेवाले तथा पत्नी-पुत्र और भृत्यवर्ग का पालन-पोषण करनेवाले थे। वे एक दूसरे से जलते नहीं थे। ईर्ष्या के कारण वे परस्पर एक दूसरे का विनाश न चाहते तथा बहुत धीर थे। कभी भी दूसरों की समृद्धि देखकर दु:खी नहीं होते थे। वे लोग दाता थे और संग्रह भी न्यायपूर्वक करते थे। वे श्रेष्ठ और दयालु थे तथा प्रसन्न होकर दूसरों को बहुत देनेवाले थे। वे सरल, दृढभक्त और जितेन्द्रिय थे।

सन्तुष्टभृत्यसचिवाः कृतज्ञाः प्रियवादिनः ।
यथार्हमानार्थकरा ह्रीनिषेधा यतव्रताः ॥
नित्यं पर्वसु सुस्नाता स्वनुलिप्ताः स्वलङ्कृताः ।
उपवास-तप शीलाः प्रतीता ब्रह्मवादिनः ॥
नैनानभ्युदियात् सूर्यो न चाप्यासन् प्रगेशयाः ।
रात्रौ दधि च सक्तूंश्च नित्यमेव व्यवर्जयन् ॥
कल्यं घृतं चान्ववेक्षन् प्रयता ब्रह्मवादिनः ।
मङ्गल्यान्यपि चापश्यन् ब्राह्मणांश्चाप्यपूजयन् ॥

सदा हि वदतां धर्मं सदा चाप्रतिगृह्णताम्।
अर्धं च रात्र्याः स्वपतां दिवा चास्वपतां तथा ॥
कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
दयां च संविभागं च नित्यमेवानुमोदताम् ॥ (२२८.३५-४०)

वे लोग अपने नौकरों और मन्त्रियों को सदैव सन्तुष्ट रखते थे; कृतज्ञ और प्रियवादी थे। वे यथायोग्य आदर-सत्कार करनेवाले और दूसरों के कार्य सम्पन्न करनेवाले थे। लज्जाशील और यतव्रत थे। वे लोग नित्य ही सुन्दर स्नान करनेवाले, पर्व में विशेषरूप से स्नान करनेवाले, सुन्दर अनुलेपन लगानेवाले और अच्छे-अच्छे आभूषण धारण करनेवाले थे। उपवास और तप में परायण तथा सदा प्रसन्न रहते थे। वे ब्रह्मवादी (वेदपाठ करनेवाले) थे। वे लोग न तो सूर्योदय तक सोते थे और न सूर्यास्त के समय ही। वे रात्रि के भोजन में दही और सत्तू का बराबर परित्याग करते थे। प्रातःकाल उठकर घृत एवं अन्य मङ्गलकारक वस्तुओं का दर्शन करते थे। पवित्र होकर वेदपाठ करते और ब्राह्मणों का पूजन करते थे। वे सदैव धर्म और न्याय की बातें करते, कभी दान न लेते थे। रात्रि के दूसरे और तीसरे पहर में सोते थे, दिन में कभी नहीं सोते थे। वे लोग कृपण, अनाथ, वृद्ध दुर्बल, रोगी और स्त्रियों पर दया करते और सदैव उनके पोषण का अनुमोदन करते थे :

त्रस्तं विषण्णमुद्विग्नं भयार्तं व्याधितं कृशम्।
हृतस्वं व्यसनार्तं च नित्यमाश्वासयन्ति ते ॥
धर्ममेवान्ववर्तन्त न हिंसन्ति परस्परम्।
अनुकूलाश्च कार्येषु गुरुवृद्धोपसेविनः ॥
पितॄन् देवातिथींश्चैव यथावत्तेऽभ्यपूजयन्।
अवशेषाणि चाश्नन्ति नित्यं सत्यतपोधृताः ॥
नैकेऽश्नन्ति सुसम्पन्नं न गच्छन्ति परस्त्रियम्।
सर्वभूतेष्ववर्तन्त यथात्मनि दयां प्रति ॥
नैवाकाशे न पशुषु वियोनौ च न पर्वसु।
इन्द्रियस्य विसर्गं ते रोचयन्ति कदाचन ॥
नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा।
उत्साहोऽथानहङ्कारः परमं सौहृदं क्षमा ॥
सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वं तेष्वभवत् प्रभो ॥
निद्रातन्द्रीरसम्प्रीति - रसूयाऽथाऽनवेक्षिता।
अरतिश्च विषादश्च स्पृहा चाप्यविशन्न तान् ॥ (२२८.४१-४८)

वे लोग त्रस्त, खिन्न, उद्विग्न, भय से पीड़ित, रोगी, दुर्बल, हृतस्व और व्यसन से पीड़ित प्राणियों को नित्य ही आश्वासन देनेवाले थे। वे सदा धर्माचरण करते, परस्पर एक दूसरे की कभी हिंसा नहीं करते थे। दूसरों के कार्यों का विरोध नहीं करते थे। गुरुओं और वृद्धों की सदा सेवा करते थे। वे यथाविधि देवता, पितर और अतिथियों का पूजन करते और उनका प्रसाद भोजन करते थे। नित्य ही सत्यनिष्ठ और तपोनिष्ठ थे। वे कभी अकेले अच्छी चीज नहीं खाते थे, परस्त्री-गमन नहीं करते थे। अपने समान सबको समझकर सब पर दया करते थे। वे आकाश में, पशुओं में या वियोनि में कभी वीर्यत्याग नहीं करते थे तथा पर्व में स्त्री-गमन नहीं करते थे। नित्या दान-दक्षता, नित्य सरलता, उत्साह, अनहंकार, परम सौहार्द क्षमा, सत्य, तप, शौच, कारुण्य, अनिष्ठुर वाणी और मित्रों के साथ अनभिद्रोह ये सब कुछ गुण उनमें थे। निद्रा, तन्द्रा अप्रसन्नता, असूया, अनवेक्षण, अरति, विषाद और परकीय पदार्थों की स्पृहा उन्हें छू तक नहीं गयी थी।

श्रीने कहा कि दानवों में ऊपर कथित गुण थे, इसीलिए मैं सृष्टिकाल से लेकर अनेक युगों तक उनके पास रही। लेकिन समय ने पलटा खाया। दानवों से ये गुण निकल गये। मैंने देखा कि वे काम और क्रोध के वश हो गये हैं और धर्म उनसे दूर चला गया। (इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में दानव या असुर परम आस्तिक, धर्मनिष्ठ थे।):

साहमेवंगुणेष्वेव दानवेष्ववसं पुरा।
प्रजासर्गमुपादाय नैकं युगविपर्ययम्॥
ततः कालविपर्यासे तेषां गुणविपर्ययात्।
अपश्यं निर्गतं धर्मं कामक्रोधवशात्मनाम्॥ (२२८.४९-५०)

सज्जन, ज्ञानवृद्ध सभासद लोग जब विचार करते तो दानव उनकी दिल्लगी उड़ाने लगते। ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध लोगों से छोटे लोग ईर्ष्या करने लगे। बड़े-बूढ़ों के आने पर युवक लोग अभ्युत्थान और अभिवादन द्वारा पहले का-सा उनका आदर-सत्कार न करते और बैठे ही रहते थे। पिता के सामने ही पुत्र का मालिकाना चलने लगा। स्वामी लोग नौकर पाकर निर्लज्जतापूर्वक अपना महत्त्व प्रख्यापित करने लगे। वे धर्मविरहित निन्दित कर्म द्वारा बड़े पदार्थों की प्राप्ति की बात सोचने लगे:

सभासदां च वृद्धानां सतां कथयतां कथाः।
प्राहसन्नभ्यसूयंश्च सर्ववृद्धान् गुणावराः॥
युवानश्च समासीना वृद्धानपि गतान् सतः।
नाभ्युत्थानाभिवादाभ्यां यथापूर्वमपूजयन्॥

वर्तयन्त्येव पितरि पुत्रः प्रभवते तथा।
अमित्रभृत्यतां प्राप्य ख्यापयन्त्यनपत्रपाः॥
तथा धर्मादपेतेन कर्मणा गर्हितेन ये।
महतः प्राप्नुवन्त्यर्थांस्तेषां तत्राभवत् स्पृहा॥ (२२८.५१-५४)

रात्रि में वे लोग जोर-जोर से बातें करते और नीचे अग्नि जला करती थी। पुत्र पिता का और स्त्री पति का अतिक्रमण करने लगी। वे माता, पिता, वृद्ध आचार्य, अतिथि और गुरुका अभिनन्दन नहीं करते थे; किन्तु स्वयं अपने आपको बड़ा समझते थे। वे बालकों का पालन नहीं करते थे। बिना हवन किये; पितर, देवता, अतिथि तथा गुरु का बिना आदर-सत्कार किये और बिना भिक्षा-बलि दिये स्वयं भोजन करने लगे :

उच्चैश्चाभ्यवदन् रात्रौ नीचैस्तत्राग्निरज्वलत्।
पुत्राः पितॄनत्यचरन् नार्यश्चात्यचरन् पतीन्॥
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
गुरुत्वान्नाभ्यनन्दन्त कुमारान् नान्वपालयन्॥
भिक्षां बलिमदत्त्वा च स्वयमन्नानि भुञ्जते।
अनिष्ट्वा संविभज्याथ पितृदेवातिथीन् गुरून्॥ (२२८.५५-५७)

दानवोंके रसोइये मन, वाणी और कर्म से पवित्रता की परवाह नहीं करने लगे। उनका भोजन खुला रहने लगा। धान्य (जव, गेहूँ, चना, चावल आदि) बिखरा हुआ रहने लगा। कौए-चूहे उन्हें मनमानी खाने लगे। दूध बिना ढँका रहने लगा और जूठे होकर लोग घी का स्पर्श करने लगे। (प्राचीन काल में लोग अनुच्छिष्ट भोजन में ही घृत डालते थे, अनुच्छिष्ट रहकर ही घृत का स्पर्श करते थे, उच्छिष्ट भोजन में घृत नहीं डालते थे।) कुद्दाल, हँसुआ, पेटी, काँसे का बर्तन और सभी सामग्री इधर-उधर बिखरी रहती थी। गृहस्वामिनी को उसका कुछ भी ध्यान नहीं था। मकानों की मरम्मत नहीं होती थी और पशुओं को रस्सी-बाँधकर भी उन्हें घास-भूसा, पानी आदि नहीं दिया जाता था :

न शौचमनुरुध्यन्त तेषां सूदजनास्तथा।
मनसा कर्मणा वाचा भक्ष्यमासीदनावृतम्॥
विप्रकीर्णानि धान्यानि काकमूषिकभोजनम्।
अपावृतं पयोऽतिष्ठदुच्छिष्टाश्चास्पृशन् घृतम्॥
कुद्दालं दात्रपिटकं प्रकीर्णं कांस्यभाजनम्।
द्रव्योपकरणं सर्वं नान्ववैक्षत् कुटुम्बिनी॥

प्राकारागारविध्वंसांश्च स्म ते प्रतिकुर्वते।
नाद्रियन्ते पशून् बद्ध्वा यवसेनोदकेन च ॥ (२२८.५८–६१)

दानव लोग परिजन (नौकर-चाकर) और बाल-बच्चों का ध्यान न रख-कर अच्छी-अच्छी चीजें स्वयं खा लेते थे। वे बिना देवताओं के उद्देश्य से केवल अपने स्वार्थ के लिए पायस, कृसर, मांस, अपूप (पूआ) और पूड़ी बनवाते तथा वृथा मांसभक्षण करते थे। उन्होंने सूर्योदय-काल और रात्रि के प्रारम्भ में (अर्थात् दोनों सन्ध्याओं में) शयन करना प्रारम्भ कर दिया और उनके यहाँ प्रतिगृह दिन-रात कलह होने लगा। दुष्टतावश छोटे लोगों ने बड़ों की बातें सुनना बन्द कर दिया। वे विकर्म (निषिद्ध कर्म) करने लगे और सदाचारी, श्रमी लोगों से द्वेष करने लगे :

बालानां प्रेक्षमाणानां स्वयं भक्ष्यानभक्षयन्।
तथा भृत्यजनं सर्वमसन्तर्प्य च दानवाः ॥
पायसं कृसरं मांसमपूपानथ शष्कुलीः।
अपाचयन्नात्मनोऽर्थे वृथा मांसान्यभक्षयन् ॥
उत्सूर्यशायिनश्चासन् सर्वे चासन् प्रगेनिशाः।
अवर्तन् कलहाश्चात्र दिवारात्रं गृहे गृहे ॥
अनार्याश्चार्यमासीनं पर्युपासन्न तत्र ह।
आश्रमस्थान् विधर्मस्थाः प्राद्विषन्त परस्परम् ॥ (२२८.६२–६५)

दानवों में सांकर्य आ गया। पवित्रता की मर्यादा नष्ट हो गयी। वेदज्ञ और मूर्ख ब्राह्मणों के आदर अथवा अपमान में कुछ फर्क नहीं रह गया। अर्थात् सबको एक-सा देखा जाने लगा। योग्यता की कद्र नहीं रह गयी। दासियाँ दुर्जनों के समान हार, आभूषण और वेष धारण करने लगीं। उनका चलना, बैठना और देखना सब दुर्जनों के समान होने लगा। स्त्रियाँ पुरुषवेष में तथा पुरुष स्त्रीवेष में क्रीडा, रति, विहार करते हुए परम आनन्द का अनुभव करने लगे :

सङ्कराश्चाभ्यवर्तन्त न च शौचमवर्तत।
ये च वेदविदो विप्रा विस्पष्टमनृतश्च ये ॥
निरन्तरविशेषास्ते बहुमानावमानयोः ॥
हारमाभरणं वेषं गतं स्थितमवेक्षितम् ॥
असेवन्त भुजिष्या वै दुर्जनाचरितं विधिम्।
स्त्रियः पुरुषवेषेण पुंसः स्त्रीवेषधारिणः ॥
क्रीडारतिविहारेषु परां मुदमवाप्नुवन् ॥ (२२८.६६–६९)

पहले के शक्तिशाली लोगों द्वारा योग्य पुरुषों को दिये दान को नास्तिकता-वश छीनना प्रारम्भ कर दिया गया, यद्यपि उसे न छीनने पर उनका कुछ बिगड़ता न था। कहीं सङ्कट की स्थिति में कोई मित्र कुछ अर्थ की सहायता माँगना तो उसे देना दूर, उलटे अपने क्षुद्र स्वार्थवश मित्रका और भी धन हड़प लेते थे। उनमें दूसरों का धन हड़पने की प्रवृत्ति काम करने लगी। वे सभी व्यापारों के प्रेमी हो गये। शूद्र अपनी गणना आर्यों में करके तप करने लगे। वे विना ब्रह्मचर्य-व्रत के ही वेद का अध्ययन करने लगे। कोई-कोई ब्रह्मचर्यव्रतका दम्भ करते थे। शिष्य गुरु की सेवा नहीं करते, बल्कि गुरु के मित्र बनते थे। माता-पिता के थक जाने पर उनकी प्रसन्नता समाप्त हो जाती थी और उनका मालिकाना भी नहीं रहता था। दीन होकर वे अन्न के लिए लड़कों से भीख माँगते थे। वहाँ वेद के गम्भीर विद्वान् कृषि आदि से अपनी जीविका चलाते थे और मूर्ख लोगों को श्राद्धों में भोज न कराया जाता था :

प्रभवद्भिः पुरा दायानर्हेभ्यः प्रतिपादितान्।
नाभ्यवर्तन्त नास्तिक्याद् वर्तन्तः सम्भवेष्वपि॥
मित्रेणाभ्यर्थितं मित्रमर्थसंशयिते क्वचित्।
बालकोट्यग्रमात्रेण स्वार्थेनाघ्नत तद्वसु॥
परस्वादानरुचयो विपणव्यवहारिणः।
अदृश्यन्तार्यवर्णेषु शूद्राश्चापि तपोधनाः॥
अधीयन्तेऽव्रताः केचिद् वृथा व्रतमथापरे।
अशुश्रूषुर्गुरोः शिष्यः कश्चिच्छिष्यसखो गुरुः॥
पिता चैव जनित्री च श्रान्तौ वृत्तोत्सवाविव।
अप्रभुत्वे स्थितौ वृद्धावन्नं प्रार्थयतः सुतान्॥
तत्र वेदविदः प्राज्ञा गाम्भीर्ये सागरोपमाः।
कृष्यादिष्वभवन् सक्ता मूर्खाः श्राद्धान्यभुञ्जत॥ (२२८.६९–७५)

प्रातःकाल ही गुरु लोग बिना बुलाये शिष्यों के यहाँ आकर कुशल-प्रश्न पूछते थे। उनकी प्रेषण-क्रिया अर्थात् दौत्य (समाचार यहाँ-यहाँ ले जाना) स्वयं करते थे। सास-ससुर के सामने नौकरों पर बहू का हुक्म चलने लगा। बहू अपने पति को बुलाकर उस पर भी हुक्म चलाने लगी। पिता को प्रयत्नपूर्वक पुत्र के चित्त का अनुसरण करना पड़ता था तथा भाररूप जीवन व्यतीत करना पड़ता था। मित्रता के नाते पहले बहुत सत्कार पाये लोगों ने भी मित्र की सम्पत्ति अग्नि में जली, चोरों द्वारा चुरायी गयी और राजा के द्वारा छिनी गयी देखकर द्वेष से हँसना प्रारम्भ कर दिया। दानव लोग कृतघ्न हो गये, नास्तिक हो गये, दुष्ट हो गये, गुरुपत्नी-गमन करने लगे, अभक्ष्य-भक्षण करने लगे। उनमें कोई मर्यादा नहीं रह गयी, उनके चेहरों की कान्ति उड़ गयी :

प्रातः प्रातश्च सुप्रश्नं कल्पनं प्रेषणक्रियाः।
शिष्यानप्रहितास्तेषामकुर्वन् गुरवः स्वयम् ॥
श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे वधूः प्रेष्यानशासत।
अन्वशासच्च भर्तारं समाहूयाभिजल्पति ॥
प्रयत्नेनापि चारक्षच्चित्तं पुत्रस्य वै पिता।
व्यभजच्चापि संरम्भाद् दुःखवासं तथावसत् ॥
अग्निदाहेन चोरैर्वा राजभिर्वा हृतं धनम्।
दृष्ट्वा द्वेषात् प्राहसन्त सुहृत्सम्भाविता ह्यपि ॥
कृतघ्ना नास्तिकाः पापा गुरुदाराभिमर्शिनः।
अभक्ष्यभक्षणरता निर्मर्यादा हततेजसः ॥ (२२८.७५–७९)

श्री ने आगे कहा :

तेष्वेवमादीनाचारानाचरत्सु विपर्यये।
नाहं देवेन्द्र वत्स्यामि दानवेष्विति मे मतिः ॥ (२२८.८०–८१)

अर्थात् हे देवेन्द्र, इस तरह दानवों में उलटा-पुलटा आचार आ गया। इसीलिए अब मैं उनके पास नहीं रहना चाहती।

श्री के इन वचनों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम कहे गये शास्त्रीय आचरणों से लक्ष्मी की प्रसन्नता और अनुग्रह होता है तथा अन्तिम अशास्त्रीय आचरणों से लक्ष्मी विमुख होती हैं।

श्री कहती है :

तन्मां स्वयमनुप्राप्तामभिनन्द शचीपते।
त्वयार्चितां मां देवेश पुरो धास्यन्ति देवताः ॥
यत्राहं तत्र मत्कान्ता मद्विशिष्टा मदर्पणाः।
सप्त देव्यो जयाष्टम्यो वासमेष्यन्ति तेऽष्टधा ॥
आशा श्रद्धा धृतिः क्षान्तिर्विजितिः सन्नतिः क्षमा।
अष्टमी वृत्तिरेतासां पुरोगा पाकशासन ॥ (२२८.८१–८४)

अर्थात् हे शचीपते, मैं स्वयं तुम्हारे पास आयी हूँ। तुम मेरा अभिनन्दन करो। फिर देवता भी मेरा सत्कार करेंगे। जहाँ मैं रहती हूँ वहाँ मेरी प्यारी सखियाँ, जो मुझसे विशिष्ट हैं, रहती हैं। वे आठ प्रकार की हैं : (१) आशा, (२) श्रद्धा, (३) धृति, (४) शान्ति, (५) विजिति, (६) सन्नति, (७) क्षमा और (८) वृत्ति। यह आठवीं वृत्ति सबसे आगे रहती है।

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम् ॥ (२६४.१५)

अश्रद्धा परम पाप है, श्रद्धा पाप से छुटकारा देनेवाली है। जैसे सर्प पुरानी केंचुली छोड़ देता है, वैसे ही श्रद्धालु प्राणी पाप से छुटकारा पा जाता है। यद्यपि धर्मरक्षा, शिष्टपालन और दुष्टनिग्रह के लिए भी कभी-कभी कूटनीति का भी अवलम्बन करना पड़ सकता है; फिर भी प्रशंसनीय नीति सर्वहितैषिता ही है।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥ (२६२.६)

तुलाधार वैश्य जाजलि ब्राह्मण से कह रहा है कि प्राणियों से द्रोह न कर जो जीविका होती है, वह परमधर्म है। यदि वैसा सम्भव न हो तो जहाँतक बने, अल्पद्रोह से ही जीविका चलानी चाहिए। जाजले, मैं वैसे ही जीविका चलाता हूँ।

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ (२६२.९)

जाजले, जो सबका सुहृत् है तथा मन, वाणी और कर्म से सबके हित में लगा रहता है, वही धर्म का सम्यक् जानकार है।

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (२६२.१६)

जब पुरुष मन, वाणी और कर्म से सभी प्राणियों में पापमय भाव नहीं बनाता तब वह ब्रह्म हो जाता है।

योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम्। (२६२.१७)

सभी प्राणियों को अभय देनेवाला अभयपद पाता है।

पुरा धिग्दण्ड एवासीद् वाग्दण्डस्तदनन्तरम्।
आसीदादानदण्डोऽपि वधदण्डोऽद्य वर्तते।
वधेनापि न शक्यन्ते नियन्तुमपरे जनाः ॥ (२६७.१९-२०)

पहले धिक्-दण्ड था, बाद में वाग्दण्ड चला। तदनन्तर अर्थदण्डकी प्रवृत्ति हुई तो आज वधदण्ड चल पड़ा है। किन्तु वध से भी सब पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। धर्मनियन्त्रित अन्तर्मुख लोगों से कुछ अपराध बनने पर 'धिक्' शब्द ही पर्याप्त दण्ड था। उसीके भय से वे सदा पाप से बचते रहते। कुछ बहिर्मुखों

के लिए कुछ रुक्ष वचन का दण्ड होने लगा। धर्मनिष्ठों में ह्रास होने से उत्तरोत्तर कठोर दण्ड आवश्यक हो गया।

आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान्।
विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तम्॥ (२६७.२७)

जो अपने मन पर विजय प्राप्त न कर दूसरों को जीतना चाहता है, प्रजा उस इन्द्रिय-लोलुप की हँसी उड़ती है।

आत्मैवादो नियन्तव्यो दुष्कृतं सन्नियच्छता।
दण्डयेच्च महादण्डैरपि बन्धूननन्तरान्॥ (२६७.२९)

दुष्टों पर नियन्त्रण करनेवाले को पहले अपना नियन्त्रण करना चाहिए। अपने अन्तरङ्ग पुत्र, भाई आदि भी यदि दुष्कृतकारी हों तो उन्हें भी महादण्ड देना चाहिए। यही धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन राज्य का आदर्श है। इसी आदर्श के अनुसार राम ने निरपराध-निष्कलंक साध्वी सती सीता को भी वनवास दिया था। इसमें भाई-भतीजा-वाद कभी पनपन ही नहीं सकता :

३. नीतिकारों की कसौटी पर

मनु, शुक्र, कामन्दक आदि नीतिकारों की नीति की कसौटी पर राजधर्म को कसा जाय तो सुस्पष्ट है कि राजा द्वारा सुरक्षित श्रोत्रिय प्रतिदिन जो धर्माचरण करता है, उससे राजा की आयु, द्रव्य एवं राष्ट्र की वृद्धि होती है। स्वदेश में शाक-तृणादि स्वल्पमूल्य के क्रय-विक्रयादि व्यवहार से जीविका चलानेवाले साधारण व्यक्ति से भी राजा को कुछ-न-कुछ कर लेना चाहिए। राजा को चाहिए कि कारु, शिल्पी, लोहकार तथा दैहिक श्रम से जीविका चलानेवालों से मास में एक दिन काम कराये। प्रजास्नेह से शुल्क न ग्रहण करने पर राजा का मूलच्छेद और अतिलोभ से प्रचुर कर ग्रहण करने पर दूसरों (प्रजा) का मूलच्छेद होता है। अतः दोनों से ही बचना चाहिए।

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥ (मनु० ७.१३९)

कार्यविशेष देखकर राजा को कहीं तीक्ष्ण तो कहीं मृदु होना चाहिए। स्वयं कार्यदर्शन में खिन्न होने पर धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, प्राज्ञ और कुलीन श्रेष्ठ अमात्य को कार्यदर्शन के लिए नियुक्त करना चाहिए। प्रजापालन क्षत्रिय का परमधर्म है। कारण, यथाशास्त्र फल, कर आदि का भोक्ता राजा धर्म का भागी होता है।

राजा रात्रि के चौथे प्रहर में उठकर शौच-स्नानादि से निवृत्त होकर अग्निहोत्र होम करे। तदनन्तर ब्राह्मणों का पूजन कर जहाँ अमात्यादिकों से मिलना-जुलना होता है, उस सभा में पहुँचे। वहाँ दर्शनार्थ आगत सभी प्रजा का सम्भाषण, सम्प्रश्न आदि द्वारा अभिनन्दन कर उसे बिदा दे और गिरिपृष्ठ, प्रासाद या अरण्यस्थित निर्जन प्रदेश में मन्त्रभेदकारियों से अनुपलक्षित हो पञ्चाङ्ग मन्त्र का चिन्तन करे। अर्थात् कर्मारम्भोपाय, पुरुषद्रव्य-सम्पत्, देशकाल-विभाग, विनिपात-प्रतीकार और कार्यसिद्धि के विषय में मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे। जिस राजा का मन्त्र मन्त्रियों से अन्य दूसरे लोग नहीं जान पाते, वह कोशविहीन होते हुए भी सम्पूर्ण पृथ्वी का शासक बन सकता है।

मन्त्रणा के समय जड, मूक, अन्ध, बधिर, तिर्यग्योनि शुक-सारिकादि, अतिवृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, अंगहीन आदि सबको हटा देना चाहिए। कारण, इन सबसे मन्त्रभेद की आशंका बनी रहती है। 'राजा को चाहिए कि दोपहर,

आधी रात अथवा जब भी वह विगतक्लम हो अर्थात् उसका शरीर या चित्त खिन्न न हो, तभी मन्त्रियों के साथ या अकेले ही धर्म, अर्थ और काम के अनुष्ठान के सम्बन्ध में विचार करे। राजा के लिए दूतसम्प्रेषण, प्रारब्ध कार्य की पूर्ति, अन्तःपुरकी स्थिति, गुप्तचरों की दूसरे गुप्तचरों द्वारा गतिविधि का ज्ञान और विचार आवश्यक है।

राजा को समग्र अष्टविध कर्म का विचार करना चाहिए, जो नीति के आचार्य उशनाने कहे हैं :

> **आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः ।**
> **पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥**
> **दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्ते नाष्टगतिको नृपः ।**
> **अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्राभिपूजितः ॥**

अर्थात् करादि का आदान, भृत्यादि के लिए धन-प्रदान, अमात्यादिकों का दृष्टादृष्ट अनुष्ठानों में प्रेषण, दृष्टादृष्ट-विरुद्ध क्रियाओं से निषेध करना, अर्थ-वचन अर्थात् कार्य का सन्देह होने पर राजाज्ञा से ही नियमन, व्यवहार (ऋणादि अदालती कार्यवाही) का निरीक्षण, दण्ड अर्थात् ऋणादि-विवाद में पराजितों से शास्त्रोक्त धन-ग्रहण, शुद्धि अर्थात पापकर्म होने पर प्रायश्चित्त कराना—ये ही अष्टकर्म हैं।

मेधातिथि के अनुसार अकृतारम्भ, कृतानुष्ठान अर्थात् प्रारब्ध कर्म की समाप्ति, अनुष्ठित कर्म-विशेष और उसका फल तथा साम, दान, दण्ड और भेद ये अष्टकर्म हैं। अथवा—वणिक्पथ, उदकसेतुबन्धन, दुर्गकरण, कृत का संस्कार-निर्णय, हस्तिबन्धन, खनिखनन, शून्यनिवेशन और दारुवनच्छेदन ये अष्टकर्म हैं।

कामन्दक के अनुसार कृषि, वणिक्पथ, दुर्ग, सेतु, कुञ्जरबन्धन, खान, वन-च्छेदन और सैन्याभिवेशन ये अष्टविध कर्म हैं।

इसी तरह राजा पञ्चवर्ग का भी चिन्तन करे। अर्थात् कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक एवं तापसवेषधारी पञ्चविध चारवर्ग का तत्त्वतः विचार करे। परमर्मज्ञ, प्रगल्भ, छात्र, कपटव्यवहार करनेवाला होने से 'कापटिक' कहलाता है। वह यदि जीविकार्थी हो तो अर्थदान एवं सम्मान द्वारा वश में करके उसे नियुक्त व्यक्तियों एवं प्रजा के दुर्वृत्तज्ञान के लिए अविकृत कर देना चाहिए। जो प्रव्रज्या करके आरूढ-पतित हुआ हो, उसे 'उदास्थित' कहते हैं। वह भी यदि लोगोंके दोषों का ज्ञाता, प्रज्ञा-शुद्धि से युक्त तथा निष्कपट हो और जीविका चाहता हो तो उसे भी पूर्वोक्त कार्य में लगाया जा सकता है। उसे किसी बहुत आमदनीवाले मठ में स्थापित करें और उसकी वृत्ति के लिए और भी उर्वरा

भूमि दी जाय। वह भी चारकर्म में नियुक्त अन्य प्रव्रजितों को भोजनाच्छादनादि दे। क्षीणवृत्ति, प्रज्ञाशौचयुक्त किसान 'गृहपति' कहलाता है। उससे भी वैसा ही कहकर अपनी ही भूमि में कृषि-कर्म में लगायें। इसी प्रकार क्षीणवृत्ति वैश्य 'वैदेहिक' कहलाता है। उसे भी पूर्ववत् कहकर और धन-मानादि अधीनकर अपना व्यापार करायें। मुण्डी या जटिल यदि वृत्ति की कामनावाला हो, तो उसे 'तापसवेषधारी' कहते हैं। वह भी किसी आश्रम में बहुत-से मुण्डी-जटिलों में रहता हुआ कपट-कुशल शिष्यगणों से घिरा हुआ राजोपकल्पित वृत्ति से युक्त हो तपस्या करे। प्रकाश में मास या दो मास पश्चात् मुष्टिमित वदरीफल (एक मुट्ठी बेर) खाकर जीते रहने की ख्यापना करे और एकान्त में यथायोग्य राजोपकल्पित आहार ग्रहण करता रहे। शिष्य लोग उसके अतीत-अनागत ज्ञान का प्रख्यापन करें। ऐसे व्यक्ति बहुलोक-समुदाय से घिरे रहकर सर्वविश्वसनीय बन जाते हैं। उनसे लोग कार्य-अकार्यसम्बन्धी सब तरह के प्रश्न करते और अन्य लोगों की कुक्रियाओं का भी वर्णन करते हैं। ये सब राजा के गुप्तचर हो सकते हैं, उनसे गुप्त-वृत्त विदित होता है। राजा का कर्तव्य है कि इनके द्वारा प्रतिपक्षी राजाओं तथा अपने अमात्य आदिकों का अनुराग-विराग जानकर तदनुरूप व्यवस्था पर विचार करे। राजमण्डल में कौन सन्धि चाहता है और कौन विग्रह, इसका भी ज्ञान प्राप्तकर तदनुगुण विचार करना चाहिए। इन्हीं सब भावों को हृदय में रखते हुए नीतिकार मनु कहते हैं :

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गञ्च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च॥ (७.१५४)

अर्थात् राजा का कर्तव्य है कि (पूर्वोक्त) अष्टविध कर्मों तथा पञ्चवर्ग को तत्त्वतः जानकर तथा राजमण्डल के प्रचार का अनुराग-विराग जान तदनुसार अपने कर्तव्य का निर्धारण करे। नीतिकार मनु आगे कहते हैं कि मध्यम का प्रचार, विजिगीषु की चेष्टा और उदासीन की नीति एवं त्रिविध शत्रुओं की गति-विधि पर राजा को विशेष रूप से विचार करना चाहिए।

अरि और विजिगीषु के मध्य का 'भूम्यनन्तर' होता है। वह दोनों के संहत होने पर अनुग्रह-समर्थ और असंहत होने पर विग्रह-समर्थ होता है। इसी तरह उदासीन विजिगीषु और भूम्यनन्तर (मध्यम) के संहत होने पर अनुग्रह-समर्थ और असंहत होने पर निग्रह-समर्थ होता है। मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु ये चार मूल-प्रकृति होते हैं।

अपने राज्य के अनन्तर चारों दिशाओं के राजाओं को अरि-प्रकृति तथा उनके सेवी राजाओं को भी अरि ही समझना चाहिए। अरि के अनन्तरवाले

एकान्तर राजा को मित्र-प्रकृति जानना चाहिए। उन दोनों के अनन्तर राजाको उदासीन-प्रकृति जानना चाहिए। इन्हीं प्रकृतियों को 'अग्रवर्ती' और 'पश्चाद्वर्ती' कहा जाता है। अग्रवर्ती को 'अरि' और पश्चाद्वर्ती को 'पार्ष्णिग्राह' कहते हैं :

अनन्तररमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम्॥ (मनु० ७.१५८)

अरिभूमि के आगे भूमिवाला 'मित्र' तथा उसके आगेवाला 'अरिमित्र', उससे आगेवाला 'मित्र-मित्र' और उससे भी आगेवाला 'अरिमित्र-मित्र' इस प्रकार चार आगे के और वैसे ही पीछेवाले 'पार्ष्णिग्राह', 'आक्रन्द', 'पार्ष्णिग्रहासार' और 'आक्रन्दासार' कहलाते हैं। ये ही राजा की आठ प्रकृतियाँ हैं। इन प्रकृतियों की शाखाभूत पाँच प्रकृतियाँ होती हैं, जो निम्नलिखित हैं : (१) अमात्य, (२) राष्ट्र, (३) दुर्ग, (४) अर्थ, और (५) दण्ड। ये पाँचों 'द्रव्य प्रकृति' कहलाती हैं। ऊपर कही बारह प्रकृतियों को (४ मूलप्रकृति और ८ शाखा-प्रकृतियों की) प्रत्येक की ५ द्रव्य-प्रकृतियाँ होती हैं। इस तरह कुल ६० प्रकृतियाँ हुईं, जिनमें पहली १२ प्रकृतियाँ मिलाने पर सब संकलित ७२ प्रकृतियाँ हो गयीं। इन सभी राजाओं को साम, दान, भेद, दण्ड आदि व्यस्त या समस्त उपायों से वश में करना चाहिए।

राजा को चाहिए कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन ६ गुणों का भी चिन्तन करे। राजाओं का परस्पर विश्वास होना 'सन्धि' है, अथवा 'उभयानुग्रहार्थ यान, आयुध, हिरण्यादि द्वारा हम दोनों आपस में एक दूसरे की पूर्ण सहायता करेंगे', इस प्रकार का नियम-बन्ध सन्धि है। वैरानुबन्ध-कार्य ही 'विग्रह' है। शत्रु पर चढ़ाई करना 'यान' है। उपेक्षा करना 'आसन' है। स्वार्थसिद्धि के लिए बल का द्विधाकरण ही 'द्वैधीभाव' और शत्रुपीड़ा होने पर अतिप्रबल दूसरे राजा का सहारा लेना 'संश्रय' है।

कामन्दक के अनुसार विजिगीषु के आगे पाँच होते हैं : (१) अरि, (२) मित्र, (३) अरिमित्र, (४) मित्रमित्र, (५) अरिमित्रमित्र। तथा विजिगीषु के पीछे चार होते हैं : (१) पार्ष्णिग्राह, (२) आक्रन्द, (३) पार्ष्णिग्राहासार और (४) आक्रन्दासार। इनके अतिरिक्त मध्यम, उदासीन और विजिगीषु ये सभी बारह राजमण्डल कहलाते हैं :

अरिमित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम्।
तथाऽरिमित्रमित्रं च विजिगीषुपुरस्सराः॥
पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्।
आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः॥

अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः।
अनुग्रहे संहतयोर्व्यस्तानाञ्च वधे प्रभुः।
मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः॥

शत्रुजय के लिए शत्रु का व्यसनादि देखकर उत्तम देश-काल के अनुसार निग्रह करना 'स्वयंकृत विग्रह' होता है। मित्र का अपकार करनेवाले अन्य राजा के साथ मित्र की रक्षा के लिए विग्रह करना 'दूसरा विग्रह' है। अकस्मात् शत्रु के व्यसनापन्न होने पर बलाबल देखकर शत्रु पर चढ़ाई करना एक प्रकार का और स्वयं असमर्थ होने पर मित्र के साथ चढ़ाई करना यह दूसरे प्रकार का 'यान' होता है। क्षीण होने पर और मित्र की रक्षा के लिए उसके अनुरोध पर दो प्रकार का आसन होता है। अपने साध्य प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए सेनापति से अधिष्ठित कुछ सेना को शत्रुकृत उपद्रव के निवारणार्थ नियुक्तकर अन्यत्र कुछ सेना से युक्त होकर राजा का दुर्ग में अवस्थित होना 'द्वैधीभाव' है। शत्रु को पीड़ा होने या पीड़ा की सम्भावना होने पर अथवा इसने अमुक बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण किया है, ऐसी ख्याति के लिए किसी धार्मिक बलवान्का आश्रयण करना 'संश्रय' कहा जाता है।

अपने से बलवान् शत्रु को कुछ धनादि उपहार देना स्वीकार करके भी उससे सन्धि करना उचित है। यदि अपनी अमात्यादि प्रकृतियों को हृष्ट-पुष्ट समझें और अपने को बलोपबृंहित समझें तो विग्रह करना ठीक है। शत्रु को दुर्बल और अपने को प्रबल जानकर यान करना चाहिए। धन एवं बल से क्षीण होने पर साम, दान आदि उपायों द्वारा शत्रु को सान्त्वना देते हुए आसन स्वीकार करना चाहिए। यदि शत्रु को अपने से अत्यधिक बलवान् और असन्धेय समझें, तो उस समय बल का विभाजन कर एक अंश से युद्ध और अन्य बल के अंश से दुर्ग का सहारा लेकर द्वैधीभाव का अवलम्बन करना चाहिए।

जो धार्मिक और बलवान् राजा क्षीणबल राजा की अमात्यादि प्रकृति को और उसके शत्रु को नियन्त्रित कर सके, क्षीणबल राजा को गुरु के समान उसकी आराधना करनी चाहिए। यदि संश्रय में भी दोष प्रतीत हो तो निःशंक होकर युद्ध ही करना चाहिए। उससे मरने पर स्वर्ग और जीतने पर निष्कण्टक राज्य-सुख मिलता है :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

मित्र, उदासीन एवं शत्रु ये तीनों ही अपने से अधिक शक्तिशाली न हों, इसके लिए नीतिज्ञ को प्राणपण से कार्य में लगना चाहिए और सामादि का प्रयोग करना चाहिए; क्योंकि धनलोभ से प्रबल मित्र भी आक्रामक हो सकता है।

सभी कार्यों के उत्तरकालभावी गुण-दोषों को तथा शीघ्र कार्यसिद्धि के लिए वर्तमान काल का भी विचार करना चाहिए। अतीत कार्य के समनन्तरभावी गुणों और दोषों में कितने सामने आ चुके और कितने आना बाकी हैं, इसका भी विचार करना चाहिए। कार्यों के समनन्तर भावी गुण-दोषों को जानकर दोषयुक्त कार्य का परित्याग कर गुणयुक्त कार्य का आरम्भ करनेवाला तथा वर्तमान काल में दीर्घसूत्रता छोड़ शीघ्र निर्णय-निर्धारण कर कार्य प्रारम्भ करनेवाला और अतीत कार्य के समनन्तर भावी अंक को जानेवाला कभी भी शत्रु से अभिभूत नहीं होता।

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥ (मनु० ७.१७९)

यान के लिए शुभ देशकाल का विचार कर जांगल, अनूप और आटविक-रूप विषयभेद से त्रिविध मार्गों का तरुगुलमच्छेदन और निम्नोन्नत (नीच, ऊँच) का समीकरणादि द्वारा संशोधन कर हस्ति, अश्व रथ, पदाति, सेना, कर्मकरादि का यथायोग्य आहार, औषध, सत्कारादि द्वारा संशोधन कर साम्परायिक (सांग्रामिक) विधि से यान करना चाहिए।

छिपकर शत्रु की सेवा करनेवाले मित्र एवं अपराग से जाकर फिर से आये भृत्य से अत्यन्त सावधान रहना चाहिए, क्योंकि वे दुर्ग्रह रिपु होते हैं :

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥ (मनु० ७.१८६)

दण्ड के आकार में व्यूह-रचना 'दण्ड-व्यूह' है। जहाँ बलाध्यक्ष (कम्पनी-कमाण्डर) आगे, राजा मध्य में एवं सेनापति (जनरल) पीछे रहता है और दोनों बगल हाथी, हाथी के समीप घोड़े, उसके बगल में पैदल सेना हो—इस तरह की लम्बी, समविन्यास व्यूहरचना का नाम 'दण्ड-व्यूह' है। चारों ओर से भय की आशंका होने पर 'खण्ड-व्यूह' से यात्रा उचित होती है। यदि कोई व्यूह आगे सूच्याकार (पतली सूई की नोंक के समान) और पीछे चौड़ा हो तो उसे 'शकट-व्यूह' कहते हैं। बगल से भय होने पर इन दोनों व्यूहों की रचना उचित है। 'वराह-व्यूह' के विपरीत 'मकरव्यूह' होता है। जब आगे और पीछे दोनों ही ओर भय हो तो मकर-व्यूह की रचना उचित है। पिपीलिका-पंक्ति के समान आगे-पीछे क्रमबद्ध रूप से संहत सैनिकों का जहाँ अवस्थान हो और क्षिप्रकारी प्रमुख वीर-पुरुष आगे हों तो वह 'सूचीमुख-व्यूह' है। जिधर से भय की आशंका हो, उधर सेना का विस्तार होना चाहिए। जहाँ चारों ओर समान विस्तार हो, उसे 'पद्म-

व्यूह' कहते हैं। विजिगीषु राजा को स्वयं उसके मध्य स्थित होना चाहिए। जिधर से भय है, उसी ओर की दिशा को प्रमुखता देनी चाहिए। संघर्ष-युद्ध के लिए देश में चारों ओर सेनापति और बलाध्यक्ष नियुक्त करने चाहिए।

हस्ती, अश्व, रथ और पदातिरूप दशक का एक पति होता है। उसे 'पत्तिक' कहा जाता है। दश पत्तिक का एक सेनापति और दश सेनापति का एक सेनानायक होता है। वही बलाध्यक्ष है। सभी दिशाओं में दूर-दूरतक गुल्म (सैनिक-टुकड़ियाँ) स्थापित करने चाहिए। उनमें आप्तपुरुष अधिष्ठाता हों। एक स्थान से अन्य स्थान पर अपसरण के समय विशेषरूप से इन गुल्मों का उपयोग होता है। भेरी, पटह, शंख आदि के शब्दों से संकेत मिलना चाहिए। उनमें निर्भय एवं सुस्थित योद्धा होने चाहिए। वे अवस्थान और युद्ध दोनों में कुशल हों। शत्रु-सेना का प्रवेश रोकने और शत्रु की चेष्टा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी उनकी नियुक्ति आवश्यक है।

पहले थोड़े से शक्तिशाली योद्धाओं को संघटितकर युद्ध करना चाहिए। अन्य योद्धाओं का भले ही विस्तार किया जाय। समभूभाग में रथ, अश्वादि से; जलप्राय देश में नौका और हाथियों से; वृक्ष, गुल्मादि से आवृत प्रदेश में धनुष आदि से और गड्ढा, काँटा, कंकड़-पत्थर से रहित स्थल में खड्ग, फलक एवं कुन्त (भाला) आदि से युद्ध करना चाहिए। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन देशवासी लोगों का डीलडौल बड़ा होता है तथा ये लोग अहंकारयुक्त होते हैं। अतः इन्हें युद्ध में आगे करना चाहिए। यदि अन्यदेशवासी भी अच्छे डीलडौल-वाले या युद्धाभिमानी वीर हों, तो उन्हें भी युद्ध में आगे करना चाहिए।

सेना की व्यूह-रचना करके उन्हें इस तरह अर्थवादों से प्रोत्साहन देना चाहिए कि 'विजय से धर्मलाभ और सम्मुख मरण में स्वर्गलाभ होता है तो पलायन करने पर स्वामिकृत दुरित का भागी होना पड़ता है।' योद्धाओं को किस अभिप्राय से हर्ष एवं किससे क्रोध होता है, इसकी भी परीक्षा करनी चाहिए। शत्रु को चारों ओर से घेरकर उसके राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाना, उसकी घास, अन्न, पानी आदि दूषित करना, तड़ागों को नष्ट करना, दुर्ग का प्राकार आदि छिन्न-भिन्न कर देना तथा परिखाओं को निरुदक कर अनाशंकित दशा में ही अकस्मात् शत्रु पर आक्रमण कर शक्तिहरण द्वारा उसे त्रस्त करना चाहिए। शत्रुपक्षीय राज्या-र्थियों से मन्त्रणा और क्षुब्ध अमात्य आदिकों को फोड़कर, उनकी चेष्टाएँ जानकर शुभग्रहयोग में निर्भय हो युद्ध करना चाहिए। फिर भी यह ध्यान रहे कि जहाँतक बन सके, साम, दान और भेद से शत्रु को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए; युद्ध से नहीं :

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥ (मनु० ७.१९८)

कारण युद्ध में विजय अनिश्चित ही रहती है, कदाचित् पराजय भी हो सकती है। अतः युद्ध से सदैव बचना अत्यावश्यक है :

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युद्ध्यमानयोः।
पराजयश्च सङ्ग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्॥ (मनु० ७.१९९)

यदि युद्ध करना ही पड़े तो प्रयत्नवान् होकर सम्यक् युद्ध करना चाहिए। जीतने पर देवताओं एवं धर्मप्रधान ब्राह्मणों की पूजा और प्रजा को अभय प्रदान करना चाहिए। शत्रु, नृप, अमात्यादि का अभिप्राय जानकर उस राष्ट्र में यथासम्भव उस राजवंश में उत्पन्न को ही अभिषिक्त कर शास्त्रोक्त धर्मयुक्त आचारों को प्रमाणित करना चाहिए। अभिषिक्त राजा और उसके अमात्यादिकों को रत्नादि से सम्मानित करना चाहिए।

जैसे छीनना अप्रिय होता है, वैसे ही दान प्रियकारक होता है, यह उत्सर्ग (स्वभाव) है; तथापि विशेष अवसरों पर दान एवं आदान दोनों का ही महत्त्व बढ़ जाता है। साम, दान और भेद तीनों उपाय जब असफल हो जायँ, तभी युद्ध का उद्योग होना चाहिए और ऐसा हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए, जिससे शत्रुओं को जीत लें।

पृष्ठवर्ती पार्ष्णिग्राह और उसके पीछेवाले आक्रन्द की गतिविधि जानकर अमित्रों की स्थिति देखकर ही युद्ध करना चाहिए। हिरण्य और भूमिकी प्राप्तिसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण लाभ आपत्तियुक्त, स्थिरमित्र का लाभ है। धर्मज्ञ, कृतज्ञ, अनुरक्त, स्थिरकार्यारम्भक, तुष्टप्रकृतिवाला मित्र अत्यन्त प्रशस्त होता है। साथ ही प्राज्ञ, कुलीन, शूर, दक्ष, दाता, कृतज्ञ, धृतिमान् शत्रु अत्यन्त दुरुच्छेद्य होता है। उससे हर तरह सन्धि करना ही कल्याणकारी है। यदि उससे भी युद्ध करना ही पड़े तो आर्यता, पुरुष-विशेषज्ञता, विक्रान्तता, कृपालुता, बहुप्रदता आदि गुणोंसे युक्त उदासीन का आश्रय करके ही युद्ध करना चाहिए :

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः॥
आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः॥ (मनु० ७.२१०-११)

आत्मरक्षा के लिए क्षेम्य, सस्यप्रदा, पशुवृद्धिकरी भूमिको भी बिना विचार किये तत्काल त्याग देना चाहिए :

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ (७.२१२)

कोषक्षय, प्रकृतिकोष, मित्रव्यसन आदि सभी आपत्तियों के आने पर भी समस्त या व्यस्तरूप से साम आदि उपायों का ही अवलम्बन करना चाहिए । आज राजा नाम से कोई न हो, तो भी जिसके हाथ में शासन की बागडोर है, वही राजा है, भले ही, वह राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, अधिनायक या अन्य किसी नामवाला हो । उसमें राजा के सम्पूर्ण गुण होने चाहिए । यदि अनेक के हाथ में शासनसत्ता हो, तो उनमें भी उपर्युक्त गुण होने चाहिए ।

इसी तरह यद्यपि आज न्यायपालिका कार्यपालिका और विधायिका से भिन्न होती है, तो भी राष्ट्र के कर्णधार को क्षमादान आदि का कुछ अधिकार होता है । अतः उसे न्यायशुद्धि का ध्यान भी अवश्य रखना चाहिए । धर्मज्ञ ब्राह्मणों और मन्त्रज्ञ मन्त्रियों के साथ गूढ़ विषयों का विचार करना चाहिए । संक्षेपमें ऋणादान, निक्षेप (धरोहर), अस्वामिविक्रय (मालिक न होने पर भी दूसरे की वस्तुएँ बेचना) सम्भूय समुत्थान (मिलकर कुछ लोगों का कृषि, वाणिज्य महोद्योग आदि करना), दत्तानपकर्म (अपात्र-बुद्धि या क्रोधादि से दत्त धन को न लौटाकर ग्रहण कर लेना), वेतन न देना, कृतव्यवस्था का व्यतिक्रम (शर्त का उल्लंघन), क्रय-विक्रयानुशय (खरीदने और बेचने के बाद पश्चात्ताप से विवाद करना), स्वामी और पशुपाल का विवाद, ग्रामसीमादि-विप्रतिपत्ति, वाक्पारुष्य (गाली देना आदि), दण्डपारुष्य (ताड़नादि), स्तेय (चोरी), साहस (डाका), स्त्री का परपुरुष-सम्पर्क, स्त्रीसहित पुरुष की धर्मव्यवस्था, पतृकादि धन का विभाग, द्यूत, (धनादि दाँव पर लगाना), आह्वय (पक्षियों, मेषादि प्राणियों के युद्ध पर दाँव लगाना)—इस तरह विवाद के अठारह विषय होते हैं । इनसे अन्य भी कुछ विवाद के विषय हो सकते हैं । इनमें शाश्वत धर्म के अनुसार ही कार्य-निर्णय होना चाहिए ।

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम् ॥ (मनु० ८.८)

यदि कार्यान्तर में व्यस्त होने से राजा स्वयं न्याय न कर सके तो वह न्याय करने के लिए योग्य विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे :

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ (मनु० ८.९)

वह भी तीन विद्वान् धार्मिक ब्राह्मणों के साथ सभा में बैठकर न्यायनिर्णय करे :

सोऽस्य कार्याणि सम्पश्यन् सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ (मनु० ८.१०)

जिस सभा में तीन वेदवित् ब्राह्मण एवं राजा द्वारा अधिकृत ब्राह्मण बैठते हैं, वह सभा ब्रह्मसभा के तुल्य होती है । (८.११)

'सभा' का अर्थ होता है, 'भा' अर्थात् प्रकाश (ज्ञान) के सहित । इस तरह विद्वत्संहति (विद्वान् ब्राह्मणों का समुदाय)-सभा में सत्यरूप धर्म असत्यरूप अधर्म से विद्ध होता है । क्योंकि अर्थी (वादी) और प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) में से कोई एक सत्य बोलता है तो दूसरा असत्य । यदि सभासद उस असत्यरूप शल्य का उद्धरण नहीं करते तो स्वयं उससे विद्ध हो जाते हैं । या तो सभा में जाना नहीं चाहिए या जाने पर सत्य ही बोलना चाहिए । वहाँ चुप रहने या मिथ्या बोलने पर मनुष्य किल्बिषी (पातकी) होता है । सभ्यों के देखते जिस सभा में अर्थी-प्रत्यर्थी द्वारा अधर्म से धर्म का और साक्षियों द्वारा असत्य से सत्य का नाश किया जाता है और सभासद उसका प्रतीकार नहीं कर पाते तो उस पाप से वे सभी (सभासद) आहत हो जाते हैं ।

जब प्राड्विवाक (जज) उत्पथप्रवृत्त हो यानी मनमानी कर असत्य को सत्य और अधर्म को धर्म सिद्ध करने लगे तो सभासद उसे इन शब्दों से सावधान करें कि "धर्म ही रक्षित होकर रक्षण करता है; इसलिए धर्म का अतिक्रमण तुम्हारे सहित हम सबका वध न कर दे । धर्म ही प्राणी का एकमात्र सुहृद् है जो मरने के बाद भी उसके साथ जाता है । अन्य सब कुछ शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं :

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ (मनु० ८.१७)

अधर्म का एक पाद कर्ता, एक पाद साक्षी, एक पाद सभासद और एक पाद राजा को प्राप्त होता है । जहाँ निन्दार्ह की निन्दा कर दी जाती है वहाँ राजा और सभासद सभी निर्दोष हो जाते हैं, कर्ता को ही पाप प्राप्त होता है ।

राजा का कर्तव्य है कि धर्मदर्शन के लिए आसन पर बैठकर अनन्यमना हो लोकपालों को प्रणाम करे और फिर न्यायविचार करे । स्वरादि बाह्य लिंगों से अर्थी-प्रत्यर्थी के आन्तरिक भावों का ज्ञान होता है । गद्‌गद कण्ठ, मुख में स्वाभाविक वर्ण से भिन्न कालिमा आदि तथा इंगित (अधोनिरीक्षण आदि) से भीतर के भावों का ज्ञान होता है ।

राजा को बालविधवा, वन्ध्या, निष्कुला, पतिव्रता, रोगिणी आदि के धन की रक्षा करनी चाहिए । मनु वर्णाश्रमव्यवस्था को महत्त्व देते हैं, अतः वे कर्म-

सांकर्य के विरोधी हैं। वे धर्मविवेचन में ब्राह्मण का ही अधिकार मानते हैं। उनके अनुसार शूद्रको धर्मविवेचन में कभी भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

प्राड्विवाक आस्तिक एवं धार्मिक होना चाहिए, तभी वह धर्म की बातें बताकर साक्षियों से सत्य कहला सकेगा। कारण प्राड्विवाक का दूसरा नाम 'धर्मस्थ' भी होता है।

साक्षी साक्ष्य (गवाही) में सत्य बोलकर ब्रह्मादि उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त होता है और इस लोक में भी कीर्ति पाता है, क्योंकि सत्यवचन पुरुष ब्रह्मा द्वारा भी पूजित होता है :

> सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
> इह चानुत्तमां कीर्ति वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ (मनु० ८.८१)

साक्ष्य में मिथ्याभाषण करता हुआ साक्षी वरुणपाशों (सर्परज्जुओं) और जलोदरादि रोगों से सैकड़ों जन्म पीड़ित रहता है, जब कि वह सत्यभाषण से पूर्वार्जित पापों से छुटकारा पा जाता है। सत्यभाषण से उसके धर्म की वृद्धि होती है। धार्मिक न्यायाधीश कहता है कि आत्मा ही आत्मा का साक्षी एवं गति या शरण है। अत: मिथ्याभाषण द्वारा कथमपि अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।

पापी समझता है कि हमें पाप करते हुए कोई नहीं देखता। किन्तु द्यौ, भूमि, जल, हृदयस्थ जीव, चन्द्र, आदित्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ तथा साक्षात् धर्मराज ये सभी देवता प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को देखते रहते हैं। अन्ततः अपने भीतर का अन्तरात्मा तो सब कुछ देखता है

धर्मस्थ न्यायाधीश का कर्तव्य है कि देवता एवं ब्राह्मण के सन्निधान में स्वयं स्नानादि से पवित्र एवं संयत होकर उत्तराभिमुख या पूर्वाभिमुख बैठ साक्षियों से प्रश्न करे। यथायोग्य सत्य से, गो-बीज-काञ्चन के अपहरण या सर्वपापसंसर्ग की शपथ से वह उससे सत्य कहलवाने का प्रयत्न करे। ब्रह्महत्या करनेवाले, स्त्रीघाती, बालघाती, मित्रद्रोही और कृतघ्नों को जो लोक मिलते हैं, साक्ष्य में मिथ्याभाषण करनेवालों को वे सभी लोक प्राप्त होते हैं।

न्यायाधीश साक्ष्य देनेवाले से कहे कि 'हे भद्रपुरुष ! तुमने जन्म से लेकर आजतक जो कुछ पुण्यकर्म किया है, यदि असत्य बोलोगे तो वह सारा कुक्कुरादि को प्राप्त हो जायगा। यह मत समझो कि मैं अकेला हूँ, मुझे कोई नहीं देखता। तुम्हारे हृदय में स्थित पुण्य-पाप का द्रष्टा परमात्मा सब कुछ देख रहा है। सर्वसंयमन करनेवाला यम, दण्डधारी वैवस्वत तुम्हारे हृदय में ही अवस्थित है। यथार्थ (सत्य) बोलने पर उससे तुम्हारा कोई विवाद नहीं होगा। वह तुम्हारे

मन के सत्यभाव को जानता है। फिर भी यदि तुम भाव छिपाकर अन्यथा बोलोगे तो उस अन्तर्यामी के साथ तुम्हारी विप्रतिपत्ति होगी। सत्य बोलने से ही प्राणी निष्पाप एवं कृतकृत्य होता है। फिर पापहरण के लिए गंगा या कुरुक्षेत्र जाने की आवश्यकता नहीं रहती" :

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥ (मनु० ८.९२)

"साक्ष्य में मिथ्या-भाषण करनेवाला नग्न, मुण्ड, अन्ध होकर क्षुधा-पिपासा से व्याकुल हो खप्पड़ लेकर शत्रुकुल में भिक्षा के लिए भटकता है। धर्मनिश्चय के लिए पूछे जानेपर जो गवाह बनकर असत्य-भाषण करता है, वह किल्विषी अन्धतम नरक में जाता है। जो उत्कोच (घूस) आदि से प्राप्त सुख के लोभ से सभा (अदालत) में झूठ बोलता है, वह सुखबुद्धि से सकण्टक मत्स्य भक्षण करनेवाले अन्धे की तरह सुखबुद्धि से प्रवृत्त होकर भी दुःख ही पाता है। जिसके बोलने में अन्तर्यामी को कोई शंका नहीं होती, उसीको देवता लोग प्रशस्त पुरुष कहते हैं।

पशु के संबन्ध में झूठ बोलनेवाला अपने पाँच बान्धवों को नरक भेजकर उनके हनन का फल पाता है। गाय के विषय में झूठी गवाही देनेवाला दश और अश्व के विषय में झूठी गवाही देनेवाला सहस्र बन्धुओं को नरक में भेजने तथा उनके हनन के पाप का भागी होता है। सुवर्ण के लिए झूठी गवाह देनेवाला उत्पन्न, अनुत्पन्न सभी बन्धुओं को नरक में प्रेषित करता और उनके हनन का पाप भोगता है, तो भूमि के बारे में झूठ बोलने पर वह सर्वप्राणियों के वध का पाप पाता है। अतः कभी भूमि के बारे में झूठी गवाही नहीं देनी चाहिए :"

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः॥ (मनु० ८.९९)

एक धार्मिक न्यायाधीश के मुख से धर्मस्थान, देवता एवं ब्राह्मण के सन्निधान में ऐसी बातें सुनने पर साक्षी के मन पर निश्चय ही प्रभाव पड़ता है और वह सत्य बोलता है। हाँ, गायों के घासादि उपहार तथा अग्निहोत्रहोमादि उपहार तथा ब्राह्मण-रक्षादि के लिए मिथ्याभाषण में दोष नहीं होता। यह उसका अपवाद है।

धर्मशास्त्रों ने लोभ, मोह, भय, मैत्री, काम, क्रोध, अज्ञान एवं बालिश्य (मूर्खता) से मिथ्या गवाही देनेवालों के लिए दण्ड का विधान है। वेदों एवं मन्वादिकों ने राजा-प्रजा तथा व्यष्टि-समष्टि जगत के लिए जिन नीतियों का

निर्देश किया है, इतिहास-पुराणों ने उन्हींका उपबृंहण कर सरल एवं सुगम बनाने का प्रयत्न किया है ।

मार्कण्डेयपुराण की महाविदुषी मदालसाने अपने पुत्रों को लालन-पालन के प्रसंग से ही ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न बनाकर कृतार्थ कर दिया। जिस पुत्र को राज्यभार वहन करना था, उसे ज्ञान-वैराग्य के साथ-साथ नीतिनिपुण एवं व्यवहारदक्ष बनाकर उसके लिए लोक-परलोक-व्यवहार का मार्ग प्रशस्त कर दिया । मदालसा के निम्नलिखित उपदेश कितने महत्त्वपूर्ण हैं, यह विद्वानों से छिपा नहीं है। अध्यात्मवाद पर आधृत धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र के राजा-प्रजा के लिए ये उपदेश प्रतीकरूप हैं :

धरामरान् पर्वसु तर्पयेथाः समीहितं बन्धुषु पूरयेथाः ।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथा मनः परस्त्रीषु निवर्तयेथाः ॥
सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथास्तद्ध्यानतोऽन्तःषडरीन् जयेथाः ।
मायां प्रबोधेनैव निवारयेथा ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः ॥
अर्थागमाय क्षितिपं जयेथा यशोऽर्जनायार्थमपि व्ययेथाः ।
परापवादश्रवणाद्विभीथा विपत्समुद्राज्जनमुद्धरेथाः ॥
राज्यं कुर्वन् सुहृदोऽनन्वयेथाः साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः ।
दुष्टान्निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं भजेथाः ॥

(मार्कण्डेय पुराण २१.३६–३९)

वत्स ! पर्वों पर ब्राह्मणों को तृप्त करो और अपने बन्धुओं के अभीष्टों को पूरा करो। सदा दूसरों के हित का चिन्तन करो और परस्त्रियों से मन को सदैव निवृत्त रखो। हृदय में सदा मुरारि भगवान् का चिन्तन करो और उनके ध्यान से काम-क्रोधादि छः आन्तर शत्रुओं जीतकर वश में करो। शास्त्रोक्त प्रकृष्ट बोध से माया तथा मायामय प्रपञ्च का विचार करो और उसकी अनित्यता का चिन्तन करो। अर्थार्जन के लिए राजाओं पर विजय पाओ, यश अर्जन के लिए धन का उचित पात्रों में व्यय करो। दूसरों का अपवाद सुनने से सदा भय करो और विपत्समुद्र में पड़े प्राणियों का उद्धार करो। राज्य-संचालन करते हुए सुहृदों को आनन्दित करो। साधुओं की रक्षा करते हुए यज्ञों द्वारा परमेश्वर का यजन करो। युद्ध में दुष्टों का हनन करो और गो-ब्राह्मणों के लिए स्वयं मृत्यु भी वरण करो।

४. कवियों की काव्य-कला में

महाकवि कालिदास, भारवि, माघ प्रभृति काव्य निर्माताओं ने भी उन्हीं वेद-पुराण और इतिहासादि वर्णित, भारतीय संस्कृतगर्भित इन्हीं नीतियों का और भी रोचक ढंग से वर्णन किया है।

भारतीय राजाओं का स्वरूप स्वभाव एवं महत्त्व का वर्णन करते हुए महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में कहा है :

सोऽहमाजन्म शुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
यथाविधि हुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ (रघु० १.५-८)

महाकाव्य के प्रारम्भ में महाकवि महनीय रघु राजा के कुल रघवंश के राजाओं के आदर्श आचरण का वर्णन करते हुए कहता है कि वे रघुवंशी राजा लोग जन्म प्रभृति निषेकादि संस्कारों से शुद्ध तथा सिद्धिपर्यन्त कर्म करनेवाले, समुद्रपर्यन्त भूमि के एकमात्र स्वामी अर्थात् सार्वभौम, स्वर्गतक रथ से यात्रा करने वाले अर्थात् इन्द्र के सहचारी, विधिवत् अग्निहोत्र करनेवाले, कामना के अनुसार याचकों का आदरपूर्वक मनोरथ पूर्ण करनेवाले, अपराध के अनुसार दण्ड-विधान करनेवाले, समय पर जागनेवाले, त्याग के लिए अर्थसंग्रह करनेवाले, सत्य के लिए मित भाषण करनेवाले, यश के लिए विजय की इच्छावाले, सन्तति के लिए दारसंग्रह करनेवाले, बालकपन में विद्याभ्यास करनेवाले, युवावस्था में भोग की इच्छावाले, वृद्धावस्था में मुनिवृत्तिवाले और अन्त में योग से शरीर त्याग करनेवाले होते थे।

महाराज दिलीप की बुद्धि उनके आकार के सदृश ही थी, बुद्धि के समान ही उनका शास्त्र का परिश्रम था। शास्त्र के समान ही वे कर्म करते और कर्म के समान ही फल पाते थे :

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भ सदृशोदयः ॥ (१.१५)

महाराज दिलीप प्रजा की वृद्धि के लिए ही उससे कर ग्रहण करते थे। भगवान् भास्कर हजारों गुना वर्षा करने के लिए ही गर्मी में जल शोषण करते हैं :

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ (१.१८)

महाराज दिलीप स्वयं ही बलवान् थे। सेना उनकी छत्र-चामर की तरह उपकरणमात्र थी। शास्त्रों में अकुण्ठित बुद्धि और धनुष पर चढ़ी डोरी ये ही दोनों उनके कार्यसाधक थे :

सेनापरिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम्।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता॥ (१.१९)

महाराज दिलीप का मन्त्र गुप्त रहता था और आकार तथा चेष्टा भी गुप्त रहती थी। इसीलिए उनके द्वारा प्रयुक्त सामादि उपायों का पता फल होने पर ही लगता था, जैसे कि फलों द्वारा ही पूर्वजन्म के संस्कारों का पता लगता है :

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव॥ (१.२०)

महाराज दिलीप अपनी रक्षा करते थे, किन्तु उन्हें डर नहीं था। वे बिना विपत्ति के ही धर्म का पालन करते थे। अर्थसंग्रह करते हुए भी वे लोभी नहीं थे और सुख भोगते थे, किन्तु उसमें उनकी किसी प्रकार आसक्ति नहीं थी :

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥ (१.२१)

महाराज दिलीप दूसरे की बात जानते हुए भी मौन रहते थे। प्रतीकार की सामर्थ्य रहने पर भी दूसरे का अपकार सहते थे। दान करके अपनी प्रशंसा नहीं करते थे। इस तरह परस्पर विरोधी भी गुण उनमें ऐसे एक साथ रहते थे, मानो सभी सहोदर हों :

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात् तस्य सप्रसवा इव॥ (१.२२)

प्रजाओं को सन्मार्ग पर लगाने, उनकी विपत्ति दूर करने और अन्नपानादि द्वारा पोषण करने से उनके मुख्य पिता महाराज दिलीप ही थे। उनके अपने पिता केवल जन्ममात्र देने वाले थे ;

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ (१.२४)

इस प्रकार राजा लोकस्थिति बनाये रखने के लिए ही दण्ड्यों को दण्ड देता था। सन्तानोत्पत्ति के लिए ही विवाह करता था। इस तरह दण्ड और विवाह भी जो कि अर्थ एवं काम के साधन थे, लोकस्थिति और प्रजोत्पादन के लिए ही थे। सुतरां उनका पर्यवसान भी धर्म में हो गया था, अर्थात् उनके धर्म-अर्थ भी धर्म रूप ही थे :

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुः प्रसूतये।
तस्यार्थकामावप्यास्तां धर्म एव मनीषिणः॥

महाराज दिलीप यज्ञ करने के लिए पृथ्वी से कर ग्रहण करते थे और देवराज इन्द्र धान्यवृद्धि के लिए वर्षा करते थे। इस तरह दोनों परस्पर आदान-प्रदान से दोनों लोकों का धारण-पोषण करते थे :

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥ (१.२५-२६)

अन्य राजाओं के लिए दिलीप का अनुकरण असम्भव था; क्योंकि परस्वापहरण से सभी के डरने के कारण उसके राज्य से तस्करता (चोरी) धन से हटकर शब्दरूप से कान में रह गयी थी :

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितो यशः।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता॥ (र० म० १.२७)

शिष्टजन (सज्जन) द्वेषी होनेपर भी महाराज दिलीप को प्रिय थे, जैसे कि रोगी को औषध प्रिय होता है। यदि अपना प्रिय भी दुष्ट होता तो महाराज दिलीप को वह वैसे ही त्याज्य होता था, जैसे सर्पदष्ट अंगुलि :

द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता॥ (१.२८)

समुद्रका तट ही जिसकी चहारदीवारी और समुद्र ही जिसकी खाईं है, उस अखण्ड भूमण्डल के एकमात्र शासक महाराज दिलीप अखण्ड भूमण्डल का इस तरह अनायास शासन करते थे जिस तरह एक नगरीका ही शासन हो :

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम्।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव॥ (१.३०)

इतना सर्वसमर्थ चक्रवर्ती राजा दिलीप भी अपने कुलगुरु वशिष्ठ के पास पहुँचने पर यह अद्भुत विनय की भाषा बोलता है कि गुरुदेव, मेरी प्रजा अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि इतियों से रहित हो निर्भय रहकर पुरुषायुषपर्यन्त जीवित रहती है, उसका एकमात्र कारण आपका ब्रह्मतेज है :

पुरुषायुषजीवन्यो निरातङ्का निरीतयः।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ (१.६३)

महाकवि कालिदास के मतानुसार ब्राह्मबल और क्षात्रबल के प्रभाव से ही चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप के पुत्र रघु की जल, स्थल, पर्वत और आकाश सर्वत्र अव्याहत गति थी। वे लिखते हैं कि जैसे वायु की सहायता से मेघ की सर्वत्र अव्याहत गति होती है, वैसे ही वशिष्ठजी के मन्त्र के प्रभाव से महाराज रघु के रथ की गति समुद्र, आकाश, पर्वत सर्वत्र ही अव्याहत थी। आजकल के संशयित विमानों की अपेक्षा रघु का रथ कहीं अधिक शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण था :

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात् प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य ॥ (५.२७)

अध्यात्मवाद पर आधृत धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र का सञ्चालक सम्राट् दिलीप गुरु की आज्ञानुसार काया को छाया बनाकर नन्दनी गाय की सेवा में तत्पर हो गये। इससे स्पष्ट है कि गोब्राह्मण-सेवापरायणता ऐसे शासकों का स्वाभाविक धर्म था। महाकवि लिखते हैं कि महाराज दिलीप गोसेवा-व्रत के समय नन्दिनी गौ खड़ी होती थी तो खड़े होते थे, चलती थी तब चलते थे; बैठती थी तब बैठते थे; जब वह जल पीती तो वे जल पीते थे। इस तरह छाया के समान उसका अनुसरण कर रहे थे :

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ (२.६)

सम्राट् महाराज दिलीप स्वादिष्ट तृणों के कवलों (ग्रासों), कण्डूयनों, दंश के निवारणों और अव्याहत स्वच्छन्द गमनों द्वारा नन्दिनी गौ की आराधना में लगे थे :

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ (२.५)

प्रचण्ड शौर्यके साथ ही दयालुता भी उनमें अनिवार्य रूप से रहती थी। धनुर्धर महाराज दिलीप को देखते हुए भी हरिणियों के मन में आशंका नहीं होती

थी। इसीलिए समझना चाहिए कि उनका हृदय दया से भरपूर था। दयार्द्र महाराज दिलीप का शरीर देखते हुए हरिणियों ने अपनी आँखों के विस्तृत (लम्बी) होने का फल पा लिया :

> धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
> विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः॥ (२.११)

धर्मनिष्ठ राजा अपने प्रभाव से प्रजा पर आये भौतिक एवं आधिदैविक संकटों को भी दूर कर सकता है। आज हजारों लौकिक प्रयत्नों से भी अन्न संकट नहीं कट रहा है, धार्मिकता के बिना बरक्कत या समृद्धि नहीं हो रही है। किन्तु महाराज दिलीप के आगमन मात्र से वन के सब संकट दूर हो गये थे। कालिदास लिखते हैं :

महाराज दिलीप के वन में प्रवेश करते ही बिना वृष्टि के जङ्गल में लगी आग शान्त हो गयी। जङ्गल में फलों और पुष्पों की विशेष वृद्धि हो गयी। पशुओं में बलवानों ने दुर्बलों को सताना छोड़ दिया।

> शशाम वृष्ट्यापि बिनादवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
> ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने॥ (२.१४)

यह सब सेना, पुलिस या कोर्ट का प्रभाव नहीं; किन्तु धर्मनिष्ठा का ही लोकोत्तर प्रभाव था। धर्मनियन्त्रित शासक दिलीप धर्मपालन के सामने राज्य एवं प्राणों को भी तुच्छ समझते थे।

स्वयं को भक्ष्यरूप में समर्पित कर गायको बचाने को प्रस्तुत सम्राट् दिलीपसे जब सिंह ने कहा कि 'अपना एकच्छत्र साम्राज्य और नवीन यौवनभरा शरीर एक छोटी-सी गाय के लिए त्यागनेवाले तुम मुझे कार्याकार्य के विवेक में मूर्ख मालूम पड़ते हो', तब महाराज दिलीप उसे उत्तर देते हैं :

> क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
> राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥ (२.५३)

क्षत (विनाश) से रक्षा करने (बचाने) के कारण क्षत्रिय-जाति वाचक 'क्षत्र'-शब्द विश्वविख्यात है। इसके विपरीत यदि हम एक नन्दिनी गौ को न बचा सके तो राज्य से ही हमारा क्या लाभ ? निन्दा से मलिन प्राणों को ढोने से फल ही क्या है ? अर्थात् धर्मविमुख निन्दित पुरुष का सब कुछ व्यर्थ है। धर्मनियन्त्रित शासक धर्मप्रभाव से न केवल प्रजाओं के स्थूल शरीरोंपर ही शासन करता है, अपितु उनके मनों को नियन्त्रित कर उन्हें बुरे कामों से निवृत्त करता है। अपराध रोकने के लिए दण्ड-विधान ही नहीं, शासक की विशेष शक्ति भी अपेक्षित होती है।

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात्।
अन्तः शरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता॥ (६.३९)

महाराज कार्तवीर्य प्रजा के मन में भी असत्कार्य का विचार आते ही धनुष-बाण धारण कर प्रकट हो जाते थे। इस तरह उन्होंने प्रजा के मन से भी अपराध-सृष्टि रोक दी। धर्म एवं योगबल से वे प्रजा के मन के दुर्विचारों को जान लेते और तत्काल योगबल से ही प्रकट हो आतंकित कर उन्हें रोक देते। इस तरह शरीर से अपराध की बात कौन कहे, मन से भी पाप करने में प्रजा सदैव डरती रही।

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥ (६.७५)

महाराज दिलीप के शासन-काल में उद्यान में घूमने के लिए गयी मत्तांग-नाओं के उद्यान में सो जाने पर उनकी देहपर से वस्त्र हटाने की सामर्थ्य पवन में भी नहीं थी। फिर दूषित-वृत्ति या चोरी करने के लिए कोई हाथ कैसे बढा सकता था? तब आज की चोरी, डकैती, अनुशासनहीनता की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती थी।

सीता-वनवास से क्षुब्ध महर्षि वाल्मीक जी कहते हैं :

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात् कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे॥ (१४.७३)

अर्थात् यद्यपि राम ने रावण को मारकर सबके मार्ग का कांटा दूर कर दिया, वे सत्य प्रतिज्ञ हैं। सबका उपकार करके भी अपनी प्रशंसा नहीं करते। इतने सारे गुणगण विद्यमान होने से वे मुझे प्रिय होने चाहिए; तथापि तुम्हारे साथ उन्होंने अकस्मात् ऐसा व्यवहार किया, इसलिए मुझे उनपर क्रोध है ही। अर्थात् उन्होंने सीता के साथ वनवास देने का अन्याय क्यों किया?

भले ही आपात दृष्टि से यह अन्याय प्रतीत होता है। वस्तुतः भगवान् राम कभी शत्रु का भी अहित नहीं कर सकते थे : अरिहुँक अनभल कीन न रामा, फिर अपनी ही प्राणेश्वरी सीता का अहित कैसे करते? धर्मनियन्त्रित शासकोंपर सर्वदा धर्मनिष्ठ महर्षियों का नियन्त्रण रहता था। इसलिए वशिष्ठ, वाल्मीकि महर्षि भगवान् राम के भी गुण-दोषों का विचार कर गुणों की प्रशंसा कर किञ्चित् दोषों से भी उन्हें अवगत कराते रहते थे।

वस्तुतः नीति, प्रीति, परमार्थ एवं स्वार्थ के परम रहस्य को मात्र राम ही जानते थे, अन्य कोई नहीं :

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान यथारथ॥

भगवती सीता के वनवास में नीति, प्रीति, परमार्थ एवं स्वार्थ का यथार्थतः सामञ्जस्य हुआ है। देखिये :

नीति : लोकतन्त्रात्मक शासन की यही विशेषता होती है कि शासन की सम्पूर्ण गति-विधि जनसमूह की इच्छा का अनुकरण करनेवाली होनी चाहिए। अपने या भाई-भतीजों के स्वार्थवश, शासन कभी जनसामान्य की इच्छा को नहीं ठुकरा सकता। इसी दृष्टि से शासन की सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित मानी जाती है। धर्मनियन्त्रित राजतन्त्र में भी लोकतन्त्र के ये गुण अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में व्यक्त होते हैं। राम ने अपनी प्रतिज्ञा में इन्हीं भावों को व्यक्त किया था :

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

अर्थात् राजा राम कहते हैं कि 'स्नेह, दया, सुखादि, किं बहुना हृदयेश्वरी जनकनन्दिनी को भी त्यागना पड़े तो भी मुझे व्यथा न होगी।'

आत्मा या आत्मीयों के स्वार्थवश नासमझ शासक जनता की भावनाओं की उपेक्षा करते हुए अर्थदण्ड अथवा कारागार दण्ड का विधान करते हैं, अस्त्र-शस्त्र एवं तोपबन्दूकादि के बलपर जनता का मुख बन्द करने का असफल प्रयत्न करते हैं। किन्तु समझदार शासक जानता है कि मात्र दण्डविधान से जनता का मुँह बन्द नहीं किया जा सकता। यदि जबरदस्ती मुँह बन्द करने का प्रयत्न किया भी गया तो, हजार-हजार मुखों से ही विरोधी आवाजें निकलेंगी। अपनी दुर्नीति बदलने से ही जनता का मुंह बन्द किया जा सकता है, दण्डभय से नहीं।

यद्यपि जनकनन्दिनी महाराज्ञी सीता के विरोध में बहुमत नहीं था, कुछ ही लोगों को इसपर आपत्ति थी कि 'रावण की लंका में महीनों तक रहनेवाली सीता को राम ने राजमहलों में कैसे रख लिया? इस प्रकार तो हमारे घर की स्त्रियाँ भी बाहर रहकर घरों में पुनः रहने लग जायँगी जिससे निश्चय ही मर्यादा-भंग हो जायगी।' उनको यह विदित नहीं था कि श्री सीता अनन्तब्रह्माण्डजननी, आनन्दसिन्धु रामचन्द्र के माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री महाशक्ति हैं। उन्होंने लंका का अन्न-जल-फल ग्रहण किये बिना ही इन्द्रप्रदत्त विशिष्ट चरु को एक ही बार ग्रहण कर लंका में काल-यापन किया था। वे, भानुकी प्रभा, चन्द्र की चन्द्रिका, गंगा की पवित्रता के तुल्य आनन्दसिन्धु भगवान् राम की माधुर्यसारसर्वस्वा रूपा ही हैं। पुनश्च-देवताओं, ऋषियों, वानरों एवं राक्षसों के सामने श्री सीता जी ने अग्नि-प्रवेश किया और सबके समक्ष साक्षात् वैश्वानर अग्नि ने उनका पावित्र्य प्रमाणित कर दिया था। ब्रह्मदेव एवं आशुतोष सदाशिव ने उनके पावित्र्य को परिपुष्ट किया था। फिर भी उसका वर्णन श्रीराम के पक्ष की ओर

से होने में शासकीय प्रचारमात्र समझा जा सकता था । अतः श्रीराम ने बहुमत नहीं वरन् अल्पमत का भी आदर करते हुए श्रीसीता को अरण्यवास दिया और निष्पक्ष, वीतराग महर्षियों को अवसर दिया कि वे दूध का दूध और पानी का पानी के समान अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा प्रजा के सम्मुख सत्य वस्तुस्थिति रखें ।

हुआ भी ऐसा ही । जिस वन में सीता को निर्वासित किया था, वहीं कुछ दूर पर महर्षि वाल्मीकि का आश्रम था । उनके कुछ ब्रह्मचारी छात्र समित्-कुशादि लेने के प्रसंग से उधर पहुँच गये और उन्होंने हो उस अलौकिक दिव्य महाशक्ति के दर्शन एवं रोदन की सूचना महर्षि को दी । महर्षि प्राचेतस वाल्मीकि ने अपने ध्यानयोग से वस्तुस्थिति समझकर सीता से कहा : 'पुत्रि, तुम्हारे पिता जनक मेरे मित्र हैं, तुम्हारे श्वसुर चक्रवर्ती दशरथ भी मेरे शिष्य थे । अतः तुम पितृगृहतुल्य मेरे आश्रम में चलकर रहो ।'

श्री सीता महर्षि के पीछे-पीछे चलकर आश्रम में आयीं । महर्षि ने आश्रम की ऋषिपत्नियों को उनकी देख-रेख, रक्षण-पोषण आदि के लिए नियुक्त किया । वहीं उनके लव-कुश नामक दो पुत्ररत्नों का जन्म हुआ जिनका संस्कार, शिक्षण-रक्षण सब महर्षि के ही देख-रेख में हुआ ।

धर्मधुरन्धर चक्रवर्ती नरेन्द्र राघवेन्द्र रामचन्द्र द्वारा निर्वासिता सीता को अपने आश्रममें प्रश्रय देते हुए महर्षि ने अपने उत्तरदायित्व को खूब समझ लिया और उस मिथ्याभिशाप का समूल उन्मूलन कर देने के लिए कृतसंकल्प थे । विश्व-विधाता ब्रह्मा भी यह सब महर्षि वाल्मीकि द्वारा ही करवाना चाहते थे । तमसा के तटपर विहरण-परायण क्रौंच-युग्म में से एक क्रौंच के व्याध द्वारा मारे जानेपर क्रौंची का करुण-क्रन्दन सुनकर महान् क्लेशानुभूति करनेवाले महर्षि की आँखों के सामने सीता के करुण-क्रन्दन का दृश्य खड़ा हो गया । पहले से ही करुणारस-पूरित वाल्मीकि का हृदय इस दृश्य से आहत होकर छलक पड़ा और वही शोक करुणरस का श्लोक बन महर्षि के मुखारविन्द से विश्वकल्याण के लिए प्रस्फुटित हो आया : शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ (वा० रा० १.२.४०) शोक श्लोक बन गया । वह श्लोक था :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ (वा०रा०१.२.१५)

भरद्वाज आदि शिष्यों ने आदिकाव्य के इस प्रथम श्लोक को सुनकर धारण कर लिया । यह श्लोक, लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा की इच्छा से, ब्राह्मी महा-शक्ति सरस्वती की कृपा से व्यक्त हुआ था । श्लोक के ऊपरी अर्थ में तो निषाद (व्याध) के लिए एक प्रकार का शाप ही है । यथा : हे निषाद ! तुम पुरुषा-

युष्य तक शान्ति या प्रतिष्ठा न प्राप्त कर सकोगे; क्योंकि तुमने क्रौंच-युग्म में एक को मार दिया है।' किन्तु अन्तरंग अर्थ यह है कि रावण-मन्दोदरीरूप युग्म ही वे क्रौंच-युग्म थे। रामरूप लक्ष्मीपति ने ही निषाद रूप से रावण को मारा था। इस दृष्टि से यह श्लोक आशीर्वादात्मक मंगलाचरण ही है। यथा :

हे मानिषाद (मायां लक्ष्म्यां निषीदतीति)

लक्ष्मीपते ! तुम शाश्वती : समा: = अनन्तकाल तक प्रतिष्ठित रहो, क्योंकि तुमने रावण-मन्दोदरीरूप युगल के एक रावण को मारकर वेद, धर्म, संस्कृति सभी का रक्षण किया है।

महर्षि के हृदय में उक्त दृश्य के कारण नितान्त क्षोभ था ही, आश्रम में लौट आने पर भी वे उसी चिन्ता में निमग्न थे कि इतने में ही लोकपितामह ब्रह्माजी पधारे। महर्षि ने पाद्य-अर्घ्य-मधुपर्क से उनका पूजन किया और फिर राम-वियुक्ता सीता के करुण-क्रन्दन के चिन्तन में ही निमग्न हो गये।

ब्रह्मा ने बतलाया : 'मेरी ही प्रेरणा से आदिकाव्य रामायण का यह प्रथम श्लोक आपके मुख से प्रकट हुआ है। आप समाधि द्वारा राम-सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, दशरथ, कौशल्या कैकेयी, एवं सुमित्रा आदि सभी के हसित-भाषित, इङ्गित-चेष्टित का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर इसी प्रकार श्लोकों द्वारा राम-सीता के परम पवित्र चरित्रों का वर्णन करो। मेरे प्रसाद से तुम्हारे इस काव्य में तुम्हारी कोई भी वाणी अनृत न होगी :

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति। (वा० रा० १.२.३५)

इस प्रकार ब्रह्मा की प्रेरणा से महर्षि ने समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा सीता एवं राम के सम्पूर्ण चरित्र का पूर्ण एवं यथार्थ अनुभव कर दिव्य श्लोकों में शतकोटि-प्रविस्तर रामायण का वर्णन किया। वह वर्णन निःसंकोच एवं परम सत्य था संवाददाताओं एवं टेलीप्रिंटरों द्वारा भेजी गयी अथवा आँखों देखी घटनाओं में भी भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा तो सर्वथा ऋत (सत्य) का ही दर्शन होता है। और जगह तो काव्य-सौष्ठव आदि की दृष्टि से कुछ औपचारिक बातें भी लायी जाती हैं, किन्तु यहाँ तो सीता-चरित्र वर्णन की दृष्टि से शुद्ध सत्य का वर्णन अपेक्षित था।

महर्षि ने सीतापुत्र लव-कुश का यथावत् संस्कार किया और वेदों, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद आदि उपवेदों का भी सांगोपांग शिक्षण दिया। पश्चात् वेदों के उपबृंहण के लिए ही रामायण का अध्यापन किया और तन्त्री-वीणा के तालस्वर के साथ संगीत रूप में रामायण का अभ्यास कराया। वे दोनों ही बालक दीप से उद्भूत दो दीपों के समान सर्वथा श्री राम के ही अनुरूप थे। सीताराममय दिव्य

दम्पती के दिव्य दीप्ति एवं प्रभाव से युक्त थे । अश्विद्वय (अश्विनीकुमारों) से भी अत्यधिक सुन्दर वे दोनों बालक जब अपनी सम्पदा से युक्त वीणा-वादन पूर्वक रामायण का गायन करते तो सभी मोहित हो उठते । अनेकबार उनका रामायण-गान सुन ऋषिगण मन्त्रमुग्ध हो जाते और प्रेमविह्वल हो कोई ऋषि अपना कमण्डलु, कोई मेखला, कोई वृसी आदि पुरस्कार के रूप में देने लगते ।

श्री राम के अश्वमेध-यज्ञ में निमन्त्रित होकर महर्षि प्राचेतस् एवं उनके सब आश्रमवासी नैमिषारण्य पधारे हुए थे । वहाँ महर्षि दोनों बालकों (लव-कुश) को फल-मूल भोजन कराकर कुछ साथ के लिए भी दे देते और कहते कि 'जाकर अवधवासियों को रामायण सुनाओ और भूख लगने पर अपना ही फल खाओ, प्यास लगने पर अपने आप ही नदी या कूप से जल निकाल कर पीओ । किसी से कुछ देने पर भी लेओ नहीं, फिर भी जो श्रद्धा से सुने, उसे रामायण सुनाओ ।' महर्षि के आदेशानुसार दोनों बालकों ने अयोध्याकाण्ड का ही प्रसंग अवधवासियों को सुनाना प्रारम्भ कर दिया । जो भी इस प्रसंग को सुनता मन्त्र-मुग्ध हो जाता, आँखों देखी पुरानी घटनाओं का प्रत्यक्ष चित्र उनके सामने उप-स्थित हो जाता । सबको आश्चर्य होता कि कितना सुन्दर, कितना सत्य, कितना सरल और कितना हृदयस्पर्शी था वह चरित्रचित्रण ! लोग बालकों के गान से प्रभावित होकर उन्हें बहुत कुछ देना चाहते, किन्तु वे कुछ न लेते ।

यह समाचार राम-दरबार में भी पहुँच गया । वहाँ भी सबको उस आश्चर्य-जनक चरित्र-चित्रण के रसास्वादन की उत्सुकता हुई । अश्विकुमार के तुल्य, सुभग सीता-पुत्रों ने ऋषिकुमार के रूप में, वहाँ भी अपने स्वर, संगीतसौष्ठव, तथा सौम्य-सुन्दर दिव्य आकृति से सभी को प्रभावित कर दिया । उनके रामायण-गान से राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, वशिष्ठादि महर्षि एवं अमात्य वर्ग आदि सभी मोहित हो उठे । श्री रामचन्द्र ने रामायण-गान के अन्त में लक्ष्मण को आदेश दिया कि 'इन बालकों को शतभार सुवर्ण एवं रत्न प्रदान किया जाय ।' किन्तु बालकों ने परम निःस्पृहभाव से स्पष्ट कह दिया कि 'हम लोग कन्द-मूल-फलाशी, वल्कलवसनधारी आश्रमवासी हैं । हमें आपके सुवर्ण-रत्नों की अपेक्षा नहीं । फिर भी यदि आप लोगों की इच्छा हो तो हम रामायण सुना सकते हैं ।' तदनुसार विशेष रूप से रामायण-श्रवण का प्रवन्ध किया गया । संसार के सभी गण्यमान्य ऋषि-महर्षि, राजर्षि, चातुवर्ण्य प्रजा के विशेष प्रतिनिधि, देव, असुर, गंधर्व सभी वहाँ उपस्थित हुए । लोकोत्तर सौन्दर्य, अद्भुत वेदवेदांग-पण्डित्य, दिव्य वीणा-वादन और मनोहर स्वर के साथ परम निःस्पृहता एवं अद्भुत त्याग ने सबके मन को अपनी मुट्ठी में कर लिया ।

ऊँचे से ऊँचे गुण भी सस्पृहता से फीके पड़ जाते हैं । सस्पृह की अच्छी से

अच्छी सच्ची बातों पर भी लोगों को आदर एवं विश्वास नहीं हो पाता। किन्तु जो निःस्पृह एवं त्यागी होता है, उसी वक्ता का जनता पर समुचित प्रभाव पड़ता है। फिर यहाँ तो कहना ही क्या? निःस्पृह परमविरक्त महर्षि की ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट सत्यं शिवं सुन्दरम् रामायण-महाकाव्य का निःस्पृह ऋषि-कुमारों द्वारा गायन सुनकर सबको वर्णित घटना के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास हो गया। 'स्थालीपुलाक' न्याय से सम्पूर्ण चरित्र की सत्यता में सबका विश्वास हो गया। अयोध्याकाण्ड की सत्यता में सबका विश्वास हो गया। सत्य घटनाओं को सुनकर अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर एवं लंकाकाण्ड के चरित्र-श्रवण की सबको उत्कट उत्कण्ठा हुई। सीता-चरित्र की जिज्ञासा भी जागरूक थी ही। सबने सब सत्य घटनाओं को मन्त्रमुग्ध की भाँति सुना और श्रद्धा-विश्वास से भगवती सीता के परमपवित्र चरित्र की प्रशंसा की। कुटिलों को भी अपनी दुर्भावना पर पश्चात्ताप हुआ। सीतायाश्चरितं महत् (वा० रा० १.४.७) महर्षि वाल्मीकि के इस वचन के अनुसार उसमें प्रधान रूप से तो सीता-चरित्र का ही वर्णन था; किन्तु पतिव्रता सीता का वह चरित्र जब तक उनके पति भगवान् के चरित्र का वर्णन न होता, तब तक अपूर्ण ही रहता। अतः उसमें राम-चरित्र का भी वर्णन किया गया था।

यह वर्णन राजकीय प्रकारभाव (प्रोपेगेण्डा) न था, किसी राज्याश्रित कवि की काव्य-कल्पना न थी, यह थी राज्याश्रय से दूर रहकर, राजान्न से बचकर, कन्द-मूल, वल्कल-वसन पर निर्भर तपोनिष्ठ, समाधिसम्पन्न, त्रिकालज्ञ महर्षि प्राचेतस् वाल्मीकि की समाधि भाषा, जिसका गान कर रहे थे उन महर्षि के ही परम प्रिय शिष्य, परमविद्वान् परमत्यागी, वनवासिनी वनदेवी के पुत्र लव और कुश। ऐसी स्थिति में जनता का सुस्थिर विश्वास क्यों न हो और कुटिल हृदयों के भी काले कल्मष उससे क्यों न धुल जायँ?

सभी के हृदय पिघल गये, कण्ठ गद्गद हो गये, अंग रोमांच-कण्टकित हो उठे, आँखों से आनन्दाश्रु एवं शोकाश्रु की धाराएँ बह पड़ीं। राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, माताएँ, परिवार के अन्य लोग प्रेम-समुद्र में निमग्न हो गये। वशिष्ठादि ऋषिगण भी प्रेमोद्रेक में अधीर हो उठे। महाशक्ति भगवती चिदानन्द-स्वरूपा सीता के उज्ज्वल चरित्र ने सबके अन्तःकरण एवं अन्तरात्मा को उद्योतित कर दिया। महर्षि वाल्मीकि की रामायण से सबको स्पष्ट विदित हो गया कि सीता के असाधारण तेज के सामने रावण का प्रभाव सर्वथा नगण्य है। श्री सीता अपने अखण्ड पातिव्रत्य तेज के प्रभाव से रावण की लंका में रहती हुई भी रावण को तृण-तुल्य समझती थीं। सिंहनी के तुल्य उस वीरपत्नी और वीरप्रसू ने कहा था। 'दुष्ट रावण! सावधान, मेरे भगवान् राम का सन्देश एवं आदेश न होने

और अपनी तपस्या पालन करने के अभिप्राय से मैं तुझे अपने तेज से भस्म नहीं कर रही हूँ। अन्यथा क्षणभर में मैं तुझे अपने भस्माई तेज से भस्म कर सकती हूँ :

असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् ।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥ (वा० रा० ५.२२.२०)

ऐसे अवसरों पर रावण में श्री सीता के सामने स्थिर रहने की हिम्मत नहीं रहती थी। यह कोई कवि-कल्पना नहीं, महर्षि की समाधि भाषा की सत्य-वाणी है।

वहीं कुछ क्षणों के पश्चात् जब राक्षसियों द्वारा सीता को यह समाचार सुनाया गया कि 'सीते, जो वानर आपके पास आया था, वह पकड़ लिया गया और उसकी पूंछ में घृत-तैलाक्त वस्त्र लपेटकर आग लगा दी गयी।' तत्काल श्रीसीता ने अग्नि से कहा कि 'अग्ने यदि मैंने समुचित रूप से गुरु-शुश्रूषा की है, और ठीक तपस्या तथा पातिव्रत धर्म का परिपालन किया है तो तुम हनुमान् के लिए शीतल हो जाओ :'

यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः ।
यदि वास्त्येकपत्नीत्वं शीतो भव हनुमतः ॥ (वा० रा० ५.५३.२६)

सीता का आदेश पाते ही दहनकर्मा अग्नि शीतल हो गया। श्री हनुमान् को आश्चर्य हो रहा था कि मेरी पुच्छाग्नि से सम्पूर्ण लंका भस्मीभूत हो रही है, पुच्छ में तो उष्णता का लेश भी नहीं प्रतीत होता। प्रत्युत दहनकर्मा अग्नि मुझे हिम से अधिक सुशील प्रतीत हो रहा है। हनुमान् ने यह निश्चय किया था कि महाशक्ति सीता के तप, त्याग तथा पातिव्रत का ही प्रभाव है।

जो सीता अपने प्रभाव से अग्नि को ठंडा कर सकती थी, निश्चय ही वह अपने तेज से रावण को भस्म कर देती। यह सरलता से समझा जा सकता है। यही कारण है कि रामायण सुनकर श्री सीता का विरोधी कुटिल समाज भी पश्चा-ताप की अश्रुधाराओं से अपने कल्मषों को धो उनका भक्त बन गया।

यह थी महर्षि वाल्मीकि की लोकोत्तर सुमधुर कृति की कुशलता। वे अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हुए। यही थी श्री राघवेन्द्र की नीति, जिसके फल-स्वरूप ये घटनाएँ घटित हुईं। जो काम किसी दण्डविधान से या प्रचार (प्रोपे-गण्डा) से कभी सम्भव नहीं, वह उनकी नीति से अनायास सुसम्पन्न हुआ। फिर तो वशिष्ठ ने भी अपनी तपस्या एवं योगबल के प्रभाव से सत्य वस्तु का साक्षात्-कार कर जनता को सीता-चरित्र की निर्मलता का ज्ञान कराया। त्रिजटा एवं विभीषण पत्नी ने भी सीता के परमपवित्र चरित्र का बखान किया। अन्त में

परमानन्द सच्चिन्मयी पराम्बा सीता का अपने परम दिव्य रूप से महामहिम वैभवशालिनी माधवी देवी के अंक में प्रत्यक्ष प्राकट्य भी सबकी भ्रान्तियों को मिटाकर उनकी परम उपास्यता का प्रमाण बना ।

श्री सीता, रामचन्द्र की काया की छाया थी । राम-रूप भानु की प्रभा एवं रामरूप चन्द्र की चन्द्रिका थी । रामरूप ईश्वर की महाशक्तिरूपा प्रकृति थीं । आनन्दसिन्धु श्रीराम की माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी थीं । बहिरंग दृष्टि से ही राम-सीता का विप्रयोग सम्भव था, अन्तरंग दृष्टि से तो वह सम्भव ही नहीं । इसीलिए जैसे लंका में सीता की छाया ही रह सकी, वैसे बनवास में भी छाया ही थी । वस्तुतः जैसे अमृत से उसकी मधुरिमा का पार्थक्य असम्भव है, वैसे ही आनन्दसिन्धु राम से माधुर्यसारसर्वस्व सीता का पार्थक्य भी सर्वथा असम्भव है । फिर भी वह काल्पनिक प्रयोग भी राम के लिए असह्य वेदना का विषय था । यही कारण है कि अपने हाथों को श्रीराम निष्करुण कह रहे हैं :

निर्भरगर्भखिन्न-सीता-विनासनपटोः करुणा कुतस्ते ! हे हस्त ! अर्थात् हे हस्त ! तुम आसन्नप्रसवा सीता के निर्वासन में दक्ष हो । अतः तुम में करुणा कैसे हो सकती है ?'

फिर भी स्नेह एवं प्रेम के उद्वेग में भी राम ने कर्तव्य से विचलित न होने की प्रतिज्ञा ले रखी थी । वे किसी भी स्नेह, दया या सुख के मोहमें पड़कर लोकाराधन, प्रजारंजन के कार्य से कैसे विमुख हो सकते थे ? उन्होंने सीता का भी इसी में हित समझा था और वह हुआ भी । इस कठोरता का आश्रयण किये बिना महर्षि बाल्मीकि का समागम नहीं हो सकता था । उनके द्वारा विश्वपावन रामायण-महाकाव्य का निर्माण सम्भव न हो पाता और सीता के सुपुत्र लव-कुश इस प्रकार संस्कारी विद्वान्, बलवान्, धनुष्मान्, कीर्तिमान्, प्रतिभावान् नहीं बन सकते थे । सीता का कष्ट राम का ही कष्ट था । स्वयं राम ने ही सीता को वनवास दे स्वयं को कष्ट में डालकर उनके निर्मल, निष्कलंक परमपवित्र उज्ज्वल चरित्र को संसार के सामने उपस्थित कर दिया । परम सानुक्रोश होते हुए भी राम निरनुक्रोश से बन गये ।

श्रीराम ने वहीं लव-कुश से पूछा : 'तुम्हारी माता का क्या नाम है ?' उन्होंने कहा : हमारी माँ का नाम वनदेवी है । पिता का नाम पूछने पर कुश ने कहा : 'हम लोगों को मालूम नहीं । किन्तु लव ने कहा : मैं जानता हूँ, मेरे पिता का नाम निरनुक्रोश है । क्योंकि एक दिन माताने ही कहा था 'निरनुक्रोशतनयो' यह सुनकर श्रीराम के नेत्र भर आये ।

वस्तुतः जगज्जननी सीता राम के हृदय को पहचानती थीं । पहले उन्होंने बन में छोड़कर लौटते हुए लक्ष्मण से कहा था ।

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥
(रघुवंश १४.६१)

अर्थात् लक्ष्मण, मेरी ओर से उन राजा से यह कहो कि आपके सामने ही मेरी अग्निपरीक्षा एवं अग्निशुद्धि हुई थी, फिर भी आप लोकापवाद सुनने के कारण जो मेरा परित्याग कर दिया, क्या वह आपके कुल एवं श्रुत के सदृश है ?'

किन्तु दूसरे ही क्षण सीता ने फिर कहा : 'नहीं नहीं प्रभो ! आप तो प्राणिमात्र के हितैषी एवं कल्याण की कामना करनेवाले हैं । फिर मेरे सम्बन्ध में आपकी अन्यथा बुद्धि कैसे हो सकती है ? वज्रोपम असह्य श्रीचरण-विप्रयोगरूप दुःख तो मेरे ही पूर्वजन्मों के कर्मों का फल है :

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥
(रघुवंश १४.६२)

पतिव्रता,मुकुटशिरोमणि सीताजी ने कहा कि मैं 'प्रसव के पश्चात् सूर्य में दृष्टि लगाकर ऐसी तपस्या करूँगी, जिससे जन्मान्तर में भी आप ही मेरे भर्ता हों और फिर कभी ऐसा विप्रयोग न हो' :

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ (१४.६६)

श्रीराम ने सीता को वन भेजकर स्वयं तपस्या करते हुए ग्यारह हजार वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया और यागादि के लिए विहित होने पर भी दूसरा परिणय (विवाह) नहीं किया । सुवर्णमयी सीता को अपने दक्षिणाङ्क में बिठलाकर अश्वमेधादि बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया ।

श्रीरामका स्मरण कर विह्वल होनेपर श्रीसीता की सखी वासन्ती ने पूछा कि 'सखी, तुम ऐसे निष्ठुर राम का स्मरणकर क्यों दीर्घ एवं उष्ण उच्छ्वास लेती हो ? इस पर सीता ने कहा : 'सखि, राम निष्ठुर नहीं हैं । मैं बहिरंग दृष्टि से ही उनसे दूर हूँ, वस्तुतः उनके हृदय की रानी मैं ही हूँ । सखी, श्रीराम के हृदय को अन्य किसी स्त्रियों का श्वास भी कभी स्पर्श नहीं कर सका ।'

इस प्रकार श्रीराम ने नीति के साथ ही साथ पूर्णरूप से प्रीति का भी परिपालन किया था । श्रीराम ने अनन्य अद्भुत अनुराग के साथ ही सीता को वनवास देकर उन्हें अवसर दिया कि वे महर्षियों के मुखारविन्द से अध्यात्मचर्चा श्रवण कर सकें और समाधिनिष्ठ होकर आध्यात्मिक उच्च स्थिति की परमार्थ-

साधना में प्रतिष्ठित हों ! साथ ही स्वयं वे भी विषय विरक्त होकर ब्रह्मनिष्ठा सम्पादन कर सकें। इस प्रकार प्रजारंजन के साथ-साथ परमार्थ-साधन भी सम्पन्न हो।

श्रीराम का यह हार्दिक भाव था कि किसी भी मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् के लिए मातृपवित्रताख्याति अत्यावश्यक होती है। अतः अपने उत्तराधिकारी लव-कुश की उच्च स्थिति के लिए सीताचरित्र का उज्ज्वल-निष्कलंक होना अत्यावश्यक था। राजमहलों में पालन-पोषण एवं संस्कारों की अपेक्षा, आरण्यक ऋषियों के आश्रमों के पालन-पोषण एवं संस्कार बहुत अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इसीलिए अपने उत्तराधिकारी पुत्रों का उत्कृष्ट संस्कार एवं उत्कृष्ट शक्तिशाली चरित्र निर्माण हो सके, इस कार्य में सीता का वनवास ही अधिक उपयोगी था।

श्रीमहर्षि वाल्मीकिजी ने स्वयं ही इन रामपुत्र लव-कुश को वेदवेदांगों की शिक्षा के समान ही, धनुर्वेद, एवं गान्धर्ववेदादि की भी शिक्षा दी थी। इसीलिए वे धनुर्वेद के भी प्रतिष्ठित रहस्यज्ञ हुए। अयोध्या, किष्किन्धा, लंका एवं संसार के सभी शूरवीरों ने उनका लोहा माना। रामाश्वमेध के अश्व को अवरुद्धकर लव-कुश ने श्रीराम सहित उनके सभी शूर-वीरों के साथ युद्ध में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। इस तरह सीतानिर्वासनरूप एक कार्य में भी 'नीति, प्रीति, परमार्थ एवं स्वार्थ' सबका सामञ्जस्य सम्पादित किया था।

नीतिज्ञों ने नीतिनिष्ठा में राम को ही सर्वोत्कृष्ट आदर्श माना है :

> यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
> अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥(अ० रा० १.४)

न्यायपर चलनेवाले के साथी वानर, भालू, गृध्र आदि पशु-पक्षी भी बन जाते हैं। न्याय पथ छोड़कर चलनेवाले का सगा भाई भी साथ छोड़ देता है। दृष्टान्त रूप में श्रीराम एवं रावण को देखा जा सकता है।

कुछ पाश्चात्त्य अज्ञ कुप्रचारक, दुःसंस्कार-दूषित मस्तिष्क अपने अधकचरे रामायण-ज्ञान का दुष्प्रचार में दुरुपयोग करते हैं। वे सीता के लङ्का-निवास एवं वनवास दोनों के रामायणवर्णित स्वरूप को विकृतकर उससे श्रीसीता के दुश्चरित्र होने तथा दण्डित होने की कल्पना करते हैं। श्रीसीता के निर्माण को सीता को राम द्वारा जीवित धरती में गड़वा देने के रूप में वर्णन करते हैं, और राम की क्रूरता और पिछड़े हुए जंगलियों के उदाहरण रूप में उपस्थित करते हैं।

किन्तु यह उनका कथन उपहासास्पद और 'अर्धकुक्कुटी' न्याय का उदाहरण मात्र है। जैसे कोई आधी मुर्गी का भक्षण करके आधी को अण्डा देने के

लिए रखना चाहें वैसे ऐसे ही लोग रामायण के ही आधार पर श्रीसीता एवं राम का अस्तित्व मानकर रामायण द्वारा ही वर्णित श्री सीता-राम के परमेश्वरत्व तथा उनके दिव्य अलौकिक चरित्रों को अस्वीकार देते हैं।

वस्तुतः रामायण आदि भारतीय आर्ष ग्रन्थों का प्रामाण्य अस्वीकार करने से श्री सीता एवं राम का अस्तित्व किसी भी आधुनिक इतिहास एवं प्रत्यक्ष तथा अनुमान से नहीं सिद्ध हो सकता। अतः यदि रामायणादि का प्रामाण्य मान्य है तब तो रामायण-वर्णित श्री सीता-राम के दिव्य चरित्रों को मानना भी अनिवार्य ही है। यदि रामायण का प्रामाण्य मान्य नहीं तो फिर सीता-राम का अस्तित्व तथा विरोधियों द्वारा कल्पित घटनाओं की भी सिद्धि नहीं हो सकती। अन्यथा ईसा आदि सम्बन्धी इतिहासों में भी उनके विरुद्ध बहुत-सी कल्पनाएँ की जा सकती हैं। किन्तु यह शिष्टता, सभ्यता न होकर असभ्यता की पराकाष्ठा ही होगी।

रामायण के अनुसार श्रीसीता के निर्मल-निष्कलंक परमपवित्र चरित्र की प्रामाणिकता राक्षसों, वानरों के समक्ष साक्षात् अग्नि ने, ब्रह्मा ने, शिव ने, इन्द्र ने तथा सभी देवताओं ने सिद्ध कर दी है। सीता-वनवास का पवित्र उद्देश्य भी पूर्व वर्णित प्रकार से श्रीराम की नीति, प्रीति तथा परमार्थ एवं स्वार्थ-सामञ्जस्य सम्पादन करना ही है। श्री सीता का निर्णय तो रामायण-वर्णित सर्वोत्कृष्ट दिव्य चरित्र है, जिससे सर्वसाधारण को भी सीता के साक्षात् दिव्य परमेश्वरी होने का विश्वास हो जाता है। श्री सीता ने धरती देवी से प्रार्थना की कि 'यदि मैं पवित्र तथा निष्कलंक हूँ तो कृपाकर आप स्वयं प्रकट होकर मुझे अपने अंक में स्थान दें।' यह कहते ही तत्क्षण धरती फटती है, उनमें से एक दिव्य परमतेजोमय प्रकाशमय सिंहासन प्रकट होता है। उस पर विराजमान विष्णुपत्नी माधवी मूर्तिमती भगवती धरती श्री सीता को प्यार से अपने अंक में बिठला लेती हैं और सबके देखते-देखते अन्तर्धान हो जाती है। प्रजा में जय-जयकार होने लगता है।

भारत में आज भी कितनी सतियाँ जनसमूह के समक्ष ही अपने शरीर से दिव्य अग्नि प्रकटकर पति के साथ सहगमन करती हैं। श्री सीता का तो रामायण के अनुसार जन्म भी पृथ्वी से ही हुआ था। ये सब बातें जड़वादियों को भले ही समझ में न आयें, किन्तु, आध्यात्मिक, आधिदैविक तत्त्वों में विश्वास करने वालों के लिए ऐश्वर्य-माधुर्य की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी तथा श्री गंगा की अधिष्ठात्री दिव्य सुरेश्वरी के समान ही अखण्ड भूमण्डल की अधिष्ठात्री विष्णुपत्नी माधवी भी सर्वमान्य हैं। अतः उससे श्रीसीता का आविर्भाव तथा उसके अंक में निवेश असम्भव नहीं है।

साथ ही देवता विग्रहवती होती हैं। देवता स्वेच्छानुसार दिव्य लीलाविग्रह धारण कर सकते हैं। केन-उपनिषद् में ब्रह्म का दिव्य अप्रधृष्य तेजोमय यक्षरूप

में आविर्भाव श्रुत है। छान्दोग्य में आदित्यमण्डलान्तर्गत पुरुष का हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यकेश, पुण्डरीकनेत्र, ज्योतिर्मय स्वरूप स्पष्टरूप से वर्णित है। मन्त्र-संहिताओं में भी नील-ग्रीव शिव तथा त्रिविक्रम विष्णु के श्रीविग्रह वर्णित हैं। इसी दृष्टि से सर्वव्यापी शक्तिमान् विष्णु या ब्रह्म का रामस्वरूप में एवं साधिष्ठान दिव्य-शक्ति का श्रीसीता के रूप में आविर्भाव शास्त्र एवं युक्ति-तर्कसंगत है।

श्री कामिल बुल्के ने भी अपनी 'राम-कथा' में राम के लौकिक रूप का ही विस्तृत वर्णन करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वेदों में कहीं भी श्रीराम का वर्णन नहीं है। यद्यपि दशरथ का वर्णन वेदों में है, यह वे स्वयं मानते हैं; किन्तु वे वेद-शब्द से केवल मन्त्रसंहिता ही समझते हैं, जब कि पूर्वोत्तर मीमांसक, कल्पसूत्रकार तथा मिताक्षरा प्रभृति सभी निबन्धकार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद मानते हैं। उपनिषदों में पूर्वरूप से श्रीराम और श्रीसीता तथा श्रीकृष्ण और श्रीराधा, श्रीनृसिंह आदि का शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्म होना अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस विषय में रामतापनीय, रामरहस्य, रामतारसार, गोपाल-तापनीय, नृसिंहतापनीय आदि उपनिषदें द्रष्टव्य हैं।

जो ईसाई श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि के दिव्यचरित्रों पर विश्वास नहीं करते, उन्हें बाइबिल-वर्णित ईसा के दिव्य-चरित्रों को भी मिथ्या ही मानना पड़ेगा। फिर कुमारी के उदर से ईसा का आविर्भाव भी कैसे सिद्ध होगा? आखिर, ईसा ईश्वर-पुत्र है या किसी नरविशेष के सम्बन्ध से विवाह के पूर्व ही किसी कुमारी के गर्भ से संभूत हैं, इसका निर्णय कैसे हो सकेगा?

रघुवंश के अनुसार महाराज अतिथि ने दान और रक्षा के विषय में जो कुछ कहा, वह मिथ्या नहीं हुआ। उन्होंने जो दान दे दिया, उसका कभी अपहरण नहीं किया। हाँ, एक ही विषय में उनका व्रत टूटा कि उन्होंने शत्रुओं को उजाड़कर पुनः नहीं बसाया :

> यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत्।
> सोऽभूद् भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन्॥ (१७.४२)

अवस्था (यौवन), रूप (सौन्दर्य) और विभूति (धन-सम्पत्ति) में एक-एक भी गर्व का कारण होता है। अतिथि में ये सभी वस्तुएँ थीं, फिर भी उनका मन गर्वीला नहीं हुआ।

> वयो - रूप - विभूतीनामेकैकं मदकारणम्।
> तानि तस्मिन् समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः॥ (१७.४३)

विघ्नों से तप की तथा चोरों से सम्पत्ति की रक्षा करने के कारण उन

महाराज अतिथि को ब्राह्मणादि वर्णों और ब्रह्मचारी आदि आश्रमियों ने अपने-अपने तप और सम्पत्ति के छठे हिस्से का भागी बना दिया :

तपो रक्षन् स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च सम्पदः ।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ (१७.६५)

रक्षण के समान ही पृथिवी ने खानों से रत्न, खेतों से अन्न और वनों से हाथियों का उत्पादन कर उस राजा अतिथि के लिए वेतन दिया :

खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् ।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ (१७.६६)

कार्तिकेय के समान पराक्रमी वह राजा अतिथि सन्धि, विग्रह आदि छह गुणों एवं मूल-भृत्यादि बलों का प्रयोजन के अनुसार यथार्थ ज्ञाता था :

स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः ।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ (१७.६७)

वह राजा अतिथि कूटयुद्ध का विशेषज्ञ होता हुआ भी अपनी वीरता के कारण सरल, धार्मिक-युद्ध ही करता था। विजय-श्री अभिसारिका के समान स्वयं उसका वरण करती थी। कारण, वह वीर पुरुष के ही पास पहुँचती है :

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन् सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ (१७.६९)

चन्द्रमा बढ़कर क्षीण होता है तो समुद्र भी बढ़कर क्षीण होता है। किन्तु राजा अतिथि उनकी तरह बढ़ा तो अवश्य, पर उनकी तरह क्षीण नहीं हुआ :

प्रवृद्धो हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ (१७.७१)

प्रशंसनीय कार्य करने पर भी यदि कोई राजा अतिथि की प्रशंसा करता, तो वह सुनकर लज्जित ही होता था। प्रशंसकों का द्वेषी होने पर भी उसका यश बराबर बढ़ता रहा :

स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥ (१७.७३)

कमल में चन्द्रमा की और कुमुद में सूर्य की किरणें प्रवेश नहीं पातीं, किन्तु गुणवान् महाराज अतिथि के गुण शत्रुओं के यहाँ भी स्थान पाते थे। शत्रु भी उनके गुणों की प्रशंसा करते थे।

> इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः।
> गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम्॥ (१७.७५)

अश्वमेध-यज्ञ करने के लिए अतिथि राजा ने विजय की कामना से शत्रुओं के साथ छल-छद्म-प्रधान कर्म किया। फिर भी उसका छल-छद्म धर्मयुक्त ही रहा :

> पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम्।
> जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत्॥ (१७.७६)

बाहर के शत्रु कार्यवशात् कभी शत्रु बन सकते हैं तो कभी मित्र भी; अतः वे अनित्य शत्रु हैं तथा दूर भी रहते हैं। इसलिए अतिथि राजा ने पहले अपने हृदय में रहनेवाले काम-क्रोधादि छह शत्रुओं पर ही विजय पा ली :

> अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
> अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान् षट् पूर्वमजयद्रिपून्॥ (१७.४५)

पराक्रमरहित केवल नीति कायरता है और नीतिरहित केवल पराक्रम है हिंसकपन, अतः राजा अतिथि ने नीति और पराक्रम दोनों का समन्वय कर सफलता प्राप्त करने का यत्न किया :

> कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
> अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥ (१७.४७)

गुप्तचरों का जाल बिछाने के कारण राजा अतिथि के लिए अपने राज्य में कुछ भी वैसे ही अज्ञात नहीं था, जैसे मेघरहित सूर्य को कुछ भी अज्ञात नहीं रहता :

> न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः।
> अदृष्टमभवत् किञ्चिद् व्यभ्रस्येव विवस्वतः॥ (१७.४८)

राजा अतिथि समयानुसार सोते हुए भी परस्पर अविज्ञात गुप्तचरों को शत्रु-देश में और अपने अधिकारियों के बीच नियुक्त कर उनके द्वारा सब कुछ जानता रहता था :

> परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः।
> सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि॥ (१७.५१)

राजा अतिथि स्वयं ही दूसरे (शत्रु) लोगों के किले का अवरोधक था। उसके किले का दूसरा कोई अवरोध नहीं कर सकता था। तब भी यह कहना ठीक न होगा कि ऐसी स्थिति में उसे किले की क्या आवश्यकता थी ? कारण, स्वभाव से

ही राजा के लिए किला अपेक्षित होता है। हाथियों के झुण्ड पर आक्रमण करने-वाला सिंह गिरि-गुहा में भयवश नहीं, स्वभाव से सोता है :

कुर्वाणि दुर्गहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम्।
नहि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः॥ (१७.५२)

राजा अतिथि के कार्य कल्याण-प्रधान होते थे और साठी धान की तरह छिपे-छिपे ही उनका परिपाक (फल) होता था। इसीलिए उनमें कोई बाधा नहीं पड़ती थी :

भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे॥ (१७.५३)

अतिथि वृद्धि होने पर भी अपथ पर नहीं चले अर्थात् उन्होंने कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। ज्वार आने पर समुद्र नदी-प्रवेश के मार्ग से ही बढ़ता है, दूसरे मार्ग से नहीं :

अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः॥ (१७.५४)

अतिथि यद्यपि शक्तिसम्पन्न थे; तथापि अपने से हीनशक्ति राजाओं पर ही उन्होंने आक्रमण किया। दवाग्नि वायु की सहायता पाकर भी जलाने के लिए तृण, काष्ठादि की ही अपेक्षा रखता है, जल की नहीं :

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः॥ (१७.५६)

अतिथि ने अर्थ-कामपरायण होकर धर्म को खतरे में नहीं डाला और न धर्मपरायण होकर अर्थ और काम को ही संकट में डाला। काम से अर्थ और अर्थ से काम को भी पीड़ित नहीं किया :

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥ (१७.५७)

क्षीणशक्ति मित्र उपकार नहीं कर सकता और वृद्धिगत मित्र विकृत हो सकता है। इसलिए अतिथि ने मध्यम-शक्ति मित्रों की स्थापना की :

हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः॥ (१७.५८)

अतिथि अपने और शत्रु के देश, काल, शक्ति और परिस्थिति का बलाबल पहले निश्चित कर लेते थे । बलवान् होने पर आक्रमण करते थे, अन्यथा सन्धि आदि की वार्ता से शत्रुओं को सान्त्वना देते हुए अपने घर पर ही रहते थे :

परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत् परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥ (१७.५९)

खजाने से ही संसार में आदर होता है । इसलिए महाराज अतिथि ने खजाने का संग्रह किया । कारण, चातक जलपूर्ण मेघ का ही अभिनन्दन किया करता है :

कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसङ्ग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ (१७.६०)

राजा अतिथि सदा शत्रुओं के कार्यों में रोड़ा अटकाता अपने कर्म में उद्यत रहता था । शत्रुओं के रन्ध्र में प्रहार करता हुआ वह सदैव अपना रन्ध्र छिपाये रहता था :

परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु ।
आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन् रिपून् ॥ (१७.६१)

जैसे कोई सर्प के सिर के रत्न को खींच नहीं सकता, वैसे ही अतिथि की तीनों शक्तियों (प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति) को किसीने नहीं खींचा । किन्तु चुम्बक जैसे लोहे को खींच लेता है, वैसे ही अतिथि ने शत्रुओं की तीनों शक्तियों को खींच लिया :

सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ (१७.६३)

इस प्रकार महाकवि कालिदास के शब्दों में राजा और उसकी राजनीति का जो चित्र खींचा गया, वह सर्वथा मन्वादि नीतिविदों के मार्ग का अनुसरण ही कहा जायगा ।

भारवि के शब्दों में : महाकवि भारवि के अनुसार राजनीतिक कार्य में नियुक्त कार्यकर्ताओं को निष्कपटभाव से स्वामी या नेता के समक्ष सब बातें स्पष्ट बता देनी चाहिए । राजा या नेता को भी चाहिए कि अप्रियवचन सुनकर भी वह क्षमा करे ; क्योंकि हितकर और मनोहर वाणी दुर्लभ ही होती है :

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥ (किरात० १.४)

वह सखा कुत्सित सखा है, जो अपने सखा को हित की बात नहीं बतलाता। वह प्रभु भी कुत्सित प्रभु है जो हित की बात नहीं सुनता। जहाँ अमात्य एवं नृप दोनों ही परस्पर अनुकूल होते हैं, वहीं सब प्रकार की सम्पदाएँ निवास करती हैं।

महाकवि भारवि के अनुसार महापुरुषों के साथ विरोध भी लाभदायक होता है; क्योंकि उनके संसर्ग से दुष्टजनों की प्रवृत्तियाँ सुधर जाती हैं। युधिष्ठिर के साथ संघर्ष होने के कारण दुर्योधन ने ठीक नीतिशास्त्रों के अनुसार अपने आपको नियन्त्रित और जितेन्द्रिय बना लिया। वह प्रजा से धनसङ्ग्रह चाहता था, पर लोभ या क्रोध से नहीं। ठीक धर्मशास्त्र की दृष्टि से लोभादिरहित होकर कर्तव्य-पालन की बुद्धि से ही वह धनसङ्ग्रह करता था। शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश है कि जो राजा लोभादिवशात् अदण्ड्य को दण्ड देता है तथा दण्ड्य को दण्ड नहीं देता, वह महान् अपयश का भागी होता और अन्त में नरक जाता है। नीतिकार महाराज मनु कहते हैं :

> अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
> अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ (मनु० ८.१२८)

दुर्योधन प्राड्विवाक-निर्दिष्ट दम के अनुसार ही शत्रु तथा अपने पुत्र में सम होकर धर्मविप्लवकारी को ही दण्ड देता था। वह चिरकाल से प्रजा के अभ्युदयार्थ यत्नशील रहता था। उसका राज्य दैवाधीन वृष्टि के पराधीन नहीं था, किन्तु आवश्यकतानुसार कर्षकों की सुविधा के लिए विविध कूप, कुल्या (नहर) आदि का प्रबन्ध कर रखा गया था। उदारकीर्ति दयावान् एवं दूसरों का दुःख दूर करने की इच्छावाले सुयोधन के प्रयत्न से चतुर्मुखी रक्षा की सुव्यवस्था से निर्विघ्न अभ्युदय-सम्पादन के कारण राज्य को वसुन्धरा उसके गुणों से प्रसन्न हो विना श्रम ही सम्पत्ति प्रदान किया करती थी।

वनवासी धर्मराज युधिष्ठिर से पराभव की शङ्का करता हुआ दुर्योधन राज्यसिंहासनासीन होकर भी द्यूत से विजित पृथ्वी को नीति से जीतने की इच्छा करता था। सशङ्क, कुटिल होकर भी वह युधिष्ठिर को जीतने की इच्छा से दान, दाक्षिण्यादि गुणों से शुभ्रयश का उन्नयन (सम्पादन) करता था। इसी दृष्टि से कहा है कि अनार्यसङ्ग की अपेक्षा महापुरुषों से वैर भी श्रेष्ठ होता है : वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः। (किरात० १.८) वह अहङ्काररहित होकर अपने अनुजीवियों से मित्रों-जैसा व्यवहार करता था, कुटुम्बियों के साथ राज्याधिकारियों जैसा व्यवहार करता था। उसका त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) विरोधरहित होकर परस्पर सख्यभाव से ही रहता था। कारण, दानवर्जित अमायिक साम भी सफल

नहीं होता। भूरिदान भी बिना सत्क्रिया के फलीभूत नहीं होता। सत्क्रिया भी गुणानुसारिणी ही होनी चाहिए। शुष्क-प्रिय वाक्यों से लुब्ध व्यक्तियों का वशीकरण सम्भव नहीं :

> निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
> प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥(किरा० १.१२)

इसीलिए कहा है :

> लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् शूरमञ्जलिकर्मणा।
> मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥

अर्थात् लोभी को धन से, शूर-वीर को हाथ जोड़कर, मूर्ख को छन्दानुरोध से (इच्छानुसरण) और पण्डित को यथार्थवाद से वश करना चाहिए।

जैसे धर्म एवं रोगियों की चिकित्सादि विषयों में केवल तर्क या लौकिक अन्वय-व्यतिरेकादि के आधार पर ही व्यवहार नहीं चल सकता, अपितु परम्परा-प्राप्त शास्त्र का भी अनुसरण आवश्यक होता है, वैसे ही राजनीति या दण्डनीति में भी कामकारिता त्यागकर परम्पराप्राप्त शास्त्रों का ही अनुसरण आवश्यक होता है। दुर्योधन भी लोकप्रिय तथा धार्मिकजनादरणीय होने की दृष्टि से उसी परम्परा का अनुगामी बन लोभ-क्रोधविवर्जित होकर कारणरहित स्वधर्मबुद्धया गुरूपदिष्ट मार्ग से ही रिपु एवं पुत्र में समान रूप से पक्षपातहीन धर्ममार्ग का चिन्तन करता था। धर्मशास्त्र भी यही कहते हैं :

> धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
> समाहितमतिः पश्येद् व्यवहारानुक्रमात् ॥ (नारद)

अर्थात् धर्मशास्त्र को पुरस्कृत कर प्राड्विवाक (धर्मप्रवक्ता) का अनुसरण करता हुआ समाहितबुद्धि बनकर राजा व्यवहारों (मुकदमों) का विचार करे।

किसी भी राज्य में महाबलसम्पन्न, मानधन एवं धनादि से पूजित लब्धकीर्ति सैनिकों की आवश्यकता होती है। किन्तु उनमें परस्पर विरोध होने पर वे राष्ट्रकार्य में बाधक होंगे और यदि गुटबन्दी हुई तो भी कभी राष्ट्रहित में बाधा हो सकती है। अतः ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि वे स्वार्थमूलक गुटबन्दियों से बचे रहें और परस्पर विरुद्धवृत्तिवाले भी न हों तथा अपने प्राण देकर भी राज्य का हित चाहते हों। दुर्योधन के सैनिक ऐसे ही थे :

> महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
> न संहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥(कि० १.१९)

अर्थात् उसके महाबलवान्, मानधन, धनपूजित, संग्राम में लब्धकीर्ति धनुर्धर थे। वे न तो संहत थे और न विभिन्न वृत्तिवाले ही। वे अपने प्राणों से भी उसका अभीष्टसाधन चाहते थे। भारतीय नीति की यहांतक महत्ता थी कि बिना शस्त्र उठाये और क्रोध से मुख को बिना कुटिल किये गुणानुराग से ही शासक के शासन को माल्य के समान राजा लोग प्रसन्नता से शिरोधार्य करें :

> न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम् ।
> गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥(१.२१)

अर्थात् दुर्योधन ने कभी धनु सज्य नहीं किया और न मुख को कोप से कुटिल ही किया। फिर भी उसके गुणों के प्रति अनुराग के कारण राजा लोग माला के समान उसका शासन शिरोधार्य करते थे।

यद्यपि बहुत ऊँची दृष्टि यही है कि सत्य से अनृत को, दान से अदान को ऋजुता से अनृजुत्व को, साधुता से मायावी को जीता जाय। फिर भी व्यवहार में सामान्य लोगों के लिए मायावी के साथ माया का बर्ताव ही आदरणीय है। तभी तो युधिष्ठिर से द्रौपदी कहती हैं :

> व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
> प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥(१.३०)

अर्थात् वे मूढबुद्धि पराभव को प्राप्त होते हैं, जो मायावियों के साथ मायावी नहीं होते। दुष्ट लोग आत्मीय बन उनके भीतर प्रविष्ट हो ऐसा आघात करते हैं, जैसे कवचरहित शरीर में प्रविष्ट होकर तीक्ष्ण बाण।

इसीलिए व्यवहार में लोग 'जैसे के साथ तैसा' ही व्यवहार ठीक समझते हुए साधु के साथ साधुता और मायावी के साथ माया का व्यवहार करते हैं। महाभारत (उद्योग० ३७.७) भी कहता है :

> यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
> मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

ऐसे लोगों के मतानुसार शम से मुनियों को ही सिद्धि मिलती है, राजा को नहीं :

> व्रजन्ति शत्रूनवधूय निस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः । (१.४२)

ऐसे लोग कपटपूर्वक किसी व्याज से कोई न कोई दोष लगाकर सन्धिभंग करके भी कार्यसाधन करते हैं।

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयेतरौ॥
(कामन्दकीय-नीतिसार २.७)

इस वचन के अनुसार आत्मा-अनात्मा का याथात्म्यज्ञान आन्वीक्षिकी का विषय है तो धर्माधर्म वेदत्रयी का, अर्थ-अनर्थ और सम्पत्ति-विपत्ति वार्ता का एवं नय तथा अनय दण्डनीति का विषय है।

व्यवहार में इन चारों विद्याओं की अपेक्षा होती है; फिर भी कामन्दक ने दण्डनीति की प्रधानता मानी है। उसके अनुसार दण्डनीति का विप्लव होने पर शेष तीनों विद्याएँ सती होती हुई भी असती बनकर अकिञ्चित्करी हो जाती हैं:

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता सतीर्विद्याः प्रचक्षते।
सत्योऽपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतेस्तु विप्लवे॥ (काम० २.८)

नीति के अनुसार आयतिशून्य महान् उदय भी पूर्णचन्द्र के तुल्य उपेक्ष्य है। आयति (उत्तरकाल) से युक्त परिक्षय भी प्रतिपद् के चन्द्र के तुल्य वन्द्य होता है। समृद्धि पराक्रम के आश्रित रहती है, विषाद के साथ नहीं। वीरवृत्ति के लोग पराक्रमप्राप्त वैभव का ही आदर करते हैं, साम-दान द्वारा अन्यायत्त वैभव कभी पसन्द नहीं करते, जैसे कि मृगपति स्वयं हत मदमत्त गजेन्द्रों से ही वृत्ति चलाता है। अपने से सम्पूर्ण जगत् को लघु बनाता हुआ सिंह अन्य द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य को कभी इच्छा नहीं करता:

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन् खलु तेजसा जगत् न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥ (किरात० २.१८)

यहाँतक कि मानधन तेजस्वी लोग क्षणभंगुर प्राणों से भी स्थायी यश का ही संचय करते हैं। विद्युच्चपला लक्ष्मी उनको कभी अभिलषित नहीं, वह तो आनुषंगिक ही फल होता है:

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम्॥ (२.१९)

प्रज्वलित अग्नि अप्रधृष्य होता है, किन्तु भस्मपुञ्ज को कोई भी पादाक्रान्त कर सकता है। यही कारण है कि मानी लोग पराभव के भय से सुख से प्राण त्याग देते हैं, पर प्राण के लोभ से कभी मान का त्याग नहीं करते:

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥ (२.२०)

क्या कारण है कि गरजते मेघों को देख उनसे युद्ध के लिए सिंह सन्नद्ध होकर दहाड़ता है ? वस्तुतः महत्तर लोगों की प्रकृति ही वैसी होती है, जिससे वे अन्य-समुन्नति सह नहीं पाते, उसका उत्सादन ही उनका पुरुषार्थ होता है :

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया॥ (२.२१)

किन्तु अन्य सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों के अनुसार गम्भीरता के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को ध्यान में रखते हुए ही पुरुषार्थ करना उचित है। किसी कार्य का सहसा आरम्भ करना उचित नहीं, क्योंकि अविवेक ही परम विपत्तियों का स्थान होता है। विवेकपूर्वक कार्य करनेवाले पुरुष के पास गुणलुब्ध सम्पत्तियाँ अपने आप आकर उनका वरण करती हैं :

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्य कारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥ (२.३)

कभी-कभी सन्धि आदि तोड़कर साहसिक को भी फल की प्राप्त हो जाती है, किन्तु साहसिक की फलसिद्धि काकतालीय-न्याय से ही होती है।

लेकिन जो विवेक-वारि से अभिवर्षण करता हुआ कर्तव्यरूप विधिबीज को सींचता है वह सदैव फलशालिनी क्रिया का अधिष्ठान होता है। उनके अनुसार सम्प्रदायसिद्ध शास्त्रश्रवण ही विवेक का अंग-भूषण है, अन्यथा विद्वान् भी शोच्य होता है। शम एवं क्रोधोपशान्ति उस श्रुत का भूषण है, अन्यथा श्रुत निरर्थक ही होता है। अवसर के अनुसार पराक्रम उस प्रशम का भूषण होता है, अन्यथा विना पराक्रम के शमनिष्ठ प्राणी का पराभव ही होता है, नीति से आसादित विवेकपूर्विका सिद्धि उस पराक्रम का भूषण है :

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥ (२.३२)

जो लोग स्पृहणीय गुणवाले महात्माओं द्वारा सेवित मार्ग में मन लगाये रहते तथा सन्मार्ग से व्यवहार करते हैं, उनका अपराधों का अहेतु दैवमूलक पराभव भी समुन्नति के ही समान होता है। उस विनिपात या पराभव को, जो पुरुषापराध के कारण नहीं, दैवाधीन हुआ हो, समुन्नति ही समझना चाहिए :

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः॥ (२.३४)

कामन्दक ने भी यही कहा है :

यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेति विपर्ययम् ।
पुरुषस्त्वनुपालभ्यो दैवान्तरितपौरुषः ॥ (१२.१९)

जो कार्य यथायोग्य, यथाविधि आरम्भ किये जाने पर भी विफलता को प्राप्त होता है उसके लिए पुरुष को उपालम्भ नहीं देना चाहिए, क्योंकि उसमें देव द्वारा विक्रम या पुरुषार्थ का विधान किया गया है।

परमबलवान् होने पर भी जो राजा क्रोधजन्य तमोमय मोह के आक्रमण को नहीं रोक नहीं पाता, वह कृष्णपक्षीय चन्द्रद्वारा कला के नाश की तरह प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति सभी सम्पदाओं का विनाश कर लेता है। अन्धपुरुष के जंघाबल के समान ही क्रोधान्ध पुरुष का लोकोत्तर बल भी व्यर्थ हो जाता है :

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः।
क्षयपक्ष इवेन्दवीः कलाः सकला हन्ति सशक्तिसम्पदः ॥ (२.३७)

जो राजा समवृत्ति होकर यथावसर मृदुता एवं तीक्ष्णता धारण करता है, वह सूर्य के समान सम्पूर्ण लोक का अधिष्ठान बनता है। कहाँ चिरकाल के लिए सम्पदाओं का संग्रह और कहाँ दुष्ट इन्द्रियरूपी घोड़ों के पराधीन होना ! शरत्कालिक मेघों के तुल्य चञ्चल, बहुव्याज एवं बहुरन्ध्रवाली सम्पदाओं की रक्षा अजितेन्द्रियों द्वारा कभी नहीं हो सकती। जो लोग शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके भी काम-क्रोधादि रिपुओं का नियमन नहीं करते, वे कभी भी चञ्चल सम्पदाओं का आश्रय नहीं बन सकते। संसार में आयति अर्थात् समीचीन उत्तरकाल का उपकारक, प्रभूत कर्मफल का कारण एवं शत्रुओं के विनाश का असाधारण हेतु तितिक्षा के समान और कोई साधन नहीं है।

मद-मानसमुद्धत राजा को कार्याकार्य का अपरिज्ञानरूप मूढ़ता कभी नहीं छोड़ती। अतिमूढ राजा निश्चय ही नीतिमार्ग से दूर हो जाता है और नीतिहीन शासक से जनापराग होना भी अवश्यम्भावी है :

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता।
अतिमूढ उदस्यते नयात् नयहीनादपरज्यते जनः ॥ (२.५९)

अन्तःप्रकृति, अन्तरंग अमात्य आदि के अपराग या प्रकोप से उठा थोड़ा-सा भी विग्रह सम्पूर्ण प्रभुशक्ति को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे तरुशाखाओं के संघर्ष से उत्पन्न अग्नि संपूर्ण अरण्य को। अतएव बुद्धिमान् नीतिज्ञ अविनीत शत्रु की समुन्नति की सदैव उपेक्षा करते हैं; क्योंकि किसी भी रन्ध्र में उसे जीता जा सकता है। अविनीत की सम्पदाओं का उदर्क (भविष्य) विपत्तिमय ही होता है।

महाकवि माघ के शब्दों में : महाकवि भारवि की तरह महाकवि माघ भी राजा या शासक के लिए यही नीति बताते हैं। नीतिशास्त्र के अनुसार सहाय (पुरुष द्रव्यसम्पद्) साधनोपाय, देश-काल का विभाग और विपत्ति का प्रतीकार कार्य-सिद्धि के ये राजनीति के पञ्चाङ्ग हैं :

सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः।
विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते॥

(कामन्दकीय० १२.३६)

कुछ लोगों के अनुसार सन्धि विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव ये षड्गुण एवं प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति ये तीन शक्तियाँ मन्त्रणीय विषय हैं। कोश, दुर्ग, दण्ड, सम्पत् यह प्रभशक्ति है। विज्ञानसंयत मन्त्रशक्ति है। पराक्रमसंयत उत्साहशक्ति है। भूमि, हिरण्य, मन्त्र ये तीन सिद्धियाँ तीनों शक्तियों से से जनित तीन सुख एवं वृद्धि, क्षय, स्थान यह त्रिविध उदय भी मन्त्रणीय विषय हैं। किन्तु जैसे लक्ष्यच्युत धानुष्क का वागाडम्बर व्यर्थ होता है, वैसे ही कार्यकार्य-विवेकशून्य नीतिशास्त्रका सन्ध्यादि-विचार व्यर्थ ही होता है।

मन्त्र भी अधिक काल तक गुप्त नहीं रह सकता। मन्त्र में अधिक काल का क्षपण व्यर्थ है। अपना अभ्युदय और शत्रु का क्षय, (आत्मोदयः परज्यानिः), इसे छोड़कर और कोई नीति ही नहीं। सारा नीतिशास्त्र इसीका विस्तार है। उत्कृष्ट आधिपत्य से भी सन्तुष्टि न होना बुद्धिमान् राष्ट्राधिकारियों का स्वभाव ही है। तभी तो जलपूर्ण होता हुआ भी समुद्र अधिक वृद्धि के लिए चन्द्रोदय की आकांक्षा करता है :

तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम्।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः॥ (शिशुपालवध २.३१)

नीतिशास्त्र कहते हैं कि द्विजन्माका असन्तोष, राजा का सन्तोष, गणिका की लज्जा और कुलांगना की निर्लज्जता दोष ही है, और वह उन्हें नष्ट कर देता है :

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलांगना॥

थोड़ी सम्पत्ति से ही सन्तुष्ट मनुष्य की समृद्धि को दैव भी नहीं बढ़ा सकता; क्योंकि वह तो इच्छा का ही पूरक होता है। मानी पुरुष वैसे ही समूल शत्रुविनाश के बिना अभ्युदय नहीं प्राप्त कर सकते, जैसे समूल अन्धकार के विनाश के बिना सूर्य उदित नहीं होता :

समूलघातमघ्नन्तः पराग्नोद्यन्ति मानिनः।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः॥ (२.३३)

अभ्युदय ही क्यों, विपक्ष के उन्मूलन के बिना राजा की स्थिति भी वैसे ही सम्भव नहीं होती जैसे धूलि को पंक बनाकर बनाये बिना जल की अवस्थिति नहीं होती :

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते॥ (२.३४)

जबतक एक भी शत्रु है तबतक सुख कहाँ; क्योंकि एक ही राहु आज तक चन्द्रमा को क्लेश पहुँचाता है :

ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत् कुतः सुखम्।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयो विधुन्तुदः॥

यद्यपि नीतिशास्त्रानुसार सहज, प्राकृत और कृत्रिम तीन प्रकार के मित्र एवं शत्रु होते हैं। मातुल, मातृष्वस्रीय (मौसी के पुत्रादि) सहज मित्र एवं शत्रु, राज्य के सीमान्त का अनन्तर राजा एवं पितृपरम्परागत मित्र ये प्राकृत मित्र होते हैं। साम-दानादि से अर्जित मित्र कृत्रिम मित्र होते हैं। ऐसे ही कुल्य पितृव्य, तत्पुत्रादि सहज शत्रु, स्वराज्य का अनन्तरीय राजा प्राकृत शत्रु अपराध करनेवाला या जिसके प्रति अपराध किया गया हो वह कृत्रिम शत्रु होता है। फिर भी राजनीति में कृत्रिम ही मित्र या शत्रु प्रधान होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि जाति से कोई मित्र या शत्रु नहीं होता; किन्तु कार्य के सम्बन्ध से ही मित्र या शत्रु बनते हैं। कालयोग से कभी मित्र भी शत्रु हो जाता है तो कभी शत्रु भी मित्र बन जाता है। स्वार्थयोग से ही अमित्र मित्र बन जाते हैं और मित्र द्रोह करने लगते हैं :

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते।
कार्ययोगाद्विजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥
मित्रं च शत्रुतामेति कदाचित् कालकार्ययोः।
शत्रुश्च मित्रतां याति स्वार्थो हि बलवत्तरः॥
अमित्रो मित्रतां याति मित्रं वापि प्रदुष्यति।
सामर्थ्ययोगात् कार्याणामनित्या हि सदा गतिः॥
(शिशुपालवध-व्याख्या २.३६)

अतएव उपकारक शत्रु से भी सन्धि हो सकती है, उपकारक मित्र से नहीं :

यस्त्वमित्रेण सन्धत्ते मित्रेण च विरुध्यते।
अर्थयुक्तिं समालोच्य समं तद्विदते फलम्॥

इसीलिए तो शिशुपाल कृष्ण का फूफेरा भाई होता हुआ भी प्रधान शत्रु माना गया है। कारण, कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण कर शिशुपाल का अपकार किया और शिशुपाल ने भी द्वारका पर आक्रमण कर कृष्णके अनेक अपकार किये थे। जो सक्रोध शत्रु से वैर कर उदासीन होता है, वह मानो वाताभिमुख तृणसमूह में अग्नि डालकर उसी पर शयन करता है :

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योर्दाचिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम्॥ (२.४२)

कोई क्षमावान् एकबार का अपराध सह न भी कर सकता है, किन्तु बार-बार अपराध करनेवाले को कौन क्षमा कर सकता है? कभी शम पुरुष का भूषण भी होता है, किन्तु अभिभव होने पर तो आक्रमण ही भूषण है। जैसे स्त्री का गुरुजनों के सन्निधान में लज्जा ही भूषण है, परन्तु सुरत में तो धृष्टता (निर्लज्जता) ही भूषण माना जाता है :

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव॥ (२.४४)

शत्रुकृत पराभवरूप अग्नि से दग्ध पुरुष का जीवन की अपेक्षा मरना ही श्रेष्ठ है। माता को प्रसव-क्लेश से दुःखी करने के अतिरिक्त उसके जीवन का और कोई भी फल नहीं :

मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः॥ (२.४५)

पाद से आहत होकर रज भी सिर चढ़ जाती है। जो पुरुष अपमानित होने पर भी स्वस्थ एवं सन्तुष्ट रहता है, उसकी अपेक्षा वह रज भी कहीं श्रेष्ठ है :

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥ (२.४६)

जो जाति, क्रिया और गुण से कोई प्रयोजन सम्पादित नहीं कर पाता, डित्थ-डवित्थ आदि यदृच्छा-शब्दों (नामों) की तरह उसका जन्म केवल देवदत्तादि संज्ञामात्र के लिए है। पर्वत में उत्तुंगता ही होती है, अगाधता नहीं होती और समुद्र में अगाधता ही होती है, उत्तुंगता नहीं। किन्तु मनस्वी पुरुष में दोनों गुण होते हैं। सूर्य, चन्द्र दोनोंने ही अमृत-वितरण के समय छद्मवेषी राहु को सूचित किया। इस प्रकार दोनों का अपराध समान होने पर भी राहु शीघ्रता से चन्द्रमा को ही ग्रसता है, सूर्य को विलम्ब से, यह चन्द्रमा की मृदुता का ही परिणाम है :

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत्।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम्॥ (२.४९)

जो स्वल्प भी शत्रुरूपी वायु के आने पर विनम्र होकर सन्धि कर लेता है, तृण भी उसकी उपमा-योग्य नहीं होता, क्योंकि वह भी तो विशिष्ट वायु के संसर्ग से ही झुकता है, अन्यथा नहीं। तेजस्वी दूर रहने पर भी तेजस्वियों में गिना जाता है, जैसे पञ्चाग्नि तपनेवाले तपस्वियों में सूर्य दूर रहने भी वह पाँचवाँ अग्नि गिना ही जाता है। उन्नत शत्रुओं के मूर्धाओं पर अनायास पाद-विन्यास किये बिना दुर्लभ यश प्राप्त नहीं होता। जैसे कोई आलम्बनभूत सोपानों पर पाद-विन्यास करके ही सौधपर आरोहण करता है, वैसे ही शत्रुओं के मूर्धाओं पर पाद-विन्यास करके ही कीर्तिमान् की कीर्ति स्वर्ग तक पहुँचती है:

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम्।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति॥

मृग को अङ्क (गोद) में रखनेवाला चन्द्रमा 'मृग-लाञ्छन' कहा जाता किन्तु मृग-समूहों का हिंसन करनेवाला केसरी 'मृगपति' कहलाता है:

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः।
केसरीनिष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः॥ (२.५३)

दण्डसाध्य शत्रु पर सान्त्वना का प्रयोग करना अपकार ही होता है। स्वेद की अपेक्षा रखनेवाले आमज्वर को पानी से कौन सींचेगा ? :

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति॥ (२.५४)
साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन॥ (७.१९८)

आदि वचनों में कहा गया है, कि साम, दाम आदि समस्त या व्यस्त उपायों से शत्रु को वश में करना चाहिए, कभी युद्ध से जीतने का प्रयत्न न करना चाहिए। फिर भी दण्ड-साध्य शत्रु के लिए सहसा सामवाद वैसे ही उत्तेजक होते हैं, जैसे प्रतप्त घृत में जलबिन्दु :

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः॥ (२.५५)

जो अमात्य सन्धि, विग्रह आदि के तत्त्वों से अनभिज्ञ होता हुआ भी राजा को सन्धि की ओर प्रवृत्त करता है, उसे उसका शत्रु ही समझना चाहिए। कई

लोग स्वशक्ति के उपचय होने पर ही यान (चढ़ाई) आवश्यक समझते हैं। अन्य नीतिज्ञ शत्रु के व्यसन या आपत्काल में ही विजय-यात्रा आवश्यक मानते हैं।

प्रायेण सन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समाविशन्ति।
तथा विपक्षे व्यसनानपेक्षी क्षयो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात्॥
(काम० नी० १६.२)

फिर भी शत्रु के विपत्काल में आक्रमण करने की नीति मानियों के लिए लज्जास्पद होती है, तभी तो राहु भी पूर्णचन्द्र पर ही आक्रमण करता है, अपूर्ण चन्द्र को कभी नहीं ग्रसता :

नोतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः॥ (२.६१)

फिर भी सूक्ष्मदर्शी इससे भी सूक्ष्मतत्त्व का निरूपण करते हैं :

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम्।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः॥ (२.६२)

शास्त्र-नियन्त्रित प्राणी एवं उच्छृङ्खल लोगों के स्वभाव पृथक्-पृथक् होते हैं, तेज और तिमिर के समान कभी उनका समान अधिकरण नहीं हो सकता।

कतिपय परिमित वर्णों के लिए ही निर्धारित वेदादि अनन्त वाङ्मय सद्ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध होते हैं। षड्ज आदि कतिपय स्वरों द्वारा गान-वैचित्र्य प्रस्तुत किया जाता है। स्वेच्छा से प्रकीर्ण बहुत कुछ कहा जा सकता है, किन्तु नीति-शास्त्रानुसारी, सम्बद्ध कार्यानुकूल नीतितत्त्व का निरूपण कठिन ही होता है। कोई कुशलवक्ता सुकुमार लक्षणोंवाली सुबोध, किन्तु महार्था, अनल्प-गुण-समन्वित, नानाशास्त्रसम्मत आश्चर्यकारी वाणी का वैसा ही विस्तार करते हैं, जैसे तन्तुवाय चित्रपटी का विस्तार करते हैं।

वस्तुतः नीतिज्ञ को चाहिए कि प्रयत्नपूर्वक अपने में प्रज्ञा और उत्साह अर्थात् नीति एवं पराक्रम दोनों का ही आधान करे। विजिगीषु राजा की उदयोन्मुखी प्रभुशक्ति का मूल बुद्धि एवं पराक्रम होता है। धीर पुरुष युक्तियुक्त, अव्याकुल, स्थिरबुद्धिरूप ही अपने लिए सोपधाना खट्वा (बिस्तर-तकियेसहित खाट) बनाकर आनन्द से उस पर बैठ कभी अशान्त नहीं होते। अर्थात् विचार-पूर्वक कार्य की सफलता निश्चित ही है :

सोपधानां धियं धीराः स्थेयसीं खट्वयन्ति ये।
तत्रानिशं निषण्णास्ते जानते जातु न श्रमम्॥ (२.७७)

कुशाग्रबुद्धि लोग उसी तरह थोड़ा ही बोलते हैं, परन्तु कार्यतत्त्व के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं, जिस तरह शर थोड़ा ही व्रण कर भीतर प्रविष्ट हो मर्मभेद करता है। लेकिन जड़बुद्धि प्राणी निःशेषरूप से कार्य की आलोचना करता हुआ भी कार्य का हृदय-स्पर्श नहीं कर पाता। वह अश्मा (पत्थर) के तुल्य बाहर ही भटकता रहता है :

स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णाः स्तोकमन्तर्विशन्ति हि।
बहुस्पृशाऽपि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत् ॥ (२.७८)

मूर्ख लोग थोड़ा-सा ही कार्य आरम्भ करते हैं, पर व्यग्र बहुत होते हैं। लेकिन शास्त्रज्ञ महारम्भ होते हुए भी निराकुल हो स्थिर रहते हैं :

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति हि।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ (२.७९)

असावधान पुरुष के उपाय करने पर भी अभीष्ट अर्थ नष्ट हो जाते हैं। अजागरूक लुब्धक मृगों के समूह में रहता हुआ भी मृगों को नहीं मार पाता :

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् ॥ (२.८०)

अरि, मित्र आदि द्वादश राजाओं के मध्य एक ही विजिगीषु राजा, अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील रहकर वैसे ही दीप्त होता है, जैसे अदिति-पुत्रों में सूर्य दीप्त होता है। जैसे गारुड़-मन्त्र और सर्पपादि का फेंकना जाननेवाला मन्त्रविद् देवतायतन-मण्डल पर अधिष्ठित हो ध्यानयोग से फणीन्द्रों को निगृहीत करता है, वैसे ही स्वशक्ति के उत्पत्ति-विधानरूप तन्त्र एवं परशक्तियों का आत्मा में अध्यारोपलक्षण अवाय को जाननेवाला तथा योगों, प्रच्छन्न प्रणिधियों, (गुप्तचरों) द्वारा परराष्ट्रों पर आक्रमण करनेवाला उत्साहवान् विजिगीषु शत्रुओं को निगृहीत कर लेता है :

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ (२.८१)

प्रज्ञाबल जिसका मूल है, ऐसे उन्नत तथा पराक्रमरूप वृक्ष से प्रभुशक्तिरूप फल (कोश एवं चतुरंग बल) उत्पन्न होता है। वह प्रभुशक्ति दण्ड द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है, अर्थात् मन्त्रसहित उद्यम से प्रभुशक्ति उत्पन्न होती है। जैसे उन्नत एवं बृहन्मूल वृक्ष, महती और हस्तप्राप्य फल-सम्पत्ति पैदा करता है वैसे ही प्रज्ञाबलमय और बृहन्मूलवाला तथा महाप्रभावशाली उन्नत उत्साहरूप (पराक्रम-

रूप) वृक्ष दण्ड, वर्धनीय प्रथीयसी, अति-महती प्रभुशक्ति (कोश, चतुरंगबलरूप) फल-सम्पत्ति का जनन करता है :

करप्रचेयामुत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम् ।
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः ॥ (२.८९)

बुद्धि जिसका शस्त्र है, अमात्यादि जिसके अङ्ग हैं, मन्त्रगुप्ति जिसका कवच है, चार (गुप्तचर) जिसके चक्षु हैं, दूत ही जिसके मुख हैं, ऐसा कोई असाधारण व्यक्ति ही राजा होता है। अन्य कोई आयुध-विशेष से हनन करते हैं, पर नीतिज्ञ तो बुद्धि से ही प्रहार करता है। धनुर्धर द्वारा प्रयुक्त शर तो एक को मारता है या नहीं भी मारता। किन्तु बुद्धिमान् द्वारा प्रयुक्त बुद्धि राजासहित पूरे राष्ट्र का हनन करती है :

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राज्यं सराजकम् ॥

दूसरे लोग हस्त-पादादि अंगों से कार्य करते हैं, किन्तु प्रथमप्रकृति स्वामी अर्थात् नीतिज्ञ राजा के तो जनपद, अमात्य, कोश, दुर्ग, बल, ये सुहृत् छह प्रकृतियाँ ही हस्त-पादादि अंग होते हैं; उन्हींसे वह सारा कार्य कराता है। कालज्ञ महीपति के लिए केवल शौर्य या केवल क्षमा (मृदुता) ही आश्रयणीय नहीं होती। सिद्धि के लिए केवल ओज और केवल प्रसाद आश्रयणीय नहीं होता। कभी-कभी शत्रु के अपराध करने पर भी बुद्धिमान् विक्रिया नहीं प्रकट करते, शक्ति-सम्पत्ति होने पर ही पौरुष व्यक्त करते हैं। कभी शत्रु को कन्धे पर भी वहन करके समय आनेपर पत्थर पर कच्चे घड़े के समान उसे पटक कर फोड़ देना चाहिए :

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः ।
तमेव चागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि ॥

मार्दवयुक्त शौर्य ही भूम्यादि अर्थ-भोगों के सम्पादन में समर्थ होता है। यही कारण है कि तेजःस्वभाव प्रदीप मध्यवर्तिनी मृद्वी वर्तिका द्वारा स्नेह ग्रहण करता है। वर्तिका के बिना तेजःस्वभाव भी दीप तैल नहीं प्राप्त करता :

मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान् प्रकल्पते ।
प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशया ह्यन्तरस्थया ॥ (२.८५)

लोग मृदु का अपमान करते हैं और तीक्ष्ण से उद्विग्न होते हैं, यह समझकर केवल मृदुता या केवल पुरुषार्थ का नहीं, आश्रय किन्तु दोनों का अवलम्बन ही उचित है। जैसे सत्कवि काव्य-सौष्ठव के लिए शब्दालंकार और अर्थालङ्कार

दोनों का अवलम्बन करते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् दैव और पुरुषार्थ दोनों का आश्रयण करते हैं :

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥ (२.८६)

जैसे एक स्थायी शृंगारादि रस के लिए ही तैंतीस व्यभिचारीभाव उपयुक्त होते हैं, वैसे ही एक विजिगीषु राजा के लिए एकादश माण्डलिक राजा प्रयत्नशील रहते हैं। गुणवान् विजिगीषु राजा सारे नृपचक्र की नाभि की तरह सर्वशक्ति, सम्पत्ति एवं गुणयोग से अनन्य एवं प्रधान होता है। अन्य नृपति उसके उसी तरह परिवार होते हैं, जैसे बहुलध्वनि उदात्तस्वर के अनुदात्त आदि स्वर। जैसे भेरी, पटहादि द्वारा उत्पादित शब्द भी विभु आकाश के गुण हो जाते हैं, वैसे समर्थ विजिगीषु पराक्रम न कर निष्क्रिय रहे तो भी दूसरे राजाओं द्वारा उत्पादित अर्जित भूम्यादि अर्थ उसीके भोग्य हो जाते हैं :

अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः॥ (२.९१)

जैसे सूत में पिरोयी माला में प्रधान तेजस्वी मणि सुमेरु या नायक होता है, वैसे ही एक भूमिरूप अर्थसूत्र में पिरोये अभिगम्य, पाष्णिग्रहादि की माला में विजिगीषु ही नायक होता है।

यातव्य-पार्ष्णिग्राहादि-मालायामधिकद्युतिः।
एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते॥ (२.९२)

कुछ लोगों का कहना है कि "माघ आदि की भारतीय राजनीति में अपना अभ्युदय-सम्पादन एवं शत्रु को हानि पहुँचाना ये ही दो राजनीति के सार हैं। विद्वानों ने इन्हीं दो बातों का विस्तार किया है :

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते॥

किन्तु रामचरितमानस की यह नयी विशेषता है कि उसमें श्रीरामजी अंगद को लंका भेजते हुए कहते हैं कि अंगद तुम लंका जाकर शत्रु से इस ढंग की बात करो जिससे हमारा काम बने और उसका भी हित हो" :

काज हमार तासु हित होई।
रिपुसन करेहु बतकही सोई॥

किन्तु ऐसे लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि श्रीतुलसीदासजी के राम-

चरितमानस में सभी भारतीय धर्मशास्त्रों एवं भारतीय नीतिशास्त्रों का ही सार-संकलन किया गया है। उभय पक्ष के हित का प्रयत्न करने के अनन्तर भी अन्त में युद्ध एवं शत्रुविनाश का प्रयत्न करना ही पड़ता है। अतएव अन्त में राम को भी रावण का संहार ही करना पड़ा। यह अलग है कि अन्यायी को दण्ड देना भी उसके हित के लिए ही होता है। सन्धि के समय तो अनिवार्य रूप से उभयहित की बात सोचनी ही पड़ती है। फलतः 'आत्मोदयः' और 'परज्यानिः' (परहानि) यह स्पष्ट नीति ठहरती है। फिर भी वह उक्ति बलरामजी की है। वह माघ की नीति का सिद्धान्त नहीं, किन्तु पूर्वपक्ष है। उद्धव द्वारा वर्णित नीति ही उसका सिद्धान्त पक्ष है :

विवक्षितामर्थविदस्तत्क्षण - प्रतिसंहृताम्।
प्रापयन् पवनव्याधेर्गिरमुत्तरपक्षताम्॥ (२.१५)

माघ कविके शिशुपालवध में भी सिद्धान्त-पक्ष में शत्रुओं की भी भलाई करने का ही समर्थन किया गया है :

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि।
सपत्नीः प्रापयंत्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः॥ (२.१०४)

अर्थात् महानुभाव अनुगुण रिपुओं पर अनुग्रह करते हैं, तभी तो गंगादि महानदियाँ अपनी सपत्नी पहाड़ी नदियों को समुद्र के पास पहुँचा देती हैं।

उद्धवजी ने कृष्ण को यह भी परामर्श दिया है कि आपने अपनी पितृष्वसा (बुआ) को यह आश्वासन दिया है कि मैं शिशुपाल के सौ अपराध सहन करूँगा। उसका पालन करना भी आपका कर्तव्य है :

सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे प्रतिश्रुतम्॥ (२.१०८)

वस्तुतः रामचरितमानस की काज हमार तासु हित होई यह अर्धाली भी महाभारत की श्रीकृष्णोक्ति का ही अनुवाद है। श्रीकृष्ण ने तेरह वर्ष वनवास के बाद पाण्डवों का अब क्या कर्तव्य होना चाहिए, इस विषय में विचार के लिए प्रस्ताव रखते हुए कहा था :

एवं स्थिते धर्मसुतस्य राज्ञो दुर्योधनस्यापि यथा हितं स्यात्। (महाभा० उद्यो० १.१३)

अर्थात् ऐसी स्थिति में आप लोग ऐसा मार्ग निकालें, जिससे धर्मराज युधिष्ठिर एवं राजा दुर्योधन दोनों का ही हित हो। अन्ततः भारतीय नीति के अनुसार सभी प्राणी परमेश्वर के पुत्र ही हैं। सबको भ्रातृता स्वाभाविक ही है। अतः किसीका भी अनिष्ट-चिन्तन निषिद्ध ही है। अपराधी के लिए दण्डविधान भी उसके हितार्थ आत्मशुद्ध्यर्थ ही होता है, यह विस्तार से कहा जा चुका है। ●

५. तत्त्वज्ञान और वर्णाश्रम धर्म

धर्म प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय नहीं है। जिन कार्यों एवं कारणों का परस्पर कार्य-कारणभाव प्रत्यक्षानुमानगम्य होता है, वहाँ जन-सामान्य या नेतृ-सामान्य का अल्पमत या बहुमत उपादेय हो सकता है। किन्तु जिनका कार्य-कारण-भाव प्रत्यक्षानुमानगम्य नहीं, वहाँ तत्त्वज्ञान के लिए अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक शास्त्रों को छोड़कर अन्य कोई साधन नहीं है। ऋषियों, सिद्धों, महापुरुषों एवं महात्माओं की शास्त्रानुसारिणी उक्तियाँ ही सदा-सर्वदा आदरणीय हैं; शास्त्र-विपरीत नहीं। कारण, उनमें भी मतभेद होने पर कौन सिद्ध है और कौन असिद्ध, यह निर्णय अन्ध-श्रद्धा के बिना असम्भव हो है। सभीके ही कुछ-न-कुछ अनुयायी होते हैं और उन अनुयायियों की दृष्टि से सभी सिद्ध हो सकते हैं; फिर भी मत-भेद का समाधान नहीं हो पाता। अमुक को अमुक कर्म का अमुक फल अमुक जन्म या अमुक देश में मिलेगा, इसका ज्ञान ईश्वर को ही होता है। जो अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त प्राणियों, उनके अनन्तानन्त जन्मों, प्रत्येक जन्म के अनन्ता-नन्त कर्मों तथा उनके विचित्र फलों को जानता है और फल देने की क्षमता रखता है, वही 'ईश्वर' होता है। कोई राजा, प्रजा या पार्लमेंट लौकिक नियम बना सकती है, वह उन्हींके फलों का नियन्त्रण कर सकती है। किन्तु मरने के पश्चात् कौन नेता कहाँ गया या किस कर्म का फल उसे क्या मिला, यह ज्ञान राजा, प्रजा, नेता, लोकसभा या विधानसभा किसीको भी नहीं होता।

जैसे शास्त्रानुसार सुरा (मदिरा) के एक बिन्दु से ही ब्राह्मण का पतन हो जाता है, वैसे ही एक भगवन्नाम से पापपुञ्ज का नाश होता है। जैसे कर्म-नाशा की पुण्य-नाशकता, गंगाजल की पापनाशकता, गोमूत्र की पवित्रता आदि सभी शास्त्रगम्य हैं, वैसे ही शास्त्रानुसार ही किसीको प्रणाम करने से पुण्य और किसीको प्रणाम करने से पाप होता है। पिता पुत्रको प्रणाम करेगा तो पुत्र का अनिष्ट ही होगा। वैसे ही यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय या वैश्य को प्रणाम करेगा तो अपना और उसका दोनों का ही अकल्याण करेगा। वेष-परिवर्तन या किसी विशेष आचरण के कारण भी उसमें अन्तर नहीं पड़ता। तभी तो तुलसीदास जी ने कहा है।

ते बिप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥

शास्त्रों के अनुसार ब्रह्महत्या आदि बुरे कर्मों से ब्राह्मण भी अस्पृश्य होते हैं। इसी तरह कई जन्तु श्वान-शूकरादि जन्मना अस्पृश्य होते हैं :

श्वान-कुक्कुट-चाण्डालाः समस्पर्शाः प्रकीर्तिताः।
रासभोष्ट्रौ विशेषेण तस्मात्तान् नैव संस्पृशेत्॥
शूद्रान्नं शूद्रसंसर्गः शूद्रैश्चापि सहासनम्।
शूद्राय च नमस्कारो ज्वलन्तमपि पातयेत्॥

भगवद्बुद्धि से सभीको हो साष्टाङ्ग दण्डवत्प्रणाम किया जा सकता है। किन्तु यह तो प्रणाम करनेवाले का अन्तःकरण ही जानता है कि वह किस दृष्टि से प्रणाम कर रहा है। जो कभी भी श्वान-गर्दभ को कौन कहे, अश्व-वृषभ को भी साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम नहीं करता, वही जब किसी वेष-विशेष, व्यक्ति-विशेष को शास्त्रोक्त-मर्यादा के विपरीत प्रणाम करता है तो वहाँ कैसी भावना है, यह विद्वानों से तिरोहित नहीं है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'आद्य शंकराचार्य के भक्तों ने जब काशीक्षेत्र में एक चाण्डाल को 'दूरं गच्छ'—मार्ग छोड़कर हट जाने को कहा, तो उसने शङ्कराचार्य से कहा : 'आप मेरे इस शरीर को दूर हटाना चाहते हैं या आत्मा को? विचार करने पर दोनों ही बातें असङ्गत एवं असम्भव हैं; क्योंकि सभी शरीर पाँचभौतिक हैं। जैसा आपका वैसा ही मेरा, फिर पञ्चभूत को कैसे हटाते हैं? आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ही है। फिर आप किसे हटाना चाहते हैं?' कहा जाता है कि उसकी इन बातों से निरुत्तर होकर श्री शङ्कराचार्य ने उसे गुरु मानकर प्रणाम किया।' इसी आधार पर उनका कहना है कि 'शङ्कराचार्य को जाति-भेद या वर्णाश्रमाचार आदि भी मान्य नहीं था।'

वस्तुतः ऐसे विचार अत्यन्त भ्रामक हैं। शङ्कराचार्य 'सब भूतों में अजर-अमर, व्यापक, अद्वितीय एक ही आत्मा है' इस तत्त्वज्ञान की बात सुनकर समझ गये कि ये साक्षात् विश्वनाथ ही हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने उसे प्रणाम किया। वस्तुतः भगवान् विश्वनाथ ही उनकी ब्रह्मनिष्ठा की परीक्षा के लिए उस रूप में उनके सामने आये। फिर भी उन्हें प्रणाम करते देख वे मर्यादारक्षार्थ तुरन्त ही उस रूप को छोड़कर अपने शिवरूप में ही प्रकट हो गये।

उक्त बातों से तो निरुत्तर होने का कोई प्रश्न ही नहीं। उनकी बातों का यह सहज-सा उत्तर था कि यद्यपि आत्मा व्यापक है, पञ्चभूत भी व्यापक है, आत्मा से आत्मा और भूत से भूत हटाये नहीं जा सकते; तथापि जीवित ब्राह्मणादि-शरीरविशिष्ट आत्मा से जीवित शूकरादि-शरीर को व्यावहारिक पवित्रता के लिए दूर रखना सम्भव है और उचित भी है। व्यवहार में पवित्र गङ्गादि का जल ग्राह्य होता है और कमनाशा का जल अग्राह्य। गोमूत्र पञ्चगव्यादि रूप में पेय होता है, गर्दभादि-मूत्र अग्राह्य। अस्थि होने पर भी शङ्ख पवित्र है और नरकपाल

अशुद्ध। व्याघ्रचर्म पवित्र है और गर्दभ-चर्म अग्राह्य। इसी व्यावहारिक दृष्टि से जाति-भेद, वर्ण-भेद मान्य हैं। शङ्कराचार्य की परम मान्य उपनिषदों में ही रमणीय कर्मों से ब्राह्मणादि-योनि एवं कपूय (निन्द्य) आचरणों से श्व-शूकर, चाण्डालादि योनियों की प्राप्ति कही गयी है :

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्यशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। (छा० ५.१०.७)

अन्त में इस व्यावहारिक दृष्टि का ही सम्मान करते हुए शिवजी से उन्होंने कहा था कि 'देहदृष्टि से मैं आपका दास हूँ, जीवदृष्टि से आपका अंश हूँ और वस्तुतः मैं आपका ही रूप हूँ' :

दासस्तेऽहं देहदृष्ट्यास्मि शम्भो जातस्तेंऽशो जीवदृष्ट्या त्रिदृष्टे।
सर्वस्यात्मन्नात्मदृष्ट्या त्वमेवेत्येवं मे धीर्निश्चिता सर्वशास्त्रैः॥
(शङ्करदिग्विजय ६.४९)

अतः उक्त घटना से जातिभेद एवं वर्णाश्रमधर्म-भेद का अपलाप और उसकी अनुपादेयता सिद्ध करना नितान्त असङ्गत है।

किसी उच्चभूमिकारूढ़ ज्ञानी या भक्त का कोई व्यवहार कदाचित् वर्णाश्रम-धर्म के विपरीत हो, तो उनके लिए वह क्षम्य होने पर भी अन्य के लिए क्षम्य नहीं है। जिसने नौका से नदी पार कर ली तो वह नौका त्याग सकता है। किन्तु जिसे अभी नदी पार करना है, उसके लिए तरण-साधन नौका का त्याग कथमपि सङ्गत नहीं कहा जा सकता :

'शाङ्करदिग्विजय' में यह प्रसंग इस प्रकार उद्धृत है :

गच्छ दूरमिति देहमुताहो देहिनं परिजिहीर्षसि विद्वन्।
भिद्यतेऽन्नमयतोऽन्नमयं किं साक्षिणश्च यतिपुङ्गव साक्षी॥
शुचिर्द्विजोऽहं श्वपच व्रजेति मिथ्याग्रहस्ते मुनिवर्य कोऽयम्।
सन्तं शरीरेष्वशरीरमेवमुपेक्ष्य पूर्णं पुरुषं पुराणम्॥ (६.२८,३०)

अर्थात् आप कहते हैं कि 'दूर हटो' तो क्या आत्मा को दूर करना चाहते हैं? यदि आत्मा एक ही है तो उसका परिहार कैसे किया जा सकता है? यदि देह को दूर करना चाहते हैं तो क्या अन्नमय से अन्नमय में भेद सिद्ध हो सकता है? भले ही अनिर्वचनीयरूप से द्विजत्व, श्वपचत्व का भेद हो, पर वह पारमार्थिक भेद तो हो ही नहीं सकता। फिर तत्त्वविद् को मिथ्या-वस्तु में अभिनिवेश क्यों?

विद्यामवाप्यापि विमुक्तिपद्यां जागर्ति तुच्छा जनसङ्ग्रहेच्छा।
अहो महान्तोऽपि महेन्द्रजाले मज्जन्ति मायाविवरस्य तस्य॥ (६ ३२)

अर्थात् लोकसंग्रह के लिए उक्त भेद मान्य होता है, किन्तु ब्रह्मविद्या प्राप्त करके भी तुच्छ जनसंग्रह की इच्छा से शुद्ध ब्रह्मबुद्धि से दृष्टि क्यों हटायी जाय ? सर्वबाध-पूर्वक अखण्ड ब्रह्मदर्शन ही क्यों न किया जाय ?

अगले प्रसंग से प्रतीत होता है कि वे अन्त्यज नहीं, साक्षात् शंकर थे और शंकराचार्य को ब्रह्मनिष्ठा की परीक्षा के लिए ही अन्त्यजरूप से प्रकट हुए थे। लोकसंग्रह की दृष्टि से व्यावहारिक भेद दोनों को मान्य है।

ब्रह्म-अत्रादिभेदशून्य, निदृश्य, अखण्ड, अद्वैत, सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मना अवस्थान ही यथार्थ में ब्रह्मज्ञान है। यद्यपि द्वैत-दर्शन होते ही शास्त्रीय व्यवहार उपस्थित होता है; तथापि द्वैत-दर्शन ही क्यों आने दें, यही उनका आशय था। श्री शंकराचार्य ने यह आशय समझकर अन्य उत्तर न देकर यही कहा कि 'आपका वचन सत्य है। आत्मा शुद्ध, अनन्त, अद्वितीय हैं। व्यावहारिक भेद भी परमार्थतः असत् ही है। अतएव घट-पट, सर्प-नकुल, गंगा-कर्मनाशा, गोमूत्र-अन्य-मूत्र का भेद भी व्यवहार में सर्वथा मान्य होने पर ब्रह्मात्मदृष्टि से परमार्थतः बाधित ही है। आप ब्रह्मविद् हैं। मैं आपके वचन से शुद्ध ब्रह्मबुद्धि से अन्त्यज-बुद्धि को बाधित कर त्याग देता हूँ। पर प्रारब्धवशात् अविद्यालेश का अवशेष रहता है। तद्वशात् दृश्य द्वैत और उसमें जो भेद का भान होता है, उसका त्यागना बहुत कठिन है।'

यह भी कहा है कि सभी आस्तिक वेदान्त पढ़ते हैं। जितेन्द्रिय होकर उसका मनन भी करते हैं। योगाभ्यासी निदिध्यासन द्वारा ब्रह्माकार हृदय भी बनाते हैं। फिर भी प्रारब्ध-प्रतिबन्धवशात् भेदशून्य बुद्धि कोई भी नहीं कर पाता :

जानते श्रुतिशिरांस्यपि सर्वे मन्वते च विजितेन्द्रियवर्गाः।
युञ्जते हृदयमात्मनि नित्यं कुर्वते न धिषणामपभेदाम्॥ (६.३५)

अर्थात् किन्तु जिस दृढ़ बुद्धि को सम्पूर्ण जगत् प्रतिक्षण आत्मरूप से ही भासमान होता है, वह पुरुष ब्राह्मण हो अथवा श्वपच सर्वथा वन्दनीय ही है :

भाति यस्य तु जगद् दृढबुद्धेः सर्वमप्यनिशमात्मतयैव।
स द्विजोऽस्तु भवतु श्वपचो वा वन्दनीय इति मे दृढनिष्ठा॥ (६.३६)

अर्थात् जो तत्तद्विषयों को बाधित करके अवशिष्ट बोधमात्र को आत्मा जानता है, वह कोई भी हो, गुरु है और तद्वत् वन्दनीय है।

निर्व्यलीक भाषण करते हुए शंकराचार्य ने उस अन्त्यज को अपने सामने न देख वेदों के साथ चन्द्रमौलि भगवान् शंकर को ही देखा। वह अन्त्यज शंकर-रूप में और उसके साथ चार श्वान चारों वेदों के रूप में दिखाई पड़े। तब श्री शंकराचार्य ने भय से, भक्ति से, विनय से, धैर्य से, विस्मय एवं हर्ष के साथ भगवान् की स्तुति की, जो पीछे 'दासस्तेऽहम्' श्लोक द्वारा वर्णित है। अर्थात् 'हे सर्व-सुखदायक शम्भो! देहदृष्टि से मैं आपका दास हूँ, हे त्रिलोचन! जीवदृष्टि से मैं आपका ही अंश हूँ और हे सर्वात्मन्! आत्मदृष्टि से मैं आपका स्वरूप ही हूँ। सभी शास्त्रों से मेरी यह बुद्धि निश्चित है।'

इस दृष्टि से देखते हुए कौन कह सकता है कि व्यावहारिक सत्ता से भी शंकराचार्य को जाति भेद मान्य नहीं था। उनका स्पष्ट मत है:

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥

अर्थात् सदा ज्ञानदृष्टि से अद्वैत की भावना करनी चाहिए। क्रिया में कभी भी अद्वैत नहीं होता। गुरु के साथ सदा ही व्यावहारिक भेद स्वीकार करके प्रणामादि करना चाहिए।

तत्त्वतः जातिभेद भी वैसे ही नहीं जैसे घट-पट, काशी-मगह, गंगा-कर्मनाशा, कसाई एवं ब्राह्मण में भेद नहीं; कांटों एवं फूलों में, मधुर भोजन एवं विष्ठा में भेद नहीं। किन्तु क्या कोई भी व्यवहारतः इन भेदों का अपलाप करता है? कोई ज्ञानी भी पवित्र भोजनके समान ही कांटों और विष्ठा आदि से पेट भरता है? गंगाजल के तुल्य ही नरमूत्र का प्रयोग करता है? यदि नहीं तो समझना चाहिए कि समाधि एवं पूर्णतत्त्वदृष्टि में अवश्य ही सर्व-भेद-शून्य अद्वैत है, किन्तु द्वैत-दृष्टि होते ही शास्त्र सामने होते हैं। शास्त्रानुसार ही व्यवहार होना चाहिए।

इसीलिए कहा गया है:

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥

अर्थात् यदि तत्त्वज्ञ अद्वैतदृष्टि से व्यवहार में यथेष्टाचरण करता है तो अशुचि-भक्षणादि समान होने से उसकी श्वानों की समानता ही उपस्थित होगी।

वेदान्तशास्त्रों में नित्य अनेकसमवेत रूप 'जाति' का खण्डन किया गया है, किन्तु 'व्यवहारे भाट्टनयः' के अनुसार व्यवहार में भट्टपाद का ही सिद्धान्त मान्य है। यज्ञ, तप, दान आदि की कर्तव्यता को मुक्तकण्ठ से शंकराचार्य ने भी

स्वीकार किया है । वेदाध्ययन, यज्ञादि सभी जातिमूलक होते हैं । जाति स्वीकृत न होने पर वेदाध्ययन, यज्ञादि असम्भव ही ठहरेंगे ।

कुछ लोग किसी महात्मा की बातचीत के आधार पर वर्ण-भेद का खण्डन करते हैं । किन्तु संसार में महात्मा भी अनेक प्रकार के हुए हैं और होते हैं, सबके व्यवहार एक से नहीं होते । शास्त्रानुसारी महात्माओं के ही वचन एवं आचरण मान्य होते हैं, शास्त्रविपरीत भाषी के नहीं, यह कहा ही जा चुका है । शास्त्र तो स्पष्ट कहते हैं कि ॐकार के उच्चारण, होम, शालिग्राम की पूजा और कपिला क्षीरपान करने पर शूद्र चाण्डाल हो जाता है :

प्रणवोच्चारणाद्धोमात् शालग्रामशिलार्चनात् ।
कपिला-क्षीरपानाच्च शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत् ॥

कुछ लोग कहते हैं कि 'वैदिक प्रणव से लौकिक प्रणव भिन्न है, अतः उसका उच्चारण सभी कर सकते हैं ।' किन्तु यह निराधार है । प्रणव वेद का मूल है, वेद है, वह कभी भी वेद से पृथक् नहीं रहता : न वेदः प्रणवं त्यक्त्वा ।

कहा जाता है कि शुगस्य तदनादरश्रवणात् 'इस ब्रह्मसूत्र (१.३.३४) के अनुसार जो शोक-व्याकुल हो रहा है, वही शूद्र है : 'शुचा द्रवतीति शूद्रः ।' उसीका वेदान्त या संन्यास में अधिकार नहीं । जो शोकव्याकुल नहीं, उन अन्य सभी वर्गों का वेदान्त या संन्यासमें अधिकार है ।'

किन्तु यह कथन उसी प्रकरण से विरुद्ध है; क्योंकि जिन जानश्रुति को शोक आने के कारण 'शूद्र' कहा गया है, उसे ही छान्दोग्य में संवर्ग-विद्या का उपदेश किया गया है । अतः शोकव्याकुल होनेवाले गुणकृत शूद्र के लिए वेदान्त-विद्या का निषेध न होकर जाति-शूद्र के लिए ही वह निषेध है । अतः अन्य अभिप्राय ब्रह्मसूत्र के विरुद्ध है ।

वहीं पूर्वपक्ष में यह कहा गया है कि यद्यपि कर्मकाण्ड में मनुष्यों का ही अधिकार होता है; तथापि ब्रह्मविद्या में मनुष्यों के अतिरिक्त देवताओं का अधिकार 'देवताधिकरण' में मान्य हुआ है । इसी तरह यज्ञों में शूद्र का अधिकार न हो, तस्माच्छूद्रो यज्ञे अनवक्लृप्तः (तै० सं० ७.१.६); तथापि ब्रह्मविद्या में उसका भी अधिकार मान्य होना चाहिए । क्योंकि शूद्र ब्रह्मविद्या में अनधिकृत्य है, शूद्रो ब्रह्मविद्यायामनवक्लृप्तः ऐसा कोई वचन नहीं है । कर्मों में अनधिकार का कारण शूद्र के लिए अग्न्याधान का विधान न होना है, किन्तु विद्या में अग्नि की आवश्यकता नहीं होती । आहवनीय अग्नि का न होना ब्रह्म-विज्ञान में बाधक नहीं । प्रत्युत छान्दोग्य से तो पता लगता है कि जानश्रुति राजा को भी जिसे रैक्व महर्षि ने

शूद्र कहा था, अन्त में महर्षि ने संवर्गविद्या का उपदेश दिया था : अहहा रे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु (छा० ४.२.३)। अर्थात् हे शूद्र, ये हार और रथ गायों के साथ तेरे ही पास रहें। विदुर प्रभृति शूद्र विशिष्ट-ज्ञान-सम्पन्न हुए हैं, यह भारतादि में मिलता ही है।

सिद्धांत में इसका उत्तर दिया गया है कि यद्यपि पुराणेतिहासपूर्वक ब्रह्मविद्या में शूद्र का भी अधिकार है; तथापि वेदपूर्वक वैदिक ब्रह्मविद्या में शूद्र का अधिकार नहीं है, क्योंकि उसका वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है। उपनयनपूर्वक ही वेदाध्ययन होता है। अर्थी होने के साथ सामर्थ्य भी अधिकार का प्रयोजक है। सामर्थ्य भी लौकिक और वैदिक दो प्रकार के होते हैं। उपनयन का विधान न होने से ही शूद्र का वेदाध्ययन-सामर्थ्य बाधित हो जाता है। न्याय तुल्य है। जैसे अग्न्याधान न होने से शूद्र का अग्निमूलक यज्ञों में अधिकार नहीं, वैसे ही उपनयन न होने से उपनयनपूर्वक होनेवाले वेदाध्ययन का भी अधिकार नहीं। अतएव वेदोक्त ब्रह्मविद्यादि में भी अनधिकार सुतरां सिद्ध है। उपनयन वेदाध्ययन का अंग है और वेदाध्ययन वैदिक उपासना एवं ज्ञान में अनिवार्य ही है। जब उपनयन नहीं तो तन्मूलक अध्ययनादि हो ही नहीं सकता।

संवर्ग-विद्या में 'शूद्र' शब्द के प्रयोग से अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वचनबलात् एकमात्र संवर्ग-विद्या में शूद्र का अधिकार है, जैसे कि वचनबलात् रथकार एवं निषादस्थपति को वर्षा में अग्न्याधान एवं निषादस्थपतीष्टि में अधिकार है।

वस्तुत: यह 'शूद्र' शब्द अर्थवाद-वाक्य के अन्तर्गत होने से स्वार्थपर्यवसायी न होने के कारण शूद्र के लिए अधिकार-विधान करने में असमर्थ ही है। प्रत्युत यह 'शूद्र'-शब्द जाति का वाचक न होकर शोक के कारण आनेवाले क्षत्रिय राजा जानश्रुति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। शुचा द्रवतीति शूद्रः शोक से आनेवाले राजा को 'शूद्र' कहा गया है। छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में कहा गया है कि जानश्रुति राजा बहुदायी एवं बहुपाकी था। अतिथियों का बहुत आदर करता था। ग्रामों एवं नगरों में जगह-जगह अतिथियों के लिए निवासस्थान एवं भोजन-पान की व्यवस्था करा रखता था। इस प्रकार दानवीर राजा की गुणगरिमा से तुष्ट देवर्षियों ने उसके अनुग्रहार्थ हंसरूप धारणकर ग्रीष्मकाल में राजमहल के हर्म्यस्थलस्थित राजा पर आकाशमार्ग से मालाकार आबद्ध होकर जाना प्रारम्भ किया। उनमें से पिछले एक हंस ने अग्रेसर (आगे चलनेवाले) हंस को सम्बुद्ध कर कहा :

'भो भल्लाक्ष जानश्रुति राजा की दिव्य प्रभावमयी ज्योति द्युलोक तक फैली है। वह ज्योति कहीं तुम्हें दग्ध न कर दे।' यह सुनकर अग्रगामी हंस ने

उपहास करते हुए कहा : 'इस वराक (बेचारे) राजा की सयुग्वा रैक्व जैसी क्या प्रशंसा कर रहे हो : अर्थात् यह तो बेचारा साधारण प्राणी है। रैक्व की ज्योति ही असह्य है। ब्रह्मविदों के धर्म में त्रैलोक्योदरवर्ती सभी प्राणिमात्र का धर्म अन्तर्गत हो जाता है। अन्य किसी का धर्म उस कक्षा तक नहीं पहुँच सकता।

इस प्रकार के हंस के वचन से अपना अत्यन्त अपकर्ष और रैक्व के धर्म की पराकाष्ठा जानकर राजा को अत्यन्त शोक एवं खेद हुआ और जैसे-तैसे रात बिताकर प्रातः होते ही अपने क्षत्ता (सूत) को राजा ने आदेश दिया कि ब्रह्मविद् रैक्व महर्षि का पता लगाओ।

बहुत प्रयत्न से ढूँढ़ने पर रैक्व का दर्शन हुआ। पता लगते ही राजा छः सौ गाय, स्वर्ण मुद्रा, हार और रथ लेकर उनके पास जाकर सब समर्पण किया और उनसे विद्या-उपदेश की प्रार्थना की, पर रैक्व ने कहा :

शूद्र, हार के साथ यह रथ और गायें तू अपने ही पास रख मुझे नहीं चाहिए। ऋषि गृहस्थाश्रम में जाना चाहते थे अतः कन्या और गृहस्थाश्रमोपयोगी पर्याप्त धन चाहते थे। राजा क्षत्रिय था शूद्र जाति का नहीं था। फिर भी 'शूद्र' शब्द से महर्षि ने अपनी परोक्षज्ञता प्रकट करते हुए, सूचित किया कि रात्रि के समय हंसों के संवाद से अपना अत्यन्त अपकर्ष और मेरे उत्कर्ष की पराकाष्ठा सुनकर तुझे शोक हुआ है। उसी शोक से तुम मेरे पास मेरी उत्कृष्ट विद्या प्राप्त करने के लिए आये हो।

इसी अभिप्राय से यह ब्रह्मसूत्र है :

शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि। (ब्र० सू० १.३.३४)

सूत्रार्थ यह है कि शूद्र-शब्द से जानश्रुति के हृदय में हंसवचनों से शोक उत्पन्न हुआ है। यह सूचित किया गया है। क्योंकि शोक के कारण ही वह रैक्व के पास आया था। भाष्यकार ने स्पष्ट ही सब कहा है : कम्वरएनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिवरैक्व मात्थ (छा० ४.१.३)

इत्यस्माद्धंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः शुगुत्पेदे। तामृषी रैक्वः शूद्र शब्देनानेन सूचयाम्बभूवात्मनः परोक्षज्ञताख्यापनायेति गम्यते जातिशूद्रस्यानधिकारात् 'क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्।'

इस ३५ वें सूत्र द्वारा और अधिक स्पष्ट कहा गया है कि जिस जानश्रुति के लिए शूद्र-शब्द का प्रयोग किया गया था वह जानश्रुति क्षत्रिय था। संस्कार परामर्शात्तदभावाभिलापाच्च इस ३६ वें सूत्र में यह कहा गया है कि सर्वत्र विद्या

प्रदेशों में उपनयन संस्कार का परामर्श देखा जाता है। त १० होप निन्ये (श० ब्रा० ११.५.३.१३)

अधीहि भगवइति होप ससाद ते समित्पाणयो भगवन्तं पिप्लादमुपसन्नाः (प्र० उ० १.१) तान्‌हानुपनीयैव (छा० ५.११.७) इन स्थलों में स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपनयन संस्कार वैदिक विद्या प्राप्ति का अनिवार्य अंग है।

वस्तुतः उक्त अपशूद्राधिकरण के पूर्वपक्ष उत्तर पक्ष में शूद्र के वेदाधिकार पर ही विचार किया गया है। इस प्रसंग में संन्यास की चर्चा नहीं है। ऐसी स्थिति में वैराग्ययुक्त सभी वर्णों का संन्यास में अधिकार है इस मत के समर्थन में उक्त सूत्र का उद्धरण अप्रासंगिक ही है।

मनु ने शूद्र को एक जाति कहा है : चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः (१०.४) न च संस्कारमर्हति (म० १०.१२६) इससे तो मनु स्पष्ट ही शूद्र के लिए संस्कार का निषेध करते हैं। वैदिक विद्या के लिए संस्कार आवश्यक है और शूद्र के लिए संस्कार का विधान नहीं है, प्रत्युत निषेध ही है। अतः शूद्र का वैदिक विद्या में अधिकार नहीं है।

श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात्स्मृतेश्च (ब्र० सू० १.३.३८) सूत्र से भी वेदाध्ययन, श्रवण, अर्थग्रहण का निषेध शूद्र के लिए किया गया है। इसलिए भी उसका अधिकार वैदिक विद्या में नहीं।

इसमें शास्त्रों के पक्षपात की कल्पना करनी अनुचित है; क्योंकि शास्त्र सर्व-हितकारी हैं। अनिष्ट से बचाने के लिए ही निषेध होता है।

पुराणेतिहास के श्रवण द्वारा भगवद्भक्ति एवं भगवत्तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का अधिकार शूद्रों को भी है। बालक के हाथ में गन्ना न देकर मिश्री और कन्द देनेवाली माता को कोई भी पुत्रद्वेषिणी नहीं कह सकता। श्री विदुरजी जन्मान्तरीय संस्कार, सत्संग तथा पुराणादि श्रवण से ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न थे। उन्होंने धृतराष्ट्र को नीति की बहुत सी बातों का उपदेश किया। अन्ततोगत्वा ब्रह्मज्ञान के उपदेश-प्रसंग में रुक गये। धृतराष्ट्र के द्वारा रुकने का कारण पूछने पर उन्होंने स्वयं कहा कि मेरा जन्म शूद्रयोनि में है, अतः मैं इसका उपदेश नहीं करूँगा, यद्यपि मैं जानता हूँ। धृतराष्ट्र के लिए उन्होंने अपने योगबल से ब्रह्मलोक से सनत्कुमार का आह्वान कर लिया; तथापि मर्यादापालन करते हुए उपदेश नहीं किया :

> शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे।
> कुमारस्य च या बुद्धिः वेदतां शाश्वतीमहम्॥
>
> (म० भा० उ० प्र० ४१.५)

वेद प्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥ (भाग० ६.१.४०)

यमदूतों का उक्त वचन धर्म के लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है। वेद-विहित ही धर्म है। वेद साक्षात् नारायणरूप हैं, क्योंकि वे नारायण से ही प्रकट हुए हैं, यह बृहदारण्यक श्रुति ने स्पष्ट कहा है :

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि। (बृ० २.४.१०)

अर्थात् इस महान् भूत परमेश्वर के निःश्वासस्वरूप ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि हैं। इस प्रकार परमेश्वर नारायण के निःश्वासरूप होने के कारण वेद नारायण स्वरूप ही हैं। श्रीमद्भागवत के अन्य वचन में भी यही बात कही गयी है :

वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः।

वेद ईश्वर के रूप हैं, अतएव वे इतने गम्भीर हैं कि बड़े-बड़े सूरियों (पण्डितों) को भी उनमें व्यामोह होता है।

उपर्युक्त श्रुति में ही इतिहास-पुराण का भी नामोल्लेख है, इसी आधार पर इतिहास-पुराण का भी प्रामाण्य है। पुराणों में ही श्रीमद्भागवत भी एक पुराण है, इसी आधार पर उसका भी प्रामाण्य होता है। महर्षि जैमिनि ने भी विरोधे त्वनपेक्षस्यादसति ह्यनुमानम् इस सूत्र द्वारा वेदानुसारी स्मृत्यादि-वचनों का भी प्रामाण्य समर्थन किया है। श्रुति से विरोध होने पर स्मृतिवाक्य का प्रामाण्य त्याज्य होता है। विरोध न होने पर मूल श्रुति का अनुमान करके स्मृतिवाक्य का प्रामाण्य मान्य होता है।

इसी प्रसङ्ग में एक सूत्र है :

शिष्टाकोपे अविरुद्धमिति चेन्न शास्त्रपरिमाणत्वात् तात्पर्य यह कि ऐसे विधान, जो वेदविहित को बाधित कर शिष्टों को कोपित करने वाले नहीं—जैसे विहार, आराम, निर्माण, वैराग्य, ध्यान, अहिंसा, सत्यभाषण, दम, दान, दया आदि, उनके बोधक बुद्धादि-भाषित ग्रन्थों का भी प्रामाण्य होना चाहिए, ऐसा यदि कोई पूर्वपक्षी (शङ्का करनेवाला) कहे, तो उसका उत्तर है कि शास्त्रों का परिमाण निश्चित है। अर्थात् चतुर्दश या अष्टादश विद्यास्थान धर्म में प्रमाण रूप से निश्चित हैं, वे ही शिष्टों से परिगृहीत हैं। वेद, उपवेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, अष्टादश धर्म-संहिता, पुराण, इतिहास, दण्डनीति ये ही शास्त्र हैं। बौद्ध, आर्हत आदि ग्रन्थों का उनमें अन्तर्भाव नहीं होता। जैसे श्वदृति (कुत्ते के चमड़े के बने

पात्र) में रखा कपिला-क्षीर भी अग्राह्य होता है, वैसे ही वेदविरोधी बुद्धादि द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य आदि भी अग्राह्य ही हैं। वेदादि-शास्त्रोक्त ही अहिंसा-सत्य आदि वैदिकों को ग्राह्य हैं।

यदा शास्त्रान्तरेणापि सोऽर्थः स्पष्टोऽवधार्यते।
तदा तेनैव सिद्धत्वादितरत् स्यादनर्थकम्॥

यदि शास्त्रप्रामाण्य की व्यवस्था न होगी तो बौद्ध-जैन ही क्या, आजकल भी तो नये-नये अनेक धर्म और धर्माचार्य बनते जा रहे हैं। वे ही आगे चलकर प्राचीन भी हो जायँगे। उनके कुछ अनुयायी भी हो ही जायँगे। उनकी दृष्टि में कुछ महापुरुष भी हो ही जायँगे। अतः सबके साथ समन्वय कर सकना तो किसी के लिए भी सम्भव न होगा।

पुराणों के अवतार तो सीमित थे। आज तो सैकड़ों अवतार हैं। फिर भगवान् भी कौन हैं, कौन से भगवान् की उक्ति धर्म में प्रमाण है, यह निर्णय भी कुछ कम कठिन नहीं। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः इस दृष्टि से वेद के सभी भागों द्वारा परमेश्वर का ही बोध होता है। त्रैगुण्यविषया वेदाः का अर्थ यही है कि उपक्रमोप-संहारादि षड्विध लिङ्गों द्वारा सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः आदि वचनों के अनुसार वेदों का ब्रह्म में तात्पर्य ज्ञान न होने से कर्मकाण्डपरक वेदों का साध्यसाधनात्मक संसार ही अर्थ है। इसी दृष्टि से कहा गया है कि वेद त्रैगुण्यविषयक हैं। किन्तु पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार वेद ब्रह्मविषयक ही हैं।

अतएव श्रीमद्भागवत में भी भगवान् ने कहा है कि कर्मकाण्ड में विधिवाक्यों से किसका विधान होता है, देवताकाण्ड में मन्त्रवाक्यों द्वारा किसका प्रकाशन होता है, ज्ञानकाण्ड में किसका निषेधार्थ अनुवाद होता है, इसका रहस्य मुझसे अन्य कोई नहीं जानता। भगवान् ने स्वयं ही उसका निरूपण किया है। वेद कर्म-काण्ड में यज्ञरूप से मेरा ही विधान करते हैं, यज्ञ भी मेरा ही रूप है, तत्तद् देवता-रूप से भी देवताकाण्ड में मेरा ही प्रकाशन होता है, मुझसे पृथक् देवता नहीं है और जो तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। (तै० उ० २.१) आदि से आकाशादि प्रपञ्च का अध्यारोप करके अपोहन (निराकरण) किया जाता है, वह भी मैं ही हूँ। मुझसे पृथक् कुछ नहीं; क्योंकि सब वेदों का सारार्थ परमतात्पर्यार्थ इतना ही है कि शब्द मुझ परमार्थ रूप ब्रह्म का आश्रयण कर माया-मात्र का अनुवाद कर नेह नानास्ति से सब अध्यारोपों का अपोहन कर निवृत्त-व्यापार हो जाता है।

जैसे अंकुर में जो रस होता है उसके विस्तारभूत नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पल्लव, पुष्पादि में भी वही रस होता है वैसे ही वेद मूल-भूत प्रणव

का जो परमेश्वर अर्थ है वही परमेश्वर प्रणव-विस्तारभूत सभी वेदों के काण्डों एवं शाखाओं का भी अर्थ है।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन॥
मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्॥
मायामात्रं मनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति॥

(भाग० ११.२१.४२-४३)

जो लोग कहते हैं कि भागवत को 'वेदविहित धर्म है वेद निषिद्ध अधर्म है' यह लक्षण मान्य नहीं है, उन्हें यह भी बतलाना चाहिए कि यदि ऐसा ही है तो विष्णु-दूतों ने भी अजामिल को पापी क्यों माना और भागवत में भी अन्य शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तों से पापनिवृत्ति क्यों मानी गयी है ? 'तैस्तान्यघानि पूयन्ते' (भाग० ६.२.१७)

इसके अतिरिक्त पाप और उसकी निवृत्ति दोनों ही प्रत्यक्ष नहीं है और यह अनुमानगम्य भी नहीं है। पौरुषेय लौकिक वचन भी प्रत्यक्षानुमानमूलक होने से ही प्रमाण होते हैं। किसी भी महापुरुष का वचन निर्विवाद नहीं हो सकता; क्योंकि सबका ऐकमत्य नहीं है। यहाँ तक कि ईश्वर के सम्बन्ध में भी सबका ऐकमत्य नहीं है। कोई शिव, कोई विष्णु, कोई गणपति, कोई अल्लाह कोई गाड, कोई ईश्वर मानते हैं। उनके भी वाक्य पृथक्-पृथक् हैं। अतएव श्रीमद्भागवतादि सद्ग्रन्थों की दृष्टि से अपौरुषेय वेद ही प्रत्यक्ष, अनुमानादि से अविज्ञात धर्म ब्रह्म का बोध कराता है। वह वेद स्वयंभू नारायण या ईश्वर के निःश्वासरूप होने से ईश्वररूप है। पुराणादि सब तन्मूलक होने से ही प्रमाण हैं।

यदि भागवतादि के अनुसार वेदानुसारी धर्म एवं अधर्म का लक्षण अमान्य है, तो उक्त महानुभावों से प्रश्न होगा कि फिर उनके मत से भागवत के अनुसार भागवत-धर्म भगवन्नाम-कीर्तनादि करनेवाले साधकों के लिए वेद-विहित कर्मों का त्याग तथा निषिद्ध कर्मों का आचरण उचित होगा या अनुचित ? यदि अनुचित होगा तो क्यों ? यदि उचित होगा तो नामापराधों की सङ्गति कैसे बैठेगी ? दश नामापराधों में स्पष्ट ही विहित कर्मों का त्याग एवं निषिद्ध कर्मों का आचरण इन दोनों को ही नामापराध कहा गया :

नामास्तीति निषिद्धवृत्ति विहितत्यागश्च धर्मान्तरैः साम्यम्।

अतः अनिच्छयापि कहना पड़ेगा कि भगवन्नाम-जापकों को भी यमदूतों द्वारा

कथित धर्मधर्म का लक्षण मान्य है। तभी तो विहित का त्याग और निषिद्ध का आचरण नामापराध के रूप में मान्य होता है।

भगवद्भक्ति, भागवत-धर्म, तत्त्वज्ञान या ब्रह्मात्मदर्शन परम धर्म है। यह उत्कृष्ट धर्म मान्य होने पर भी वेदविहित वर्णाश्रमधर्मकी अमान्यता सिद्ध नहीं होती। भले ही किसी अवस्थाविशेष में उनकी अननुष्ठेयता कही जाय, पर उस अवस्था की प्राप्ति में भी धर्मानुष्ठान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। भागवत में कहा है कि वह व्यक्ति देवता, ऋषि, भूत, आप्त तथा पितर किसीका भी न ऋणी है, न किङ्कर जो सर्वग्रन्थियाँ तोड़ सर्वात्मना मुकुन्द की शरण आ गया है।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(भाग० ११.५.४१)

श्रीभगवान् ने कहा है कि जो कर्मों के अनुष्ठान और अननुष्ठान के गुण-दोषों को जान मेरे द्वारा आदिष्ट धर्मों को भी छोड़कर मुझे भजता है, वह सत्तम है।

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजते स सत्तमः॥
(भाग० ११.११.३२)

किं बहुना, गीता में भी भगवान् यही कहते हैं कि सर्वधर्मों को छोड़कर मेरी शरण आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा। फिर भी धर्मों की अमान्यता सिद्ध नहीं होती। अन्यथा भगवान् ने अर्जुन से पहले ही यह क्यों नहीं कह दिया, १८वें अध्याय के अन्त में क्यों कहा? निरर्थक इतने अमूल्य समय का अपव्यय क्यों किया? साथ ही पीछे **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्, यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्, न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते** आदि वचनों से शास्त्रानुसारी कर्मों की कर्तव्यता पर क्यों बल दिया?

श्रीमद्भागवत में भी भक्ति और ध्यान के प्रसङ्ग में **स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्** आदि वचनों द्वारा भक्ति-ध्यान-परायण व्यक्ति के लिए भी यथाशक्ति स्वधर्म का आचरण एवं विधर्म से निवर्तन का उपदेश क्यों किया? इतना ही क्यों, भागवत में तो भक्ति के लक्षण में भी आनुश्रविक (वैदिक) कर्मों का सन्निवेश किया गया है :

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥

आदि वचनों से स्पष्ट कहा गया है कि आनुश्रविक (वैदिक) कर्मवाले शब्दादि-गुणप्रत्यायक देवों (चतुर्दश-करणों), आन्तर-बाह्य इन्द्रियों की सत्त्वमय विष्णु में स्वारसिकी वृत्ति (तदभिमुखता) ही भक्ति है।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि वैदिककर्माभ्यासी साधक ही अन्तःकरणशुद्धि आदि क्रम से विष्णु-परायण हो सकता है। नौका द्वारा नदी पार कर लेने पर नौका त्याज्य हो सकती है, परन्तु पहले नदी पार करने के लिए नौका का आश्रय लेना ही पड़ेगा :

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य और योग, दो निष्ठाएँ बतलायी गयी हैं। सांख्य साध्य है तो योग साधन। योग के बिना सांख्य सफल नहीं होता। उपसंहार में भी 'सर्वगुह्यतमम्' रूपसे दो श्लोक कहे गये : एक **मन्मना भव मद्भक्तः** और दूसरा **सर्वधर्मान् परित्यज्य**। पहले से कर्मयोग और दूसरे से सांख्य कहा गया है। पहले कर्मयोग का अनुष्ठान आवश्यक है और अन्त में उसके फल-भूत सांख्य का आश्रयण युक्त है। साध्य प्राप्त हो जाने पर साधन का त्याग अनुचित नहीं।

श्रीमद्भागवत में और अधिक स्पष्ट रूप से वेदोक्त कर्म और उनके त्याग का समन्वय बतलाया गया है :

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥ (भाग० ११.३.४३)

कर्म, अकर्म और विकर्म यह वेदवाद है; लौकिक नहीं तथा वेद ईश्वर से उद्भूत होने के कारण ईश्वररूप हैं। अतः उनके निर्णय में सूरियों (महापण्डितों) को भी व्यामोह होता है।

वेदकर्मों से मोक्ष (छुटकारे) के लिए कर्मों का उसी प्रकार विधान करते हैं, जिस प्रकार रोग से मोक्ष पाने के लिए औषध का विधान होता है :

कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा। (भाग० ११.३.४४)

भगवान् की वेदलक्षणा भारती अपनी लक्षणा, व्यजना, गौणी तथा मुख्या विविध वृत्तियों द्वारा उक्थ (कर्म)-जड़ों को मोहित करती है :

भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्। (वेदस्तुति ३६)
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्। (भाग० ११.३.४४)

जैसे माता अपने बालक को लड्डू का प्रलोभन देकर निम्बादि कटु औषध पिलाती है, अन्यथा दूसरे दिन बालक कटु औषध का पान नहीं करेगा। बालक भले ही समझता रहे कि निम्ब, गुडूची आदि कटु औषध के पान का फल मोदक-प्राप्ति है, किन्तु माता की दृष्टि में कटु औषधपान का फल रोगनिवृत्ति ही है, मोदकप्राप्ति नहीं। वैसे ही स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात् इस वचन से श्रुति स्वर्ग का प्रलोभन देकर अधिकारियों को कर्मों में प्रवृत्त कराती है। उनसे उनको स्वर्गादि-प्राप्ति भी होती है। भले ही अधिकारी पहले-पहल अग्निहोत्रादि कर्मों का फल स्वर्गादि समझें, किन्तु श्रुतितात्पर्य की दृष्टि में पाशविक काम-कर्मज्ञान की निवृत्ति ही वैदिक कर्मों का फल है; क्योंकि शास्त्रों का अन्तिम उद्देश्य सर्वकर्म तथा सर्वचेष्टाओं की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मनिष्ठा ही है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानिर्मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

फिर भी पहले से ही कर्मत्याग से महान् अनर्थ होता है। भागवत का स्पष्ट मत है कि जो इन्द्रिय-दमन एवं तत्त्वसाक्षात्कार से पहले ही वेदोक्त कर्मों का त्याग कर देता है, वह विहितानाचरण-लक्षण अधर्म द्वारा पुनः पुनः मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता रहता है। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि या परागति के लिए वेदोक्त कर्मों का निःसङ्ग होकर भगवच्चरणपङ्कज में समर्पण करने की दृष्टि से अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार वेदोक्त कर्मों के आचरण से नैष्कर्म्यसिद्धि मिलती है :

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(भाग० ११.३.४५-४६)

श्रीमद्भागवत के प्रथमस्कन्धवाली बात भी उपर्युक्त विवेचन के अनुसार लग जाती है। अतएव—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता येनात्मा सुप्रसीदति॥ (भाग० १.२.६)

इस वचन का अर्थ करते हुए श्री जीवगोस्वामी प्रभृति ने—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामोच्चारणादिभिः॥

इस श्लोक के अनुसार भगवन्नामोच्चारण आदि को ही परधर्म माना है। उनके अनुसार उसीसे भगवान् में अहैतुकी भक्ति होती है। किन्तु जिन श्रीधरस्वामी को जीवगोस्वामी आदि पद-पद पर वन्दना करते हैं और उनके भी परम पूज्य श्री गौराङ्ग चैतन्य महाप्रभु भी जिनका परम आदर करते हैं, उन श्रीधरस्वामी ने उक्त श्लोक का अर्थ करते हुए कहा है कि गीतोक्त निष्काम, भगवच्चरण-पङ्कज-समर्पणबुद्धि से किया जानेवाला स्वधर्मानुष्ठान ही परधर्म है :

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

इस प्रकार जीवगोस्वामी ने अहैतुकी का अर्थ किया है कारणरहित, किन्तु स्वामीजी का अर्थ है फलानुसन्धानरहित। 'यतः' इस पद से भक्ति का हेतु स्पष्ट ही स्वीकृत है। भगवन्नामोच्चारणादि तो स्वयं भक्ति है, वह वस्तुतः भक्ति का हेतु नहीं हो सकता। इसलिए जैसे औपचारिक रूप से पक्व आम्र का हेतु अपक्व आम्र कहा जाता है, वैसे ही जीवगोस्वामी ने भी अपक्वभक्ति को पक्वभक्ति का हेतु कहकर औपचारिक ही कार्य-कारणभाव माना है।

शेष 'श्रम'वाली बात भी अविचारित-रमणीय ही है; क्योंकि वहाँ भी धर्म का ही प्रसंग चल रहा है :

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥ (भाग० १.२.८)

अर्थात् स्वनुष्ठित वर्णाश्रमानुसारी धर्म का फल यही है कि उससे अन्तःकरणशुद्धि हो वैराग्य और भगवत्-कथा में श्रद्धा हो। इसीलिए कहा है :

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेहकर्मभिः ॥

(भाग० १.२. ९-१०)

इन वचनों में स्पष्ट ही श्रौत-स्मार्त-धर्म का भगवद्भक्ति एवं मोक्ष प्रयोजन कहकर उन मतों का खण्डन किया गया है जो धर्म का फल अर्थ, अर्थ का फल काम और काम का फल इन्द्रियतृप्ति समझते हैं। भागवत के उक्त श्लोक के अनुसार धर्म का मुख्यफल अपवर्ग है और गौणफल है अर्थ। अर्थ का मुख्यफल

धर्मानुष्ठान है और गौणफल है काम (भोग)। काम का मुख्यफल प्राणधारण है, इन्द्रियतृप्ति नहीं तथा प्राणधारण का मुख्यफल है तत्त्वजिज्ञासा।

यों अच्युत-भक्ति के बिना कर्म ही क्यों, नैष्कर्म्य तत्त्वज्ञान भी शोभा-शून्य ही कहा गया है। कर्म यदि भगवान् में अर्पित न किया जाय तो वह अभद्र ही ठहरेगा :

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥
(भाग० १.५.१२)

इसीलिए ये उक्तियाँ हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता ९.२६)

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥
(भाग० ११.२.३६)

वस्तुतः श्रीधरस्वामी के पूर्वोक्त कथनानुसार भगवच्चरण-समर्पणबुद्धि से अनुष्ठित धर्मानुष्ठान ही भागवत-धर्म है। वही हरितोषण का साधन है। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि श्रुति, स्मृति, पुराण तथा पाञ्चरात्र-विधान के बिना भक्ति उत्पात का ही मूल है :

श्रुति-स्मृति-पुराणादि-पाञ्चरात्रविधिं विना।
स्वातन्त्र्येण कृता भक्तिरुत्पातायैव केवलम्॥

सब सिद्धान्तों एवं सब मतों से समझौता सम्भव नहीं होता। क्रिया में विकल्प हो सकता है, वस्तु में विकल्प नहीं। एक रज्जु में सर्प, धारा, माला, भूछिद्र और रज्जु आदि अनेक ज्ञान हो सकते हैं, पर सभी ज्ञान प्रमा (यथार्थ) नहीं हो सकते। एक वस्तु के विषय में एक ही ज्ञान यथार्थ होता है, अन्य सब ज्ञान अयथार्थ ही होते हैं। इसी तरह देह आत्मा है, इन्द्रिय आत्मा है, मन आत्मा है, बुद्धि आत्मा है या इन सबसे भिन्न आत्मा है ? ऐसे ही आत्मा चेतन है या अचेतन, कर्ता है या अकर्ता, अणु है या व्यापक—ये सभी पक्ष सम्भव नहीं हो सकते। इन विषयों में समझौतावाली नीति घातक ही ठहरेगी।

हाँ, यह तो ठीक है कि अपने-अपने विश्वास के अनुसार सभी अपने-अपने धर्म का पालन करें; पर कोई अन्य के धर्म में हस्तक्षेप या आक्रमण न करें।

सामूहिक, सर्वहितकारी कामों में सभी कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर काम करें। इसी दृष्टि से कहा गया है।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवाऽवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

अर्थात् जो कार्य अपने लिए प्रतिकूल प्रतीत हो वह दूसरों के लिए न करो, यही धर्म का सर्वस्व है, इसे सुनकर अवधारण करो।

यदि कोई हमारे धर्म, धर्मग्रन्थ या धर्मस्थान का अपमान करता है तो वह हमें उद्वेजक, दुःखजनक प्रतीत होता है। अतः हमारा यह धर्म है कि दूसरों के धर्म, धर्मग्रन्थ एवं धर्म-संस्थान का अपमान न करें। जहाँ तप, जप सन्ध्या-वन्दनादि धर्म हैं वहीं दूसरों को निरर्थक उद्वेग न पहुँचाना भी धर्म है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

ऐसे वाक्यों का प्रयोग उचित है जो दूसरों को उद्वेग न पहुँचायें तथा जो हितकर एवं प्रिय भी हो। गीता में भी कहा गया है :

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमो मतः ॥

अर्थात् अपने तुल्य ही सब प्राणियों में दुःख और सुख देखनेवाला ही परम योगी है।

नीतिशास्त्रों ने भी शासकों के लिए निर्देश किया है कि जिस देश में जो आचार या धर्म प्रचलित हो, उस पर आक्रमण न कर परम्परा से वहाँ के शास्त्रों एवं धर्मगुरुओं से उसका स्वरूप ठीक जानकर उसका पालन करें। यही सर्व-समन्वय एवं सामंजस्य का मार्ग है :

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा स वशमागतः ॥

श्रीमद्भागत के सप्तमस्कन्ध में त्रिंशल्लक्षण मानवधर्म का वर्णन है, जिसमें अहिंसा, सत्य, दम, दया ईश्वरभक्ति, तत्त्वज्ञान आदि का समावेश है। वह सभीके लिए लाभदायक है। प्रायः सभी देशों एवं धर्मों में सत्य, दया, दान, भक्ति देहभिन्न आत्मा की मान्यता आदि का आदर होता है। इसी दृष्टि से सब लोगों में मेल-जोल, समन्वय, सामञ्जस्य हो सकता है। इसके लिए वेदादि शास्त्रों के प्रामाण्य, वेदोक्त धर्मलक्षण में संकोच या रद्दोबदल करने की आवश्यकता नहीं।

श्रीमद्भागवत की दृष्टि से सब मानवों के साथ परस्पर हित का आचरण करते हुए भी भारतीयता का आदर किया जा सकता है। इसी तरह भारतीयता के नाते सभी भारतीयों के साथ समन्वय, सामञ्जस्य की बात करते हुए भी ब्राह्मणता का सम्मान एवं तदुचित धर्म का पालन किया जा सकता है। किं बहुना, सर्वभूतहिते रतः के अनुसार तो प्राणिमात्र का हिताचरण करना प्राणियों का उत्कृष्ट धर्म है।

इसी दृष्टि से धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक मतभेद रहते हुए भी सर्वभूत-हिताचरण और किसी भी सामाजिक अभ्युत्थान या सामूहिक कल्याण के उद्देश्य से समन्वय, सामञ्जस्य एवं संघटन भी सम्पन्न हो सकता है। अमृत प्राप्त करने की दृष्टि से देवताओं और असुरों ने भी संघटित होकर समुद्र-मन्थन जैसा महान् कार्य किया था। आज भी विभिन्न देशों के विभिन्न धार्मिक, आध्यात्मिक सिद्धान्तोंवाले नागरिक संघटित होकर अपने देशों की उन्नति कर रहे हैं। भारत में ही हिन्दू, मुसलमान आदि स्पष्टरूप से अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं से मतभेद रखते हुए भी राष्ट्र-स्वातन्त्र्य-आन्दोलन सम्मिलित हुए।

वस्तुतः सौ मतों को मिटाकर या सबको मिलाकर एकमत बनाने का प्रयत्न करनेवाला १०१वाँ मत बनाकर मतों की संख्या ही बढ़ाता है, घटा नहीं सकता। वैदिक अहिंसोपासकों, योगियों बौद्ध बोधिसत्त्वों के अपने असाधारण धार्मिक-आध्यात्मिक सिद्धान्त होते हैं; फिर भी परहितसाधना एवं परदुःख-निवारण के लिए हँसते-हँसते प्राण दे देते हैं। जीमूतवाहन का उदाहरण प्रसिद्ध ही है। ऐसी सुबुद्धि एवं भावना के बिना धार्मिक-आध्यात्मिक सिद्धान्त एक होने पर भी स्वार्थों के कारण मतभेद, कलह एवं विघटन देखा ही जाता है। एक सम्प्रदाय के लोगों में भी नाना प्रकार के कलह इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। तत्त्वदर्शन या भक्ति की साधना में सहस्रों सैद्धान्तिक मतभेद होने पर भी आस्तिक-नास्तिक, साधु-असाधु सभीमें ब्रह्म या भगवद्बुद्धि रखना आवश्यक है। तभी—

सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन, साधु, असाधु सभीमें ब्रह्मबुद्धि करनी होती है। नास्तिक धार्मिक में भी भगवद्बुद्धि एवं उनका हिताचरण अभीष्ट होने पर भी उनकी अधार्मिकता और नास्तिकता को अपने सिद्धान्तों से सम्बद्ध करने की अपेक्षा नहीं होती। यही स्थिति सीय राममय सब जग जानी की है।

श्री उदयाचार्यजी ने नास्तिकों पर भी कृपा करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहा है कि "इस प्रकार श्रुतियुक्तिरूप निर्मल जल से मैंने नास्तिकों

के दुस्तर्क-कलंक-पङ्किल हृदय का प्रक्षालन करने का प्रयास किया, फिर भी यदि उनके हृदय में आपके प्रति विश्वास नहीं जगता तो निश्चित ही उनका हृदय वज्रसार है। किन्तु अकारणकरुण, करुणावरुणालय ! यथासमय आप ही उनको भी तारें; क्योंकि जैसे आस्तिक बड़े अभिनिवेश के साथ मण्डन करने की दृष्टि से आपका चिन्तन करते हुए ईश्वरसाधक श्रुति-युक्तियों का अनुसन्धान करते हैं, वैसे ही नास्तिक भी खण्डनीयविधया आपका चिन्तन करते हुए ईश्वरबाधक युक्तियों का अन्वेषण करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत ईश्वरसिद्धि के विप्रतीपरूप से वे लोग भी बड़े अभिनिवेश से आपका चिन्तन करते हैं। अतः आप उनका भी अवश्य ही उद्धार करें" :

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधाति हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुत विप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥

इस तरह श्री उदयाचार्यजी नास्तिकों का भी परम हित चाहते थे, तो भी उन्होंने अपना मत नहीं बदला और न उनका मत स्वीकार किया। ●

६. शास्त्रोक्त धर्म एवं भगवन्नाम

कहा जाता है कि 'ईसाई, मुसलमान आदि में एक ही धर्मग्रन्थ, एक ही ईश्वर और एक ही धर्म-लक्षण होने से संशय, मतभेद आदि नहीं हो पाते। किन्तु हिन्दुओं के अनेक धर्मग्रन्थ, अनेक ईश्वर और अनेक धर्म-लक्षण होने से मतभेद तथा तरह-तरह के संशय खड़े हो जाते हैं। फलतः संगठन में बाधा पड़ती है। इसीलिए कई लोग इसमें सुधार कर हिन्दूशास्त्र में एकरूपता लाकर उसे देश-कालानुकूल तथा उदार बनाना चाहते हैं।' किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न ही है, क्योंकि पूर्वापर के समन्वय एवं विरोध परिहारपूर्वक ग्रन्थ-प्रकरण एवं वाक्यों का तात्पर्य न समझने पर तो एक ही ग्रन्थ में अनेक मतभेद हो सकते हैं। प्रायः सभी देशों में 'संविधान' की एक ही पुस्तक होती है, फिर भी उनके अर्थों में मतभेद होता है। विभिन्न पक्षों के न्यायवादी (वकील) उनके विभिन्न वाक्यों के पृथक्-पृथक् अर्थ करते हैं; फिर भी अर्थ-निर्धारण के लिए ही न्यायालय होते हैं। न्यायालय का मुख्य काम ही यह है कि वह संविधान का ठीक अर्थ निर्धारित करे। उसमें भी अवर न्यायालय ('लोअर-कोर्ट') के निर्णय में न्यूनता रह जाय तो उच्च न्यायालय ('हाई-कोर्ट') उसे ठीक करता है और किसी विषय में हाईकोर्ट के निर्णय में भी त्रुटि रह जाय, तो सर्वोच्च न्यायालय ('सुप्रीम कोर्ट') तथा उसकी 'फुल बैंच' द्वारा अन्तिम निर्णय किया जाता है। इसी तरह हिन्दूधर्म-सम्बन्धी अनेक शास्त्रों या पुस्तकों के होने पर भी धर्मशास्त्र एवं मीमांसानिष्णात आचार्य एवं परिषदें विप्रतिपन्न (विवादास्पद) विषयों पर अपना अन्तिम निर्णय देती हैं।

जैसे संविधान के विवादास्पद वाक्यों का निर्णय करने के लिए विधान एवं तदनुसारी कानूनों तथा विभिन्न नजीरों (निर्णय के उदाहरणों) के आधार पर विचार आवश्यक होता है, वैसे ही वेदादि-शास्त्रों का भी निर्णय करने के लिए उपक्रम-उपसंहार (पौर्वापर्य) तथा विभिन्न शास्त्र-वाक्यों के आधार पर विचार आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र एवं चिकित्साशास्त्र में भी अनेक ग्रन्थ तथा एक ग्रन्थ में भी परस्पर विरोध प्रतीत होते हैं। उनका भी निर्णय उपर्युक्त न्याय से ही किया जाता है। पूर्वोत्तर-मीमांसा में इसके लिए १. उपक्रम-उपसंहार की एकरूपता, २. अभ्यास, ३. अपूर्वता, ४. फल, ५. अर्थवाद और ६. उपपत्ति के अतिरिक्त अन्य भी शतशः मार्ग बतलाये गये हैं। सब बातों पर एक ही पुस्तक, सब रोगों पर एक ही नुस्खा या एक ही गोली, सब परिस्थितियों में एक ही नीति संकीर्णता का लिङ्ग है, विशेषज्ञता का नहीं।

इस दृष्टि से विचार करने पर हिन्दू-शास्त्र भी असमन्वित नहीं हैं। एक अपौरुषेय वेद ही समस्त संसार के लिए सर्वप्रथम शास्त्र एवं संविधान है। उसकी ११३१ शाखाएँ एवं एक-एक शाखा के मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् सभी एक ही वेद के अवान्तर अंश या अध्याय हैं। व्याकरण आदि ६ अङ्ग; मन्वादि धर्मशास्त्र; रामायण, महाभारत आदि आर्ष-इतिहास; षट्दर्शन; तन्त्र-आगम सभी ग्रन्थ वेदाश्रित एवं वेदार्थ के निर्णायक और वेदों का ही व्याख्यान या भाष्य करनेवाले हैं। अल्पबुद्धियों के लिए ये सभी शास्त्र महार्णवतुल्य दुरूह होने पर भी परम्परा के अनुसार अध्ययन-अध्यापन में श्रम करनेवालों के लिए सुगम ही हैं। जैसे सभी शास्त्र समन्वित हैं, वैसे ही उनके द्वारा प्रतिपादित ईश्वर भी निर्गुण, सगुण, शिव, विष्णु दुर्गा, गणपति, भास्करादि अनेक रूपों में प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः एक ही है : **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** (ऋग्वेद)। ठीक इसी तरह वर्ण, आश्रम तथा अधिकार-भेद से आपत्ति-सम्पत्ति, देश-काल और परिस्थिति-भेद से धर्म के भिन्न रूप होने पर भी सभीके स्वरूपों एवं लक्षणों का समन्वय हो ही जाता है। तात्पर्य-ज्ञान के अभाव में ही उनमें विरोध भासता है। उन्हीं विरोधों के निराकरणार्थ हेमाद्रि, पराशर-माधव, वीरमित्रोदय, निर्णय-सिन्धु आदि अनेक बृहत्काय निबन्ध-ग्रन्थ हैं। **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः** आदि वचनों के आधार पर अधिकारानुसार वेदादि-शास्त्रोक्त कर्म, उपासना, ज्ञानादि ही धर्म है। यह धर्मलक्षण इतना व्यापक है कि सभी लक्षण इसमें समा जाते हैं। यहाँतक कि दूसरे लोगों के भी धर्मलक्षण इसीके अनुसार ही होते हैं। अतएव ईसाई-सम्प्रदाय के धर्म-ग्रन्थ 'बाइबिल' द्वारा प्रोक्त कर्म, उपासना आदि को ईसाईधर्मवाले मानते हैं; मुसलमान, जैन, बौद्ध भी कुरान आदि अपने-अपने धर्मग्रन्थों एवं शास्त्रों के अनुसार ही अपने कर्मों एवं उपासनाओं को धर्म मानते हैं। मनु के अनुसार अर्थ और काम में अनासक्त मनुष्यों के लिए धर्म-ज्ञान का विधान है तथा धर्म-जिज्ञासावालों के लिए धर्म का प्रमापक परम प्रमाण 'श्रुति' ही है :

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ (मनु० २.१३)

फलतः अर्थ-कामपरायण चार्वाक एवं तत्सदृश प्राणियों के लिए धर्मजिज्ञासा का प्रश्न ही नहीं उठता, जबतक कि अर्थ-काम के अतिरिक्त अलौकिक सुख एवं उसके साधनों की ओर उन्हें आकृष्ट न किया जाय।

जैनी लोग देहातिरिक्त आत्मा, उसका पुनर्जन्म और परलोक मानते हैं। वे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण भी मानते हैं, अतः वे धर्म भी स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका धर्म पुद्गल (परमाणु)-स्वरूप ही है। उनके सिद्धान्त के अनु-

सार उत्तम कर्मों से उत्तम-देहारम्भक पुद्गल बनते हैं, उन्हें ही 'धर्म' कहा जाता है। लेकिन जब परमाणु प्रत्यक्ष होते ही नहीं, अनुमान से परमाणु-सामान्य का ही बोध होता है तब किन कर्मों से कौन परमाणु उत्पन्न होते हैं, इसका ज्ञान केवल अटकलमात्र पर ही निर्भर है। यद्यपि सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष सर्वविषयक होता है; तथापि सर्वज्ञता प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। भिन्न-भिन्न आचार्यों के अनुयायी अपने-अपने आचार्यों को सर्वज्ञ ही मानते हैं, सर्वसम्मति से किसीकी भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती।

इसके अतिरिक्त बौद्धों के अनुसार बुद्ध, जैनों के अनुसार जिन सर्वज्ञ हैं, फिर भी उनमें परस्पर महान् मतभेद हैं। वे आपस में ही एक दूसरे की सर्वज्ञता का खण्डन करते हैं। वस्तुतः यदि दोनों सर्वज्ञ हों, तो उनमें मतभेद कैसा ? क्या दो घटज्ञानवालों का घट के सम्बन्ध में मतभेद होता है ? सबै सयाने एकमत के अनुसार सर्वज्ञों में कोई मतभेद ही नहीं होता। लौकिक प्रत्यक्ष एवं अनुमान के बल पर कोई भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता। धर्म के बल पर ही उनकी सर्वज्ञता का समर्थन किया जा सकता है। किन्तु इस पक्ष में सर्वज्ञता के बल पर धर्म का ज्ञान और धर्म के बल पर सर्वज्ञता की सिद्धि यह परस्पराश्रय (अन्योन्याश्रय) दोष अनिवार्य है। यदि वेदादि-शास्त्रों के बल पर धर्म का ज्ञान प्राप्तकर सर्वज्ञता-प्राप्ति की बात करें, तब तो धर्मज्ञान के लिए सर्वज्ञता-सिद्धि का प्रयास व्यर्थ हो है।

बौद्धों के मत में निर्वाण-प्राप्ति के उपाय अहिंसादि साधनों को 'धर्म' माना जाता है। उन्हें भी प्रत्यक्ष-अनुमानसे पृथक् आगम-प्रमाण मान्य नहीं। बुद्ध की सर्वज्ञता भी 'जिन' जैसी ही है। बौद्धों में सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक ये चार भेद हैं। उनमें भी धर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। 'हीनयान' और 'महायान' रूप से भी उनमें भेद है। व्यवहारतः उनमें अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया आदि धर्मों का बड़ा सम्मान है। बुद्ध-भक्ति का भी बड़ा आदर है, पर यह सब बुद्ध की सर्वज्ञता पर ही निर्भर है।

न्याय-दर्शन के अनुसार धर्म आत्मनिष्ठ एक विशेष गुण है। उसीको 'अदृष्ट' कहा जाता है। शुभकर्म से शुभ-अदृष्ट और अशुभ-कर्म से अशुभ अदृष्ट उत्पन्न होता है। नैयायिक प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम प्रमाण भी मानते हैं। आगमों में मन्वादिसम्मत वेदादिशास्त्र उन्हें भी मान्य हैं। फलतः मन्वादिप्रोक्त धर्म ही नैयायिकों का भी धर्म है। अन्तर केवल इतना ही है कि मन्वादि-धर्मशास्त्री वेद को अपौरुषेय होने से और नैयायिकादि सर्वज्ञ परमेश्वरप्रोक्त होने के कारण प्रमाण मानते हैं। प्रतिकल्प की आदि में सदैव परमेश्वर से समान आनुपूर्वीवाले वे ही वेद प्रकट होते हैं, अतः उनके अनुसार भी प्रवाह-रूप से वेद अनादि ही हैं।

वैशेषिक-दर्शनकार कणाद **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** इस सूत्र के अनुसार अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के साधन को 'धर्म' मानते हैं। यद्यपि ये भी प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं, तथापि इनके अनुमान में शब्दप्रमाण का भी अन्तर्भाव है। जैसे लिङ्ग-लिङ्गी (हेतु-साध्य) धूम और धूमध्वज का व्याप्ति-सम्बन्ध होता है, वैसे ही उनके यहाँ शब्द एवं अर्थ का व्याप्ति-सम्बन्ध है। जैसे लिङ्ग से लिङ्गी का अनुमान होता है, वैसे ही शब्द से अर्थ का अनुमान होता है। वैशेषिकदर्शन भी शब्दों में वेदों को ही मुख्य प्रमाण मानता है। **तत्कृति-वेदे** आदि सूत्रों के अनुसार वैशेषिक भी वेदों को ईश्वरकृत मानता है। इस दृष्टि से उनका अभ्युदय-निःश्रेयस्-साधन धर्म भी वेदैकसमधिगम्य है। उनका मनमानी धर्म नहीं है।

लौकिक अभ्युदय और उसका लौकिक साधन तो प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध होने से लौकिक अर्थ-काम के अन्तर्गत हो हैं, किन्तु लौकिक पशु-पुत्रादि और अलौकिक स्वर्गादि अभ्युदय एवं निःश्रेयस् (मोक्ष) अलौकिक साधन प्रत्यक्षादिगम्य नहीं। उनका ज्ञान केवल वेदादिशास्त्रों से ही होता है। अन्यथा यह सूत्र सापेक्ष ही बना रहेगा। जैसे 'कस्येदं गृहम्' (यह किसका घर है?) 'यस्याहं भार्या' (मैं जिसकी भार्या हूँ) 'कस्य त्वं भार्या ?' (किसकी तू भार्या है) 'यस्येदं गृहम्' (जिसका यह घर है) आदि प्रश्नोत्तर सापेक्ष होने से निर्णयात्मक नहीं होते वैसे ही 'को धर्मः ?' (धर्म क्या है) **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो), 'कुतस्तत् सिद्धिः' (किससे उसकी सिद्धि होगी ?) 'धर्मात्' (धर्म से) यह भी निर्णायक नहीं होगा। अतः यही मानना होगा कि **जन्माद्यस्य यतः** के समान **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** यह भी धर्म का तटस्थ-लक्षण ही है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** के समान 'वेदादिगम्य यागादिक्रिया धर्म है,' यही धर्म का स्वरूप-लक्षण है : **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**।

किं बहुना, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वोत्तर मीमांसा इन छः आस्तिक दर्शनों, पुराणों, मन्वादि-धर्मशास्त्रों को सम्मत धर्म का लक्षण एक ही है। उनमें मतभेद की कल्पना अज्ञानमूलक है। अर्थात् वेदादिशास्त्रोक्त कर्म या तज्जन्य अदृष्ट या वृत्ति या संस्कार ही धर्म है, इनमें अत्यल्प ही दार्शनिक भेद है; व्यावहारिक भेद तो बिल्कुल ही नहीं है :

सांख्यवादी भी सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक के उपयोगी सत्त्वगुण के विकास के लिए निष्काम स्वधर्मानुष्ठान आवश्यक मानते हैं। उनके मतमें भी धर्म का ज्ञान वेदादिशास्त्रों से ही गम्य है। योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग के अनुगुण स्वधर्मानुष्ठान होता है और स्वधर्म का ज्ञान वेद से ही होता है; क्योंकि सांख्य और योग दोनों ही वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं।

जैमिनि का मीमांसा-दर्शन तो वस्तुतः 'धर्म-मीमांसा' नाम से ही प्रसिद्ध है।

भट्टपाद श्री कुमारिल आदि उसके व्याख्याता हैं। उनके अनुसार **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** यह धर्म का लक्षण है। इसका अर्थ है कि प्रवर्तक-निवर्तक विधि-निषेधरूप वैदिक वाक्यों से ही धर्म एवं अधर्म दोनों का बोध होता है।

वेदान्त-दर्शन के अनुसार भी ब्रह्मज्ञान के लिए वेदादि-शास्त्रों एवं यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्म अपेक्षित होते हैं। फलतः पूर्वोत्तरमीमांसकों का धर्मलक्षण एक ही है। यह प्रसिद्ध है 'व्यवहारे भाट्टनयः' अर्थात् वेदान्ती व्यवहार में भाट्ट-सिद्धान्त ही प्रमाण मानते हैं। भाट्टमत में धर्म और ब्रह्म दोनों शास्त्रैकगम्य हैं। वेदान्त को भी यही मान्य है। जैसे 'चक्षुषैव रूपमुपलभ्यते, न श्रोत्रादिना' यानी आँखों से ही रूप की प्रतीति होती है, श्रोत्र आदि से नहीं, इसी तरह **आलोकादिसहकृतेन दोषरहितेन मनःसंयुक्तेन चक्षुषा रूपमुपलभ्यते एव, न नोपलभ्यते**—यानी आलोक-प्रकाश आदि सहकारिकारणों से सहकृत दोषरहित मनःसंयुक्त चक्षु से रूप का ज्ञान होता ही है, नहीं होता ऐसा नहीं। इस प्रकार अयोग और अन्ययोग की निवृत्तिसे चक्षु एवं रूप का असाधारण सम्बन्ध निर्धारित होता है। उसी तरह चोदना से ही धर्म का बोध होता है, अन्य प्रमाण से नहीं—अधिकारी पुरुषों द्वारा उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यग्राहक षड्विधलिङ्गों द्वारा विचार्यमाण चोदनाओं (प्रवर्तक-निवर्तक अर्थात् विधि-निषेधात्मक वाक्यों) से धर्म का बोध अवश्य ही होता है, नहीं होता ऐसा नहीं। इस प्रकार अयोग और अन्ययोग के निवृत्तिपूर्वक धर्म एवं वेदशास्त्रों का असाधारण सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसी तरह **तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि** ब्रह्म के अनुसार उपनिषदों एवं पुरुष का भी असाधारण संबंध विदित होता है। **उपनिषद्भिरेव पुरुषोऽधिगम्यते, नान्येन मानेन**—उपनिषदों से ही पुरुष (आत्मा) का अवगम होता है, अन्य से नहीं। **नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्**—अवेदविद् ब्रह्म को नहीं जानता। **साधनचतुष्टयीसम्पन्नेन पुरुषेण उपक्रमोपसंहारादिभिर्लिङ्गैः विचार्यमाणाभिरुपनिषद्भिः पुरुषोऽधिगम्यत एव, न नाधिगम्यते**—अर्थात् साधनचतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी पुरुष को उपक्रमोपसंहादि षड्विध लिङ्गों द्वारा विचार करने पर उपनिषदों से ब्रह्मज्ञान अवश्य ही होता है, नहीं होता ऐसा नहीं।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यदि आलोकादि सहकारी न हों अथवा नेत्र में दोष हो अथवा मन असावधान हो तब भले ही चक्षु से रूप का बोध न हो; अन्यथा निश्चित ही चक्षु से रूप का बोध होता है। इसी तरह यदि विवेक-वैराग्यादि साधन न हों या षड्विधलिङ्गों के निर्धारण की क्षमता न हो तब भले ही ब्रह्मज्ञान न हो, अन्यथा निश्चय ही उपनिषदोंसे ब्रह्मज्ञान होता है।

इस दृष्टि से धर्म एवं ब्रह्म दोनों ही समान रूप से वेदैकसमधिगम्य हैं। यह बात अलग है कि शब्दों से धर्म का परोक्षज्ञान और शब्दों से ही ब्रह्म का अपरोक्ष-ज्ञान होता है। गीता में भगवान् ने भी निम्नलिखित वाक्यों से इसी पक्ष का पोषण किया है :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

अर्थात् जो शास्त्रविधि का उल्ङ्घन कर मनमानी कर्म करता है उसे सिद्धि, सुख-शान्ति नहीं मिलती । इस कथन से अन्ययोगनिवृत्ति सिद्ध होती है । तुम्हारी कार्य-अकार्य-व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं, अतः शास्त्रविधान से उक्त कर्म को जानकर ही कर्म करो । इससे अयोगनिवृत्ति भी कही गयी है । इन्हीं परिपुष्ट प्रमाणों के आधार पर भट्टपाद ने विभिन्न धर्मलक्षणों का खण्डन किया है ।

अवश्य ही भगवान् व्यासने परोपकार को मुख्य पुण्य तथा परपीड़न को पाप कहा है :

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

किन्तु परोपकार क्या है, इसका ज्ञान भी एकमात्र शास्त्रों से ही होता है । परम हित एवं परम सुख में भेद होता है । रोगी को अभीष्ट कुपथ्य देने से परम सुख हो सकता है, पर वह परम हित नहीं । गुरुस्त्री-गमन गुरुस्त्रीके लिए परम सुख हो सकता है, पर वह परम हित नहीं । आचार्य या माता-पिता अपने शिष्य या पुत्र का ताड़न करते हैं, पर वह परहित है, परपीड़न नहीं । अतः यहाँ भी शास्त्रानुसार ही हित-अहित जानकर परहिताचरण धर्म एवं परपीड़न ही अधर्म है । इससे पूर्वोक्त लक्षण से भिन्नता की कल्पना उचित नहीं । सारांश, सर्वसाधारण हित एवं अहित का निर्णय नहीं कर सकते । वेदार्थपरिनिष्ठित वेदार्थानुष्ठानजन्य संस्कार से संस्कृत लोग ही वास्तविक हिताहित का विचार कर सकते हैं ।

यह भी देखा जाता है कि बहुत-से स्थलों में वेदाध्ययन न होने पर भी वेदार्थ अहिंसा, सत्य आदि के संस्कार फैल सकते हैं । वैदिक धर्म अनादि है । प्रायः उसीके अनेक अंश अन्य धर्मों में सङ्गृहीत हो सके हैं । मनु के—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

इस श्लोक से बोधित ये दश पदार्थ धर्म के स्वरूप हैं । वे भी श्रुत्यादिमूलक ही हैं । तभी धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः—मनु के इस वचन की सङ्गति लगेगी; अन्यथा उनकी उक्तियों में ही परस्पर विरोध होगा ।

लक्ष्यते अनेनेति लक्षणम् इस व्युत्पत्ति से सिद्ध होनेवाला लक्षण तो धर्म का वही है जो पूर्व में कहा गया है । किन्तु लक्ष्यते यत् तत् लक्षणम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार सिद्ध लक्षणशब्द से लक्षित धर्मस्वरूप ही दशकं धर्मलक्षणम् से विवक्षित है ।

श्रीमद्भागवत में **त्रिशल्लक्षणवान् धर्मः** कहा गया है, वहाँ भी लक्षण का 'स्वरूप' ही अर्थ है। मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट आदि ने भी लक्षण का स्वरूप ही अर्थ माना है। अर्थात् प्रकृत लक्षणशब्द का अर्थ स्वरूप है, व्यावर्तक बोधक लक्षण नहीं।

धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

महाभारत के इस वचन की भी संगति **वेदप्रणिहितो धर्मः** इस लक्षण के साथ ही हो सकती है, स्वतन्त्र नहीं। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व का जो धारण-पोषण, योगक्षेम, समन्वय, सामंजस्य, सङ्घटन करनेवाला हो और जो सबको अलौकिक-पारलौकिक अभ्युत्थान एवं परम निःश्रेयस प्राप्त करनेवाला हो, वही धर्म है। इतनेसे यह जिज्ञासा निवृत्त नहीं होती कि वह कौन-सा पदार्थ है, जिससे उपर्युक्त कार्य सम्पन्न होते हैं।

पूर्वोक्त धृति, क्षमा, दया, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, उत्तम बुद्धि, विवेक आदि सामाजिक-नैतिक धर्म कहे जाते हैं। कहा जाता है कि 'इन्हें सामाजिक समझौते के रूप में परस्पर सहमति से स्वीकार किया गया है। यदि हम दूसरों की हिंसा करेंगे, दूसरों का धन हरण करेंगे तो लोग हमारा भी धन हरण करेंगे। हम दूसरों से झूठ बोलेंगे तो लोग हमसे भी झूठ बोलेंगे। हम दूसरों की बहन-बेटियों को बुरी दृष्टि से देखेंगे तो लोग भी वैसी ही बुरी दृष्टि हमारी बहन-बेटियों के प्रति भी रखेंगे। अतः सबने सङ्घटन-समन्वय की दृष्टि से आत्मसुख-शान्ति के लिए ही अहिंसा, सत्य आदि का नियम चलाया है।'

किन्तु इससे भी यह बात अधिक संगत है कि जैसे लौकिक शासक अपने शिष्टों (शासितों) की शासन-सुव्यवस्था के लिए शासन-विधान बनाता है वैसे ही अनादि शासक परमेश्वर का अनादि शासित जीवों की शासन-व्यवस्था के लिए अनादि शासन-विधान है। परमेश्वर का वह अनादि शासन-विधान वेदादि-शास्त्र ही हैं। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि सनातन परमात्मा ने सनातन जीवात्माओं के अभ्युदय-निःश्रेयस के लिए अपने सनातन संविधान वेदादि-शास्त्रों द्वारा जिन उपायों (मार्गों) का उपदेश किया है, वे ही 'सनातन-धर्म' हैं। उन्हींमें सत्य, अहिंसा आदि भी हैं। वेद न माननेवालों ने भी उन्हें उपयोगी एवं अत्यावश्यक समझकर ग्रहण कर लिया है।

जैसे वेदान्तानुसार ईश्वर, वेदादिशास्त्रैकसमधिगम्य है; फिर भी वेदादि न माननेवाले लोग भी उसी वैदिक प्रसिद्धि को लेकर अपने-अपने ढंग से उसका निरूपण करते हैं, वही स्थिति अहिंसा, सत्य आदि की भी है।

वस्तुतः गीता के अनुसार वेदादि-शास्त्रों द्वारा बताये गये कर्म या नियम ही प्रजा का धारण करते हैं, प्रजा को विशृंखलता से बचाते हैं, वर्णाश्रम-व्यवस्था

में बाँधकर रखते हैं। इसीलिए परमेश्वर को 'सेतु' भी कहा गया है। जैसे लोक में खेतों के असाङ्कर्य के लिए सेतु (मेड़) होते हैं, वैसे परमेश्वर सेतुरूप हैं। इसीलिए गीता ने संसाररूपी अश्वत्थवृक्ष के रक्षक पत्रों के रूप में छन्दों (वेदों) को बताया है : **छन्दांसि यस्य पर्णानि।**

इन्हीं शास्त्रोक्त नियमों से जड़ता का निवारण और चेतनता का प्रबोध भी होता है। परमेश्वर उसी धर्म द्वारा अपनी समस्त प्रजा का धारण, पालन-पोषण करता है, इसीलिए वह धर्म है। मनुष्यों द्वारा उसका धारण किया जाता है, इसीलिए भी वह धर्म है और मनुष्यों में स्थित होकर वह सम्पूर्ण चेतना-चेतनात्मक प्रजा का धारण करता है, इसलिए भी वह धर्म है। अहिंसा के पालन से ही प्रबल भी दुर्बल प्राणियों की भी रक्षा करता है। सर्वभूतदयारूप धर्म के द्वारा सभी प्राणियों का पोषण होता है।

वस्तुतः महाभारत का यह प्रसंग धर्म-परिभाषा का नहीं है। यहाँ तो विचार इस बात का है कि यद्यपि शास्त्रानुसार सत्य धर्म है और अनृत अधर्म; तथापि हिंसायुक्त सत्य अधर्म हो जाता है और अहिंसायुक्त असत्य धर्म हो जाता है। यदि अपने सामने से निकले साधुपुरुषों या गायों का अन्वेषण करनेवाले डाकुओं तथा गोघातकों के प्रश्न करने पर सत्य बोला जाय और उस सत्य से साधुओं एवं गायों का वध हो तो उस स्थल में वह हिंसायुक्त सत्य अधर्म ही हो जायगा। वहाँ मिथ्या भाषण करके भी उनकी रक्षा करना धर्म है। इसी प्रकार सबके विनाश के लिए कटिबद्ध किसी अन्ध बलाका को मार देने पर हिंसक व्याध को भी स्वर्गप्राप्ति हुई थी तथा कोई मूढ़ सत्यवादी सत्यवादिता के अभिमान से चोरों को रास्ता बताकर भिक्षुओं की हत्या का भागी होने से नरकगामी हुआ। एक उलूक गंगतीर पर सर्पिणी के अपरिगणित अण्डों को नष्ट कर महान् पुण्य का भागी बना। यदि उन अण्डों को नष्ट न किया जाता तो तीक्ष्ण विषवाले सर्पों के विस्तार से महान् लोक-विनाश होता। ऐसे स्थलों में धर्म-अधर्म का विवेक बहुत ही कठिन हो जाता है। ऐसे ही स्थलों के लिए कहा गया है :

भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं वाऽप्यनृतं भवेत्॥
तादृशो बध्यते बालो यत्र सत्यमनिष्ठितम्।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित्॥
अप्यनार्योऽकृतप्रज्ञः पुरुषोऽप्यतिदारुणः।
सुमहत् प्राप्नुयात्पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव॥
किमाश्चर्यं च यन्मूढो धर्मकामोऽप्यधर्मवित्।
सुमहत्प्राप्नुयात् पुण्यं गङ्गायामिव कौशिकः॥

(महाभा० राजधर्मानुशासनपर्व १०९. ५-८)

अर्थात् कहीं सत्य नहीं, अनृत ही बोलना चाहिए। जहाँ अहिंसा के कारण अनृत सत्य हो जाता है और हिंसा के योग से सत्य अनृत हो जाता है, जहाँ सत्य अहिंसा, उपकार आदि में पर्यवसित नहीं है, उस स्थल में मूढ़ सत्यवादी भी बाधित होता है। सत्य-अनृत का यथावत् जाननेवाला ही धर्मतत्त्वज्ञ होता है। इसी आधार पर अकृतप्रज्ञ, अतिदारुण अनार्य भी उसी तरह महान् पुण्यभागी होता है, जैसे बलाक सर्वप्राणिवधार्थ उद्यत अन्ध घ्राण चक्षु के वध से पुण्य का भागी हुआ था। इसमें क्या आश्चर्य है कि धर्मकामनावाला भी सत्यवादी अधर्म-निश्चय के कारण डाकुओं एवं गोघातकों को साधुओं एवं गायों का पता बताकर पाप का भागी हुआ था। तत्त्वज्ञ उसी प्रकार पुण्य का भागी होता है जैसे गंग के तीर में सर्पिणी के अण्डों को नष्ट करके उलूक पुण्य का भागी हुआ था।

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभा० राजध० १०९.९).

वस्तुतः प्राणियों के प्रभव (अभ्युदय), अहिंसन (अपीडन) और धारण (संरक्षण) के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है। अतः व्यापक रूप से प्राणियों का अभ्युदय, अपीडन और संरक्षण जिससे होता है, वह चाहे सत्य हो चाहे असत्य, किन्तु वही धर्म है। यद्यपि अहिंसा और सत्य दोनों ही शास्त्रविहित हैं; तथापि अहिंसाविरोधी सत्य अग्राह्य है। इसलिए गीता ने हित-मित-प्रिय सत्य-भाषण को ही 'सत्य' कहा है, केवल सत्य को नहीं। इसी दृष्टि से कहा गया है :

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंपृक्तः स धर्म इति निश्चयः॥ (१०९.११-१२)

उपर्युक्त श्लोकों के अनुसार भूतों के अभ्युदय, अहिंसा तथा धारण (संरक्षण) के लिए ही धर्म का वर्णन वेदों में है। अर्थात् धर्म के ये तीन उद्देश्य हैं। धारण या प्राणिरक्षण के कारण ही 'धृञ् धारणे' धातु से धर्म-शब्द की निष्पत्ति होती है।

धर्म से प्रजा का धारण (रक्षण) होता है, जो धारण (संरक्षण) से युक्त होता है, वह धर्म होता है। इसी प्रकार जो सत्य निरपराधों का संरक्षण न कर उनके नाश का कारण बनता हो, वह धर्म नहीं है।

वेदों के अनुसार भी श्रुत्युक्त सभी धर्म हैं, ऐसा समझना एकदेशियों का मत है। वैदिक-सिद्धान्त में श्रुतियों का तात्पर्य जिसमें हो, वही धर्म होता है। इसीलिए श्येनादि याग श्रुत्युक्त होने पर भी धर्म नहीं माने जाते। **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** इस सूत्र में 'अर्थ' पद का सन्निवेश इसीलिए किया गया है। श्येनादि याग अनर्थ हैं, अर्थ नहीं, अतः वे धर्म नहीं हैं। भट्टपाद ने कहा है :

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबद्ध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्म इति कथ्यते॥

अर्थात् प्रत्येक फल द्वारा भी जो कर्म अनर्थ से संसृष्ट नहीं हो, केवल सुख का हेतु हो, वही धर्म है। श्येनादि याग का फल शत्रुमरण है। वह अन्त में नरक का हेतु है, अतः वह धर्म नहीं है। यद्यपि अग्निष्टोम में भी **अग्नीषोमीयं पशुमालभेत** के अनुसार पशु का आलम्भन (यज्ञीय वध) होता है; तथापि वहाँ हिंसा क्रत्वर्थ विधेय है, स्वतः उद्देश्य नहीं। अतः वहाँकी हिंसा अधर्म नहीं, धर्म ही है। जैसे **मा हिंस्यात्** श्रुति से निषिद्ध होने से हिंसा अधर्म है, वैसे ही **अग्नीषोमीयं पशुमालभेत** से विहित होने के कारण यागार्थ पश्वालम्भन धर्म है। शत्रुमरण तो स्वयं रागतः प्राप्त है, शास्त्र से विधेय नहीं, शास्त्रैकगम्य नहीं। शास्त्र में केवल उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाया जाता है। अतः उद्दिष्ट हिंसा के लिए शास्त्रविहित श्येनयाग कर्म भी पाप है, पर जहाँ अहिंसात्मक यागादिकर्म उद्देश्य है वहाँ उस उद्देश्य से विहित अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन (यज्ञीय वध) भी पुण्य है। इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास का **अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्** यह सूत्र सांख्य आदि के पक्ष का खण्डन करता हुआ कहता है कि अग्नीषोमीय-पश्वालम्भनयुक्त होने पर भी वैदिक कर्म अशुद्ध नहीं है; क्योंकि वह शब्द से अर्थात् वैदिक-वाक्यों के अनुसार विहित है। वैदिक लोग धर्म में वेदवाक्यों को ही प्रमाण मानते हैं। वेदों के अनुसार यज्ञ में संज्ञप्त होकर पशु ज्योतिर्मय देह धारण कर स्वर्गलोक में जाता है : **हिरण्यशरीर ऊर्ध्वलोकमेति**। आचार्य रामानुज ने कहा है कि हिंसनीय का अननुग्राहक प्राणवियोगानुकूल व्यापार ही हिंसा है, अनुग्राहक वैसा व्यापार हिंसा नहीं है। इसीलिए प्राणिहित की दृष्टि से आपरेशन करनेवाले डाक्टर द्वारा चीर-फाड़ का कार्य हिंसा नहीं माना जाता।

श्रुतिधर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः।
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते॥

(महाभा० शान्ति० १०९.१३)

कुछ लोगों का कहना है कि श्रुतिप्रोक्त सभी धर्म हैं तो कुछ लोग इसका प्रतिवाद करते हैं। प्रतिवाद करनेवालों का तात्पर्य यह है कि जो कुछ विधान

किया जाता है, वह सभी धर्म नहीं है; किन्तु फलकाल में भी जो कर्म अनर्थ से सम्बद्ध नहीं होता, केवल प्रीतिकारक ही होता है, वही धर्म है।

विधान तो श्येनयाग का भी किया गया है। श्येनेनाभिचरन् यजेत, किन्तु शत्रुमरण उद्देश्य होने से यह अनर्थ से सम्बद्ध है; अतः धर्म नहीं। विचारकों की दृष्टि से यही पक्ष उचित है। इसलिए भी भीष्म पितामह इस विचार को दुर्लभ ज्ञान या दुर्लक्ष्य ज्ञान कह रहे हैं।

यत्तु लोकेषु दुर्ज्ञानं तत्प्रवक्ष्यामि भारत। (महाभा०, शान्ति० १०९.४)

इसीलिए जो चोर, डाकू आदि अन्याय से किसीका धन चाहते हैं, उन्हें धनिक का पता नहीं बताना चाहिए। जो दान-भिक्षा द्वारा धन चाहते हैं, उन्हें बताने में कोई दोष नहीं है। इतना ही नहीं, यदि मौन रहने (न बोलने) से काम चल जाय तो मौन ठीक है। यदि मौन से साधुपुरुषों की रक्षा नहीं अर्थात् न बोलने से शंका होती हो और अवश्य बोलना ही पड़े, तो झूठ बोलकर भी सत्पुरुषों का बचाव करना चाहिए :

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित्।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः॥
अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथञ्चन।
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन् वाप्यकूजनात्॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्॥

(महाभा०, शान्ति० १०९.१४-१५)

झूठी शपथ द्वारा भी दुष्टों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ सत्य की अपेक्षा झूठ ही श्रेष्ठ है, क्योंकि दुष्टों को दिया हुआ धन दाता को भी पीड़ा पहुँचाता है।

यः पापैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथादपि॥
न तेभ्योऽपि धनं देयं शक्ये सति कथञ्चन।
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत्॥

(महाभा० शान्ति० १०९.१६-१७)

इसी प्रसंग में कुछ अन्य व्यावहारिक धर्मों पर विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, जहाँ श्रम हमारा धन तुम्हारा, और लाभ में दोनों का बराबर भाग होगा, ऐसे नियम (शर्त) के साथ किसीने किसीसे धन लेकर कोई उद्योग-धन्धा आरम्भ किया। चोरादि द्वारा धन का नाश हो गया। ऐसी स्थिति में उत्तमर्ण

(कर्जा देनेवाला) अधमर्ण (कर्जदार) को दास बनाकर (अर्थात् अपने यहाँ उसे नौकर रखकर उसकी नौकरी से) अपना धन प्राप्त करना चाहता है। उस स्थिति में उत्तमर्ण (कर्ज देनेवाले) के नियमसम्बन्धी वाक्य की सत्यता की पुष्टि के लिए बुलाये गये साक्षी यदि वहाँ योग्य वचन (पूरी शर्त की बात) न कहकर 'इसने इससे इतना रुपया लिया है,' केवल इतना ही कहते हैं तो साक्षी अवश्य ही अनृतवादी होंगे। कारण शर्त में लाभ में ही हिस्से की बात थी। अर्थ नष्ट हो जाने पर लेनेवाला देनदार होगा—ऐसी शर्त नहीं थी। हाँ, जहाँ उत्तमर्ण (कर्जा देनेवाला) क्षीण (दरिद्र) हो गया है, वहाँ वैसा कहना भी अनृत नहीं है; क्योंकि कर्जा देनेवाले का धन अधमर्ण (कर्जदार) ने लिया है। जब उत्तमर्ण क्षीण हो गया और अधमर्ण धनवाला है तो शर्त में न होने पर भी यदि उससे उत्तमर्ण को धनलाभ होता है, तो ठीक है। ऐसे स्थान में दूसरे की धनरक्षा से धर्म होगा। इस दृष्टि से नीच धर्म-भिक्षु के रूप में पंच बनकर भी उसके पक्ष में न्याय देना चाहिए। किन्तु यदि उक्त विषय में ही हानि-लाभ दोनों में दोनों का बराबर हिस्सा होगा, इस नियम के साथ उद्योग आरम्भ किया गया है तो अधमर्ण (कर्जदार) को नष्ट धन का आधा भाग देना ही पड़ेगा। वैसी स्थिति में अधमर्ण के शरीरोपरोध (नौकरी या दासभाव) द्वारा भी उत्तमर्ण को धन प्राप्त करने का अधिकार है। यदि धन के नष्ट न होने पर भी अधमर्ण 'धन नष्ट हो गया' ऐसा कहता है तब तो वह दण्ड का भी भागी होगा। ये सारी बाते निम्नोद्धृत श्लोकों में कही गयी हैं :

स्वशरीरोपरोधेन धनमादातुमिच्छतः ।
सत्यसम्प्रतिपत्त्यर्थं यद् ब्रूयुः साक्षिणः क्वचित् ॥
अनुक्त्वा तत्र तद् वाच्यं सर्वे तेऽनृतवादिनः ।
प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ॥
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात् ।
परेषां सिद्धिमाकाङ्क्षन् नीचः स्याद्धर्मभिक्षुकः ॥
प्रतिश्रुत्य प्रदातव्यः स्वकार्यस्तु बलात्कृतः ।
यः कश्चित् धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मसाधनः ।
दण्डेनैव स हन्तव्यस्तं पन्थानं समाश्रितः ॥

(महाभा०, शान्ति० १०९,१८–२२)

किससे सत्त्वगुण का विकास होगा और किसके तमोगुण बढ़ेगा, यह भी सर्वसाधारण के बुद्धिगम्य नहीं। अतः यहाँ भी शास्त्रोक्त कर्म का ही आश्रयण करना पड़ेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि याज्ञवल्क्य महर्षि के अनुसार यज्ञ, सदाचार, दम,

अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि देश-कालसापेक्ष धर्म हैं। योग द्वारा आत्म-दर्शन ही परम धर्म है :

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।

किन्तु यही क्यों, आत्मदर्शन तो धर्म का परम फल होने से भगवान् व्यास के ब्रह्मसूत्रों एवं सभी पुराणादि सद्ग्रन्थों के अनुसार भी उत्कृष्ट धर्म है ही। एतावता यह धर्म का लक्षणान्तर नहीं हुआ। **वेदप्रणिहितो धर्मः** यह उस आत्मदर्शन में भी धटता ही है। तभी तो **आत्म वा अरे द्रष्टव्यः** (बृ० उ० २.४.५) इस श्रुति ने आत्म-दर्शन पर बल दिया है। गीता भी **सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते** के अनुसार तत्त्वज्ञान में ही सब कर्मों का पर्यवसान मानती है। पर क्या इतने से हो वह शास्त्रैकगम्य धर्म की अनुपादेयता सिद्ध कर देती है ?

याज्ञवल्क्य, मनु आदि सभी आचार्य आत्मजिज्ञासु के लिए सर्वकर्मों का संन्यास बतलाते हैं, अतः यह कोई नयी बात नहीं और न इससे धर्म के लक्षण या परिभाषा में ही कोई अन्तर पड़ता है। याज्ञवल्क्य के पूर्वापर वचनों का समन्वय ही हैं। आत्मदर्शन परम धर्म है, यह कहने से उनका पूर्वोक्त धर्मलक्षण खण्डित नहीं होता। वचन यों हैं :

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
इज्याचार-दमाहिंसा-दान-स्वाध्याय-कर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥ (याज्ञ० १.७.८)

इज्या, आचार, दम, आदि श्रुत्यादिमूलक धर्म हैं। किन्तु श्रुत्यादि के अनुसार ही योग द्वारा हो आत्म-दर्शन परम धर्म है। वैराग्य एवं भगवत्-कथा-श्रवणादि में पूर्ण श्रद्धा न उत्पन्न होने तक कर्म आवश्यक है :

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

इसी प्रकार इतिहासविदों का परम्परागत सदाचार हो धर्म का श्रेष्ठ लक्षण है। यह पक्ष भी श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि शास्त्रविरुद्ध इतिहास धर्म में प्रमाण होता ही नहीं। लोक में भी संविधान (कांस्टिट्यूशन) ही आचरण में प्रमाण होता है, इतिहास (हिस्ट्री) नहीं। स्पष्ट है कि इतिहास अनुकूल-प्रतिकूल, शास्त्रविरुद्ध एवं शास्त्राविरुद्ध दोनों प्रकार का होता है। राम का इतिहास है तो रावण का भी, युधिष्ठिर का इतिहास है तो दुर्योधन का भी। फिर कौन इतिहास आच-

रण में लाया जाय ? इसीलिए धर्मशास्त्र का समन्वय कर शिष्यों को निर्देश है : **रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्।** अर्थात् रामादि के समान बर्ताव करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं। इसीलिए **वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।** के अनुसार मनु ने कहा है कि श्रुति के अविरुद्ध स्मृति, तथा श्रुति-स्मृति दोनों के अविरुद्ध सदाचार एवं इन तीनों से अविरुद्ध आत्मतुष्टि धर्म में प्रमाण है। श्रुत्यादिविरुद्ध सदाचार कभी भी प्रमाण नहीं होता। **आचारः प्रथमो धर्मः** या **आचारप्रभवो धर्मः** का इतना ही अर्थ है कि श्रुत्युक्त आचरण से ही पुण्यरूप धर्म उत्पन्न होता है। पिता, पितामह का भी शास्त्राविरुद्ध आचरण ही अनुकरणीय होता है। इसीलिए श्रुति कहती है :

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥
(तै० उ० १.११.२)

अर्थात् जो हम लोगों के निर्दोष, सुचरित हैं उनको ही काम में लेना उचित है, सदोष-चरित्रों को नहीं।

श्रीमद्भागवत में भी कहा है :

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्यात् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥

अनीश्वरों को ईश्वर का आचरण नहीं करना चाहिए। अन्यथा वह नष्ट हो जायगा। शिवजी ने विषपान किया, पर उनका अनुकरण करनेवाला अन्य कोई नष्ट ही हो जायगा। मनु ने भी कहा है :

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ (मनु० ४.१७६)

यहाँ मनुस्मृति के मान्य टीकाकार कुल्लूकभट्ट लिखते हैं।

यावर्थकामौ धर्मविरोधिनौ भवेताम्, तौ परिहरेत्। यथा चौर्यादिना अर्थोपपादनम्। दीक्षादिने यजमानस्य पत्न्युपगमः। उदर्कमुत्तरकालः, तत्रासुखं यत्र धर्मे तं धर्ममपि परित्यजेत्। यथा पुत्रादिवर्गपोष्ययुक्तस्य सर्वस्वदानम्। लोकविक्रुष्टं यत्र लोकानां विक्रोशः। यथा कलौ मध्यमाष्टकादिषु गोवधादिः।

अर्थात् जिस अर्थ-काम की प्राप्ति में धर्म का विरोध होता हो, उस अर्थ-काम का परित्याग करना चाहिए। साथ ही जिसमें उत्तरकाल में असुख होना

सम्भव हो और जो लोकनिन्दित हो, उस धर्म का भी परित्याग करना चाहिए। पहले का उदाहरण सर्वस्वदान और दूसरे का उदाहरण मधुपर्क में पशुवध है।

वस्तुतः जिन कर्मों के अकरण (न करने) से प्रत्यवाय होता है, उन नित्य-कर्मों की अनिवार्यता है। सकाम कर्म तो अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार ही होते हैं। अतः सर्वस्वदान भी अनिवार्य नहीं। फिर भी जिन्हें असुखोदर्क नहीं प्रतीत होता, वे सर्वस्वदान करते ही हैं।

मेधातिथि के अनुसार करुणा से किसी अनाथ तरुणी का पोषण यद्यपि धर्म है; तथापि **स्त्रीत्वेनैवास्मा एषा रोचते** (यह स्त्री है, इसीलिए इसे अच्छी लगती है), ऐसा लोक-विक्रोश होने के कारण वह त्याज्य है। यहाँ शास्त्रार्थ में विवाद का प्रश्न ही नहीं है। शास्त्रार्थ में विवाद न होने पर भी अशक्ति और लोक-विद्वेष होने से कर्ता को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। जैसे बौद्धबहुल जन-समूह में निर्विवाद अग्निष्टोम करने में भी बाधा पड़ सकती है। विवाद तो आचार में भी होता है। दाक्षिणात्यों का मातुलकन्योद्वाह (मामा की लड़की से विवाह) आचार-प्राप्त होने पर भी अन्य लोगों के लिए वह अग्राह्य ही है। शास्त्रप्रामाण्य-वादी दाक्षिणात्य भी उसे त्याज्य ही मानते हैं। भगवान् कृष्णने अधर्म जानते हुए भी रुक्मिणी का प्रिय करने की इच्छा से प्रद्युम्न का वैसा विवाह स्वीकार कर लिया :

जानन्नधर्मं तद् यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः। (भाग० १०.६१.२५)

सारांश, सर्वथापि श्रुत्यादिविरुद्ध सदाचार धर्मकोटि में ग्राह्य नहीं होता।

वस्तुतः आधुनिक इतिहास का प्रामाण्य सन्दिग्ध ही है। उसका धर्म में प्रामाण्य हो ही नहीं सकता। रामायण-महाभारतादि इतिहास वेदोपबृंहणार्थं ही व्यक्त हुए हैं। अतः उनका तात्पर्य श्रुत्यादिविरुद्ध सदाचार-प्रतिपादन में हो ही नहीं सकता। गीता भी इसी आर्य-इतिहास महाभारत का सार है, जिसने स्पष्टरूप से कार्य-अकार्य की व्यवस्था में एकमात्र शास्त्र को ही प्रमाण बतलाया है। वहाँ कहीं भी धर्म में विवाद नहीं है।

कहा जाता है कि देवर्षि नारद के मत से 'महापुरुष की आज्ञा के अनुसार कर्म करना ही धर्म है।' उनका यह लक्षण श्रौतस्मार्तपद्धति से कुछ विलक्षण है। आचार-सहित विद्या का उपदेश करनेवाला आचार्य और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार अभ्युदय-निःश्रेयस् का उपाय बतलानेवाला गुरु होता है। गण्डक नदी की शिला शालग्राम और पूजा में रखी गयी गण्डकी शिला इष्टदेव हैं। महापुरुष वेद-शास्त्र का सार-असार सब जानते हैं, अपने अनुभव से उनके अर्थ का साक्षात्कार करते हैं। अपने शिष्य को लक्ष्य-प्राप्ति के लिए विशिष्ट

साधन का उपदेश करते हैं। इसीके अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बनते हैं। नारद ने जो धर्म का लक्षण किया, उसके अनुसार बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, जरथुस्त, नानक आदि द्वारा उपदिष्ट मार्ग भी धर्मलक्षण के साथ समन्वित हो जाते हैं; क्योंकि वे महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट हैं।

वर्णाश्रमधर्म श्रौतस्मार्त-पद्धति के अनुसार है। उसमें वेद एवं तदनुकूल शास्त्र ही प्रमाण होते हैं। इस लक्षण के साथ महापुरुषों की प्रामाणिकता भी स्थापित हो जाती है। किन्तु यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक एवं परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि नारद का महापुरुष श्रुति-स्मृति-पुराणानुसारी ही होता है। उसीको महाभारत (३.३.१७) में 'महाजन' कहा गया है : **महाजनो येन गतः स पन्थाः**। तत्तत् शास्त्रीय वेदादिशास्त्रानुयायी पूर्वज ही यहाँ 'महाजन' रूप में ग्राह्य हैं, क्योंकि शाखाभेद से श्रुतियों, स्मृतियों एवं ऋषियों में भी भिन्नता है। फिर धर्म का निर्णय कैसे किया जाय ?

शाखाभेद से उदित, अनुदित और समयाध्युषित काल में होम का विधान और उसकी निन्दा भी है। ऐसी स्थिति में शाखा-भेद या सम्प्रदाय-भेद से ही व्यवस्था होती है। जिसकी परम्परा में जो पक्ष गृहीत होता आया है, उसे उसी पक्ष का अवलम्बन करना चाहिए।

> **तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।**
> **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था:॥**
>
> (महाभा० ३३.३.११७)

अर्थात् श्रुतियाँ शाखाभेद से विभिन्न हैं, स्मृतियाँ तो पृथक्-पृथक् हैं ही, कोई ऐसा ऋषि नहीं जिसका मत ही सर्वोपरि प्रमाण हो। धर्म का तत्त्व गुहा में आहित होने जैसा अत्यन्त गूढ़ है। अतः महाजन जिस रास्ते से गये हैं, वही धर्म है।

यहाँ यह विचारणीय है कि श्रुति, स्मृति, ऋषि आदि कोई भी मान्य नहीं तो फिर 'महाजन' और कौन बच रहते हैं ? फिर, महाजनों में भी तो मतभेद हो सकता है; उस स्थिति में क्या होगा ? कुछ लोग यहाँ 'महाजन' का अर्थ 'जन-समूह' करते हैं। **महाजनस्याधिपत्यं करोति** आदि स्थलों में वैसा अर्थ प्रामाणिक भी सिद्ध है। किन्तु मतभेद तो उसमें भी होता है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ श्रुतियों, स्मृतियों या ऋषियों का अप्रामाण्य अभिप्रेत नहीं है। किन्तु विरोध-परिहार कर उनका समन्वय किया गया है।

कई लोग श्रुतियों एवं स्मृतियों का भी विरोध समझते हैं, पर उन्हें मालूम होना चाहिए कि सभी स्मृतियाँ श्रुति का ही अनुसरण करती हैं : **श्रुतेरिवार्थं**

स्मृतिरन्वगच्छत् (रघु० २.२)। स्वतन्त्र स्मृति का प्रामाण्य नहीं होता। अतएव जहाँ कहीं श्रुति का विरोध होता है, वह स्मृतिवचन अप्रमाण माना जाता है। जहाँ श्रुतिविरोध नहीं होता, वहाँ भी 'यह स्मृति श्रुतिमूलक है, स्मृति होने से, मन्वादि-स्मृति के समान' इत्यादि अनुमान द्वारा मूल-श्रुति का अनुमान करके ही स्मृति का प्रामाण्य मान्य होता है। विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् इस जैमिनि-सूत्र में यही बात कही गयी है। अतः कोई भी स्मृति स्वतन्त्ररूप से प्रमाण नहीं। पौरुषेय वाक्यमात्र का प्रामाण्य प्रत्यक्षानुमानमूलक होने से मान्य होता है, अथवा अपौरुषेय वेदमूलक होने से, स्वतन्त्ररूप से नहीं। स्मृतियों में भी भेद श्रुतिमूलक ही है। श्रुतियों में शाखाभेद, शक्ति-अशक्ति-भेद, आपत्-सम्पद्भेद से बहुत-से धर्मभेद होते हैं।

जैसा कि प्रायः आजकल लोग समझते हैं : 'स्वातन्त्र्येण कोई स्मृति निर्माण कर धर्म-अधर्म की व्यवस्था कर सकता है', नितान्त गलत है। कारण, दृष्टमूलक कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्धारण में बुद्धिमानों की बुद्धि काम कर सकती है, किन्तु अदृष्ट, शास्त्रैकगम्य विषयों में स्वतन्त्रबुद्धि का प्रवेश असम्भव है। अतएव श्रुति, स्मृति, मुनि सभी यथायोग्य प्रमाण हैं, किन्तु उन विभिन्न मतों की उपस्थिति या विकल्प उपस्थित होने पर अपनी शाखा और अपने सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विशिष्ट महापुरुषों ने जिस पक्ष का आदर किया हो, उसीका आचरण करना उचित है। यही महाजनो येन गतः स पन्थाः का अभिप्राय है।

यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। (तै० उ० १,११.४)

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यति॥ (महाभा० ४.१.८)

आदि श्रुति-स्मृतिवचनों द्वारा भी इसी सिद्धान्त का समर्थन हुआ है।

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के ११-१२ अध्यायों में नारदजी ने स्वयं ही त्रिंशल्लक्षण मानवधर्म के साथ वर्णाश्रमधर्म का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है और सबका मूल सर्ववेदमय नारायण को ही माना है :

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति॥ (भाग०७.११.७)

यहाँ श्रीधरस्वामी ने स्पष्ट कर दिया है कि धर्म का मूल प्रमाण वेद एवं स्मृति है। वहीं उन्होंने इन वचनों का उद्धरण दिया है :

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। (याज्ञ० स्मृ० १,७)

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ (मनु० २.६)

वेदादि शास्त्रों का सार-सार उपदेश करनेवाले महापुरुषों द्वारा वेद का विरोध कैसे हो सकेगा ? साथ ही, सार में अधिकार का प्रश्न खड़ा होगा । यद्यपि ब्रह्मज्ञान सार है, तथापि कर्माधिकारी के लिए उसका उपदेश असङ्गत ही है । मोटर में यद्यपि मशीन ही सार है; तथापि क्या 'बॉडी' या 'टायर' के बिना काम चल जायगा ? इसलिए नारद का महापुरुष अवश्य ही श्रुति-स्मृति-पुराणानुसारी है । फलतः नारद का धर्मलक्षण भी श्रुति-स्मृत्यादि के अनुसार ही समझना चाहिए, उनके प्रतिकूल कदापि नहीं ।

वस्तुतः सभी श्रौत-स्मार्त और आर्षवचनों के समन्वय से ही शास्त्रार्थ-निश्चय किया जाता है । तभी तो मिताक्षरा-दायभाग, व्यवहार-मयूख वीरमित्रोदय, हेमाद्रि, पराशर-माधव आदि ने विभिन्न श्रुति-स्मृति-पुराणों के विरुद्ध-से प्रतीयमान वचनों का मीमांसा के अनुसार समन्वय कर तात्पर्य सिद्धान्तित किया है । मनमनी आचार एवं विद्याका उपदेश करनेवाला 'आचार्य' नहीं होता, किन्तु—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते ॥

इस लक्षण के अनुसार वेदादि-शास्त्रों के अर्थों का संकलन कर उन्हें प्रजा के व्यवहार में लानेवाला और स्वयं भी वैसा आचरण करनेवाला ही आचार्य होता है । वह भी श्रोत्रिय (वैदिक) होना चाहिए । तभी तो श्रुति ने कहा है : तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् (मुण्डक० १.२.१२) । शालग्रामशिला इष्टदेव है, यह भी श्रुति-स्मृतिसिद्ध ही है ।

योग्यतानुसार विभिन्न कर्मों एवं उपासनाओं में परिवर्तन हो सकता है, पर नारद के लक्षणानुसार बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, जरथुस्त, नानक आदि के धर्मों में भी उक्त लक्षणसंगत है, यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि नारद के अनुसार वेद-स्मृति आदि से विसंगत धर्म एवं धर्माचार्य नहीं हो सकते । आश्चर्य है कि जो नारद वेद-स्मृत्यादिमूलक ही धर्म मानते हैं, उनका लक्षण वेद-स्मृत्यादि-विरोधी धर्म में कैसे सङ्गत होगा ? वेद-स्मृति के अनुसार बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होगी, यह समझ के परे की ही बात है ।

इसी तरह यद्यपि भगवत्प्रसन्नता के लिए किया गया कर्म उत्कृष्ट धर्म है, किन्तु स्वार्थ के लिए शास्त्रविहित धर्म का अनुष्ठान धर्म ही नहीं, यह कथन स्वार्थ-निःस्वार्थ तो हो सकता है, पर वैसी वस्तुस्थिति नहीं है । 'कायेन वाचा…'

इत्यादि श्लोक द्वारा भगवदर्पित कर्म 'धर्म' कहा गया है, पर यह भी नयी बात नहीं। गीता में भी तो यत्करोषि यदश्नासि से वही बात कही गयी है।

भगवान् द्वारा आदिष्ट भगवत्प्रापक उपाय नामोच्चारण, नामस्मरण, सर्वकर्मार्पण आदि धर्म भी वेदादि-विहित धर्म से भिन्न नहीं। भागवत का कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। 'निगम-कल्पतरु' के फलरूप श्रीमद्भागवत का अर्थ निगम-विरुद्ध हो भी कैसे हो सकता है ?

कहा जाता है कि अजामिल के प्रसङ्ग में यमदूतोंने वेदविहित और वेद-निषिद्ध कर्मों को ही धर्म-अधर्म बतलाया था, किन्तु भगवान् के पार्षदों ने उनकी बात नहीं मानी और नामाभास को ही सम्पूर्ण पापों का निवर्तक मानकर अजामिल जैसे पापी को छीन लिया। इसका रहस्य पूछने पर यमराज ने भागवत-धर्म का स्वरूप बताया। उनका कहना है कि 'धर्म के प्रणेता स्वयं भगवान् ही हैं। बड़े-बड़े ऋषि एवं देवताओं को भी धर्म का रहस्य ज्ञात नहीं है। ब्रह्मदेव, नारद, शङ्कर, सनत्कुमार, कपिलमुनि, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेव और हम (यम) ये १२ भागवत-धर्म जाननेवाले हैं। नामोच्चारण आदि द्वारा भगवान् के प्रति भक्तियोग ही परमधर्म है। जैसे मृतसंजीवनी औषध को न जाननेवाले वैद्य ही रोग मिटाने के लिए त्रिकटु, निम्ब आदि औषधों का प्रयोग करते हैं वैसे ही नाम-स्मरण का माहात्म्य न जाननेवाले महाजन ही बड़े-बड़े उपाय बताते हैं। यहाँ १२ भागवतों से भिन्न मुनिगण ही महाजन हैं, यह श्रीधरस्वामी का मत है। 'शास्त्रज्ञ जन' यह वीरराघव का मत है। 'जैमिनि आदि' यह विश्वनाथ चक्रवर्ती का मत है। माया देवी ने इन महाजनों की बुद्धि को हर लिया है। वे पुष्पिता माया के मीठे-मीठे वचनों में फँस गये हैं, जड़ीकृत हो गये हैं। उन्हें बड़े-बड़े कर्म ही पसन्द हैं। इसका अर्थ है कि भगवत्प्रोक्त नामोच्चारणादि अत्यन्त सुगम उपाय सार्वजनिक धर्म हैं। इनके जैसा ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला दूसरा कोई धर्म नहीं।

भागवत के प्रथम स्कन्ध में कहा गया है कि जिससे भगवान् में अहैतुक एवं अप्रतिहत भक्ति हो, उसे 'परम धर्म' कहते हैं। जिससे भगवत्कृपा में रति हो, वही धर्मानुष्ठान है, शेष श्रम ही है। धर्म का मुख्यफल अपवर्ग है, धन नहीं। भली-भाँति अनुष्ठित धर्म का फल हरितोषण है। धर्म का परम तात्पर्य भगवान् में ही है। इसीसे समझा जा सकता है कि भागवत में धर्म का क्या स्वरूप स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, भूतदया, सर्वत्र भगवद्दर्शन आदि को भी स्थान-स्थान पर 'धर्म' कहा गया है। शांत और स्थिर मन से इन लक्षणों पर विचार करना चाहिए। किसी एकांगी लक्षण से बुद्धि को आबद्ध नहीं करना चाहिए। ये लक्षण इतने उदार, उदात्त एवं व्यापक हैं कि इनमें सम्पूर्ण विश्व के

सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं अखिल साम्प्रदायिक मत-मजहबों का सन्निवेश हो हो जाता है।

इस पर कहा जाता है कि 'यह तो संकीर्णता है कि आपके मान्य लक्षण में जिसका सन्निवेश हो, वही धर्मात्मा है, अन्य अधार्मिक है। इसी संकीर्णता से राग, द्वेष, संघर्ष, कटुता, वैमनस्य आदि की भावनाएँ आकर दुःखी बनायेंगी। संकीर्णताके त्याग से ये सारी भावनाएँ शांत हो जायँगी और आप परमार्थ-पथ पर अग्रसर होंगे।' किन्तु ये बातें अविचारित-रमणीय ही हैं।

वस्तुतः धर्म के शास्त्रोक्त लक्षण का भागवतोक्त धर्म के साथ कोई विरोध नहीं, अपितु समन्वय ही है। भगन्नामोच्चारण आदि भी **वेदप्रणिहितो धर्मः** इस लक्षण के अनुसार ही धर्म हैं। इसीलिए भगवान् के दूतों या यमराज ने यह कहीं भी नहीं कहा कि **वेदप्रणिहितो धर्मः** यह धर्मलक्षण अमान्य है। कहते भी कैसे ? क्योंकि भगवान् भी तो **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ** इस वचन से वही कह रहे हैं। श्री नारद ने भी सप्तम स्कन्ध में वेदमय भगवान् एवं स्मृति आदि को ही धर्म का मूल माना है।

अजमिल ने **अधर्मस्तद्विपर्ययः** के अनुसार वेदादि-शास्त्रविरुद्ध आचरण किया, इसलिए वह पापी या दण्डनीय था, इसमें किसीको विवाद नहीं था। विष्णुदूतों ने भी उसे पापी माना। इसीलिए **एतेनैव ह्यघोनोऽस्य** इस वचन से उन्होंने स्पष्ट ही उसे 'पापी' कहा। भेद यह था कि विष्णुदूतों की दृष्टि में अजामिल ने 'नारायण' नाम उच्चारण करके उन सब पापों का प्रायश्चित्त कर लिया :

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्। (भाग० ६.२.८)

उसने नारायण-नाम का उच्चारण करके ही सबका प्रायश्चित्त कर लिया, अब उसे दण्ड देना अन्याय है। किन्तु यमदूतों की समझ में यह नहीं आया। उनकी दृष्टि में ऐसा पापी जबतक स्मृतिप्रोक्त चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त नहीं करते तब-तक वह शुद्ध नहीं होता। नामोच्चारण से भी शुद्धि हो सकती है, पर नारायण-बुद्धि से नामोच्चारण होना चाहिए। इसने तो भयभीत होकर 'नारायण' नामक अपने पुत्र का आह्वान किया था। इसमें शास्त्र एवं उसके लक्षण का दोष नहीं है, किन्तु उनका अभिप्राय न समझनेवालों का ही दोष है। स्थाणु (ठूंठ) को कुछ अन्धे न देखें, यह स्थाणु का अपराध नहीं। ऐसे ही यह शास्त्र का दोष नहीं जो कुछ शास्त्रज्ञ या ऋषि उसे न समझें। शास्त्र वही है और वही शास्त्र का लक्षण है, पर उसे सब नहीं समझ पाते। भागवत के एकादश स्कन्ध तथा गीता में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि "वेद किसका विधान, किसका अभिधान करते हैं' आदि विषय मुझे छोड़ दूसरा कोई भी नहीं जानता। मात्र मैं ही वेदवित हूँ" :

किं विधत्तेऽभिधत्ते च किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्य हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥ (भागवत)

वेदविदेव चाहम् (गीता १५.१५) । तब क्या इससे समझा जाय कि द्वादश भागवत भी उसे नहीं जानते ?

वस्तुतः समन्वय के साथ ही शास्त्रार्थनिश्चय किया जाता है। आपातरमणीय शब्दार्थ शास्त्र का तात्पर्य नहीं होता। यत्परः शब्दः स शब्दार्थः अर्थात् जिसमें शास्त्र का तात्पर्य होता है, वही शब्दार्थ होता है। यहाँ श्रीधरस्वामी तथा अन्य टीकाकारों ने शास्त्रवचनों को ही उद्धृत कर अजामिल के तादृश नामोच्चारण से भी उसके पापों के नाश का समर्थन किया है। श्रीधरस्वामी ने कहा है कि हरिनाम कर्म का अङ्ग होने पर भी वैसे ही सर्वप्रायश्चित्तार्थ भी है जैसे खादिरो यूपो भवति के अनुसार खादिर यूप क्रत्वर्थ होता हुआ भी खादिरं वीर्यकामस्य कुर्यात् इस वचन के अनुसार पुरुषार्थ भी होता है।

इसी तरह :

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

के अनुसार हरिनामस्मरण हरएक श्रौत-स्मार्त कर्म का अङ्ग होता हुआ भी स्वतन्त्ररूप से वह सब पापों के प्रायश्चित्तार्थ भी है। सभी याज्ञिक द्वादशवार विष्णवे नमः इस मन्त्र का उच्चारण करते हैं।

'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ।' एकस्योभयार्थत्वे तु संयोगस्य विनियोजकप्रमाणस्य पृथक्त्वम् उभयत्वं नियामकमिति शेषः ।

अर्थात् विनियोजक प्रमाणभेद से एक पदार्थ में उभयार्थता बन जाती है। खादिरसम्बन्धी यूप में क्रतु का अङ्ग होने से क्रत्वर्थता होगी और वीर्तसम्पादनार्थता भी हो सकेगी। इसी तरह वचनबलात् भगवन्नामोच्चारण से क्रतु की सांगतासिद्धि होती है और सब प्रकार के पापों का विनाश भी होता है।

इतना ही नहीं, हरिनामोच्चारण से मुक्ति और फलान्तर भी सम्पन्न होंगे।

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

अर्थात् विवशता से भी भगवन्नाम का कीर्तन करने पर प्राणी सभी पातकों से मुक्त हो जाता है। जैसे सिंह से त्रस्त होकर मृग भाग जाते हैं, वैसे ही नामो-

च्चारण से सभी पातक भाग जाते हैं। ऐसे सहस्रों वचन हैं जिनमें स्वतन्त्ररूप से नामोच्चारण की पाप-नाशकता वर्णित है।

यह वचन अर्थवाद है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह किसी विधि का शेष नहीं है। यदि अर्थवाद होता तो अवश्य ही किसी विधि का शेष होता। विधि-श्रवण न होने पर भी अन्यशेषता की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि रागप्राप्त भोजनादि में यद्यपि विधि की कल्पना नहीं होती; तथापि अप्राप्त में विधि न होने पर भी विधि की कल्पना हो जाती है। जैसे **आग्नेयो अष्टाकपालो भवति** इस वचन में विधिप्रत्यय न होने पर भी अग्निदेवता और अष्टाकपालसंस्कृत पुरोडाश द्रव्य श्रुत है और वह मानान्तर से अप्राप्त है, अतः विधि की कल्पना हो जाती है। इसी वचन के आधार पर आग्नेययाग की विधि मानी जाती है। इसी तरह नामोच्चारण से सर्वपापनाश प्रमाणान्तर से अप्राप्त है, अतः इसी वचन के बल पर **सर्वपापनिवृत्तिकामनया यथाकथञ्चिन्नामोच्चारणं कुर्यात्** इस प्रकार की विधि निश्चित की जा सकती है।

इस प्रकार भगवन्नामोच्चारण से सर्वपापों की निवृत्ति शास्त्रप्रमाणसिद्ध ही है। महाभारत, रामायण, इतिहास और सभी पुराण वेदों के उपबृंहणार्थ ही आविर्भूत होते हैं। इतिहास-पुराणों द्वारा वेदार्थ का ही स्पष्टीकरण होता है। उनके वचनों के आधार पर पुत्र के आह्वान के प्रसंग से भी नारायण-नामोच्चारण सर्वपाप का नाशक है ही।

इतना ही नहीं; साक्षात् ऋग्वेद का मन्त्र भी नामोच्चारण का महत्त्व प्रतिपादित करता है :

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे। विप्रासो जातवेदसः (ऋग्वेद ८.११.५)

प्रस्तुत मन्त्र से तप, दान आदि सर्वकर्मों से अधिक भगवान् के नाम का महत्त्व कहा गया है। मन्त्रार्थ है :

मर्ताः = मरणधर्माणो मनुष्याः। विप्रासः = विप्राः, वयम्। अमर्त्यस्य = मरणरहितस्य। देवस्य = भगवतः। सर्वकर्मफलदातुः, ते। नाम भूरि = तपोदानादि सर्वधर्मेभ्योऽधिकम्। मनामहे = मन्यामहे। जातवेदसः—जातानाम् = जीवानाम्, वेदितुः = सर्वज्ञस्य।

अर्थात् हे मनुष्यो, हम मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग मरणरहित अमर्त्य भगवान् के मंगलमय नाम को तप, दान, स्वाध्याय आदि धर्मों से भी अधिक मानते हैं।

इसी प्रकार निम्नलिखित मन्त्र भी नाम का महत्त्व बतलाता है :

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥
(ऋग्वेद १.१५६.३)

अर्थात् उस अनादिसिद्ध पुरातन यज्ञादिरूप से विश्व में प्रकट, व्यापक परमात्मा सर्वशक्तिमान् विष्णु का जितना माहात्म्य जानते हो, उतनी स्तुति करो। इसके द्वारा अपना जन्म सफल बनाओ। ऐसे अन्य भी बहुत से मन्त्र हैं।

देवताधिकरण के अनुसार अर्थवाद भी गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद तीन प्रकार के मान्य हैं। प्रमाणान्तरविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक 'गुणवाद'; प्रमाणान्तर-सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक 'अनुवाद' एवं प्रमाणान्तर से अविरुद्ध तथा असिद्ध अर्थ का प्रतिपादक 'भूतार्थवाद' होता है। प्रथम दोनों का विधि एवं निषेध की स्तुति और निन्दा में ही तात्पर्य होता है, स्वार्थ में उनका प्रामाण्य नहीं होता। किन्तु तीसरे भूतार्थवाद का स्वार्थ में भी प्रामाण्य मान्य है; क्योंकि अबाधित एवं अज्ञात अर्थ के ज्ञापक प्रमाणों का ही प्रामाण्य माना जाता है। इस दृष्टि से अर्थ-वाद होने पर भी भगवन्नाममाहात्म्य भूतार्थवाद होने से स्वार्थ में भी प्रमाण है। इसी दृष्टि से मन्त्रार्थवादों द्वारा इन्द्रादि देवताओं के दिव्यविग्रह सिद्ध होते हैं। **इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्** (इन्द्र ने वृत्रासुर को मारने के लिए वज्र उठाया) इस श्रुति में कहा हुआ इन्द्र एवं उसका वज्र न प्रमाणान्तर से विरुद्ध है और न प्रमाणान्तर से सिद्ध ही। अतः वैसा प्रतिपादन करनेवाला मन्त्र स्वार्थ में प्रमाण है।

सारांश, जैसे उपर्युक्त भूतार्थवाद-वचन से इन्द्र एवं उसका वज्रहस्तत्व सिद्ध होता है वैसे ही भगवन्नाममाहात्म्य भूतार्थवाद होने से उसका स्वार्थ में प्रामाण्य रहेगा ही। अतः उससे भी पूर्णतया सिद्ध है कि भगवन्नाम से मुक्ति होती है। उससे अन्य भी अभीष्ट फल मिलते हैं और सब पाप नष्ट होते हैं। अवश भी अर्थात् पुत्राह्वानार्थं नारायण नामाभास-मात्र से सर्वपापों का प्रायश्चित्त हो जाता है। मन्त्र और अर्थवादों का प्रामाण्य 'ब्रह्मसूत्र' के देवताधिकरण में प्रतिपादित किया गया है।

भागवत भी पुराण होने से परमप्रमाण है। उसमें भी यह ठीक ही कहा गया है कि स्तेन (चोर), सुरापायी, मित्रद्रोही, ब्रह्महा, गुरुतल्पगामी, स्त्री, राजा-पिता तथा गाय का हनन करनेवाला तथा अन्य पातकीजनों के लिए भगवान् का नामस्मरण ही सुन्दर प्रायश्चित्त है। इतर प्रायश्चित्त से तो पाप ही नष्ट होते हैं, पर भगवन्नाम से भगवद्विषयक तत्त्वज्ञान भी होता है। मन्वादि ब्रह्मवादियों द्वारा उपदिष्ट बड़े-बड़े व्रतों से भी पातकी उतने नहीं शुद्ध होते, जितने हरिनामोच्चा-

रण से होते हैं; क्योंकि नामोच्चारण से भगवान् और उनके गुणों का भी बोध होता है। कोई व्रतादि प्रायश्चित्त ऐकान्तिक शुद्धि के प्रयोजक नहीं होते। अतएव प्रायश्चित्त कर लेने पर भी मन पुनः असत्पथ की ओर दौड़ता है। अतः कर्मनिर्हार के लिए हरि का गुणानुवाद ही श्रेष्ठ है, उससे सत्त्वगुण का उत्कर्ष बढ़ता है। अजामिल ने म्रियमाण-दशा में भगवन्नामस्मरण किया, अतः उसने अपने सभी पापों का प्रायश्चित्त कर लिया। साकेत्य परिहास-स्तोत्र अलापने के प्रसंग से अवहेलना आदि किसी तरह भी भगवन्नामग्रहण सब पापों का नाशक अवश्य होता है। पतित, स्खलित, भग्न, सर्पादिसन्दष्ट, तप्त या आहत होकर अनिच्छापूर्वक अवश होकर भी नामोच्चारण करनेवाला मनुष्य यमयातना का अधिकारी नहीं होता। यद्यपि धर्मशास्त्रों के अनुसार बड़े पापों के बड़े और छोटे पापों के छोटे प्रायश्चित्त होते हैं; उन-उन तप, दान, जप, आदि से सभी (पाप) नष्ट होते हैं, किन्तु अधर्मजन्य वासना नष्ट नहीं होती। लेकिन ईश के चरण की सेवा से वह वासना भी नष्ट हो जाती है :

तैंस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥ (भाग० ६.२.१७)

एकबार भी भगवन्नामोच्चारण से सब पाप नष्ट हो जाते हैं, जैसे एकबार प्रवर्तित प्रदीप से ही गाढान्धकार की निवृत्ति हो जाती है। जैसे दीपक के धारण से दूसरा तम नहीं आता, वैसे ही भगवन्नामोच्चारण की आवृत्ति से पापान्तर की उत्पत्ति नहीं होती। पुनश्च वासना-क्षय होने से हृदयशुद्धि होती है। इसीलिए कहा गया है :

पापक्षयकृच्च भवति स्मरतां तमहर्निशम्।

जैसे वस्त्र का शोधन अपेक्षित होता है, वैसे ही इस परम सनातनधर्म से शुद्धि होती है। किन्तु क्रिया द्वारा आत्मा की अत्यन्त शुद्धि नहीं होती। अतः पापकर्म से बचकर हरिनामकीर्तनादि द्वारा भगवान् का भजन करना चाहिए। भले ही अजामिल ने भगवद्बुद्धि से नारायण नाम का उच्चारण नहीं किया, फिर भी जैसे बालक द्वारा अज्ञान से भी प्रक्षिप्त अग्नि तृणराशि को भस्मसात् कर देता है, वैसे ही अज्ञान से भी गृहीत भगवन्नाम सभी पापों को नष्ट कर देता है। जैसे वीर्यवत्तम कोई विशिष्ट महौषध यदृच्छासेवित होने पर भी श्रद्धा और पार्षद द्वारा उसका गुण जाने बिना भी आरोग्य प्राप्त कराता है, वैसे ही भगवन्नामरूप महामन्त्र माहात्म्यज्ञान, श्रद्धा आदि के बिना भी अपना पापनिवारणादि कार्य करता ही है। क्योंकि वस्तु-शक्ति अपना कार्य करने में ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती : नहि वस्तुशक्तिर्ज्ञानमपेक्षते।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

इसी तरह श्रीमद्भागवत के ६.३.२१-२२ आदि श्लोकों में भी वेद-प्रणिहित धर्मलक्षण का खण्डन नहीं है, किन्तु वेद-विहित गुह्य भागवतधर्म का निरूपण किया गया है। श्रीमद्भागवत निगमकल्पतरु का फल है, निगममूलक है। इसीलिए उसकी उक्ति में विश्वास किया जाता है। ईसाई, मुसलमान आदि भी कहते हैं कि साक्षात् परमेश्वरपुत्र एवं मुख्यदूत ने जो कहा, वही मुख्यधर्म है, अन्य सब त्याज्य हैं। आनन्द-मार्गवाले उन सभी धर्मों को हेय कहकर अपने ही धर्म को ग्राह्य कहते हैं। उसे ही क्यों न माना जाय ?

वेदोक्त कर्म, उपासना, ज्ञान सभी धर्म हैं। फिर भी कर्म से उपासना में उत्कर्ष मान्य ही है। इसी दृष्टि से भागवतधर्म का उत्कर्ष कहा गया है। यमने कहा कि स्वयम्भू, नारद, शम्भु, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुक यम, ये १२ गुह्य, दुर्बोध भागवतधर्म को जानते हैं। उसे जानकर अमृतत्व-प्राप्ति होती है। भगवन्नामोच्चारण आदि द्वारा भगवान् में भक्ति-योग सम्पादित करना ही संसार में पुरुषों का उत्कृष्ट धर्म है। यहाँ भी अग्निहोत्र, संध्यादि के धर्म होने का खण्डन नहीं है; किन्तु भक्तियोग को उससे उत्कृष्ट धर्म कहा गया है। यह वैदिक भी मानते हैं।

यम ने कहा : 'पुत्रो ! भगवन्नाम की महिमा प्रत्यक्ष देख लो जिससे अजामिल भी मृत्यु-पाश से छूट गया। भगवान् के गुण-कर्म तथा नामों का कीर्तन सभी पापों को नष्ट करने में समर्थ है।' (म्रियमाण अजामिल ने नारायण नाम से अपने पुत्र का विक्रोशन करके भी मुक्ति पा ली।)

तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम्।
महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतिम्॥ (भा० ६.३.३१)

यहाँ शंका होनी स्वाभाविक है कि फिर धर्मशास्त्रज्ञ लोग सब पापों का प्रायश्चित्त भगवन्नामोच्चारण को ही क्यों नहीं बताते ? अतिकष्टसाध्य द्वादशाब्दादि व्रत क्यों बतलाते हैं ? इसका समाधान भी वहीं किया गया है :

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं देव्या विमोहितमतिर्बत माययाऽलम्।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥
(भागवत ६.३.२५)

अर्थात् प्रायः द्वादश भागवतजनों को छोड़कर बड़े-बड़े महाजन, शास्त्रज्ञ भी भागवतधर्म का महत्त्व नहीं जानते; क्योंकि देवी माया से उनकी मति मोहित

होती है। मधुपुष्पिता त्रयी में पुष्पस्थानीय अर्थवाद से मनोरम कर्मपरक त्रयी में ही उनकी मति जड़ीकृत रहती है। अतएव वे बड़े कर्मों में ही श्रद्धा से युज्यमान होते हैं। छोटे कर्मों में उन्हें श्रद्धा ही नहीं।

वस्तुतः यहाँ मन्वादि धर्मशास्त्रकारों को 'अज्ञ महाजन' नहीं कहा गया है, क्योंकि वे भी द्वादश भागवतों में ही हैं। स्वयम्भू तथा नारद भी स्मृतिकार हैं। अतः महाजन से बड़े शास्त्रज्ञ का ही ग्रहण समझना चाहिए। अतः जैसे मृतसंजीवनी औषधि को न जाननेवाले वैद्य रोगनिवारणार्थ त्रिकटु और निम्बादि औषध बतलाते हैं, वैसे ही भागवतधर्म का महत्त्व न जाननेवाले धर्मशास्त्रज्ञ ही कृच्छ्र, चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त बतलाते हैं। मन्वादि धर्मशास्त्रकार यद्यपि परम तत्त्वज्ञ थे; फिर भी उन्होंने पाप-निवारणार्थ द्वादशाब्दादि कठोर प्रायश्चित्त ही बताया, भगवन्नामोच्चारण नहीं; क्योंकि वे जानते थे कि संसार के बड़े-बड़े लोगों की भी बड़े-बड़े कर्मों में श्रद्धा होती है, छोटों में नहीं। बड़े-बड़े मन्त्रों में श्रद्धा होती है, छोटे मन्त्रों में नहीं। इसलिए वे इसके ग्राहक नहीं हैं।

आजकल भारत में प्रायः सभी राम, कृष्ण आदि नाम उच्चारण करते ही रहते हैं। कई लोग तो खूब पाप करते हैं; दुराचार सुरापान, मांस-भक्षण चोरी, बेईमानी भी करते हैं और खूब नाम भी जपते हैं। वर्षों तक ऐसा करते रहने पर भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं दीखता। अतः यदि किसीसे ब्रह्महत्या या सुरापान आदि हुआ और प्रायश्चित्त करने की भी इच्छा हो, तो उसे कठोर व्रत, कर्म, यज्ञ या दान का उपदेश करने पर ही श्रद्धा होती है। भगवन्नाम तो वह यदा-कदा उच्चारण करता ही रहता है; अतएव उसमें श्रद्धा नहीं होती। कठोर व्रतों के करने पर उसे विश्वास भी होता है कि 'हाँ, हमारा पाप मिट गया होगा।' ऐसे अधिकारियों का बाहुल्य होने से ही वैसा उपदेश है।

इस तरह यद्यपि भगवन्नाम से ही सब प्रकार के पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है; फिर भी ऋषियों ने विभिन्न दान, व्रत, यज्ञादिरूप प्रायश्चित्त पापों के नाशार्थ निर्धारित कर रखा है। इतना ही नहीं, कई पापों को ऐसा भी माना है कि उनका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं होता। जैसे : प्रत्यन्त-गमन (विलायत-यात्रा) के सम्बन्ध में लिखा है कि प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करने पर भी उसको जाति में नहीं लिया जा सकता : शोधितस्याऽप्यसङ्ग्रहः।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कुछ आचरणों को प्रायश्चित्त-प्रसरणपथातीत कहकर उन्हें करनेवालों के उद्धारार्थ गंगा का आगमन बतलाया है :

अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्।

यद्यपि भगवन्नाम, ध्यान आदि भी प्रायश्चित्त-प्रसरणपथातीतचरितों का उद्धार करनेवाले हैं। इन दोनों दृष्टियों का समन्वय भी इस दृष्टि से हो जाता है कि पारलौकिक भुक्ति-मुक्ति के उपयुक्त अपेक्षित शुद्धि भगवन्नाम, गंगास्नानादि से हो जाने पर भी व्यावहारिक-सामाजिक शुद्धि के लिए धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्त ही आवश्यक हैं। ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णस्तेय, गुरुपत्नी-गमनादि ऐसे पाप हैं कि जिनकी भगवन्नामादि द्वारा पारलौकिक शुद्धि हो जाने पर भी सामाजिक शुद्धि के लिए धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्त ही अपेक्षित हैं। कठिन प्रायश्चित्त के कारण ही लोगों को उन कर्मों से भय होता है। भगवन्नामादि सरल-सुगम प्रायश्चित्त होने पर तो वह भय निवृत्त हो जाता है और ऐसे लोग सरल प्रायश्चित्त होने से निर्भयता से पाप करते हैं। वैसा पाप ही नामापराध कहलाता है। ऐसे लोग नाम भी जपते रहते हैं और पाप भी करते रहते हैं। यही कारण है कि भागवतजन भी व्यवहार में व्यापक व्यावहारिक प्रायश्चित्त ही करते हैं। जैसे कि सूत उग्रश्रवा के वध होने पर बलरामजी ने भी ऋषियों की सम्मति से धर्मशास्त्रोक्त ही प्रायश्चित्त किया था। तभी तो मनु, वसिष्ठ, नारद, यम, आदि परम भागवत एवं भागवतधर्म के ज्ञाता होने पर भी अपनी स्मृतियों में विभिन्न तप, व्रत आदि का विधान करते हैं।

यद्यपि कहा जा सकता है कि 'भगवन्नाम आदि से व्यावहारिक शुद्धि भी उक्त है। जैसे :

> यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनात् यत्प्रह्वणात् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
> श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥

'भगवन्, आपके नाम का श्रवण, अनुकीर्तन और आपके प्रणाम तथा स्मरण से चाण्डाल भी सद्यः सवन, ज्योतिष्टोमादि यज्ञों तथा तद्गत प्रातःसवन माध्याह्न-सवन आदि का अधिकारी हो जाता है। फिर आपके दर्शन से कितना दिव्य पुण्य होता है, इस सम्बन्ध में कहना ही क्या है?' किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि शास्त्रों के अनुसार द्विजाति ही वैदिक यज्ञों तथा सवनों का अधिकारी होता है। असंस्कृत द्विजाति, शूद्र आदि उसके अधिकारी नहीं होते, तो फिर चाण्डाल का तो कहना ही क्या है। इसीलिए वैदिक कर्मों के अधिकार वर्णमूलक होते हैं और वर्ण भी जन्ममूलक ही मान्य होता है। कर्म भी जन्म द्वारा ही वर्ण-परिवर्तन का हेतु बनता है। सीधे चालू जन्म में कर्म द्वारा जाति परिवर्तित नहीं होती।

अतएव उक्त वचन के 'सद्यः' शब्द का द्वि-त्रि-जन्मान्तरमेव अर्थ है। अर्थात् श्वाद (चाण्डाल) भी शीघ्र ही अर्थात् दो ही तीन जन्मों में सवनार्ह द्विजाति-जन्म पाता है। शीघ्रता अपेक्षाकृत ही ग्राह्य है। इस दृष्टि से जहाँ चाण्डाल

सैकड़ों जन्मों में द्विजाति-जन्म पाता है, वहीं श्रीभगवन्नाम की महिमा से दो-तीन जन्मों में ही वह द्विजाति हो जाता है, तो उसे शीघ्रता ही कहनी चाहिए। श्रीमद्भागवत तथा अन्यत्र भी व्यास, नारद आदि द्वारा भगवन्नाम की महा-महिमा का वर्णन होने पर भी उन लोगों ने वर्णाश्रम-धर्म के आचरण पर पूरा बल दिया है। वैसे तो ज्ञान एवं ध्यान सभी पापों को नष्ट कर देते हैं :

> ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
> अतिपातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ॥
> भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥

पर उसके भी कितने अधिकारी हैं? इसीसे श्रीभगवन्नाम में पूर्ण विश्वास रखने-वाले भी शास्त्रोक्त चान्द्रायणादिरूप प्रायश्चित्त इसीलिए करते हैं कि स्वाधीन भी सिंह को श्व-शृंगालादिनिवारणार्थं प्रयुक्त नहीं किया जाता; मच्छर हटाने के लिए नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र का प्रयोग नहीं किया जाता। इसीलिए आज भी सर्वत्र भारत के काशी, मथुरा आदि पुरियों में विभिन्न पापों के धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्तों का ही अनुष्ठान होता है। बड़े-बड़े व्रतों के करने के भय से पाप से निवृत्ति भी होती है। अतिसरल नामोच्चारण ही प्रायश्चित्त होगा तो निर्भय होकर लोग पाप में प्रवृत्त हो सकते हैं।

इसीलिए नामापराध के प्रसंग में कहा है कि अत्यन्त असत् लोगों के सामने नाम की महिमा वर्णन करना नामापराध है। इससे वे नाम से अनायासेन सब पाप नष्ट हो जायँगे, ऐसा समझकर पाप कर सकते हैं। अतः नाममाहात्म्य-ज्ञान से सबकी मुक्ति हो जायगी, यह समझकर भी पापनिवारणार्थं श्रीभगवन्नाम का प्रयोग न करके अन्य प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, यह भी श्रीधरस्वामी ने कहा है। फिर भी सिद्धान्ततः भगवन्नाम सब पाप-तापों का नाशक, सब धर्मों का प्रापक, भगवत्-तत्त्व का ज्ञापक एवं बोधक है, यह वेद, वेदान्त, पुराण एवं धर्मशास्त्र का सुविचारित मत है। यही समझकर सुधी लोग भगवान् की भक्ति करते हैं। भक्त लोग यमदण्ड के अधिकारी नहीं होते। यदि उनसे कुछ पातक बनता भी है, तो भगवान् के गुणानुवाद से वह नष्ट हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि इस तरह भगवद्भक्ति, भगवन्नामोच्चारण, भगवत्-तत्त्वज्ञान परम धर्म, परधर्म (उत्कृष्ट धर्म) है—यह मान्य होने पर भी 'शास्त्रीय विधि से विहित धर्म है, निषेध से निषिद्ध अधर्म है' इसका खण्डन नहीं होता। तभी तो यमदूत, विष्णुदूत दोनों ने अजामिल को पातकी माना। शुद्धि के सम्बन्ध में दोनों का मतभेद था। यमदूतों के अनुसार धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्त न करने के कारण पुत्राह्वान के प्रसंग से उच्चरित नारायण नामोच्चारण से

उसकी शुद्धि नहीं हुई। विष्णुदूतों के अनुसार नारायण के नामाभास से भी उसकी शुद्धि हो गयी; क्योंकि वह भी शास्त्रानुसार पापों का निवर्तक है ही। धर्मशास्त्रोक्त चान्द्रायणादि पाप के निवर्तक नहीं हैं, यह भी विष्णुदूतों ने नहीं कहा। हाँ, यह अवश्य कहा गया है कि प्रायश्चित्तों से पाप नष्ट हो जाने पर भी वासनावशात् पाप की ओर मन जाता है और उस वासना का क्षय भगवान् के ध्यान एवं उपासना से ही होता है। श्रीभगवन्नाम से भगवान् की स्मृति हो सकती है, अतः उससे वासना-क्षय भी हो सकता है। अतः यह चान्द्रायणादि से भी उत्कृष्ट है।

तस्मात् सिद्ध है कि वेद, वेदान्त धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत तथा भागवतादि समस्त पुराणों का परस्पर समन्वय ही है। उनमें मतभेद की कल्पना तात्पर्यज्ञान न होने से ही होती है। इसीलिए मीमांसादृष्टि से समन्वय किया जाता है। अन्यथा मन्त्रों, ब्राह्मणों, उपनिषदों में भी पर्याप्त मतभेद प्रतीत होगा। इसीलिए पूर्वोत्तर-मीमांसा द्वारा समन्वय किया गया है। मिताक्षरा, हेमाद्रि, वीरमित्रोदय आदि निबन्धग्रन्थों में शास्त्रवचनों का विरोध-परिहार करके समन्वय किया गया है।

श्रीमद्भागवत में कई स्थानों पर वेदों और वैदिकों की निन्दा-सी प्रतीत होती है। जैसे :

> त्रय्यां जडीकृतमति - मंधुपुष्पितायाम्। (६.२.२५)
> एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः।
> फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि॥
> कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
> अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वर्लोकं न विदन्ति ते॥
> न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः।
> उक्थशास्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः॥ (११.२१.२६–२८)

अर्थात् मधुवत् पुष्पिता वेदत्रयी में जड़ीकृत बुद्धिवाले कर्मकाण्डी लोग परमधर्म नहीं जानते। अग्निमुग्ध धूमता में ही जिनका पर्यवसान होता है, ऐसे वे कर्मठ लोग अपने स्वरूपभूत आत्मलोक को नहीं जानते। उक्थशास्त्र कर्मकाण्डसम्बन्धी स्तोत्र, शस्त्र (शंसन करनेवाले मन्त्रसमूह) में लगे नीहार (कुहरा) से आवृतचक्षु होने से वे प्राणपोषण-परायण मेरा मन्तव्य नहीं जानते। इस तरह विस्तार से कर्मकाण्डियों की निन्दा की गयी है। गीता में भी कहा गया है :

> त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
> यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके॥

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः॥
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया॥
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

अर्थात् वेद त्रैगुण्य संसार का ही प्रतिपादन करते हैं। अर्जुन तुम निस्त्रैगुण्य हो जाओ। समुद्रप्राप्ति होने पर वापी, कूप आदि में जितना प्रयोजन रह जाता है, ब्रह्म जानने पर वेद का भी उतना ही प्रयोजन रह जाता है। अर्थात् जैसे मधुर जलपूर्ण समुद्र मिलने पर वापी, कूप आदि का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता वैसे ही ब्रह्म जान लेने पर वेद का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। वेदों से, यज्ञों से, दान या तप से मेरी प्राप्ति नहीं होती।

वस्तुतः यह कोई नयी बात नहीं। वेदों-उपनिषदों में भी यही बात कहा गया है :

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः। नीहारेण प्रावृता जल्प्या च। उक्थशासश्चरन्ति। ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्... यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। अर्थात् कर्म, प्रजा, धन आदि से अमृतत्व नहीं मिलता। यज्ञ आदि अदृढ़ नौका के तुल्य संसार से तारने में असमर्थ हैं। कर्मकाण्डी तत्त्व नहीं जानता। जो ब्रह्म को नहीं जानता, वह ऋग्वेद पढ़कर क्या करेगा ? ऐसे सहस्रों वचन उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु उनका तात्पर्य न समझने से लोग वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म की निन्दा तथा उपेक्षा करते हैं।

वस्तुतः उक्त वाक्यों का वेद एवं वेदोक्त कर्म आदि की निन्दा में तात्पर्य नहीं। किन्तु उन कर्मजड़ों निरीश्वरवादी जरन्मीमांसको की निन्दा करके त्याग, वैराग्य एवं धर्मकर्मानुष्ठान द्वारा ईश्वराराधना में प्रवृत्त करना ही उक्त वाक्यों का तात्पर्यार्थ है। वैदिकों का प्रसिद्ध सिद्धांत है :

नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु स्तव्यं स्तोतुम्।

निन्दा का तात्पर्य निन्दा में न होकर विधित्सित अर्थ की स्तुति में होता है।

मन्त्र-संहिता में ही कर्म और उपासना की निन्दा करनेवाला मन्त्र मिलता है :

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव तमो य उ विद्यायां रताः॥

अर्थात् वे लोग अन्धतम में प्रवेश करते हैं, जो अविद्या यानी विद्या-उपासना से भिन्न एवं उपासनासदृश वेदविहित कर्म में लगे हैं और उनसे भी अधिक तम में वे प्रवेश करते हैं जो उपासना में लगे हैं।

जब वेद के अधिकांश भाग में कर्म और उपासना का ही विधान है तब उन्हींकी निन्दा में वेद का तात्पर्य कैसे हो सकता है? अतः स्पष्ट है कि उक्त वचन का तात्पर्य कर्म-उपासना की निन्दा में नहीं, किन्तु विधिलिसित कर्म-उपासना के समुच्चय में ही है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

अर्थात् जो विद्या-उपासना और अविद्या-कर्म दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान करता है, वह अविद्या द्वारा मृत्यु पाशविक कर्म का अतिक्रमण कर विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति कर लेता है।

इसी प्रकार अनेक प्रसंग समझे जा सकते हैं। 'सांख्यकारिका' में कहा गया है : दृष्टवदानुश्रविकः अर्थात् जैसे लौकिक चिकित्साकर्म से ऐकान्तिक (निश्चित) आत्यन्तिक (अवश्यंभावी) दुःखनिवृत्ति नहीं होती, वैसे ही आनुश्रविक वैदिक उपाय से भी ऐकान्तिक-आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति नहीं होती। किन्तु सांख्य-कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया कि यह कर्मकाण्डरूप आनुश्रविक उपाय के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए; वैदिक तत्त्वज्ञान, उपासनादिरूप उपाय के सम्बन्ध में नहीं। क्योंकि न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उपासना, ज्ञान आदि से तो पुनरावर्तनरहित मोक्ष की प्राप्ति स्पष्ट ज्ञात होती है। अतः ज्ञानादि आनुश्रविक उपाय तो ऐकान्तिक-आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का हेतु है ही। इतना ही क्यों, पूर्वोक्त मन्त्रों के अनुसार कर्म भी उपासना के साथ समुच्चित होकर मृत्युनिवारण और अमृतत्वप्राप्ति का साधन कहा ही गया है। उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि निष्काम यज्ञ, तप, दान, आदि का तत्त्वज्ञान-प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करना चाहिए। अतः उनका फल केवल स्वर्गादि नहीं, किन्तु तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्षप्राप्ति भी है।

तमेतमात्मानं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन।

अर्थात् ब्राह्मण लोग इस आत्मा को यज्ञ, तप, दान एवं अनशन, चान्द्रायणादि व्रत से जानना चाहते हैं।

यहाँ किन्हीं आचार्यों के अनुसार यज्ञादि का फल ब्रह्मज्ञान की तीव्र इच्छा ही है। किन्हींके अनुसार इष्यमाण वेदन (तत्त्वज्ञान) यज्ञादि का फल

है। गीता में जब कि भगवान् अर्जुन के लिए **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते** के अनुसार कर्तव्य-अकर्तव्य कर्म के निर्णय के लिए शास्त्र को ही आदरणीय कहते हैं तो स्वयं शास्त्रमूर्धन्य वेद की निन्दा कैसे कर सकते थे ? यदि भगवान् वेद से विदित न होते तो कैसे कहते कि सब वेदों से मैं ही वेद्य हूँ : **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**। वेद-उपनिषद् भी कहती है कि सभी वेद परमानन्द ब्रह्म का ही निरूपण करते हैं : **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**।

अतएव **नाहं वेदैर्न तपसा** का स्पष्ट अर्थ है कि भक्ति-श्रद्धा बिना केवल वेद, यज्ञ, तप आदि से भगवान् की प्राप्ति नहीं होती। भक्ति-श्रद्धासहित वेदों से तो भगवान् की प्राप्ति होती ही है। भगवद्वरणनिरपेक्ष प्रवचन, मेधा तथा श्रवणादि द्वारा भगवान् की प्राप्ति नहीं होती। भगवद्वरणसहित प्रवचन आदि से तो भगवान् की प्राप्ति होती ही है।

इस सम्बन्ध में एक लोकप्रसिद्ध दोहा स्मरणीय है :

राम नाम इक अंक है, सब साधन हैं शून्य।
अंक रहे दस गून है, अंक गये सब शून्य॥

श्री रामनाम अंक है, सब साधन शून्य हैं, अंक के बिना शून्य शून्य ही है, पर अंक रहने पर शून्य निरर्थक नहीं होता। शून्य जितना अधिक होता है, अंक को उतना ही अधिक बहुमूल्य बनाता है। अंक के सामने एक शून्य हो तो १० दस हो जाते हैं, दो हों तो १०० सौ हो जाते हैं, तीन हों तो १००० सहस्र हो जाते हैं। इसी तरह श्रीभगवन्नाम के साथ यज्ञ, तप, दान आदि साधन होते हैं तो उनका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। लेकिन भक्ति, नाम आदि न हों तो जैसे एक अंक न रहने पर भी सैकड़ों शून्य शून्य ही रह जाते हैं, वैसे ही सब साधन शून्यफल ही रह जाते हैं।

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

ब्रह्मसूत्र (अध्याय ३, पाद ४, अधिकरण ११) में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी के अवकीर्णी (स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट होने पर प्रायश्चित्त का विचार किया गया है। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के समान ही नैठिष्क ब्रह्मचारी के लिए भी प्रायश्चित्त कहा गया है। इसी तरह वैखानस के लिए भी १५ रात्रि का प्राजापत्यव्रत करके सोमलताभिन्न तृण, वृक्ष-बहुल जङ्गल को जल देकर वृद्धि करने का विधान कहा गया है। रत्नप्रभाकर ने विशेष रूप से संन्यासी के लिए भगवान् का रूप बताया है।

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावन एव च ॥
उपपातकसङ्घेषु पातकेषु महत्सु च ।
प्रविश्य रजनीपादे ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥
मनोवाक्कायजान् दोषान् ज्ञानोत्थानप्रमादजान् ।
सर्वान् दहति योगाग्निस्तूलराशिमिवानलः ॥
नित्यमेव प्रकुर्वीत प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात् पुनात्यहरहः कृतः ॥

अर्थात् एक निमिषभर भी अच्युत का ध्यान करने पर परमतपस्वी एवं पंक्तिपावन हो जाता है। उपपातकों और महापातकों में भी चतुर्थ प्रहर में ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। अज्ञान या प्रमाद में होनेवाले मानस, वाचिक, कायिक सभी दोषों को योगाग्नि इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे सामान्य अग्नि तूलराशि को नष्ट कर देता है। नित्य ही षोड़श प्राणायाम करने चाहिए। ऐसा प्रतिदिन मासभर करने पर भ्रूणहत्या करनेवाला भी पवित्र हो जाता है। फिर भी अन्त में १२वें अधिकरण में कहा गया है :

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च । (ब्रह्मसूत्र ३.४.४३)

४३वें सूत्र में कहा गया है कि उक्त प्रायश्चित्तों मे पारलौकिक शुद्धि होने पर भी उसकी लौकिक शुद्धि नहीं होती। इसीलिए समाज में वे ग्राह्य नहीं होते। उनकी यज्ञ, अध्ययन, विवाहादि में ग्राह्यता नहीं होती। अतः व्यवहार में शिष्टों द्वारा उनका बहिष्कार ही उचित है; क्योंकि वैसी ही स्मृति और वैसा ही शिष्टाचार भी है :

आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः ।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत् स आत्महा ॥
आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम् ।
उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि शास्त्रोक्त धर्म और भगवन्नाम-माहात्म्य में किसी प्रकार का असामञ्जस्य नहीं है।

प्रथम भाग समाप्त

विचार-पीयूष

द्वितीय भाग : आधुनिक वाद

१. क्या वेदा-शास्त्र का प्रामाण्य मानना अपकर्ष ?

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण पर निर्भर होती है। प्रमाणशून्य विचार, वाद, सिद्धान्त सब अप्रामाणिक, भ्रान्त, विनश्वर और हेय भी समझे जाते हैं। जैसे रूप जानने के लिए निर्दोष चक्षु, गन्ध के लिए घ्राण, शब्द के लिए श्रोत्र, रस के लिए रसना, स्पर्श के लिए त्वक् और सुख-दुःख के लिए मन प्रमाण अपेक्षित हैं, वैसे ही अनुमेय प्रकृति, परमाणु आदि के ज्ञान के लिए हेत्वाभासों पर अनाधृत, व्यभिचारादि-दोषशून्य व्याप्तिज्ञान या व्याप्य हेतु पर आधृत अनुमान अपेक्षित होता है। ठीक इसी प्रकार धर्म, ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय और अननुमेय पदार्थों के ज्ञान के लिए स्वतन्त्र शब्द-प्रमाण अपेक्षित है। संसार में सर्वत्र पिता-माता को जानने के लिए पुत्र को शब्द-प्रमाण को आवश्यकता होती है। न्यायालयों में लेखों एवं साक्षियों के शब्दों के आधार पर ही आज भी सत्य का निर्णय किया जाता है।

फिर भी वैदिक शब्द-प्रामाण्य उनसे विलक्षण है। कारण, लोक में शब्द कहीं भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होते। वे प्रत्यक्ष एवं अनुमान पर आधृत होते हैं। उनके आधारभूत प्रत्यक्ष तथा अनुमान में दोष होने अथवा वक्ता के भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषों से दूषित होनेके कारण उनमें कहीं अप्रामाण्य भी सम्भव होता है। दोषशून्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर आधृत समाहित निर्दोष आप्त-वक्ता के शब्दों का ही प्रामाण्य होता है। किन्तु अपौरुषेय मन्त्र-ब्राह्मण रूप वेद तो सदा प्रमाण ही होते हैं, अप्रमाण नहीं। शब्द का प्रामाण्य सर्वत्र मान्य है, उसका अप्रामाण्य वक्ता के भ्रम-प्रमादादि दोषों पर ही निर्भर होता है। यदि कोई ऐसे भी शब्द हों जो किसी वक्ता से निर्मित न हों, तो उनके वक्तृदोष से दूषित न होने के कारण अप्रामाण्य का कारण न होने से सुतरां उनका स्वतः प्रामाण्य मान्य होता है। ऐसे ही उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भी मान्य हैं। ऐतिह्य, चेष्टा आदि कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं, क्योंकि प्रवाद या ऐतिह्य यदि आप्तपरम्परा से प्राप्त है, तो आप्तवाक्य में ही आ जाते हैं और चेष्टादि आन्तर भावों के अनुमापक होने से अनुमान में ही निहित समझे जाते हैं।

जिन ग्रन्थों या वाक्यों का पठन-पाठन एवं तदर्थानुष्ठान अविच्छिन्न अनादि सम्प्रदाय-परम्परा से प्रचलित हो और जिनका निर्माण या निर्माता प्रमाणसिद्ध न हो, ऐसे वाक्य या ग्रन्थ अनादि एवं अपौरुषेय ही होते हैं। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि इसी दृष्टिकोण से अनादि-अपौरुषेय मानी जाती है। गो, घट, पट आदि बहुत से शब्द भी, जिनका निर्माण प्रमाणसिद्ध नहीं है और जो अनादिकाल से व्यवहार में प्रचलित हैं, नित्य माने जाते हैं।

नैयायिक, वैशेषिक आदि के मतानुसार यद्यपि वर्ण एवं शब्द सभी अनित्य ही हैं; तथापि पूर्वोत्तर मीमांसकों की दृष्टि से वर्ण नित्य ही होते हैं। क्योंकि 'अ क च ट त प' आदि वर्ण प्रत्येक उच्चारण में एकरूप-से ही पहचाने जाते हैं। अवश्य ही कण्ठ-ताल्वादि भेद से ध्वनियों में भेद भासता है, अतः ध्वनियों के अनित्य होने पर भी वर्ण सर्वत्र अभिन्न एवं नित्य हैं। नियत वर्णों की नियत आनुपूर्वी को ही "शब्द' एवं नियत शब्दों की नियत आनुपूर्वी को 'वाक्य' कहा जाता है। यद्यपि वर्णों के नित्य एवं विभु होने से उनका देशकृत तथा कालकृत पौर्वापर्य असम्भव ही होता है और पौर्वापर्य न होने से शब्द एवं वाक्य-रचना असम्भव ही है; तथापि कण्ठ-ताल्वादिजनित वर्णों की अभिव्यक्तियाँ अनित्य ही होती हैं। अतः उनका पौर्वापर्य सम्भव है और उसीके आधार पर पदत्व तथा वाक्यत्व भी बन जाता है।

यद्यपि वर्णाभिव्यक्तियों के अनित्य होने से पदों एवं वाक्यों की भी अनित्यता ही ठहरती है; तथापि जिन पदों एवं वाक्यों का प्रथम उच्चारयिता या पूर्वानुपूर्वी-निरपेक्ष आनुपूर्वी-निर्माता प्रमाणसिद्ध नहीं, उन पदों एवं वाक्यों को प्रवाहरूप से नित्य ही माना जाता है। रघुवंश आदि के प्रथम आनुपूर्वी-निर्माता या उच्चारयिता कालिदास आदि हैं, किन्तु वेदों का अनादि आचार्य-परंपरा से ही अनादि अध्ययन-अध्यापन चलता आ रहा है। अतः उनका निर्माता या प्रथमोच्चारयिता कोई नहीं है। रघुवंश आदि के उच्चारयिता हम जैसे भी हो सकते हैं, पर प्रथम उच्चारयिता कालिदासादि ही हैं, हम लोग तो पूर्वानुपूर्वी से सापेक्ष होकर ही उच्चारयिता हैं, निरपेक्ष नहीं। किन्तु वेदों का कोई भी निरपेक्ष उच्चारयिता या प्रथम उच्चारयिता नहीं है। सभी अध्यापक अपने पूर्व-पूर्व के अध्यापकों से ही वेद का अध्ययन या उच्चारण करते हैं, इसलिए वेद अनादि एवं नित्य माने जाते हैं।

गो-घटादि शब्दोंका नित्यत्व वैयाकरण एवं पूर्वोत्तर मीमांसक भी मानते हैं और शब्द की शक्ति भी जातिमें मानते हैं। इसीलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शक्ति या संकेत भी उन्हें नित्य ही मान्य है।

यद्यपि 'डित्थ', 'डवित्थ' आदि यदृच्छा-शब्दों के समान कुछ शब्द सादि भी होते हैं; तथापि तद्भिन्न पुण्यजनक सभी साधु शब्द अनादि एवं नित्य ही होते हैं।

हम अनादिकाल से ही गो, घट आदि शब्दों और उनके अर्थों के सम्बन्धों का वृद्ध-व्यवहार-परम्परा से ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन शक्तिग्राहक-हेतु व्याकरण, काव्य, कोष आदि में वृद्ध-व्यवहार ही मूर्धन्य माना जाता है। धूम-वह्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध है तथा धूम-वह्नि का व्याप्तिसम्बन्ध ज्ञात होने पर ही धूम से वह्नि का अनुमान होता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह शब्द एवं अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर भी व्यवहारादि द्वारा सम्बन्ध-ज्ञान होने पर ही शब्द भी स्वार्थं का बोधक होता है। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक आदि शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध ईश्वरकृत होने से शब्द अर्थ और उसके सम्बन्ध को अनित्य ही मानते हैं; तथापि सृष्टि-प्रलय की परम्परा अनादि होने से सभी सृष्टियों में सम्बन्ध समान-रूप से रहते हैं। अतः उनके यहाँ भी शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध प्रवाहरूप से नित्य ही होते हैं।

पूर्वोत्तर मीमांसक वर्ण, पद एवं पद-पदार्थसम्बन्ध तथा वाक्य एवं वाक्य-समूह वेद को भी नित्य मानते हैं।

इतिवृत्तवेत्ता भी संसार के पुस्तकालयों में सर्वप्राचीन पुस्तक ऋग्वेद को ही मानते हैं। लोकमान्य तिलक ने 'ओरायन' में युधिष्ठिर से भी हजारों वर्ष पूर्व वेदों का अस्तित्व सिद्ध किया है। श्री दीनानाथ चुलेट ने कई मन्त्रों को लाखों वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है। मनु, व्यास, जैमिनि प्रभृति ऋषियों तथा स्वयं वेद ने भी वेदवाणी को नित्य कहा है: **वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे** (मनु० १.२१), **अत एव च नित्यत्वम्** (ब्रह्मसू० १.३.२९), **वाचा विरूपनित्यया** (ऋ० सं० ८.७५.६), **औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** (जै० सू० १.५) आदि।

वाक्यपदीयकार के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के साथ सूक्ष्मरूप से शब्द का सहकार रहता है। कोई भी विचारक किसी भाषा में ही विचार करता है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

(वाक्यपदीय , १ का० १२३ श्लो०)

'जानाति, इच्छति, अथ करोति' के अनुसार ज्ञान से इच्छा एवं इच्छा से ही कर्म होते हैं:

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।

अतः सृष्टि-निर्माण के लिए सर्वज्ञ ईश्वर को भी ज्ञान (विचार), इच्छा एवं कर्म का अवलम्बन करना पड़ता है। जिस भाषा में ईश्वर सृष्टि के अनुकूल ज्ञान या विचार करता है, वही भाषा वैदिक भाषा है। ईश्वर एवं उसका ज्ञान अनादि होता है। अतएव उसके ज्ञान के साथ होनेवाली भाषा और शब्द भी अनादि ही

हो सकते हैं। वे ही अनादि वाक्यसमूह 'वेद' कहलाते हैं। बीज एवं अंकुर के समान ही जाग्रत्-स्वप्न, जन्म-मरण सृष्टि-प्रलय तथा कर्म एवं कर्मफल की परम्परा भी अनादि ही होती है। अनादि प्रपंच का शासक परमेश्वर भी अनादि ही होता है। अनादिकाल से शिष्ट (शासित) जीव एवं जगत् पर शासन करनेवाले अनादि शासक परमेश्वर का शासन-संविधान भी अनादि ही होता है। वही शासन-संविधान 'वेद' है। विशेष जानकारी के लिए 'वेदप्रामाण्य-मीमांसा, वेद-स्वरूप-विमर्शः (संस्कृत) एवं 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' (हिन्दी) ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

आजकल के विचारक विचार के नाम पर निष्प्रमाण बहुत-सा विशृंखल तथा पूर्वापर-विरुद्ध कहते और लिखते हैं। वे प्रमाण से दूर भागते हैं। स्वर्गीय श्री मा० स० गोलवलकर की 'विचार-नवनीत' नामक एक पुस्तक प्रकाशित है। उसमें उन्होंने कहा है कि "हमारी सांस्कृतिक परम्परा का दूसरा विशिष्ट पहलू यह है कि हमने किसी भी ग्रन्थ को अपने धर्म और संस्कृति की एकमेव सर्वोच्च सत्ता नहीं माना। हमारे सभी धर्म-ग्रन्थ मानवजीवन के एकमेव लक्ष्य के विभिन्न पहलुओं एवं भागों के स्पष्टीकरणमात्र हैं। संघ ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए किसी एक पुस्तक को अधिकृत रूप से न स्वीकृत किया है, न तैयार किया है।" आगे आप कहते हैं : 'एकबार एक धार्मिक नेता ने मुझसे पूछा कि वह कौन-सी पुस्तक है, जिसका आप अनुसरण करते हैं?' मैंने उत्तर दिया : 'यदि हम अपने आपको एक पुस्तक के शब्दों तक ही सीमित रखें तो किसी भी प्रकार उन मुस्लिम और ईसाइयों से अच्छे नहीं होंगे जिनका धर्म केवल एक पुस्तक पर टिका है। इसीलिए हमारी निष्ठा आदर्श के प्रति है, उससे कम के लिए अथवा अन्य किसी के लिए नहीं।" (पृ० ३३२-३३)

वास्तव में प्रश्नकर्ता धार्मिक नेता का आशय यह था कि आप जिस धर्म, संस्कृति या आदर्श की बात करते हैं, वह किसी प्रमाण पर आधृत है या नहीं? प्रमाण है तो वह कौन-सा है—प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शास्त्र? भले ही लौकिक कर्म प्रत्यक्ष-अनुमान पर निर्भर हों, किन्तु धर्म, ब्रह्म एवं उसके अनुष्ठान, उपासना आदि तो एकमात्र शास्त्र से ही गम्य होते हैं। इसीलिए प्रत्येक परलोकवादी या धर्म-ब्रह्मवादी कोई-न-कोई धर्मग्रन्थ प्रमाण मानता ही है। जैसे इस्लाम का कोई भक्त 'कुरान न मानता हो, ईसाइयत के आदर्श की बातें करनेवाला 'बाइबिल' न मानता हो, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती वैसे ही जो हिन्दू-संस्कृति के आदर्शों की रक्षा की बातें करता हो, वह किसी हिन्दू वेदादि'-ग्रन्थों को न मानता हो, यह कम आश्चर्य की बात नहीं। यह कहना कि 'जब वह किसी पुस्तक को प्रमाण मानकर उसे अपनी संस्कृति का आधार मानेगा तो एक-एक पुस्तक को अपना

आधार माननेवाले ईसाई-मुसलमान से अच्छा न होगा' ठीक नहीं। कारण, यों तो यह भी कहा जा सकता है, एक राष्ट्रियता का अभिमान रखनेवाला हिटलर, मुसोलिनी आदि भी राष्ट्रवादियों से अच्छा न कहा जा सकेगा। हमारी राष्ट्रियता इतर राष्ट्रियताओं से उत्कृष्ट है, यह कहना तो हिटलर आदिकों के लिए भी सम्भव था ही। आप अपनी राष्ट्रियता के उत्कर्ष का प्रमाण इतिहास उपस्थित करेंगे तो क्या कोई जर्मन अपनी राष्ट्रियता का प्रमाण इतिहास उपस्थित न कर सकेगा ? फिर इतिहास भी तो एक पुस्तक ही है। इतना ही नहीं, आधुनिक इतिहास तो प्रायः जान-बूझकर अपने राष्ट्र, धर्म, संस्कृति आदि के महत्त्व वर्णन की दृष्टि से ही लिखे जाते हैं। जर्मन-इतिहासकार लिखता है कि 'संसार का इतिहास जर्मनी के ही वनों, पर्वतों, नदियों, भूखण्डों एवं अवशेषों से आरम्भ होता है।

वस्तुतः केवल पुरानी घटनाओं को ही बार-बार वर्णन करना या पढ़ना गड़े-मुर्दे उखाड़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं। अतः वह इतिहास नहीं। किन्तु उन घटनाओं के वर्णन को ही इतिहास कहा जाता है जिनसे अपने धर्म, संस्कृति सभ्यता का माहात्म्य-ज्ञान हो और जनता को आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक उन्नति के उपयोगी शिक्षा मिल सके। आधुनिक भारतीय इतिहासोल्लेख तो प्रायः पाश्चात्त्यों की दुरभिसन्धियों के ही परिणाम हैं। पाश्चात्त्यों के शिष्यप्राय भारतीय इतिहास-लेखक भी उनके प्रभाव से अछूते नहीं हैं। यदि आप रामायण, महाभारत आदि आर्ष इतिहासों पर विश्वास करें तब तो पुस्तक माननी ही पड़ेगी। फिर पुस्तक मानने से पिण्ड कैसे छूटेगा ?

आस्तिक लोग तो सर्वज्ञकल्प वैदिक व्यास, वाल्मीकि आदि द्वारा लिखित रामायण, महाभारत आदि इतिहासों को ही प्रमाण मानते हैं; क्योंकि विश्व-कल्याण-कामना से प्रेरित समाधिसम्पन्न ऋषियों ने समाधि द्वारा प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञा से स्थूल-सूक्ष्म, सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट सभी तथ्योंका साक्षात्कार कर इतिहास का उल्लेख किया है। उनका इतिहास वेद के अविरुद्ध अंश में प्रमाण होता है। उनके आर्ष इतिहासों के अविरुद्ध ही अन्य भी इतिहास मान्य हो सकते हैं।

वस्तुतः आर्ष इतिहास भी घटना-वर्णन अंश में ही प्रमाण होता है, धर्म, संस्कृति या आचरण के सम्बन्ध में नहीं; क्योंकि घटना-वर्णन का ही नाम 'इतिहास' है। घटनाएँ भी दौर्भाग्यपूर्ण, प्रतिकूल एवं सौभाग्यपूर्ण अनुकूल दोनों ही प्रकार की होती हैं। संसार में धर्म-अधर्म, जय-पराजय सभी ढंग की घटनाएँ होती रहती हैं। उनमें जनता को धर्म, संस्कृति के अनुकूल घटनाओं से शिक्षा लेनी चाहिए। रामायण, महाभारत में रावण, दुर्योधन एवं राम, युधिष्ठिर आदि के भी चरित्रों

का वर्णन है। सबको प्रमाण मानकर व्यवहार में लाने पर अव्यवस्था ही होगी। अतः रामायण से **रामादिवत् वर्तितव्यम्, न रावणादिवत्**, महाभारतसे **युधिष्ठिरादिवत् वर्तितव्यम्, न दुर्योधनादिवत्** शिक्षा लेनी चाहिए। अर्थात् रामायण पढ़कर यह निष्कर्ष निकलना चाहिए कि रामादि के समान जनता को व्यवहार करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं। महाभारत से यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि युधिष्ठिरादि के समान बर्ताव करना चाहिए, दुर्योधनादि के समान नहीं। वहाँ भी रामादि का ही व्यवहार क्यों ग्राह्य है, रावणादि का व्यवहार क्यों अनुकरणीय नहीं? इसका भी अन्तिम उत्तर यही है कि रामादि एवं युधिष्ठिरादि का व्यवहार वेदादि-शास्त्रों के अनुसार था, अतएव अनुकरणीय था। रावणादि का व्यवहार वेदादि-विरुद्ध होने से ऐतिहासिक होने पर भी अनुकरणीय नहीं। इस तरह अन्त में हर एक राष्ट्र एवं जाति को अपने धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रियता का आधार कोई-न-कोई ग्रन्थ (पुस्तक) मानना ही पड़ता है।

हाँ, आप एक पुस्तक का प्रामाण्य न मानें, अनेक पुस्तकों का प्रामाण्य मानें पर कम-से-कम एक ग्रन्थ तो मानना ही पड़ेगा। आप स्वयं भी अपनी पुस्तक में अनेक पुस्तकों से प्रमाणभूत वचनों को अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं। भले ही पुस्तक का नाम न लें, यहाँतक कि कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, कांग्रेसी भी अपने-अपने मतों की पुष्टि में शास्त्रों के प्रमाणवचनों का उद्धरण देते हैं। कोई-कोई बड़े गौरव के साथ पुस्तकों का नाम भी देते हैं। अतः ये सभी एक ही नहीं, सैकड़ों पुस्तकों का प्रामाण्य मानकर ही उनका वचन उद्धृत करते हैं। फिर इस तरह आप कांग्रेसी, कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट से अच्छे कैसे सिद्ध हो सकेंगे?

वस्तुतः आप लोग एक ही नहीं, वेद से लेकर रामचरितमानस तक सैकड़ों पुस्तकों को प्रमाण मानते हैं; किन्तु उससे बँधते नहीं। किसी पुस्तक में आप लोगों के अनुकूल जो वचन हों, उन्हें मान लेंगे। आपके मन्तव्यों, व्यवहारों के विरुद्ध जो वचन होंगे उन्हें बेखटके ठुकरा देंगे; लेकिन यह 'अर्ध-कुक्कुटी' न्याय है। जैसे : कोई मुर्गी के आधे अंश को खाना चाहे, आधे को अण्डा देने के लिए रखना चाहे। विचार-विनिमय के लिए आवश्यक है कि जिस प्रमाण को माना जाय, उसे सम्पूर्ण रूप से माना जाय। तभी उसी प्रमाण के आधार पर विपक्ष की बात भी मानने को बाध्य होना पड़ता है : किन्तु अपनी बात सिद्ध करने के लिए आप सब शास्त्रों को मानते हुए विपक्षी द्वारा प्रत्युपस्थापित उन्हीं शास्त्रों के वचनों के सम्बन्ध में कह देंगे : 'हम किसी पुस्तक को अपने मत का आधार नहीं मानते।' गीता और उपनिषदों के हजारों वचनों को आप उद्धृत करेंगे, पर जब आपके सामने गीता के ही इस तरह के वचन रखे जायँ —

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

अर्थात् 'जो शास्त्रविधि को छोड़ मनमानी काम करता है वह सिद्धि, सुख, परागति कुछ भी नहीं पाता। इसलिए तुम्हारी कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही परम प्रमाण है। अतः शास्त्रविधान से उक्त कर्मों को जानकर ही उनका अनुष्ठान करो।' तब क्या आप उन्हें मानने से इन्कार कर देंगे ? मनु की खूब प्रशंसा करेंगे, उनके वचनों का अपने मन्तव्य की सिद्धि के लिए धड़ल्ले से प्रयोग करेंगे, किन्तु जब मनु का ही—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

अर्थात् 'धर्मजिज्ञासुओं के लिए परमप्रमाण श्रुति है' यह वचन आपके समक्ष रखा जाय तो आप उसे अस्वीकार कर देंगे! फिर ऐसा ही करनेवाले संस्कृति-विरोधी नास्तिक या अर्धनास्तिक कम्युनिस्टों, कांग्रेसियों से आप अच्छे कैसे सिद्ध हो सकेंगे ?

वस्तुतस्तु अपने धर्म, संस्कृति या संघटन का आधार किसी धर्मग्रन्थ को न मानने से ही ईसाई-मुसलमानों से अच्छा नहीं बना जा सकता; किन्तु उनसे भी निकृष्ट बन जाना पड़ता है। ईसाई-मुसलमान कम-से-कम एक पुस्तक को तो मानते हैं। उनके दीन, ईमान, संस्कृति, धर्म का कोई आधार तो है। किन्तु जिनकी संस्कृति का कोई आधारभूत प्रमाण ही नहीं, वे उनसे भी गये-बीते समझे जायँगे। जो किसी धर्मग्रन्थ को प्रमाण नहीं मानता, उसके यहाँ मूर्ति में देवत्व किस प्रमाण से सिद्ध होगा ? जननाशौच, मरणाशौच का निर्णय कैसे होगा ? उपनयन, विवाहादि संस्कार किस आधार पर होंगे ? नरशिरःकपाल भी शंख के तुल्य क्यों न पवित्र होगा ? गोमूत्र के तुल्य ही अन्य मूत्र भी पवित्र क्यों न होंगे ? अन्य नदियों से गंगा ही पवित्र क्यों ? सपिण्ड-सगोत्र विवाह निषिद्ध क्यों ? भाई-बहन का विवाह निषिद्ध क्यों माना जाय ? शास्त्रप्रामाण्यवादी तो अपौरुषेय वेद एवं आर्षवचनों के आधार पर इनकी व्यवस्था करता है। किन्तु जो किसी भी ग्रन्थ को नहीं मानता, वह क्या करेगा ? यदि किन्हीं अंशों में वेदादि-धर्मशास्त्र का प्रामाण्य मान्य हो तो अन्य अंशों में प्रामाण्य क्यों नहीं ? यदि आप उन्हीं ग्रन्थों के किन्हीं अंशों के बल पर अपनी बात की पुष्टि कर दूसरों को उसे मानने के लिए बाध्य करते हैं, तो उन्हीं ग्रन्थों के अन्य अंशों के मानने में आप भी क्यों नहीं बाध्य किये जा सकते ?

कोई भी विचार-विनिमय तभी चल सकता है, जब दोनों ही पक्ष किसी समान आधार को लेकर साधन-बाधन में प्रवृत्त हों। इसीलिए जो शास्त्रप्रामाण्यवादी नहीं है, उसके प्रति शास्त्रप्रामाण्य का उपस्थापन नहीं किया जा सकता।

यदि अन्य राष्ट्रियताओं के संकुचित होने पर भी आपकी राष्ट्रियता शुद्ध एवं उत्कृष्ट हो सकती है, तब तो इसी तरह अन्य सम्प्रदायों के आधारभूत ग्रन्थों के पौरुषेय होने से उनमें भ्रम-प्रमादादि-दूषणमूलकता हो सकती है। किन्तु अपौरुषेय, ईश्वरीय निःश्वास से निर्गत, अकृत्रिम शब्दराशि वेद में तो शुद्धता, पूर्णता, निर्दोषता एवं पूर्ण प्रामाणिकता हो ही सकती है। फिर वेदादि-शास्त्रों को संस्कृति का आधार मानने से पौरुषेय ग्रन्थवाले अन्य सभीकी अपेक्षा आपमें अच्छाई क्यों नहीं हो सकती ?

शास्त्रहीन राष्ट्रियता

आप कहते हैं कि "प्रेरणा का वास्तविक एवं चिरकालिक स्रोत राष्ट्रियता की शुद्ध भावना से ही प्राप्त हो सकता है। हम सबकी पवित्र जननी भारतमाता के लिए जाज्वल्यमान प्रेम की भावना, एक ही माता के पुत्र होने के नाते एक एवं अविभाज्य भ्रातृत्व की चेतना और अपने राष्ट्र के वैभवशाली अतीत में अपने अनुपम सांस्कृतिक उत्तराधिकार में गर्व तथा अपनी भारतमाता को विश्व के राष्ट्रों के मध्य उसके पुरातन वैभव एवं सम्मान के साथ देखने की आकांक्षा ही सतत एवं सशक्त प्रेरणा के रूप में कार्य कर सकती है। इस प्रेरणा से इस देश के बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे व्यक्ति भी एक साथ खड़े होकर उनमें जो कुछ श्रेष्ठतम हैं, हम उन्हें देश के हित में प्रस्तुत कर सकते हैं। केवल यही प्रेरणा हमारी अजेयशक्ति को वर्तमान संकट में पूर्णतया क्रियाशील बनायेगी तथा अजेय एवं एकात्म भारतमाता के प्रेरणादायी उस स्वरूप की उन्हें अनुभूति करायेगी जिसके एक हाथ में कमल अर्थात् उत्तम लोगों को वरदान देने की शक्ति तथा दूसरे हाथ में चक्र अर्थात् दुष्टों को संहार करने की शक्ति होगी एवं जो साक्षात् ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज की मूर्ति होगी।" (पृ० ३२२)

किन्तु शास्त्रादि-प्रमाणशून्य भावना सिवा भ्रान्ति के और कुछ नहीं। विधुर-परिभावित कामिनी-साक्षात्कार भ्रमरूप ही माना जाता है। गुंजापुंज में अग्नि की भावना करनेवाला उसमें भावनावशात् कभी भी सत्य अग्नि नहीं पा सकता। प्रतीकोपासना शास्त्रप्रमाण के आधार पर ही सफल होती है। शालिग्राम में विष्णुबुद्धि या नर्मदेश्वर में शिवबुद्धि का मूल आधार शास्त्र ही है। बिना शास्त्र के प्रतीकोपासना बन हो नहीं सकती। प्रमा या यथार्थज्ञान प्रमाण से ही होता है। प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि ही हो सकते हैं, भक्ति या भावना

स्वतंत्र रूप से प्रमाजनक प्रमाण नहीं। फिर भी प्रमाण-सहकृत भावना और भक्ति निश्चय ही बहुमूल्य हैं। संग्रहालय (अजायबघर) या आपण (बाजार) की मूर्तियों एवं मंदिर की मूर्तियों में इसीलिए भेद है कि मंदिर में शास्त्रीयविधान-सहकृत भक्तिभावना होती है, अन्यत्र वह नहीं होती। जैसे भारतीयों के लिए भारतभूमि माता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंके निवासी भी देश को अपनी मातृ-भूमि या देशपिता कहकर सम्मानित करते हैं और वे भी मातृत्व की भावना लेकर एक साथ खड़े होते हैं। अनुपम संस्कृति के उत्तराधिकार का गर्व अन्य लोगों को भी होता है। कमल-वज्रधारिणी के रूप में भारतमाता का चिन्तन करना भी भावनामात्र है। उसमें भी प्रमाणरूप से शास्त्र अपेक्षित है। वस्तुतः भारत ही क्या, सम्पूर्ण भूमि ही विष्णुपत्नी माधवी के रूप में शास्त्रानुसार पूज्य है। तभी तो प्रत्येक भारतीय :

समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

पर्वतस्तनमण्डलवाली, समुद्रवसना धरित्री माधवी की विष्णुपत्नी रूप में पूजा करके ही उसपर पाँव रखता है। क्या यही बात भारत से अन्य भूमि के सम्बन्ध में भी नहीं कही जा सकती ?

भगवा-ध्वज

आप कहते हैं कि 'कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, राष्ट्र के लिए आदर्श नहीं बन सकता। श्रीराम की लोग इष्टदेव के रूप में पूजा करते हैं। इसीलिए भगवा-ध्वज को परम सम्मान के अधिकार-स्थान पर अपने सामने रखा है।' (पृ० ३२३—३३५)

लेकिन क्या भगवा-ध्वज सार्वभौम कहा जा सकता है ? यदि कुछ लोग राम के पूजक नहीं तो बहुत-से लोग भगवा-ध्वज के भी पूजक नहीं हैं। भारत की विभिन्न पार्टियों के अपने अलग-अलग ध्वज हैं। अपने-अपने ध्वजों का महत्त्वगान सभी करते हैं। कोई भी ध्वज भावना की दृष्टि से पूज्य होता है। भावना के बिना झण्डा, दण्डा दोनों की जड़ कपड़ा और काष्ठ ही तो है। भारत के विभिन्न राज्यों के अलग प्रकार के ध्वज होते थे। भारत-संग्राम में भीष्म, द्रोण, कर्ण, भीम और अर्जुन के रथ के ध्वज पृथक्-पृथक् थे। अर्जुन तो कपिध्वज के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। अतः सभी हमारे पूर्वज भगवा-ध्वज को ही मानते थे, यह तो नहीं ही कहा जा सकता। समर्थ स्वामी रामदास के संसर्ग से श्री शिवा ने भगवा-ध्वज अपनाया और संघ ने उसीको अपना आदर्श मान लिया, यह ठीक है। किन्तु वह सार्वभौम,

सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता। झण्डों का कपड़ा दण्डा दोनों जिस राष्ट्र में पैदा होते हैं वह देश, भूमि, पत्थर, वृक्ष, वन-पहाड़, नदी, किंवहुना, सम्पूर्ण संसार ही जड़-क्षणभंगुर हैं, सत्यवस्तु तो सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही है। रामायण के राम और भागवत के कृष्ण, विष्णुपुराण के विष्णु, शिवपुराण के शिव एक ब्रह्म ही के भिन्न-भिन्न नामान्तर हैं। सभी प्रतीकों की अपेक्षा ब्रह्म या राम का महत्त्व बहुत अधिक है। हाँ, स्थूलदर्शियों के लिए वह ब्रह्म या राम सुलभ नहीं हैं। इसलिए उनकी चल-अचल मूर्तियों तथा प्रतीकों की पूजा की जाती है। प्रतीकों, मूर्तियों में भी शास्त्रविधि से देवता का आवाहन, प्रतिष्ठापन किया जाता है। इसी प्रकार ध्वजों में भी देवता का आवाहन, प्रतिष्ठापन किया जाता है। अर्जुन के कपिध्वज में कपि हनुमान् स्वयं विराजते थे। कभी-कभी वे अपने गर्जन से भीम के निनाद को खूब आप्यायित कर देते थे। किन्तु जो शास्त्र या धर्मग्रन्थ से भागता है, उसकी तो शुष्कभावना निष्प्राण ही होती है।

यों तो जड़वादी कम्युनिस्ट भी अपने झण्डे का सम्मान करते हैं। सभी राष्ट्रों के झण्डे आदरणीय होते हैं। इस दृष्टि से कोई भी ध्वज राष्ट्र का प्रतीक मानकर आदरणीय हो ही सकता है। इतने पर भी यदि भगवा-ध्वज में असाधारणता बतायी जा सकती हो, तो सभी ऋषि-महर्षियों द्वारा स्मृतियों, पुराणों, रामायण-भारतादि इतिहासों, तन्त्रों, आगमों द्वारा सम्मानित वेदादि सद्ग्रन्थों की असाधारणता क्यों नहीं मान्य हो सकती? अतः राम, कृष्ण आदि देवों तथा वेदादि किन्हीं धर्मग्रन्थों को सर्वोपरि महत्त्व न देकर भगवा-ध्वज को महत्त्व देने में कोई युक्ति तर्क या प्रमाण नहीं है।

'भगवा-ध्वज हमारे राष्ट्रत्व का प्रतीक है' (पृ० ३३४) यह कथन ही सिद्ध करता है कि उसके लिए प्रमाण अपेक्षित है। कारण, प्रतीकोपासना निश्चय ही प्रमाण-सापेक्ष है। ध्वज स्वयं प्रत्यक्ष अनुमान, आगम आदि प्रमाणों में से कोई प्रमाण नहीं है। भावनावाला भक्त भावना के साथ उसकी पूजा करता रहे, वह उससे भले ही प्रेरणा लेता रहे, पर वह सप्रमाण होने पर ही सजीव हो सकता है। प्रमाण के बिना तो निर्जीव ही रहता है।

क्या शिखा-यज्ञोपवीत का कुछ मूल्य नहीं?

शास्त्र के बिना धर्म सिद्ध नहीं होता। शास्त्र का प्रामाण्य अंगीकार न करनेवाले धर्मस्वरूप के निर्णय में कभी भी सफल नहीं हुए। आप 'विचार-नवनीत' (पृ० ३३४-३५) में लिखते हैं कि 'हमारे देश के कुछ लोग पवित्रसूत्र यज्ञोपवीत धारण करते हैं जब कि कुछ लोग धारण नहीं करते। कुछ चोटी रखते हैं, तो कुछ नहीं। ये वस्तुएँ उनके लिए कुछ अर्थ रखती हैं जो उन्हें

मानते हैं। ये हमारे सर्वव्यापी धर्म के छोटे-छोटे वाह्य लक्षणमात्र हैं। इन्हींको धर्म समझ लेने का भ्रम नहीं होना चाहिए।' इन पंक्तियों को पढ़कर आश्चर्य होता है। जो हमारे धर्म-संस्कृति और राष्ट्र के उद्धारक होने का दावा करते हैं, जो संस्कृति और धर्म का गीत गाते हैं, उनके ये विचार हैं !

वस्तुत: शिखा-यज्ञोपवीत हिन्दुओं के लिए सब धर्मों की जड़ है। शास्त्र का वचन है :

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥ (बोधायन)

अर्थात् सदा यज्ञोपवीत धारण कर रखना चाहिए और सदा बद्धशिख रहना चाहिए, क्योंकि शिखा-यज्ञोपवीत के बिना जो भी किया जाता है, अकृत के समान व्यर्थ हो जाता है। वेदों के ८० हजार कर्मकाण्डबोधक मन्त्रों एवं १६ हजार उपासनाबोधक मन्त्रों का अधिकार प्राप्त करने के लिए ९६ चतुरंगुल का यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। शास्त्रीय विधि के अनुसार शिखा-यज्ञोपवीत त्यागकर केवल ४ हजार ज्ञानप्रकाशक मन्त्रों के अर्थाभ्यास ही का अधिकार प्राप्त होता है। संन्यास में भी दण्डगत मुद्रा आदि के रूप में यज्ञोपवीत रहता ही है। उस समय ज्ञानमयी शिखा भी रहती है। यदि शास्त्र सिद्ध वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतीक शिखा-यज्ञोपवीत का आदर हट जायगा तो भगवा-वस्त्र या ध्वज का सम्मान भी कैसे रह सकेगा ?

वस्तुस्थिति तो यह है कि भगवा-वस्त्र का विधान कुछ निवृत्तिमार्गियों के लिए ही है, किन्तु शिखा-यज्ञोपवीत तो ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थों तथा शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभादि सभी सम्प्रदायों में मान्य हैं। कांग्रेस, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट आदि सभी पार्टियों के हिन्दू, यहाँतक कि राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ और जनसंघ के भी ब्राह्मणादि इसका सम्मान करते हैं। फिर अनादि शास्त्र, सम्प्रदाय, परम्परासिद्ध वैदिक धर्म-संस्कृति के प्रतीक शिखा-यज्ञोपवीत को नगण्य समझने से कृत्रिम ध्वज का सम्मान कहाँतक टिक सकेगा ? शिखा तो हिन्दूमात्र का असाधारण अकृत्रिम झण्डा है। इसके लिए कितनी कुर्बानियाँ हुई हैं ! लाखों व्यक्तियोंने शिखा के बदले शिर दे दिया, पर शिखा नहीं।

वेदों, उपनिषदों में सर्वत्र वैदिक धर्म-कर्म, ज्ञानोपासना के लिए वेद एवं वेदार्थ का ज्ञान आवश्यक बतलाया गया है। किन्तु उस वेद की प्राप्ति उपनयन-संस्कार के बिना नहीं होती। उपनयन वेदाध्ययन का अंग है, यह बात पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों ही के 'अपशूद्राधिकरण' में भलीभाँति स्पष्ट है। जैमिनि,

व्यास, शबर, शंकर, कुमारिल, रामानुज, मध्वादि सभीने इसका विस्तार से विवरण किया है। अतः उपनयन धर्म ही नहीं, सभी वैदिक-स्मार्त धर्मों का मूल भी है।

शूद्र अन्त्यज आदिकों के लिए भी शिक्षा का विधान है और उनके लिए विशेष रूप से ऋषियों ने इतिहास, पुराण, तन्त्रों, आगमों के रूप में वेदार्थ का प्रतिपादन कर उनके कर्मों का निरूपण किया है। जैसे प्रकृति एवं योग्यता के अनुसार चिकित्सा की जाती है, वैसे ही धर्मव्यवस्था भी प्रकृति एवं योग्यता के अनुसार अधिकार-सापेक्ष होती है। राजसूय-यज्ञ में केवल क्षत्रिय का ही अधिकार है, ब्राह्मण का नहीं। कई यज्ञों में शूद्र का ही अधिकार है, ब्राह्मणादि का नहीं।

यह कैसी धर्म की परिभाषा ?

आगे आप धर्म की दुहरी परिभाषा बताते हुए कहते हैं : 'प्रथम तो मनुष्य के मस्तिष्क को उचित पुनर्वासन तथा द्वितीय है सामंजस्यपूर्ण सांघिक अस्तित्व के हेतु विविध प्रकार के व्यक्तियों के लिए अनुकूल बनाना। अर्थात् समाज-धारणा के लिए एक उत्तम व्यवस्था।' पहली परिभाषा का स्पष्टीकरण करते हुए आप कहते हैं : 'मनुष्य का मन एक पशु के समान है, वह कितनी ही वस्तुओं के पीछे भागता है और सभीके साथ एक हो जाता है। साधारणतः मन यह विचार करने के लिए नहीं रुकता कि क्या ठीक है और क्या गलत। वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी भी स्तर तक नीचे झुक सकता है। ऐसे मन के साथ मनुष्य की साधारण पशुस्तर से उच्च उठने की सम्भावना नहीं होती। अतएव मनको आत्मसंयम एवं कुछ अन्य महागुणों से संस्कारित करना है। अच्छे आचरण के वे लक्षण भगवद्गीता एवं हमारे अन्य पवित्र ग्रन्थों में विविध सन्दर्भों में उल्लिखित हैं। उन्होंने शरीर के लिए पाँच यमों और मन के लिए पाँच नियमों का वर्णन किया है। दूसरा है सामाजिक पहलू। मनुष्य के जीवन का सम्पूर्ण समाज के व्यापक हितों के साथ ताल-मेल बैठाना चाहिए। ये दोनों ही स्वरूप एक दूसरे के पूरक होते हैं।

प्रथम पहलू की परिभाषा है : **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः**। इसका यह अर्थ है कि धर्म एक प्रकार की व्यवस्था है जो मनुष्य को अपनी इच्छाओंपर संयम रखने को प्रोत्साहित करती है और सम्पन्न भौतिक जीवन का उपयोग करते हुए भी दैवीतत्त्व अथवा शाश्वत सत्य की अनुभूति के लिए क्षमता निर्माण करती है।

द्वितीय स्वरूप है—**धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः**। इसका अर्थ है कि वह शक्ति जो व्यक्तियों को एकत्रित लाती है और उन्हें समाज के रूप में

धारण करती है, धर्म है। इन दो परिभाषाओं का मेल प्रकट करता है कि धर्म की स्थापना का अर्थ एक ऐसे सुसंगठित समाज का निर्माण है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने एकत्व का अनुभव करता है तथा दूसरों के भौतिक जीवन को अधिक सम्पन्न, अधिक सुखमय बनाने के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होता है एवं उस आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है जो उसे सत्य, चरमसत्य की अनुभूति की दिशा में ले जाता है।

यद्यपि यम, नियमादि गुणों द्वारा मन का परिष्कार करना परस्पर उपकार एवं सहानुभूति की भावना के साथ परम सत्यानुभूति की ओर बढ़ना अच्छी वस्तु है, इसका समर्थन शास्त्रों में मिलता है। यम-नियमादि गुणों का समर्थन भी शास्त्र में मिलता है। बृहदारण्यक के मधुक-ब्राह्मण के अनुसार प्रत्येक तत्त्व एक दूसरे के उपकार-बतलाये गये हैं।

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु, यश्चाय-मस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। इमा आपः सर्वेषां भूतानां मधु, अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मधु, अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मधु। (बृ० उ० ५.५.१—३)

सम्पूर्ण विश्व के उत्पादन में जैसे ईश्वर कारण है, वैसे ही शुभाशुभ कर्म-जनित अदृष्टों द्वारा समष्टि जीव भी कारण है। यही कारण है कि एक-एक वस्तु से बहुत-से प्राणियों को सुख मिलता है, तो बहुतों को दुःख। जिसका पुण्य उसके निर्माण में हेतु है, उसके लिए वह सुखजनक है। जिसका पाप उसके निर्माण में हेतु है, उसके लिए वह दुःख का जनक है।

पृथिवी, जल, अग्नि, आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, दिक्, धर्म, सत्य आदि प्रायः सबके उपकारक हैं। यही कारण है कि स्वाध्याय, यज्ञ, श्राद्ध, अतिथि-सत्कार बलिवैश्वदेव आदि द्वारा न केवल मनुष्यों को, अपितु ऋषियों, देवताओं, पितरों, मनुष्यों एवं पशु-पक्षी, काक, श्वान, पिपीलिकादि सभी प्रणियों के भी तर्पण का विधान है। यही 'पञ्चमहायज्ञ' कहलाता है। प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्तव्य बतलाया गया है।

वास्तव में ईमानदारी की बात तो यह है कि जिससे जो बात लेनी हो, घोषणापूर्वक लेनी चाहिए। अन्यथा शास्त्रों की ही बातें लेते हुए शास्त्रों के न मानने की घोषणा करना स्तेय ही कहा जायगा। न मानने की घोषणा केवल इसलिए की जाती है कि शास्त्रों की जो बातें मोहवश मान्य नहीं हैं, कहीं उन्हें मानने के लिए हमें बाध्य न होना पड़े। साथ ही यह भी ईमानदारी की बात है कि यदि आपको शास्त्र मान्य नहीं, तो फिर अपनी बात की पुष्टि के लिए शास्त्रों

का उद्धरण ही न दिया जाय। शास्त्रों का उद्धरण दिया जाता है तो उन शास्त्रों को सम्पूर्ण अंशों में मानना और उनका अर्थ भी उनकी पद्धति से ही करना चाहिए, मनमाने ढङ्ग से नहीं। यहाँ आपने 'भगवद्गीता' का नाम दिया है, तो गीता के **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते** इस अंश का भी आदर करना होगा। ऐसी स्थिति में हम किसी पुस्तक को अपने धर्म का आधार नहीं मानते यह कथन कहाँतक सङ्गत है?

उत्तम गुणों से मन की शुद्धि अच्छी बात है, बुरी नहीं। किन्तु **यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** इस कणाद-दर्शन के सूत्र का यह अर्थ नहीं है। उसका तो सीधा अर्थ यही है कि जिस वेदप्रतिपाद्य वैदिक आचार-विचार से अभ्यदय यानी लौकिक-पारलौकिक उन्नति एवं निःश्रेयस् या मोक्ष सिद्ध होता है, वह वैदिक आचार-विचार ही धर्म है। इसीलिए वहीं आगे ईश्वर एवं उसकी कृति वेद का वर्णन आता है। पूर्वापर प्रसंग के विना मनमानी ढंग से 'यतः' का आत्मसंयम या उत्तम गुण आदि अर्थ करना प्रमाणविरुद्ध है। जब मनमानी ही अर्थ करनी है तो कोई उस शब्द से अन्य विपरीत भी अर्थ ले सकेगा।

वस्तुतः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान नियम हैं। किन्तु उपर्युक्त गुण भी कैसे आयेंगे? इसके लिए भी साधना की आवश्यकता है। बिना मन पवित्र हुए अहिंसा-सत्य का पालन कैसे होगा? ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी मनःशुद्धि बिना कैसे सम्भव हैं? जब मनःशुद्धि हो तभी उक्त गुण आ सकते हैं और उक्त गुण हों तो मनःशुद्धि होगी—इस तरह क्या अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा? इसी प्रकार शौच या पवित्रता क्या है आन्तर या बाह्य? आन्तर ही है तब अहिंसा आदि से ही यह गतार्थ है। यदि बाह्य पवित्रता भी अपेक्षित है तो वह क्या है? बिना शास्त्र-प्रामाण्य स्वीकार किये उसका ज्ञान कैसे होगा? क्या केवल सफाई या स्वच्छता ही पवित्रता है? यदि हाँ, तो क्या स्वच्छ शौचालय और शौचस्थलीय चमकीले पात्र में भोजन करना भी मान्य है? जनन-मरण के अशौच कितने दिन, कैसे मान्य होंगे? काक, गृध्र, गौ, गर्दभ, शंख, नरशिरःकपाल, स्वस्त्री, परस्त्री, ब्राह्मणादि भेद और शुद्धि-अशुद्धि का क्या रूप होगा? इसी प्रकार तप क्या होगा? स्वाध्याय किसका होगा? ईश्वर-प्रणिधान का क्या रूप होगा? क्या इन विषयों की शास्त्रीय व्याख्याएँ मान्य होंगी या यहाँ भी मनमानी ही चलेगी? स्पष्ट है कि शास्त्र-प्रामाण्य के बिना किसीका भी निर्णय एवं अनुष्ठान नहीं बन सकेगा।

सच पूछें तो शास्त्रोक्त धर्म ही मन के संस्कारक होते हैं। मन ही क्यों, मन्वादि-धर्मशास्त्रों के अनुसार देह, इन्द्रिय, मन आदि सभीका शोधन आवश्यक होता है। **कण्टकेन कण्टकोद्धारः, विषस्य विषमौषधम्** के अनुसार देह, इन्द्रिय, मन,

बुद्धि, अहंकार की पाशविक कामचार, कामवाद, कामभक्ष आदि चेष्टाओं का बाध करने के लिए ही वैदिक धर्म-कर्म का अनुष्ठान करना पड़ता है। देहादि के शास्त्रोक्त व्यापार से ही पाशविक व्यापार का अन्त हो सकता है। शास्त्रीय काम-कर्मज्ञान से ही पाशविक काम-कर्मज्ञान की निवृत्ति हो सकती है। ब्राह्ममुहूर्त में उठकर शास्त्रोक्त विधान के अनुसार शौच, स्नान, सन्ध्या-वन्दनादि नियमों से ही सूर्योदय तक सोते रहने, उठते ही सदाचार-निरपेक्ष भोजन-पान, अनर्गल प्रलाप, असत्-साहित्याध्ययन आदिकी निवृत्ति हो सकती है। शास्त्रीय विचारधाराओं से ही स्वार्थमयी-रागमयी, पाशविक विचारधाराओं का बाध होता है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

इस 'ईशावास्य' वेदमन्त्रों में स्पष्टरूप से यही कहा है। अविद्या अर्थात् शास्त्र-विहित विद्यासदृश वैदिक काम-कर्मज्ञान से मृत्यु अर्थात् पाशविक काम-कर्मज्ञान का अतिक्रमण कर विद्या अर्थात् परमेश्वर की सगुणोपासना से अमृतत्व अर्थात् सगुण ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। तब वैदिक कर्म और उपासना के समुच्चयानुष्ठान-रूप अविद्या से सर्वविध एषणारूप मृत्यु को पारकर विद्या अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार से अमृतत्व या परमपद प्राप्त किया जाता है। गीता भी यही कहती है :

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

अपने वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्मों का अनुष्ठान करके उसीसे परमेश्वर की अर्चना, आराधना कर प्राणी अन्तःकरणशुद्धि एवं ब्रह्मज्ञानरूप सिद्धि प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवत ने इसीका और स्पष्टीकरण किया है :

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥

(भाग० ११.४.४५)

अर्थात् जो प्राणी अधिकारी होकर भी वेदोक्त कर्म का आचरण नहीं करता, अज्ञ एवं अजितेन्द्रिय रहकर विकर्म एवं अधर्म का शिकार होकर बार-बार मृत्यु को ही प्राप्त होता रहता है। अतः—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥ (११.४.४६)

अर्थात् जो अपने अधिकारानुसार वेदोक्त कर्म का परमेश्वराराधनबुद्धि से निःसंग होकर अनुष्ठान करता है, शीघ्र ही सत्त्वशुद्धि के क्रमसे सर्वकर्म-बाधसाध्य नैष्कर्म्य,

ब्रह्मसाक्षात्कार एवं ब्रह्मतादात्म्य प्राप्त कर लेता है। वेदों में स्वर्ग पशु-पुत्रादि विभिन्न फलों का वर्णन तो केवल वैदिक कर्मोंमें प्रवृत्ति के लिए प्रशंसार्थवाद मात्र है। कोई माता शिशु को मोदक का प्रलोभन देकर गुडूची-पान के लिए प्रवृत्त करती है, बालक भले ही गुडूची-पान का फल मोदकप्राप्ति समझे, माता तो रोग-निवृत्तिपूर्वक स्वास्थ्यलाभ ही उसका प्रयोजन समझती है। मोदक प्रदान करती हुई भी वह मोदकप्राप्ति उसका मुख्यफल नहीं समझती। ठीक इसी तरह पुत्र, ऐश्वर्य, स्वर्ग आदि की प्राप्ति वेदोक्त कर्मों का मुख्यफल नहीं है। मन एवं इन्द्रियाँ कोई स्थूल वस्तु नहीं, जिनकी शुद्धि स्थूलरीति से हो जाय। शास्त्रविधि से ही उनकी शुद्धि हो सकती है।

संस्कार :

जैसे खान में उत्पन्न होनेवाली मणि आदि रत्नों में संस्कार द्वारा चमत्कृति उत्पन्न होती है, वैसे ही संस्कारों द्वारा ब्राह्मणादि वर्णों में भी चमत्कृति आती है। लोक में संस्कार तीन प्रकार के होते हैं : १. मलापनयन, २. अतिशयाधान एवं ३. हीनांगपूर्ति। दर्पणादि में चूर्ण-निघर्षणादि द्वारा मलापनयनरूप संस्कार किया जाता है। हस्तिमस्तक या यूप आदि में सिन्दूर, तेल, रोगन आदि के विलेपन द्वारा अतिशयाधानरूप संस्कार किया जाता है। परशु, छुरिका आदि में काष्ठ, दण्ड, बेंट आदि लगाकर हीनांगपूर्तिरूप संस्कार किया जाता है। इसी तरह मनु के अनुसार गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, उपनयनादि संस्कारों द्वारा वर्णों का संस्कार किया जाता है। इससे भी तो गर्भज तथा पिता के वीर्य से जनित दोषों का निराकरण होता है।

> **वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।**
> **कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥** (मनु० २.२६)

अर्थात् वैदिक शुभमन्त्रयुक्त कर्मों से द्विजातियों के गर्भाधानादि संस्कार करने चाहिए। वे पावन हैं, पापक्षय के हेतु हैं। संस्कृत का ही यागादि संबंध होता है, असंस्कृत का नहीं। संस्कार परलोक के सुख का भी साधन है। वह वेदाध्ययनादि अधिकार का प्रापक होने से इस जन्म में भी पुण्य का हेतु है।

> **गार्भैर्होमै-र्जातकर्म-चौलमौञ्जीनिबन्धनैः।**
> **बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥** (मनु० २.२७)

होममय एवं होमभिन्न मन्त्रयुक्त स्वर्णशलाकासंसृष्ट घृतप्राशनादि जातकर्म, चूडाकर्म, मौञ्जीबन्धन आदि संस्कारों द्वारा बीज और मातृगर्भवासादि-सम्बन्धी दोषों का निवारण हो जाता है। मन-बुद्धि की शुद्धि के पहले शरीरेन्द्रिय-

शुद्धि भी अपेक्षित होती है। **अन्नमयं हि सौम्य मनः** इस छान्दोग्यश्रुति के अनुसार मन भी अन्नादि भौतिक पदार्थों से आप्यायित होता है। अतः मादक भंग, सुरा आदि का मन पर स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। अन्न-जल की शुद्धि का भी मन पर प्रभाव पड़ता है। अशुद्ध आचरणवाले व्यक्ति द्वारा प्रदत्त एवं अशुद्ध व्यक्ति द्वारा निर्मित या स्पृष्ट अन्न-जल से भी मन की अशुद्धि बढ़ती है। इसीलिए अतिथिसत्कार, बलिवैश्वदेवादि कर्मों द्वारा कण्डनी, पेषणी, चुल्ली, मार्जनी, उदकुम्भीसम्बन्धी हिंसादि दोषों को मिटाते हुए अन्न शुद्धकर, परमेश्वर को अर्पण कर भोजन करने का विधान है।

आजके जितनेभर भी उत्पादक, पालक, संहारक यन्त्र हैं, सभी मन, बुद्धि, मस्तिष्क एवं दिमागरूपी ईश्वरनिर्मित यन्त्र से ही आविष्कृत हैं। कोई भी यन्त्र स्वतन्त्र प्रकृति की हलचल या परमाणु तथा विद्युत्कणों के चेष्टाविशेषों के परिणाम न होकर किसी ज्ञानवान्, इच्छावान्, चेष्टावान् चेतन वैज्ञानिक से ही आविर्भूत हैं। जैसे लौकिक यन्त्रों के रक्षण एवं स्थायित्व के लिए उनका मार्जन, प्रक्षालन, स्नेहन, विश्रमण आदि परिष्कार-संस्कार आवश्यक हैं, वैसे ही मनुष्य की देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, दिल-दिमागरूपी यन्त्रों का भी परिष्कार-संस्कार अपेक्षित होता है। जैसे स्थायित्व-हेतु संस्कारों का पूर्णज्ञान यन्त्रनिर्माता वैज्ञानिक को ही होता है, (अतएव उसके निर्देशानुसार ही यन्त्र का परिष्कार, रक्षण, संचालन हो सकता है, इसके विपरीत एक तन्त्री-छिद्र आदि को कमी-बेशी से यन्त्र निरर्थक ही नहीं, हानिकारक भी हो जाता है) वैसे ही ईश्वरनिर्मित देहादि-यन्त्र की रक्षा, परिष्कृति आदि भी ईश्वरीय शास्त्रों के निर्देशानुसार ही होनी चाहिए। उन्हीं ईश्वरीय वेदादि-शास्त्रों द्वारा विहित संस्कारों से इनका परिष्कार हो सकता है। सन्ध्योपासनादिसम्बन्धी मन्त्रों में देह, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि के असद्-व्यवहारों, अभोज्य-भोजन और अकार्य-करणादि के निवारण का उल्लेख है।

मनु के अनुसार वेदाध्ययन एवं मांसादिवर्जनरूप व्रतों, सावित्र चरुहोमादि, सायं-प्रातरादि अग्निहोत्र-होमों, त्रैविद्य-कर्मों, ब्रह्मचर्यावस्था में देवर्षि-पितृ-तर्पणादि-रूप इज्याओं एवं सन्तति-प्रवर्तन तथा ब्रह्मयज्ञादि पंचमहायज्ञों एवं ज्योतिष्टोमादि यज्ञों द्वारा यह शरीर तथा इन्द्रिय-मन-बुद्ध्यादिविशिष्ट आत्मा ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है:

> **स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।**
> **महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥** (२.२८)

अनाचार-दुराचार के परिवर्जनों तथा शास्त्रीय सदाचारों, धर्मानुष्ठानों, मन्त्रादि-जपों एवं उपासनाओं द्वारा ही देह, इन्द्रिय, मन आदि का परिष्कार होता

है। तभी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का पालन हो सकेगा। यमों के पहले नियमों का पालन आवश्यक होता है। शौच, संतोष, तप आदि सब नियमों में परिगणित हैं। केवल व्याख्यानों, गीतों के सुनने या गाने तथा कबड्डी खेलने से यह सब सम्भव नहीं। मनमानी खान-पानों से तो उलटे अशुद्धि ही बढ़ती है।

स्मृतियों के अनुसार १६ और श्रुतियों के अनुसार ४८ संस्कार कहे गये हैं। संक्षेप में सभी वैदिक कर्म देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आत्मा को मलापनयन कर उनमें अतिशयाधान करते तथा हीनांगकी पूर्ति करते हैं। अतः सब संस्कार हैं। शास्त्रों एवं तदुक्त संस्कारों की उपेक्षा करना और संस्कृतिके रक्षण का दावा करना परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। 'संस्कृति' शब्द की निष्पत्ति भी 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय एवं भूषणार्थं 'सुट्' आगम से होती है। उसका अर्थ होता है: सम्यक् भूषणभूत कृति। अर्थात् देहादि की वे चेष्टाएँ संस्कृति हैं, जो सम्यक् हों और भूषणभूत हों। चेष्टाओं की सम्यक्ता-असम्यक्ता, भूषणता-दूषणता का निर्णय प्रमाण की कसौटी पर ही निर्धारित हो सकता है। तथा च देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की वे चेष्टाएँ, जो लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की हेतुभूत हों और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि प्रमाणों से यथायोग्य प्रमित एवं समर्थित हों, वे ही 'संस्कृति' हैं। १६ या ४८ संस्कार तथा अन्यान्य शास्त्रनिर्दिष्ट, दृष्टादृष्ट कल्याण की साधनीभूत देहेन्द्रियादि की चेष्टाएँ या व्यापार ही संस्कृति है।

आजकल तो जहाँ कुछ लोग नृत्य-गीत आदि समारोह को 'सांस्कृतिक-समारोह' की संज्ञा दे रहे हैं, वहीं ये लोग सामूहिक रूप से मनमानी खानपान, कबड्डी खेलने एवं राष्ट्रमाहात्म्यबोधक गीत गाने को 'संस्कृति' मानते हैं।

धर्म, दर्शन, इतिहास, सदाचार, और भाषा (भावाभिव्यंजक कलाओं का भी भाषा में ही अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए) इन पाँच विभागों में संस्कृति का स्वरूप समझा जा सकता है। इनमें धर्म केवल शास्त्रगम्य है। ब्रह्म शास्त्रसापेक्ष तर्क एवं अनुभव से गम्य है। सदाचार मात्र धार्मिक शिष्टों की परम्पराओं, धर्म-नियंत्रित राजनीति, वेदानुगुण धर्मशास्त्रों एवं नीतिशास्त्रों से ज्ञेय है। मुख्य इतिहास वेदोपबृंहणात्मक आर्ष रामायण, भारतादि-इतिहासों एवं पुराणों से वेद्य होता है। उक्त संस्कारों से संस्कृत निष्पक्ष सत्यव्रत शिष्टों द्वारा लिखित ग्रन्थों से सामयिक इतिहास का ज्ञान होता है। वेदार्थानुष्ठायी सिद्ध-महर्षियों के वेदाविरुद्ध तर्कों से दर्शन का ज्ञान होता है। इन्हीं संस्कारों को जन-जन में फैलाने लिए भाषाओं एवं कलाओं का उपयोग होता है। सार यह कि इन्हीं संस्कारों से मन ही नहीं, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं तद्विशिष्ट आत्मा का भी

संस्कार होता है । संस्कृत आत्मा ही व्यावहारिक अभ्युदय तथा चरम सत्य ब्रह्मप्राप्ति में समर्थ होता है ।

'धारणाद् धर्मः' इस परिभाषा का भी निष्कर्ष वही है जो कणाद के सूत्र का है । व्यक्ति एवं समाज का अविरोधेन ताल-मेल जोड़ना तो प्रत्यक्षादिगम्य लौकिक कौशलमात्र है । यह केवल हिन्दू-धर्म की ही विशेषता नहीं, विश्व के अन्य देशों और समाजों में भी यह अनिवार्य रूप से प्रचलित है । यहाँतक कि मधुमक्खियों तथा कपोतों में भी ऐसा समन्वय-सामंजस्यपूर्ण संघटन होता है । हर संघटन में सहिष्णुता, उदारता, परस्परोपकारिता की अपेक्षा होती है । सामान्यतया सभी अपने दुःख में रोते और अपने सुख में प्रसन्न होते हैं । किन्तु विशिष्टजन सर्वत्र ही दूसरों के ही दुःख-सुख में रोते और प्रसन्न होते हैं ।

'धृञ्' धारणे या 'डुधाञ् धारण-पोषणयोः' इन धातुओं से 'धर्म' शब्द की निष्पत्ति होती है । तात्पर्य यह कि जिससे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व का धारण-पोषण, संघटन-समन्वय, सामंजस्य-सांमनस्य, लौकिक-पारलौकिक अभ्युत्थान और परमेश्वर का अंतरंग सन्निधान हो, वही धर्म है । जिससे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में विघटन-वैमनस्य, सर्वप्रकार का पतन और परमेश्वर का व्यवधान हो, वही अधर्म है ।

किन्तु वह कौन-सी वस्तु है, इसका निर्णय भी मात्र मानवबुद्धि पर नहीं छोड़ा गया । उसका साक्षान्निर्देश **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** इस जैमिनिसूत्र में किया गया है । अर्थात् प्रवर्तक वैदिक विधियों से कर्तव्यत्वेन विहित कर्म, उपासनादि धर्म हैं । निवर्तक वैदिक निषेधों से निषिद्ध देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की चेष्टाएँ अधर्म हैं । विहित चेष्टाएँ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व सभीके सर्वविध अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की हेतु हैं, जब कि निषिद्ध चेष्टाएँ सबके पतन, विघटन एवं परमेश्वर-व्यवधान की कारण हैं । अधर्म-वर्जन एवं धर्म-सेवन से बुद्धि शुद्ध होने पर सहिष्णुता, उदारता, परहितैषिता, राष्ट्र-विश्व-कल्याणभावना एवं संघटन-समन्वय की प्रवृत्ति तथा सांमजस्य-सांमनस्य की भावना अपने आप जाग उठती है ।

उक्त पुस्तक के ३६वें पृष्ठ पर आप यह भी लिखते हैं कि व्यक्ति बिन्दुके तुल्य आगमापायी है; समाज गंगा-प्रवाह के तुल्य नित्य है शंकराचार्य का 'नित्यानित्य-वस्तु-विवेक ।' किन्तु यह भी ठीक नहीं । कारण, श्री शंकराचार्य के 'नित्यानित्यवस्तु-विवेक' का अर्थ है : 'स्वप्रकाश अखण्डबोधानन्दस्वरूप परमात्मा नित्य है, तद्भिन्न सब संसार अनित्य है ।' इस नित्यानित्यवस्तु-विवेक का फल है वैराग्य । वैराग्य से शम-दमादि सम्पत्ति आदि क्रम से उत्कट मुमुक्षुता,

जिज्ञासुता एवं श्रवण-मननादिक्रमेण ब्रह्मप्राप्ति होती है। यहाँ व्यक्ति और समाज के लिए बिन्दु और प्रवाह का दृष्टान्त संगत नहीं। शरीरादि के अनित्य होने पर भी जीवात्मा नित्य ही होता है, यह मानने पर शास्त्र, धर्म और परलोक की मान्यता चल सकती है। इसके बिना आस्तिकता, परहितार्थ प्रयत्न और प्राणोत्सर्ग की भावना नहीं बनती।

दृष्टान्तभूत बिन्दु और प्रवाह दोनों ही अनित्य हैं; क्योंकि बिन्दुओं का समूह ही तो प्रवाह है। व्यक्तियों के अनित्य होने पर सुतरां समूह भी अनित्य होगा। ऐसा मानने पर तो चार्वाक-मत में प्रवेश होगा, जिसकी मान्यता है :

यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

प्रकृत में तो व्यक्ति भी आत्मरूप से नित्य है और समाज भी समष्टिरूप से नित्य। व्यष्टि या व्यक्ति विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप से जीव है तो समष्टि, विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत रूप से ईश्वर है। व्यष्टि एवं समष्टि दोनों की अधिष्ठान-रूप में पूर्ण एकता है, फिर भी व्यवहार-दशा में व्यष्टि से ही समष्टि का निर्माण होता है और समष्टि से व्यष्टि का आप्यायन। वृक्षों का समुदाय ही वन है तो वृक्षों के रुग्ण होने पर वन भी रुग्ण होगा। वृक्षों के स्वस्थ-समुन्नत होने पर वन भी स्वस्थ-समुन्नत होगा। ठीक इसी तरह व्यक्ति के दरिद्र, दीन-हीन होने पर समाज भी दरिद्र, दीन-हीन होगा। व्यक्तियों के हृष्ट-पुष्ट, विद्वान्-बलवान् होने पर समाज भी हृष्ट-पुष्ट और विद्वान्-बलवान् होगा। व्यक्तियों की प्रत्येकशः उन्नति से समाज की उन्नति स्वाभाविक होगी। हाँ, व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए इसका ध्यान रखना होगा कि उससे समाज की हानि न हो। व्यक्ति, जाति, समाज, राष्ट्र सभीको समष्टि-विश्व के हित का ध्यान रखते हुए ही आत्महित का प्रयत्न करना चाहिए। व्यक्ति को जातिहित के अविरोध का ध्यान रखकर, जाति को समाजहित तथा समाज को राष्ट्रहित एवं राष्ट्र को विश्व के अविरोध का ध्यान रखकर ही स्वात्मोन्नति का पूर्ण अधिकार ही नहीं, अनिवार्य एवं परमावश्यक भी है। कारण, व्यष्टि के पतन से समष्टि का पतन और उसके उत्थान में ही समष्टि का उत्थान होता है। व्यष्टि का समुदाय ही 'समष्टि' होता है।

यदि हम दूसरों के उत्थान एवं सुधार में प्रयत्नशील रहें और अपने सुधार-उत्थान का प्रयत्न न करें तो व्यष्टि, समष्टि किसीका भी उत्थान न होगा। प्रसिद्ध है कि एक ग्राम-नेता ने सभी ग्रामीणों से रात्रि में एक कुण्ड में एक-एक पाव दूध डालने को कहा। सबने स्वीकार कर लिया, किन्तु डालने का समय

आने पर एक ने सोचा—सब तो दूध डालेंगे ही, मैं एक पाव पानी डालूँ तो किसी-को क्या पता लगेगा ! उसने वैसा ही किया। किन्तु दैवात् सभीके मन में वैसी ही बात आ गयी और सभीने पानी ही डाला। फलतः कुण्ड में सफेदी तक न आयी।

आज यही तो देखा जा रहा है ! अहिंसा, सत्य, यम-नियमके पालन का उपदेश करनेवाले दूसरों को उपदेश करते हैं, पर स्वयं वैसा नहीं करते। फलतः उनके अनुयायियों में जितना जाल-फरेव, हिंसावाद, दलबन्दी, पक्षपात और भ्रष्टाचार चलता है, उतना सामान्य लोगों में नहीं। इसलिए शास्त्रों में सर्वत्र कर्मों एवं कर्मफलों का वैयक्तिक सम्बन्ध ही उपदिष्ट है। व्यक्तियों के धार्मिक होने पर समाज सुतरां धार्मिक हो जायगा। इसीलिए कहावत है :

स्वयं तीर्णः परान् तारयति, स्वयं भ्रष्टः परान् भ्रंशयति।

अर्थात् स्वयं तीर्ण ही दूसरों को तारता है और स्वयंभ्रष्ट दूसरों को भ्रष्ट करता है।

समष्टि-सेवा विराट्-सेवा है। कोई भी समष्टि या व्यष्टि के लिए ऐसी बात अपेक्षित नहीं जो शास्त्रों में न हो। अतएव समाज, राष्ट्र या विश्वसेवा भी तत्त्व-साक्षात्कार एवं उपासना का ही एक अंग है। साधक को अनन्तब्रह्माण्डाधिष्ठान, सर्वातीत, स्वप्रकाश ब्रह्म का साक्षात्कार करने के पूर्व व्यष्टि-अभिमान मिटाकर समष्टि-अभिमान करना पड़ता है और फिर व्यष्टि-समष्टि के ऐक्य का अनुसंधान कर अहंग्रहोपासना करनी होती है। जैसे घट उपाधि के विलीन कर देने पर घटा-काश और महाकाश दोनों एक हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए। व्यष्टि-अभिमान मृत्यु है तो समष्टि अभिमान ही अमृतत्व। फिर भी अनादि-काल से व्यष्टि देहादि में अभिमान निरूढ़ है। उसे मिटाने के लिए दीर्घकाल तक उपासना करनी पड़ती है।

साधक को व्यष्टि के स्थूल जाग्रत् अवस्थाभिमानी विश्व, सूक्ष्म स्वप्न के अभिमानी तेजस, एवं कारण सुषुप्ति के अभिमानी प्राज्ञ को समष्टि स्थूल-सूक्ष्म-कारण अवस्थाओं के अभिमानियों विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत कारणात्माओं के साथ अभेदोपासना करनी पड़ती है। पहले व्यष्टि-अभिमान मिटाकर विश्व अपने को विराट् में लीन कर अपने को 'मैं महाविराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करता है। फिर तैजस हिरण्यगर्भ की एकता का अनुसन्धान कर विराट् को हिरण्यगर्भ में लीन कर अपने को हिरण्यगर्भरूप समझकर 'मैं ही समष्टि सूक्ष्मप्रपंचाभिमानी हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसी उपासना करता है। तदनन्तर प्राज्ञ एवं अव्याकृत का ऐक्या-नुसन्धान कर हिरण्यगर्भ को कारण अव्याकृत में विलीन कर 'मैं समष्टि कारणात्मा अव्याकृत ईश्वर हूँ' ऐसी उपासना करता है। इस उपासना के परिपक्व होने पर ही परमसत्य शुद्ध ब्रह्म में 'अहं ब्रह्मास्मि' बुद्धि होती है।

महाविराट् में अहं-बुद्धि होने पर समष्टि-हित ही साधक का अपना हित हो जाता है। जब हमारा अभिमान व्यष्टि-देह तक ही सीमित रहता है, तब हम व्यष्टि के दुःख में दुःखी और उसके सुख में सुखी होते है। उसीकी सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के उपायों एवं साधन-संग्रहों में लगे रहते हैं। किन्तु जब समष्टि विराट् अहंता का आस्पद हो जाता है तब तो समष्टि के हित की ही चिन्ता रह जाती है। समष्टि का सुख ही उसका सुख होता है। फिर वह समष्टि की दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील होता है। लेकिन समष्टि विराट् में अहन्ता के प्रथम उसमें ममता होनी आवश्यक है। देहादि ममता के आस्पद होते हैं। तभी उनमें अहन्ताबुद्धि भी होती है—'अहं गौरः, अहं स्थूलः, अहं कृष्णः, अहं कृशः' आदि व्यवहार दृष्टिगोचर होते हैं। अतः जैसे पहले हमारा पुत्र-कलत्र-मित्र में ममत्व रहता है, उनके हितचिन्तन, उनकी सुख-प्राप्ति एवं दुःख-निवृत्ति के साधन-संग्रहों में हम लगे रहते हैं, वैसे ही विराट् में ममत्व होने पर हम समष्टि-विराट् या विश्व के हित-साधन में ही लगे रहेंगे। फिर भी एकाएक विराट् में ममत्व होना कठिन है। अतः धीरे-धीरे व्यष्टि का अभिमान छोड़ते हुए समष्टि-अभिमान बढ़ाया जाता है। अतिसाधारण प्राणी व्यष्टि-देह में ही ममत्व रखता है। उसीके सुख-दुःख में सुखी दुःखी होता हैं। किन्तु उसकी अपेक्षा अपने पुत्र-कलत्रादि में ममत्व कर उनके हित में लगनेवाला पहले से उत्कृष्ट समझा जाता धीरे-धीरे उस ममता की संकीर्ण सीमा मिटाकर विस्तृत सीमा बनायी जाती है। पुत्र-कलत्र मात्र में सीमित ममत्व को बढ़ाकर प्राणी अपने अन्य सगे-सम्बन्धी, जाति-बिरादरी में ममत्व करता है। फिर उसे बढ़ाकर अपने ग्राम, मण्डल एवं प्रान्त में ममत्व कर निरन्तर उसकी हितसाधना में लगता है। उसे भी बढ़ाकर अपने राष्ट्र में ममत्व करता है। तब राष्ट्र के धारण, पोषण, अभ्युत्थान में राष्ट्र की सुख-प्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के काम में लग जाता है। फिर आगे चलकर विश्व ब्रह्माण्ड और फिर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूपी महाविराट् में ममत्व कर उसके हिताचरण में वैसे ही लीन हो जाता है, जैसे व्यष्टिदेहाभिमानी अपनी देह के पोषण, भूषण, वसन-संग्रह में लगा रहता है :

सेवत सीय लषण रघुवीरहिं।
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं॥

हाँ, तो **वसुधैव कुटुम्बकम्** तो इस उपासना की एक निम्न श्रेणी की अवस्था है। जब सम्पूर्ण विराट् में पूर्ण महत्व सम्पन्न हो जाता है तब उसमें अहंता बन सकती है। तब क्रम से हिरण्यगर्भ में, अव्याकृत ब्रह्म में, फिर कार्यकारणातीत चरम सत्य विशुद्ध ब्रह्म में स्वात्मतादात्म्य रूप से सुप्रतिष्ठा होती है।

इन भूमिकाओं में समष्टि में व्यष्टि का लय हो जाता है। यहाँ व्यष्टि का समष्टि से पृथक् कोई स्वार्थ नहीं होता। व्यष्टिभावरूप मृत्यु का अतिक्रमण कर समष्टिभावरूप अमृतत्व प्राप्त करना ही व्यष्टि के लिए पुरुषार्थ भी है। किन्तु इस उत्कृष्ट अवस्था पर पहुँचने के पहले समष्टि के अविरोधेन व्यष्टि को आत्मोन्नति का जी-तोड़ प्रयत्न करना ही चाहिए। इसी तरह जातीय एवं सामाजिक अभ्युत्थान का प्रयत्न भी राष्ट्र के अभ्युदय का ही हेतु होता है। क्योंकि अनेक व्यक्तियों, जातियों, समाजों, ग्रामों, मण्डलों, प्रान्तों का समुदाय या समष्टि ही राष्ट्र होता है। फिर भी वैयक्तिक, कौटुम्बिक या जातीय उन्नति के काम में संलग्न होते हुए भी इतना अधिक लिप्त नहीं हो जाना चाहिए कि राष्ट्रहित के कामों के लिए अवसर ही न मिले या उसकी उपेक्षा हो जाय। इसी तरह राष्ट्र के हित में लगे रहते हुए भी अन्ताराष्ट्रिय विश्वहित की भी उपेक्षा न होने देनी चाहिए, न उसमें बाधा ही आने देनी चाहिए। अतएव व्यष्टि और समष्टि दोनों का समन्वय ही आवश्यक है। किसी पक्ष में राग के अतिरेक से इतर पक्ष की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

'विचार-नवनीत' के आरम्भ में ही कुछ लोगों के अन्ताराष्ट्रियतावादका वर्णन किया गया है। उनके अनुसार 'कोई भी उपक्रम, जिसे हम अंगीकार करें, देश-जाति अथवा धर्म की सभी सीमाओं से परे एक महत् जागतिक विचार के व्यापक आधार पर अधिष्ठित तथा सम्पूर्ण मानवता के हितसाधन करने में समर्थ होना चाहिए।''क्योंकि आज राकेटों के युग में''देश की सीमा-रेखाएँ अर्थहीन हो चुकी हैं, सम्पूर्ण संसार सिकुड़ गया है, उन्हें लगता है कि देश-राष्ट्र की कल्पना ही कालातीत हो गयी है।

इस सम्बन्ध में लेखक का कहना ठीक है कि 'यह विचार भारत के लिए नवीन नहीं है, क्योंकि—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दः दुखभाग्भवेत्॥

आदि भावनाओं के अनुसार यहाँ के मनीषी सबको सुखी एवं निरोग देखना चाहते थे। सभी को भद्रदर्शी और सभी को दुःखहीन बनाना चाहते थे। यह ठीक ही है, यहाँ तो 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' का आधुनिक भाव बहुत पीछे रह जाता था। इतना ही नहीं, आधुनिक लोग पिछडे लोगों को आगे बढ़ाने के साथ आगे बढ़े लोगों को पीछे खींचकर बराबर लाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु हमारे यहाँ तो पिछड़े लोगों को आगे बढ़ाने और आगे बढ़े लोगों को और आगे बढ़ाने का प्रयत्न होता था।

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥

अर्थात् जिन्हें पुत्र नहीं, उन्हें पुत्र मिले; पुत्रवालों को पौत्र मिले । निर्धन को धन मिले, धनवानों को दीर्घायु मिले । दुर्जनों को भी सज्जन बनाने की भावना ही हमारे यहाँ की विशेषता है । अमृतस्य पुत्राः (ऋ० सं० १०.१३.१) इस ऋग्वेदीय मन्त्र के अनुसार प्राणिमात्र अमृत परमेश्वर का पवित्र पुत्र है । सभी चेतन अमल सहज सुखराशि अमृत ब्रह्मरूप ही हैं । जैसे आकाश से गिरा पवित्र पानी भी मलिन भूमि के संसर्ग से मलिन हो जाता है, वैसे ही मलिन काम, कर्म एवं मलिन माया के संसर्ग से अमृतपुत्र जीव भी मलिन होकर खल या दुर्जन हो जाते हैं । जैसे निर्मली बूटी आदि के प्रयोग से मलिन जल पुनः शुद्ध हो सकता है, वैसे ही दुर्जन भी सज्जन हो सकते हैं । इसीलिए जहाँ दूसरे लोग वर्गभेद, वर्ग-विद्वेष, वर्ग संघर्ष, वर्ग-विध्वंस, खूनी क्रान्ति द्वारा शोषकों का विध्वंसकर सर्वहारा के अधिनायकत्व में धरातल में वैकुण्ठ लाना चाहते हैं, वहाँ वैदिक नीतिज्ञ तो वर्ग-संघर्ष का मार्ग न अपनाकर वर्गसमन्वय, वर्गसामंजस्य, वर्गसौमनस्य एवं सद्भाव-विस्तार आदि द्वारा दुर्जन को सज्जन बनाने, सज्जन को शान्ति प्राप्त कराने, शान्त को बन्धनमुक्त कराने और मुक्त को अन्यों के विमोचन कार्य में संलग्न करने की प्रार्थना करते हैं :

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तस्त्वन्यान् विमोचयेत् ॥

जैसे रोग मिटाना ही चिकित्सक की विशेषता होती है, रोगी मिटाना नहीं वैसे ही दुर्जन की दुर्जनता मिटाकर सज्जन बनाना ही समाज के उन्नायक की विशेषता होती है, दुर्जन मिटाना नहीं । कारण, प्राणिमात्र तो परमेश्वर के पुत्र हैं, फिर किससे द्वेष और किससे संघर्ष ? इसीलिए प्रहलाद ने भगवान् से कहा था :

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां, ध्यायन्तु भूतानि मिथः शिवं धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे, आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥
(भाग० ५.१८.९)

'प्रभो, आपके अनुग्रह से विश्वका कल्याण हो । खल प्राणी भी प्रसन्न होकर सज्जन हो जायँ, उनको दुर्जनता मिट जाय । सब प्राणी परस्पर एक दूसरे का कल्याण चिन्तन करें । सब एक दूसरे के पोषक बनें, शोषक न रहें । रक्षक बनें, भक्षक नहीं । सब एक दूसरे के अनिष्ट चिन्तक न होकर शुभचिन्तक बनें । सबका मन भद्रदर्शी हो । सबकी प्रज्ञा आपके स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो ।'

उदयनाचार्य ने नास्तिकों के कल्याण के लिए भी परमेश्वर को प्रेरित किया है। न्यायकुसुमांजलि (५.१८) में वे कहते हैं :

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीप विधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥

अर्थात् हे विभो ! मैंने श्रुति और युक्तिरूप निर्मल जलधारा से नास्तिकों के दुस्तर्क-कलंकपंक से मलिन मानस के प्रक्षालन का पूर्ण यत्न किया है। फिर भी जिनके हृदयों में आप पर विश्वास नहीं होता उनका हृदय शैलसार (वज्र) ही समझें। भगवन्, आप अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय हैं, अतः उन्हें भी तार दें, क्योंकि वे भी बड़े अभिनिवेश के साथ आपका चिन्तन करते हैं। भेद यही है कि आस्तिक मण्डन के लिए तो नास्तिक खण्डन के लिए आपका निरन्तर चिंतन करते हैं।

शास्त्रार्थ के प्रसंग में रात-रात जगकर आस्तिक आपके मण्डन के लिए तर्क-युक्तियों का अन्वेषण करते हैं। नास्तिक भी रात-रात जगकर ईश्वर खण्डन के लिए युक्ति ढूंढ़ते हैं। इस तरह ईश्वर का चिन्तन दोनों ही करते हैं। अन्तर इतना ही कि एक मण्डनीयविषयाचिन्तन करते हैं तो दूसरे खण्डनीयविषया। कंस, शिशुपाल आदि शत्रुबुद्धि से भगवान् का चिन्तन करते हुए भी सद्गति के भागी बने। अतः खण्डनार्थ चिन्तन करनेवाले नास्तिक आपका चिन्तन करते ही हैं। फलतः इनका भी कल्याण आपको ही करना है, यह आश्चर्य का आशय है। सर्वथा प्राणी परमेश्वर के पुत्र हैं। सभी स्वभाव से ही शुद्ध हैं। अशुद्धि या दूषण सब औपाधिक है : कर्म उपासनादि उपायों से सब दोषोंकी निवृत्ति संभव है।

प्रहलाद की **स्वस्त्यस्तु विश्वस्य** यह विश्वकल्याणभावना या गीतामें वर्णित **स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि सिद्धसङ्घाः** यह सिद्धसंघों को विश्वस्वस्ति-कल्पना बिल्कुल ठीक है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से **साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**। साधु, असाधु सबमें समरूप में ब्रह्मपुत्रत्व की दृष्टि से अथवा ब्रह्मबुद्धि से ही सम-भावना महत्त्वपूर्ण है। साधक का कल्याण तो इसी भावना से है। संसार के सब श्रेणियों के प्राणियों का व्यावहारिक कल्याण भी असंभव नहीं, हाँ, उसके मार्गमें भेद अवश्य हैं। पुण्यात्मा का कल्याण पुण्यवृद्धि को प्रोत्साहन देनें से होगा तो पातकी का कल्याण पातक निवृत्ति को प्रोत्साहन देने से। अत्याचारी-अन्यायी का कल्याण अत्याचार-निवृत्ति से होगा तो सदाचारी का सदाचार-वृद्धि से ही। यही

कारण है कि अन्याय-अत्याचार करनेवाले के लिए दण्डविधान भी इसी उद्देश्य से होता है।

भारतीय संविधान में दण्डविधानों का उद्देश्य बदला चुकाना नहीं, अपराधी के अन्तरात्मा की शुद्धि ही माना गया है। अतः अन्यायी, आततायी को दण्ड देना उसके कल्याण के उद्देश्य से उचित ही है। दण्ड न देने से उसका अन्याय अत्याचार बढ़ेगा जिससे उसका अनिष्ट ही होगा। इस सर्वहितैषिता, सर्वकल्याण की कामना का यह अर्थ नहीं कि चोरों, हत्यारों, आक्रामकों को दण्ड न दिया जाय या उनकी उद्दण्डता बढ़ने दी जाय।

जो भगवान् कृष्ण विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, चाण्डाल, साधु असाधु सर्वत्र समत्वदर्शन का उपदेश करते हैं, वे ही अर्जुन को युद्ध के लिए भी प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि यदि तू धर्मयुद्ध से विमुख होगा तो स्वधर्म एवं कीर्ति को त्यागकर पाप का भागी होगा :

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च त्यक्त्वा पापमवाप्स्यसि॥
तस्माद्युध्यस्व भारत।

इससे स्पष्ट है कि सर्वहितबुद्धि, सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि या समबुद्धि होनेपर भी अन्यायियों अत्याचारियों के हित के लिए ही उन्हें दण्ड देना, मौत के घाट उतारना तक अनुचित नहीं। इसीलिए ब्रह्मनिष्ठ राजर्षिगण भी अपराधियों को दण्ड देने या आक्रामकों का मुकाबिला करने में कभी भी पीछे नहीं रहे।

बिना समष्टि और व्यष्टि का सामंजस्य हुए राष्ट्रवाद भी हिटलर मुसोलनी के राष्ट्रवाद का अन्धानुकरण होगा। अन्ताराष्ट्रवाद भी क्षमताशून्य निःसार मनोराज्य मात्र होगा। आज का कलह, विध्वंस आदि संकुचित-स्वार्थ एवं असमन्वित संकीर्ण राष्ट्रवाद का ही दुष्परिणाम है। अतः अन्तर्राष्ट्रिय या समष्टिवाद से सम्बन्ध जोड़ना अनिवार्य है। इसीसे स्वस्थ समृद्ध समन्वित समष्टि निर्माणकारी राष्ट्रवाद बन सकेगा। तभी मातृभूमि का गौरव एवं पूर्वजों के गौरवपूर्ण इतिहास तथा परम्पराओं का राष्ट्र के अभ्युदय एवं पुनर्विश्वनिर्माण में सदुपयोग हो सकेगा। सीमित शक्तिवाले जीवकी कार्यसीमा भी स्वभावतः सीमित होती है। निःसीम में सीमित का प्रयोग वैसा ही होता है, जैसे समुद्र में सक्तु-मिश्रण (सत्तुघोरने) का प्रयत्न। सम्पूर्ण राष्ट्रमें भी सीधे सीमित शक्ति सफल नहीं होती; किन्तु क्रमशः वैयक्तिक, कौटुम्बिक, जातीय एवं ग्राम-मण्डल, प्रान्त-संबंधी सामाजिक कार्यों द्वारा ही राष्ट्रीय कार्यों में हाथ बँटाया जा सकता है। जो वैयक्तिक, कौटुम्बिक कार्यों को ठीक नहीं कर सकता, वह राष्ट्रिय कार्यों में भी सफल

नहीं होता। कुटुम्ब राष्ट्र का छोटा प्रतीक है। जो उसका सफलतापूर्वक संचालन कर सकता है वह प्रांत, राष्ट्र और फिर क्रमेण विश्व का भी नेतृत्व कर सकता है।

मनु ने इन संघटनों तथा आनुकूल्यसंपादनमय प्रयत्नों से प्रजापति-देव-पित्रादि लोकों की प्राप्ति भी बतलायी है। जो कुटुम्ब का संघटन एवं आनुकूल्य संपादन करने में सफल नहीं होता, वह राष्ट्र-संघटन में भी सफल नहीं हो सकता। ('अंधी पीसे कुत्ती खाय') के न्याय से उसके प्रयत्न एवं तन्निर्मित-घटकों का लाभ अन्यों को ही होता है। बड़े-से-बड़े राष्ट्र के उन्नायक को एक आदर्श गृहपति (घर के पुरखा) से सबक सीखना पड़ता है। गृहपति अपने-पराये का भेदभाव बिना किये प्रथम बेटों, पोतों, भाइयों, भतीजों सब कौटुम्बिक सदस्यों के भोजन-पान, वस्त्र-भूषण, आवास-प्रवास का प्रबन्ध करता है। पीछे अपने भोजनादि की बात सोचता है। गृहपति को सहिष्णु रहकर ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल अतिथि एवं संश्रित, अनुजीवि, बाल, वृद्ध, आतुर, वैद्य, ज्ञाति, पितृपक्षीय सम्बन्धी जामाता, श्यालकादि, बान्धव, माता-पिता, मातृपक्षीय, भगिनी, पुत्री, पुत्रवधू, आदि जामिवर्ग भ्राता, पुत्र, भार्या, दास वर्ग आदि से कभी विवाद नहीं करना चाहिए। इनसे विवाद न करने से सभी अज्ञात पापों से छुटकारा मिलता है और इन्हें अनुकूल कर लेने से गृहस्थ निम्नलिखित लोकों को प्राप्त करता है। आचार्य को वशकर ब्रह्मलोक प्राप्त करता है। पिता को प्रसन्न रखकर प्राजापत्य-लोक पाता है। अतिथिसेवा से इन्द्रलोक, ऋत्विजों से देवलोक, जामियों-भगिनी, स्नुषादि को संतुष्ट रखने से अप्सराओं का लोक, बान्धवों को सन्तुष्ट रखने से वैश्वदेव लोक की प्राप्ति होती है। सम्बन्धी वरुण-लोक, माता और मातुल भूलोक के दाता होते हैं। बाल, वृद्ध कृश, आतुर लोगों को संतुष्ट रखने से आन्तरिक्ष-लोक मिलता है। ज्येष्ठभ्राता पिता के तुल्य होता है। भार्या एवं पुत्र अपने स्वरूप ही होते हैं। दासवर्ग छाया के समान नित्य अनुगत होते हैं। अतः उनसे विवाद नहीं करना चाहिए। दुहिता तो परम कृपा-पात्र ही होती है। अतः इन सबके अविक्षेप करने पर भी उन्हें असंतप्त होकर सहना चाहिए, विवाद न करना चाहिए :

ऋत्विक्पुरोहिताचार्य्यैः मातुलातिथि संश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञाति सम्बन्धिवान्धवैः॥
माता पितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेणभार्य्यया।
दुहित्रा दास वर्गेण विवादं न समाचरेत्॥
एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्वं पापैः प्रमुच्यते।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वान्लोकानिमान् गृही॥

आचार्यो ब्रह्म लोकेशो प्राजापत्ये पिताप्रभुः।
अतिथिस्त्वेन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः॥

(महा० ४-६-१७९-८१)

आचार्य प्रसन्न होकर ब्रह्मलोक देने में समर्थ होता है। पिता प्राजापत्य-लोक देने में समर्थ होता है। अतिथि इन्द्रलोक तथा ऋत्विज देवलोक देने में प्रभु होते हैं।

तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा॥ (४.१८५ म०)

इन लोगों द्वारा किये गये आक्षेप अधिक्षेप या अपमान को असंतप्त होकर सह लेना चाहिए। सहिष्णुता संघटन का मूल है।

इस प्रकार पापक्षय एवं पुण्यलोकों की प्राप्ति का कारण समझने से अनायास ही अधिक्षेप सहते हुए भी ऋत्विक्, पुरोहित, पिता आदि सभी को अनुकूल बनाये रहकर उनसे विवाद न करने से स्वतः सर्वथा अटूट संघटन बना रहता है।

गृहपति सदस्यों में अमृत वितरण करता है। स्वयं कठिनाइयाँ ही अपनाता है। क्षीर समुद्रमंथन के अवसर पर प्रथम कालकूट जहर निकला। उसके भागी गृहपति (घर के पुरखा) भगवान् शंकर हुए। लक्ष्मी, अमृत, कल्पवृक्ष एवं अन्यान्य रत्न इतर विष्णु, इन्द्र आदि सदस्यों को मिले। ऐसे ही यदि ग्रामपति, प्रान्तपति, राष्ट्रपति, आदि भी ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र के भोजन-वस्त्रादि के प्रबन्धों के बाद अपने भोजनादि की बात सोचें तो स्वभावतः यह योग्यता एवं महत्त्वपूर्ण ममता विश्वमें भी कारगर हो सकती है। शिवजी ने विष को कण्ठ में रखा। मुख में इसलिए नहीं रखा कि पुरखा या मुखिया को मुख या जिह्वा जहरीली न रखकर मीठी रखनी चाहिए, तभी विघटन से बचा जा सकता है। इसी तरह उदर में इसलिए नहीं रखा कि पेट में भी जहर नहीं होना चाहिए, कोई जबान मीठा हो, पर पेट का जहरीला तो भी काम नहीं चलता। इस प्रकार ग्राम, प्रान्त या राष्ट्र तथा विश्व के उन्नायकों को विषम परिस्थितियों की कठिनाइयों, कष्टों को स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु उनसे उत्पन्न लाभों से निस्पृह रहना पड़ता है। तब भी मुख एवं उदर को निर्विष रखना पड़ता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद एवं अन्ताराष्ट्रवाद दोनों का समन्वित रूप ही व्यष्टि समष्टि दोनों के कल्याण का हेतु होता है।

फ्रांस में समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृता का उद्घोष बुलन्द किया गया। रूस आदि साम्यवादी देशों ने उसका कार्यान्वयन करना चाहा, पर अध्यात्मवाद में उनकी पहुँच अल्पमात्रा में ही होने से उन्हें समानता-स्वतन्त्रता की कोई सही

आधारभित्ति नहीं मिली। इसीलिए एकांगी प्रयास से सफलता नहीं मिली। किन्तु अध्यात्मवाद की चरमविकासस्थली भारत में अमृतस्य पुत्राः (ऋ० सं० १०,१३-१) ऋग्वेदीय मन्त्र के अनुसार सभी प्राणी-न केवल ब्राह्मण क्षत्रियादि ही, किन्तु पशु-पक्षी तक—परमेश्वर को ही पवित्र सन्तान और उसीके स्वरूप हैं। अतः वही समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृता की आधारभित्ति है। वही भावना सभी संघटनों एवं सहिष्णुताओं का प्राण है।

'विचार-नवनीत' में पृष्ठ ५ पर 'लीग आफ नेशन्स' की चर्चा की गयी है। किन्तु लीग आफ नेशन्स या राष्ट्रसंघ की असफलता का कारण भी उस भित्ति का अंगीकार न करना ही है। फिर भी ऐसे प्रयत्न प्रशंसनीय ही हैं। पूर्व के मान्धाता, दिलीप, रामचन्द्र आदि सम्राट् भी अध्यात्मविद्या-निष्णात होते थे। गीता में कहा गया है। **इमं राजर्षयो विदुः** अर्थात् इस निष्काम कर्मयोग रूप साधननिष्ठा सहित साध्य सांख्ययोग को राजर्षि लोग जानते थे। तभी वे स्वराष्ट्र, परराष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्रीय जगत् की व्यवस्थाओं में सन्धि, विग्रहादि कार्यों में अनुद्विग्न चित्त से कार्य करते हुए साम्राज्यवाद को निर्दोष रखकर करोड़ों वर्षों तक विश्व में समन्वय एवं शांति बनाये रखने में सफल हो सके। अध्यात्मनिष्ठा के ह्रास से संकीर्ण राष्ट्रवादों पर साम्राज्यवाद भी नहीं रह सकता।

वेदों में स्वराज्य, साम्राज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य आदि व्यवस्थाओं का आदर के साथ स्मरण किया गया है :

स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति।

बृहदारण्यक-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य जनक को आदर के साथ 'सम्राट' शब्द से सम्बुद्ध करते हैं। तैत्तिरीय एवं बृहदारण्यक में आनन्द की मीमांसा के प्रसंग में मानुष-आनन्द का वर्णन किया गया है :

युवा स्यात्, साधु युवाध्यायकः आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठ।
तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः···॥
(तै० उ० २.८)

अर्थात् युवा हो नियन्त्रित, शास्त्रोक्त सदाचार सम्पन्न साधु हो; वेदादि स्वाध्यायनिष्ठ हो; भोग शक्तिसम्पन्न द्रढिष्ट एवं बलिष्ठ हो एवं धन-धान्यपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी का अधिपति हो तो उस सम्राट् का सुख एक 'मानुष आनन्द' है। उससे शतगुणित मनुष्य-गन्धर्व का, उससे शतगुणित देव-गन्धर्व का सुख होता है।

इसी क्रम से पितृ, आजानज देव-कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति के आनन्द उत्तरोत्तर शतगुणित होते हैं। किन्तु ये सभी आनन्द, ब्रह्मानन्द-सुधासिन्धु के एक कणमात्र हैं। यहाँ सदाचारी एवं स्वाध्यायशील सम्राट् का ही महत्त्व वर्णित है।

वेदोक्त राजसूय आदि यज्ञों का सार्वभौम क्षत्रिय सम्राट् ही अनुष्ठान कर सकता है। जैसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर निष्पक्ष रूप से विश्व का पालन करता हुआ सामंजस्य स्थापित करता है, वैसे ही विष्णु की पालनी शक्ति से उपबृंहित सदाचारी धर्मात्मा ब्रह्मनिष्ठ सम्राट् विश्वमें समन्वय एवं सामंजस्य की स्थापना कर सकता है।

इसी तरह राजा या सम्राट् को महाराज मनु परमेश्वर का प्रतिनिधि बतलाते हैं :

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति। (मनु० ७.८)

अर्थात् धार्मिक राजा नररूपमें परमेश्वर ही होता है। गीता उसी को 'नराधिप' रूप से भगवान् की विभूति कहती है : **नराणां च नराधिपम्** मार्ग विचलित धर्महीन राजा या निरंकुश सम्राट् जगत् के लिए वैसे ही शिरःशूल होता है, जैसे धर्महीन शास्त्रविमुख भौतिक राष्ट्रवाद, व्यक्तिवाद या जातिवाद।

राष्ट्रसंघ आवश्यक है :

आज के लिए राष्ट्रसंघ जैसा संघटन अत्यावश्यक है : उसमें दोष हैं तो उनका निराकरण करके उसे शुद्ध, निष्पक्ष एवं अध्यात्मोन्मुख बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। आखिर आज का भारत भी वैसा ही है, जैसे अन्य राष्ट्र। इसमें कोई दुर्गुण नहीं, यह सम्पूर्णरूप से धर्म-ब्रह्मनिष्ठ, सदाचारी, निष्पक्ष तथा परोपकार-परायण ही है, यह कहना कठिन है। यहाँ भी अन्य देशों जैसी विभिन्न पार्टियाँ हैं और उनमें भी स्वार्थ-संघर्ष की कमी नहीं। अतः यहाँ भी शास्त्रीय परम्पराओं के अनुसार संस्कार-परिष्कार आवश्यक है।

जैसे कुछ लोग अन्तर्राष्ट्रियतावाद की कल्पना के प्रवाह में राष्ट्र के सुधार और उत्थान को भूल जाते हैं, वैसे ही कई लोग राष्ट्रियता की धुन में व्यक्ति, जाति, समाज तथा अपने शास्त्र एवं धर्म को भूलकर शास्त्रोक्त धर्म-कर्म एवं शास्त्र को न मानते हुए मनमानी किसी परम्परा तथा मनमानी कल्पित धर्म की कल्पना कर स्वयं भ्रान्त हो दूसरों को भी भ्रमित करते हैं। स्पष्ट है कि जैसे राष्ट्रों को छोड़कर अन्तराष्ट्रियता, स्वातंत्र्य कोई वस्तु नहीं वैसे ही ब्राह्मणादि वर्णों, वेदादिशास्त्रों एवं वैदिक धर्मों को छोड़कर भारत राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

लेकिन जैसे अन्तारार्ष्ट्रियतावाद के मोह में राष्ट्रवाद को भुलाया जाता है, वैसे ही राष्ट्रियता की कल्पना के मोह में शास्त्रों एवं वर्णाश्रम धर्मों को भुलाया जा रहा है।

रामायण, महाभारत आदि प्रसिद्ध इतिहासों, मन्वादि धर्मशास्त्रों, वेदान्त, पूर्वोत्तर-मीमांसा आदि दर्शनों, शुक्र-बृहस्पति-कणिक-कौटल्य आदि के नीतिशास्त्रों, वेद, उपनिषद् आदि अनादि-अपौरुषेय सद्ग्रन्थों को छोड़कर भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म का दूसरा अन्य स्वतन्त्र आधार क्या हो सकता है ? फिर भी झूठी राष्ट्रीयता के लोभ में यह कहने का साहस किया जाता है कि 'हम किसी पुस्तक को अपने संघटन का आधार नहीं मानते ।'

वस्तुतः यह सोचना भी गलत ही है कि इस देश में बहुत से ऐसे लोग हैं जो वेद-रामायणादि नहीं मानते और उनका संग्रह करने के लिए वेदादि-शास्त्रों का नाम लेना उचित नहीं है । यदि ऐसा ही है तो कांग्रेसियों को ही क्यों दोष दिया जाता है ? वे तो एक कदम और बढ़कर अपने को 'हिन्दू' भी कहने में सकुचाते हैं । आप अपने को हिन्दू मानते हुए भी यदि हिन्दुत्व के मूल वेदादि-शास्त्रों एवं शास्त्रप्रतिपाद्य धर्मों को न मानकर मनमानी धर्म की कल्पना करें, तो 'हिन्दू' कहने, न कहने में कोई अन्तर नहीं । आपके अनुयायियों ने जातिभेदों एवं धर्मों के विरुद्ध युद्ध तक छेड़ने की बात कह डाली । मुसलमानों को भी 'मुहम्मदी हिन्दू' मानकर उनके साथ में रोटी बेटी का व्यवहार करने की प्रेरणा भी दे डाली । शिवाजी का दृष्टान्त देकर आपने भी हिन्दू-मुसलमान की रोटी-बेटी की एकता, रक्त का समर्थन कर ही दिया है । यदि वेदादि प्रमाण एवं प्रमाणसिद्ध ब्राह्मणादि जातिभेद, धर्मभेद मान्य नहीं तो निराधार मनःकल्पित हिन्दुत्व के लिए भी विवाद क्यों ?

आप परम्परा की बातें करते हैं । किन्तु परम्परा के अनुसार चलने पर तो वेदादि-शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों की मान्यता भी अनिवार्य हो जाती है । मनु भी तो यही कहते हैं :

येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यति ॥ (मनु० ४.१७८)

अर्थात् जिस मार्ग से पिता, पितामह आदि पूर्वज चलते रहे हैं उसी मार्गपर चलना चाहिए । अर्थात् पितृ-पितामहादि अनुष्ठित रामायणादि आर्ष-इतिहासों से यही मालूम होता है कि हमारे-आपके सभी शत या सहस्र पीढ़ियों के पूर्वज इन्हीं वेदादिशास्त्रों को मानते थे । इनके अनुसार वर्णाश्रम धर्म का ही पालन करते थे ।

आज राष्ट्र के कुछ लोग वेदादिशास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों को नहीं मानते तो क्या उन्हें प्रसन्न करने के लिए हम-आप अपने परम्परा प्राप्त शास्त्रप्रामाण्य एवं

पितृ-पितामहादि से अनुष्ठित धर्म को ही छोड़ दें ? स्मरण रहे कि आप ऐसा कर भी लें, तो भी दूसरे अपना धर्म नहीं छोड़ेंगे और उनकी दृष्टि में भी आप 'बे-दीन' ही समझे जायेंगे। संघटन के लिए इतना ही आवश्यक है कि आप अपनी परंपरा के अनुसार अपने शास्त्रों एवं धर्मों का सम्मान तो करें, पर दूसरों के धर्मग्रन्थों एवं धर्मों पर हस्तक्षेप न करें। इस तरह राष्ट्र के सभी लोग दूसरों के धर्म-संस्थानों, धर्म-ग्रन्थों पर हस्तक्षेप न करते हुए अपने-अपने धर्मों, धर्मग्रन्थों का पालन करें। सामूहिक, भौतिक, राजनीतिक, राष्ट्रिय हित के कार्यों में सब एक दूसरे के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर आगे बढ़ें। यही संघटनका निरापद मार्ग है। यही मार्ग आपका पैतृक दाय है। यदि वेद, उपनिषद्, दर्शन एवं तदुक्त धर्म, उपासना, ज्ञान, सामाजिक व्यवस्था आपका परम्पराप्राप्त पैतृक दाय नहीं तो और क्या है ?

जैसे राष्ट्रियता एवं अन्तर्राष्ट्रियता का विरोध नहीं, किन्तु उनका समन्वय आवश्यक होता है, वैसे ही वैयक्तिक एवं जातीय शास्त्रों एवं शास्त्रोक्त धर्मों का भी राष्ट्रियता से कोई विरोध नहीं, उसका भी समन्वय ही होना चाहिए। जैसे 'हिन्दू' कहने में लज्जा का अनुभव करना गुलामी की देन है वैसे ही अपने को 'ब्राह्मण, क्षत्रिय' कहने में वेदशास्त्रानुयायी 'वैदिकधर्मी' कहने में लज्जा या संकोच का अनुभव करना उससे भी अधिक गुलामी मनोवृत्ति का चिह्न है।

आप यह अनुभव करते ही हैं कि 'मानवता के कल्याण के लिए सौहार्द की भावना से राष्ट्र एक साथ जाने को उद्यत नहीं। इसके विपरीत राष्ट्रीय भावनाएँ अधिकाधिक ऐकांतिक होती जा रही हैं। (पृ० ६) ठीक इसी तरह आपको यह भी अनुभव करना चाहिए कि राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रिय जगत् की सभी जातियाँ अपने धर्मग्रन्थ तदनुसारी धर्म एवं परम्पराओं को भी छोड़ने को तैयार नहीं यह ठीक भी है; दीनदार, ईमानदार, पुरुष दूसरे दीनदार, ईमानदार पर ही विश्वास कर सकता है, बे-दीन पर नहीं। अतः जैसे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोंकी प्रभुसत्ता स्वीकार कर उसमें हस्तक्षेप न करने का नियम बनाकर सर्वहितकारी कार्य के लिए राष्ट्रसंघ के रूप में संघटित हो सकते हैं, वैसे ही प्रत्येक धर्म दूसरे धर्मों एवं धर्म-ग्रन्थों पर हस्तक्षेप न करके ही राष्ट्रिय, अन्तर्राष्ट्रिय कार्यक्षेत्र में संघटित हो सकते हैं। इसीलिए राष्ट्रसंघ के 'मानवाधिकार घोषणापत्र' में प्रत्येक व्यक्ति की धार्मिक-स्वतन्त्रता मान्य की गयी है। फिर भी यदि हम अपनी जाति, अपने धर्म, अपने शास्त्र का आदर करने में लज्जित हों तो कभी भी इस संघटन में सफलता नहीं मिल सकती। जो संघटन सिद्धांतहीन, धर्महीन, शास्त्रहीन, संस्कृतिहीन होकर किन्हीं काल्पनिक मरुमरीचिका प्रायः उद्देश्यों को लेकर बनते हैं; परम्परा तोड़ मनमानी खानपान और स्पर्शास्पर्श का विवेक खोकर खेल-खेलते तथा मिथ्या-

संस्कृति, मिथ्याधर्म का प्रचार करते हुए राष्ट्र एवं विश्वकल्याण का स्वप्न देखते हैं, आधारहीन होने के कारण अन्ततः वे वास्तविकता का मुकाबला करने में सर्वथा असफल सिद्ध हो जाते हैं।

आप कहते हैं कि 'हमारे हिन्दू दार्शनिकों ने अपनी दृष्टि को भौतिकवाद से उच्चतर तत्त्व की ओर मोड़ दिया था। भौतिक विज्ञानों की पहुँच के अत्यन्त परे मानवात्मा के रहस्यों की गहराई में उतरकर उन्होंने संपूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त प्राणिमात्र में वर्तमान एक महान् तत्त्व का—जिसे हम 'आत्मा, ईश्वर, सत्य वास्तविकता अथवा शून्य' भी कह सकते हैं—आविष्कार किया है। समय-समय पर इस मानव की अनुभूति ही हमें दूसरों के सुख के लिए उद्यम करने को प्रेरणा प्रदान करती है। जो अहं मुझमें है, वही दूसरे प्राणियों में भी होने के कारण वह मुझसे अपने सहचर प्राणियों के सुख-दुःख में उसी प्रकार प्रतिक्रिया करवाता है जिस प्रकार अपने निजी सुख-दुःख में करता हूँ। आन्तरिक तत्त्व की सजातीयता प्रसूत तादात्म्य की यह विशुद्ध अनुभूति ही मानवीय एकता एवं भ्रातृत्व के लिए हमारी नैसर्गिक आकांक्षा के पीछे वास्तविक प्रेरक-शक्ति है। विश्व की एकता तथा मानव-कल्याण उसी सीमा तक अस्तित्व में लाया जा सकता है जहाँ तक मानव प्राणी इस आन्तरिक बन्धन की अनुभूति करता है। उसी अनुभूति में यह शक्ति है जो भौतिकवाद से प्रसूत चित्त-क्षोभ और कलह का दमन कर सकती है; मानव-मन के क्षितिज को विस्तृत कर सकती है और मानव कल्याण के साथ व्यक्तिगत एवं राष्ट्रिय आकांक्षाओं का स्वरैक्य संपादित कर सकती है। (पृ० ७)

किन्तु यहाँ सहज प्रश्न होता है कि वे कौन-से हिन्दू दार्शनिक हैं, जिनके दर्शन को आप मानते हैं ? आप यह भी तो कहते हैं कि 'कोई धर्मग्रन्थ या पुस्तक हमारे संघटन का आधार नहीं हैं।' स्पष्ट है न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा ये पाँच आस्तिक-दर्शन हैं। इनमें भौतिक-जगत् के अतिरिक्त आत्मा तो मान्य है, पर वह आत्मा ईश्वर से भिन्न है। इनमें से कई ईश्वर नहीं मानते। इनके अनुसार सब आपस में भी एक दूसरे से भिन्न हैं। चार्वाक, जैन, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक ये अवैदिक-दर्शन हैं। अंतिम चार दार्शनिक बुद्ध के अनुयायी हैं। उत्तर-मीमांसा में भी अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैतपरक भाष्य हैं। इन मतों में ऐकात्मवाद स्वीकृत नहीं है। केवल अद्वैतवादी गौड़पाद शंकराचार्य आदि ही ऐकात्म्य को स्वीकार करते हैं। रामायण-महाभारत, पुराणों तथा तंत्रों में भी केवलाद्वैत एवं शाक्ताद्वैत का वर्णन है। कोई अध्यात्मवादी शून्य को कोई तत्त्व नहीं मानता, फिर आपकी बातों की संगति किस दर्शन से बैठती है ?

सभी वैदिक दार्शनिक विचार के साथ आचार को भी महत्त्व देते हैं। सभी वेद को प्रमाण मानते हैं। उसके अनुसार वर्णाश्रम धर्म का आदर करते हैं, किन्तु आप वेद या किसी एक पुस्तक को भी आधार मानने को तैयार नहीं। फिर वेद एवं तदनुसारी सभी ग्रंथों के प्रामाण्य मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। धर्म की व्याख्या भी आपकी अपनी स्वतंत्र है जो किसी धर्मग्रंथ से नहीं मिलती। क्या यह उचित होगा कि किन्हीं ग्रंथों को पढ़ या सुनकर उनका ज्ञान-विज्ञान-अंश मान लें और उनके प्रामाण्यवाद एवं कर्म-उपासनाओं तथा सदाचारों को छोड़ दें?

इसके अतिरिक्त संसार के अन्य राष्ट्रों में भी ईश्वर, जीव एवं धर्म की मान्यता है ही। उनमें से कुछ बौद्ध धर्मानुयायी हैं। यद्यपि वे आत्मा या ईश्वर नहीं मानते, तो भी बुद्ध भगवान् को ईश्वर के रूप में मानते ही हैं। अन्य लोग जो इसाई एवं इस्लाम धर्म को मानते हैं, वे भी बाइबिल, कुरान आदि का प्रामाण्य मानते ही हैं। उनके अनुसार भी ईश्वर, आत्मा एवं धर्म मान्य ही है। भले ही अन्यत्र सर्वत्र ऐकात्म्य का अंगीकार न हो, फिर भी आत्मा की सजातीयता तो वहाँ भी मान्य है ही। आपने भी सजातीयता से प्रसूत तादात्म्य की अनुभूति का महत्व माना है और इस प्रकार की सजातीयता तो 'मानवता' भी है। जैसे अनेक जीवों में जीवत्व रहता है, वैसे ही अनेक मानवों में मानवता रहती है। ऐसा जीवत्व बौद्धों, ईसाइयों, यहूदियों, मुस्लिमों को भी मान्य है ही। फिर आपकी सजातीयता कौन-सी विलक्षण बात है? यदि वेदान्तों, उपनिषदों के अद्वैतवाद की विशेषता कहना चाहते हैं तो वह भी बहुतों के अनुसार माध्यमिक बौद्धों तथा सूफियों के यहाँ भी है।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद के अनुसार 'अहं' ही जीव का रूप है, वह सब प्राणियों में भिन्न-भिन्न ही है। अतः जो अहं मुझमें है, वही दूसरे प्राणियों में नहीं हो सकता। सुख-दुःखादि का आश्रय 'अहं' ही होता है। सबके सुख-दुःख पृथक्-पृथक् होने से सबका अहं भी पृथक् ही है। हाँ, वेदान्त में सभी देहों के अहंकार का साक्षी जो अहंता ममता से परे है, उसी की एकता मान्य है। वह तत्त्वनिर्दृश्य निर्भास्य, अखण्डभानरूप ही है, उसकी अनुभूति में दृश्य प्रतीति बाधक होती है। उसके साक्षात्कार में अन्य या दूसरा नाम का कोई तत्त्व अनुग्राह्य या अनुग्राहक, उपकार्य या उपकारक कुछ रहता ही नहीं।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (वा० सं० ४०.७)

जिस समय तत्त्वज्ञ का सर्वभूत आत्मा ही हो जाता है, उससे अतिरिक्त कुछ रहता ही नहीं, वहाँ शोक या मोह अर्थात् शोकमोहोपलक्षित संसार कहाँ रहता है?

निश्चय ही तत्त्वज्ञ में तत्त्वानुभूति से चित्त-क्षोभ और कलह का दमन हो सकता है, किन्तु क्या कभी भी संपूर्ण राष्ट्र या संपूर्ण विश्व तत्वज्ञ हुआ है या आगे भी सभी तत्वज्ञ हो सकेंगे ? अतएव युद्ध, दण्ड-विधान आदि की व्यवस्था सदैव रहती थी। राम जैसे धर्मनियंत्रित ब्रह्मविद्वरिष्ठ शासक को भी रावण से युद्ध करना पड़ा। श्रीकृष्ण जैसे महान् योगेश्वर एवं दार्शनिक को भी युद्ध करना पड़ा अवश्य ही कृतयुग का समय ऐसा था, जबकि सभी ज्ञानी, जितेन्द्रिय एवं सदाचारी थे सभी एक दूसरे के पोषक थे, शोषक नहीं। सभी धर्म द्वारा आपस में सब व्यवस्था कर लेते थे :

> **न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न दाण्डिकः।**
> **धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥**
>
> (महाभा० शान्ति० ५९.१४)

तब ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न काम-क्रोधरहित सभी प्रजाजन बिना राजा, राज्य एवं दण्ड-विधान के धर्म द्वारा सब काम चला लेते थे। अपराधी होने पर ही दण्ड-विधान या राज्य तथा राजा की आवश्यकता हो सकती है। जब सब एक दूसरे के पोषक ही हों, तो उसकी अपेक्षा ही कहाँ ? भारतीय नीतिशास्त्रों में भी अध्यात्मविद्या का महत्त्व वर्णित है, किंतु उसके साथ धर्मविद्याओं का भी वर्णन है।

> **आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ताः सतीर्विद्या प्रचक्षते।**
> **सत्योऽपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतेस्तु विप्लवे॥**
>
> (कामन्दकीय नीतिसार २.८)

अर्थात् आन्वीक्षिकीरूप अध्यात्मविद्या, त्रयीरूप धर्मविद्या और वार्ता, कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा आदि जीविका-विद्या, ये तीनों विद्याएँ श्रेष्ठ विद्या होती हैं; किन्तु दण्डनीति में विप्लव होने से तीनों ही निरर्थकप्राय हो जाती हैं, सभी के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों, वेदान्त-दर्शन तथा नीतिशास्त्रों में सर्वत्र धर्म की आवश्यकता बतलायी गयी है। उपनिषद् कहता है :

> **यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिषन्ति।**

अर्थात् यज्ञ, दान, तप, अनशन आदि द्वारा साधक उस ब्रह्मतत्व का इष्यमाण वेदन प्राप्त करते हैं। वेदान्तदर्शन के **सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्** (ब्रह्मसूत्र ३.४.२६) द्वारा भी यज्ञादि वर्णाश्रमधर्म की तत्वज्ञान में अत्यन्त आवश्यकता बतलायी गयी है।

जैसे राष्ट्रों की विविधता की रक्षा करते हुए आप विश्वसंघटन में सहयोग की बात करते है, वैसे ही क्या व्यक्तियों, वर्णों एवं जातियों की विशिष्टता की रक्षा आवश्यक नहीं ? यदि है तो क्या आप अपने संघटन में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों की विशिष्टता की रक्षा कर रहे हैं ? वेदाध्ययन, संध्या, अग्नि-होत्र, भोजन, पान, संबंध एवं आचार को नष्ट कर उनकी विशेषताओं को नहीं नष्ट कर रहे हैं ? क्या जैसा मन्वादि शास्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णों के आचारों का विधान है, उसका आपके संघटन में कोई स्थान है ? इस संबंध में तो आप कह देते हैं कि हम कोई पुस्तक ही नहीं मानेंगे और राष्ट्रों की विशेषताओं की रक्षा की बात करते हैं। क्या राष्ट्रिय वर्णों जातियों की विशेषताओं को मिटाकर राष्ट्रिय-संघटन किया जा सकता है ?

वेदान्त के परमाचार्य आद्यशंकराचार्य वेदान्तज्ञान-प्राप्ति के लिए साधन-रूप में निर्देश करते हैं :

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्,
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयताम्,
स्वात्मेच्छा व्यवसीयताम् .... ॥

अर्थात् वेद का नित्य अध्ययन करो। वेदोक्त कर्म का वर्णाश्रमानुसार अनुष्ठान करो। अनुष्ठित कर्मों को भगवान् में अर्पण करके भगवान् की पूजा करो। काम्य-कर्मों का परित्याग करो। पापौघों का नाश कर सांसारिक सुखों में दोष का अनुसंधान करो। परमात्म-तत्त्वज्ञानकी दृढ़ इच्छा उत्पन्न करो। दार्शनिकों के तत्त्वज्ञान के आधार पर संघटन की योजना बनाने पर भी उनमें अपेक्षित इतर साधनों की उपेक्षा करने से वैसे ही विफलता मिलती है, जैसे बहुमूल्य औषधों का सेवन करने पर भी कुपथ्य-परिवर्जन एवं पथ्यपरिपालन बिना विफलता मिलती है।

यह ठीक है कि राष्ट्र के भीतर ऐसी भी विभिन्न जातियाँ और समूह हैं जिनका साक्षात् वेदाध्ययन वेदोक्त कर्म में अधिकार नहीं है। अतः सबको साथ रहने के लिए गीत, खेलकूद, ध्वजवन्दन आदिका कार्यक्रम होना ठीक है। फिर भी शास्त्रों एवं मुख्य कर्मों की उपेक्षा एवं तद्विपरीत आचरण का प्रोत्साहन तो नहीं ही करना चाहिए। किन्तु आपके लेखों, भाषणों, व्यवहारों से ऐसा ही होता है। रामचरित-मानस आदि ऐसे भी सद्ग्रंथ हैं जिनमें सबकी प्रवृत्ति करायी जा सकती है और सभी को अपनी-अपनी विशेषताओं की रक्षा का प्रोत्साहन भी होना

चाहिए। जैसे विविध रंग-विरंगे पुष्पों की माला में सभी पुष्पों के निजी रंग-रूप, सौंदर्य, सौगन्ध की विशेषता सुरक्षित रहने में भी माला की शोभा होती है। वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज तथा तदितर सभी तत्तद् धर्मग्रन्थों एवं परंपराओं के अनुसार विशेषताओं की रक्षा से ही राष्ट्रिय संस्कृति की रक्षा हो सकती है।

'विविधता के बीच एकता की पहचान' (पृ० ८) यह आपका उद्धृत वचन है। क्या यह वर्ण जाति एवं राष्ट्र के सम्बन्ध में नहीं लागू होना चाहिए ? यह गलती कांग्रेस ने की है। वे मुसलमानों, ईसाइयों के कर्म-धर्म, संस्कृति में हस्तक्षेप से बहुत डरते हैं, किन्तु हिन्दुओं के धर्म-कर्म में बेखटके हस्तक्षेप करते हैं। यही गलती आप भी करते हैं। वैधर्म्य विविधता है, साधर्म्य एकता है। पार्थिव विविध पदार्थों में पार्थिवता के सर्वत्र समान होने से वही साधर्म्य है, वही एकता है। घट उदञ्चन आदि विशेषता, विलक्षणता ही उनके वैधर्म्य हैं। इस तरह विभिन्न वर्गों में उनके धर्म-कर्म आदि की विषमता होते हुए भी हिन्दुत्व की दृष्टि या भारतीयता की दृष्टि से उनमें साधर्म्य, समानता, एकता की उपलब्धि की जा सकती है। इसी तरह मानवरूप से सभी राष्ट्रों, जातियों में एकता का अनुभव किया जा सकता है। इतना ही क्यों, जीवत्व-प्राणित्व रूप से देवता, दानव, मानव पशुपक्षियों में भी एकता का अनुभव किया जा सकता है, फिर भी उनकी विषमता विशेषता उपेक्षणीय नहीं। अन्त में तो चराचर विश्व-प्रपंच में एक ही अधिष्ठानभूत अनन्त स्वप्रकाश सच्चिदानन्द परमेश्वरमें अनुस्यूत है। उसी एक में विविध विश्व है। विविध-विश्व में उसी को अधिष्ठानरूप से पहचाना जा सकता है। उसी का उल्लेख इन वचनों में है :

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समम्पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ (म० १२.९१)
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यतं यः पश्यति स पश्यति॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

अर्थात् सर्वभूतों में अधिष्ठान रूप से कारणरूप से आत्मा को और आत्मा में कल्पित या कार्यरूप से सर्वभूतों को देखनेवाला स्वाराज्य, स्वप्रकाश ब्रह्मात्म-भाव को प्राप्त होता है। विनश्वर विषय समस्त भूतों में जो अविनश्वर सम ब्रह्म को देखता है, वही देखता है। एक ही स्वप्रकाश देव सर्वभूतों में निगूढ़ है। वही सर्वव्यापी एवं सर्वभूतों का वास्तविक अन्तरात्मा है। यहीं विविधता के बीच एकता की पहचान है। जिन दर्शन-ग्रन्थों का यह सार है, उनमें भी उक्त निष्ठा के साधन रूप में वर्णाश्रम धर्मों का परम उपयोग माना गया है।

आप कहते हैं कि 'अन्तरात्मा का यह ज्ञान मनुष्य मात्र के सुख के लिए परिश्रम करने की प्रेरणा से मानव मस्तिष्क को प्रेरित करते हुए भूतलकी प्रत्येक छोटी से-छोटी जीवन विशिष्टता को अपनी पूर्ण क्षमता पर्यन्त विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्र अवसर प्रदान करेगा' (पृ० ९)। पर क्या आप अपने संघटन में भूतल नहीं, हिन्दुओं के मुख्य प्रदेश भारत में श्रौतस्मार्त धर्मानुष्ठायी वर्णाश्रमियों की भी कोई विशिष्टता मानते हैं या नहीं, मानते हैं तो उसके पूर्णक्षमतापर्यन्त विकास के लिए क्या प्रेरणा देते हैं ? क्या संघ में होनेवाला सर्वजातीय सहभोज उसे नष्ट करने के लिए नहीं अपनाया गया है ? क्या वर्णभेद, जातिभेद तथा वेदशास्त्रानुसार जन्मना ब्राह्मण, जन्मना क्षत्रिय, जन्मना वैश्य, के लिए विहित वैदिक विधानों एवं उनकी विशेषताओं पर भी कभी विचार किया है ?

इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के अनेक दर्शनों में अद्वैत-दर्शन भी एक दर्शन है। अधिकांश हिन्दू न उसे मानते हैं और न तो उसके अधिकारी ही हैं। फिर जब भारत में ही हिन्दुओं में ही सब उस ज्ञान को नहीं मानते तो संसार के अन्य राष्ट्र उसे कैसे मान लेंगे ?

वस्तुतस्तु समाज-व्यवस्था एवं विश्व-व्यवस्था के लिए पूर्वोक्त एकत्व-ज्ञान ही पर्याप्त नहीं। तभी तो नीतिशास्त्रों में चार विद्याओं में आन्वीक्षिकी को भी एक विद्या कहा गया है। त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति का भी अत्यन्त उपयोग है। तभी श्रीराम एवं युधिष्ठिर का काम केवल एकताज्ञान से नहीं हो सका। अध्यात्म-विद्या से आत्मा से नित्यता का ज्ञान होता है। धैर्य एवं सहिष्णुता बढ़ती है। इससे अद्वैतज्ञान के बिना भी सजातीयता-ज्ञान से ही परसुखार्थ प्रवृत्ति होती है। 'परोपकार परमपुण्य है, आत्मोद्धार का साधन है, परोपकार से ईश्वर प्रसन्न होते हैं,' इस बुद्धि से भी परसुखार्थ या परदुःखनिवारणार्थ प्राणियों की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति द्वैतवादियों, विशिष्टाद्वैत वादियों की भी होती है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य-योग के अतिरिक्त ईसाई मुसलमानों में यह प्रवृत्ति है ही। बल्कि आज के व्यवहार में तो ईसाई जितनी लगन के साथ वनों, पहाड़ों में असभ्य असंस्कृत मनुष्यों में घूम-घूमकर उनसे मिल-जुलकर उनके हितार्थ जितना प्रयत्न करते हैं, उतना अन्य लोगों में देखा भी नहीं जाता। गलित कुष्ठ तथा अन्यान्य विभिन्न भीषण रोगों के रोगियों की जितने सौहार्द्र से वे लोग सेवा करते हैं, उतना अन्य लोगों में नहीं देखा जाता। यदि उनमें धर्मान्तरण द्वारा स्वसम्प्रदायवृद्धि की भावना है तो कोई-न-कोई तो कामना आपके संघटन में भी है ही। मनु के अनुसार अकाम की तो कोई चेष्टा होती ही नहीं :

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्। (म० २.४)

'जानाति, इच्छति, अथ करोति' के नियमानुसार हर प्राणी जानता है, इच्छा करता है, तभी कुछ करता है।

बोधिसत्व (बौद्धों) में किसी नित्य, अखण्ड एक आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत नहीं है। क्षणिकविज्ञान की आलयविज्ञानधारा ही उनका 'अहं' है। प्रवृत्तिविज्ञानधारा को समाप्त करके आलयविज्ञानधारा का भी निर्वाण होना उनका पुरुषार्थ है। तो भी एक-एक बोधिसत्वों ने अपने लाखों जन्मों के जीवन दूसरों की क्षुधानिवृत्ति आदि क्षणिक सुखों के लिए उत्सर्ग किये हैं। किसी एक नाग का प्राण बचाने के लिए जीमूतवाहन ने अपने आपको प्रसन्नता से गरुड़ को भोजन के रूप में दे दिया। क्षुधातुर व्याघ्र को क्षुधानिवृत्ति के लिए बोधिसत्वों ने अपने शरीर को समर्पण कर प्रसन्नता का अनुभव किया है।

किसी बुद्ध के शिष्य ने बुद्ध से प्रार्थना की कि उसे धर्मप्रचार की आज्ञा मिले। बुद्ध ने कहा : 'यदि लोग तुम्हारी बात न सुनें तब ?' उसने कहा : 'मैं समझूंगा कि सुनतेभर नहीं, पर गाली तो नहीं देते।' बुद्ध ने कहा : 'यदि गाली भी दें तो ?' शिष्य ने कहा : 'तो मैं समझूंगा गाली ही तो देते हैं, मारते तो नहीं।' बुद्ध ने कहा : 'यदि मारें भी तो ?' उसने कहा : 'मैं समझूंगा कि एक-आध दण्डप्रहार ही तो करते हैं, प्राण तो नहीं लेते।' बुद्ध ने कहा : 'यदि प्राण भी ले लें तो ?' उसने कहा : 'यही समझूंगा कि उसने हम पर कृपा की, हमें क्षमा का अवसर दिया; देहबंधन से छुड़ा दिया।'

अनेक बोधिसत्वों का यह अखण्ड निर्णय है कि "संसार के अनन्त प्राणियों की दुःख-निवृत्ति एवं सुखप्राप्ति के लिए मेरा बार-बार जन्म हो और उसी कार्य में मेरी देह, इन्द्रिय, मन आदि का निरन्तर उपयोग होता रहे। जहाँतक संसार के सब प्राणियों का निर्वाण नहीं होता, वहाँतक मुझे निर्वाण की आवश्यकता नहीं।' निःस्वार्थ-निष्काम विश्वप्रेम का उदाहरण इससे अधिक क्या हो सकता है ?

ऐसे प्रेम ज्ञानशून्य प्राणियों में भी होता है। चकोर को 'स्वांगारि' कहा जाता है। अंगार भक्षण कर वह अपने अंग का चिताभस्म इसलिए बनाना चाहता है कि 'भगवान् शंकर चिताभस्म धारण करते हैं। यदि कभी मेरे शरीर की चिताभस्म को भगवान् चन्द्रशेखर ने अपने भाल पर धारण कर लिया तो वहाँ मेरे परमप्रिय चन्द्र से मेरा सम्मिलन हो जायगा।' क्या यह प्रेम उसे ब्रह्मज्ञान से हुआ है ?

इतना ही क्यों, महाकवि भवभूति तो दृढतासे कहते हैं कि प्रीति किसी सूक्ष्म आन्तरिक हेतुओं से होती है, वह बाह्य उपाधियोंकी अपेक्षा नहीं करती। तभी तो कहाँ कितनी दूर भगवान् सूर्य हैं और उनसे कितनी दूर कमल है, पर

सूर्य के उदित होने पर ही कमल विकसित होता है। कहाँ चन्द्रमा रहते हैं और कहाँ चन्द्रकांत-मणि ! दोनोंमें कितनी दूरी का अन्तर है, तो भी चन्द्रोदय होने पर चन्द्रकांत द्रवित होने लगता है, यह स्वभावसिद्ध आन्तरिक हेतु का ही परिणाम है।

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः,
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

वेदान्त-विज्ञान में तो स्व-पर-भेद, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के भेद, सभी भेद समाप्त हो जाता है। सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदशून्य शुद्ध ब्रह्म ही रहता है। उसमें सेवक-सेव्य या उपकार्य-उपकारकभेद रहता ही नहीं। अतएव सुख, दुःख एवं उसकी प्राप्ति-निवृत्ति एवं उनके साधन कुछ नहीं रह जाते। इसीलिए वेदान्त-विज्ञान में सारी प्रेरणाएँ, प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। तभी उसका एक नाम 'नैष्कर्म्य' भी है। जिसमें पंच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर, निश्चेष्ट हो जाती हैं, बुद्धि भी जिसमें निश्चेष्ट-निर्व्यापार हो जाती है; उसे ही 'परागति' कहते हैं :

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

ऐसी स्थिति में स्वभावतः तत्त्वज्ञानी निवृत्ति-परायण होते हैं। आत्मा स्वभाव से निर्व्यापार, कूटस्थ है। जवाकुसुम के संसर्ग से जैसे स्वच्छ स्फटिक में लौहित्य की प्रतीति होती है, वैसे ही व्यापारवान् देहादि के आध्यासिक संसर्ग से निर्व्यापार आत्मा में व्यापारवत्ता की प्रतीति होती है।

कोई आधिकारिक मनु, वशिष्ठ, व्यास आदि तत्त्ववित् ही लोकसंग्रह के अधिकारी होते हैं, वे ही अपने दीर्घकालिक प्रारब्ध के अनुसार प्रातिभासिक जगत् में प्राणिहितार्थं स्वयं भी धर्मानुष्ठान करते और संसार के प्राणियों को भी सन्मार्ग में प्रवृत्त कराते हैं। प्राणी के अनुग्रहार्थ उन्हींकी प्रवृत्ति होती है, सभी ज्ञानियों की नहीं।

यही बात भगवान् व्यास ने वेदान्त-दर्शनमें कही है : **यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्** (३.३.३२)। यहाँ आधिकारिक वे लोग कहे गये हैं, जिन्हें उनकी विशिष्ट कर्मोपासनाओं के अनुसार ईश्वर ने विशिष्ट अधिकार दिये हैं। जैसे किसीको इन्द्रपद, किसीको वसिष्ठपद, किसी को व्यासपद आदि। यदि बीच

में ही हेतुविशेष से उनकी देह छूटे तो भी उन्हें पुनः देह ग्रहण करनी पड़ती है। अधिकार-समाप्तिपर्यन्त वे अपने अधिकार का काम करते हैं। उन अधिकारियों की मुक्ति कैवल्यपदप्राप्ति, अधिकारस्थिति तक नहीं होती, किन्तु उनकी अवस्थिति बनी रहती है। 'आधिकारिक' का अर्थ साधारण अधिकारी या व्यक्ति-सामान्य नहीं होती।

भक्तिपक्ष में भी जो केवल ईश्वर में, विशेषतः मूर्ति आदि में ही प्रेम करता है, भक्तों या अन्यों में जो प्रेम नहीं करता वह सामान्य भक्त है। मध्यम श्रेणी का भक्त ईश्वर में प्रेम, ईश्वरभक्तों से मैत्री, बालिशों-अनभिज्ञों पर कृपा एवं दुर्जन-द्वेषियों की उपेक्षा करता है :

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
(भाग० ११.२.४६)

जो सभी प्राणियों में भगवान् की सत्ता और भगवान् में ही सर्वभूतों का सन्निवेश देखता है, वह उच्च भक्त होता है। ईश्वर ही जीवरूप से सब प्राणियों में विराजमान है, इस दृष्टि से भक्त श्वान, श्वपाक, गो, गर्दभ सभीको भगवद्-बुद्धि से नमन करता है :

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ आश्वचण्डालगोखरम्॥

वह किसी प्राणी का अपमान अपने प्रभु का ही अपमान समझता है। प्राणियों का सम्मान भगवान् का ही सम्मान समझकर सबका आदर करता है। इतना ही नहीं, अचेतनप्राय आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, नक्षत्रगण, नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष आदि को भी विराट् भगवान् का ही शरीर समझकर प्रणाम करता है :

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(भाग० ११.२.४१)

जातक जलचर थलचर बासी। नभचर जड़ चैतन्य प्रकासी॥
सीय राम मय सब जग जानी। करहु प्रणाम जोरि जुग पानी॥

उमा जे रामचरण रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध॥

निष्कर्ष यह कि शुद्ध ब्रह्मज्ञान में कुछ अधिकारियों को छोड़कर निवृत्ति ही अभीष्ट है। **जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्** के अनुसार अन्तर्मुख साधक को जनकृपा एवं निष्ठुरता दोनों का ही त्याग करना चाहिए।

आधिकारिकों की प्राणियों के अनुग्रहार्थ जनोपकार में प्रवृत्ति होती है। भक्त की भगवत्सेवाबुद्धि से लोकोपकारार्थ प्रवृत्ति होती है। अन्यान्य धार्मिक ईश्वरवादी भी पुण्यप्राप्ति की दृष्टि से जनसेवा में संलग्न हो सकते हैं। बौद्ध बोधिसत्वों ने भी अभ्यास करते-करते सेवा एवं परहितार्थ स्वात्मोत्सर्ग का स्वभाव बना लिया। वैदिक साधक विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत की अहंग्रहोपासना करनेवाले समष्टि प्रपंच को स्वात्मस्वरूप हो समझकर आत्महित के समान ही समष्टि-हित में संलग्न होते हैं।

आप कहते हैं कि "जागतिक महान् लक्ष्य केवल हिन्दू ही पूर्ण कर समझता है, अन्य कोई नहीं। ऋषियों ने आत्म-जगत् में गहराई तक गोता लगाया तथा इस महान् एकता के सिद्धान्तरूप के अनुभूति के शास्त्र को आविष्कृत किया एवं परिपूर्ण बनाया।" (पृ० ९)

पर वह कौन-सा शास्त्र है? यह सब आधुनिक अधकचरे इतिहास के ही बलपर कहते हैं या कोई दुनिया के अन्य शास्त्रों के समान यह भी प्रसिद्ध है? वेद, वेदांत, दर्शनादि के किसी पुस्तक को आप न मानने की बात करते हैं और एक ऐसे शास्त्र पर गर्व भी करते हैं, क्या वह कोई आपके ही अनुभव की वस्तु है? अन्य लोग पाश्चात्त्य-जगत् के लोग आत्म-जगत् के अनुभव से शून्य हैं, यह विद्याभिमान ही है। ऊपर हम कह चुके हैं कि यहूदियों, पारसियों, ईसाइयों, मुसलमानों में भी आत्मवाद का विकास हुआ था। परोपकार, परसेवा की पद्धति उनके यहाँ भी है ही।

यह बात अलग है कि वेद अपौरुषेय एवं अनादि हैं, सर्वप्राचीन हैं। अतएव वैदिक ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति बहुत प्राचीन अथवा अनादि ही है और उसीसे और लोगों ने भी सीखा हो। पर आप तो ऐसे किसी वेदादिशास्त्र को मान्यता देने को तैयार ही नहीं। जबतक आप वेद एवं आर्ष इतिहास रामायण, महाभारत आदि मानते नहीं तबतक हिन्दुओं के आध्यात्मिक साम्राज्य का विस्तार इतना था, उतना था यह सब आपकी कल्पना कल्पना ही है; क्योंकि आधुनिक इतिहास विभिन्न लोगों की अटकलमात्र है। इसीलिए विभिन्न ऐतिहासिकों की एकवाक्यता नहीं हो पाती। इतिहास में अब भी पाश्चात्त्यों का ही गुरुत्व है। कई लोगों ने पाश्चात्त्यों का किसी अंश में खण्डन भी किया है; किन्तु उसके लिए भी उन्हें पाश्चात्त्यों की सरणि ही अपनानी पड़ी है। अन्य अंशों में वे भी

पाश्चात्त्यों के ही अनुयायी हैं। 'भारत में अंग्रेजीराज' पढ़ने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

वस्तुतस्तु वेद ही सनातन जीवात्माओं के अभ्युदय-निःश्रेयसार्थं सनातन परमेश्वर का सनातन विधान है। सम्पूर्ण संसार का वही शास्त्र है और तदुक्त धर्म ही सब धर्म था और वह सर्वत्र ही था। धीरे-धीरे उसका ह्रास होने से परिस्थितियों के प्रभाव से उसीके विकृत रूप में अन्यान्य धर्मग्रन्थ तथा अन्य धर्म प्रचलित हुए। मनु के अनुसार संसार की बहुत-सी क्षत्रिय जातियाँ ब्राह्मण-संबंध छूट जाने से वृषल हो गयीं :

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।—(मनु० १०.४३)

आपने अपनी महत्ता के पोषण में 'फिलिपाइन्स के न्यायालय के विशाल-कक्ष में मनु की प्रतिमा की चर्चा की और मानवजाति का प्रथम महान् एवं श्रेष्ठ विधि-निर्माता इस उल्लेख का उद्धरण' दिया है। (११ पृ०)

पर क्या आप बतायेंगे कि मनु ने कैसे विधिशास्त्र का निर्माण किया था ? जर्मनी के नीत्से ने भले हो मनुस्मृति का सम्मान किया हो, पर आप तो मनु को भी प्रमाण नहीं मानते। यदि आपने मनुस्मृति को देखा या पढ़ा होगा तो आपको मालूम होता कि मनु अपने को विधिनिर्माता नहीं मानते। मनु तो विधि या वैध-धर्म के लिए श्रुति को ही परम प्रमाण कहते हैं :

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।—(मनु० २.१३)

तब क्या आप भी श्रुतियों का प्रामाण्य मानेंगे ?

मनु स्पष्ट कहते हैं : **वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ** (मनु० २.१०) धर्म का स्वरूप-ज्ञान वेदों से ही होता है। इतना ही नहीं, वे **वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः** (मनु० २.१२) के अनुसार श्रुति से अविरुद्ध स्मृति एवं श्रुति-स्मृति से अविरुद्ध सदाचार एवं उन तीनों से अविरुद्ध आत्मतुष्टि के आधार पर धर्म-निर्णय की घोषणा करते हैं। मनुस्मृति के अनुसार मनु प्रथम विधिनिर्माता नहीं, किन्तु अनादिसिद्ध वेदों के अनुसार विधि-विवेचक या विधि के उपदेष्टामात्र हैं। रामायण, महाभारत से भी यही बात स्पष्ट होती है। मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतियों तथा संस्कृत-साहित्य को छोड़कर मनु की ऐतिहासिकता सिद्ध भी नहीं हो सकती; क्योंकि आधुनिक ऐतिहासिकों की दृष्टि में ऐतिहासिक काल एवं प्रागैतिहासिक काल की सीमा बहुत ही छोटी है। भारतीय आर्ष-इतिहास के अनुसार तो वर्तमान सृष्टि कुछ कम दो अरब वर्ष की सिद्ध होती है।

आपने यह भी लिखा है कि "यह केवल शुष्क ज्ञान नहीं, जो अन्य आश्रमों में बैठकर थोड़े से विचारकों के बौद्धिक अनुमानों तक सीमित रहा हो। किन्तु यह था एक सजीव विचार, जो हमारे पूर्वजों को (जिनमें विचारक, प्रशासक, व्यापारी, वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक भी थे। विश्वभ्रातृत्व का संदेश पहुँचाने के लिए दूर देशों तक भेजा।" (पृ० १०)

आपके इस कथन से मालूम होता है कि आप प्रवर्तक ज्ञान को ही सजीव ज्ञान मानते हैं, निवर्तक को नहीं। किन्तु पूर्वोक्त विवेचनों से प्रसिद्ध है कि औपनिषद ज्ञान प्रवर्तक न होकर निवर्तक हो है; क्योंकि सारी प्रवृत्ति ही काममूलक है। अकाम की कोई चेष्टा ही नहीं होती, यह मनु का मत कहा जा चुका है। फिर समाधिजन्य ऋतंभराप्रज्ञा को, जो एकान्त में ही होती है, कभी शुष्क कैसे कहा जा सकता है? समाधिशून्य, दौड़ने-घूमने में व्यस्त व्यापारियों, कलाकारों के विचारों को सजीव कैसे कहते हैं? दूर-दूर का पहुँचना ज्ञान-विज्ञान की विशेषता नहीं, किन्तु उद्योगशीलता की विशेषता है। अतएव अन्य देशों तथा धर्मवाले लोग भी दूर-दूर पहुँचे ही थे। क्या बौद्ध, ईसाई, मुसलमान लोग देश-देशांतरों में नहीं पहुँचे और उन्होंने भी अपने धर्म-संस्कृति का प्रचार नहीं किया? क्या देश-देशांतरों में उनके धर्म-संस्कृति का प्रचार नहीं? अच्छे-बुरे तो हर जगह होते ही हैं। क्या हमारे यहाँ रावण, वेन, कुम्भकर्ण, रक्तबीज, महिषासुर, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु आदि उच्छृङ्खल नहीं थे?

आप कहते हैं: "जब उन्होंने (रामकृष्ण परमहंस ने) एकबार एक गौ को हण्टर से पिटते देखा तो पीड़ा से चीत्कार कर उठे। उनकी पीठ पर चौड़ी लाल धारियाँ देखी गयीं। एक अन्य अवसर पर चरागाह में चरते हुए एक बैल के घायल होने पर खुर का चिह्न उनकी छाती पर बन गया।" (११ पृ०)

आश्चर्य है कि आप ऐसी बातों पर विश्वास कर लेते हैं, जिसमें कोई सुदृढ़ आधार नहीं है। किन्तु शिष्ट-परम्परासम्मत वेद, तदाधारित आर्षग्रंथों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। इन सब बातों का आत्मज्ञान से न कोई सम्बन्ध है, और न हो सकता है। ज्ञान तत्त्व का भासक या ज्ञापक ही होता है, कारक नहीं। किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता। तपस्या, दया, करुणा आदि के अभ्यास से जनित सिद्धिविशेष से ऐसी विलक्षण घटनाएँ हो सकती हैं। तपस्या आदि ज्ञान से भिन्न वस्तु है। एक ज्ञानहीन भी तपस्या से सिद्ध हो सकता है और ज्ञानवान् भी सिद्धि से हीन हो सकता है। वसिष्ठादि में ज्ञान एवं तप दोनों ही थे। अतः वे सिद्ध एवं ज्ञानी दोनों थे, किन्तु सिद्धि और ज्ञान दोनों एक नहीं। ईश्वर महान् ज्ञानी है, सिद्ध भी है, फिर भी संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता। यदि ऐसा हो तब तो ईश्वर की अपेक्षा जीव ही श्रेष्ठ ठहरेगा, क्योंकि जीव को अपना ही दुःख

रहेगा। ईश्वर का तो सबसे तादात्म्य होने से उसे सबका दुःख व्यापेगा। इस तरह उसे अनन्त-अपार दुःख होगा। फिर ईश्वर-सायुज्य की इच्छा भी कौन करेगा ? दया, करुणा आदि के प्रभाव से कारुणिकों एवं दयालुओं में भी आरोप या अभ्यास से ही अन्य दुःखों का संसर्ग भासित होता है। इसीलिए **न लिप्यसे लोकदुःखेन बाह्यः** ईश्वर लोकदुःख से दुःखी नहीं होता; क्योंकि वह असंग है, पुष्करपत्रवत् निर्लेप है, **असंगो नहि सज्जते, असितो नहि रिष्यते** (उपनिषद्)। असंग-स्वभाव होने से वह किसीसे सम्बद्ध नहीं होता, अबद्ध होने से क्षीण या विपन्न नहीं होता।

आप कहते हैं कि "आज महान् पैतृक दाय अपनी ही संतति द्वारा तिरस्कृत किया जा रहा है। अपने प्राचीन आदर्शों, परम्पराओं का तो उपहास करना··· इन दिनों फैशन होता जा रहा है।" (पृ० ११)

किन्तु क्या आप भी अपने परम्पराप्राप्त शास्त्रों एवं तदुक्त आचार-विचारों को ठुकरा नहीं रहे हैं ? यदि कोई प्रामाणिक ग्रन्थ मान्य नहीं, मनमानी ही आदर्शों एवं परम्पराओं की बात करनी है तो कोई भी वैसा कर सकता है; क्योंकि वह निष्प्रमाण परम्परा एवं आदर्श उसके दिमाग का फितूरमात्र है, तात्त्विक नहीं। यदि यही आदर्श एवं परम्परा राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ की है तो उससे प्रामाणिक धर्म की हानि ही होगी, लाभ नहीं और आस्तिकों को कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, सेक्युलरिस्टों जैसा इसका भी विरोध करना पड़ेगा।

पृष्ठ १३-१४ के अनुसार यह सही है कि पश्चिम में धर्महीन आध्यात्मिकता से शून्य निरंकुश राजसत्ता के विरोध में जनतन्त्र का उदय हुआ। किन्तु अन्त में औद्योगिक क्रान्ति, यान्त्रिक-विकास के कारण निरंकुश पूंजीवाद का जन्म हो गया और उसकी प्रतिक्रियारूप में कम्युनिज्म का उदय हुआ और अध्यात्मनिष्ठा, धार्मिक नियन्त्रण बिना दोनों असफल हुए हैं अथवा हो जायँगे। किन्तु भविष्य-वाणी के मिथ्या होने से ही उनकी निस्सारिता सिद्ध नहीं होती। राजनीतिज्ञों की भविष्यवाणी सिद्धों या ज्योतिषियों की भविष्यवाणी नहीं होती। वह तो कार्य-कारणभाव-निर्णय के अनुसार निर्धारित कार्यक्रम के कार्यान्वयन पर निर्भर होती है। जैसे खेती के उपकरणों के संग्रह-कार्यक्रम के कार्यान्वयन के फलस्वरूप अच्छी फसल देकर बहुत लोग अच्छे अन्न उपजने की भविष्यवाणी कर देते हैं। किन्तु ओला-पाला पड़ने या टिड्डीदल या अन्य कीट-पतंग के उपद्रवस्वरूप यह भविष्य-वाणी मिथ्या हो सकती है।

इसके अतिरिक्त कोई कितना भी अच्छा सिद्धान्त क्यों न हो, वह तबतक पड़ा-पड़ा आलमारी में सड़ता रहता है, जबतक कि उसके कार्यान्वयन के अनुरूप

योग्य व्यक्ति नहीं बनता। भारतीय नीति के अनुसार धर्म-नियन्त्रित राजतन्त्र या धर्मनियन्त्रित अन्य तन्त्र भी व्यक्ति, समाज दोनों ही के लिए कल्याणकारी है। पर आज वे सिद्धान्त जिस भारत में फले-फूले, उन्हींकी वहाँ क्यों दुर्गति हो रही है? इसीलिए कि उन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करनेवाले योग्य शासक या नेता नहीं रहे। इसी तरह कम्युनिस्टों की भविष्यवाणी भी कल्पित कार्यक्रम के विघटित होने से मिथ्या हो सकती है। हो सकता है, उचित अवसर आने पर वह सफल भी हो।

परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तवाले दो समूह जैसे एक दूसरे के प्रयुक्त उपायों को विफल करके अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहते हैं, वैसे ही पूँजीवादी और साम्यवादी एक दूसरे के प्रयुक्त शस्त्रोंका प्रतीकार सोचते और तदनुसार प्रवृत्त होते हैं। जहाँ भी शोषण, अत्याचार एवं गरीबी बढ़ती है और जहाँ योग्य नेतृत्व में विवंचना, वर्गविद्वेष, वर्गसंघर्ष, उत्तेजित किया जा सके वहीं क्रान्ति होती है। रूस, चीन के पिछड़े होने पर भी शोषण, गरीबी बढ़ने एवं योग्य नेता मिलने से क्रान्ति हो सकी। किन्तु इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी आदि ने असन्तोष असन्तुलन मिटाने का प्रयत्न किया गया; इसलिए वहाँ वैसी क्रांति नहीं हुई।

औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप भयंकर असमानता की प्रसक्ति अवश्य है और उस असमानता से साधनहीनों, अकिंचनों में असन्तोष बढ़ना भी अनिवार्य है। कल-कारखानों के विस्तार के कारण लाखों असन्तुष्ट साधनहीनों, गरीबों का संघटन भी संभव होता ही है। पूँजीपति साधनसम्पन्न होने पर भी संख्या में अल्प ही होते हैं। इस दृष्टि से अल्पसंख्यक, शोषक क्रान्ति के शिकार हो सकते हैं। यदि यह न हुआ तो भी जनतन्त्र तो आज दिन प्रायः सर्वत्र ही प्रचलित है। अतः निर्वाचन द्वारा असंतुष्ट बहुसंख्यक शोषित शासनसत्ता हथिया ही सकता है। कई स्थानों पर लाखों खर्च करनेवाले भी पूँजीपति हार जाते और कम खर्च में भी साधारण व्यक्ति जीत जाता है। कम्युनिस्टों के ये सब पुरोगम प्रख्यात हैं। फलतः दूसरे दल भी इससे चौकन्ने होकर पुरोगम की विफलता के लिए प्रयत्न करते हैं। ऐसे दल शोषण कम करने और साधनहीनों, मजदूरों को सुखी बनाने का प्रयास करते हैं। उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयास करते हैं।

सर्वत्र मजदूरों की हड़तालें चलती हैं। प्रायः उनके सामने पूँजीपति और सरकारें झुकती हैं। उनके वेतन, बोनस, भत्ता बढ़ाने का यत्न करते हैं। मार्क्स ने स्वयं इसको क्रान्ति में विघ्न माना है। उसने बार-बार सावधान किया है। कम्युनिस्टों को वेतन, बोनस, भत्ता बढ़ाने के काम में केवल मजदूरों की उत्साहवृद्धि के लिए ही बहुत कम प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि शोषित-शोषक का विरोध चूहा-बिल्ली के विरोध के तुल्य अमिट विरोध है। उसे मिटाने का प्रयत्न व्यर्थ है। यह

प्रयत्न दूसरों को ओर से ही होगा। पूँजीपति एवं तदनुसारी सरकारें भी उनके असन्तोष को बहुत थोड़े समय तक रोक सकती हैं, अधिक काल तक नहीं।

अब तो यह भी सोचा जा रहा है कि वेतन, बोनस, भत्ते के अतिरिक्त मजदूरों को आय में भी हिस्सेदार बनना चाहिए। वस्तुतः इस दृष्टिसे कम्युनिज्म विफल नहीं हुआ, किन्तु वह सभी देशों में पनप रहा है। किसी भी विश्वव्यापी कार्यक्रम के सफल होने में दो सौ, पाँच सौ या हजार वर्ष भी लग जायँ तो उसे विफल नहीं कहा जा सकता।

ध्यान रखने की बात है कि किन्हीं सिद्धान्तों का खण्डन किसी छू-मन्तर से नहीं होता। उसके लिए गम्भीर विचार आवश्यक है। उस पर विचार करने पर आपका शास्त्रहीन धर्म और आत्मज्ञान टिक नहीं सकता। क्योंकि जिन शास्त्रों के आधार पर कम्यूनिज्म का खण्डन किया जा सकता है, उन्हें आप मानते ही नहीं। आर्थिक-समस्याका हल आर्थिक दृष्टिकोण से ही करना होगा। कल्पित धर्म एवं आत्मज्ञान की बातोंसे भूखे-नंगे, गरीबों के असन्तोष को मिटाया नहीं जा सकता। भूख-प्यास तो रोटी-पानी से ही मिटती है। अतएव भारतीय शास्त्रों में भी आन्वीक्षिकी विद्या से पृथक् वार्ता-विद्या (अर्थशास्त्र) की सत्ता है। दिनोंदिन मजदूर-आन्दोलन संसार के सभी देशोंमें बढ़ रहा है। उसकी सफलता भी दिनों-दिन बढ़ रही है, यही कम्युनिज्म की सफलता है। जनतन्त्र तो आज सर्वत्र ही सिद्धान्तरूप में प्रचलित हो गया है। आज कोई राजतन्त्र या अधिनायकतन्त्र की ओर प्रवृत्त होना नहीं चाहता। जबतक दोनों वादों के सिद्धान्तों, तर्कों का उचित ढंग से खण्डन न किया जाय तबतक कुछ असफलताओं या भविष्यवाणियों की सचाई में देर होनेमात्र से उन सिद्धान्तों की पराजय नहीं कही जा सकती। कम्यु-निज्म के घोर विरोधी हिटलर की भी भविष्यवाणियाँ झूठी हुई थीं। भारतीय सिद्धान्तवादियों की भी असफलता होती है। इससे जनतन्त्र या कम्यूनिज्म किसी-की कमजोरी नहीं मानी जा सकती। उनके तर्कों का अनौचित्य दिखाना आवश्यक है।

'स्टुअर्ट मिल, वेन्थम्' आदि व्यक्तिवादियों का व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद अब पुराना हो गया। इस समय तो पार्लियामेण्टरी जनतन्त्रमें व्यक्तिस्वातंत्र्य अत्यन्त सीमित हो गया है। 'हाब्स' के दीर्घकाय में व्यक्तियोंने अपनी स्वतन्त्रता सौंप दी। 'लॉक, रूसो' आदि ने भी समाज के साथ व्यक्तिस्वातंत्र्य का मेल बिठाया है। इङ्गलैण्ड की कहावत है कि 'लड़का-लड़की के लिङ्ग-परिवर्तन को छोड़कर पालि-यामेण्ट सब कुछ कर सकती है।' हाँ, तो लोकतन्त्र ही आज सर्वत्र सफल हो रहा है, उससे भिन्न दूसरा स्पष्ट विकल्प है ही नहीं। आत्मसंयम करके व्यक्ति और समाज का सामंजस्य करना आपका कोई स्वतन्त्र एवं नया मार्ग नहीं। हरएक संघटनकारी का यह माना हुआ सिद्धान्त है।

एक कम्युनिस्ट खूबसूरत लड़की अपने सौंदर्य पर मोहित अनेक कम्युनिस्ट युवकों में अपने लिए फूट पड़ने की सम्भावना देखकर अपने चेहरे पर तेजाब डालकर अपना सौंदर्य नष्ट कर पार्टी का विघटन रोकने में सफल हुई थी। भले ही मार्क्स अपने को धार्मिक एवं आध्यात्मिक नहीं मानता, उसका आत्मसंयम और व्यक्ति-समाज-सामञ्जस्य का प्रयत्न किसी से कम नहीं था। वह चाहता तो किसी सरकार या पूँजीपति का कृपापात्र बनकर सुख से रह सकता, किन्तु वह अपने सिद्धान्त पर स्थिर रहकर अनेक दिन भूखों रहता था; लन्दन-लाइब्रेरी में कुर्सी पर बैठे-बैठे मूर्छित होकर गिर पड़ता था। वस्तुतः औद्योगिक क्रान्ति से, महायन्त्रों, कलाकौशलों के विस्तार से माली हालत में रद्दोबदल होता है। विषमता, आर्थिक असन्तुलन बढ़ता है। उत्तरोत्तर यन्त्र-निर्माण-कौशल से उत्तरोत्तर थोड़े से व्यक्तियों द्वारा थोड़े-से-थोड़े समय में अधिकाधिक माल का उत्पादन हो जाता है। लाखों मनुष्यों का काम सहस्रों द्वारा सम्पन्न हो जाता है। थोड़े-से लोगों को ही काम मिलता है। रोजी-रोजगार भी थोड़े हो लोगों को मिल पाता है। धन सिमिट कर थोड़े-से पूँजीपतियों के पास इकट्ठा हो जाता है। राष्ट्र के करोड़ों व्यक्ति बेकार, बेरोजगार हो जाते हैं। उनकी क्रयशक्ति समाप्त हो जाने से बाजारों में माल की खपत नहीं हो पाती।

सभी देशों में औद्योगिक क्रान्ति फैल जाने के कारण विदेशों में भी माल भेजना सम्भव नहीं होता। फलतः उत्पादन की रफ्तार में कमी करनी पड़ती है, मजदूरों की छँटनी करनी पड़ती है, बेकारों की संख्या और बढ़ती है. माल की खपत में और भी रुकावटें पड़ती हैं। इस प्रकार पूँजीवाद में गतिरोध उत्पन्न होता है। इस स्थिति में उत्तम नेतृत्व मिलने पर असन्तुष्ट अकिञ्चन बेकारों को भी आन्दोलन करना पड़ता है। कल-कारखानों में लगे मजदूर भी उनका साथ देते हड़ताल करते हैं। उद्योगों, महायन्त्रों के कारण एक-एक जगह लाखों की संख्या में मजदूर रहते हैं। वे सब एकत्रित हो जाते हैं। कभी सरकार या नेताओं के बीच मिलाप से वेतन-बोनस बढ़ने पर हड़ताल रुक भी जाती है, पर उत्तरोत्तर मजदूरों का असन्तोष बढ़ता है। मिल-मालिक भी वेतन, बोनस बढ़ाते-बढ़ाते परेशान होते हैं। उधर माल की खपत न होने से उत्पादन और आय में भी कमी होती है। दोनों वर्गों में मनमुटाव, संघर्ष बढ़ता जाता है। अन्त में क्रान्ति या निर्वाचन द्वारा मजदूरदल सत्तारूढ़ होता है और वह सभी उद्योगों का राष्ट्रीकरण करता है। ऐसी सरकारें मुनाफे के लिए उत्पादन न करके उपभोक्ताओं की संख्या के अनुसार उतना ही उत्पादन करती हैं जिससे खपत में बाधा न पहुँचे। वे काम के घण्टों में कमी कर अधिकाधिक लोगों को काम देने का प्रयास करती हैं। आवश्यक उत्पादन के बाद उत्पादकों को अन्य उत्पादन के काम में लगाया जा सकता है। इस

तरह योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार सबके लिए ही काम, दाम आराम वितरण की व्यवस्था की जा सकती है।

कहा जा सकता है कि पूँजीपतियों की पूँजी छीन लेना अन्याय है। किन्तु मार्क्सवादी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि पूँजीपति के पास जो धन होता है, वह मजदूरों की गाढ़ी कमायी का ही होता है। 'रिकार्डो' आदि की माँग और पूर्ति के आधार पर विनिमय-मूल्य निर्धारण किया था, किन्तु मार्क्स ने श्रम को ही विनिमय-मूल्य का आधार बतलाया है। व्यवहार में यदि कोई किसीसे २५ रु० कर्ज लेकर सूत खरीदकर अपने घर में कपड़ा बना ले और उसे बाजार में बेच दे तो उस पैसे में से २५ रु० कर्जा और उसका कुछ सूद चुकाने के बाद बचे रुपयों को उसके श्रम का ही फल माना जायगा। इसी प्रकार मिलों में उत्पादित पदार्थों को बेच देने पर जो लाभ के पैसे मिलते हैं, उनमें से लागत-खर्च (अर्थात् कच्चे माल का दाम तथा उसकी ढलाई का खर्च, मकानों एवं मशीनों के भाड़े, मशीन की घिसाई के बदले का दाम, सरकारी टैक्स, पूँजी के पैसे का सूद आदि) निकाल देने पर बाकी बचे पैसों का आधार श्रमिकों का श्रम ही है। अतः वह सब मजदूर को मिलना चाहिए। पर वह सब मिलता है मिल-मालिक को। मजदूर को तो वेतन के रूप में उसका बहुत थोड़ा-सा अंश मिलता है। अतः मजदूर का शोषण करके ही अतिरिक्त लाभ का मालिक पूँजीपति बनता है। इस तरह उसका छीन लेना दूषण नहीं।

वैसे भी मार्क्स के अनुसार संसार में कोई शाश्वत नियम नहीं है। समाज के कल्याणके लिए समय-समयपर नियम बनते-बिगड़ते रहते हैं। इससे आप भी सहमत ही हैं। सब नियमों का निर्माण—चाहे वे धार्मिक हों या राजनीतिक, राष्ट्रिय या सामाजिक—माली हालतों के आधार पर होता है। उत्पादन-साधनों में रद्दोबदल होने से माली हालतों में रद्दोबदल होता रहता है। हाथ की चक्की, जल की चक्की, भाप की चक्की, बिजली की चक्कियों के जमाने के भेद से माली हालतों में भेद होता है।

पहले हाथ के चरखे, फिर बड़े करघों से और बड़े यंत्रों से कपड़े बनते थे। पहले के कामों में बहुत लोगों को रोजी मिलती थी और अब बहुत कम लोगों को मिलती है। पहले उत्पादन करनेवालों को लाभ कम होता था, अब अधिक। पहले एक नगर को तेल पहुँचाने के लिए सैकड़ों तेलियों, हजारों बैलों, सैकड़ों कोल्हू बनानेवालों, सैकड़ों तेल पहुँचानेवालों की आवश्यकता होती थी। उन सबको जीविका मिलती थी। अब थोड़ा पैसा लगाकर एक कारखाना खड़ा करके थोड़े मजदूरों द्वारा ही सारे नगर को तेल सुलभ किया जा सकता है। अतः सब समय एक से नियम नहीं रह सकते। किसी जमीनका दाम साधारणतया

हजार, दो हजार रुपये एकड़ के हिसाब से होता है। किन्तु वही जब आबादी या कल-कारखाने के लिए ली जाती है तो जमीन का दाम बढ़ जाता है। उसी जमीन का दाम पहले हजार था तो अब लाखों हो जाता है। इस तरह जिस मानव या मानवसमाज ने उत्पादन-साधनों में रद्दोबदल कर माली स्थिति में रद्दोबदल कर दिया, उसको यह भी अधिकार है ही कि वह उत्पन्न वस्तुओं के वितरणसम्बन्धी नियमों में भी रद्दोबदल कर दे। इस तरह कभी भूमि, संपत्ति, खानों-कारखानों का व्यक्तिगत रहना उचित और न्याय्य हो सकता था। लेकिन आजकी बदली स्थिति में वह असंभव ही नहीं, हानिकारक भी है। अतः सभी उत्पादन-साधनों, लाभ (मुनाफा) कमाने के साधनों का राष्ट्रीकरण ही श्रेयस्कर है।

यद्यपि भारतीय वैदिक नीति एवं तर्कों द्वारा मार्क्स का उक्त पक्ष खण्डित ही है; तथापि इन युक्तिसंगत तर्कों का खण्डन केवल किसी भविष्य-वाणी के मिथ्या हो जाने से नहीं हो जाता। मिथ्या होने के हेतु पहले बताये जा चुके हैं। हो सकता है कि वह वाणी आगे चलकर सत्य हो। मजदूर-आन्दोलन सर्वत्र जोर पकड़ रहा है। जहाँतक विषमता और असंतोष दूर करने का प्रयत्न सफल होता रहेगा, भविष्यवादी या कम्युनिस्ट-योजना या पुरोगम सफल होने में देरी हो सकती है। किसी भी बड़े काम में देरी हो सकती है। आपके ही अनुयायी अभी तक कहाँ सफल हुए हैं? इतना ही क्यों, यदि रूस या किसी कम्युनिस्ट देश में गेहूँ, चावल की कमी या बाहर से मँगाने या कहीं अकाल पड़ जाने के कारण उसके तर्कसंगत सिद्धान्तों का खण्डन हो जाय तब तो आपकी तथाकथित आध्यात्मिक या सांस्कृतिक योजनाके सिद्धान्तों का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि आपके यहाँ अनेक बार बड़े-बड़े अकालों, अवर्षणों, भूखमरी, गरीबियों का आतंक बना था। फिर आपका इतना अच्छा सफल सिद्धान्त था तो आपके देश का पतन क्यों हुआ? पराधीनता क्यों आयी? सहस्रों वर्ष तक गुलामी क्यों बनी रही? क्या असफलता से आपके सिद्धान्तों का खोखलापन सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त साम्राज्य-विस्तारमात्र से ही यदि आपके सिद्धान्त की श्रेष्ठता मानी जाय तो इस्लाम का महत्त्व क्यों नहीं? उसका भी तो एकबार आधे से अधिक यूरोप, एशिया एवं चीन-अफ्रीका में विस्तार हुआ था। बौद्धों का अब भी बहुत से देशों पर प्रभाव है। ईसाइयों का प्रभाव कुछ कम नहीं। आज तो सबसे अधिक पतन आपके तथाकथित भारतीय सिद्धान्त का ही है।

आप लिखते हैं : 'सामूहिक हत्या, दास, शिविर, कम्यून, बलात् श्रम, मस्तिष्क-मार्जन तथा एकाधिपत्य के सभी अमानवीय यन्त्रों ने व्यक्ति को दैन्य एवं दास्य की इतनी निम्न-अवस्था तक पहुँचा दिया है जितना कि अनियन्त्रित राजसत्ता एवं पूँजीवाद के निकृष्टतम समय में भी नहीं सुना गया था।' (पृ० १५)

किन्तु यह कथन भी अत्युक्तिपूर्ण, तर्कहीन एवं निष्प्रमाण है। यह कम्यूनिज्म-विरोधी पाश्चात्त्यों का ही अन्धानुकरण है। गाली-गलौज एवं आक्रोश ही उनकी खण्डन-पद्धति है। किन्तु सभी दूसरों की व्यवस्था में ऐसे दूषणों का वर्णन कर सकते हैं। अपने विरोधियों को दण्ड देने का ढंग सर्वत्र ऐसा ही है। महाभारत के कणिक का दण्ड-विधान, कौटल्य का कण्टक-शोधन एवं स्मृति-ग्रन्थों में चित्र-दण्ड आदि का विधान है ही। आपके अनुयायी भी अभी से, जबकि वे पूर्ण शासनसत्तासम्पन्न नहीं हैं, अपने विरोधियों से कुछ कम क्रूर बर्ताव नहीं करते! कम्युनिस्ट तो सभी उत्पादन-साधनों के राष्ट्रीकरण का तर्क से समर्थन करता है। उसका चीन-रूस में उत्पादन के सर्वसाधनों का राष्ट्रीकरण करना ठीक ही था। परन्तु आपके अनुयायी जनसंघी भी तो नये सिरे से जमीन बाँटने की बात करते हैं। साथ ही वे मुआवजा भी न देने की घोषणा करते हैं। जब कि भारतीय संस्कृति के प्रमुख 'मिताक्षरा, व्यवहार-मयूख' आदि हिन्दू-ला के मूल निबन्ध-ग्रन्थ पुत्रादि का पूर्वजों की सम्पत्ति में जन्मना स्वत्व का सिद्धान्त मानते हैं और पिता को भी पूर्वजों के भूमि के दान, वितरण, विक्रयादि का अधिकार नहीं मानते। उनके अनुसार मातृगर्भस्थ शिशु के नाम भी मुकदमा चलाकर पिता द्वारा लिखा हुआ वितरण, विक्रयादि-पत्र रद्द कराया जा सकता है। उसी आधार पर लोकमान्य ने देश के स्वराज्य में अपना जन्मसिद्ध अधिकार कहा था। आपके अनुयायी किसी की वैधभूमि को छीनने और फिर से बाँटने को अपना अधिकार मानते हैं।

आप लिखते हैं : "सभी कृषि एवं उद्योगोंपर एकाधिकार कर लेने पर भी वैसी महती उन्नति नहीं की, जैसी उन्नति की आशा करना उचित था।" (पृ०१५)

यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि आज संसार में अमेरिका के मुकाबिले में दूसरा देश रूस ही है। उसकी सैन्यशक्ति, उसके आधुनिक शस्त्र अमेरिका से १९ नहीं, २१ पड़ते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों, चन्द्र-शुक्रादि ग्रहों तक पहुँचने की होड़ में रूस अभी तक अमेरिका से आगे हैं, पीछे नहीं। संसार में राष्ट्रसंघ में रूस का महत्त्व प्रख्यात है। उससे आँख मीचना वैसा ही है जैसे चूहा बिल्ली की सत्ता से आँख मीचता हो। अमेरिका वियतनाम पर हिरोशिमा-नागाशाकी के समान ही परमाणु बम का प्रयोग कर सकता था, पर रूस की खौफ से ही मार खाता हुआ भी ऐसे अस्त्रों का प्रयोग नहीं कर रहा है। रूस की इस उन्नति को झुठलाया नहीं जा सकता और न उससे आँख ही मोची जा सकती है।

कभी-कभी उत्पादन की कमी का कारण परिस्थितियाँ भी होती हैं। भारत ने भी सभी राजाओं, तालुकदारों बड़े काश्तकारों को गरीबी मिटाने के नाम पर ही समाप्त कर दिया। फिर क्या महती उन्नति हो गयी? क्या भारत को देश-

देशान्तरों से अन्न की भिक्षा नहीं माँगनी पड़ी ? पर क्या इतने से यह कहा जा सकता है कि भारत की बिलकुल उन्नति ही नहीं हुई ?

आप लिखते हैं : "व्यक्तिगत खेती का स्वीकार करना अपक्रमण नहीं, किन्तु व्यतिरेक के अनुभव का प्रयोगमात्र है। आप पूर्ण सरकारीकरण या सम्पूर्ण समूह-वाद की समालोचना करते हैं।" (पृ० १६)

तब क्या अर्ध-सरकारीकरण आपको मान्य है ? यदि हाँ, तो जिन तर्कों से अर्ध या आंशिक सरकारीकरण मान्य है, उन्हींसे सम्पूर्ण सरकारीकरण के समर्थन में क्या बाधा हो सकती है ?

भौतिकदृष्टि से उत्पादन-वितरण की व्यवस्था भी अनुचित नहीं है। साथ ही व्यक्ति एवं समाज के बीच टकराते हुए हितों के बीच समझौता भी युक्त ही है। व्यवहार में व्यावहारिक सिद्धान्तों का ही प्रयोग उचित है।

हर जगह अद्वैत या अध्यात्मवाद से काम नहीं चलता। इसीलिए क्रियाद्वैत का वर्णन किया गया है :

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।

व्यवहारमें शत्रु-मित्र, मध्यस्थ, सन्धि, विग्रह, यान, आसन आदि सभी बातें मान्य हैं। **शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः**—शम से मुनि लोग सिद्धि को प्राप्त होते हैं, भूभृत् या राजा लोग नहीं।

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।

जो मायावी के साथ मायावी नहीं होते, वे मूढबुद्धि पराभव को प्राप्त होते हैं। व्यवहार में तो जो जिसके साथ जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव ठीक होता है। मायावी से माया का व्यवहार और साधु से साधुता का व्यवहार ही उचित है :

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

आप लिखते हैं : "पशुओं के समान ही मनुष्य एक दूसरे का शिकार इसलिए नहीं करता कि यदि 'क' को 'ख' खाना चाहता है तो 'घ' को 'क' खा डालने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार आपस में एक दूसरे को विनष्ट होने से अपने को बचाने के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था या समझौता होना आवश्यक है" (पृ० १८)

यह कथन भी कोई नया नहीं, वही घिसापिटा पुराना है। हाब्स, लॉक आदि विद्वानों ने भी तो यही बताया है कि मनुष्य खंखार जङ्गली जानवरों के

तुल्य परस्पर संहार-भय से आतंकित रहकर सुख की नींद नहीं सो सकता। तभी वह सोशल कन्ट्राक्ट (सामाजिक समझौता) द्वारा राज्यव्यवस्था करता है।

महाभारत में भी मात्स्य-न्याय का वर्णन है। मात्स्य-न्याय से पीड़ित होकर ही जनता ने ब्रह्मा से शासन-व्यवस्था की माँग की। ब्रह्मा ने एक लाख अध्याय का नीतिशास्त्र दिया और कहा कि इसके द्वारा आप लोग चलकर सुखी होंगे। फिर जनता ने कहा कि 'बिना योग्य शासक के इस नीतिशास्त्र का कुछ भी उपयोग नहीं होगा। कोई भी संविधान, कानून नियम तभी सफल होता है जब उसे कार्यान्वित करने लिए उसके पीछे शासनशक्ति होती है। तब ब्रह्मा ने इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य आदि लोकपालों के तेज से एक राजा का निर्माण कर उसे शासनभार ग्रहण करने को कहा। किन्तु उसने अनिच्छा प्रकट की तब प्रजा ने ऋषियों ने उसे अमुक-अमुक लाभों में अमुक अंश करके रूप में देने का वचन दिया। ऋषियों ने अपनी तपस्या का षष्ठांश देने का वचन दिया। ब्रह्मा ने भी प्रोत्साहन दिया। उचित शासन से राजा प्रजा सभीका लौकिक-पारलौकिक कल्याण बताया, तब उसने शासनभार स्वीकार किया और यह प्रतिज्ञा की कि मैं भी जनता के हित, स्वत्व, जान-माल, जन, धर्म की रक्षा के लिए हर समय अपना रक्त बहाने, सिर कटाने तक को प्रस्तुत रहूँगा। भगवान् राम ने मानों उसीको दुहराया :

> स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
> आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
>
> (उत्तर-रामचरित १.१२)

अर्थात् लोक का आराधन या रंजन करने के लिए स्नेह, दया, सब सुख, परमप्रिय जानकी तक को त्यागने में मुझे कष्ट न होगा।

किन्तु यह बात अध्यात्मवादमें ही नहीं, कभी-कभी व्याघ्र जैसे क्रूर प्राणियों में भी आ जाती है। वे भी अपने बच्चों की रक्षा के लिए प्राण देने को तत्पर होते हैं। अतः स्वार्थ-परायणता ही प्राणी का स्वभाव नहीं, प्रेम और परोपकार भी प्राणियों में स्वाभाविक धर्म होते हैं।

> एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
> सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
> तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
> ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥
>
> (नीतिशतक, ७५)

अर्थात् जो स्वार्थ त्यागकर परोपकार करते हैं, वे सत्पुरुष हैं। जो अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए परोपकार करते हैं, वे सामान्य लोग हैं। जो स्वार्थ के

लिए परहित का विघात करते हैं, वे तो मानव-वेष में राक्षस ही हैं। लेकिन जो लोग निरर्थक परहित का विघात करते हैं, उन्हें क्या कहा जाय, समझ में नहीं आता। सर्वत्र सामान्य लोग स्वार्थी होते हैं, पर इस आधार पर कोई व्यवस्था नहीं बनती। सामान्य लोग झूठ बोल सकते हैं, घाट तौल सकते हैं; पर व्यवस्थापक यदि ऐसा करे तो अनर्थ ही होगा।

अध्यात्मका आश्रयण बिना किये भी पाश्चात्त्योंने बहुत कुछ विचार किया है। इतने मात्र से उनके खण्डन की चेष्टा करना फूंक से पहाड़ उड़ाने की चेष्टा के तुल्य है।

यूनानी सुकरात के अनुसार सदाचार के अनुवर्तन से ही सम्यग् ज्ञान उत्पन्न होता है। वह सम्यक् ज्ञान सामान्य ज्ञान से भिन्न था। उसके अनुसार न्याय, सदाचार और सुबुद्धि मनुष्यों के आन्तरिक गुण हैं। उसके अनुसार जो त्रिकालाबाध्य एकरस है, वही सत्य है।

सुकरात के ही शिष्य अफलातून ने संसार से विरक्त होकर सत्य के अन्वेषण में ही अपना सारा जीवन लगा दिया था। गति या परिवर्तन को विरोधपूर्ण समझकर अपरिवर्तनीय सत्य को ही तत्त्व समझकर उसने कृतबुद्धिग्राह्य तत्त्व माना। परमेश्वर के आग्रह से प्राप्त बुद्धि द्वारा ही उस तत्त्व का ज्ञान माना है, जो कि ठीक वेदादिसम्मत मार्ग है।

अरस्तू जीवविज्ञान का महान् पण्डित माना जाता था। उसके अनुसार विश्व का गतिदायक परमेश्वर है। वह स्वयं गतिहीन है। उसकी सत्तामात्र से विश्व पूर्णता की ओर अभिमुख होकर विकासोन्मुख है। उसकी दृष्टि से सभी वस्तुएँ बीजरूप से स्थित हैं ही। सारा वटवृक्ष बीजरूप में स्थित रहता है।

मिश्र के अलेग्जीन्ड्रिया के प्लाटिनस के अनुसार अनन्त प्रज्ञारूपिणी रहस्यपूर्ण सत्ता से ही सब वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। वह सत्ता दुर्ज्ञेय है। उसकी प्रपंचोत्पादिनी शक्ति को ही ईश्वर मानकर काम चलाया जा सकता है। वह अपने भीतर ही संकल्प से विश्वात्मा की सृष्टि करता है। क्रासिस्कन्, जानस्टोक्स एरिगेना, ऐजिलिन्स आदि दार्शनिक अफलातूनके सिद्धान्त से प्रभावित थे तो ट्रोपिनकन् एलववंटस्, आदि अरस्तू के।

देकार्ते के दर्शन में संसार आध्यात्मिक और सेश्वर है। इन्द्रियजन्य अनुभव तो मायामात्र है। ईश्वर की कृपा से मन और शरीर दोनों की क्रियाओं में सामंजस्य से जीवन चलता है।

लाइबनिटस (१६४६ ई०) ने हाब्स के भौतिकवाद का खण्डन करके मौनाड—अनुभवशक्तियुक्त अणुओं को ही सृष्टि का कारण बतलाया। यांत्रिक

नियमों का अनुवर्तन करनेवाले इन असंख्य-असमान अणुओं का अन्योन्य प्रभाव न होने पर परमेश्वर की महिमा से परस्पर सम्बन्ध भासित होता है। कार्य-कारण की परम्परा उसीसे समाप्त होती है। छोटे कीड़े से लेकर मनुष्य तक प्राणियों में देखा जाता है कि वे समान रूप से ही अपनी संतानों तथा जातियोंकी भी रक्षा करते हैं; बन्धुओं की सहायता करते हैं। कई कीड़ों में स्त्री-पुरुष-भेद नहीं रहता। उनकी देह में ही भेद होकर दूसरे कीड़े उत्पन्न होते हैं। संतान के लिए उनमें अपने शरीर के अंश को त्यागने की बुद्धि होती है। इसीलिए प्राणी पदार्थ में सुख मानते हैं—यह स्पैन्सर का मत है।

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।

(सुभाषितरत्न-भाण्डागार)

हाब्स के अनुसार प्राणी मात्स्य-न्याय से ऊबकर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को त्यागकर अनियन्त्रित शासक की शरण ग्रहण करता है। किन्तु लॉक ने नियन्त्रित शासक का समर्थन किया है। उसके अनुसार मनुष्य विवेकशील एवं सामाजिक प्राणी है। अहिंसा-सत्य का आदर करते हुए प्राणी शान्ति, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृता की ओर बढ़ता है। उसके अनुसार ईश्वर ने भूमि एवं विविध पदार्थों को सर्वसाधारण के लिए रचा है। साथ ही श्रमशक्ति भी प्रदान की है। इसीके द्वारा वह सामान्य वस्तुओं में से कुछ अपने उपयोगयोग्य बनाता है। वही उसकी निजी सम्पत्ति होती है। जंगल के फलों, नदी के पानी को श्रम द्वारा संगृहीत करने से वे उसीके हो जाते हैं। मनुष्य नैतिकतापूर्ण नैसर्गिक नियमों का अनुयायी होता है।

लॉक के अनुसार शासन की सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित होती है। किन्तु स्वतन्त्रता के साथ सतर्कता भी आवश्यक है। उसके अनुसार सतर्कता स्वतन्त्रता की सगी बहन है। जो जनता शासक को अपने कुछ अधिकार प्रदान करती है, आवश्यकता होने पर वह उसे लौटा भी सकती है।

रूसो ने स्वतन्त्रता एवं सुव्यवस्था का समन्वय किया है। उसके अनुसार अपने सब अधिकार संघ को अनुबन्ध (इकरारनामा) द्वारा समर्पण करना चाहिए। इसीसे व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा संभव है। संघ-राज्य के नियम प्रत्येक व्यक्ति की स्वीकृति से निर्मित होते हैं। समाज की इच्छा ही रूसो की सामान्येच्छा है। व्यक्तिवादियोंके अनुसार सभ्यता के पहले भी मनुष्य विवेकशील, न्याय-अन्याय का ज्ञाता था। रूसो ने यह सब राज्य द्वारा ही सम्भव बताया। अवयवों की सुव्यवस्था अवयवी की सुव्यवस्था पर निर्भर है। उसके अनुसार जनवाणी देव-वाणी है।

व्यक्तिवादियों के अनुसार सामाजिक तथा आर्थिक विषयों में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उपयोगिता एवं व्यक्तिवाद का समन्वय होना चाहिए।

व्यक्तिवाद में भी चोरी, दुराचार आदि से स्वतन्त्रता भङ्ग हो सकती है । अतः उसके अवरोध के लिए राज्य नियम बनाते हैं, वे यद्यपि स्वतन्त्रता में बाधा डालते हैं, पर आवश्यक है; क्योंकि उससे सामाजिक बाधाएँ दूर होती हैं ।

स्टुअर्ट मिल उपयोगितावादी था, पर उसने वेन्थम के उपयोगितावाद में संशोधन किया । उसके अनुसार मनुष्य केवल स्वार्थ का कठपुतला ही नहीं, किन्तु उसमें अन्य भावनाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । देशभक्ति, नैतिक-आध्यात्मिक संतुष्टि आदि की भावनाओं से ही मनुष्य के कार्य निर्धारित होते हैं । नैतिकता के आधार पर कितने ही लोग सत्य बोलकर अपने को संकट में डालते हैं । देशभक्त जन्मभर संकट झेलता है ।

वेन्थम के 'अधिक लोगों के अधिकतम सुख' के सम्बन्ध में भी आलोचना की गयी है । यदि (अ) नियम से १२ मनुष्यों को दशमात्रा प्रति मनुष्य के परिमाण सुख मिलने की संभावना है, पूर्णसुख १२० मात्रा का होगा । (ब) नियम से २० मनुष्यों को पाँच मात्रा से प्रतिमनुष्य सुख मिलने की आशा है तो पूर्ण सुख १०० मात्रा होगा । ऐसी स्थिति में व्यवस्थापक क्या करेगा ? (अ) नियम से अधिकतम सुख १२० मात्रा से सम्भव होगा, पर मनुष्यों की संख्या कम १२ होगी । इस स–ब नियम से मनुष्यों की संख्या २० बड़ी होगी, किन्तु सुख की मात्रा अल्प ५ ही है । अतः मानवतावादी यही चाहेगा कि अधिकतम लोगों को सम्भव हो तो अधिकतम सुख हो । नहीं तो जितना भी सुख हो, उतना अधिकतम लोगों को मिलना चाहिए । यह नहीं कि अल्प से अल्प लोगों को अधिकाधिक सुख मिले ।

स्टुअर्ट की 'लिबर्टी' पुस्तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सर्वोत्कृष्ट समर्थन करती है । मिल के अनुसार विचार एवं भाषण-स्वातन्त्र्य अत्यावश्यक है । **सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्**, (मनु० ४.१६०) के अनुसार भी व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का समर्थन ही है । फिर भी व्यवहार में मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकता । अतः बहुत स्वतन्त्रताओं का बलिदान चढ़ाने पर ही अन्त में स्वधर्मानुष्ठान, उपासना एवं तत्त्वज्ञान द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार एवं मुक्ति से ही पूर्ण स्वतन्त्रता संभव होती है ।

जान अस्टिन के अनुसार, जो कि वेन्थम का शिष्य था, जिस जनश्रेष्ठ की आज्ञा का पालन समाज स्वभावतः करता है, वह उस बहुसंख्यक समाज में राजसत्ताधारी है । राज्य में एक निश्चित जनश्रेष्ठ होता है, जो राज्यसत्ताधारी होता है । दैवी नियम, नैसर्गिक नियम, राज्यनियम इनमें कौन सर्वोच्चरूप से

मान्य है, इस विप्रतिपत्ति में हाब्स के अनुसार दीर्घकाय, रूसो के अनुसार सामान्येच्छा और आस्टिन के अनुसार जनश्रेष्ठ का अनुसरण ही ठीक है।

अरस्तू के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज एक प्राकृतिक संस्था है। इसका मनुष्य के साथ अङ्ग एवं अङ्गी-जैसा सम्बन्ध है। जैसे अङ्ग अङ्गी के बिना जीवित नहीं रहता, वैसे ही समाज के बिना मनुष्य नहीं रह सकता। इसलिए वे राज्य को एक आदर्श-संस्था मानते हैं। कर्तव्य-परायणता उसकी आधारशिला है। अफलातून के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ग के अनुसार ही चलना चाहिए। यही राज्य की सच्ची सेवा है। स्वधर्मपूर्ति के लिए ही समाजसेवा का उद्देश्य होता है।

कहा जाता है कि रूसो ने इसका पुनरुत्थान किया। रूसो के अनुसार नैतिकता और अधिकार केवल राज्य में ही सम्भव हो सकते हैं। बोदाँ ने राज्यसत्ताधारी को नैसर्गिक नियमों के अधीन माना था। हॉब्स के अनुसार राज्यसत्ताधारी कोई अन्याय नहीं कर सकता। रूसो भी सामान्येच्छा का क्षेत्र उपयोगितावाद तक सीमित मानता था। फिर भी वैधानिक दृष्टि से एकसत्तावादियों का राज्य सर्वेसर्वा है, वह कोई भूल नहीं कर सकता। ईसाइयों का अन्ताराष्ट्रिय धर्म भी उससे परे नहीं होता। ब्रिटेन आदि कई राष्ट्रों में राजसत्ता वैधानिक रूप में मान्य है। उसकी स्वीकृति बिना कोई काम नहीं चलता। किन्तु उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के बिना ऐसे सत्ताधारी श्रेष्ठजन कुछ भी नहीं कर सकते। अतः ब्रिटेन में सम्राट् और संसद् दोनों मिलकर सत्ताधारी है। अमेरिका में कांग्रेस ही नियम-निर्माण करती है, पर कुछ परिस्थितियों में राष्ट्राध्यक्ष का परोक्षरूप में नियम-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। रूसो के अनुसार राज्य की इच्छा का विभाजन नहीं हो सकता। हाँ, शक्ति का विभाजन हो सकता है।

आधुनिक जनवाद में यद्यपि नियम-निर्मात्री संसद् होती है, फिर भी उस संघटन की दृष्टि से निर्वाचक-गण ही पूर्ण सत्ताधारी होते हैं। अतः एक गणतन्त्र के सभी कानून जनता की इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

अठारहवीं सदी के मध्य से १९ वीं सदी तक ब्रिटेन एवं फ्रान्स में आधुनिक आदर्शवाद का प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृता फ्रांसीसी क्रांति का नारा था। वह समस्त यूरोप में गूंजा। गरीब तथा किसान-मजदूरों ने उसे अपनाया। जर्मनी प्रशासन आदि मध्य यूरोप में राष्ट्रियता का प्रसार हो रहा था।

उदारवाद के अनुसार राज्य साधन तथा उसका कार्यक्षेत्र सीमित था। उसमें स्वतन्त्रता का अर्थ है, स्वेच्छा से जीवन-निर्वाह करना। किन्तु आदर्शवाद

के अनुसार राज्य साध्य निःसीम एवं निरपेक्ष है। उसके हस्तक्षेप पर कोई प्रतिबंध नहीं। इसके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के नियमानुसार जीवन-संचालन करना है। कुछ लोग स्वतन्त्रता के लिए शक्ति-विभाजन अनिवार्य मानते थे, पर आदर्शवादी विभाजन के पक्ष में नहीं थे। उदारवाद में जन-स्वीकृति मुख्य है।

काण्ट (१७२४-१८०४) आधुनिक आदर्शका का जन्मदाता था। वह अध्यात्मवादी दार्शनिक था। काण्ट सर्वव्यापक नैतिक नियमों को व्यक्ति का प्रेरक मानता था। इन्हींके द्वारा वह इच्छाओं का संचालन और नियमन मानता था। अन्यथा मनुष्य निकृष्ट नियमों का शिकार होकर नष्ट हो जाता है। उसके अनुसार यदि नागरिक अपने कर्तव्यों का पालन करता है तो अधिकार अपने आप ही उसका अनुगमन करता है। व्यक्तिवादियों के अनुसार अधिकार की प्रधानता थी; जब कि काण्ट के अनुसार कर्तव्य की। व्यक्तिवादी स्वेच्छानुसार कार्य को ही स्वतन्त्रता कहते थे। किन्तु काण्ट नैतिक नियमानुसार जीवनयापन से ही स्वतंत्रता संभव समझता था। मद्यपान, द्यूत आदि नैतिकताविरुद्ध आचरण को स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता।

व्यक्ति ही समाज की जड़ है। उसमें खराबी होगी तो शाखाओं की खराबी रोकी नहीं जा सकती। यद्यपि काण्ट रूसो के समान ही सामान्येच्छा का समर्थक था, पर उसके लिए प्रत्यक्ष जनवाद का आश्रयण अनिवार्य नहीं। उसका सर्वमनस्तत्त्व वेदान्तियों के अखण्ड ब्रह्मतत्त्व के तुल्य है। उसके अनुसार अतिसूक्ष्म वस्तुओं में अनुभव एवं प्रयोग असंभव है। अतः विवेक ही तत्त्व-निर्णय का आधार है। विवेक के लिए परम्परा, ईश्वरीय तथा आर्षशास्त्रों का समाश्रयण अपेक्षित है। सामान्य विषयों में जनवाद द्वारा ही विवेक का सफल प्रयोग हो सकता है। पर विशिष्ट विषयों के विशेषज्ञों द्वारा ही विवेकका सफल प्रयोग होता है।

फिक्टे (१७६२-१८१४) भी काण्ट के आदर्शवाद का अनुयायी था। उसके अनुसार विचारतत्त्व से ही भौतिक-जगत् का निर्माण होता है। यह विचार बौद्धों के क्षणिक-विज्ञान के नहीं, वेदान्तियों के ब्रह्म-संवित् के तुल्य है। मस्तिष्क से उसकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। उसके अनुसार मानवजाति का इतिहास पाँच विभागों में विभक्त है। मनुष्य की प्राकृतिक स्थिति में स्वर्णयुग था। दूसरे में बाहुबल द्वारा राज्य की स्थापना हुई। तीसरे में उनमें व्यक्तिगत अधिकार के लिए मनुष्य ने संघर्ष कर व्यक्तिवाद को जन्म दिया। चौथे में सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण हुआ। इसमें वीरों का राज्य होता है। पाँचवे में आदर्शराज्य सर्वव्यापक होगा। विवेक ही सत्ताधारी का स्थान ग्रहण करेगा। पूर्ण स्वतन्त्रता एवं समानता सर्वव्यापक होगी। उसके अनुसार उपयुक्त कार्य करने की स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है। इससे भिन्न स्वतन्त्रता आत्महत्या की स्वतन्त्रता जैसी

है। काम-क्रोधादि प्रेरणाओं से रहित स्वच्छ विवेक के अनुसार कार्य करना आन्तरिक स्वतन्त्रता है। अन्य व्यक्ति का हस्तक्षेप न होना बाह्य स्वतन्त्रता है। उसके अनुसार आन्तरिक स्वतन्त्रता ही मुख्य स्वतन्त्रता है। मनुष्य तुच्छ प्रेरणाओं को पराजित कर विवेक से जीवनयापन करता है। वह बेरोजगारी का पूर्ण विरोधी था, पर साथ ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थक भी। काण्ट के मत में व्यवस्थापिका का प्राधान्य था, पर वह राजतन्त्र का पोषक था। उसके अनुसार विद्वान् ही शिक्षक और वही शासक भी होना चाहिए।

हीगेल (१७७०-१८३१) के अनुसार विचार ही एकमात्र सत्ताधारी है और सारा जगत् उसीकी रचना है। यही वस्तुगत आदर्शवाद था। जहाँ मस्तिष्क का स्वतन्त्र अस्तित्व है, वहाँ मस्तिष्क में चित्रण होने से वस्तुस्वरूप निश्चित होता है। यही आत्मगत आदर्शवाद है। किन्तु उसके वस्तुगत आदर्शवाद के अनुसार मस्तिष्क एवं वस्तु-जगत् दोनों का ही संचालन सर्वव्यापक विचारतत्व या विश्वात्मा से होता है।

बौदां (१५३०-१५९६) ने कहा था कि मनुष्यजाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है। दो शती बाद हीगेल ने इसी सिद्धांत की व्याख्या की थी। उसके अनुसार कोई अवनति भी उन्नति की पृष्ठभूमि ही है। घटनाओं का वर्णनमात्र इतिहास नहीं, किन्तु प्रगति की कहानी मानव-इतिहास है। उसके अनुसार वाद के बाद प्रतिवाद अवश्य होता है, दोनों के संघर्ष से जो तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है, उसीको 'संवाद' कहते हैं। संवाद में दोनों की विशेषताओंका सन्निवेश होता है। वह दोनों का अतिक्रमण भी करता है। प्रगति के दौरान कुछ दिनों में वह संवाद भी 'वाद' बन जाता है, क्योंकि उसके भी कुछ विरोधी होते हैं। उनका संघटन होते ही वह 'प्रतिवाद' बन जाता है। फिर भी वह पहले की अपेक्षा उच्चकोटि का होता है। इस द्वन्द्वात्मक संघर्ष द्वारा ही मानव की प्रगति होती है। मार्क्स ने हीगेल के इसी द्वन्द्ववाद को 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का रूप दिया।

हीगेल के अनुसार पहले कुटुम्ब होता है, वही वाद है। उसकी विशेषता प्रेम तथा त्याग में होती है, कुछ समय बाद समाज का जन्म हुआ। यह प्रतिवाद हुआ। उसकी विशेषता कुटुम्ब के विपरीत स्पर्धा थी। इस वाद एवं प्रतिवाद के संघर्ष से राज्य का जन्म हुआ। इस संवाद में दोनों की विशेषताओं का समन्वय हुआ। इसीलिए वह कुटुम्ब एवं समाज दोनों से ऊँची संस्था है। हीगेल इसे विश्वात्मा के प्रतिबिम्ब के तुल्य मानता था। अतिप्राचीन काल में स्वेच्छाचारी राज्यवाद था। इसके बाद जनतन्त्र का जन्म हुआ। यह प्रतिवाद हुआ। दोनों के संघर्ष से संवैधानिक राजतन्त्र का जन्म हुआ। यही सर्वोत्तम तन्त्र है। इसमें वाद और प्रतिवाद दोनों के गुण आ जाते हैं।

फिक्टे–राज्य को अन्तर्राष्ट्रिय नैतिकता के अधीन रहना उचित मानता था, किन्तु हीगेल राज्य को स्वतन्त्र मानता था। हीगेल के आदर्श समाज में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक संस्थाओं का भी स्थान था। एक-सत्तावादी दर्शनों में राजा-प्रजा के बीच इन संघों का कोई स्थान नहीं था।

एचग्रीन (१८३६–८२) ने ग्रीक-दर्शन एवं आदर्शवादी दर्शनों का अध्ययन करके एक 'आक्सफोर्ड दर्शन' का निर्माण किया। वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का प्रोफेसर था। वह अफलातून, अरस्तू की तरह राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र का एक अंग मानता था। रिचि ब्रेडले, वेसांके लिण्ड से, वार्कर आदि ग्रीन-परम्परा के अनुयायी हुए। उसके अनुसार आदर्श राज्य को नैतिक जीवन का सहायक होना चाहिए। काण्ट के समान उसके दर्शन में उदारवाद एवं आदर्शवाद का समन्वय मिलता है। वह स्वतन्त्रता एवं नैतिकता का प्रेमी था। ग्रीन राज्य को संघों का संघ मानता था। उसके अनुसार सामाजिक प्रगति तथा नैतिकता की वृद्धि में सहायक अधिकार ही वास्तविक अधिकार होते हैं। वह व्यक्तिगत अधिकारों का स्रोत राज्य एवं राज्य का आधार जन-स्वीकृति को मानता था। नैतिकता-वृद्धि, सामाजिक भलाई के कार्य की स्वतन्त्रता ही उसकी स्वतन्त्रता थी।

ब्रैडले (१८४६–१९२४) का कहना था कि मनुष्य का समाज से बाहर कोई अस्तित्व नहीं। समाज द्वारा ही उसे भाषा एवं विचार मिलते हैं। मनुष्य का शरीर एक पैतृक सम्पत्ति है, किन्तु बिना समाज के प्रगति नहीं हो सकती।

मार्क्सीय समाजवाद से कई अंशों में भिन्न समष्टिवाद है। उसे ही 'समाजवादी जनतन्त्र' या 'जनतन्त्रीय समाजवाद' कहा जाता है। इसे ही 'सुधारवादी समाज' भी कहा जाता है। इङ्गलैण्ड का मजदूर-दल इसी विचारधारा का है। 'मिल' इस वाद का उद्गम हैं।

वार्कर ने मार्क्सवाद से बचकर ब्रिटेन में समाजवादी दर्शन का निर्माण किया। वर्न स्टाइन (१८५०–१९२२) ने मार्क्सवाद का संशोधन करते हुए कहा था कि संसदीय नीति द्वारा भी समाजवाद की स्थापना सम्भव है। मार्क्स ने भी अमेरिका और इंग्लैण्ड में संसदीय व्यवस्था द्वारा भी समाजवाद की स्थापना को सम्भव माना है। एक तरह से यह दर्शन विधानवाद का समर्थक है। इनके अनुसार व्यक्ति विवेकशील होता है। वह समाजवाद के पक्ष में मत दे सकता है। पूँजीवाद का अन्त समष्टिवाद भी चाहता है, पर वह शीघ्रता नहीं करना चाहता। फिर भी उसकी दृष्टि में खजाना, खान, इस्पात, विद्युत्, यातायात आदि व्यवसायों का शीघ्र ही राष्ट्रीकरण होना चाहिए।

१९ वीं शती में फ्रांसीसी संघवाद कार्लमार्क्स (१८१८-१८७३) ने 'कैपिटल' आदि अनेक ग्रन्थों द्वारा समाजवाद एवं साम्यवाद को परिष्कृत किया। समाजवाद का प्रचलन तो बहुत पहले से ही था। अफलातून मोर आदि ने तथा उससे भी पहले धार्मिक लोगों ने भी साम्यवादी समाज का चित्रण किया था। **वसुधैव कुटुम्बकम्** की प्रसिद्धि बहुत पुरानी है, किन्तु मार्क्स साम्यवाद को अपनी नयी ऐतिहासिक विश्लेषण पद्धति से आवश्यक ही नहीं, किन्तु अवश्यम्भावी बतलाता है। एंगेल्स ने उसके काम में पूरा हाथ बँटाया। उसी दर्शन के अनुसार रूस में १९१७ में रूसी-क्रान्ति हुई। लेनिन, स्टाँलिन आदि ने और चीन के माओत्से तुंगने उस दर्शन की व्याख्या भी की।

बीसवीं शती में रूस के समाजवादी दल में भी बोलशेविक और मेनशेविक दो दल हो गये। लेनिन प्रथम दल का नेता था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से रूसी समाजवाद को याद किया जाता है। यह द्वन्द्वात्मक दृष्टि से प्राकृतिक घटनाओं की परख करता है।

स्टैलिन के अनुसार मार्क्सवाद अन्यश्रद्धा नहीं है, अतः उसकी व्याख्या समयानुसार बदलती रहती है। साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति-युग में लेनिनवाद को सर्वहारा के अधिनायकत्व का दर्शन कहा जाता है। इतिहास और समाज की आर्थिक व्याख्या, मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, वर्गसंघर्ष सर्वहारा का अधिनायकत्व का दर्शन कहा जाता है। इतिहास और समाज की आर्थिक व्याख्या मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, वर्गसंघर्ष, सर्वहारा का अधिनायकत्व उसके दर्शन के मुख्य विषय हैं।

उसके अनुसार अधिनायकत्व संक्रमणकालिक होगा। अन्त में वर्गों का अन्त एवं वर्गविहीन समाज होगा। इतिहास की प्रगति में सर्वप्रधान अर्थ-व्यवस्था है। उत्पादन के साधन एवं उत्पादन-सम्बन्ध का आर्थिक ढाँचा है। इतिहास परिवर्तन में मनुष्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु वह परिस्थितियों का दास होता है। उसके विचार भी परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं।

ब्रिटेन का बहुलवाद भी एक सत्तावाद का विरोधी दर्शन था। उसके अनुसार व्यक्ति अपने ध्येयों की पूर्ति के लिए अनेक संघ बनाता है। राज्य द्वारा सब काम पूरे नहीं होते। 'लास्की' इस दर्शन का प्रमुख विद्वान् था।

मैकाइव के अनुसार राज्य अर्थैक्य का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु सम्पूर्ण अर्थैक्य का नहीं। संघों की दृष्टि से सहयोग एवं संघर्ष विश्वव्यापी है। लास्की के अनुसार आदर्श नागरिक का प्रथम कर्तव्य अपनी आत्मा की प्रगति है। वह उसी संघ का अनुसरण करेगा जिससे आत्मतुष्टि हो। प्रगति पूर्ण करने पर ही वह

राज्यसत्ता का अधिकारी हो सकता है। इतिहास के अनुसार अनेक बार राज्य की निरपेक्षता को संघों ने सीमित किया था। आस्टिन के अनुसार अन्ताराष्ट्रिय निरपेक्षता भी असम्भव है। विश्व-जनमत का कोई राज्य उल्लंघन नहीं कर सकता। लास्की के अनुसार विश्वकल्याण में अपना कल्याण समझना चाहिए। फँसीवाद नात्सीवाद के अनुसार संघर्ष का ही बहुत महत्त्व है। डार्विनवाद के अनुसार जो संघर्ष में सफल होता है, वही जीवित रहता है। इस मत के अनुसार अन्धश्रद्धा को खूब बढ़ाने से सफलता होती है। इसीलिए राज्य, देश एवं नेता की भक्ति का खूब प्रोत्साहन दिया जाता है। रक्त की पवित्रता पर तथा भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता गौरव-गान एवं चरित्र को जीवन का लक्ष्य बतलाया जाता है। राज्य को साध्य एवं व्यक्ति को साधन कहा गया है। जनवाद की भी व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। अब्राहम लिंकन के अनुसार जनता के लिए जनता द्वारा किया जानेवाला शासन ही प्रजातन्त्र या जनतन्त्र है। प्रतिनिधि-जनवाद का आधार राष्ट्र का सामान्यहित होता है। जनवाद में जन-शिक्षा, निष्पक्ष जनमत, राजनीतिक दलों का अस्तित्व नागरिकों का शासन में सक्रिय भाग, सतर्कता एवं आदर्श निर्वाचन-व्यवस्था आदर्श है। 'राजनैतिक विचार-धाराएँ पुस्तक से यह अतिसंक्षेप में पाश्चात्त्य राजनीतिक दर्शनों का संकलन है। विशेषरूप से उसका विश्लेषण एवं उनकी समालोचना हमारे 'मार्क्सवाद और राम-राज्य' ग्रन्थ में देखें।

यहाँ यह सब दिखाने का यही प्रयोजन है कि उन दर्शनों में भी गम्भीरता है, ओछापन नहीं है, उनका ठीक से अध्ययन कर ईमानदारी से उनके पक्षों का उपस्थापन कर गम्भीर शब्दों में, ठोस तर्कों के आधार पर उनका खण्डन होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत खण्डन वैसा नहीं बन सका। इतना ही नहीं, खण्डनकर्ता का अपना भी विचार पाश्चात्त्यों के अनुसार ही इतिहासमात्र पर आधृत है। पाश्चात्त्य दर्शनों जैसे भी तर्क उनके विचारों में नहीं हैं। यदि वे भारतीय दर्शनों-धार्मिक, राजनीतिक ग्रन्थों को मानकर चलते तो कहीं अच्छे ठोस तर्कों द्वारा पाश्चात्य दर्शनों का खण्डन कर सकते थे।

आप जैसे व्यक्ति-स्वातंत्र्य को ऊँची उड़ान लगानेवालें (१४ पृ०) कम्यू-निज्म की असफलता का वर्णन करते हैं, क्या वे भी आपके भारत की पराधीनता, दरिद्रता एवं पिछड़ेपन की चर्चाकर आपके मत का खण्डन नहीं कर सकते? यदि कहें कि यह सिद्धान्त का दोष नहीं, किन्तु उसे कार्यान्वित करनेवालों कमी या दोषों के कारण भारत की यह दुर्दशा हुई है, तो ऐसा ही वे भी कह सकते हैं। जहाँ दोनों तरफ समान ही दोष और समान ही परिहार हो, ऐसे स्थलों में किसी एक पर ही दोष नहीं लगाया जा सकता।

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥

आन्तर या बाह्य किसी भी साजात्य तथा एकत्वज्ञान के आधार पर दूसरों से प्यार किया जा सकता है । पशु-पक्षियों तक में भी प्यार, त्याग, बलिदान देखा गया है । एकत्वज्ञानवाले आद्य शंकराचार्य तो कृपा और निष्ठुरता दोनों को ही परमार्थ में बाधक समझकर त्याज्य बतलाते हैं : जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् । एकत्वज्ञान का उपदेश करनेवाले भगवान् कृष्ण युद्ध का भी उपदेश करते हैं । वे निरहंकार, निर्लेप को सर्वलोक का वध करने पर भी निष्पाप कहते हैं :

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबद्धयते ॥

यदि संग्राम एवं दण्ड-विधान को प्यार का अपवाद माना जायगा तब तो यही मानना होगा कि आत्मैकत्वज्ञान के बिना नैतिकता के आधार पर भी क्षमा, दया, करुणा और प्रेम का विस्तार हो सकता है ।

आप कहते हैं कि "हम एक-दूसरे का प्यार और सेवा बाह्य सम्बन्धों के कारण नहीं, वरन् आत्मा की सजातीयता के कारण करते हैं । याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं : न वा अरे मैत्रेयि पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति । आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । अर्थात् अरी मैत्रेयि ! पत्नी पुरुष को इसलिए प्यार नहीं करती कि वह उसका पति है, वरन् इसलिए करती है कि उसमें आत्मा है । इस अर्थ में कि एक ही आत्मा सबमें होने के कारण सभी मनुष्य समान हैं । परम आत्मा के इस स्तर पर एकता संगत होती है, किन्तु भौतिक स्तर पर वही आत्मा अपने को भाँति-भाँति आश्चर्यकारक विविधताओं एवं असमानताओं को व्यक्त करती है ।" (पृ० १९) ।

यहाँ आपने श्रुति का अर्थ तो मनमानी कर दिया, लेकिन क्या बता सकते हैं कि पत्नी 'पति से प्रेम इसलिए करती है कि उसमें आत्मा है' यह किन शब्दों का अर्थ है ? शब्दार्थ तो सीधा इतना ही है कि पत्नी पति के लिए पति से प्रेम नहीं करती, किन्तु आत्मा की कामना के लिए ही वह पति से प्रेम करती है । वास्तव में आप कोई शास्त्र तो मानते नहीं, फिर शास्त्र-वचनों के उद्धरण का आपकी दृष्टि में महत्त्व ही क्या है ? इसी कारण शास्त्रवचनों का अर्थ भी आप अन्यथा ही करते हैं । यदि आत्मा होने के कारण पत्नी पति से प्रेम करती है तो आत्मा तो तटस्थ एवं शत्रु में भी होता है, फिर उनमें वह क्यों नहीं प्रेम करती ?

वस्तुतः यहाँ आत्मा का अर्थ प्रत्यगात्मा, अपनी आत्मा ही है । सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ यह है कि 'हे मैत्रेयि ! पत्नी पति के लिए पति से प्रेम नहीं करती,

किन्तु अपने आत्मा के लिए ही वह पति से प्यार करती है।' इसीलिए तो जबतक पति अपने अनुकूल रहकर अपने को सुख देता है, तभी तक उससे प्रेम रहता है। जब वही प्रतिकूल होकर दुःख का हेतु बनता है तब उससे प्रेम नहीं रहता। इसी प्रकार पति, जाया, पुत्र, वित्त, ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देव, भूत, सब के लिए कहा गया है। पति आदि मुख्य प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा के लिए ही उपर्युक्त सभी प्रिय होते हैं।

न वा अरे जायायाः कामाय…न वा पुत्राणां कामाय…
वित्तस्य कामाय… देवानां कामाय…।

संसार की संपत्ति, जाया, पुत्र, ब्रह्म, क्षत्र, देवादि से तभी तक प्रेम होता है जहाँ तक वे आत्मा के अनुकूल होते हैं। प्रतिकूल होते ही उनसे प्रेम नहीं रहता। अतः सर्वातिशायी प्रेम आत्मा में ही होता है। वही निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद है। अन्य सभी सोपाधिक एवं सातिशय प्रेम के ही आस्पद होते हैं।

अग्नि में उष्णता सदा रहती है। जलादि में अग्नि के संसर्ग से ऊष्मा आती है। अतः अग्नि में निरतिशय, निरुपाधिक उष्णता रहती है। जलादि में कभी रहती है, कभी नहीं, अतः उसमें वह सोपाधिक एवं सातिशय ही रहती है। इसी तरह संसार की पति-पुत्रादि सभी वस्तुओं में कभी प्रेम रहता है, कभी नहीं। जब वे अपने अनुकूल होते हैं तो प्रेम होता है, प्रतिकूल होनेपर नहीं होता। किन्तु अपने आत्मा में सबको सर्वदा ही प्रेम रहता है। कभी भी अपने में प्रेम का अभाव या द्वेष नहीं होता। अतः अन्य सब सोपाधिक एवं सातिशय प्रेम के आस्पद होते हैं। एक आत्मा ही निरतिशय, निरुपाधिक प्रेम का आस्पद होता है। अतः सबसे विरक्त हो आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए। उसके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। यह है उस प्रकरण का सारांश। आपका किया हुआ अर्थ सर्वथा प्रकरण, अक्षरार्थ तथा वाक्यार्थ के विरुद्ध ही है।

इस श्रुति पर आद्यशंकराचार्य का भाष्य इस प्रकार है :

> अमृतत्वसाधनं वैराग्यमुपदिदिक्षुर्जायापुत्रादिभ्यो विरागमुत्पादयति—पत्युर्भर्तुः कामाय प्रयोजनाय पतिः प्रियो न भवति, किं तर्हि; आत्मनस्तु कामाय प्रयोजनाय जायायाः पतिः प्रियो भवति…। तस्मात्तत्लोकप्रसिद्धत्वादात्मैव प्रियो नान्यत्, तदेतत्प्रेयः पुत्रादित्युपन्यस्तम्।

अमृतत्व (मोक्ष) के साधन वैराग्य का उपदेश करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि पति अर्थात् भर्ता के प्रयोजन से भार्या पति से प्रेम नहीं करती, किन्तु वह अपने ही प्रयोजन के लिए पति से प्रेम करती है। यह लोक-

प्रसिद्ध है कि आत्मा ही प्रिय होता है, अन्य नहीं। आत्मा पुत्र, वित्तादि सबसे अधिक प्रिय है। सभी आत्मप्रेम के शेष हैं और आत्मा ही सर्वशेषी है।

आचार्य-परम्परा से अध्ययन-मनन करने पर ही श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रों का अर्थ विदित होता है, मनमानी करने से नहीं। 'साम्यवाद' का नाम सुनकर आप समझते होंगे कि उसमें असमानता रहती ही नहीं, पर यह भी भूल है। सबका समान शरीर, समान नाक-कान, समान हाथ-पाँव, समान भोजन, समान बुद्धि, समान काम, इस प्रकार की समानता साम्यवादियों को भी इष्ट नहीं। किन्तु शिक्षा पाने, काम करने और काम का पूर्ण फल पाने का सबको समान अवसर मिले, यही साम्यवादियों की समानता का अर्थ है। तथा च, स्वाभाविक असमानता को ऊपरी समानता के आधार पर पूर्णरूपेण दूर करना कभी अभीष्ट नहीं है। फलतः पृष्ठ १९-२० का आपका उपर्युक्त कथन अनुक्तोपालम्भ ही है।

आप कहते हैं कि "कम्यूनिज्म भी एकता की अपनी घोषित कल्पनाओं में से किसी एक को भी साकार करने में पूर्ण असफल हो चुका है। उसने कल्पना की थी कि श्रमिक का एकाधिपतित्व स्थापित हो जाने पर सभीके भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताएँ पूरी हो जायँगी। उस स्थिति में संघर्षों के लिए कोई स्थान न रहेगा। इसलिए केन्द्रीय प्रभुत्व की आवश्यकता न रहेगी। इस प्रकार राज्य लुप्त हो जायगा और एक शासनरहित समाज का उदय होगा।"··· इस मत की समालोचना करते हुए आप फिर कहते हैं : "यदि मनुष्य केवल एक पशु है अर्थात् भौतिक जीवमात्र है तो वह एक दूसरे का भक्षण केवल इसलिए नहीं करता कि उसे जो भी कोई अधिष्ठित सत्ता है, उसका भय है। किन्तु जब वह शक्ति अथवा प्रभुत्व नहीं रहेगा तो बिना कलह के वे क्यों रहेंगे ? पशु के रूप में मनुष्य मनोवेगों का शिकार है और मनोवेगों को जब तुष्ट किया जाता है तो वे और भी अधिक तीव्र हो जाते हैं। ऐसा असंतुष्ट मनुष्य दूसरों के साथ प्रेम एवं शान्तिपूर्वक कैसे रहेगा ? इस बात का भी क्या भरोसा कि अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी मनुष्य, जो कि पशुओं की अपेक्षा अधिक चतुर है, 'न खाओ, न खाने दो' की नीति का अनुसरण न करेगा ? यदि समानता स्थापित हो भी गयी, तो वह पुनः उस असमानता की ओर ले जायगा। इस प्रकार एक अन्य खूनी क्रांति आवश्यक हो जायगी।" (पृष्ठ २०)

लेखक किसीके मत को ईमानदारी के साथ नहीं पढ़ते और न किसी ठोस तर्क के आधार पर उसका खण्डन करते हैं। हम पहले पाश्चात्यों के अनेक मतों का उद्धरण दे आये हैं, जिनमें कहा गया है कि क्षमा, दया, करुणा एवं प्यार भी मनुष्य ही नहीं, पशुओं तक में पाया जाता है। मनुष्य केवल स्वार्थी ही नहीं

होता, परोपकारी एवं देशभक्त भी होता है। मनुष्येतर प्राणियों में भी मधुमक्खी, कपोत आदिकों में संघटन एवं एकता होती है। किसी भी संघटन के लिए शिक्षा, सहिष्णुता, परोपकार आदि अपेक्षित होते हैं। जब राष्ट्रिय संघटन में यह आवश्यक है, तब अन्ताराष्ट्रिय संघटन में क्यों नहीं?

यदि कोई मानवता के नाते मनुष्य का उपकार एवं समन्वयवृत्ति से सुख-शान्ति से न रह सकेगा, तो वह आध्यात्मिकता मानकर भी वैसा नहीं कर सकता। अध्यात्मवादी भी स्वार्थ से प्रेरित होकर सुख-शान्ति के लिए खतरनाक होते थे। पुराणों के असुर और राक्षस भी अध्यात्मवादी थे। रावण आदि भी अध्यात्मवादी थे, किन्तु उनसे संसार में उत्पात ही बढ़ा। हिटलर भी अध्यात्मवादी था। वह भी मातृ-भूमि एवं अपनी जाति का गौरवगान करता था; पर क्या वह शान्ति का संस्थापक था?

वस्तुतः अध्यात्मवादी को भी धर्मशास्त्र-प्रामाण्यवादी होना चाहिए, व्यवहारशून्य समाधि में जबतक रहें तबतक भले ही शास्त्र अनावश्यक हों, पर समाधि खुलते ही और व्यवहार सामने आते ही धर्मशास्त्र एवं व्यवहारशास्त्र की मान्यता अत्यन्त अनिवार्य है। अन्यथा अध्यात्मवाद भौतिकवाद से भी अधिक खतरनाक सिद्ध हो सकता है। अध्यात्मवादी हजारों प्राणियों की हत्या करता हुआ भी कहता रहेगा कि आत्मा अजर-अमर है, न आत्मा किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है : **नायं हन्ति न हन्यते। हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबद्धयते।** ज्ञानी सर्वलोक की हत्या करके भी उससे लिप्त एवं बद्ध नहीं होता। अभक्ष्यभक्षण, अगम्या-गमन करता हुआ, जाति-पाँति को तोड़ता हुआ भी कहेगा कि सब एक ही आत्मा है। सबसे रोटी-बेटी, भ्रष्टाचार का प्रचार करता हुआ भी अपने को नित्य शुद्ध-बुद्ध आत्मा घोषित करता रहेगा। इसीलिए शंकराचार्य आदि ज्ञानी सब आस्तिक थे एवं वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य मानते थे। इसलिए उनसे कोई खतरा नहीं था। किन्तु आप तो किसी भी पुस्तक (धर्मशास्त्र) को नहीं मानते। फिर सर्वत्र आत्मा की एकता का ज्ञान होने पर भी आपके अनुयायियों का नियन्त्रण कैसे होगा? ऐसा धर्मशास्त्रोक्त धर्मकर्महीन ब्रह्मज्ञान निन्द्य ही है। कहा भी है :

कलौ वेदान्तिनः सर्वे फाल्गुने बालका इव।
कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेऽप्यज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च॥

इसीलिए जो अज्ञ, अल्प-प्रबुद्ध को 'सर्वं ब्रह्म ही है' यह कहता है, वह उसे नरक में ही भेजता है :

अज्ञस्याल्पप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥
ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, करहिं न दूसरि बात।
कौड़ी कारन मोहवश, करहिं विप्र गुरु घात॥

यदि आप व्यवहार-शुद्धि के लिए व्यावहारिक, चारित्रिक सदाचार आवश्यक समझते हैं तो आपको मालूम होना चाहिए कि कम्युनिस्ट भी मानवोचित सद्‌गुणों का प्रचार करता है। अतः उन्हींके आधार पर शासनरहित मानव-समाज बन जाने पर व्यवहार चल सकेगा।

धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहार करनेवाले सदाचारी, संयमी के तत्त्वज्ञानी होने पर और विधि-निषेधातीत हो जाने पर भी उसकी दुराचार में प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु पूर्व-संस्कार के अनुसार वह धर्मनियन्त्रित जीवन ही यापन करता है। इसी तरह राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रिय सदाचारों का पालन करते हुए नियन्त्रित एवं सभ्य नागरिकों की शासनहीन समाज में भी सदाचारविरोधी प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु पूर्व के संस्कारों एवं आदतों के अनुसार उनकी सदाचार-नियन्त्रित ही प्रवृत्ति होगी। नियन्त्रित जीवन ही सभ्यता है। अनियन्त्रित जीवन तो असभ्यता ही है। व्यावहारिक सदाचार न माननेवाला अध्यात्मवादी भी असभ्य होता है और व्यावहारिक सदाचार माननेवाला भौतिकवादी भी सभ्य। काम, क्रोध आदि मनोवेगों की प्रेरणा से रहित एवं अधिकार-प्रधान न होकर कर्तव्यनिष्ठ होने से ही अध्यात्मवादी भी सभ्य होता है। उपर्युक्त ढंग से ही भौतिकवादी भी सभ्य हो सकता है। अध्यात्मवाद द्वारा भी प्राप्त की गयी समानता प्रमाद से पुनः विषमता के रूप में परिणत हो जाती है। तभी तो कभीका सभ्य समुन्नत भारत भी आज असभ्य एवं अनुन्नत हो रहा है।

आपका यह कहना भी ठीक नहीं कि 'इस प्रकार जो चित्र दृष्टिगोचर हुआ, उसमें न तो केन्द्रीय सत्ता के लुप्त हो जाने के ही लक्षण हैं और न संयोगवश प्रभुत्व का लोप होने की दशा में शान्ति के उदय की ही कोई सम्भावना है। इसमें कम्युनिस्ट राज्य ने गत पचास वर्षों में भी अपने लुप्त होने का कोई चिह्न प्रकट नहीं किया।…यह सैद्धान्तिक आधार की पूर्ण असफलता का जीवन्त प्रमाण है। (पृ० २१)

यह कहना सिद्धान्त न समझने का ही दुष्परिणाम है। मित्रों के प्रश्न पर लेनिन ने स्पष्ट उत्तर दिया था कि जबतक संक्रमण-काल है तबतक सर्वहारा का अधिनायकत्व ही कल्याण का मूल है और संक्रमण-काल तबतक रहेगा जबतक संसार के किसी भी कोने में पूंजीवाद रहेगा। उसके समाप्त होने के पहले राज्य-

लोप होने से प्रतिक्रियावादी एवं पूँजीवादी राष्ट्र श्रमिक संघटन एवं उसकी सभी योजनाओं के लिए भीषण खतरा उत्पन्न कर सकते हैं।

पूँजीवाद का अर्थ है उत्पादन-साधनों भूमि, सम्पत्ति, खानों, कल-कारखानों का वैयक्तिक होना। उसके मिटने में जितनी देरी है, उतनी ही देरी राज्य लुप्त होने और शासनरहित समाज बनने में है। आम तौर पर जैसे कुटुम्ब या परिवार के लोग चाहे भौतिकवादी हों, चाहे अध्यात्मवादी, सब बातों का समाधान आपसी तौर पर कर लेते हैं, हर बात में पुलिस-अदालत या पार्लियामेण्ट का सहारा नहीं ढूँढते, वैसे ही समष्टि विश्व में भी यह स्थित लायी जा सकती है। इसीको **वसुधैव कुटुम्बकम्** के नाम से भारत में भी याद किया जाता है। कोई भी बड़ा काम बड़े परिश्रम, बड़ी योजना एवं व्यवस्था से होता है, छू-मन्तर या जादू की छड़ी से नहीं। अध्यात्मवाद के भी किसी आदर्श की प्राप्ति में पर्याप्त विलम्ब लगता ही है।

आपने फिर

न राज्यं न च राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

तथा **धर्मो हि तेषामधिको विशेषः** की बात उठायी और साथ ही यह भी कहा कि 'सदाचरण की संहिता है धर्म' (पृ० २१)। परन्तु अन्यत्र आप कहते हैं : 'हम कोई पुस्तक नहीं मानते।' ऐसी स्थिति में सदाचार-संहिता भी तो किसी पुस्तक-रूप में संकलित है या मनमानी? क्या मनु, याज्ञवल्क्यादि के धर्मग्रन्थ सदाचरण-संहिता नहीं हैं? यदि हैं तो अन्य कैसे कहते हैं कि 'कोई पुस्तक नहीं मानेंगे?' फिर ऐसी संहिताएँ तो सभी देशों में होती हैं। संविधान भी तो एक प्रकार की सदाचरण-संहिता ही है।

वस्तुतः इस दृष्टि से आपका मत भारतीय शास्त्रों एवं सिद्धान्तों से बहुत दूर है। वह तो पाश्चात्यों का ही उच्छिष्ट सार-संग्रह है। विशेषतः हिटलर के नात्सीवाद का रूपान्तर ही आपकी राष्ट्रियता है। आप शास्त्रों को सर्वथा नहीं मानते और न अपने एवं अपने अनुयायियों को शास्त्रवचनों से बाध्य मानते हैं। केवल अपनी कल्पनाओं को महत्त्व देने के लिए ही शास्त्रवचनों का नाम लेते हैं। पाश्चात्य लोग अपनी परम्पराओं एवं धर्मग्रन्थों का सम्मान करते है, पर आप अपने संघ को परम्पराप्राप्त मन्वादि धर्मशास्त्रों से प्रोक्त धर्म या सदाचरण से विरुद्ध ही चलने का प्रोत्साहन देते हैं।

आपका धर्म आपकी व्याख्या के अनुसार तथाकथित यम एवं नियम है। उसका भी कोई प्रामाणिक शास्त्रीय आधार नहीं है। आपकी अपेक्षा पाश्चात्य लोग

कहीं अच्छे ढंग से नैसर्गिक नियमों की व्याख्या करते और मानते हैं। पाश्चात्यों के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के बिना टिक नहीं सकता। अतः उसे समाजहित के साथ अपने हित का सामंजस्य करना ही चाहिए। आप यदि शास्त्रवचनों का उद्धरण देते हैं तो उनका अर्थ भी शास्त्रीय ढंग से ही करना चाहिए। वस्तुतः शास्त्र-प्रामाण्य मानकर, शास्त्रोक्त तर्कों का मनन करके ही पाश्चात्य भौतिकवाद, साम्यवाद या समाजवाद या भौतिक पूँजीवाद का खण्डन किया जा सकता है। शास्त्र का अप्रामाण्य घोषित करते हुए भी शास्त्र की ही बातों को लेकर अपने मन्तव्य का महत्त्व वर्णन करना वस्तुतः निर्लज्जता ही है। 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तक में विस्तार से मैंने अन्य पाश्चात्य वादों के साथ ही मार्क्सवाद का भी खण्डन किया है, उसे वहीं देखना चाहिए।

वस्तुतः **न वै राज्यं न राजासीत्** (महाभा० शान्ति० ५९-१४) के द्वारा बतलाया सिद्धान्त सार्वत्रिक नहीं है। वह व्यवस्था कृतयुग की है। उक्त वचन आर्ष-इतिहास महाभारत का है, दर्शन का नहीं। आप उसके पूर्वापर और प्रसंग को बिना देखे मनमानी अर्थ करते हैं। प्रसङ्ग के अनुसार उसका यह अर्थ है कि कृतयुग या सत्ययुग में सभी मनुष्य ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, ब्रह्मविद्वरिष्ठ एवं धर्म-नियन्त्रित धर्मनिष्ठ थे। अतः सब सबमें परमार्थतः अभिन्न ब्रह्म का दर्शन करते थे, व्यवहारतः धर्मनिष्ठ होने से एक दूसरे के पोषक एवं रक्षक ही थे। कोई किसी का शोषक या भक्षक नहीं होता था। इसीलिए उस समय आवश्यक न होने से राजा, राज्य एवं दण्डविधान कुछ भी नहीं था। धार्मिक नियमों के आधार पर ही धर्म-नियन्त्रित प्रजा बिना राजा के ही आपस में एक दूसरे का रक्षण करती थी।

किन्तु वहीं अगले प्रसङ्ग में स्पष्ट वर्णन है कि कालक्रम से प्रजा में मोह का प्रवेश हुआ। ज्ञान-विज्ञान एवं धर्मनिष्ठा में ह्रास होने से काम-क्रोध के विस्तार से मात्स्य-न्याय फैल गया। पुनश्च प्रजा की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने राजनीति एवं राज्य-व्यवस्था की स्थापना की। वस्तुतः शाश्वत ईश्वर एवं शाश्वत ईश्वरीय संविधानरूप शास्त्र न मानने के कारण कोई धार्मिक नियम निर्धारित नहीं होते। भारत में वह शाश्वत संविधान एवं तदनुसारी धर्म निर्धारित है। इन देशों में भी कोई-न-कोई धर्मग्रन्थ एवं धार्मिक नियम मान्य हैं। किन्तु मार्क्स ईश्वर, आत्मा एवं शाश्वत धर्म नहीं मानता। इसीलिए वह व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदि के राष्ट्रीकारण का सिद्धान्त मानता है। दूसरी कई भारतीय या अभारतीय पार्टियाँ ईश्वर, धर्मग्रन्थ, धर्म एवं संस्कृति का नाम लेती हुई भी किसी सुस्थिर शास्त्र का प्रामाण्य एवं धर्म का सुस्थिर स्वरूप नहीं मानतीं। वे अनिश्चित धर्मपरिवर्तन का सिद्धान्त मानकर समय-समय पर धार्मिक-सामाजिक नियमों में परिवर्तन मानती हैं। ऐसी स्थिति में वे भी मार्क्सवादियों के समान ही भूमि और सम्पत्ति का

राष्ट्रीकरण मानती हैं । कई लोग नये सिरे से भूमि के वितरण आदि का सिद्धान्त कहते और कार्यान्वित करते हैं । फलतः उनमें और मार्क्सवादियों में कोई अन्तर नहीं । हाँ, मार्क्सवादियों के तर्क पुष्ट हैं, जब कि इनके तर्क निःसार ।

महायन्त्र-युग में यदि भूमि-सम्पत्ति, कल-कारखानों एवं खानों के मालिक व्यक्ति ही रहेंगे तो बेकारी-बेरोजगारी की समस्या का समाधान कैसे होगा ? आर्थिक असंतुलन कैसे मिटेगा ? इसका उत्तर मार्क्स के मत में राष्ट्रीकरण है । अन्य लोगों के यहाँ इसका कोई भी समाधान नहीं । किन्तु मार्क्स द्वारा ईश्वर, आत्मा एवं शाश्वत धर्म के खण्डन में प्रयुक्त तर्क निःसार है । संसार की कोई भी क्रिया या कार्य चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, बिना ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् चेतन के नहीं होता । मिट्टी के घड़े, लकड़ी के मेज से लेकर महायन्त्रों तक यही देखा जाता है । ऐसी स्थिति में सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी, वन-पर्वत, पशु-पक्षी, मनुष्य तथा उसके दिल-दिमाग, बुद्धि आदि के निर्माण में भी ज्ञानवान्, इच्छावान् चेतन की आवश्यकता है । इस विशाल अपरिमित प्रपंच का निर्माता शाश्वत ईश्वर है । उसका संविधान देहादिशास्त्र तथा तदुक्त नियम भी शाश्वत हैं, निश्चित हैं । वैज्ञानिक-निर्मित किसी यन्त्र का निर्माण संचालन एवं सुरक्षा वैज्ञानिक-निर्दिष्ट पद्धति से ही करनी पड़ती है, अन्यथा नहीं । इसी तरह ईश्वर-निर्मित प्रपंच के संचालन में भी ईश्वर-निर्दिष्ट पद्धति का अनुसरण अनिवार्य ही है । संसार में सूर्य, चन्द्र, शुक्र, बुध आदि की गति, उदय-अस्त सब शाश्वत नियमों पर ही निर्भर है । चक्षु से रूप, श्रोत्र से शब्द, घ्राण से गंध के ग्रहण का नियम; सामुद्रिक ज्वार-भाटा का नियम शाश्वत ही है । ये सब नियम माली हालत पर निर्भर नहीं होते । ऐसी स्थिति में ईश्वरीय नियम के अनुसार किसीकी वैध न्यायप्राप्त भूमि, सम्पत्ति आदि का हरण करना पाप है । इस ईश्वरीय नियम का उल्लंघन कथमपि न्याय्य नहीं हो सकता । सभी धर्मों में अदत्तादान अर्थात् किसीकी अदत्त वस्तु का आदान, ले लेना पाप कहा गया है । इस तरह राष्ट्रीकरण का औचित्य सिद्ध नहीं होता । आर्थिक असंतुलन उसके बिना भी शास्त्रीय, धार्मिक-राज नैतिक नियमों द्वारा दूरकर बेकारी-बेरोजगारी मिटायी जा सकती है ।

> **परान्नं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वा गृहे ।**
> **अदत्तं नैव गृह्णीयात्**···॥

परान्न, परद्रव्य बिना मालिक के दिये हरगिज नहीं लेना चाहिए ।

बेकारी-बेरोजगारी दूर करने के लिए काम के घण्टों में कमी कर अधिकाधिक श्रमिकों को दाम दिया जाने का कानून बनाना धर्मविरुद्ध नहीं । यह उपाय राष्ट्रीकरण सिद्धान्त में भी सरकारों को अपनाना पड़ेगा । शास्त्रों में एक हल

चलाने के लिए आठ हृष्ट-पुष्ट बैलों की व्यवस्था का विधान है : अष्टागवं धर्मंहलम्। मनु के अनुसार असाधु पुरुषों का धन हरण कर भी साधु-पुरुषों को रोजगार की व्यवस्था की जा सकती है।

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति।
स कृत्वा प्लवमात्मानं तारयेत् तावुभावपि॥

जो पिता-पितामह के कर्तव्यपालन का उत्तरदायित्व लिये बिना उनकी सम्पत्ति का मालिक बनता है, वह असाधु है। कर्तव्यपालन-परायण साधु है। जो शासक असाधु से अर्थ को लेकर साधुओं को प्रदान करता है, वह अपने को नाव बनाकर दोनों को तारता है।

लागत-खर्च, कच्चे माल का दाम, मकान-मशीन का भाड़ा, मजदूरों का वेतन, बोनस-भत्ता, सरकारी टैक्स देने के बाद बचे धन में धर्म, यश, अर्थ, काम, स्वजन पाँच विभाग करने का विधान शास्त्रों में हैं। उनमें से एक हिस्सा धर्म के काम में; दूसरा यश के काम में अर्थात् विद्यालय, चिकित्सालय, आतुरालय, धर्मशाला आदि के काम में; तीसरा अर्थमूल सम्पत्ति की रक्षा एवं वृद्धि के काम में; चौथा जीवन-यात्रा के काम में और पाँचवाँ सम्पत्ति-सम्बद्ध स्वजन, कर्षक, श्रमिक आदि के जीवनस्तर उन्नत करने के काम में लगाने से आर्थिक असंतुलन एवं बेकारी की बहुत-सी समस्याएँ समाहित हो जाती हैं।

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

(भागवत ८.१९.३७)

और भी अनेक उपाय राष्ट्रीकरण के बिना भी धर्मानुसारी हो सकते हैं। यह भी शास्त्रों में कहा गया है कि जितने से पेट भरता हो, जीवनयात्रा चल सकती हो, उतने ही धन में मालिक को ममत्व करना युक्त है। जो अधिक में अभिमान करता है वह चोर के तुल्य दण्डच है :

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(भाग० ७.१४.८)

किन्तु आप तो किसी निश्चित शास्त्र को नहीं मानते, फिर मार्क्सीय तर्कों का खण्डन कैसे कर सकते हैं ? कारण जो दोष मार्क्सीय तर्कों में हैं, उससे अधिक दोष आपके तर्कों में है।

वस्तुतः शब्दप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्व ही मनुष्यत्व है। जो शब्दप्रामाण्य नहीं

मानता, वह पशु ही है। विवाह एवं उत्तराधिकार-व्यवस्था आज भी सब मनुष्यों में पायी जाती है और उन सबमें शब्द-प्रामाण्य की अपेक्षा है। जो शब्द-प्रामाण्य, शास्त्र-प्रामाण्य, नहीं मानता उसके यहाँ कोई विवाह एवं दायभाग का नियम नहीं चल सकता। मनु आदि धर्मशास्त्रों में सगोत्र, सापिण्ड्य-विवाह वर्ज्य है। उत्तराधिकार की सूची भी निश्चित है। जो हिन्दू होकर भी इन धर्मशास्त्रों को नहीं मानेगा उससे अनियमित विवाहादि होंगे। फिर भाई-बहन, पिता-पुत्री आदि की भी शादी पर कोई प्रतिबन्ध न रहेगा। फिर उनमें और पशु में कोई भी अन्तर नहीं रहेगा। यदि आप शास्त्रप्रामाण्य नहीं मानते तो आपके मत में भी पशुता का अतिक्रमण नहीं हो सकता।

आप कहते हैं कि 'पाश्चात्यों ने साधनों का साध्य मानने की भूल की, इसी कारण विफलता हुई' (२२ पृ०)। किन्तु वही भूल आप भी कर रहे हैं। आप तो जान-बूझकर शास्त्र की अमान्यता ठहराकर शास्त्र का उल्टा अर्थ लगाकर उपनयनादि संस्कार सन्ध्या, स्वाध्याय, अग्निहोत्रादि शास्त्रोक्त आचार-विचार की उपेक्षा करके यम-नियम को मान रहे हैं जो संन्यासियों का धर्म और वर्णाश्रमाचार का फल है और अहिंसा-सत्य से कोसों दूर रहकर। इसीलिए आप के अनुयायी और आपने ध्वजवन्दन एवं कबड्डी तथा जाल-फौरेब को ही राष्ट्रियता का रूप मान रखा है। आपके भी व्याख्यान एवं लेख मार्क्सवाद से भी निकृष्ट श्रेणी में पर्यवसित होते हैं।

जिस भारतीय राजतन्त्र के सम्बन्ध में आप कहते हैं कि 'प्रत्येक क्षेत्र में सजीव स्वातन्त्र्य की भावना के साथ सहस्रों वर्ष तक हमारे सम्पूर्ण समाज पर शान्ति एवं सम्पन्नता की वर्षा करता हुआ एक अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ, (२२ पृ०)।

किन्तु क्या आपने यह भी सोचा कि वह लाभदायक राजतन्त्र क्यों नष्ट हो गया ? विचार करने पर मालूम होगा कि वह शास्त्रोक्त कर्तव्यपालन-विमुख होने एवं कामक्रोध-परायण होने से ही नष्ट हो गया। इसी प्रकार अन्य देशों में भी धर्मविमुखता या मनमानी धर्म-कल्पनाओं तथा स्वार्थ-परायणता के कारण भी विभिन्न राज्यव्यवस्थाएँ विफल हो गयीं।

आप कहते हैं कि 'हिन्दू-राष्ट्र की हमारी कल्पना राजनीतिक अधिकारों का गट्ठरमात्र नहीं, वह तत्त्वतः सांस्कृतिक है। हमारे प्राचीन एवं उदात्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों से उसके प्राणों की रचना हुई और हमारी संस्कृति की भावना का उत्कट नवतारुण्य ही हमारे राष्ट्रिय जीवन की सही दृष्टि हमें प्रदान कर सकता है। प्राचीन पूर्वग्रहों, मूढ़ विश्वासों अथवा समाजविरोधी रीतियों का पुनरुज्जीवन

प्रतिक्रियात्मक कहा जा सकता है। कारण उसका परिणाम पाषाणीकरण हो सकता है, किन्तु शाश्वत एवं उत्कर्षकारी जीवन-मूल्यों का नवतारुण्य कभी प्रतिक्रियात्मक नहीं हो सकता।...संस्कृति के नवतारुण्य से हमारा आशय उन शाश्वत जीवनादर्शों को पुनः जीवन में उतारने से है, जिन्होंने सहस्रों वर्षों तक हमारे राष्ट्रिय जीवन को पोषित किया और अमरता प्रदान की' (पृ० २३)।

किन्तु आपका यह सब कथन प्रमाणशून्य प्रतिज्ञामात्र ही है। वे कौन-से उदात्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्य हैं, आपने यह नहीं बतलाया। कौन पूर्वग्रह एवं मूढ़-विश्वास हैं और कौन समाजविरोधी रीतियाँ हैं ? कौन-से शाश्वत उत्कर्षकारी जीवनमूल्य हैं ? सिद्धान्ततः तो यही कहना पड़ेगा कि प्रमाणहीन निर्णय विश्वास एवं रीतियाँ पूर्वग्रह अन्धविश्वास या पतन-हेतु कुरीतियाँ कहीं जा सकती हैं। शास्त्र या तर्क-सङ्गत जीवनमूल्य ही शाश्वत एवं उत्कर्षकारी हैं। परन्तु यह सब निर्णय तो तब हो सकता है जब किसी प्रमाण को मानें। जो विचार-व्यवहार आपको अभीष्ट नहीं हैं, वे शाश्वत होने पर भी आपकी दृष्टि में अन्धविश्वास या पूर्वग्रहमात्र हैं; जो अभीष्ट हैं, उन्हें शाश्वत एवं उत्कर्षकारी कह देंगे ! प्रमाण की कसौटी पर वे खरे उतरें, तभी कोई विचार या आचार शाश्वत एवं उत्कर्षकारी कहा जा सकता है। वे कौन-से जीवनादर्श हैं जिन्होंने राष्ट्र-जीवन को पोषण एवं अमरता प्रदान की।' क्या अमरता मिलने पर भी राष्ट्रजीवन में दुर्बलता या मृत्यु का भय रहता है ? यदि नहीं, तो फिर नया प्रयास किसलिए ?

वस्तुतस्तु किसी भी राष्ट्र के अनेक प्रकार के विश्वास एवं अनेक प्रकार की रहन-सहन, चालचलन होती हैं। अनेक आभाणक एवं कहानियाँ प्रचलित होती हैं। उनमें जो प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा आगम की कसौटी पर खरी उतरें वे ही आदरणीय होती हैं, अन्य त्याज्य होती हैं। इतिहास भी प्रामाणिक-अप्रामाणिक दोनों प्रकार के होते हैं। अतः शास्त्रीय भावनाओं के पोषक इतिहास ही अनुकूल प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं, अन्य नहीं। फलतः शास्त्र-प्रामाण्य न माननेवाला कोई भी यह निर्धारण नहीं कर सकता कि कौन आचार-विचार शाश्वत एवं उत्कर्षकारी है तथा कौन मूढ़ग्रह एवं पतन का मूल ?

फिर आप स्वयं भो कहते है कि 'हम हिन्दू-संस्कृति को परिभाषा नहीं कर सकते हैं' (पृ० २४)। क्या आपके राष्ट्र का यहो आदर्श रहा है कि जिसे सर्वोत्कृष्ट एवं राष्ट्र का प्राण माना जाता हो, उसका लक्षण, परिभाषा एवं प्रमाण से निरूपण नहीं किया जाय ?

आप कहते हैं कि 'जीवन क्या है, यह बताने में आधुनिकतम वैज्ञानिक भी असमर्थ हैं। तब भी चिकित्साशास्त्र की उपयोगिता में कोई बाधा नहीं उत्पन्न हुई' (पृ० २४)। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि भारत में तो 'जीव प्राणधारणे' धातु से

ही 'जीवन' शब्द की निष्पत्ति होती है। फलतः प्राणधारण ही जीवन है। मनुष्य, पश्वादि में जबतक प्राण रहता है तभी तक उनमें ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति का उपलम्भ होता है। उपनिषदों में आख्यान भी है। प्रजापति ने देहवासी इन्द्रियों, प्राण, मन आदि को यही कहा कि 'तुममें से जिसके निकल जाने पर देह बेकाम हो जायगी वही श्रेष्ठ है।' नेत्र, श्रोत्र आदि सबके जाने पर भी देह का काम चलता रहा। जब प्राण जाने को प्रस्तुत हुआ तब सबने कहा : 'बस, आपके बिना हम सब नष्ट हो जायँगे, आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हैं।'

शास्त्रों के अनुसार सप्तदश तत्त्वमय लिङ्गशरीर-विशिष्ट चेतनतत्त्व को ही 'जीव' कहते हैं। वह जब तक प्राणोंको धारण करता है, तभी तक जीवका जीवन रहता है। जब वह लिङ्गविशिष्ट चेतन निकल जाता है, तब जीवन समाप्त हो जाता है। किं बहुना, धर्म-ब्रह्म जैसी सूक्ष्म वस्तुओं की परिभाषा होती है और उसका होना अनिवार्य भी है। अतएव **लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**—लक्षण एवं प्रमाणों से ही वस्तु की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। लक्षण द्वारा सम्भावित वस्तुकी ही हेतु से सिद्धि होती है। जिसकी सम्भावना ही नहीं हेतु से उसका त्राण नहीं होता : **न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः।**

आप कहते हैं : 'हमारी भावनाएँ आदर्श एवं आकांक्षाएँ भी अपनी निजी सत्यता रखती हैं। हमारे जीवन में उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है' (पृ० २४)। पर ऐसी भावनाएँ आपकी ही नहीं, और लोगों की भी होती हैं और वे प्रामाणिक-अप्रामाणिक, हेय एवं ग्राह्य दोनों ही प्रकार की होती हैं। इसलिए ईश्वरीय एवं आप्त आर्षवाक्यों तथा अन्य प्रत्यक्षानुमानादि द्वारा उनका विवेचन करके ही ग्रहण या त्याग करना होता है।

आप कहते हैं : 'वास्तव में ऐसी स्थूल वस्तुओं की अपेक्षा जो नापी जा सकें जिनकी परिभाषा की जा सके, सूक्ष्मतत्त्व ही सच्चे मानव व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं' (पृ० २४)। यह कथन भी नितान्त भ्रामक है, क्योंकि लक्षणप्रमाण-शून्य वस्तु की जब सत्यता ही असम्भव है, तब उसे सूक्ष्म या मानव व्यक्तित्व का निर्माण कैसे कहा जा सकता है? लक्ष्य को पहचानने के लिए लक्षण और परिभाषा अपेक्षित होती है।

आपने कहा कि 'श्री नेहरू की दृष्टि में ईश्वर, धर्म, आत्मा, पुनर्जन्म, जाति आदि का कोई अर्थ नहीं था। उनकी पत्नी का विदेश में देहान्त होने पर अपनी ही रीति के अनुसार उनके शरीर का अग्निसंस्कार किया, गाड़ा नहीं गया और उनकी मुट्ठभर राख को किसी खेत में नहीं डाला।······तू मिट्टी है और मिट्टी में लौट गयी।······किन्तु उनके पुरातन हिन्दू-रक्त की पुकार थी कि अपनी प्यारी

पत्नी के अवशेषों को ले चलो और गंगामाता की गोद में उन्हें समर्पित कर दो। अन्त में पुरातन संस्कारों की विजय हुई और वह पवित्र गंगा-यमुना तथा अदृश्य सरस्वती के संगम में गिरायी गयी' (पृ० २५)।

लेकिन इतना ही क्यों, श्री नेहरू ने अपनी राख को भी गंगामें डालने के लिए वसीयत में लिख रखा था। साथ ही यह भी कहा था कि हम किसी धार्मिक या पारलौकिक विश्वास के आधार पर ऐसा नहीं सोच रहे हैं, किन्तु गंगा के प्राकृतिक सौन्दर्य में मेरा जीवन पला है, उससे प्रेम है, इसलिए।' किन्तु क्या दूसरे लोग इसे मूढ़ग्राह या पूर्वग्रह का संस्कार नहीं कह सकते ! महान् हिन्दू कहे जानेवाले सावरकर ने तो विद्युत्-शवदाह द्वारा ही अपनी देह की अन्तिम समाप्ति की आज्ञा दी थी। इनमें कौन संस्कार शाश्वत हैं, कौन मूढ़ग्रह, इसका कैसे निर्णय हो ? केवल प्राचीन परम्पराप्राप्त संस्कार ही शाश्वत नहीं होते, बहुत-सी रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ भी बद्धमूल होती हैं। उनका छूटना मुश्किल होता है। भौतिकवादी इसे नेहरू की कमजोरी ही कहेगा। कई लोगों में खान-पान, विवाह, स्पर्शास्पर्श आदि सम्बन्धी परम्पराप्राप्त संस्कार बद्धमूल हैं। उन्हें आप मूढ़ग्रह और समाजविरोधी कहेंगे ? फिर कौन-सा विचार सही कौन गलत है, इसका निर्णय कैसे हो ? प्रामाण्यवादी तो प्रमाण की कसौटी पर खरे उतरनेवाले संस्कारों को शाश्वत कहेंगे, तद्भिन्न को अन्धविश्वास कहेंगे। ऐसे विषयों में प्रत्यक्ष, अनुमान की प्रवृत्ति हो नहीं सकती। शास्त्र का प्रामाण्य आप मानते ही नहीं, प्रमाणहीन परम्परा भी अन्धपरम्परा ही है, फिर कौन-सा संस्कार महत्त्वपूर्ण और कौन-सा तुच्छ, इसका निर्णय कैसे हो ? इसीलिए तो गीता ने **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते** का उद्घोष कर कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र को ही प्रमाण माना है।

शास्त्रानुसार ही गंगा-यमुना का महत्त्व है। अन्यथा अन्य नदी या गंगा में क्या भेद ? व्याघ्र-चर्म और गर्दभ-चर्म में, गोमूत्र और गर्दभी-मूत्र में क्या भेद है ? शंख और अन्य अस्थियों में क्या भेद है ? अन्त्येष्टि भी शास्त्रानुसार ही 'संस्कार'पद वाच्य होती है, केवल अग्नि में जला देना मात्र नहीं। जो शास्त्र नहीं मानता उसकी दृष्टि में मिट्टी के तेल में, बिजली में जला दिया जाय या चन्दन की चिता पर मन्त्रों के साथ जला दिया जाय, सब समान ही है। अतः केवल जलाने और भस्म गंगा में डालने को संस्कृति समझना भारी भूल है।

आगे आप अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का प्रकार बताते हुए कहते हैं कि 'सत्य की अनुभूति या ईश्वर का साक्षात्कार करना सर्वाधिक मूलभूत पहलू है—पर उसका यह वर्णन कि वह निराकार-निर्गुण है, हमारी समस्याओं को सुलझाता नहीं। कई लोग मन्दिरों में सर्वशक्तिमान् का प्रतीक मान मूर्तियों पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु हमें यह सब सन्तुष्ट नहीं करता। हम

एक प्राणधारी ईश्वर चाहते हैं जो हमें कर्म में व्यस्त रखकर हमारे अन्दर निवास करनेवाली सभी शक्तियों का आह्वान करें। अतः हमारे पूर्वजों ने कहा है : हमारा समाज ही ईश्वर है। श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है : मनुष्य की सेवा करो। श्री विवेकानन्द ने भी बल देकर यही कहा है, किन्तु सम्पूर्ण मानवता के भाव से 'मनुष्य' अत्यन्त व्यापक कल्पना है, उसको सरलता से ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतएव हमारे पूर्वजों ने कहा कि हिन्दू-समाज वह विराट् पुरुष है।······ पुरुषसूक्त में सर्वशक्तिमान् के वर्णन में कहा गया है—सूर्य-चन्द्रमा उसकी आँखें हैं, नक्षत्र और आकाश उसकी नाभि है तथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय भुजाएँ, वैश्य उसको जँघाएँ, शूद्र पैर हैं। इसका अर्थ है कि समाज, जिसमें चतुर्विध व्यवस्था है अर्थात् हिन्दू-समाज हमारा ईश्वर है। (पृष्ठ २५-२६)

वस्तुतः यह भी एक आश्चर्य ही है कि किसी शास्त्र को तो प्रमाण नहीं मानते, परन्तु रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द की जीवनी को आप प्रमाण मानते हैं और उसीके साथ वेदादि शास्त्रों को न मानते हुए भी पुरुष-सूक्त को जोड़कर मनमानी बे-सिरपैर की कल्पना करते हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नहीं, अतः सम्पूर्ण मनुष्य-समुदाय भी सर्वशक्तिमान् नहीं। जैसे एक-एक मनुष्य उत्पन्न होता है, मरता है, वैसे सम्पूर्ण मनुष्य भी उत्पन्न होते, मरते हैं। एक-एक वृक्षों के जो स्वभाव होते हैं, वन का भी वही स्वभाव होता है वृक्ष जड़ हैं तो वन भी जड़ ही है, चेतन नहीं। किं बहुना, यदि भावना या कल्पना मात्र का महत्त्व है, तब तो भावना के अनुसार कोई मूर्ति को, कोई कब्र को तो कोई अपने ऊँट को ईश्वर मानेगा ही। मूर्ति-पूजा तो शास्त्रविधान के अनुसार होती है, उसमें शास्त्रानुसार सर्वशक्तिमान् का आवाहन-प्रतिष्ठापन किया जाता है। फिर आप हिन्दू-समाजको ईश्वर मानेंगे, तो दूसरे ईसाई-समाज या अन्य मुस्लिम-समाज को सर्वशक्तिमान् क्यों न मानेंगे? आप पुरुषसूक्त की दुहाई देंगे, दूसरे अपने मान्य ग्रन्थों की दुहाई देंगे तो मान्यता का क्या मूल्य है?

पुनश्च, क्या आप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातिभेद मानते हैं? यदि हाँ, तो क्या जन्मना मानते हैं या कर्मणा? यदि जन्मना हैं तो मुसलमानों, ईसाइयों को कैसे आत्मसात् करेंगे? यदि कर्मणा वर्ण मानते हैं तो वे कौन-से कर्म हैं, शास्त्रीय या लौकिक? यदि शास्त्र ही मान्य, नहीं, तो शास्त्रीय कर्म आपको कैसे मान्य होंगे? यदि लौकिक कर्म अर्थात् उपदेशक, शासक, व्यापारी शिल्पी

आदि के आधार पर ही आपको ब्राह्मणादि वर्ण हैं तो ऐसा वर्णभेद तो हर देश एवं हर जाति में है ही। फिर आपके हिन्दू-राष्ट्र की क्या विशेषता रही ?

वस्तुतः पुरुषसूक्त का वह अर्थ कथमपि नहीं है जो आप लिख रहे हैं। पुरुषसूक्त में सूर्य को विराट् पुरुष की आँख कहा गया है, चन्द्र को नहीं, चन्द्र को तो उसका मन बतलाया गया है। पुरुषसूक्त का विराट् पुरुष आपका मुट्ठीभर हिन्दू-समाज नहीं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक सम्पूर्ण स्थूल-प्रपञ्चविशिष्ट व्यापक चेतन है। उसे 'सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष' कहा गया है। यहाँ 'सहस्र' शब्द बहुत या अनन्त का बोधक है। संसार के अनन्त प्राणियों के सिर ही उसके सिर हैं, सबकी आँखें उसकी आँखें हैं। वह विराट् पुरुष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-भूमि को ऊपर-नीचे, अगल-बगल, सब ओर से व्याप्त होकर अथवा माया-भूमि को आवृत्त कर उससे दशांगुल अतिक्रमण कर या नाभि से दश अंगुल ऊपर हृदय में रहता है। वह प्रपञ्च से अधिक बड़ा है अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी फैला है अथवा भूमि प्रभृति पञ्चभूतों को व्याप्त कर उनसे बाहर भी है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा (वृत्वा) त्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

उपर्युक्त मन्त्र में 'दशांगुल' शब्द इस बात का उपलक्षक है कि वह पुरुष सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच से भी बहुत बड़ा है। इसका स्पष्टीकरण अगले मन्त्र में ही किया गया है :

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

अर्थात् यह सब कुछ दृश्य वर्तमान, भूत एवं भविष्य में होनेवाला सारा जगत्-प्रपञ्च पुरुष ही है, केवल हिन्दू या भारत नहीं। यही अमृतत्व या मोक्ष का भी नियामक है; क्योंकि अन्न अमृत से सबका अतिरोधान, रक्षण करता है। अथवा वही प्राणिकर्म-फलभोग अन्नरूप निमित्त से कारणावस्था अतिक्रमण कर कार्यरूप जगदवस्था को प्राप्त होता है।

प्राणिकर्मफलभोग के लिए ही भगवान् जगदवस्था को प्राप्त होते हैं।

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः।
पादोऽस्या विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

अर्थात् अतीत, अनागत, वर्तमान जितना भी जगत् है—एतावान् सब पुरुष की महिमा, सामर्थ्य या विभूतिमात्र है। यह उसका वास्तव रूप नहीं। वस्तुभूत तो इस जगज्जाल से 'ज्यायान्' यानी अतिशयेन अधिक है; क्योंकि सर्वदेशकाला-

वर्ती सम्पूर्णभूत उस पुरुष का पाद अर्थात् चतुर्थांश मात्र है। पुरुष का त्रिपाद-स्वरूप सर्वथा अमृत एवं 'दिवि' यानी द्योतनात्मक प्रकाशस्वरूप में ही स्थित है। अनन्त ब्रह्माण्डात्मक विश्वप्रपञ्च से त्रिपाद् अर्थात् तीन गुना ब्रह्म अधिक है। इस कथन में भी मन्त्र का तात्पर्य न होकर प्रपञ्च उसके एक अंश में ही है, ब्रह्म उससे बहुत अधिक बड़ा है अतः ब्रह्म के आनन्त्य-प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। तभी **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** यह श्रुति ब्रह्म को भी इयत्तारहित अनन्त ज्ञानरूप कहती है। उससे विराट् परमेश्वर की देह तथा उसकी उत्पत्ति कही गयी है :

ततो विराडजायत विराजोऽधि पुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चात् भूमिमथो पुरः॥

अर्थात् उस परमेश्वर आदिपुरुष से विराट् स्थूलप्रपञ्चरूप देह उत्पन्न होती है। **विविधानि राजन्ते वस्तूनि यत्रेति विराट्** यानी विविध वस्तुएँ जिसमें दीप्यमान होती हैं वह अनन्त ब्रह्माण्डात्मक सृष्टि महाब्रह्माण्ड ही 'विराट्' है। उस विराट् देह के ऊपर उसी अधिकरण में समष्टि महाब्रह्माण्डाभिमानी पुरुष होता है। अर्थात् सर्ववेदान्तवेद्य परमात्मा अपनी माया से ब्रह्माण्ड-देह की रचना कर ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा (जीव) होता हैं। वही विराट्-पुरुष उत्पन्न होकर विराट् से अतिरिक्त देव, तिर्यक्, मनुष्यादि जीवरूप धारण करता है। पश्चात् वही भूमि एवं पुरों यानी जीव-शरीरों की रचना करता है। उसीसे विविध यज्ञ-सामग्रियों और ऋक्, साम, यजु आदि वेदों का आविर्भाव होता है। **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्** यह इस पुरुषसूक्त का १३वाँ मन्त्र है। इसका अर्थ यह नहीं कि ब्राह्मण विराट् का मुख है और क्षत्रिय बाहु। किन्तु यहाँ सृष्टि का प्रसंग है, अतः इसका अर्थ होगा—विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुए, बाहु से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य एवं पाद से शूद्र उत्पन्न हुए। तभी **पद्भ्यां शूद्रो अजायत** इस वाक्य में 'अजायत' क्रियापद से उत्पत्ति का स्पष्ट निर्देश किया गया है। यही नहीं; इस मन्त्र से पूर्व-मन्त्र में **ऋचः सामानि जज्ञिरे**, 'अजायत', 'अश्वा अजायन्त', 'गावो ह जज्ञिरे' और उत्तर के मन्त्रों में भी **चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।**······**मुखादग्निरजायत** आदि से उत्पत्ति का ही वर्णन है। अतः इस मन्त्र में ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है, किसी समाज का वर्णन नहीं।

वैसे तो सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च परमेश्वर की स्थूलदेह है, अतः प्रत्येक तत्त्व उसके अवयव है और किसी भी रूप में उसकी आराधना हो सकती है। तभी तो सनातनधर्मानुसार तुलसी, अश्वत्थ, गो, ब्राह्मण, गङ्गा, माता, पिता, गुरु सभी परमेश्वर की भावना से पूज्य एवं आदरणीय होते हैं। समष्टि ब्रह्माण्ड, एकैक ब्रह्माण्ड, एक-एक लोक, एक-एक जाति कुटुम्ब सभी परमेश्वर रूप से पूज्य हैं। फिर भी **सहस्रशीर्षा पुरुषः**, **ब्राह्मणोऽस्य मुख** इत्यादि मन्त्रों से हिन्दू-समाज या

हिन्दू-राष्ट्र को सर्वशक्तिमान् ईश्वर सिद्ध करना अत्यन्त असङ्गत, विरुद्ध एवं उपहासास्पद है। यह सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। उसी प्रसङ्ग में 'विराट् के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, श्रोत्र से वायु की उत्पत्ति' कही गयी है, क्या आपके तथा-कथित हिन्दू-राष्ट्र विराट् से सूर्यादि की उत्पत्ति होती है ?

आप कहते हैं : 'सभी व्यक्ति समानभाव से पवित्र एवं हमारी सेवा के योग्य हैं। उनमें भेदभाव का कोई विचार निन्दनीय है।' (पृ० २६) किन्तु पूर्व में आपने समाज में ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को बाहु, शूद्र को पैर कहा है। यदि ये भेद नहीं तो पृथक्-पृथक् नाम क्यों ? और किसीको मुख, किसी को पैर क्यों कहा ? क्या मुख, पैर सब अंग एक ही हैं और उन सबमें समान ही व्यवहार होता है ?

इसी तरह **ईशावास्यमिदं सर्वं···तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः** (ईशोप० १) इस मन्त्र का भी अर्थ वह नहीं, जो आपने लिखा है। क्या आप बतायेंगे कि 'उसे अर्पण करने के पश्चात्' (पृ० २७) यह किन शब्दों का अर्थ है ? वास्तविक मन्त्रार्थ तो यह है कि ईश, सर्वनियामक, अधिष्ठान, ब्रह्म चेतन के साक्षात्कार से मायाभूमि के सम्पूर्ण जगत् को आच्छादन अर्थात् बाधित कर देना चाहिए। जैसे रज्जु-साक्षात्कार से रज्जु द्वारा रज्जु में कल्पित सर्प, धारा-मालादि कल्पित वस्तुएँ आच्छादित या बाधित हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित जगत् ब्रह्मसाक्षात्कार से बाधित हो जाता है। अतः उस बाधरूप त्याग से अथवा पुत्रैषणा, लोकैषणादिके त्याग से आत्मा का पालन करो। अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा प्रपञ्च को बाधित कर और त्याग द्वारा ब्रह्मनिष्ठा सुदृढ़ कर आत्मा को जन्म-मरण के प्रवाह में पड़ने से बचाकर मोक्ष प्राप्त करो।

इसी तरह (पृष्ठ २७ पर) आप लिखते हैं : 'मनु ने घोषित किया है कि

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

किन्तु यह अत्यन्त मिथ्या है, उक्त श्लोक मनुस्मृति में है ही नहीं। कम से कम मनु का नाम देने के पहले मनुस्मृति देख तो लेनी चाहिए थी। उक्त श्लोक श्रीमद्भागवत, (७.१४.८) का है। फिर आप तो कोई भी पुस्तक न मानने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। तब इन उद्धरणों से दूसरों के गले शास्त्रवचनों को क्यों उतारना चाहते हैं ? उक्त वचन में धन से ममत्वाभिमान हटाया गया है, वैयक्तिक सम्पत्ति के सिद्धान्त का निराकरण नहीं। अन्यथा दान, यज्ञ आदि कार्यों में भी उनका उपयोग कैसे हो सकेगा ?

इसी प्रकार **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** इस मन्त्र का भी अर्थ, श्राव आपने

उलटा ही किया है—'हमारी शिक्षा अन्ध विश्वासों एवं दृष्टिकोणों को इस रूप में सम्मान करने की भी रही है कि वे सब एक सत्य तक पहुँचने के लिए अनेक मार्ग हैं।' (पृ० २८)

सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है :

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
> एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
> (ऋग्वेद १.१६४.४६)।

यहाँ विभिन्न अवैदिक मार्गों की नहीं, विभिन्न वैदिक देवतत्त्वों की एकता कही गयी है। एक सत् अर्थात् वेद-वेदान्तवद्य; स्वप्रकाश, अखण्ड, सदानन्दघन ब्रह्म को ही ब्रह्मविद् विप्र लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि अनेक रूपों में कहते हैं। वही तत्त्व दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् है। उसीको अग्नि, यम एवं मातरिश्वा (वायु) भी कहते हैं। मन्त्र में इन्द्र···विप्रा···इन शब्दों से वक्ता एवं वक्तव्य दोनों का स्पष्ट उल्लेख है। शास्त्रानुसार यह सिद्ध है कि एक ही तत्त्व उपासना के लिए अनेक रूपों में व्यक्त होता है। अतः यह नहीं हो सकता कि इस मन्त्र के बल पर आप सभी प्रचलित मजहबों, पन्थों को एक ही सत्य की प्राप्ति का मार्ग सिद्ध कर दें। क्या सभी सत्य-प्राप्ति के मार्ग हैं, इसका और **नान्यः पन्था** का विरोध विदित नहीं होता ?

यह भी आश्चर्य है कि आप विविध अवैदिक दृष्टिकोणों और विश्वासों को सत्य-प्राप्ति का मार्ग मानते हैं। किन्तु भारतीय वैदिक 'जन्मना वर्णव्यवस्था' एवं तदनुसारी वेदादि-शास्त्रोक्त सन्ध्या, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम, श्राद्ध-तर्पणादि आचारों, स्पर्शास्पर्शादि आचारों और उपनयन, विवाहादि शास्त्रीय संस्कारों की उपेक्षा ही नहीं, सक्रिय विरोध भी करते हैं। आपके अनुयायी उनके विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ने को तैयार होते हैं। आप हिन्दू-समाज को ईश्वर मानने की बात करते हैं, पर आपके स्वयंसेवक माता-पिता एवं गुरुओं को भी ईश्वर मानने में हिचकते हैं, उनकी आज्ञा ठुकराते हैं। यदि नैरात्म्यवादियों, आत्मवादियों, पुनर्जन्मवादियों एवं अपुनर्जन्मवादियों, गोरक्षकों, गोभक्षकों, मूर्तिभंजकों, मूर्तिपूजकों, हिंसावादियों, अहिंसावादियों आदि सभीका मार्ग सत्य-प्राप्ति का मार्ग है तो फिर वहीं वेद यह क्यों कहता है कि **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (वाज० सं० ३१.१८)। अर्थात् मृत्यु के अतिक्रमण का वेदोक्त ब्रह्मज्ञान छोड़कर अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। आपके सिद्धान्त, कल्पना के महल सबके सब केवल प्रमाणाभासों पर ही अवलम्बित हैं। वस्तुत आपकी संस्कृति और उसके वैशिष्ट्य सब निष्प्राण कल्पना के महलमात्र हैं, न उनका कोई आधार है और न रूपरेखा।

आपको विदित होना चाहिए कि संस्कृति लक्षण-प्रमाणहीन नहीं। किन्तु प्रत्यक्षानुमान तथा अपौरुषेय एवं आर्ष वेद-धर्मशास्त्रादि प्रमाणों पर आधृत परम्पराप्राप्त लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस् के अनुकूल वर्णाश्रमानुसारी संस्कार, आचार-विचार एवं जीवन-यापन का प्रचार ही हमारी संस्कृति है। इसीमें धर्म, दर्शन, सदाचार, इतिहास, कला, भाषा आदि का अन्तर्भाव है। उक्त सभी अंशों में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम एवं परम्परा का सम्बन्ध अनिवार्य है। उसके बिना सब निराधार रूढ़ि या अन्ध-परम्परा की कोटि में ही प्रविष्ट समझे जायँगे।

वैयक्तिक, पारिवारिक उत्थान के प्रयत्न के साथ सामाजिक उत्थान का प्रयत्न उचित ही है। तत्सम्बन्धी विचार संकीर्ण नहीं। अतएव 'संकीर्ण विचारों के वेष्टन से बाहर आकर चारित्र्य-सेवा एवं बलिदान-भावना' (२९ पृ०) की बात भी सही नहीं। शास्त्रानुसारिणी शिक्षा एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के अनुसार ही धर्म, कर्म, तप, त्याग एवं ज्ञान-विज्ञान से जीवन-स्तर उन्नत होता है। कबड्डी या खेल-कूद का प्रचारक बनने के लिए पारिवारिक वेष्टन से बाहर निकलने की जरूरत नहीं। वर्णाश्रमानुसार ही सब श्रेणी के लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, कर्षक, मोची, कोयरी, डोम आदि) में भी भक्त-ज्ञानी हो सके थे। सभो सहभोजन, सहपान कर, वर्णभेद मिटाकर नहीं। सभी सन्त-महात्मा शास्त्रमर्यादा के पालन पर ही जोर देते आये हैं। मनमानी सामान्य-स्तर की उन्नति करना उचित नहीं। अतः आपकी २९ पृ० की बातें असंगत ही हैं।

वैसे भी त्रिगुणात्मक संसार में सर्वथा समानता नहीं हो सकती। वशिष्ठ, गर्ग, गौतम जैसे सभी ब्राह्मण नहीं हुए। मान्धाता, दिलीप जैसे सभी क्षत्रिय नहीं बने। तुलाधार, समाधि जैसे सभी वैश्य नहीं हुए। विदुर जैसे सभी शूद्र नहीं या धर्मव्याध जैसे सभी अन्त्यज भी कभी नहीं हुए। भारत में ही अनादिकाल से हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, शुंभ, निशुंभ, महिषासुर, रावणादि जैसे लोग भी होते ही आये हैं। उनका काम सामनीति तथा ज्ञान-विज्ञान एव शिक्षा से नहीं चल सका। वे स्वयं भी वेद-वेदान्तादि दर्शनों के विद्वान् थे, अध्यात्मवादी थे। ठीक ही कहा है कि यदि साक्षर विपरीत हो जाते हैं तो वे राक्षस बन जाते हैं :

साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम्।

तभी तो अनादिकाल से दण्डनीति का भी विधान है। ब्रह्माजी ने, जो कि महान् तत्त्वज्ञानी थे, एक लक्ष अध्यायों का नीतिशास्त्र प्रजा को प्रदान किया था। अतः परमार्थतः सर्वत्र अजर-अमर, शुद्ध, स्वप्रकाश ब्रह्मात्मा का अनुभव करते हुए भी व्यवहार के लिए धर्मशास्त्र एवं नीति का ही अवलम्बन करना युक्त ही है :

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥ (बोधसार)

'वर्तमान जागृति' (पृ० ३०) में श्री गोलवलकर जी कहते हैं कि "ज्ञान और योग्यता ही जागृति है। जिसमें विविधता में एकता की अनुभूति होती है। कलह के स्थान पर सामंजस्य और स्वार्थ के स्थान पर समाज की आराधना होती है। इसके विपरीत एकता के लिए काम न करते हुए विविध समस्याओं को पक्षोपपक्ष उत्पन्न करने के लिए उपयोग में लाते हैं तो हम अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रभावित नहीं, किन्तु गहरे अज्ञान में डूबते हैं।"

आपका यह कहना अनुचित नहीं। किन्तु यह भी समझना चाहिए कि सम्भव है, अन्य लोग भी एकता के लिए ही प्रयत्न करते हों! किन्तु एकता केवल मनुष्यों का पुलिन्दा या भीड़ तो नहीं है। किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए, समान मार्ग पर चलने के लिए समान सिद्धान्तों के आधार पर अधिकाधिक लोगों के मन को एकसूत्र में गूँथना ही एकता है। ऐसी स्थिति में जिन लोगों का आपके सिद्धान्तों, कार्यक्रमों से मेल नहीं खाता, उनको आपसे पृथक् संघटन करना ही पड़ेगा। उनकी समस्याएँ एवं पक्ष भी पृथक् हैं ही। सिद्धान्तहीन संघटन भेड़-बकरियों एवं डाकुओं के भी होते हैं। आत्मा तथा भौतिक दृष्टि से सब समान होने पर भी व्यवहार-भेद, उद्देश्यभेद, सिद्धान्तभेद से आँख मीचना संभव नहीं।

हाँ, शास्त्र ही सरपञ्च हो सकते थे जिनकी मध्यस्थता में परस्पर विरोधी विचारों का सामंजस्य बन सकता था। किन्तु आप एवं आजके अन्य प्रगतिशील कहे जानेवाले लोग तो शास्त्र मानने से दूर भागते हैं। मनु स्पष्ट कहते हैं कि जिस रास्ते से आपके पिता-पितामहादि चलते थे, उसी रास्ते से चलने पर हानि न होकर कल्याण ही होगा :

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यति॥ मनु॰ (४.१७८)

अर्थात् हमारे-आपके सैकड़ों, हजारों पीढ़ियों के सभी परम पुरुष लोग वेद, रामायण, महाभारत और मन्वादि धर्मशास्त्रों को प्रमाण मानकर उनके अनुसार चलते थे। किन्तु आप समझते हैं कि यदि हम किसी धर्मपुस्तक को प्रमाण मानेंगे तो मुसलमान-ईसाई से अच्छे कैसे सिद्ध होंगे ?

यह ठीक है कि 'क्रियाशीलता ही सब कुछ नहीं, क्योंकि वह तो संज्ञाशून्य मेढकों में भी सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों से देखी जा सकती है। किन्तु वह प्रगति नहीं करता, किन्तु मृत्यु की ओर जा रहा है।' लेकिन इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है ? कोई भी स्थूल नेत्रों से देख सकता है कि एक उन्मत्त प्राणी भी खूब

क्रियाशील होता है। वह अपने को ज्ञानवान् और अन्य लोगोंकी मूर्ख मानता हुआ भी क्रियाशील होकर आत्महत्या कर लेता है। पर सोचना यहाँ होगा कि कौन पागल एवं भ्रान्त है और कौन सज्ञान ! अपनी बुद्धि से सभी बुद्धिमान् हैं, पर प्रत्यक्षानुमान-आगम की कसौटी पर जिसका ज्ञान खरा उतरे, वास्तव में प्रज्ञावान् तो वही है।

यह भी जानना चाहिए कि यद्यपि क्रिया अचेतन में होती है, तथापि वह होती तो चेतन के ही अनुग्रह से है। क्योंकि चेतनाधिष्ठित होने से ही रथादि की प्रवृत्ति दृष्ट है। मोटर, वायुयान आदि की प्रवृत्ति में संयोजन, निर्माण या संचालन चेतन द्वारा ही होता है। अतएव 'जानाति, इच्छति, करोति' का सिद्धान्त बताया गया है। चेतन प्राणी के ज्ञान एवं इच्छा के आधार पर ही प्रयत्न एवं चेष्टाएँ होती हैं। जल, वायु आदि की प्रवृत्ति भी चेतन ईश्वर की प्रेरणा से ही होती है। इसी तरह संज्ञाहीन प्राणियों में रक्तवाहिनी शिराओं या रक्त में भी हलचल चेतना के सम्बन्ध से ही होती है।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। (मनु० २.४)

इस मनुस्मृति की उक्ति के अनुसार बिना इच्छा के कोई कर्म नहीं होता और बिना ज्ञान के इच्छा नहीं होती। निःसंज्ञ देह की हलचलें प्रारब्धकर्मानुसार ईश्वरेच्छा से ही होती हैं। उन्मत्त प्राणी की चेष्टाएँ उसके ज्ञान एवं इच्छा के अनुसार ही होती हैं। उसका वह ज्ञान भ्रमात्मक होता है। ज्ञान के प्रमात्व या यथार्थत्व के निर्णयके लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा होती है। अन्यथा आप अन्य लोगों की चेष्टाओं को उन्मत्त चेष्टा कहेंगे। अन्य लोग आपकी चेष्टाओं को वैसा ही कहेंगे।

वर्तमान विपर्यासों का मूल भी निष्प्रमाण विचार ही है, शास्त्र-प्रमाण स्वीकार किये बिना आजके भ्रान्त विचारक चार्वाक के समान धर्माधर्म को भी दृष्टार्थक ही मानने लगे हैं। ऐसे लोग आचमन का प्रयोजन कफ-शुद्धि और अग्निहोत्रादि यज्ञ-यागादिकों का वायु-शुद्धि ही फल मानते हैं। वे प्रत्यक्ष-अनुमान से अगम्य, शास्त्रैकगम्य धर्म आदि को भी दृष्ट सामाजिक व्यवस्था में ही निलीन करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में जैसे कुछ लोगों का नृत्य, गीत आदि को ही संस्कृति मानना भ्रान्ति है, वैसे ही संघटन, गीत और कबड्डी आदि खेलने को भी संस्कृति मानना भ्रान्ति ही है। संस्कृति की प्रामाणिक व्याख्या हम कर चुके हैं। शास्त्रानुसारी नृत्य, गीत आदि भी भावाभिव्यंजक कलारूप होने से सांस्कृतिक हो सकते हैं। शास्त्रानुसारी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के मूलभूत शरीर के स्वास्थ्यरक्षण, दुष्ट-दर्पदलनार्थ धर्म-धार्मिक-रक्षण के लिए व्यायाम-संघटन, गीत भी सांस्कृतिक कार्य

हो सकते हैं। किन्तु उनके सांस्कृतिक होने का आधार भी प्रत्यक्षानुमान-आगमादि प्रमाण ही हैं।

सौन्दय-प्रतियोगिता का वर्तमान ढंग अवश्य ही निन्दनीय है। किन्तु स्वयंवर-प्रथा में सौन्दर्य की व्यंजना नहीं होती, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। रामायण, महाभारतादि आर्ष-इतिहासों, शिष्टता एवं सदाचार बतलानेवाले रघुवंश आदि काव्यों एवं परम्परा पर विश्वास रखनेवाले हिन्दू पति-पत्नी ही समाज में प्रेम-प्रदर्शन नहीं करते। प्रमाण-विमुख हिन्दू तो आज पाश्चात्त्यों से भी अधिक गया-बीता हो रहा है। अतः हिन्दू पति-पत्नी अपने प्रेम का प्रदर्शन सबके सामने नहीं करते।

आप शाश्वत मूलों के सिंचन पर जोर देते हैं (पृ० ३२)। पर यह स्पष्ट नहीं बता पाते कि क्या हैं वे शाश्वत मूल-परानुकरण का भी विरोध करते हैं। क्या दूसरों की अच्छी बातों को भी ग्रहण करना बुरा और अपनी बुरी बातों से भी चिपके रहना अच्छा है? क्या आपके यहाँ कोई खराब रूढ़ियाँ या बुरे व्यवहार हैं ही नहीं? जिन ईश्वरीय एवं आर्ष-शास्त्रों द्वारा भलाई-बुराई, सम्यक्ता-असम्यक्ता, भूषण-दूषण का निर्णय होता है, उन्हें आप मानते ही नहीं। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं परम्पराएँ तो और लोगों के पास भी हैं ही। फिर भी आप कैसे समझते हैं कि लोग आपके आदर्श का अनुकरण करेंगे?

आपका यह कहना तो ठीक है कि 'अर्थ-काम के अतिरिक्त धर्म और मोक्ष भी मनुष्य का लक्ष्य होता है।' किन्तु आपकी धर्म-कल्पना आपके पूर्वजों के प्रामाणिक धर्म से बिलकुल भिन्न है। यह पीछे हम लिख चुके हैं।

पृष्ठ ३८-३९ पर आपने जीवनस्तर के नाम पर तृष्णा-वृद्धि की चर्चा की है और आत्मसंयम तथा चारित्र्य का जो महत्त्व बताया है, वह ठीक ही है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि राग और वैराग्य दोनों की ही शोभा अपने-अपने स्थान पर ही होती है:

> **नीकीहू फीकी लगत बिनु अवसर की बात।**
> **जैसे बरणत युद्ध बिच रससिंगार न सुहात॥**

युद्ध के अवसर पर अर्जुन के वैराग्य को भगवान् ने निन्द्य ठहराया था। वैराग्य से बचने के लिए ही वेद-व्यास ने उसे तपस्या के लिए वन में प्रेषित करते हुए आदेश दिया कि 'हर समय जप, तप, ध्यान आदि में भी अपना धनुष-बाण साथ रखो, इससे क्षात्र-तेज को प्रोत्साहन मिलता रहेगा।' तृष्णा, त्याग, सन्तोष बहुत अच्छी वस्तु है, किन्तु हमारी संस्कृति में—**असन्तोषः श्रियो मूलम्** के अनुसार अनिर्वेद को अभ्युदय का मूल कहा गया है। असन्तुष्ट ब्राह्मण एवं सन्तुष्ट महीपति,

को अयोग्य ही कहा गया है। इसीलिए आजकल लोग तृष्णात्याग, वैराग्य या निष्कामता के नाम पर प्रचार करते हुए शास्त्रीय विविध काम्य-कर्मों का परित्याग करते हैं और अन्त में अवैध एवं निकृष्ट तृष्णाओं के शिकार बनकर नष्ट हो जाते हैं। यहाँ तो एक ही श्लोक में राग-विराग दोनों का ही यथायोग्य सम्मान करना कहा गया है :

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह अपने को अजर-अमर मानकर विद्या एवं धन का उपार्जन करे और मृत्यु ने मारने के लिए केशग्रहण कर रखा है, यह समझ कर धर्म का आचरण करे। जो कल करना है, उसे आज ही करे, जो आज करना है, उसे अभी करे। जीवन का क्षणभर भी विश्वास न करे। इसीलिए कम्युनिस्टों को यह कहने का अवकाश नहीं रहता कि आदर्शवादी धर्म एवं आत्मा तथा वैराग्य का उपदेश केवल मजदूरों, गरीबों का मन तात्कालिक समस्या से हटाने के लिए करते हैं जो पूँजीवादियों के हित में हैं। धर्म एवं अध्यात्म का महत्त्व होते हुए भी सर्वसाधारण के लिए अनिवार्य रोटी-कपड़ा, इलाज एवं शिक्षा की व्यवस्था करके लौकिक जीवनस्तर सुधारने या उन्नत करने की बात अनुचित नहीं कही जा सकती।

आप कहते हैं कि : हमारे राष्ट्र का सच्चा उद्धार मनुष्य-निर्माण से होना चाहिए" (३८ पृ०)। यह ठीक है। किन्तु मनुष्य धर्म से बनता है। धर्म का प्रबोध एकमात्र वेदादि शास्त्रों से ही होता है। इसीलिए प्राचीन काल में ब्रह्मचर्याश्रम में शौचाचार, सदाचार-शिक्षण के साथ वेद-वेदांगादि का अध्ययनाध्यापन होता था। उसके बिना केवल गीतों, व्याख्यानों एवं खेल-कूदों से मनुष्यत्व का निर्माण सर्वथा असम्भव है। मानव बन जाने पर उसमें दुर्बलता नहीं रह जाती। प्रेम, आत्मसंयम, त्याग, सेवा आदि के स्वभाव सच्छिक्षा से व्यक्त होते हैं।

आन्तरिक अव्यवस्था का निवारण एवं बाह्य आक्रमणों का मुकाबिला भी शिक्षित, सभ्य धर्मनिष्ठ मनुष्य ही कर सकता है। अन्यथा विभिन्न मतवाले संघटन भी आपसी समन्वय न कर पायेंगे। दुर्भाग्य से देश में अनेक संघटन एवं अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। सबका निराकरण भी सम्भव नहीं। अतः शास्त्र एवं परम्परा को ही सरपञ्च बनाकर उसकी मध्यस्थता में ही समन्वय सम्भव है।

आपका यह कहना भी कि "शक्ति ही जीवन है" (४० पृ०), ठीक है, पर साथ ही शारीरिक शक्ति के साथ धर्म और उपासना से जनित शक्ति का संग्रह भी

आवश्यक है। नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः इसका अर्थ शारीरिक बल नहीं, साधन चतुष्टयसम्पन्न होकर वेदान्तों का उपक्रम-उपसंहारादि षड्विध लिंगों द्वारा ब्रह्म में तात्पर्य-निर्धारणरूप पाण्डित्य-सम्पादन के अनन्तर मनन द्वारा श्रुत अर्थ का व्यवस्थापनरूप निष्ठा-दार्ढ्य का बल ही प्रशस्य है। कारण, सहस्रों शरीरबल-वाले भी आत्मलाभ से वंचित रहते हैं। बृहदारण्यक में श्रवण को 'पाण्डित्य', मनन को 'बाल्य' एवं 'निदिध्यासन' को 'मौन' शब्द से कहा गया है :

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।
पाण्डित्यं च बाल्यञ्च निर्विद्याथ मुनिर्भवति॥

दृढ़-सुबुद्धि, प्रत्युत्पन्न-बुद्धि अवश्य आदरणीय है, पर वह उपासना से शीघ्र प्राप्त होती है। छल-छद्म से वैध-अवैध जिस किसी मार्ग से प्रतिपक्षी को पराजित करना कूटनीति है। 'धर्ममार्ग से ही दक्षता (पृ० ४३) निर्भीकता, वीरता आदि गुण महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी बुरे कर्मों एवं लोकापवाद से डरना भी चाहिए :

भीतिर्हि कस्मात् सततं विधेया लोकापवादाद् भवकाननाच्च।

आद्य शङ्कराचार्य ने कहा था कि लोकापवाद एवं संसार-कान्तार से सदा डरते रहना चाहिए; यद्यपि निवृत्तिमार्गियों का यही धर्म है कि वह न किसीको डराये और न स्वयं किसीसे डरे।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

गीता का यह उपदेश निवृत्तिमार्गीय साधक के लिए उपयुक्त होता है, लोक-व्यवस्थापक के लिए नहीं। किन्तु रणांगण में उतरनेवाले वीरों से शत्रुओं को भय हो, यह तो आवश्यक ही है। वीर से कोई न डरे, यह कहना ठीक नहीं। हाँ, यह ठीक है कि खल की विद्या विवाद के लिए, धन घमण्ड के लिए, शक्ति दूसरों को सताने के लिए होती है; लेकिन साधु की विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति रक्षण के लिए हुआ करती है :

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

श्री हनुमान् के गर्जन से रजनीचर की पत्नियों का गर्भपात हो जाता था। पाण्डवी-दल के शंख-निनाद से कौरव-वीरों के हृदय विदीर्ण हो गये थे :

चलत महाधुनि गर्जेउ भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निशिचर नारी॥ (मानस)

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्। (गीता)

आस्फोटितनिनादेन वृक्षभङ्गस्वनेन च।
बभूवुस्त्राससम्भ्रान्ताः सर्वे लङ्कानिवासिनः ॥
(वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड ४२.१)

अर्थात् हनुमान् के ताल ठोकने से लंकावासी भयभीत हो गये ।

'हिन्दू अपरिभाष्य है' इस शीर्षक से आप (पृ० ४४-४५) कहते हैं कि 'जैसे सूर्य-चन्द्र की परिभाषा हो सकने पर भी चरम सत्य की परिभाषा नहीं हो सकती, वैसे ही मुसलमान-ईसाई की परिभाषा है, पर हिन्दू अपरिभाष्य ही है ।' किन्तु यह पक्ष केवल पलायन का ही है, क्योंकि जिन महाभारत, गीता, रामायण, मनु, उपनिषद् आदि के वचन आप अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए उपस्थित करते हैं, उन सभीने परम सत्य परमेश्वर या ब्रह्म के लक्षण एवं परिभाषाएँ उद्घोषित की हैं ।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि
जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति, तद्ब्रह्म ।

अर्थात् सर्वभूत जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसमें जीवित रहते हैं, जिसमें लीन होते हैं वही ब्रह्म है, यह ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण है । यह ब्रह्म की अव्यभिचरित परिभाषा है । **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**—सर्वोपप्लवरहित अनन्त एवं अत्यन्त अबाध्य, स्वप्रकाश सत्य ही ब्रह्म या परम सत्यवस्तु है—यह उसका स्वरूप-लक्षण है ।

'ईश्वर अनुच्छिष्ट है', इसका कभी वर्णन नहीं हो पाया' (पृ० ४५), यह श्री रामकृष्ण परमहंस का कथन कोई नयी वस्तु नहीं । किन्तु उनका कथन—**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह** (तै० उ० ब्रह्मवल्ली, ९) इस तैत्तिरीय श्रुति का अनुवादमात्र है । मन के साथ वाणी जिसका प्रतिपादन, प्रकाशन करने में असमर्थ होकर निवृत्त हो जाती है, वह अनिर्वाच्य तत्त्व ही ब्रह्म है । रामायण भी कहती है :

मन समेत जहं जाय न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।।

किन्तु साथ ही **नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः, मनसैवानुद्रष्टव्यम्** श्रुतियाँ सुस्पष्ट है । अर्थात् अवेदवित् परमतत्त्व को नहीं जानता । सर्ववेद उसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं । परमपुरुष औपनिषद है । जैसे चाक्षुष रूप आलोकादिसहकृत दोषरहित मनःसंयुक्त चक्षु से नित्य ही उपलब्ध होता है, वैसे ही साधनचतुष्टयसम्पन्न, अधिकृत साधक द्वारा उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिङ्गों

द्वारा विचार्यमाण, उपनिषदों से परमपुरुष, परमसत्य निश्चय ही विदित होता है। सूक्ष्मदर्शी लोग अग्र्या बुद्धि अर्थात् परब्रह्माकाराकारित बुद्धि से उस ब्रह्म का अवश्य ही अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं। तभी चाक्षुष रूप के समान ही 'औप-निषद पुरुष' कहा जाता है। इसलिए शास्त्रों और आचार्यों ने इन वचनों का समन्वय कर निश्चित सिद्धान्त का निरूपण किया है। ब्रह्म वृत्तिव्याप्ति का विषय होता है। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्ति से असत्त्वापादक, अभानापादक आवरण की निवृत्ति होती है। इसीलिए ब्रह्म-योग्य अग्र्यबुद्धि से साक्षात्कार है। किन्तु फलव्याप्ति का विषय न होने से ब्रह्म को मन एवं बुद्धि से अगम्य भी कहा गया है :

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्‌भिर्निराकृतम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥

इसी प्रकार शब्द द्वारा शक्तिवृत्ति से ब्रह्म का बोध नहीं होता; क्योंकि स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध न होने से उसमें शब्द की प्रवृत्ति ही नहीं होती। डित्थ, डवित्थ आदि शब्दों की स्वरूप से, गो आदि शब्दों की जाति से, नील-गौ आदि शब्दों की गुण से, 'लावकः, पालकः' आदि शब्दों की क्रिया से और धनी, गोमान् आदि शब्दों की सम्बन्ध से प्रवृत्ति होती है। लक्षणा भी शक्यार्थ-सम्बन्ध में ही प्रवृत्त होती है। किन्तु ब्रह्म अनिर्देश्य, एक, अजाति, निर्गुण, निष्क्रिय एवं असंग है। अतः शक्ति, लक्षणा आदि किसी भी वृत्ति से ब्रह्म में शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए ब्रह्म 'अवाच्य' माना जाता है। फिर भी परब्रह्म में सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व, ईश्वरत्व-जीवत्व तथा अन्य जड़-जगत् अध्यस्त होने से आध्यासिक सम्बन्ध से रहता है। अतः 'तत्, त्वं' शब्दों के वाच्य सर्वज्ञ ईश्वर एवं अल्पज्ञ जीव के संबंधी अधिष्ठान चैतन्य में उक्त शब्दों की लक्षणा मान्य होती है। अतः लक्षणा-वृत्ति से उपनिषदों द्वारा ब्रह्म का प्रबोध होता है। तभी **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः** आदि वचनों की संगति लगती है। इसी प्रकार अस्थूलमनणु....; नेति नेति आदि वाक्यों द्वारा अनात्म-प्रपञ्च के बाध या निवृत्ति द्वारा भी बाध के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का प्रति-पादन होता है :

अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि। (महिम्नःस्तोत्र, २)

इस तरह जब ब्रह्म की भी परिभाषा होती है, तब फिर उसके दृष्टान्त से 'हिन्दू' को 'अपरिभाष्य' कहना वैसा ही है, जैसे किसी विवाहार्थी वर से गोत्र पूछे जाने पर वह कहे कि 'जो तुम्हारा गोत्र है वही हमारा।' किन्तु उसने यद्यपि अन्धानुकरण से अपना अज्ञान छिपाने का प्रयत्न किया, फिर भी मनोरथ पूरा नहीं हुआ; क्योंकि सगोत्र में विवाह नहीं होता। अवाच्यता का प्रयोजक निर्देश्यस्वरूप, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्धादि का अभाव ही होता है। फिर किसी प्रत्यक्ष मनुष्य-समूह को, जिसमें

निर्देश्य स्वरूप-गुण-क्रियादि सब कुछ हैं, अवाच्य या अपरिभाष्य कैसे कहा जा सकता है ?

वस्तुतः यह भी शास्त्रप्रामाण्यवाद से पिण्ड छुड़ाने का असफल प्रयास ही है। मनुष्यत्वजाति सभी मनुष्यों में होती है। श्वेत, अश्वेत, पीत आदि मनुष्यत्व-व्याप्य जातियाँ हैं। रंगभेद के समान ही देशादिकृत आकृतिभेद से भी जातिभेद का व्यवहार होता है। किन्तु हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि भेद रंगभेद या आकृति-भेद पर अवलंबित नहीं; धर्मभेदको लेकर ही ये भेद हैं। जो कुरान के अनुसार इस्लाम-धर्म के विश्वासी हैं, वे मुसलमान हैं। बाइबिल के अनुसार ईसाई-धर्मानुयायी ईसाई हैं। इसी तरह वेदादि-शास्त्रों के अनुसार हिन्दू-धर्म के अनुयायी 'हिन्दू' हो सकते हैं :

वेदशास्त्रोक्तधर्मेषु वेदाद्युक्ताधिकारवान्।
आस्थावान् सुप्रतिष्ठो यः स वै हिन्दुः प्रकीर्तितः ॥

जो वेदादिशास्त्रानुसार वेदशास्त्रोक्त धर्म में विश्वासवान् तथा स्थित है वह हिन्दू है। वेदादिशास्त्रों में वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, वाजपेय, राजसूय आदि कुछ धर्म ऐसे हैं, जिनका अनुष्ठान जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही कर सकते हैं। निषादस्थपति-याग, रथकारेष्टि जैसे कुछ कर्मों का शूद्र ही अनुष्ठान कर सकते हैं। कुछ सत्य, दया, क्षमा, अहिंसा, ईश्वरभक्ति, तत्त्वज्ञान आदि का अनुष्ठान मनुष्यमात्र कर सकते हैं। किन्तु वे सभी वेदादिशास्त्रों का प्रामाण्य माननेवाले तथा अपने अधिकारानुसार वेदादि-शास्त्रोक्त धर्म का अनुष्ठान करनेवाले हिन्दू हैं। जन्मना ब्राह्मणादि का भी सब कर्मों में अधिकार नहीं है। ब्राह्मण एवं वैश्य का राजसूय में अधिकार नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों का वैश्यस्तोम में अधिकार नहीं। निषादस्थपतीष्टि में उक्त तीनों का अधिकार नहीं। विशेषतः हिन्दू-शास्त्रानुसार जिनके पुनर्जन्म-विश्वास, दायभाग, विवाह, अन्त्येष्टि, मृतक-श्राद्धादि कर्म होते हैं, वे सभी हिन्दू हैं। बौद्धों, जैनों में भी यद्यपि तत्त्वज्ञान में मतभेद रहा है, तथापि व्यवहार में दायभाग, विवाह, अन्त्येष्टि, पुनर्जन्म, व्यवहार आदि में भेद नहीं था। मिताक्षरादि निबंध-ग्रंथों पर आधृत 'हिन्दू लॉ' से ही सबका शासन होता है। 'हिन्दू-कोड' बनानेवालों ने भी 'हिन्दू लॉ' द्वारा शिष्ट (शासित) को ही हिन्दू माना था। गाय में जिसकी भक्ति हो, प्रणवादि ईश्वर-नामों में यथाधिकार जिसकी निष्ठा हो तथा पुनर्जन्म में जिसका विश्वास हो, वह हिन्दू है :

गोषु यस्य दृढा भक्तिः प्रणवादौ दृढा मतिः।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दुरिति स्मृतः ॥

इस तरह 'वेदादि-शास्त्रप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वम्, मिताक्षरादिनिबन्धाधृत-नियमनियम्य-

त्वम्, गोभक्तिमत्त्वे प्रणवादिपरेशनामनिष्ठत्वे च सति पुनर्जन्मविश्वासवत्त्वम्' ये सभी हिन्दुत्व के सुपुष्ट लक्षण हैं।

बस्तुतः जहाँ लक्ष्य प्रत्यक्ष होता है, वहाँ तो उसके अनुसार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असंभवादि दोषशून्य लक्षण का निर्माण किया जाता है। जैसे गौ प्रत्यक्ष है, अतः सास्नादिमत्त्व उसका लक्षण किया जाता है। सास्ना या गलकम्बल गौ का असाधारण लक्षण है। वह सब गो-व्यक्तियों में रहता है, अश्व-महिष आदि में नहीं होता। ऐसे ही आकृतिमूलक लक्षण भी सभी समान आकृतिवालों में संगत होते हैं। परन्तु शब्दों की शुद्धि-अशुद्धि सर्वसाधारण के लिए प्रत्यक्षगम्य नहीं, सर्वज्ञकल्प कवियों को ही उसका ज्ञान होता है। अतः वहाँ लक्ष्य के अनुसार लक्षण नहीं बनाया जाता, किन्तु लक्षण के अनुसार ही लक्ष्य का निर्णय किया जाता है। ऋषियों को ही शब्द की साधुता-असाधुता का ज्ञान होता है। अतः पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि द्वारा निर्मित लक्षणों, सूत्रों द्वारा ही साधुत्व-असाधुत्व का ज्ञान करना आवश्यक है। ऋषि लक्ष्यैकचक्षुष्क एवं तद्भिन्न लक्षणैकचक्षुष्क होते हैं।

इसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्ण तथा उनके अधिकार तथा धर्म आदि प्रत्यक्षानुमानगम्य नहीं हैं। किन्तु अपौरुषेय एवं आर्ष शब्दों के अनुसार ही उनका ज्ञान होता है। अतः उक्त विषयों में संख्या बढ़ाने की दृष्टि से रबड़ छन्दवाली परिभाषा मान्य नहीं होती।

लोक में भी किसी प्रतिष्ठित संस्था के सदस्यतासंबंधी स्थायी नियम होते हैं। सदस्यों को उन नियमों का पालन करना पड़ता है। जो सदस्य उनका पालन नहीं करते, उन्हें सदस्यता से च्युत कर दिया जाता है। जो संस्था नियमोल्लंघन करनेवालों को भी सदस्य-संख्यावृद्धि के लोभ से सदस्य बनाये रखती है या उसके अनुरोध से नियमों में घटाव-बढ़ाव करती है, वह संस्था स्थिर नहीं रह सकती। इसी तरह सदस्यसंख्या-वृद्धि का लोभ छोड़कर यदि वस्तुस्थिति के अनुरोध से साधर्म्य-वैधर्म्य का विचार किया जाय, तो निश्चय ही 'हिन्दू' का लक्षण या परिभाषा हो सकती है। संख्यावृद्धि-लोभ के अतिरिक्त ब्रह्म जैसी कोई भी ऐसी तात्त्विक बात नहीं, जिससे हिन्दू-समाज को 'अपरिभाष्य' कहा जाय। जैसे कांग्रेस ने स्वराज्य को अपरिभाष्य बताकर लोगों को धोखे में रखा था, वैसे ही आप भी हिन्दू को अपरिभाष्य सिद्ध करने की निरर्थक चेष्टा करते हैं।

"उन लोगों के सम्बन्ध में यह बात स्वाभाविक भी है जिनकी वृद्धि एवं विकास गत अनेक शताब्दियों में होता आ रहा है" (पृ० ४६) आपका यह कथन भी इसी बात की पुष्टि करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि आज ब्राह्मणादि वर्णों के अतिरिक्त अनेक जातियाँ, उपजातियाँ वैदिक-धर्म से अतिरिक्त अनेक धर्म, उपधर्म,

अनेक रीति-रिवाज हिन्दू-समाज में प्रविष्ट हैं। अतः पुरानी परिभाषा अव्याप्त है। यद्यपि उक्त सभी बातों को संकलन करनेवाली भी परिभाषा हो सकती है; तथापि आपको डर है कि आगे कुछ दिनों में और भी अनेक धर्मों एवं जातियों का उसमें सन्निवेश संभाव्य है, अतः आजकी परिभाषा भी आगे चलकर सर्वसंग्राहक न हो पाये। किन्तु जब हिन्दुत्व का कोई एक ठोस स्थायी आधार या नियम मान्य नहीं, तो 'हिन्दुत्व' नाम से भी अपने आपको व्यामोह क्यों? क्योंकि आज बहुत-से हिन्दू अपने आपको 'हिन्दू' कहना भी ठीक नहीं समझते। वर्तमान काल में भी बहुत-से लोग आपकी संस्कृति एवं आदर्श को नहीं मानते। आप भी जब सभी जातियों को आत्मसात् करना चाहते हैं और ठोस अपौरुषेय एवं आर्ष धर्मग्रन्थों एवं तदुक्त वर्णाश्रम-धर्म आचार-विचार पर विश्वास नहीं करते तो केवल अपरिभाष्य हिन्दू-शब्द और तथाकथित अपरिभाष्य हिन्दू-संस्कृति तथा भगवा-झण्डे का ही व्यामोह क्यों?

आपके तुल्य ही कुछ लोग कहते हैं कि 'पाणिनि आदि ऋषियों ने व्याकरण-सूत्रों के नियमों से संस्कृत भाषा को जकड़ दिया है; इसीलिए उसका विकास रुक गया।' किन्तु उनकी दृष्टि का यह विकास संस्कृत के शुद्धरूप का विनाश ही होगा। इसी तरह आपका तथाकथित विकास शुद्ध हिन्दुत्व का विनाश ही है। प्रमाणहीन, परिभाषाहीन, तात्त्विक आधाररहित एवं धर्महीन गीत गानेवाला; कबड्डी खेलनेवाला; निःसार तथाकथित हिन्दुत्व आपको ही अभीष्ट हो सकता है, किसी प्रामाणिक हिन्दू को नहीं। विचित्रता यह कि फिर भी उसे आप 'अनादि' (पृ० ४६) कहना चाहते हैं। यदि आप इसके मूल को अनादि कहना चाहते हैं, तो यह बताइये कि वह मूल क्या है? न्यायदर्शन के अनुसार तो सभी वस्तु प्रमेय एवं सभी वाच्य हैं। फिर आपका हिन्दूत्व अप्रमेय एवं अवाच्य कैसे?

अतएव "हमारा अस्तित्व उस काल से है, जब नाम की आवश्यकता नहीं थी। हम आर्य प्रबुद्ध लोग थे। प्रकृति एवं आत्मा के ज्ञाता थे। हमने एक महान् सभ्यता, महान् संस्कृति तथा एक अनुपम समाज-व्यवस्था का निर्माण किया था। (पृ० ४६) यह सब कथन निसार है; क्योंकि आपकी संस्कृति, सभ्यता सब कुछ प्रमाणशून्य, अपरिभाष्य, निराकार अतएव खपुष्पवत् है, अथवा केवल आपका मिथ्याभिमान ही है। जिनको प्रकृति-पुरुष का ज्ञान था, वे तो वेदादि-प्रमाणित ब्राह्मणादि वर्णवाले हिन्दू थे। आपका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

पूर्व-उत्तर मीमांसक, वैयाकरण आदि भारतीय दार्शनिकों से यह मत विरुद्ध है। क्योंकि इन सभीके मत में शब्द और अर्थ का स्वाभाविक एवं नित्य संबंध होता है। **औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** (पूर्व मी० द० १. १: ५) आदि जैमिनीय-सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि शब्द अर्थ का संबंध औत्पत्तिक अर्थात् स्वाभाविक

है। बादरायण महर्षि ने भी **अतएव च नित्यत्वम्** (उ० मी० १. ३. २९) इस सूत्र से वेद को नित्य कहा है। **वाचा विरूपनित्यया** (ऋ० सं० ८. ७५. ६) इस ऋग्मंत्र में वेदवाणी को नित्य कहा गया है। वैयाकरणों के अनुसार कोई भी प्रत्यय (विचार) बिना शब्द के नहीं होता। अतः विचार का भाषा के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। तथा च ईश्वरीय, नित्यज्ञात में अनुविद्ध शब्द नित्य ही होते हैं।

अतः 'शब्दों का उद्भव तो उसके पश्चात् ही हुआ है' (४६)। यह पाश्चात्यों के आधुनिक शिष्यों का ही मत है। एक तरफ आप अन्धानुकरण का खण्डन करते हैं, दूसरी तरफ स्वयं ही दूसरों के विचारों का अन्धानुकरण करते हैं। आधुनिक ही कहते हैं कि 'पहले कोई भाषा नहीं थी। मनुष्य भी पशुओं जैसी ही बोली बोलता था। धीरे-धीरे मनुष्य सभ्य होता हुआ भाषा का परिष्कार करता है। प्राकृत का संस्कार करने से 'संस्कृत' भाषा बनती है।' किन्तु ये सब मत असंगत हैं और प्राकृत व्याकरण से भी विरुद्ध हैं; क्योंकि उसमें प्रकृति संस्कृत को माना गया है और उस प्रकृति संस्कृत से उद्भूत को 'प्राकृत' कहा गया है। अतएव हम शब्दों के उद्भव से भी पहले के हैं। इसलिए 'हिन्दू अपरिभाष्य हैं' यह मत सर्वथा अशुद्ध एवं अग्राह्य है।

नैयायिकों के अनुसार भी शब्द के अनित्य होने पर भी प्रवाहरूप से शब्द-सामान्य एवं वेदादि-शास्त्र नित्य ही हैं।

आप यह भी कहते हैं कि 'हम आर्य प्रबुद्ध लोग थे' (पृ० ४६)। परन्तु यह भी अशुद्ध है, कारण स्वामी एवं वैश्य 'अर्य' होते हैं, आर्य नहीं। **अर्यः स्वामिवैश्ययोः** (पा० सू० ३.१.१०३) यह व्याकरणसूत्र है। आर्य शब्द का प्रयोग शूद्र के लिए भी नहीं होता था। वस्तुतः इन्हीं कारणों से तो आप शास्त्रप्रामाण्य मानने से पलायन करते हैं। वही हिन्दू-समाज जीवन्त सत्य है जो प्रामाणिक आधार पर स्थिर है; आपका तथाकथित अपरिभाष्य हिन्दू नहीं।

यद्यपि आप वहीं आगे चलकर हिन्दू को 'गैरमुस्लिम' कहने का विरोध करते हैं (४७); परन्तु जब आपका कोई भावात्मक रूप परिभाष्य ही नहीं है तो अर्थतः 'गैरमुस्लिम' शब्द ही आपके लिए उपयुक्त हो सकता है। आखिर अपरिभाष्य शब्द भी तो नकारात्मक ही है। आश्चर्य है कि जो हिन्दुत्व के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता, जो उसकी परिभाषा भी नहीं कर सकता, वही दुनिया के सामने बढ़-चढ़कर घमण्ड की बात करता है। ऐसे समूहों की संसार में कमी नहीं जो संसार में अपने को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। ईश्वर, आत्मा या परमसत्य की अनुभूति का दावा करनेवालों की भी कमी नहीं है।

वस्तुतः किसी वस्तु का साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान से ही निरूपण होता है। साधर्म्य ही लक्षण होता है और वही परिभाषा होती है। नित्य, एक एवं अनेक में समवेत धर्म या साधर्म्य ही जाति, लक्षण, परिभाषा होती है। यदि पुनर्जन्म हिन्दूमात्र की निजी विशेषता है तो वही उसकी परिभाषा या लक्षण हो सकता है : **नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्।**

किन्तु वहाँ भी प्रश्न होगा कि पुनर्जन्म का सिद्धांत भी किसी तर्क या प्रत्यक्ष से सिद्ध है अथवा आगम से ? तर्क तो अव्यवस्थित है। विरोधी-अनुरोधी तर्क नये-नये निकलते ही रहते हैं। आप भी अन्त में यह स्वीकार करते हैं कि "हमारे सभी पवित्र-ग्रन्थों तथा प्राचीन-अर्वाचीन सम्प्रदायों में यही मूलभूत तत्त्व अन्तर्निहित है" (पृ० ४८)। पर यह कहने में क्यों हिचकते हैं कि वे कौन-से पवित्र ग्रंथ हैं और उनका प्रामाण्य मान्य है या नहीं ? मान्य है 'तो कोई पुस्तक हमें मान्य नहीं' इस कथन का क्या विरोध नहीं हुआ ? यदि शास्त्र मान्य हैं तो फिर सीधे कह ही सकते हैं कि वेदादि पवित्र धर्मग्रंथों द्वारा प्रोक्त धर्म सभ्यता-संस्कृति में विश्वास रखनेवाला हिन्दू है।

आपका यह कथन कि 'स्वार्थरहितभाव से केवल कर्तव्य के नाते कर्म करते हैं···तो हमारे विविध कर्म, एवं उनके फल हम पर प्रभाव नहीं डालते' (४८ पृ०), तभी संगत होगा जब कार्य-अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र को ही प्रमाण मानकर चला जायगा। अन्यथा शास्त्रविरुद्ध सुरा-मांसादि का दान निष्काम होकर करने पर भी उसका दुष्परिणाम भोगना ही पड़ेगा। शास्त्रविरुद्ध रजस्वला कन्या का दान, सगोत्र-सपिण्ड कन्या का परिणय आदि निस्सन्देह नरकादि के हेतु होंगे।

"हमारे दार्शनिकों ने उस सत्य की बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में 'मनुष्य' को रखा है·········उन्होंने घोषणा की है—हमारे समान ही प्रत्येक मनुष्य उस सत्य का एक स्फुल्लिंग है" (४९ पृ०) आपका यह कथन भी निःसार ही है; कारण वे कौन दार्शनिक हैं जिन्हें आप प्रमाण मानते हैं, यह स्पष्ट नहीं बताया। यदि—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।"
"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥"
'तद्यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवैतस्मा-
दात्मनः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणा व्युच्चरन्ति।'

(अर्थात् गीता में भगवान् कहते हैं कि 'जीव मेरा ही अंश है। जो अपने समान ही सबमें सुख-दुःख का अनुभव करता है वह परमयोगी है। उपनिषदें कहती हैं कि जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे परमात्मा से सब लोक एवं सब प्राणी प्रादुर्भूत

होते हैं) आदि श्रुति-शास्त्र-वचन ही आपके दर्शन हैं, तो इनमें तो मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र—पशु, पक्षी, देवता, दानव, मानव सभी—उस परमात्मा के विस्फुल्लिंग कहे गये हैं। इससे मनुष्यों एवं हिन्दुओं की कोई विशेषता सिद्ध नहीं होती।

"मनुष्य अकेला नहीं रहता" (४९ पृ०) अर्थात् मनुष्य सामाजिक प्राणी है, यह प्रसिद्ध विचार रूसो आदि के हैं। इन्हें भारतीय दर्शनों के मत्थे मढ़ना उचित नहीं। भारतीय भावनानुसार तो मनुष्य एकाकी रहकर ही पूर्ण उन्नति कर सकता है : **एकाकी निस्पृहः शान्तः**। आपने भी अन्त में अर्धनग्न संन्यासियों की महत्ता मानी है (पृ० ५०)।

"हृदय की विशालता, मन की शुद्धता, चरित्र की उदात्तता, बाह्य सम्पदा के पीछे न भटककर सद्गुणों का संग्रह करना (पृ० ४९) ये गुण अवश्य महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु ये हिन्दुओं से अतिरिक्त अन्य लोगों में भी होते हैं। ये हिन्दुत्व के असाधारण परिचायक नहीं कहे जा सकते। मूल वस्तु को छोड़कर पल्लव-ग्रहण से काम नहीं चल सकता। चरित्र क्या है, उदात्तता क्या है आदि का भी निर्णय शास्त्रों से ही होता है।

वस्तुतः श्रुतिशास्त्रानुगा बुद्धि ही सब सद्गुणों का मूल है। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार भरतजी ने कौशल्याजी से अनेक शपथों द्वारा यह प्रमाणित किया कि राम के वनगमन में उनका कोई हाथ नहीं। उन शपथों में सर्वप्रथम यह है कि **मातः**! सत्यसंध, सज्जनों में श्रेष्ठ श्रीराम को जिसकी अनुमति से वनवास हुआ हो उसे कभी भी ब्रह्मचर्यादिव्रतपूर्वक आचार्यपरंपरा से प्राप्त होनेवाली शास्त्रानुसारिणी बुद्धि न हो :

कृतशास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत्तस्य कदाचन।
सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥

(वा० रामा० २.७५.२१)।

जब श्रुतिशास्त्रानुसारिणी बुद्धि होगी तभी धर्मनिष्ठा, अधर्मपरिवर्जन, ब्रह्मनिष्ठा एवं तदुपयोगी गुणों का संग्रह हो सकेगा।

आपने यह भी लिखा है कि "कोई व्यक्ति या तो हिन्दू हो सकता है या कम्युनिस्ट" (पृ० ५१)। पर जब हिन्दुत्व का कोई प्रामाणिक आधार ही नहीं तो फिर जैसे आपका कम्युनिस्ट-विरोधी हिन्दुत्व आदर्श है, वैसे ही किसीका कम्यूनिज्म-समन्वित हिन्दुत्व भी आदर्श हो ही सकता है; क्योंकि आप दोनों ही प्रमाणशून्य हिन्दुत्व के पोषक हैं। "यह मेरा धर्म है, यह मेरा दर्शन है, यह मेरा हिन्दू राष्ट्र है" (५२ पृ०) यह सब कथन भी तभी संगत है, जब कल्पना की उड़ान छोड़कर किसी दर्शन की मान्यता स्वीकार की जाय।

"कांग्रेस को मुस्लिम-लीग से वार्ता करके राष्ट्रिय आधार नहीं त्यागना चाहिए, अपितु यह कार्य करने के लिए हिन्दू-महासभा से कहना चाहिए" (पृ० ५२) हिन्दू-सभा के इस प्रस्ताव का तो सीधा अर्थ यही है कि कांग्रेस मुस्लिम-लीग से हिन्दू-हितों के सम्बन्ध में बात करके अपने राष्ट्रिय आधार को खो देगी; क्योंकि उसकी राष्ट्रियता मिली-जुली है। प्रस्ताव के शब्द पर ध्यान दिये बिना ही आपको यह भ्रान्ति हुई कि वास्तविक राष्ट्रियता भी वही है।

"आपने यह तो माना कि हमारे प्राचीन आचारों में प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व उठ जाना भी एक आचार है" (पृ० ५३), पर प्रातःकाल उठकर परमेश्वर का स्मरण करना, माता-पिता को प्रणाम करना, स्नान-संध्या-स्वाध्याय करना ये भी आचार कार्यान्वित करना आवश्यक नहीं ? जैसे आपने अन्त्येष्टि-संस्कार से केवल 'अग्नि में मुर्दा जलाना' पकड़ा, वैसे ही प्रातःकृत्यों में केवल सबेरे उठ जाना पकड़ा, क्योंकि कबड्डी की शाखा में जाने में शायद यह आचार उपयुक्त हो !

आपने यह भी स्वीकार किया है कि 'शिवाजी उन आदर्शों से स्फूर्त थे जिनकी प्रतिष्ठा रामायण और महाभारत में हुई है" (पृ० ५४)। पर यह समझने में भूल की कि उन आदर्शों का ज्ञान रामायण-महाभारत से ही हुआ या स्वतंत्र ? यदि स्वतंत्र तो फिर रामायण-महाभारत का नाम लेना बेकार ही है। यदि रामायण आदि से ही आदर्श का स्वरूप एवं महत्त्व ज्ञात हुआ, तब "हम कोई पुस्तक प्रमाण नहीं मानते", क्या आपकी यह उक्ति संगत है ?

"राम एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श भ्राता, एक आदर्श पति, एक आदर्श मित्र एक आदर्श शिष्य···उन एक में आदर्श हिन्दू पुरुषत्व या सब कुछ समाहित था" (पृ० ५६) क्या आपका यह कथन भी रामायण के प्रामाण्य-बिना संगत हो सकता है ? आखिर राम कौन थे, कैसे थे, उनको आदर्श क्यों माना जाय ? रावण को ही आदर्श क्यों न माना जाय ? परंपराएँ भी संसार में अनेक तरह की हैं ही, पर कौन अनुकरणीय हैं और कौन अननुकरणीय, इन सब बातों को समझने के लिए क्या शास्त्रप्रामाण्य आवश्यक नहीं ? यदि राम आदर्श हैं तो रामकी शास्त्रनिष्ठा भी तो मान्य होनी चाहिए ?

"ऐसे ही श्रीकृष्ण भी थे" (पृ० ५६) यह उक्ति भी शास्त्रप्रामाण्य मान्य होने पर ही संगत है, अन्यथा नहीं। उन्हीं आदर्श कृष्ण ने गीता में कहा है कि कार्य-अकार्य के निर्णय में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। जो शास्त्रविधि का उल्लंघन करके कार्य करता है वह सिद्धि, सुख या परागति कुछ भी नहीं पाता :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

क्या आदर्श कृष्ण के ये वाक्य मान्य हैं ? यदि हाँ तो 'कोई पुस्तक प्रमाण मान्य नहीं' यह कथन क्या असंगत नहीं ?

आप हिन्दू-विद्यार्थी का सही चित्र कृष्ण में पाते हैं (पृ० ५६); अर्जुन, भीष्म का मधुर व्यवहार (पृ० ५७) आप महाभारतादि शास्त्रों से ले लेते हैं—यह बहुत अच्छी बात है। परन्तु गुरु-शिष्यों में जिन शास्त्रों का पठन-पाठन होता था और जो शास्त्रोक्त आचार थे, उनकी उपेक्षा करना क्या अर्धकुक्कुटोन्याय नहीं है ?

आपने गीता के **स्वधर्मे निधनं श्रेयः** (पृ० ५८) वचन का उद्धरण देते हुए बताया कि "स्वधर्म का पालन करते हुए निधन भी श्रेष्ठ है। दूसरे का धर्मग्रहण करने के परिणाम भयावह होते हैं।" परन्तु आप श्रुति-स्मृत्यादि धर्मग्रन्थों को बिना स्वीकार किये स्वधर्म, परधर्म का ज्ञान कैसे प्राप्त करेंगे ? आपका धर्म तो अहिंसा-सत्यादि यम तथा संघटनसंबंधी चातुर्य ही है। पर वह तो सभी राष्ट्रों का धर्म है। फिर स्व-पर इन विशेषणों का उपयोग क्या ?

वस्तुतः किसी ग्रंथ के किसी वाक्य का अर्थ उसके पौर्वापर्य-सम्बन्ध से ही लगाना उचित है। गीता के पौर्वापर्य की पर्यालोचना करने पर वहां वर्णाश्रम-धर्म ही धर्म-पद से विवक्षित है। अर्जुन ब्राह्मणधर्म संन्यास ग्रहणकर युद्ध से उपरत होना चाहता था। उसका स्वधर्म क्षत्रियधर्म है और संन्यास परधर्म। 'स्वधर्म में ही रहकर मरना भी श्रेष्ठ है, परधर्म का पालन नहीं'—यह बताकर भगवान् उसे युद्ध में ही संलग्न रहने का समर्थन करते हैं। वर्णाश्रम-धर्म में भी कुछ तो जीविकानिर्वाहोपयोगी याजनाध्यापन,प्रतिग्रहादि; शौर्य, वीर्यार्जन, युद्ध-शासनादि; कृषि,गोरक्ष्य, वाणिज्यादि; सेवा-शिल्पादि धर्म्य जीविका कार्य या कर्म हैं। किन्तु सन्ध्या, अग्निहोत्र, स्वाध्यायाध्ययन दान, योग आदि पारलौकिक धर्म होते हैं। इन सबका परिनिष्ठित एवं तेजस्विज्ञान वैध वेदादि-धर्मशास्त्राध्ययन से ही हो सकता है। उड़ती-चलती बातों या केवल दूसरों को देखकर इनका अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए वैध स्वाध्यायाध्ययन द्वारा प्राप्त वेद एवं वेदार्थज्ञान से ही अग्निष्टोमादि कर्म फलदायक होते हैं। मनमानी अनुष्ठित धर्म निरर्थक ही होता है।

आपने कहा है कि "राजसत्ता पर आधारित कोई राष्ट्रियता सुरक्षित नहीं रहती। इसीलिए फारस, यूनान, रोम आदि राष्ट्रों का भीषण पतन हुआ। हमारे राष्ट्र को यद्यपि अनेक शताब्दियों तक विविध आक्रमणों का शिकार होकर पराधीनता का अनुभव करना पड़ा, फिर भी हम जीवित हैं। इसका कारण यही था कि हमारी राष्ट्रियता के अस्तित्व का आधार कभी राजकीय सत्ता नहीं रही। धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करनेवाले सन्त-महात्मा ही हमारे आदर्श रहे हैं जो सब प्रकार

के प्रलोभनों से ऊपर उठे हुए, श्रेष्ठ सद्गुणों से सम्पन्न हैं; एकात्मता से उक्त समाज की स्थापना के लिए जिन्होंने अपने को समग्रभावेन समर्पित कर रखा है, वे सन्त-महात्मा ही हमारे आदर्श रहे हैं। इस रहस्य को जानकर ही रावण ने ऋषियों, मुनियों के वन्य आश्रमों एवं वहां होनेवाले यज्ञों को ही अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया था। परन्तु आध्यात्मिक शूरों ने उन आघातों का सामना किया। राम के व्यक्तित्व को उठाया गया। उस महान् परित्राता राम को विश्वामित्र, वशिष्ठ और अगस्त्य ने ढाला था। उन्होंने उनका मार्गदर्शन किया था। राम को वह भीषण शक्ति भी महर्षि अगस्त्य से ही प्राप्त हुई थी, जिससे उन्होंने रावण का वध किया'''। (पृष्ठ ६३ का सार)।

निःसंदेह राजसत्ता से धर्मसत्ता का महत्त्व ऊँचा है। इसीलिए तो भारतीय नीतिज्ञों ने धर्मनियंत्रित राजनीति को ही सब कल्याणों का मूल बतलाया है। तथापि धर्म एवं संस्कृति की रक्षा में राजसत्ता का बहुत बड़ा उपयोग भारत में सर्वदैव मान्य रहा है। शासनसत्ता विष्णु की पालनी शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। तभी तो कहा है : **नाविष्णुः पृथिवीपतिः**। अविष्णु विष्णुभिन्न कोई पृथ्वीपति (योग्य, धर्म-नियंत्रित शासक) नहीं होता। तभी तो ऋषियों ने राम जैसे योग्य शास्ता की अपेक्षा की थी। विश्वामित्र ने राम को लेने के लिए दशरथ का द्वार खटखटाया। समर्थ स्वामी रामदास ने शिवाजी को तैयार किया था। यदि राजा अनावश्यक होता तो ऋषिगण उनकी अपेक्षा क्यों करते ?

"चरित्र सर्वस्व है" (पृ० ४१)—चरित्र का महत्त्व वर्णन करते हुए आपने महाभारत के शीलसंबंधी प्रह्लादीय वृत्तान्त से शील का अर्थ चरित्र किया। पर आप द्वारा उद्धृत आख्यान विकृत एवं अपूर्ण है। आख्यान का सार यह है कि युधिष्ठिर का वैभव देखकर सन्तप्त दुर्योधन को धृतराष्ट्र ने समझाया था कि 'पुत्र, यदि तुम युधिष्ठिर जैसी या उससे विशिष्ट श्री की इच्छा करते हो तो शीलवान् बनो। शील से त्रैलोक्य-विजय संभव है। मान्धाता, जनमेजय एवं नाभाग प्रभृति राजाओं ने अतिस्वल्पकाल में पृथ्वी जीती थी।' धृतराष्ट्र ने नारदवर्णित वृत्तान्त बताया। प्रह्लाद ने शील के प्रभाव से त्रैलोक्य को स्वायत्त कर लिया। क्षीणशक्ति इन्द्र ने बृहस्पति से अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का साधन पूछा। बृहस्पति ने उपदेश दिया। इन्द्र ने पुनः प्रश्न किया कि 'क्या इससे भी अधिक कुछ उत्तम है ?' बृहस्पति ने कहा : 'इससे अधिक उत्तम ज्ञान भार्गव (शुक्राचार्य) के पास है।' इन्द्र ने भार्गव के पास जाकर उनका ज्ञान ग्रहण किया और उनसे भी वैसा ही विशेषसंबंधी प्रश्न किया। शुक्र ने कहा कि 'इससे भी विशिष्ट ज्ञान प्रह्लाद के पास है।' पुनश्च इन्द्र ने ब्राह्मण बनकर प्रह्लाद के पास जाकर श्रेयःसम्बन्धी प्रश्न किया और प्रह्लाद का

गुरुवृत्ति से पूर्ण अनुवर्तन किया। प्रह्लाद ने भी उपदेश दिया और इन्द्र की सेवा से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। तब इन्द्र ने उनसे उनका शील माँगा। प्रह्लाद शील को प्रदान करके चिन्तित हुए। उसी समय उनके अंग से एक विग्रहवान् महान् तेजस्वी पुरुष निकला। प्रह्लाद के पूछने पर उसने कहा कि 'मैं शील हूँ, आपने मुझे त्याग दिया, अब मैं उसी ब्राह्मण में जा रहा हूँ जिसे आपने वर प्रदान किया है।' पुनः उसी प्रकार तेजस्वी पुरुष प्रह्लाद के शरीर से प्रकट हुआ और उसने कहा : 'मैं धर्म हूँ, जहाँ शील रहता है वहीं धर्म भी।' इसी प्रकार सत्य, वृत्त, बल भी प्रकट हुए। पश्चात् एक दिव्य प्रकाशमयी महालक्ष्मी देवी प्रह्लाद के शरीर से प्रादुर्भूत हुईं और पूछने पर उन्होंने बताया कि 'मैं लक्ष्मी हूँ, जहाँ शील रहता है, वहीं धर्म रहता है। जहाँ धर्म रहता है वहीं सत्य रहता है। जहाँ सत्य वहीं वृत्त, जहाँ वृत्त वहीं बल रहता है और जहाँ बल रहता है वहीं लक्ष्मी रहती है।' लक्ष्मी ने यह भी बताया कि 'वह ब्राह्मण, जो ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करके तुम्हारा शिष्य बना था, इन्द्र था। तुमने शील से त्रैलोक्य पर विजय द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया। यह जानकर ही उसने तुम्हारा शील दानरूप में प्राप्त करके सब कुछ ले लिया।'

किन्तु आपने शील के बाद शौर्य का ही उल्लेख किया। धर्म, सत्य, वृत्त आदि का उल्लेख नहीं किया।

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥

लक्ष्मी ने कहा कि 'धर्म, सत्य, वृत्त, बल तथा मैं (लक्ष्मी) सब शीलमूलक ही हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।' लेकिन आपने चरित्र को ही शील मान लिया।

वस्तुतः चरित्र वृत्त के ही अन्तर्गत है। वृत्त भी सदाचार-विशेष ही है। 'चर गतिभक्षणयोः' के अनुसार चर-धातु का गति और भक्षण अर्थ है। 'गति' शब्द का ज्ञान और गमन और गमन का अर्थ हलचल है। देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि के सभी व्यापार गति हैं।

शास्त्रानुसारी धर्मनियंत्रित ज्ञान तथा देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की हलचलें और धर्मनियंत्रित भक्षण, खान-पान सब चरित्र-शब्द के अन्तर्गत हो जाते हैं। परन्तु आपने तो 'चरित्र' शब्द का अर्थ 'शील' ले लिया और शील को ही चरित्र मान लिया। तथा च दोनों ही अस्पष्ट रह गये। महाभारत के उसी प्रसंग में शील का स्पष्ट निरूपण कर दिया गया है :

धृतराष्ट्र उवाच—

सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं प्रह्लादेन महात्मना।
संक्षेपेण तु शीलस्य शृणु प्राप्तिं नरेश्वर॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथञ्चन॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि।
शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुसत्तम॥
यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियः क्वचित्।
न भुञ्जते चिरं तास समूलाश्च न सन्ति ते॥

(महाभा० शान्ति० १२४·६५–६९)

शास्त्रानुसार मन, वचन, कर्म से किसीसे द्रोह न करना और सब प्राणियों पर अनुग्रह करना और यथाशक्ति दान करना—यह प्रशंसनीय शील है। जिससे अन्य लोगों का हित न हो, ऐसे पौरुष कर्म एवं जिससे लज्जित होना पड़े, ऐसे कर्म को कदापि न करना और उस शास्त्रीय कर्म को इस प्रकार सदैव करना, जो संसार में श्लाघायोग्य हो, संक्षेप में वही शील है। कहीं-कहीं शीलरहित राजा भी श्री प्राप्त कर लेते हैं, पर उसका भोग नहीं कर पाते; क्योंकि वे बद्धमूल नहीं होते।

प्रह्लाद ने जो इन्द्र को उपदेश किया था, वह निम्नप्रकार है :

नासूयामि द्विजान् विप्र राजास्मीति कदाचन।
काव्यानि वदतां तेषां संयच्छामि वहामि च॥

अर्थात् विप्र 'मैं राजा हूँ, सर्वज्ञ हूँ' इस अभिमान से काव्य, शुक्रप्रोक्त नीतिशास्त्र का उपदेश करनेवाले ब्राह्मणों की कभी असूया नहीं करता। उनका नियंत्रण शिरसा वहन करता हूँ। शुक्रप्रोक्त नीतिशास्त्र में निरत शुश्रूषु एवं अनसूयक जानकर वे विश्वस्त होकर प्रभाषण करते हैं और सदा हमें नियंत्रित रखते हैं।

धर्मात्मानं जितक्रोधं नियतं संयतेन्द्रियम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः॥

अर्थात् मुझे धर्मनिष्ठ, जितक्रोध संयतेन्द्रिय एवं नियंत्रित जानकर शास्ता विद्वान् लोग शास्त्रीय सिद्धान्तरूप अमृत से मेरा वैसा ही सिंचन करते हैं जैसे मधुमक्षिकाएँ विविध पुष्पों से मधु-संग्रह करके मध्वपूप (मधुछत्ता) का सिंचन करती हैं।

कामन्दक का कहना है कि दण्डनीति के बिना अध्यात्मविद्या, वार्ताविद्या सती होती हुई भी असती हो जाती हैं। सारी विद्याएँ दण्डनीति के बिना निरर्थक हो जाती हैं :

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ताः सतोर्विद्याः प्रचक्षते।
सत्योऽपि हि न सत्यस्ताः दण्डनीतेस्तु विप्लवे॥

(कामान्दकीय-नीतिसार, २८)

महाभारत का स्पष्ट मत है कि सभी धर्म राजधर्म में आ जाते हैं : **सर्वे धर्मा राजधर्मे प्रविष्टाः।** शान्तिपर्व के ६३वें अध्याय में कहा है कि राजा के धर्म से सर्वधर्म सफल होते हैं :

यथा राजन् हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध॥

(महाभा० शान्ति० ६२.२५)

जैसे हाथी के पाँव में सब पाद लीन हो जाते हैं, वैसे ही राजधर्म में सब धर्म लीन होते हैं; क्योंकि सभी धर्मों का पालन, प्रतिष्ठापन राजा के मुख्य कृत्य हैं।

अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति धर्मानन्यान् धर्मविदो वदन्ति।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः॥

(महाभा० शान्ति० ६३. २९)

अन्य धर्म अल्पाश्रय एवं अल्पफल हैं, क्षात्रधर्म महाश्रय एवं महाफल है। फिर भी

सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्॥

(महाभा० शान्ति० ६३. २६)

सब धर्मों में राजधर्म ही प्रधान है। सभी वर्ण राजपालित होकर ही धर्माचरण करते हैं। सभी त्यागियों के भो षड्भागभागी होने से राजा का त्याग भी सर्वाधिक होता है। साथ ही जो प्रजाहित के लिए प्रजा के धन-धर्म की रक्षा के लिए हर समय अपना रक्त बहाने, सिर कटाने को प्रस्तुत रहता है, उसका त्याग भी सर्वोत्कृष्ट है।

मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥

(महाभा० शान्ति० ६३. २८)

अर्थात् दण्डनीति नष्ट होने पर त्रयी (वेद) एवं फले-फूले भी वेदोक्त सब धर्म नष्ट हो जाते हैं। क्षात्रधर्म के नष्ट होने पर सभी वर्णाश्रमधर्म नष्ट हो जाते हैं। किं बहुना, सभी त्याग और सभी दीक्षाएँ नष्ट हो जाती हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् ने संसार को नियंत्रित रखने के लिए क्षत्र (शासक, राजा) का निर्माण बताया है। किन्तु उस विशिष्ट शक्तिसम्पन्न उग्र क्षत्र का भी

नियंत्रण करने के लिए धर्म का आविर्भाव बतलाया है। इसीलिए वह धर्म 'क्षत्र का भी क्षत्र' माना गया है। अर्थात् सर्वनियामक क्षत्र का भी नियामक धर्म ही होता है। राजा सब पर शासन कर सकता है, पर धर्म पर नहीं; क्योंकि धर्म तो राजा का भी नियामक है। जैसे हस्ती पर अंकुश आवश्यक है, वैसे ही राजा पर धर्म का नियंत्रण भी आवश्यक है। इसीलिए राजसत्ता का प्रतिनिधि राजा सदैव धर्मप्रतिनिधि ऋषि-महर्षि, सन्त-विद्वानों का अनुगामी होता रहा है। नीतिसहकृत धर्म एवं धर्मनियंत्रित नीति ही संसार को अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के मार्ग पर अग्रसर करते हैं।

इसी तरह आपने 'बौद्धों द्वारा प्राचीन परंपरा का उच्छेद हो रहा था तब उसकी रक्षा के लिए श्री शंकराचार्य का आविर्भाव माना है' (पृ० ६४)। किन्तु आप यह भूल जाते हैं कि शंकराचार्य ने वेदादि-शास्त्रों का सर्वतोभावेन प्रामाण्य स्थापित करके ही प्राचीन परम्परा की रक्षा की। वे उन वेदादि-शास्त्रों को परम प्रमाण मानते थे जिससे आप बचने का प्रयास करते हैं। अन्यथा बौद्धजातकों तथा लंकावतारसूत्र आदि ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित बौद्धधर्म की कुछ भी कम प्राचीनता नहीं है। गौतम बुद्ध के पहले अभिताभ आदि अनेक बुद्धों का आविर्भाव हो चुका था। लंकापति रावण के उपदेष्टा बुद्ध की चर्चा लंकावतार-सूत्र में है।

विद्यारण्य, तुलसी, सूर, ज्ञानेश्वर तुकाराम, रामानुज, मध्व (पृ० ६५) आदि भी वेदादि-शास्त्र के पूर्ण अनुयायी थे। यदि आप उनके द्वारा स्वीकृत वेदादि-शास्त्रों का प्रामाण्य नहीं मानते तो उनके महत्त्व-वर्णन का कोई भी अर्थ नहीं। यदि भारतीय राष्ट्र सर्वस्व वेदादि-शास्त्र एवं तदुक्त धर्म तथा संस्कृति न रहे तो राष्ट्रियता जड़ वन-पहाड़, नदियों एवं भूमि को छोड़कर कुछ भी नहीं। उसीके लिए बौद्धों, मुगलों एवं अंग्रेजों के हटाने की क्या आवश्यकता थी ?

इसी प्रकार "सत्ता भ्रष्ट करती है" (पृ० ६६) "संपूर्ण सत्ता संपूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है" (पृ० ६७)।

"यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥" (पृ० ६७)

ये सब बातें भी निरंकुश सत्ता के सम्बन्ध में ही कही जा सकती हैं। निरंकुश खल की ही शक्ति और सम्पत्ति अनर्थ की हेतु होती है, धर्मनियंत्रित साधुपुरुष की नहीं।

इसीलिए तो राजा-प्रजा दोनों ही पर शास्त्र एवं धर्म का नियंत्रण मान्य है। धर्मनियंत्रणशून्य शासक ही स्वयं पान-परायण होकर भी मद्यपान के विरुद्ध कानून बनाने का साहस कर सकता है।

"सत्ता पर अङ्कुश" (पृ० ६८) की बात ठीक ही है। इसीलिए तो मत्त गजेन्द्र को अङ्कुश, ऊँट को नकेल और घोड़े को लगाम से नियंत्रित किया जाता है। साइकिल एवं मोटर को भी ब्रेक द्वारा नियंत्रित करना आवश्यक होता है। जनतंत्रवादी भी शासन पर जनता का अंकुश मानते हैं। फिर भी शास्त्र एवं धर्म ही सर्वोत्कृष्ट राजसत्ता का अंकुश होता है, इसीलिए धर्म को 'क्षत्र का भी क्षत्र' अर्थात् शासक का भी शासक माना गया है। शास्त्र एवं धर्म के ही बल पर योग्य प्रजा एवं योग्य शासक सम्पन्न होते हैं।

"मातृभूमि की पुरातन भावना" (पृ० १८) अवश्य मान्य है, किन्तु वह उसी तरह उसी रूप में सर्वत्र है, यह हम कह चुके हैं।

"पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्" (पृ० १९) यह वेदमंत्र केवल भारत का ही नहीं। किन्तु समुद्रवसना, पर्वतस्तनमण्डला समग्र माधवी पृथिवी के शासक अखण्ड-भूमण्डलाधिपति का ही वर्णन करता है। अतएव वैदिक-सम्राट् केवल भारत के ही नहीं, किन्तु अखण्ड भूमण्डल के ही सम्राट् होते थे, जिसके संबंध में हम आगे वर्णन करेंगे।

आप लिखते हैं :

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

अर्थात् समुद्र के उत्तर और हिमाद्रि के दक्षिण का संपूर्ण देश भारतवर्ष है, उसमें भारतीय सन्तति रहती है। हिमालय उसके बाहर नहीं है, किन्तु विविध पर्वतशिखरों से समन्वित संपूर्ण हिमालय भी भारत के ही अन्तर्गत है। **हिमवत्-समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणम्** (कौटल्य)—त्रिविष्टप, तिब्बत, कैलास, मानसरोवर सब हमारे पवित्र भारतीय स्थान हैं, भारत का महाचित्र" (पृ० ८०), यह ठीक ही है। आपने यह भी ठीक ही लिखा है :

"गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

इससे यह भी अनुभूति करायी गयी है कि इन पवित्र नदियों के एक बूंद जल में भी हमारे समस्त पापों को धो डालने की शक्ति है" (पृ० ८१)। परन्तु क्या पाप एवं उसके धो डालने की शक्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से हो सकता है ? यदि उसके लिए उपर्युक्त शास्त्रवचन मान्य हैं तब तो फिर आपको कोई न कोई पुस्तक माननी ही पड़ेगी। इसी प्रकार—

"समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव।

अर्थात् श्रीरामचन्द्र समुद्र की तरह गम्भीर थे, हिमालय की तरह धैर्यवान् थे" (पृ० ८१) इसका भी ज्ञान बिना रामायण का प्रामाण्य माने कैसे हो सकेगा ?

आप कहते हैं : "तप, व्रत, यज्ञ करने के हेतु कौन-सा देश शुद्ध एवं पवित्र है, चरम सत्य की अनुभूति के लिए आदर्श स्थान कौन-सा है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जहाँ कृष्णसार हरिण मिलते हैं" (पृ० ८१) । आपने यह भी कहा है : "संसार में यही एक ऐसा पवित्र देश है, जहाँ छोटा-सा सत्कर्म भी सैकड़ों, हजारों गुना अधिक फलदायी होता है । संसार में जिसे मंगलदायिनी पुण्यभूमि कहा जाता है, जहाँ ईश्वर की ओर अग्रसर होनेवाले प्रत्येक आत्मा को अपना अन्तिम आश्रयस्थल प्राप्त करने के लिए जाना ही पड़ता है" (पृ० ८२) ।

किन्तु जहाँ कृष्णमृग मिलते हों; वह शुद्ध-पवित्र देश है; उसमें तप, व्रत, यज्ञ एवं चरम तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है, यह भी क्या—

यत्र यत्र स्वभावेन कृष्णसारो मृगस्तदा ।
चरते तत्र वेदोक्तो धर्मो भवितुमर्हति ॥

(व्यासस्मृ० १.३)

इस शास्त्र के बिना आप किस प्रमाण से बतला सकते हैं ? इस तरह जब आपकी उपास्य मातृभूमि का समस्त महत्त्व शास्त्रों पर ही निर्भर है तब आप कैसे कहते हैं कि हमारे संगठन का आधार कोई पुस्तक नहीं है ? किसी सत्कर्म का भारत में हजारों गुना अधिक फलदायी होना भी यदि निष्प्रमाण एवं मनमानी ही है तब तो कोई भी किसी देश के संबंध में ऐसा ही कह सकता है । यदि आप शास्त्रप्रमाण के आधार पर उक्त कथन को प्रामाणिक मानते हैं, तो फिर शास्त्र और पुस्तक आपके गले-पतित होगी । किं बहुना, शास्त्रप्रामाण्य स्वीकार किये बिना आपकी पुस्तक का अधिकांश भाग निष्प्रमाण एवं निराधार ही हो जायगा ।

आप कहते हैं : "निःसंशय रूप से ईश्वरानुभूति के हेतु निर्धारित यही देश है । यह भावनाओं का उद्रेक नहीं, वरन् हमारा अटल विश्वास है" (पृ० ८२) । परन्तु प्रमाणहीन अटल विश्वास भी अन्धविश्वास माना जाता है । कब्र में रूहें कयामत के दिन तक पड़ी रहती हैं यह भी किन्हीं लोगों का अटल विश्वास होता है । आपने वृत्तपत्रों में प्रकाशित एक जर्मन गाथा की चर्चा की है, जिसमें उसके सन्यासग्रहण करने के लिए उग्र तपस्या करने पर भी असफलता के कारण भारत में पुनर्जन्म का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए हरिद्वार की गंगा में अपने शरीर को अर्पित करने की बात कही गयी है' (पृ० ८२) । परन्तु जब आप व्यास, वशिष्ठादि ऋषियों के ग्रन्थों का भी प्रामाण्य नहीं मानते तो फिर वृत्तपत्र की गाथा

पर कैसे विश्वास कर लेंगे ? शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार किये बिना क्या गंगा में देह-त्याग का कोई महत्त्व हो सकता है ? क्या यह अन्धविश्वास नहीं ?

आपने लिखा है कि "ईसाई-धर्म एवं इस्लाम-धर्म के संस्थापक को ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं मिला। यह वरदान तो केवल इसी भूमि के पुत्रों के लिए है कि वे ईश्वर को उसकी पूर्ण आभा के साथ साक्षात्कार करें, अनुभव करें। जब और जातियाँ पर्वत-कन्दराओं और वनों के बाहर नहीं निकल पायी थीं, तब वैदिक ऋषियों ने मानव को अमृतपुत्र के नाम से संबोधित किया था : **शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्त पुत्राः** और धीर-गम्भीर वाणी से उद्घोष किया था :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

अर्थात् मैं उस महिमावान् पुरुष को जानना हूँ, जो भगवान् सूर्य के वर्ण का है और अन्धकार से परे है, उसको जानने के बाद जन्म-मृत्यु का बन्धन नहीं रह जाता। इसके सिवा मोक्ष की प्राप्ति का अन्य रास्ता नहीं है। कितना स्पष्ट और संशयरहित भाव है इन शब्दों में ! परम विश्वास एवं आत्मानुभूति की उपर्युक्त अभिव्यक्तियों के समक्ष विश्व-वाङ्मय में अन्य कोई ऐसी अभिव्यक्ति नहीं है। श्रीकृष्णजी के सदृश दूसरा विश्व में कहाँ मिलेगा, जो आत्मजागरण के मानवता के लिए अमर-संदेश भगवद्गीता में स्वयं को उत्तम पुरुष (मैं) में ही परमेश्वर घोषित करते हैं" (पृ० ८२-८३)।

परन्तु उक्त वचन भी तो वेद-शास्त्रों के ही हैं। उनका प्रामाण्य मानेंगे तभी उनका उद्धरण एवं आपके अभीप्सितार्थ का प्रतिपादन हो सकेगा। साथ ही उन्हीं वेदादि-शास्त्रों के आचार-विचारसंबन्धी, वर्णाश्रमसंबंधी अन्य विषयों का भी मानना अनिवार्य हो जायगा। यह नहीं हो सकता कि आप उन्हीं वेदादि-शास्त्रों के कुछ अंशों का प्रामाण्य मान लें, कुछ अंशों की उपेक्षा कर दें। शुद्ध मन्त्रार्थ यह है :

'मैं इस प्रत्यक्चेतन से अभिन्न महान् पुरुष परमेश्वर का साक्षात्कार कर रहा हूँ, जो आदित्य के समान स्वप्रकाश हैं। यद्यपि आदित्य स्वविजातीय चक्षु, मन एवं साक्षीरूप प्रकाश की अपेक्षा रखते हुए भी स्वविजातीय प्रकाशनिरपेक्ष होने से स्वप्रकाश कहा जाता है; फिर भी प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमेश्वर तो सजातीय-विजातीय सर्वविध प्रकाशनिरपेक्ष होने के कारण निरपेक्ष रूप से ही स्वप्रकाश है। इसका यह अर्थ नहीं कि जैसे आदित्य का रूपमय प्रकाश है, वैसे ही परमेश्वर का भी रूपमय प्रकाश है। ऐसा होने पर तो वह भी दृश्य होने से अन्य दृश्यसाधारण ही हो जायगा। फिर **अदेश्यम् अग्राह्यम्** इत्यादि श्रुतिविरोध भी अनिवार्य हो जायगा। इसी-

लिए कहा गया है कि वह परमेश्वर तम अर्थात् अज्ञान एवं तत्कार्य जगत्-प्रपंच से परे और उससे उत्कृष्ट है, उसको जानने से ही मृत्यु का अतितरण होता है। मृत्यु-तरणपूर्वक मोक्षपदप्राप्ति का उक्त तत्त्वसाक्षात्कार से भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है।' वेदप्रामाण्य मानने पर ही प्रामाणिक ब्रह्मदर्शन की बात सिद्ध हो सकती है, अन्यथा हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद की बात तो दूर को है। आज तो अनेक ऐसे तथा-कथित अवतार हैं जो अपने को तत्त्वसाक्षात्कारसम्पन्न ही नहीं, स्वयं तत्त्वस्वरूप ही मानते हैं। 'राधास्वामी, हंस, निरंकारियों, ब्रह्माकुमारियों' की कथा सुनने-वालों को स्पष्टरूप से यह सब विदित ही है।

"शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणपति, सुब्रह्मण्यादि देवस्थानों तथा पवित्र-सरित्-सरोवर, धर्मारण्य, नैमिषारण्यादि तीर्थों के सम्बन्ध से स्वतः भी रामेश्वर, कन्या-कुमारी, बदरिकाश्रम, कश्मीर, अमरनाथ, कामाक्षा, हिंगलाज आदि संपूर्ण भारत-वर्ष धर्मभूमि और मोक्षभूमि है। उसका जल, पाषाण, वृक्ष, किम्बहुना, कण-कण वन्द्य एवं पूज्य हैं" (पृ० २४)। यह सही है, परन्तु शास्त्रप्रामाण्य के बिना यह सब निरा-धार, अन्धश्रद्धामात्र ही रह जायगा।

तीर्थों, नदियों, गाय आदि की पूज्यता विकासक्रम के आधार पर ही निर्भर नहीं हो सकती, क्योंकि विकास-क्रम के अनुसार पुण्य-पाप स्वर्ग-मोक्ष, सिद्ध नहीं होता, अन्यथा विकासवादी वैज्ञानिकों की भी इन वस्तुओं में पूज्य बुद्धि होनी चाहिए।

आपने लिखा है : "केवल बुद्धि अपर्याप्त है। सर्वज्ञता का दावा करनेवाले कुछ लोग कहते हैं, तथाकथित मातृभूमि पत्थर और मिट्टी के अतिरिक्त और है ही क्या? ऐसे लोग समझते हैं कि बुद्धि ही सब कुछ है, बौद्धिक तर्क के आधार पर यह देश अचेतन फैला हुआ भूखण्डमात्र है। किन्तु बौद्धिक तर्क की भी कुछ सीमाएँ हैं, मनुष्य का शरीर भी तो भौतिक ही है, अपनी माता का शरीर भी तो उतना ही भौतिक है, जितना अन्य किसीका। तब क्यों किसी व्यक्ति को अपनी माँ को और अन्य स्त्रियों से भिन्न समझना चाहिए, उसके लिए क्यों भक्ति होनी चाहिए, बुद्धिवादी के पास इसका कोई उत्तर नहीं है" (पृ० ८७)। "शरीरपोषण के लिए माड़सा (प्रोटीन, चिकनाई) और जल की आवश्यकता होती है, और यह खाद्यतत्त्व मनुष्य के मांस में आवश्यक मात्रामें प्राप्त होते हैं। अन्ततः जीवशास्त्र के अनुसार मनुष्य भी मांस, रक्त और अस्थियों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः क्यों न पड़ोसी का मांस खाया जाय? परन्तु ऐसा कहनेवाले को कोई तर्कशास्त्री भले भी कह लें, उसे सभ्य तो नहीं कहा जायगा" (पृ० ८७)।

यह बिलकुल ठीक है, परन्तु आप ही कहिये कि जब तर्क और बुद्धि मान्य नहीं है, तब फिर किस आधार पर किसी व्यक्ति को माँ और पूज्य माना जाय?

किस आधार पर मनुष्यमांस-भक्षण को असभ्यता और पाप माना जाय ? आस्तिकों का तो उत्तर स्पष्ट है : तर्क अप्रतिष्ठित, अनवस्थित होता है, उसकी कोई सीमा नहीं है। अतः न तो तर्क स्वयं प्रमाण है, न किसी प्रमाण के अन्तर्गत आता है। वह तो प्रमाणों का अनुग्राहकमात्र है, प्रमाणहीन बुद्धि भी भ्रांतिमात्र है, वही बुद्धि मान्य है, जो प्रमाण की कसौटी पर खरी उतरती है। इसीलिए अनादि-अपौरुषेय वेदादि-शास्त्रों के आधार पर धार्मिक-आध्यात्मिक तत्त्वों का निर्णय किया जाता है। **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव** आदि शास्त्रों के आधार पर माता, पिता, गुरु पूज्य होते हैं। तदनुसार ही भौतिक देह से पृथक् आत्मा एवं परमात्मा का निर्णय होता है। शास्त्रों के अनुसार ही स्थूल पृथिवी के अतिरिक्त एक स्थूल पृथिवी की अधिष्ठात्री महाशक्ति विष्णुपत्नी माधवी, मान्य एवं पूज्य होती है, उसीका वंदन :

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

इत्यादि रूप से किया जाता है, परन्तु आप तो किसी शास्त्रग्रंथ या पुस्तक को अपने मन्तव्यों के आधाररूप में मानते ही नहीं। फिर आपके पास आपके ही प्रश्नों का क्या उत्तर है ?

आप मातृभावना के विकास की बात भी करते हैं। कहते हैं : "विकासक्रम के अनुसार ...स्तनपायी प्राणियों तथा चिड़ियों में माँ के बच्चों को दूध पिलाने, अण्डा सेने की बात चलती है, परन्तु अन्त में उपयोगिता का अधिक अनुभव न होने से बच्चे माँ को भूल जाते हैं, एक दूसरे से नितान्त अनजान हो जाते हैं। विकास-क्रम में मनुष्य चरम अवस्था पर है, अतः सुसंस्कृत, मनुष्य नितांत अनुपयोगी होने पर भी माँ का सम्मान करता है। अन्त में जिनका ऋण उस पर है, वह उन्हें भी माँ के रूप में देखता है। वह नदियों को देखता है, जो उसे जल तथा भोजन देती हैं। उन्हें मां कहकर पुकारता है। गौ की ओर देखता है, जो जीवनभर अपने दूध से उसका पोषण करती है। उसे भी माँ कहने लगता है। ज्ञान की और उच्च अवस्था में पहुँचने पर वह देखता है कि पृथिवी माता है जो उसका पोषण और रक्षण करती है। मृत्यु के पश्चात् उसे अपने हृदय में स्थान देती है" (पृष्ठ ८८)। परन्तु यदि इस विकास-क्रम के अनुसार ही माँ, गौ और पृथिवी की पूज्यता हो तो जहाँ विकासवादी सिद्धांतों का खूब विकास हुआ है, तदनुसार ही बड़ी-से-बड़ी औद्योगिक क्रांति हुई है, वहाँ भी गौ के प्रति, नदियों के प्रति ऐसी पूज्यबुद्धि क्यों नहीं हुई ? विकासवाद का अंश ही उपयोगितावाद भी है, जिसके अनुसार गाय का दूध पिया जा सकता है, मारकर मांस भी खाया जा सकता है। उसके अनुसार योग्य का जीना, अयोग्य का मरना ही अनिवार्य है। तब क्या यह विकास-सिद्धांत भी आपको मान्य है ? अतः शास्त्रों

के आधार पर ही भूमिमाता, गोमाता और जन्मदात्री माता का महत्त्व समझा जा सकता है, विकासक्रम के अनुसार नहीं। भारतभूमि परम पवित्र माता है। उसकी शास्त्रानुसारिणी उपासना से भोग और मोक्ष दोनों ही सुलभ हो सकते हैं।

आपको हिन्दू-समाज में भी विकास के लक्षण दिखायी देते हैं। आप कहते हैं: "जैसे एक वृक्ष के जिसमें पत्तियाँ, फल और फूल के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के उसके कई भाग होते हैं—तने और शाखाओं में अन्तर होता है। शाखाओं, पत्तियों में एक दूसरे से नितान्त विभिन्नता है। किन्तु हम जानते हैं कि ये सब दीखनेवाली विविधताएँ केवलमात्र उस वृक्ष की भाँति-भाँति की अभिव्यक्तियाँ हैं, जब कि उसके सभी अंगों को पोषित करता हुआ उसमें एक ही रस प्रवाहित हो रहा है। यही बात हमारे सामाजिक जीवन की विविधताओं के सम्बन्ध में भी है, जो इन सहस्र वर्षों में विकसित हुई है। जिस प्रकार वृक्ष में फूल और पत्तियों का विकसन उसके विभेद नहीं, उसी प्रकार हिन्दू-समाज की विविधताएँ भी आपसी विघटन नहीं। प्राणी अपनी पूर्व-अवस्था में आकारहीन दशा में रहता है जिसे 'अमीबा' कहा जाता है। यह एक सेल का कोशीय सावयव शरीर होता है, यह दो समान रूपों में विभक्त किया जा सकता है। जीवपदार्थ की यह प्राथमिक अवस्था होती है, जो विकास के निम्नतम सोपान पर स्थित होता है। जैसे-जैसे विकास में प्रगति होती है, भाँति-भाँति के जीवों की जातियाँ बनने लगती हैं। बढ़ती हुई क्रियाओं को पूर्ण करने के लिए उनके विविध अङ्ग होते हैं। अन्त में मनुष्यशरीर बनता है, जो अनेक अङ्गों से संघटित एक संश्लिष्ट यन्त्र है जिसका प्रत्येक अङ्ग अपनी विशिष्ट क्रिया से युक्त है। फिर भी वे सभी एक सामान्य जीवनधारा द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। पृथिवी पर जीव का उच्चतम विकसित आकार यही है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न अंग अथवा विविधताएँ अपरिपक्वता अथवा विभेद के लक्षण नहीं, वरन् अतिविकसित अवस्था के कारण हैं। सभी अंग यद्यपि प्रत्यक्षरूपेण विविध आकारों के होते हैं, किन्तु वे सभी शरीर के कल्याण के हेतु कार्य करते हैं। इस प्रकार उसको वृद्धि तथा शक्ति में योगदान करते हैं" (वि० न० पृ० ९७)।

परन्तु हिन्दू-समाज में ही क्यों, यह विकास-लक्षण अन्य समाजों में भी तो घटाया जा सकता है। उपनिषदों एवं गीता आदि भारतीय शास्त्रों में तो सम्पूर्ण विश्व को ही एक वृक्ष माना गया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

(ऋ० सं० १.१६४, २०)

अर्थात् संसाररूपी वृक्ष पर जीव एवं ईश्वररूप दो सुपर्ण पक्षी रहते हैं। उनमें से एक अर्थात् जीव स्वादयुक्त कर्मफल का भोग करता है; दूसरा अर्थात् ईश्वर फल-निरपेक्ष होकर सर्व का प्रकाशन करता है।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ (गीता० १५.१)

ऊर्ध्व अर्थात् सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म जिस संसारवृक्ष का मूल है; अधः अर्थात् महदादि सप्त प्रकृति-विकृतियाँ जिसकी शाखाएँ हैं; छन्द यानी वेद, जिसके पत्ते हैं (जैसे पत्तों से वृक्ष की रक्षा होती है वैसे ही वेदों तथा वेदोक्त कर्मों द्वारा ही संसार का रक्षण होता है), जो उस अश्वत्थ अर्थात् क्षणभंगुर, पर तत्त्वज्ञान के बिना अनाद्यनन्त समूल संसारवृक्ष को जानता है, वही वेदवित् है।

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतुरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥

(श्रीमद्भागवत १०.२.२७)

अर्थात् इस संसारवृक्ष का एक मूलप्रकृति ही आधार है। सुख-दुःख दो फल हैं। सत्त्व, रज, तम तीनों गुण इसके मूल हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ अथवा चारों वर्ण या चारों आश्रम उसके रस हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होनेवाले पंच प्रकार के ज्ञान ही इसके विभिन्न प्रकार हैं। जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति ये षड्विध भावविकार अथवा बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्युरूप ऊर्मियाँ अथवा त्वक्, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि आदि षट् धातु इस संसारवृक्ष के स्वभाव हैं। रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्ररूप अथवा पंचतन्मात्रा एवं अहंतत्त्व, महत्तत्त्व ये सात संसारवृक्ष की त्वचाएँ हैं। पंचमहाभूत एवं मन, बुद्धि, अहंकार ये आठ उसकी शाखाएँ हैं। शरीर के श्रोत्रादि नौ छिद्र ही उसके कोटर हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय ये दश प्राण ही उसके पत्र हैं और जीव तथा ईश्वर दो उस पर रहनेवाले पक्षी हैं। इस प्रकार समष्टि सूक्ष्म-स्थूल शरीर को ही यहाँ वृक्ष कहा गया है।

एक परमेश्वर ही इस सद्रूप वृक्ष की उत्पत्ति का कारण है। उन्हींमें इसकी स्थिति तथा उन्हींमें इसका पोषण होता है। मायामोहित लोग ही उत्पादक, पालक, संहारकरूप में उनमें भेद देखते हैं। विद्वान् लोग तो एक ही तत्त्व का दर्शन करते हैं।

केवल वृक्ष के रूपकमात्र से परस्पर विरुद्ध मतों, विश्वासों, सम्प्रदायों, रीति-रिवाजों का समन्वय नहीं किया जा सकता। अन्यथा बिना किसी सुस्थिर आधार

के ही वृक्ष, शाखाओं एवं पत्तियों के दृष्टान्तमात्र से जैसे विविध मत-मतान्तरों का समन्वय किया है वैसे ही आस्तिक-नास्तिक, हिन्दू-मुसलमान, ईसाई-पारसी, पुण्य-पाप, गुण-दोष, सुख-दु:ख, शुभ-अशुभ सभीका समन्वय किया जा सकता है। सांख्यों के अनुसार विश्व की संपूर्ण विविधता गुणवैषम्य के आधार पर व्यक्त होती है। वेदान्त के अनुसार सब विविधताओं का मूल ब्रह्म ही है। नैयायिक, वैशेषिकों के अनुसार परमाणु सबके आधार हैं। परन्तु आस्तिक मतों में विविधता का मूल कर्मवैचित्र्य ही है। विकासवाद में वह मान्य नहीं है। अतएव विकासवाद सर्वथा खण्डितप्राय सिद्धान्त हैं। हिन्दू-समाज की एकता के लिए वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य मानना अनिवार्य है। उसके बिना महान् एकता की अनूभूति का स्वप्न, स्वप्न ही रहेगा। यदि आप विविध असंगत स्वरों को रोकना चाहते हैं तो आपको विकास के भ्रम में न पड़कर शास्त्रसिद्ध कर्मवाद एवं ब्रह्मवाद का ही सिद्धान्त अंगीकार करना होगा।

आजकल धर्म, संस्कृति, राजनीति, भाषाविज्ञान सभी क्षेत्रों में विकासवाद का सिद्धान्त लागू किया जाता है। बहुत-से भारतीय विद्वान् भी इसे ही मानकर भारतीय विषयों की व्याख्या करते हैं। अत: यहाँ संक्षेप में विकासवाद पर विचार करना अनुचित न होगा।

चार्ल्स डार्विन विकासवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने जहाज द्वारा संसार की यथासंभव यात्रा की। दूर-दूर के टापुओं में जाकर विविध जातियों के जन्तुओं का अवलोकन किया। एक-एक जाति के अगणित भेद उन्हे मिले। माल्थस के प्राणि-संख्यावृद्धि-विचार को पढ़कर उन्होंने यह भी देखा कि जीवधारियों की संख्या १-२-४-८-१६ के हिसाब से ज्यामितिक रेखागणित के अनुसार बढ़ रही है। किन्तु खाद्य की संख्या १, २, ३, ४ के क्रम से अंकगणित के अनुसार बढ़ती है। लड़ाइयों महामारियों तथा विविध विप्लवों द्वारा होनेवाले संहारों से ही जनसंख्या नियमित होती है। (यद्यपि यह मत आजकल पुराना पड़ गया)।

डार्विन ने प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष को स्वाभाविक माना है। इसमें योग्यतम बचता है। किसी कारण विशिष्ट शारीरिक रचना एवं विशिष्ट शक्ति से ही विशिष्ट प्रदेशों में प्राणियों को प्राण बचाने की सुविधा होती है। इस तरह जो विशिष्ट निवास-स्थान के योग्य शरीरवाले होते हैं, वहाँ उन्हींकी संतानें बढ़ती हैं। औरों की या तो नष्ट हो जाती हैं अथवा सुविधा के अनुसार कहीं अन्यत्र जाकर उन्हें प्राण बचाना पड़ता है। प्रकृति योग्यतम का चुनाव करके उसकी रक्षा करती है, औरों की उपेक्षा करती है, अत: वे नष्ट हो जाती हैं। यही जीवन-संग्राम का मूल भी है। बलवान् निर्बलों को नष्ट करके अपने को सुस्थित रखते हैं। जिसमें अपने को परिस्थिति के

अनुसार बचाने की क्षमता होती है, उनकी सन्तानवृद्धि होती है। इन्हीं अवस्थानुरूप परिवर्तनों से विभिन्न जातियों का प्राकट्य हुआ है। घोड़े, भेड़ पालनेवाले लोग बहुतों को छाँटकर अपने-अपने मतलब के जानवरों का संग्रह कर लेते हैं। उनमें इच्छानुरूप विभिन्नता उत्पन्न करते हैं। पशु-पक्षियों की बहुत-सी जातियाँ नष्ट हो गयीं। उनका वर्तमान जातियों से बहुत कुछ सादृश्य उपलब्ध होता है। भेद यही है कि पहली जातियाँ वर्तमान जातियों जैसी उत्तमता को नहीं प्राप्त हुई थीं। पृथिवी की वर्तमान जातियों का सादृश्य स्पष्ट दीखता है। इससे निश्चय होता है कि किसी समय छोटे जन्तुओं की एक ही जाति रही होगी। उन्हींके ही सूक्ष्म अण्डे जल-वायु आदि के प्रवाह से समस्त भूमण्डल में फैले। उन्हींमें से विकासक्रम से वर्तमान जातियाँ निकली हैं। गर्भावस्था में सभी प्राणी एक-से ही देख पड़ते हैं। अनेक जन्तुओं में कितनी ही आरंभिक इन्द्रियाँ गर्भावस्था में पायी जाती हैं जिनका पूर्ण विकाश नहीं होता। इसी तरह निरीक्षण अनुमान और परीक्षण के द्वारा डार्विन ने विकास-सिद्धान्त स्थित किया।

वस्तुतः वेदान्तियों का ब्रह्म एवं सांख्यों की प्रकृति अनन्त प्रपंच का भण्डार है। उसमें शक्तिरूप से सभी वस्तुएँ होती हैं। कारणावस्था में कार्यशक्तियाँ अव्यक्त रहती हैं। क्रमेण सहकारिसापेक्ष होकर व्यक्त होती हैं। धरती में अगणित बीज रहते हैं, विशिष्ट जल-वायु के योग से अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित होने पर उनके भेद दृष्टिगोचर होते हैं। मृत्तिका एवं सुवर्ण से विविध प्रकार के भूषण सहकारी मिलने पर कुम्भकार और स्वर्णकार की इच्छानुसार व्यक्त होते हैं। सारूप्य, वैरूप्य, साधर्म्य, वैधर्म्य ही तो जगत् का वैचित्र्य है। एक-एक अवान्तर या मूलभूत कारणावस्था से ही विभिन्न चेतन-अचेतन वस्तुओं का विकास या प्रादुर्भाव होता है। पानी की मछलियों तथा जंगल के जानवरों में भक्ष्य-भक्षकभाव, मात्स्यन्याय से प्रसिद्ध है। हस्तहीनों को हस्तवाले, अपदों को पदवाले तथा छोटों को बड़े जीव खा जाते हैं, यही **जीवो जीवस्य जीवनम्** का स्वरूप है। परन्तु यह सब स्वाभाविक नहीं, किन्तु क्षुधा का ही उपद्रव है। स्वभाव से तो सभी प्राणी **अमृतस्य पुत्राः** (ऋ० सं० १०.१३.१) के अनुसार परमेश्वर के पवित्र पुत्र हैं। मनमें समानता स्वतंत्रता भ्रातृता ही स्वाभाविक है। अनादि अविद्या, काम, कर्म के संसर्ग से उनमें अस्वाभाविक शाषित-शोषक भाव का उद्भव होता है।

डार्विन ने अवस्थाभेद से इन्द्रियों एवं शक्तियों के उपयोग एवं अनुपयोग से व्यक्तियों में प्रथम भेद माना है।

अध्यात्मवाद में तत्तत् अनन्त विचित्र कार्यों के अनुगुण उन उन कारणों में शक्तियाँ रहती हैं। सूक्ष्म वट-बीज में अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाख-उपशाखा, पत्र-पुष्प, फल, रूप, रस, गन्ध विभिन्न कार्यों की शक्तियाँ रहती हैं। डार्विन के अनुसार मनुष्य

की एवं पशु की बुद्धि एवं शरीर में समानता मिलती है। जैसे मछलियों से कछुवा, पक्षी आदि क्रम से बन्दरों का आविर्भाव हुआ वैसे ही बन्दरों से मनुष्यों का विकास हुआ। उसके अनुसार बन्दर मनुष्य के सगे भाई नहीं तो चचेरे भाई अवश्य ही हैं। दोनों के पूर्वज एक हैं। पशुओं में स्मृति, सौंदर्य, ज्ञान, सहानुभूति आदि गुण मनुष्यों के समान ही होते हैं। घोड़ों, कुत्तों, पक्षियों को शिक्षित भी किया जाता है। उसके अनुसार सामान्य कीटों से लेकर मनुष्य तक क्रमिक विकास मानना उचित है। बीच की श्रेणियों को छोड़कर देखने से कीड़ों एवं मनुष्यों में बहुत भारी भेद मालूम पड़ता है। किंतु क्रमानुगत रूप से देखने पर कोई आश्चर्य की बात नहीं लगती है। फिर भी यह सारा वैचित्र्य निर्हेतुक नहीं हो सकता। अतः शक्ति-वैचित्र्य के साथ कर्म-वैचित्र्य ही जगत् की विचित्रता का हेतु मानना होगा। परन्तु डार्विन के भौतिकवादी विकास में कर्म का कोई महत्त्व नहीं है। समानता होने पर भी सबका कार्य-कारण-भाव नहीं होता। सीधे मुकुट से कुण्डल एवं कुण्डल से मुकुट नहीं होता। रूप से शब्द, गन्ध से रूप, निम्ब से आम्र या कटहल, कदम्ब ये परस्पर से उत्पन्न नहीं होते। अतः मछली से बन्दर या बन्दर से मनुष्य होनेकी कल्पना निराधार है। यदि ऐसा होता तो आज भी बन्दर से मनुष्य की उत्पत्ति दिखायी पड़ती। फिर मछली से मछली बनने की परंपरा क्यों दीखती है ? जैसे प्राचीन काल में बीज से अंकुर होते थे, वैसे आज भी होते हैं। मछली, बन्दर आदि से आज भी मछली एवं बन्दरों की उत्पत्ति होती है, यह सब विकास के विरुद्ध ही है।

हर्बर्ट, स्पेन्सर, हेमिल्टन एवं माइन्सेल आदि विकासवादियों के अनुसार दिक्, काल, द्रव्य, धृति, शक्ति, चित्त, आत्मा, परमात्मा आदि प्रत्यय हैं। उनका मूल एवं स्वभाव दुर्बोध एवं अनिर्वचनीय है।

हर्बर्ट सभी मतों का आधार प्रत्यक्ष ही मानता था। अतः अन्य वस्तुओं का निर्णय उसके लिए अवश्य ही अज्ञेय है। परन्तु अनुमान तथा आगम प्रमाण माननेवालों के लिए अज्ञेय नहीं है। 'दि ओल्ड रिड्ल एण्ड न्यूएस्ट आंसर' पुस्तक में कहा गया है कि नवीन वैज्ञानिक पहले की तरह अन्धी प्रकृति के हाथ में न रहकर प्रकृति को अपने हाथ में रखने की शिक्षा देते हैं। विकास को मनमानी नहीं, प्रत्युत नियमबद्ध होकर कार्य करनेवाला बतलाते हैं। डार्विन, हक्सले, हैकल आदि के समय का संसार प्राकृतिक था। परन्तु अबके वैज्ञानिकों को सर्वज्ञ, सर्वशक्ति परमेश्वर स्वीकृत है।

इस तरह कर्मों द्वारा जीवों की अवस्था बदलती है। मनमानी प्रकृति मक्खी से चिड़िया और चिड़िया से साँप नहीं बना सकती। सर ओलिवर लॉज का कहना है कि विकास तो कुड्मल (कलिका) से पुष्प एवं बीज से अंकुर बनानेवाला निश्चित

नियम है। नवीन विज्ञान के अनुसार कई प्राणी ऐसे पाये गये हैं, जिन्होंने अपने आदि जन्म से लेकर अब तक अपना रूप बिलकुल नहीं बदला। ये ही स्थिर शरीर-वाले कहे जाते हैं। हेकल आदि के अनुसार मनुष्य को जन्मे ८ लाख २० हजार वर्ष हुए। इसी बीच उसने इतनी उन्नति की। पर मि० जॉन टी० रोड को नेवादा में एक ६० लाख वर्ष का पुराने जूते का तल्ला पत्थर की दशा में मिला। तभीसे विकास-वाद सर्वथा धराशाही हो गया। पृथ्वी की आयु अबतक जितने भी प्रकारों से सिद्ध की गयी, उनमें से कोई भी प्रकार इस जूते के कारण विकासवाद की सब कड़ियाँ उपपन्न करने में समर्थ नहीं है। अमीवा से लेकर मनुष्य तक न जाने कितनी कड़ियाँ हैं। यदि एक-एक कड़ी करोड़ वर्ष ले तो ज्यादा से ज्यादा पृथ्वी कितनी पुरानी हो सकती है, इसका अन्दाजा लगाना भी कठिन है। अभी हाल में यह सिद्धान्त स्थित हुआ कि 'मनुष्यों का विकास बन्दरों से नहीं हुआ, प्रत्युत बन्दरों का जन्म मनुष्यों से हुआ है।' इन वैज्ञानिकों का कहना है कि पूर्वकाल के मनुष्यों ने ज्ञान-विज्ञान में बहुत उन्नति की थी, इसलिए उनके सिर कमजोर हो गये थे। कुछ दिनों बाद वे असभ्य जंगली हो गये। उनमें से कुछ बनमानुस और कुछ बन्दर बन गये। ये नवीन वैज्ञानिक पुराने वैज्ञानिकों से कहीं अधिक सूक्ष्मदर्शी हैं। इन्होंने अपने तजुर्बे से पुराने ज्ञानों में अधिक वृद्धि की है। अतः परिस्थिति, संयोग या इत्तिफाक के अनुसार नहीं, किन्तु कर्मों के अनुसार ईश्वराज्ञानुसार ही प्रकृति जीवों के शरीरों को विकसित करती है। जैसे बीज से वृक्ष, कली से फूल का विकास होता है, वैसे ही ईश्वरीय नियमानुसार सब विकास ठीक हैं।

विकासवादियों के मतानुसार प्राकृतिक पदार्थों का मूल कारण 'ईथर' है। उसी की कल्पना और तरंगावली से विद्युत्, प्रकाश, शब्द और गर्मी उत्पन्न होते हैं। उसी के अतिसूक्ष्मकणों को 'इलैक्ट्रोन' कहते हैं। इन्हींके संघात से विद्युत् बनती है। यही शक्ति के रूप से स्थूल आकार में 'मैटर' कहलाती हैं। मैटर की विरल दशा को 'गैस', तरलदशा को 'लिक्विड' तथा ठोस दशा को 'सालिड' कहते हैं। ईथर से उत्पन्न ये पदार्थ घनीभूत होकर और आकर्षण-विकर्षण के नियम से चक्राकार गति में हो जाते हैं। कुछ समय बाद वही चक्र सूर्य बन जाता है। सूर्य में गर्मी तथा गति के कारण चक्कर पड़ जाते हैं। उससे कुछ अंश अलग होकर दूसरे ग्रह बन जाते हैं। उन ग्रहों से उपग्रह बनते हैं। इसी प्रकार के ग्रहों में से हमारी पृथ्वी एक ग्रह है। यह पहले गर्म थी, फिर धीरे-धीरे ठण्डी हुई। उसीसे भाप, बादल, पानी, समुद्र, भूमि एवं जीव पैदा हुए। वनस्पति एवं जन्तुओं के भी पहले चेतनता उत्पन्न हुई। उसीकी एक शाखा एक कोष्ठधारी 'अमीवा' बन गये। अमीवा इतने बढ़े कि उन्हें खाने-पीने की वस्तुओं की दिक्कत होने लगी। उन्हींकी वे सन्तानें, जो शारीरिक प्रयत्न तथा मानसिक अभ्यास में बलवान् थीं, जीवन-संग्राम में बच गयीं। वे फिर

बढ़ीं, भोजन के लिए संग्राम जारी रहा। योग्य बचे, अयोग्य मारे गये। बचे हुए अमीवा पहलेवालों से कुछ भिन्न प्रकार के थे। इनमें भी वही संघर्ष चला। मरते-बचते, परिस्थिति के अनुसार आकार-प्रकार बदलते-बदलते मछली मेंढ़क, साँप, पक्षी, गाय, बैल, बन्दर, बनमानुस और मनुष्य की उत्पत्ति हुई।

"सब प्राणियों का एक ही तत्त्व से बनना, सबमें जीवन और संतति-धारण करनेवाले समान अवयवों का होना सिद्ध करता है कि सब एक ही मूलयंत्र के उसी प्रकार सुधरे रूप हैं, जिस प्रकार आरम्भ की साइकिल भद्दे ढंग की थी, उसमें सुधार होते-होते आज की साइकिल बन गयी। अबतक की सभी साइकिलों को एक कतार में रखें तो पता लगेगा कि एक के ही ये सब सुधरे रूप हैं। इसी प्रकार सभी प्राणी अमीवा के सुधरे रूप हैं। जैसे तीन पहिये और दो पहिये की मोटर दो वस्तुएँ नहीं, वैसे ही बिना पैर का साँप और सैकड़ों पैरोंवाला कनखजूरा कोई दो वस्तु नहीं। पहले का सुधरा हुआ रूप ही दूसरा है। पहले सादी, फिर संकीर्ण; पहले बिना हड्डीवाली, फिर हड्डीवाली, पहले जोड़ोंवाली, फिर सपाट रचना का क्रम यांत्रिक ही है। जमीन खोदने से भी यही क्रम मिलता है। सादी रचनावाले नीचे की तहों में और क्लिष्ट रचनावाले, हड्डीवाले ऊपर की तहों में मिलते हैं। मनुष्य-गर्भ पहले अमीवा की तरह एक कोष्ठवाला, फिर मछली के आकार का, फिर क्रमशः मण्डूक, सर्प एवं पक्षी के आकार का होता है। फिर बन्दर की शक्ल का होकर मनुष्य होता है। इस तरह भूगोल के प्राणियों की शरीर-रचना, यत्र-तत्र प्राप्त हड्डियों की रचना तथा विभिन्न देशों में स्थित प्राणियों की शरीररचना की तुलना करने पर यही प्रतीत होता है कि सब एक ही मौलिक यंत्र के परिशोधित एवं परिवर्धित स्वरूप हैं। कई स्त्रियों के चार या आठ स्तन होते हैं। कई मनुष्यों को पूछ होती है। इससे मालूम होता है कि मनुष्य भी उन योनियों से होकर आया है जिनमें अधिक स्तन एवं पूछ होते हैं। कान न हिला सकने और आँत उतरने की बीमारी से प्रतीत होता है कि मनुष्य के ये अंग शक्तिहीन हो गये। कहीं एक ही प्राणी में इन दो प्रकार के प्राणियों-जैसे अंग पाये जाते हैं। चमगादड़, उड़ती गिलहरी लुप्त कड़ियों के उत्तम निदर्शक और विकास के प्रमाण हैं।"

इस सम्बन्ध में कहना यह है कि यन्त्रों का विकास जैसे किसी चेतन की बुद्धि का परिणाम है, वैसे ही विश्व का विकाश किसी चेतन ईश्वर से ही सम्भव है। भले ही साइकिलें एक ही यंत्र के विकास हों, फिर भी मोटर, रेल, वायुयान तथा कारखानों के यन्त्र सभी साइकिल के ही विकास नहीं। इसी तरह साँपों के अवान्तर भेद साँपों के विकास भले ही हों, पर कनखूजरा, बड़ी गिजाया और छोटी गिजायी आदि का स्वतंत्र ही अस्तित्व क्यों न माना जाय? निराकार जीव कर्मवश विभिन्न योनियों से होता हुआ मनुष्ययोनि में आया, इसमें कोई मतभेद नहीं। किन्तु

अमुक जीवित देह से ही सब प्रकार के जीवित देह बने, यह कल्पना सर्वथा निराधार है।

कहा जाता है कि संपूर्ण संसार परिवर्तन का फल है। किन्तु परिवर्तन या गति जड़ पदार्थ का स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकती। व्यवहार में देखते हैं कि घड़ी में गति का परिवर्तन घड़ी का स्वाभाविक धर्म नहीं, बंदूक द्वारा चलनेवाली गोली की गति स्वाभाविक नहीं है, घड़ी और गोली पहले गतिहीन थीं, अन्त में भी गतिहीन होनेवाली हैं। बीच में किसी चेतन द्वारा ही उनमें गति मिलती है। इसी तरह संसार में तेज, जल, किरण, वायु आदि सभी पदार्थों में गति या परिवर्तन किसी चेतन से ही मिलना चाहिए। घड़ी और गोली की गति के तुल्य ही संसार की गति भी न पहले थी, न अन्त में रहेगी। उसे गति देनेवाला चेतन ईश्वर ही है।

'साइन्स एण्ड रिलीजन' में प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० जे० एम० फ्लेमिंग का कहना है कि 'साइन्स के स्वाध्याय से हमें इस प्राकृतिक जगत् में तरक्की व योजना, धारणा और विचार दिखलायी पड़ते हैं। ये बातें इत्तिफाक से अचानक नहीं आ गयीं। ये विचार चैतन्य की सूचना देते हैं। यह संसार बिना विचारवान् के कभी नहीं बन सकता। महर्षि व्यास ने भी उपनिषदों के आधार पर शारीरक-सूत्र में कहा ही है कि जड़ प्रकृति में ईक्षण नहीं बन सकता, किन्तु यह संसार ईक्षणपूर्वक ही हो सकता है : **ईक्षतेर्नाशब्दम्**। (ब्रह्मसूत्र, १.१.५)

कुछ विकासवादियों की कल्पना है कि "पृथ्वी पर गिरनेवाली तारकाओं द्वारा जीवन का बीज हमारे यहां पहुँचा।" किन्तु इसमें शंका यह होती है कि क्या प्रोटोप्लाज्म में इतनी शक्ति है कि तारिकाओं से पृथ्वी पर पहुँचने तक उनमें जीवन अवशिष्ट रह पाता होगा ? दूसरी कल्पना यह है कि 'असंख्य वर्षों के पहले अनुकूल स्थिति पाने पर जीवन का एकदम प्रादुर्भाव हुआ।' किन्तु इस पर विकासवादी ही कहते हैं कि 'जीवन का आरम्भ कब हुआ, कैसे हुआ, इसपर वैज्ञानिकों को अबतक कुछ ज्ञात नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'चैतन्य कैसे आता है ?' यह वैज्ञानिकों को मालूम नहीं। परन्तु उनका विश्वास है कि 'वह है प्राकृतिक';क्योंकि उनके मत में चेतन प्रोटोप्लाज्म ही है। प्रोटोप्लाज्म, जो शहद की भाँति तरल पदार्थ है, हाईड्रोजन, नाइट्रोजन, फास्फोरस आदि बारह भौतिक पदार्थों से बना है जो जड़ ही हैं। ये भौतिक पदार्थ 'इलैक्ट्रोन' के न्यूनाधिक मेल से बनते हैं। इलैक्ट्रोन खण्ड-खण्ड है, अर्थात् ये सब पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। जीव भी प्राकृतिक परमाणुओं से ही बना है। हक्सले के मतानुसार 'चेतन' पदार्थ दीपज्योति अथवा पानी के भँवर के तुल्य नित्य प्रतीत होने पर भी प्रतिक्षण बदलनेवाली व्यक्तियाँ ही हैं। नये-नये परमाणु मिलते हैं, पुराने अलग होते रहते हैं। यह धारा निरन्तर बहती रहती है, इसलिए ज्ञान एवं चैतन्य का सिलसिला नहीं टूटता।

नवीन विज्ञान के अनुसार प्रत्येक परमाणु कई इलेक्ट्रोनों से बना होता है। इलेक्ट्रोन एक दूसरे से चिपकते नहीं, प्रत्युत दूर-दूर रहते हैं। जिस प्रकार तारका-समूह दूर-दूर रहकर भी एक तारापिण्ड या 'सौर-जगत्' कहलाता है, उसी प्रकार अनेक इलेक्ट्रानों से बना हुआ 'एटम' भी है। इसी एटम से उपर्युक्त बारह पदार्थ बनते हैं। इन्हीं बारह पदार्थों से ज्ञान, चैतन्य या आत्मा बना है। अतः वह भी परिवर्तनशील है। वैज्ञानिकों के अनुसार परमाणुओं की गति प्रति सेकेण्ड एक लाख मील है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि जुदा-जुदा रहकर इतने वेग से चलनेवाले परमाणु किस प्रकार अपना ज्ञान दूसरे परमाणु में डालते हैं अथवा किस प्रकार ज्ञान एक परमाणु से उड़कर दूसरे परमाणु में जाता है और चैतन्य स्थिर रहता है ? बीसों वर्ष पढ़ाने पर भी विद्यार्थी भूल जाता है, पर बिना किसी साधन के दूर-दूर स्थित परमाणु इतने वेग से दौड़ते हुए अपना ज्ञान दूसरे में फेंककर चले जाते हैं और दूसरे उस ज्ञान को ले लेते हैं, यह कितनी आश्चर्यजनक और असंगत बात है ?

दिसम्बर सन् १९२३ के 'चिल्ड्रेन्स न्यूज' पत्र में प्रो० रिचर्ड की 'थर्टी इयर्स आफ साइकिकल रिसर्च' नामक पुस्तक का विज्ञापन छपा है। उसी पुस्तक का एक उद्धरण है कि 'पचास वर्ष पूर्व भौतिक-विज्ञान का यही रुख था कि जो बात भौतिक-विज्ञान से सिद्ध न हो, उसका अस्तित्व ही नहीं, वह ढोंग है। किन्तु आज ऐसे भी प्रमाण मिल रहे हैं कि भौतिक-विज्ञान की पहुँच के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। ऐसे पदार्थों को 'साइकिकल' कहते हैं। यह शब्द जीव के लिए व्यवहृत होता है। जीवात्मा को अब कोई भी भौतिक नहीं कहता। डार्विन के सुपुत्र प्रो० जार्ज डार्विन ने १६ अगस्त, सन् १९०५ को दक्षिण अफ्रीका में 'ब्रिटिश असोशियेशन' के प्रधान की हैसियत से कहा है कि 'जीवन का रहस्य अब भी उतना ही गूढ़ है जितना कि पहले था।' प्रो० गेडिस कहते हैं कि 'कुछ प्रामाणिक विज्ञान-वेत्ता, जो जीव के एक लोक से दूसरे लोक में आगमन की कल्पना को संतोषजनक मानते हैं, ऐसा भी मानते हैं कि जीव प्रकृति की भाँति अनादि है।' दूसरे एक विद्वान् का कहना है कि "चेतन के प्रभाव के बिना जड़ पदार्थों में चेतना आ ही नहीं सकती।" विज्ञान का यह नियम पृथ्वी के आकर्षण-नियम के समान अटल प्रतीत होता है। जबसे मनोविज्ञान, मस्तिष्कशास्त्र एवं आत्मविद्या का अन्वेषण हुआ, तबसे जीवसम्बन्धी सभी शंकाएं निवृत्त हो गयीं।"

मनोविज्ञान के एक विद्वान् का कहना है कि 'किसी भी जीवन-कार्य की संगति भौतिक नियमों से स्पष्ट नहीं होती। आँसू या पसीना निकलने के नियमों का भी स्पष्टीकरण अभीतक नहीं हो सका।' मस्तिष्कशास्त्र के जन्मदाता 'गॉल' का कहना है कि 'मेरी राय में एक ही निरवयव वस्तु है, जो देखती और सुनती-स्पर्श करती है; प्रेम, विचार एवं स्मरण करती है, पर अपना कार्य करने के लिए

वह मस्तिष्क में अनेक भौतिक साधन चाहती है।' इससे वेदान्त के द्रष्टा, स्रष्टा, श्रोता, घ्राता आत्मा का ही वर्णन मिलता-जुलता है। आत्मविद्या के प्रसिद्ध पण्डित सर ऑलिवर लाज लिखते हैं कि 'एकबार आप इस बात को देखें कि अन्तःकरण बड़ी वस्तु है। वह इस मशीन (शरीर) से बाहर की वस्तु है। ऐसा नहीं कि जब शरीर नष्ट होता है, तब वह अपना अस्तित्व खो देती है। हम जितने दिनों तक पृथ्वी पर रहते हैं, उतने ही दिनों के लिए हमारा अस्तित्व परिमित नहीं। हम बिना शरीर के भी रह सकते हैं। हमारा अस्तित्व बना ही रहेगा। मैं ऐसा क्यों कहता हूँ? इसलिए कि ये सब बातें विज्ञान के आधार पर स्थित हैं। बहुतों ने अभी इसका अनुभव नहीं किया, पर यदि कोई तीस-चालीस वर्ष तक अपनी आयु इस विषय में लगाये, तभी वह यह कह सकने का अधिकारी होगा कि अब मैं किसी स्थिति में पहुँचा हूँ। इन बातों से ज्ञात होगा कि जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व विज्ञानसम्मत है। अब ईश्वर-नियंत्रित प्रकृति से विकास उसी प्रकार मान्य है जिस प्रकार कली से फूल का विकास होता है। जैसे कली से फूल ही होगा, भ्रमर नहीं, बीज से वृक्ष ही होगा, मूंग नहीं, वैसे ही ईश्वरीय नियमानुसार पदार्थों का विकास होगा। यह टी० एच० हक्सले के 'एनीवर्सरी ऐड्रेस' के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि 'प्रत्येक पशु और वनस्पति की सभी जातियों में कुछ विशेष प्राणी ऐसे होते हैं, जिनको मैं 'स्थिर आकृति' नाम देता हूँ, उनमें सृष्टि से लेकर अबतक कोई विकास नहीं हुआ।

मद्रास हाईकोर्ट के जज टी० एल० स्ट्रेज का कहना है कि "जल-कृमियों में बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपवाले जीव-जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं। इनके लिए यह आवश्यक नहीं कि वे एक दूसरे से विकृत होकर उत्पन्न होते हों, प्रत्युत वे तो एक दूसरे से अपेक्षारहित होकर एक ही समय में अलग-अलग आकार के साथ उत्पन्न होते हैं। इससे क्रम–विकासका स्पष्टतया खण्डन हो जाता है। अनुभव भी यही है कि सिर में मैल जमने से जुएं साक्षात् उत्पन्न होती हैं। वे अनेक अन्य देह धारण करने के बाद जुएं नहीं बनतीं। खाट का खटमल मलिनता से ज्यों-का-त्यों उत्पन्न होता है। सूत्र के कीड़े संसार के समस्त देशों में एक ही आकार के उत्पन्न होते है।" इस घटनाओं से सिद्ध होता है कि अमुक आकार प्राप्त करने के लिए अनेक आकारों का चक्कर लगाना आवश्यक नहीं। जिस ईश्वर द्वारा चन्द्र–सूर्य बनते हैं, जिससे अमीवा बनते हैं, उसीसे स्वतन्त्र अन्य शरीर भी बन सकते हैं।

इसीलिए एक आधुनिक अपनी 'प्रिंसिपल्स ऑफ जुआलोजी' (प्राणिविज्ञान के सिद्धान्त) पुस्तक में लिखता है कि 'पृथ्वी पर उत्पन्न, बिना हड्डी के जन्तुओं और मनुष्यादि हड्डीवाले प्राणियोंमें एक समान ही उन्नति देखी जाती है, किन्तु इस समानता का यह अर्थ नहीं कि एक प्रकार के प्राणी से दूसरे प्रकार के प्राणी विकसित हुए हैं। आदिम मत्स्य ही सर्पणशील प्राणियों का पूर्वज नहीं और न मनुष्य ही अन्य

स्तनधारियों से विकसित हुआ है। प्राणियों की शृंखला किसी अभौतिक तत्त्व से सम्बन्ध रखती है। जिसने पृथ्वी पर अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि करके अन्त में मनुष्य को बनाया है :

ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः। (श्रीमद्भागवत ११.९.२८)।

इसके अतिरिक्त परमेश्वर का अस्तित्व मानने पर प्रकृति की स्वतंत्रता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। फिर तो अनादिसिद्ध जीवों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उनके सुख-दुःखादि फल-भोगार्थ ही देह का निर्माण अपेक्षित होता है। सुख-दुःख की न्यूनता-अधिकता देह की बनावट पर निर्भर है। इस दशा में जिन प्राणियों को उनके कर्मानुसार जैसा सुख-दुःख देना है, सीधे तदुपयोगी ही शरीर का निर्माण आवश्यक है। व्यर्थ असंख्य शरीरों में घुसा-फिराकर जीव को उस शरीर में लाना परमात्मा के लिए उचित नहीं। कर्मफलों को भुगतवाने के लिए यदि किसी अपराधी को तीन मास की कालकोठरी की सजा देनी है, तो पुलिस उस व्यक्ति को वर्षों इधर-उधर की हवालातों में भटकाती फिरे, यह न्याय नहीं। अतः ईश्वर एवं जीव-तत्त्व मान लेने पर क्रम-विकास का कोई भी स्थान नहीं रह जाता।

विकास-सिद्धान्त की मान्यता है कि 'चेतनकोष्ठ' से प्राणी बनता है। उन्हीं चेतनकोष्ठों से समस्त प्राणियों की रचना हुई। इन सब जीवित प्राणियों में तीन सामान्य बातें हैं : (१) सब प्राणियों के शरीर एक ही सरल पदार्थों से बने है। पशु-पक्षियों के शारीरिक तत्त्वों में कोई अन्तर नहीं। (२) सब प्राणी अपनी क्षीण शक्ति फिर से प्राप्त कर लेते हैं। प्रतिदिन काम करके श्रान्त होते हैं, विश्राम के अनन्तर पुनः ताजे हो जाते हैं। (३) यंत्रों की भाँति सुधरते-सुधरते एक शरीर से अन्य शरीरवाले होते हैं। सब प्राणियों के आठ स्थान होते हैं : (१) पोषण—बाहर से पदार्थ लेना, पचाना और सारे शरीर में पहुँचाना, (२) श्वासोच्छवास, (३) मलत्याग, (४) रक्तप्रसार, (५) प्रेरणा, (६) आधारस्थान (जिससे शरीर सधा रहता है), (७) ज्ञानतन्तु (जिससे समस्त शरीर का हाल मालूम होता है) और (८) प्रसव। इस तरह सब प्राणियों के तत्त्व एक-से हैं और आठ स्थान भी एक-से होते हैं। किन्तु ये सब बातें भारत के लिए कोई नयी खोज नहीं है। यहाँ एक गँवार भी जानता है कि **पंच रचित यह अधम शरीरा।** जो जीते, खाते, काम करते तथा संतति उत्पन्न करते हैं, उनमें आठ संस्थान होने ही चाहिए। क्या कोई ऐसा भी मूर्ख होगा जो समझेगा कि 'भोजन किया जायगा और मल त्याग न किया जायगा' ? नाले के पानी की तरह रक्त का बहना, संतति उत्पन्न करना सभी दुनिया को अवगत है। हाँ, विचारणीय यह है कि जिस प्रकार यन्त्र धीरे-धीरे सुधरता है, क्या उसी प्रकार प्राणी और से और हो जाता है ? वस्तुतः यन्त्र मनुष्य की परिमित बुद्धि से बनता है, उसमें अनुभव

के आधार पर कुशलता होती है, इसलिए आरंभिक और अन्तिम रूप में अन्तर पड़ सकता है। किन्तु सर्वज्ञ परमेश्वर की बुद्धि की रचना मनुष्यबुद्धि जैसी नहीं हो सकती।

प्राणियों के कर्मफल-भोगार्थ परमेश्वर तदुचित देह बनाते हैं। जिसके जैसे कर्म, उसे वैसा ही सुख-दुःख भोगना पड़ता है। उसके लिए उसी प्रकार की देह निर्माण आवश्यक है। शरीर का बनाना यदि स्वतंत्र प्रकृति या जीव के अधीन माना जाय तो यंत्र का दृष्टान्त ठीक हो सकता है। पर यहाँ तो कर्मानुसार शरीर प्रदान करनेवाला ईश्वर है, अतः यंत्र का दृष्टान्त व्यर्थ है। विकासवादी का कहना है कि वैज्ञानिकों ने अबतक कोई ऐसी रीति आविष्कृत नहीं की, जिससे इन परिवर्तनों को वे परीक्षणों द्वारा सिद्ध कर सकें और न उनको अबतक यही ज्ञात हो सका कि इस प्रकार के परिवर्तन के नियम क्या हैं? वैज्ञानिकों को परिवर्तन के नियम मालूम नहीं। यह भी मालूम नहीं कि परिवर्तन कैसे होता है? परिवर्तन होते हुए भी किसी-ने देखा नहीं। अमुक प्राणी का अमुक प्राणी बन गया, इसे किसीने नहीं देखा। आज किसीको भी बन्दर से मनुष्य बनते नहीं देखा जाता और मनुष्य के बाद मनुष्य से दूसरा भी कोई प्राणी उत्पन्न होते नहीं दिखायी देता। ऐसी स्थिति में परिवर्तन सिवा कल्पना के और कुछ भी सिद्ध नहीं होता। विज्ञान के प्रखर पण्डित भी यही कहते हैं कि "जीव की श्रेणियों एवं जातियों की उत्पत्ति का रहस्य हमें ज्ञात नहीं।" थामसन का कहना है कि 'हम नहीं जानते कि पृथ्वी पर जीवधारी की उत्पत्ति कबसे हुई?' दूसरा एक विद्वान् भी कहता है कि 'इस उजाड़ पृथ्वी पर प्राणी की उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम नहीं जानते।' कुछ तीसरे लोग डार्विन के ही शब्दों में स्वीकार करते हैं कि 'एक जाति से दूसरी उपजाति की भिन्नता के नियमों के सम्बन्ध में हम-लोग कुछ नहीं जानते।"

रक्त-परीक्षा के सिलसिले में विकासवादियों का वर्ग-विन्यास गलत सिद्ध हो गया। पहले विकासवादी लोग 'गिनी फाउल' को मुर्गी की किस्म का समझते थे, पर अब रक्त की परीक्षा से वह शुतुरमुर्ग की जाति का मालूम होता है। भालू को श्वान-जाति का बतलाया गया था, पर रुधिर-परीक्षा से वह 'सील' आदि की भाँति जल-जन्तु सिद्ध हो रहा है। किसी जाति का रुधिर-कण गोल, किसीका चपटा होता है। इससे भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक जाति का शरीर भिन्न प्रकार के रुधिर-कणों से बना होता है। रचना-शास्त्र के अनुसार रचना साम्य पर भी वर्ग का निर्णय किया जाता है। तदनुसार चमगादड़, ह्वेल, और गौ के नभचर, जलचर, भूमिचर होने पर भी उनका एक वर्ग में अन्तर्भाव किया गया है। विकासवादी कहते हैं कि 'परिस्थितियों के अनुसार हड्डियाँ उत्पन्न होती हैं' पर यह ठीक नहीं। भाई-बहन समान परि-

स्थिति में होते हैं, बढ़ते हैं, पर बहन के दाढ़ी-मूँछ नहीं होती, भाई को होती है। हाथी के मुख में बड़े दाँत होते हैं, हथिनी के नहीं। मयूर-मयूरी, मुर्गा-मुर्गी समान परिस्थितियों में होते हैं। फिर भी नर को सुन्दर पंख और कलंगी होती है, मादा को नहीं। अमीवा में कौन स्त्री है, कौन पुरुष इसका निर्णय कैसे होगा ?। नर-मादा आदि का भेद कैसे हुआ, इसका विकासवाद में कोई उत्तर नहीं है। कहा जाता है कि एक कोष्ठवाला दो कोष्ठ का हैड्रा बन गया; क्योंकि विकास-सिद्धान्तानुसार कोष्ठ सदैव दुगुने परिमाण में बढ़ता है। अर्थात् एक के दो, दो के चार, चार के आठ होते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक उत्तरोत्तर योनियों को पूर्व की अपेक्षा दुगुना, चौगुना, अठ-गुना और इस दृष्टि से अन्तिम विकसित मनुष्य को हाथी आदि से कई गुना बड़ा होना चाहिए। नरों में स्तन क्यों, घोड़े में स्तन का अभाव क्यों ? कर्मानुसार तो यह सारी व्यवस्था ठीक हो सकती है, पर केवल विकास में कोई व्यवस्था ठीक नहीं बैठती। इसी तरह प्रत्येक जाति की नियत आयु का नियम देखा जाता है। मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होती है, पर उससे भी बलवान्, पशुओं की आयु बहुत कम होती है। इसका उत्तर विकासवाद में नहीं है।

आयुश्शास्त्रियों के अनुसार कछुवा १२५ वर्ष जीता है और सर्प १२० वर्ष। विकासवाद के अनुसार सर्पणशील ही पक्षी बनते हैं, किन्तु पक्षियों में कबूतर ८ वर्ष ही जीता है। पक्षियों का विकास स्तनधारी है। उनमें शशक ८ वर्ष, कुत्ता, चौदह वर्ष, घोड़ा ३२ वर्ष, बन्दर २१ वर्ष और मनुष्य १०० वर्ष जीता है। वह जीवन-संग्राम में योग्य ही रह जाता है, उसीसे नवीन जातियों का प्रादुर्भाव होता है। पर यहाँ तो योग्यतम अधिक मृत्यु के पास पहुँच गये।

पहली मशीन १२५-१२० वर्षतक टिकी, पर सुधरी हुई ३८ वर्ष ही टिकी, यह क्यों ? यह भी देखा जाता है कि अभिनवतम मशीन बनने पर पुरानी मशीनों का बनना बन्द हो जाता है, पर यहाँ तो मनुष्य का विकास हो जाने पर भी पुराने कीड़ों, मकोड़ों के बनने में किंचित् भी कमी नहीं आयी। तितलियों की-सी कारीगरी कौओं में नहीं, परन्तु विकासवाद में तितली और कनखजूरे कौए तथा साँप से बहुत पहले उत्पन्न हो गये थे। ऐसी स्थिति में सादी और क्लिष्ट-रचना का भी कोई मूल्य नहीं रहता। देखने में तो स्पष्ट ही अस्थिवाले प्राणियों से वृक्षों की रचना कहीं अधिक क्लिष्ट है। विचित्र, पत्तों, पुष्पों, फलों की सुन्दरता, सरसता, मधुरता अस्थिवाले उष्ट्र में कहाँ है ?

आकृति-साम्य के कारण ही गोरिल्ला, शिपेञ्जी और बनमानुसों को डार्विन ने मनुष्य ही समझा था। यद्यपि घोड़ों, गधों की आकृति तुल्य है तो भी क्या वे दोनों एक ही हैं ? यदि घोड़े, गधे एवं खच्चरों के पंजरों को देखा जाय तो उनमें एकता

की भ्रान्ति हो सकती है। परन्तु उनमें प्रसव-परंपरा न चलने से उन्हें एक नहीं कहा जा सकता। लुप्त जन्तुशास्त्र के अनुसार घोड़े के आदिपूर्वज का पता अबतक नहीं लगा। अमेरिका की खुदाई से मिले विभिन्न समयों के विभिन्न भाँति के अस्थिपंजरों को मिलाकर यह दिखलाने की कोशिश की गयी कि वे सब घोड़े के पूर्व उसके विकास की कड़ियाँ हैं। हक्सले ने इसे महत्त्व दिया है, परन्तु सर जे० डब्लू० डसन ने अपनी 'मार्डर्न आइडिया आफ इवोल्यूशन' नामक पुस्तक में कहा है कि 'अमेरिका और यूरोप के इन जन्तुओं में जिन्हें घोड़े का पूर्वज कहा जाता है, परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। थोड़े में तृणाहारी जन्तुओं से पाँच बातें विलक्षण हैं : १. नीचे ऊपर दोनों तरफ दाँत, २. प्रसव के समय घोड़ी की जीभ गिरना, ३. घोड़े के अगले पैरों की गांठों में पैरों का निशान होना, ४. नर को स्तन न होना और ५. खुर की जगह टाप होना।

इसी तरह 'जोन्स वोसन' ने नवम्बर सन् १९२२ ई० के 'न्यू एज' पत्र में लिखा है : "ब्रिटिश म्यूजियम का अध्यक्ष कहता है कि इस म्यूजियम में एक कण भी ऐसा नहीं, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियों में परिवर्तन हुआ है।" भूमि की आयु का ठीक ज्ञान आधुनिक-विज्ञान को नहीं फिर भूमि के तहों, एवं उनमें पाषाणीभूत प्राणियों की आयु का ज्ञान कैसे हो सकता है ? जब मनुष्य को पैदा हुए कितने दिन हुए, इसका भी ज्ञान नहीं, फिर समस्त कड़ियों की संख्या मिलाकर पृथ्वी की आयु के साथ मेल-जोल बैठाने का उनके पास कौन-सा साधन है ? शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' के अनुसार ह्रास-विकास का चक्र ही प्रामाणिक है।

विकासवाद का कहना है कि 'भीमकाय प्राणी भी अमीवा के ही विकास थे। परिस्थिति प्रतिकूल होने से वे सब नष्ट हो गये।' परन्तु इस तरह तो यांत्रिक सिद्धांत असत्य ही ठहरेगा। विशालकाय नष्ट हो गये, अल्पकाय जीवित हैं। दीर्घजीवी कछुवे ने अल्पजीवी कनखजूरे को जन्म दिया—यह यंत्रों का सुधार है या बिगाड़ ? कर्मों के अनुसार तो यह सब व्यवस्था बैठ जाती है, अन्यथा नहीं। इस विषय का विस्तार "मार्क्सवाद और रामराज्य" में देखिये।

प्रसंगानुसार यहाँतक संक्षेप में विकासवाद की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की गयी। अब प्रकृत विषय पर आइये ! यह ठीक है कि भारतमाता की सक्रिय भक्ति होनी चाहिए। उसकी स्वतंत्रता की रक्षा होनी चाहिए और अब भी उसकी अखण्डता के लिए समुचित प्रयास होना चाहिए। आक्रमणकारियों द्वारा किसी कालखण्ड में किसी भूभाग पर कब्जा कर लेने पर भी वह कभी उनका नहीं हो सकता।

'हिन्दू' यह नाम वेदों के 'सिन्धवः' के सकार स्थान में हकार होने से निष्पन्न

हुआ है। कालिकापुराण, मेरुतन्त्र, मेदिनीकोश आदि में 'हिन्दू' शब्द आता है और वह सर्वसंग्राहक भी है। 'आर्य' आदि नाम व्याकरण के अनुसार सर्वग्राहक नहीं हो सकते। विभिन्न वर्ण एवं आश्रमों तथा अन्य लोगों का भी संग्रह इसमें हो जाता है। यह सब अनादि वेदादि-शास्त्रों के अनुसार ही सिद्ध होता है, विकास-क्रम के अनुसार तो ब्राह्मणादि वर्णों एवं आश्रमों की सिद्धि की आशा दुराशा ही है।

एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति (ऋ० सं० १.६४.४६) का यह अर्थ नहीं कि "सभी मतवादियों द्वारा स्वीकृत तत्त्व एक ही है, प्रत्येक के लिए अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक प्रकृति के अनुकूल आध्यात्मिक भोजन चुनने का स्वातंत्र्य हैं (पृ० ९९)। क्योंकि उपनिषदों में शून्यवाद आदि अवैदिक मतों का समारोह के साथ खण्डन किया गया है : **कथमसतः सज्जायेत** (बृहदारण्यकोपनिषद्)। किन्तु उक्त वचन का यह अर्थ है कि वेद-शास्त्रसम्मत शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश, सूर्य मित्र, वरुण आदि रूपों से एक स्वप्रकाश ब्रह्म ही सर्वत्र पूज्य होता है। "जितने दृष्टिकोण हैं, उतने मार्ग" (पृ० १००) भले ही हों, परन्तु वे ग्राह्य मार्ग नहीं हैं। तभी तो **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** वा० सं० ३१.१८) इस वेदमंत्र की संगति लगेगी। शास्त्रसम्मत मार्गों में ही रुचि का भी आदर किया जाता है, स्वतंत्र रुचि का नहीं। अतएव **वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः** इस मनुस्मृति (२.१२) में कहा गया है कि श्रुति के अनुकूल स्मृति एवं श्रुति-स्मृति के अनुकूल-सदाचार तथा श्रुति-स्मृति-सदाचार के अनुसार ही स्वरुचि भी आदरणीय है; श्रुतिविरुद्ध स्मृति, श्रुति-स्मृतिविरुद्ध सदाचार श्रुति-स्मृति-सदाचारविरुद्ध स्वरुचि सर्वथा त्याज्य ही होती है।

आपका यह कहना कि ' यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि में एक धर्म, एक पुस्तक, एक ईश्वर की मान्यता मूर्खतापूर्ण है" (पृ० १०१) असंगत है; क्योंकि किसी भी धर्म में ऐसा विचार स्वाभाविक ही है। वैदिक-धर्म में भी ईश्वर एक ही मान्य है, उसकी अनेक रूपों में अभिव्यक्ति हो, यह पृथक् वस्तु है। अनादि-अपौरुषेय वेद ही एक मुख्य पुस्तक वैदिकों में मान्य है, मन्त्र और ब्राह्मण उसके विभाग हैं। स्मृति, इतिहास, पुराण, तन्त्र, आगम सब वेदानुसारी, वेदव्याख्यामात्र हैं। वेदोक्त धर्म एक धर्म ही वैदिकों को मान्य है, सभी वर्णाश्रम-धर्म उसी एक के प्रभेद हैं। अन्य धर्मों से असहिष्णुता, विद्वेष, घृणा अलग वस्तु है और अपने धर्म में निष्ठा अलग वस्तु। यदि सभी धर्म एक ही हैं, तो फिर क्या ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लेगें ? यदि नहीं तब तो यह मान्य है कि किसी एक धर्म में अखण्डनिष्ठा ही कल्याण का हेतु है, ढुलमुलपंथ नहीं।

आजकल सहिष्णुता एवं उदारता के नाम पर ही हिन्दू, कांग्रेसी राष्ट्रहित का बलिदान करता है। आप राष्ट्रियता के नाम पर अपने धर्मशास्त्र, वर्णव्यवस्था को

तिलांजलि देने को प्रस्तुत हैं। कांग्रेसी को अपने आपको 'हिन्दू' कहने में लज्जा लगती है तो आपको 'ब्राह्मण' कहने और अपने वेद-शास्त्रादि पुस्तकों का प्रामाण्य मानने में लज्जा प्रतीत होती है ! क्या भगवान् मनु भी असहिष्णुता एवं द्वेष या घृणा के कारण वेदनिन्दक को 'नास्तिक' कहते हैं ? **नास्तिको वेदनिन्दकः** (मनु० २.११)।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ (मनु० १२.९५)

ऐसी अनेक स्मृतियों, वेदबाह्य स्मृतियों को वे निष्फल एवं तमोनिष्ठ कहते हैं। यह द्वेष नहीं, घृणा नहीं, किन्तु वस्तुस्थिति है। रूपादि के संबंध में चक्षुरादि के तुल्य अतीन्द्रिय धर्म-ब्रह्म के संबंध में अपौरुषेय वेद ही, पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि दोषों से शून्य होने से, परम प्रमाण है। प्रत्यक्षानुमान से या स्वतंत्र मानवबुद्धि से धर्म-ब्रह्म के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय तात्त्विक या विश्वसनीय नहीं हो सकता। असहिष्णुता जैनों-बौद्धों के तथा उनके परस्पर दिगंबर, श्वेताम्बर, हीनयान, महायान लोगों में कुछ कम नहीं। द्वैत, अद्वैत, शैव, वैष्णव, आदि की भी असहिष्णुता उनके ग्रन्थों एवं व्यवहारों से स्पष्ट विदित है। ऐसी असहिष्णुता एवं द्वेष-घृणा आदि जहाँ भी हैं, वे निन्द्य हैं, त्याज्य हैं। यह अविवेक, अज्ञान का ही परिणाम है। आप कहेंगे : 'यह सब पाश्चात्त्य देशों का प्रभाव हम लोगों पर पड़ा है', परन्तु यह कहना असंगत है; क्योंकि शैव-वैष्णव, द्वैत-अद्वैत आदि बहुत पुराने सिद्धान्त हैं। जैन, बौद्धमत भी ईसा, मोहम्मद आदि से बहुत पुराने हैं। आप लिखते हैं : 'इन्हीं संकीर्णताओं के कारण भले सिखों का आविर्भाव हिन्दुत्व की रक्षा के लिए ही हुआ है" (पृ० १००)। तथापि आज सिख-हिन्दू-संघर्ष भी हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष के तुल्य ही वृद्धिगत हुआ है। यदि कहीं सिखस्तान बन गया तो वह भी पाकिस्तान से कम खतरनाक न होगा। आपके ही शब्दों में "आज कुछ सिख, जैन, लिंगायत, आर्यसमाजी अपनेको हिन्दुओं से पृथक् घोषित करते हैं। कुछ तो अलग सिखराज बनाने के लिए अलग मुस्लिम-राज्य अर्थात् पाकिस्तान का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे हैं। पाकिस्तान की सहानुभूति एवं सहायता भी चाहने लगे हैं" (पृ० १०२)। परन्तु यह सब अज्ञानमूलक हैं, ईसाई-मुस्लिमप्रभाव नहीं। इतना ही क्यों ? भारतीय मुसलमानों में जितनी धर्मान्धता है, उतनी अरब के मुसलमानों में नहीं है। अफगानिस्तान, ईरान, तथा अरब के मुसलमान हिन्दुस्तान के मित्र हैं, परन्तु भारत एवं पाकिस्तान के नहीं। यह संकीर्णता धर्ममूलक नहीं, स्वार्थमूलक हैं। सर्वत्र ही ईमानदार लोगों में अपने धर्म में निष्ठा होने पर भी अन्यत्र घृणा एवं द्वेष नहीं होता। अच्छे लोग मुसलमानों, ईसाइयों, शैवों, वैष्णवों, जैनों और बौद्धों में सर्वत्र मिलेंगे।

बहुत-से लोगों कहना है कि 'धर्म-विश्वास के सिद्धान्त में लचीलापन होना अच्छा है। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि सिद्धान्तों में लचीलापन भी समझौतावादी

मनोवृत्ति है। आम तौर पर काम-क्रोधादि दुर्गुणों से भी ऐसे लोग समझौता कर लेते हैं। समझौते के कारण ऐसे लोग दुर्गुणों को भी प्रश्रय देते हैं। जैसे अपनी "मातृभूमि एवं अपना देश सौदे की वस्तु नहीं" (पृ० ९१), वैसे ही धर्म एवं शास्त्र भी सौदे की वस्तु नहीं।

ये शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोकनाथो हरिः॥

(म० ना० १)

इस श्लोक में विभिन्न स्तरों का स्वरैक्य नहीं, किन्तु श्रीहरि में ही सबका समावेश किया गया है। अर्थात् जिसकी शैव शिवरूप से, वेदान्ती ब्रह्मरूप से, बौद्ध क्षणिकविज्ञान रूप से, नैयायिक विश्वकर्ता एवं जैन अर्हत् रूप से और मीमांसक कर्मरूप से उपासना करते हैं, वह त्रैलोक्यनाथ भगवान् श्रीहरि आप लोगों की वांछा पूरी करें। स्वरैक्य तो तब समझा जाय जब ऐसा ही जैन एवं बौद्ध आदि भी मानें, पर उन लोगों के यहाँ तो विश्वकर्ता किसी ईश्वर को मानना मूर्खता के अनेक लक्षणों में एक है। यहाँतक कि अद्वैतियों के निर्विशेष ब्रह्म को ही वैष्णव लोग त्रैलोक्यनाथ हरि नहीं मानते।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(महिम्नःस्तोत्र, ८)

इस श्लोक का भी आप द्वारा वर्णित अर्थ अशुद्ध है। कारण "वेद, सांख्य, योग, शैव, वैष्णव के विश्वासों में वही श्रेष्ठ है या पूर्ण है" इस अंश की श्लोक के अक्षरों के साथ कोई भी संगति नहीं। श्लोक का शुद्ध अर्थ यह है :

जैसे विभिन्न ऋजु-कुटिलगामिनी नदियों के जलों का गन्तव्य स्थान समुद्र ही है, वैसे ही वेद (त्रयी), सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव इन प्रभिन्न प्रस्थानों द्वारा प्राप्य तत्त्व एक आप ही हैं। रुचियों की विचित्रता से यह उत्कृष्ट है, यह पथ्य है, इस प्रकार ऋजु कुटिल नाना मार्गों के अनुसरण करनेवाले लोगों के लिए एक आप ही गम्य है। यहाँ भी शिवतत्त्व की ही सर्वोत्कृष्टता दिखलाते हुए उसीमें सबका सामंजस्य दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। क्या इस समन्वय को साम्प्रदायिक वैष्णव स्वीकार करेगा ? यदि नहीं तो स्वरैक्य कैसा ?

"दक्षिण के दार्शनिक सिद्धांतों के साम्राज्यवाद से उत्तर का कुचला जाना" (पृ० १०१) इसीलिए नहीं माना जाता कि दक्षिण के आचार्य जिन दर्शनों के भाष्य-

कार हुए हैं, वे दर्शन उत्तर के ही हैं, अथवा वेदादि-शास्त्र एवं तन्मूलक दर्शन उत्तर-दक्षिण सभीके ही हैं। परन्तु आप तो किसी भी पुरुष या ग्रन्थ या पुस्तक को अपना आदर्श या आधार मानते ही नहीं। तब आप कैसे समन्वय करेंगे ?

आप 'शास्त्र एवं धर्मनिष्ठा के सम्बन्ध में पन्थगत विरोध की संकुचित भावनाओं' (पृ० १०१) की शिकायत करते हैं, तो कांग्रेसी आपकी राष्ट्रगत विरोध की संकुचित भावनाओं की शिकायत करते हैं। 'गंगा, कावेरी, हिमालय, अमरनाथ, रामेश्वरम्' (पृ० १०२) की मान्यता भी शास्त्रों पर निर्भर है। जो भौतिकवादी है, धर्म एवं शास्त्र का सम्मान नहीं करता उसकी दृष्टि में उपर्युक्त स्थानों का कुछ भी महत्त्व नहीं। आप कहते हैं : "लोग अपने को हिन्दू कहने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं। इस प्रकार वह स्वर्णिम-सूत्र, जिसमें विविध आभायुक्त आध्यात्मिक मोती पिरोये हुए हैं, छिन्न-भिन्न हो गया है, विभिन्न मत एवं अपने ही नाम पर गर्व करने लगे" (पृ० १०२)। यह सब इसीलिए कि हिन्दुत्व एवं धर्म के मूलभूत शास्त्रों का पठन-पाठन लुप्तप्राय हो गया। शास्त्र-विश्वास, धर्मनिष्ठा क्षीण हो गयी। आपको भी तो किसी शास्त्र को मान्यता देने में लज्जा का अनुभव होता है! ब्राह्मण, हरिजन-भेद की उपेक्षा आपको भी उचित ही प्रतीत होता है! फिर किन्हीं लोगों को हिन्दुत्व की भी उपेक्षा क्यों न हो ? आखिर ब्राह्मण, क्षत्रियादि से भिन्न हिन्दुत्व है भी क्या ?

जहाँ शास्त्र एवं तदुक्त धर्म गौण हो जाता है, शास्त्रानुगा बुद्धि लुप्त हो जाती है, वहाँ 'स्वार्थप्रधान व्यक्तियों को यदि अपने को अहिन्दू कहने या प्रतिपादन करने में' (पृ० १०४) लाभ दिखेगा, तो वे वैसा क्यों न करेंगे ? 'हिन्दूविरोधी प्रशासन में भी' (पृ० १०३) हिन्दुओं का ही तो बाहुल्य है, फिर यह सब क्यों ? इसीलिए कि निराधार हिन्दुत्व का कोई अर्थ नहीं होता। शास्त्र का पठन-पाठन होने और शास्त्रोक्त धर्म का आचरण-प्रचारण होने पर ही हिन्दुत्व के प्रति निष्ठा हो सकती है, अन्यथा नहीं। ईसाई, मुसलमान आदि अपने धर्मग्रन्थ का एवं तदाधारित धर्म का प्रचार करते हैं, निष्ठा बनाते हैं, पर आप तो शिखा-यज्ञोपवीत को भी एक छोटा-सा चिह्न मानते हैं और शास्त्रप्रामाण्य के लिए स्वीकार-नकार दोनों से बचना चाहते हैं।

आपने पूर्वकालीन गौरव के रूप में वर्णव्यवस्था को माना और 'जातिवाद' कहकर उसकी भर्त्सना करनेवालों को बतलाया कि 'वर्णव्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना का प्रवेश तुलनात्मक दृष्टि से सांप्रतिक ही है, अपने मूलरूप में उस समाज-व्यवस्था में घटकों के मध्य बड़े-छोटे अथवा ऊँच-नीच की भावना को कोई स्थान नहीं। गीता बताती है जो व्यक्ति नित्य कर्तव्यों का पालन निःस्वार्थभाव से करता है, वह अपने

कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करता है । **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।**" (पृ० १०४-१०५) ।

इससे यह भी मालूम होता है कि आप जन्मना वर्णव्यवस्था मानते हैं । यह ठीक है, यद्यपि घृणा की दृष्टि शास्त्रीय वर्णव्यवस्था में कभी नहीं रही; तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि में शास्त्रीय उत्कर्ष-अपकर्ष एवं तदनुसार ही पूज्य-पूजकभाव तो है ही । ब्राह्मणादि की कन्याओं के साथ क्षत्रियादि का विवाह पाप एवं प्रतिलोम-सांकर्यका कारण कहा गया है । ब्राह्मण द्वारा क्षत्रियादि को प्रणाम करने से ब्राह्मण का तेज नष्ट होता है और क्षत्रियादि को पाप लगता है । क्षत्रियादि द्वारा ब्राह्मण को प्रणाम करने पर ब्राह्मण का तो कोई लाभ नहीं, किन्तु क्षत्रियादि को पुण्य होता है । अपना-अपना कर्तव्यपालन करने से सभीका महत्त्व है । यदि याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह द्वारा ब्राह्मण का महत्त्व है, तो समाज के धन-धर्म-रक्षण के लिए अपना सिर कटाने, खून बहानेवाले क्षत्रिय का भी बहुत बड़ा महत्त्व है । इसीलिए राजसूय-यज्ञ में ब्राह्मण भी उस अभिषिक्त क्षत्रिय की स्तुति करता है । कृषि-वाणिज्य द्वारा सबका भरण-पोषण करने के कारण वैश्य का तथा अपनी सेवा एवं शिल्पादि के द्वारा सबकी प्रतिष्ठा का हेतु होने से शूद्र का महत्त्व भी कम नहीं है । इतना ही नहीं, स्वधर्मविमुख ब्राह्मण नरकगामी एवं स्वधर्मनिष्ठ शूद्र दिव्य सद्गति का भागी होता है । यह कहना बिलकुल ठीक है कि "जातियाँ तो उस प्राचीन काल में भी थीं, और भारी वैभवशाली राष्ट्रजीवन के सहस्रों वर्षों में बराबर रही हैं । एक भी उदाहरण नहीं है कि उन्होंने हमारे समाज की एकता और प्रगति में बाँधा डाली हो । प्रत्युत उन्होंने हमारे सामाजिक ऐक्य-सम्पादन में महान् योगदान दिया है' (पृ० १०५) ।

विधर्मियों के धर्मान्तरसम्बंधी अभियानों में तो वर्णव्यवस्था ने महान् शक्तिशाली दुर्ग का काम किया था, यह ईसाई-मिशनरियों ने भी माना है । यह भी ठीक है कि 'जिनमें जाति-व्यवस्था नहीं थी, ऐसे ईरान, मिस्र, रोम, यूरोप, चीन के अनेक साम्राज्य तथा उनकी यशस्विता धर्मान्ध मुसलमानों के विनाशकारी आक्रमण की आंधी की धूल में मिल गयी । परन्तु जातियोंवाले भारत के लोगों ने भीषण आक्रमणों का दृढ़ता एवं वीरता से सतत एक हजार वर्ष तक सामना किया । इन शताब्दियों के लम्बे काल में भी जातियों का अस्तित्व बना हुआ था ।' यह भी ठीक है कि "जहाँ बौद्ध-प्रभाव से जातिव्यवस्था भंग हुई थी, वे हमारे देश के पश्चिमोत्तर एवं पूर्वोत्तर भाग ही सरलता से मुसलमानों के भीषण आक्रमण के शिकार हो गये । वहाँ अधिकाधिक धर्मपरिवर्तन हुए । दिल्ली, उत्तर प्रदेश जहाँ जाति-पाँति की मर्यादाओं का कठोरता से पालन होता है, जो पुरातनवादी माने जाते थे, मुस्लिम-शक्ति एवं धर्मान्धता के कई शताब्दियों तक गढ़ रहते हुए भी हिन्दूबहुल बने रहे (पृ० १०६) ।

यह भी ठीक है कि निम्नजाति के लोगों ने भी देश को पुनर्जीवन प्रदान करने में महान् पराक्रम किया था। मेवाड़ी राजपूतों के साथ ही मेवाड़ी भीलों का इतिहास तो प्रसिद्ध ही है। आज तो जो जातिवाद की भर्त्सना करते-करते नहीं अघाते, वही जातिवाद को प्रोत्साहन देकर निर्वाचन जीतने का घृणित प्रयास करते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी ब्राह्मणादि जातियों तथा उनका महत्त्व अभी रहा और रह सकता हैं, जब कि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों का आचरण एवं सम्मान हो, उसकी उपेक्षा से ही यह सब अनर्थ हुए हैं और होते रहेंगे। आश्चर्य है कि फिर भी आप उन शास्त्रों एवं धर्मों की उपेक्षा करके अपने संगठन के आचरणों द्वारा उसी जाति-पाँति को मिटाने का प्रयास कर रहे हैं। शास्त्रीय परम्पराओं के कारण ही विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भी उसी अखण्ड वैदिक-सभ्यता संस्कृति का प्रकाश होता रहा है। भारतीय, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मराठी, गुजराती, बंगला सभी साहित्यों का विकास कल्याणकारी है। अतएव भले इनमें से कोई राष्ट्रभाषा हो, परन्तु अंगरेजी को राष्ट्र-भाषा के पद पर बिठलाना और उसके लिए भारतीयों का प्रयत्न करना सचमुच एक महान् आश्चर्य है।

आर्य-अनार्य-भेद वनवासी, आदिवासी आदि सभी भेद शास्त्रविमुखता के कारण उद्भूत हुए हैं।

आपका यह कहना तो ठीक है कि 'हमारे समाज पुरुष की सभी धमनियों में एकबार यह एकता का जीवन-स्रोत प्रवाहित होना चाहिए' (पृ. ११४) परन्तु इसी एकता की स्थापना एवं सुरक्षा के लिए उन्हीं शास्त्रों को ही सरपंच मानकर चलना चाहिए, जिनके प्रति हमारे, आप सभीके पूर्वजों का पूर्ण सम्मान था। अतएव यह कहना सर्वथा असंगत है कि 'इस प्रकार का जीवित और वर्तमान समाज अपनी प्राचीन रीतियों एवं प्रतिमानों में से जो कुछ आवश्यक है और जो हमें प्रगति के पथ पर अग्रसर करनेवाला है, उसे सुरक्षित रखेगा तथा शेष को जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, फेंक देगा एवं उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा। किसीको भी प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आंसू बहाने की आवश्यकता नहीं और न नवीन व्यवस्था के स्वागत में पीछे हटने की आवश्यकता है' (पृष्ठ ११५)।

यही है सुधारवादियों का वह विकासवादी भूत, जिसके आवेश में कांग्रेसी कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, जनसंघी भारतीय, जाति-पाँति को सड़ियल बताकर प्राचीन धर्म-कर्म सबको समाप्त करके नयी व्यवस्था लाने के भिन्न-भिन्न स्वप्न देखते हैं। जब एकबार प्राणी अपने धर्म-कर्म, सभ्यता-संस्कृति के आधारस्तम्भ शास्त्रों से विमुख होता है, तो फिर उसका कितना पतन होता है, इसका ठिकाना नहीं रहता।

प्रमाणहीन कल्पनाओं में फिर इतना ही क्यों, ऐसा ही क्यों, इसकी सीमा नहीं रहती।

आप कहते हैं : "ज्यों-ज्यों वृक्ष बढ़ता है, पक्की पत्तियाँ, सूखी टहनियाँ झड़ जाती और उस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं।" परन्तु यही तो मार्क्स का भी कहना है कि संसार में निर्वाण एवं निर्माण होता ही रहता है, निर्वाण के लिए आँसू बहाना व्यर्थ है। इसी दृष्टिकोण से पुराने वेद-पुराणों, धर्मशास्त्रों को छोड़कर प्राचीन-व्यवस्था-विध्वंसक 'हिन्दू कोड'-निर्माण की बात चली थी। कहना न होगा कि यह सब निस्सार है और धर्म-कर्म, सभ्यता-संस्कृति सबके मूल पर कुठाराघात है।

आत्मा शाश्वत है, ईश्वर शाश्वत है, ईश्वर का संविधान वेदादिशास्त्र शाश्वत हैं, उनके नियम शाश्वत हैं। उनमें देश-कालानुसारी यदि किंचित् परिवर्तन भी हैं तो वे शाश्वत शास्त्रसापेक्ष ही हैं, यह युक्ति, तर्क एवं शास्त्र से सिद्ध है। सुधारक भी सत्य, न्याय, सदाचार, सच्चरित्रता आदि को शाश्वत मानते हैं; परन्तु मार्क्स तो परिस्थिति के अनुसार सत्य, न्याय, सदाचार में भी पूरा परिवर्तन मानता है। ऐसी स्थिति में किन्हीं लोगों की दृष्टि में निराधार, निष्प्रमाण, स्वाभ्यूहित आपका हिन्दुत्व, एकत्व, संस्कृति, सदाचार भी शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय नहीं रह सकता। जैसे आप बूँद के तुल्य व्यक्ति के अशाश्वत होने पर भी प्रवाह के तुल्य समाज को शाश्वत मानते हैं, वैसे ही यह भी क्यों नहीं समझते कि कुछ लौकिक-व्यवस्थाओं में हेर-फेर होने पर भी शास्त्रीय धर्म, संस्कृति तथा सभ्यताएँ शाश्वत ही रहती हैं। यदि उनका बदलना सम्भव है, तो फिर समाज के उलट-फेर में ही क्या अड़चन हो सकती है ? फिर खान-पान या वेश-भूषा रीति-रिवाज, त्यौहार आदि के अपरिवर्तन में कठमुल्लापन क्यों दिखाया जाय ?

आप कहते हैं कि "एकता हमारे रक्त में जन्मजात एवं दृढ़ निविष्ट है; क्योंकि हम सभीने हिन्दू के रूप में जन्म लिया है" (पृ० ११५)। परन्तु जब हिन्दुत्व का कोई आधार नहीं तो वह भी अपरिवर्तनीय क्यों ? फिर तो लोग ठीक ही कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति हिन्दू, मुसलमान अथवा ईसाई के रूप में पैदा नहीं होता। सभी केवल मानव के ही रूप में पैदा होते हैं। पर आप कहते हैं : "यह दूसरों के लिए चाहे सत्य हो, पर हिन्दू के लिए नहीं। क्योंकि उसका प्रथम संस्कार तभी होता है, जब वह अपनी माता के गर्भ में रहता है और अंतिम संस्कार तब होता है, जब उसका शरीर अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है। हिन्दू के लिए जो कुछ हिन्दुत्व है, उसका निर्माण करने के लिए १६ सोलह संस्कार होते हैं" (पृ० ११५)। परन्तु यदि आप संस्कार-विधायक शास्त्रों का प्रामाण्य ही नहीं मानते, तो आपका संस्कार भी क्या

हैं? यदि शास्त्रों को फेंक सकते हैं तो क्या संस्कारों को नहीं फेंका जा सकता? शास्त्रीय विधानों को छोड़कर गर्भाधान संस्कार क्या है? हिन्दू-मुसलमान के गर्भाधान में उससे क्या भेद है? अग्नि में शरीर को जला देने या विद्युत् द्वारा शवदाह में क्या अन्तर है? वस्तुतः संस्कारों के सम्बन्ध में निम्नोक्त बातें ज्ञातव्य हैं :

संस्कारायदविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्।

(भागवत ७.११.१३)

जिनमें अविच्छिन्न परंपरा से संस्कार होते हैं, वे द्विज होते हैं। जिनको रचकर ब्रह्मा ने द्विजरूप से निर्दिष्ट किया है, उन्हींमें संस्कार द्वारा द्विजत्व व्यक्त होता है। सृष्टि के आरम्भ से ही द्विजजाति की परम्परा चल रही है। तदनुसार विशुद्ध ब्राह्मण से विशुद्ध ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण होती है। इसी प्रकार विशुद्ध क्षत्रिय एवं वैश्य से विशुद्ध क्षत्रिया एवं वैश्या में उत्पन्न संतान क्रमेण क्षत्रिय एवं वैश्य होती हैं। शूद्र में केवल विवाह ही संस्कार होता है, अन्य नहीं, यह गौतमस्मृति में उल्लेख है :

विवाहमात्रसंस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा।
न केनचित्समसृजत् छन्दसा तं प्रजापतिः॥

अर्थात् शूद्र का विवाहमात्र ही संस्कार होना चाहिए, अन्य नहीं; क्योंकि उसकी सृष्टि किसी छन्द से नहीं हुई। वेदों के अनुसार ब्रह्मा ने गायत्री छन्द से ब्राह्मण की, त्रिष्टुप् छन्द से राजन्य या क्षत्रिय एवं जगती छन्द से वैश्य की रचना की है।

गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा
राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्। न केनचिच्छूद्रम्।

श्रीमद्भागवत में कहा है :

इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः॥
विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः।
रक्षोवृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद्वाकरादिभिः॥
वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषावृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्॥

(भागवत ७.११.१३-१५)

यज्ञ, अध्ययन, दान ये तीन ब्राह्मणों के धर्म हैं। याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ये तीन जीविकाएँ हैं। क्षत्रिय-वैश्य के भी अध्ययन, यजन, दान धर्म हैं। क्षत्रिय के लिए

प्रजापालन और प्रतिग्रह छोड़कर याजन, अध्ययन आपत्कालिक जीविकार्थ कर्म है। वस्तुतस्तु अप्रतिग्रह शब्द से प्रतिग्रह का ही निषेध नहीं, किन्तु वह याजन और अध्यापन के निषेध का भी उपलक्षण है। इसलिए **प्रभुत्वादार्त्विज्यं सर्ववर्णानां स्यात्** पूर्वमीमांसा के १२ अध्याय के अन्त्य-अधिकरण में तीनों वर्णों का आर्त्विज्य होने का पूर्वपक्ष किया गया है। अन्त में सिद्धान्तरूप से कहा गया है कि ब्राह्मणों का ही आर्त्विज्य हो सकता है, क्षत्रिय-वैश्यों का नहीं।

द्विजोत्तमानामार्त्विज्यं न तु क्षत्रिय - वैश्ययोः।
ब्राह्मणार्त्विज्यनियमः क्रत्वर्थेनापि हि स्मृतः॥

याजन, अध्यापन दोनों ही क्षत्रियादि के लिए निषिद्ध ही हैं। अश्वपति की कथा आदि का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि सूत के तुल्य आपत्काल में उपदेशमात्र ही देना विहित है। वैश्य के लिए वार्ता, कृषि, वाणिज्यादि जीविका है।

शूद्र के लिए द्विजों की सेवा मुख्यधर्म है। द्विज-सुश्रूषा उसकी वृत्ति भी है, शिल्पादि भी शूद्र की वृत्ति है।

व्याससमृति (१.१३-१५) में १६ संस्कारों का उल्लेख इस प्रकार है :

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमणोऽन्नाशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतदिशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तःस्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः।
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः॥

अर्थात् १. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. वपन (चूड़ाकर्म), ९. कर्णवेध, १०. व्रतादेश (उपनयन), ११. वेदारम्भ, १२. केशान्त, १३. स्नान (समावर्तन), १४. विवाह, १५. विवाहाग्नि-परिग्रह, १६. त्रेताग्निसंग्रह। कुछ विद्वान् त्रेताग्नि-संग्रह की जगह चिताग्नि-संग्रह पाठ कहते हैं।

महर्षि जातूकर्ण्य ने निम्नलिखित १६ संस्कार ये गिनाये हैं :

१. आधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्त, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चौलक, ८. मौञ्जी, ९.-१२. चतुर्वेदव्रत, १३, गोदान (केशान्त), १४. समावर्तन, १५. विवाह, १६ अन्त्य (अन्त्येष्टि)।

व्याससमृति के अनुसार गर्भाधान से लेकर कर्णवेध तक नौ संस्कार स्त्री के मन्त्रवर्ज्य किये जाते हैं, किन्तु विवाहसंस्कार मन्त्रपूर्वक ही किया जाता है। शूद्र के लिये दश संस्कार मन्त्रवर्ज किये जाते हैं।

नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियः।
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश ॥

(व्यासस्मृति १२.१५-१६)

शास्त्रों में अड़तालिस संस्कार भी कहे गये हैं :

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चारों वेदों के चार वेदव्रत, स्नान (समावर्तन), सहधर्मिणीसंयोग, देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य, पंचमहाभूतयज्ञ, अष्टका, पार्वणश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री आश्वयुजी ये सप्त पाकयज्ञ-संस्थाएँ।

अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयणेष्टि, निरूढ़ पशुवध, सौत्रामणि, ये सप्त हविर्यज्ञसंस्थाएँ हैं।

अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम ये सप्त सोमयज्ञ-संस्थाएँ सब मिलाकर ४० संस्कार होते हैं। दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मांगल्य, अकार्पण्य, अस्पृहा ये आठ आत्मगुण हैं।

यस्यैते चत्वारिंशत् संस्कारा अष्टावात्मगुणाश्च स ब्राह्मणः सायुज्यं प्राप्नोतीति गोतमः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।

अर्थात् पंचमहायज्ञों एवं श्रौत-स्मार्तयज्ञों के द्वारा ब्रह्मप्राप्तियोग्य तनु का निर्माण किया जाता है। षोडश या अष्टचत्वारिंशत् सभी प्रकार के संस्कार सर्वथा शास्त्रों पर ही निर्भर हैं, गृह्य एवं कल्पसूत्रों तथा मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेदों का प्रामाण्य स्वीकार बिना किये संस्कार का कुछ भी अर्थ नहीं होता।

ये सभी संस्कार पारस्कर, गोभिल आदि गृह्यसूत्रों एवं कात्यायन, आपस्तम्ब आदि कल्पसूत्रों तथा वेदों के बिना हो ही नहीं सकते। अतः वेद, कल्प, गृह्यसूत्रादि ग्रन्थों का प्रामाण्य हिन्दू बनने के लिए अनिवार्य है। अतः 'हम किसी पुस्तक या धर्म-ग्रन्थ को अपना मार्गदर्शक नहीं मानते' यह आपका कहना सर्वथा असंगत है; क्योंकि जिन संस्कारों का होना हिन्दुत्व के लिए आप अनिवार्य मानते हैं, तो उनकी सिद्धि बिना शास्त्रों के हो ही नहीं सकती, यह कहा ही जा चुका है।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि चूड़ाकर्म (शिखा) और उपनयन (यज्ञोपवीत) भी षोडश संस्कारों में ही परिगणित हैं। ये दोनों ही संस्कार प्रमुख संस्कार हैं। इनके बिना वेदाध्ययन एवं तदुक्त सप्त पाकयज्ञसंस्था, सप्त हविर्यज्ञसंस्था, सप्त सोम-यज्ञसंस्था संस्कार हो ही नहीं सकेंगे। परन्तु आप तो कहते हैं कि "हमारे देश में कुछ सूत्र-यज्ञोपवीत, शिखा धारण करते हैं, कुछ नहीं। ये वस्तुएँ उनके लिए अर्थ रखती है जो इन्हें मानते है।" अर्थात् जो नहीं मानते, उनके लिए इनका कुछ भी अर्थ नहीं।

यहाँ आप भूल गये कि आपने सोलह संस्कारों को हिन्दुत्व का मुख्य आधार माना है। उन्हींके बल पर अपनेको पैदा होने से पहले हिन्दू कहने का दावा करते हैं। जब उक्त दोनों वस्तुएँ हिन्दू के सोलह संस्कारों में से प्रमुख दो संस्कार हैं, तब किसी भी हिन्दू के लिए उसकी अर्थशून्यता कैसी ? आपकी दृष्टि में इतना ही नहीं, जो चोटी-जनेऊ रखते हैं जिसके लिए चोटी-जनेऊ कुछ अर्थ रखते हैं, उनके लिए भी आप कहते हैं कि 'वे हमारे सर्वव्यापी धर्म के छोटे-छोटे बाह्य लक्षणमात्र हैं। उन्हींको धर्म समझ लेने का भ्रम नहीं होना चाहिए।'

यदि उनको धर्म समझना भ्रम है तो कोई क्यों धर्मबुद्धि से उन्हें धारण करेगा ? फिर तो आपके ये विचार ईसाइयों के उस अभियान में जाने या अनजाने सहायक हो रहे हैं, जिसमें वर्णाश्रम-धर्म एवं शिखा-यज्ञोपवीत को समाप्त करने का प्रयत्न चल रहा है। आनन्द-मार्ग आदि अनेक संस्थाएँ ईसाइयों की सहायता से वर्णाश्रम-धर्म के उन्मूलन में लग ही रही हैं। आप शास्त्रों से विमुख होकर विकासप्रणाली को अपनाना चाहते हैं, पर विकास-प्रणाली के अनुसार तो सबसे अधिक अच्छी विकसित प्रणाली वैद्युतदाह ही है। फिर क्या सावरकर के समान आप भी वैद्युतदाह को ही अन्त्येष्टि संस्कार मानेंगे ? इसके अतिरिक्त यदि जन्मजात हिन्दू हैं, तो फिर जन्मजात ब्राह्मणादि भी तो होना चाहिए, क्योंकि संस्कार तो शास्त्रों में ब्राह्मणादि के ही नाम से विहित हैं, फिर तो निश्चय ही जन्मना वर्णव्यवस्था और वर्णानुसार धर्म भी मान्य होने चाहिए। क्या जन्मना हिन्दू हो सकता है, जन्मना ब्राह्मण नहीं ? ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि आप जन्मना अहिन्दू को हिन्दू बना सकते हैं या नहीं ? यदि हाँ तब तो हिन्दू जन्मना होता है, यह आपका मंतव्य खण्डित हो जायगा। यदि नहीं तो फिर यह कैसे कहते हैं कि 'पहले हमारे पूर्वजों में पचाने की शक्ति थी। शक, हूण, तातार आदि आक्रामक जातिओं को अपने में विलीन कर लिया, अब भी हमें वैसा ही होना चाहिए, और यही मुस्लिम-समस्या का समाधन है।' इसी आशयवाले नेहरू के भाषण का भी उद्धरण (पृ० १३१) देकर आपने अपनी बात का समर्थन किया है। किन्तु क्या जन्मना हिन्दू माननेवाले सिद्धांत की उक्त कथन से संगति बैठ सकती है ?

आपका तथोक्त हिन्दू-समाज शक, हूण, तातार आदिकों को अपने में विलीन कर उन सबसे रोटी-बेटी का व्यवहार कर क्या सांकर्यदोष-दुष्ट नहीं हो गया ?

आपके भगवान् कृष्ण वर्णसांकर्य की निन्दा करते हैं : **संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।** तब फिर विधर्मी-सांकर्य, म्लेच्छ-सांकर्य का तो कहना ही क्या है ? मनु और कौटल्य भी वर्णसांकर्य को राष्ट्रविप्लव का ही हेतु मानते हैं।

निम्बतैल से परिपूर्ण घट में कुछ सुगंधित इत्र डाल देने से क्या इत्र निम्बतैल

को पचा लेता है अथवा क्या निम्बतैल ही इत्र को पचा जाता है ? ब्राह्मण हिन्दू के पानी पीने के मृण्मय घट को यदि मुस्लिम के बधना (वह मृण्मय पात्र, जिससे मुसलमान पानी पीता और शौचालय का भी काम करता है) से मिला दिया जाय तो कौन पवित्र होगा और कौन अपवित्र, इस पर आपने कभी विचार किया है ? भले ही उस बधने को गंगाजल से ही प्रक्षालित क्यों न कर लें, पर हिन्दू का पवित्र घट क्या कभी बधने की अपवित्रता पचा लेगा या उसकी पवित्रता स्वयं बधने की अपवित्रता में पच जायगी ? क्या गंगाजल मिला देने से मद्य पवित्र हो जायगा ? आपका तथाकथित हिन्दुत्व अपनी पाचनशक्ति को उत्तेजित कर लेगा, तब भी उसमें भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रहेगा या नहीं ?

क्या पाचनशक्ति का यही महत्त्व है कि पथ्य-अपथ्य, खाद्य-अखाद्य, भक्ष्य-अभक्ष्य का सारा विवेक भी मिट जाय ? वस्तुतः यह सब सुधारकों की सनकमात्र है। हिन्दू-धर्मशास्त्र जैसे पहले थे, वैसे अब भी हैं। पहले भी भोजन-विवाह में शास्त्रीय नियमों का आदर सदैव होता था और होना भी चाहिए। कभी भी किसी विजातीय को मिलाकर रोटी-बेटी एक करके पचा जाने की पद्धति भारत में नहीं थी। विभिन्न विधर्मी जातियाँ या तो नष्ट हो गयीं या बौद्ध बनकर अन्त में मुस्लिम बन गयी थीं। यहाँ की पद्धति के अनुसार तो जो मार्गभ्रष्ट हिन्दू प्रायश्चितार्ह होते थे, उनसे प्रायश्चित कराकर उन्हें समाज में ले लिया जाता था। किन्तु प्रायश्चित्तानर्ह पातित्य में तो उनकी भी पृथक् श्रेणी निर्मित कर दी जाती थी। उनका सर्वथा समाज में सांकार्य नहीं होने पाता था।

शिखा (चूड़ाकर्म), जनेऊ (उपनयन) संस्कार को आप एक छोटा-सा चिह्न मात्र मानते हैं। यदि शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं तो अन्य संस्कारों का भी कोई महत्त्व नहीं। फिर इस अधकचरे हिन्दुत्व और संस्कारादि की अपेक्षा तो अप-टू-डेट, पूर्ण परिवर्तनवादी कम्युनिस्ट ही अच्छे हैं। आश्चर्य है कि आप एक तरफ तो शास्त्रों का प्रामाण्य नहीं मानते, किसी भी प्राचीन व्यवस्था की उपयोगिता समाप्त हो जाने पर उसे फेंक देना उचित मानते हैं और दूसरी तरफ शास्त्रैकसमधिगम्य संस्कारों के बल पर हिन्दुत्व की बात करते हैं ! क्या आजके आधुनिक प्रजनन-पद्धति एवं वैद्युत-शवदाह के जमाने में प्राचीन गर्भाधान एवं अन्त्येष्टि की उपयोगिता समाप्त नहीं हो गयी ? यह 'अर्ध-कुक्कुटी' न्याय कभी भी विचारकों के सामने टीक नहीं सकता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् के अनुसार (पृ० ११६) क्या समाजरूपी वृक्ष की सहज कर्मरूप पत्तियाँ या टहनियाँ सूख या झड़ नहीं जायँगी ? जब वृक्ष की टहनियाँ-पत्तियाँ सहज नहीं तो क्या कोई भी कर्म सहज हो सकता है ? फिर जब वह सदोष हो गया, तब वह भी क्यों न त्याज्य होगा ? फिर यहाँ भी

उक्त गीतावचन पर अन्ध-विश्वास क्यों ? क्या आप रक्त का अमिश्रण मानते हैं ? शास्त्रीय वर्णव्यवस्था के अनुसार विवाहव्यवस्था मानते हैं ? क्या आजकी विकसित पद्धति के अनुसार उसे त्यागकर मुसलमानों, अंग्रेजों से शादी-विवाह करेंगे ? यदि यह मान्य हो तो रक्तमिश्रण के साथ क्या जन्मजात हिन्दू रह जायगा ? और मिश्रण होने पर क्या अहिन्दुत्व का भी मिश्रण न होगा ?

आगे आप 'ध्रुव एवं अध्रुव की बात करते हैं और अध्रुव को त्यागकर ध्रुव के सेवन की सलाह देते हैं। अध्रुव राजनीति को छोड़कर ध्रुव समाज के आदर का उपदेश करते हैं' (पृ० ११६)। पर क्या कोई भी कर्म ध्रुवरूप से मान्य है ? कर्म तो सभी क्षणभंगुर ही रहते हैं, यदि प्रवाहरूप से संस्कारादि सहज कर्म ध्रुव है, तो फिर सभी शास्त्रोक्त प्राचीन व्यवस्थाएँ क्या प्रवाहरूप से ध्रुव नहीं ?

आगे आपने लिखा है कि 'एकात्मक हिन्दू-समाज को भक्ति का केन्द्र बनाना चाहिए। समाजभक्ति के मार्ग में अन्य कोई विचार चाहे वह जाति, वंश, भाषा अथवा दल का हो, नहीं आने देना चाहिए। यही सच्ची भक्ति की कसौटी है।' इसी प्रसंग में अपने मीरा के लिए लिखे गये तुलसीदासजी के—**जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये तिनहिं कोटी बैरी सम, जद्यपि परम सनेही** इस पद्य की चर्चा करते हुए लिखा है : "इसका आशय यही है कि जो राम को अर्थात् जो भक्त का इष्ट हो उसे प्यार नहीं करते और बाधा के रूप में आ जाते हैं, उन्हें कोटि-शत्रु के रूप में त्याग देना चाहिए, चाहे वे निकटतम प्रियसम्बन्धी क्यों न रहे हों। पश्चात् उन्होंने (तुलसीदास) जी ने वे उदाहरण दिये हैं, जिन्होंने इष्ट की भक्ति के लिए माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों को त्याग दिया गया है। अतएव इस प्रत्यक्ष देवता हिन्दू-समाज की भक्ति में विघ्न उपस्थित करनेवाले मनके सभी अन्तरवर्गों को त्यागना होगा, क्योंकि वे अपने समाज की आन्तरिक एकताको खड़ा करने और सशक्त बनाने के लिए अत्यावश्यक एवं प्रमुख कर्तव्य के मार्ग में बाधारूप में आते हैं" (पृ० ११७)।

जहाँतक समाज की भक्ति की बात है, वह ठीक है; परन्तु तुलसीदासजी के पद्य के राम शब्द का अर्थ, वेदान्तवेद्य-निर्गुण-निराकार या सगुण-सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है, हिन्दू-समाज; मुस्लिम-समाज या ईसाई-समाज नहीं। अतएव किसी समाज के लिए माता-पिता, गुरु या पति को कोटि-कोटि शत्रु के तुल्य त्यागा नहीं जा सकता। वैसा अर्थ करना इस पद्य का दुरुपयोग करना है। ऐसा ही दुरुपयोग इस पद्य का आज हो भी रहा है।

तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रजवनितनि भये जगमंगलकारी॥

अर्थात् राम के भजन में बाधक होने से प्रहलाद ने पिता को त्याग दिया। विभीषण

ने बन्धु रावण को त्याग दिया। भरत ने माता को त्याग दिया। बलि ने गुरु शुक्राचार्य को त्याग दिया। गोपांगनाओं ने कृष्णप्रेम में बाधक पतियों को त्याग दिया। फिर भी वे निन्द्य न होकर मंगलकारी ही हुए। यदि मनमानी किसीको इष्ट मानकर ऐसा किया जायगा तो अनिष्ट ही होगा।

आजकल ब्रह्मकुमारियों का एक बहुत बड़ा प्रकार चल रहा है। उनके दल में भी माता-पिता को ठुकराकर पतियों को ठुकराकर स्त्रियाँ और पुरुष सम्मिलित होते हैं। क्या उनके लिए यह कहना सम्भव नहीं कि हम भी गोपांगनाओं के तुल्य अपने इष्टप्राप्ति में बाधक समझकर पति, माता-पिता को छोड़ रही हैं ? माता, पिता, गुरु, पति का त्यागकर अपने अभिमत संघटन या व्यक्तित्व के भजन का उपदेश करनेवालों की आज बाढ़-सी आ रही है। परंतु शास्त्र एवं शास्त्रों की वर्णाश्रम-मर्यादाओं के रक्षण का उपदेश दुर्लभ हो रहा है।

वस्तुतः जैसे नदी पार कर लेने पर नाव का त्याग किया जा सकता है, वैसे ही धर्मादि द्वारा संसाररूपी मृत्यु को पारकर परमेश्वर को प्राप्त कर लेने के बाद साधन की मूलभूत वस्तुओं का त्याग हो सकता है। तभी तो गीता में कहा है : **सर्वधर्मान् परिज्यज्य मामेकं शरणं व्रज।** अर्थात् सब धर्मों को त्यागकर परमात्मा की शरण ग्रहण करो।

अन्य वस्तुओं के लिए धर्म एवं धर्मसाधनों का परित्याग नहीं किया जा सकता। आत्मा के लिए तो समाज ही क्या, सम्पूर्ण पृथ्वी का भी त्याग करनेको कहा गया है :

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥

अर्थात् कुछ के हित के लिए एक व्यक्ति को छोड़ देना ठीक है, ग्राम के हित के लिए एक कुल का त्याग करना ही उचित है। जनपद का अर्थ देश है। देश के लिए ग्राम का भी त्याग उचित है। आत्मा के लिए तो सम्पूर्ण पृथिवी का भी परित्याग करना उचित है।

वस्तुतः आपकी राष्ट्र-कल्पना का आधार कोई भारतीय शास्त्र एवं विचार नहीं, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के विचार हैं। आप कहते हैं : "सर्वप्रथम विविध जनसमुदायों ने अपने आपको किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गत मर्यादित कर लिया। किसी विशिष्ट प्रदेश के रहनेवाले जनों में यह भावना उदित हुई कि वे उस भूमि के पुत्र हैं, उनकी अपनी एक जीवन-पद्धति है जिसको उन्हें सुरक्षित रखना है तथा वे इसी प्रकार के अन्य जनसमुदायों से भिन्न हैं। संक्षेप में उनका एक अलग विशिष्ट अस्तित्व है। इस प्रकार वे एक सुसंगठित एवं अविभाज्य समुदाय बन गये।

समय-समय पर और विभिन्न देशों में विचारवान् अग्रणी पुरुषों ने इन समुदायों का परिचय देने के लिए राष्ट्र की भावना को अभिव्यक्त किया है" (पृ० १२०)।

इन्हीं अभिव्यक्तियों एवं परिभाषाओं का सार संकलित करके आप कहते हैं कि "किसी राष्ट्र के लिए अपरिहार्य वस्तु एक वह भूखण्ड है, जो यथासम्भव किन्हीं प्राकृतिक सीमाओं से आबद्ध हो तथा एक राष्ट्र के रहने और वृद्धि एवं समृद्धि के लिए आधाररूप में काम दे।"

"द्वितीय आवश्यकता है, उस विशिष्ट भूप्रदेश में रहनेवाला समाज, जो उसके प्रति मातृभूमि के रूप में प्रेम एवं विकसित पूज्यभाव रखता है तथा अपने पोषण, सुरक्षा और समृद्धि के स्थान के रूप में उसे ग्रहण करता है। संक्षेप में वह समाज उस भूमि के पुत्र के रूप में स्वयं को अनुभव करे" (वि० न०, पृ० १२०)।

इस परिभाषा के अनुसार आप कहते हैं कि "केवल हिन्दू ही इस भूमि की संतान के रूप में यहाँ रहता आ रहा है। मातृभूमि की इस संयुक्त उपासना ने हमारे संपूर्ण समाज में काशी से कन्याकुमारी तक, वनवासी से नगरवासी तक एक दूसरे के प्रति एक रक्तसम्बन्ध स्थापित कर दिया है। ये सभी अनेक जातियाँ ईश्वर की उपासना के विविध मार्ग तथा विभिन्न भाषाएँ एक महान् सजातीय ठोस हिन्दू-समाज की अभिव्यक्तियाँ हैं, जो इस मातृभूमि की संतान हैं" (पृ० १२१)। आपके कथनानुसार भी विचार करने पर यह स्पष्ट विदित होगा कि अनन्त ब्रह्माण्ड में यह एक ब्रह्माण्ड है एवं उस चतुर्दश भुवनमय ब्रह्माण्ड में यह एक मर्त्यलोक है। उस मर्त्यलोक में अनन्त प्राणी हैं। उनमें एक मानव-समुदाय है। उस मानव-समुदाय के अपरिगणित समाजों में एक हिन्दू-समाज भी है। फिर उसीको प्रत्यक्ष ईश्वर मानना एवं उसकी भक्ति करना और उसकी भक्ति में बाधक होने से उन माता, पिता, गुरु, पति का भी परित्याग कर देना—जिनकी भक्ति और अनुसरण करना शाश्वत भारतीय अपौरुषेय वेदादिशास्त्रों में उल्लिखित है—कहाँतक ठीक है, यह आप स्वयं सोचें। पाश्चात्त्य-कल्पनाप्रसूत तथाकथित राष्ट्र की अपेक्षा भारतीय अपौरुषेय वेदादि-शास्त्रों में स्पष्ट ही ईश्वर एवं धर्म का महत्त्व बहुत अधिक रूप में वर्णित है। स्पष्ट बात यह है कि हमारे यहाँ पाश्चात्त्य या पौरस्त्य निराधार कल्पनाओं का कोई भी महत्त्व मान्य नहीं है। दृष्ट विषयों में प्रत्यक्ष एवं अनुमान की भी मान्यता होती है, परंतु धर्म-ब्रह्म जैसे अतीन्द्रिय विषयों में तो शाश्वत अनादि-अपौरुषेय वेदादि-शास्त्रों की ही मान्यता है। चरम सत्य की प्राप्ति के मार्गों या धर्मों, संस्कृतियों में मनमानी अनुभूतियों का कुछ भी महत्त्व नहीं। आपकी संस्कृति एवं हिन्दुत्व यदि उक्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होता, तो फिर उसे कितने ही 'अतिउदात्त गुण, पवित्रता, चारित्र्य धैर्य एवं बलिदान' (पृ० १२२) आदि विशेषणों से विशेषित कर दें, आकाश-कुसुम से अधिक उसका कुछ भी महत्त्व नहीं।

वस्तुतः उक्त सभी गुण प्रामाणिक शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों से ही व्यक्त होते हैं। नारीमात्र में मातृत्व-भावना भी **मातृवत् परदारेषु** इस शास्त्रवचन पर ही आधृत थी। उन्हीं शास्त्रों के अनुसार ही सहस्रों नहीं, करोड़ों वर्षों से असंख्य सन्त-महात्मा और शूर-वीर उद्धारक समय-समय पर होते आये हैं। **अमृतस्य पुत्राः** (अथर्व सं० १०.१३.१) आदि शास्त्रोक्त सदभावनाओं के आधार पर ही परस्पर भ्रातृता का भाव पैदा होता है। उसके भूलने से ही फूट, कलह, अराजकता और पतन होता है।

आपने लिखा कि "स्टॉलिन' ने कहा है कि 'एक भूप्रदेश में रहनेवाले जनों का केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक सामान्य हितों के आधार पर ही राष्ट्र नहीं बन जाता, वरन् वह तो एक अभौतिक भावनाओं की सजातीयता है" (पृ० १२४)। परन्तु आपको यह भी मालूम होना चाहिए कि मार्क्सवादी स्टॉलिनकी दृष्टि में कोई अभौतिक तत्त्व होता ही नहीं। यदि कोई अलौकिक ईश्वर आत्मा या धर्म मान्य हो तब तो फिर अलौकिक नियम भी मान्य किया जा सकता है। फिर उसी आधार पर संपत्तिसंबंधी नियम भी मानने पड़ेंगे। तब व्यक्तिगत भूमि, संपत्ति का हरण भी नहीं बन सकेगा। इसीलिए मार्क्स ने कहा है कि "कोई अभौतिक तत्त्व या शाश्वत धर्म सिद्ध नहीं होता। उत्पादन-साधनों में रद्दोबदल होने से ही माली हालतें बदलती हैं। उनके बदलते ही पुराने सब नियम बदल जाते हैं।"

आगे आपने भारत के ईसाई-मुसलमानों के सम्बन्ध में लिखा है कि "क्या वे यहीं उत्पन्न नहीं हुए तथा यहीं उनका पालन-पोषण नहीं हुआ? वे धर्मपरिवर्तन से परकीय कैसे हो गये? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आप कहते हैं कि 'क्या उन्हें स्मरण है कि वे इस भूमि के सन्तान हैं।' केवल हमारे स्मरण से ही क्या लाभ? यह अनुभूति एवं स्मृति उन्हें पोषित करनी चाहिए।

"हम इतने क्षुद्र नहीं कि यह कहने लगे कि केवल पूजा का प्रकार बदल जाने से कोई व्यक्ति उस भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं है। हम संघ के लोग पूर्णरूपेण हिन्दू हैं। इसीलिए हममें प्रत्येक पन्थ और सभी विश्वासों के प्रति सम्मान का भाव है। जो कि अन्य पन्थों के प्रति असहिष्णु है, वह कभी भी हिन्दू नहीं हो सकता। किन्तु जो मुसलमान, ईसाई हो गये हैं, उनके भाव क्या हैं?

"निःसन्देह वे इसी देश में पैदा हुए हैं। किन्तु क्या वे इसके प्रति प्रामाणिक हैं कि वे इस मिट्टी के ऋणी हैं? क्या वे इस देश के प्रति, जहाँ उनका पालन-पोषण हुआ है, कृतज्ञ हैं? क्या वे अनुभव करते हैं कि वे इस देश और परम्पराओं की सन्तान हैं? इसकी सेवा करना उनके भाग्य की धन्यता है? नहीं। धर्मपरिवर्तन के साथ ही उनकी राष्ट्र के प्रति प्रेम एवं भक्ति समाप्त हो गयी है" (पृ० १२४-२५)।

"यही नहीं; उनमें इस देश के शत्रुओं के साथ अभिन्नता की अनुभूति विकसित हो गयी है। वे अन्य भूमि की ओर देखते हैं। अपने को शेख-सैयद कहते हैं।...मातृ-राष्ट्र को संकट में छोड़कर शत्रु से मिल जाना राष्ट्रद्रोह नहीं तो और क्या है ?... जो यहाँ रहते हुए देश की सम्मान्य परम्पराओं के विरोध में कार्य करते हैं, राष्ट्रिय पुरुषों एवं राष्ट्रिय श्रद्धा का अपमान करते हैं, उन्हें राष्ट्रिय कैसे कहा जाय ?" (पृ० १२५-२६)।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि यदि ईसाई और मुसलमान अपनेको इस देश का पुत्र मानने लगें, देशद्रोह करना बन्द कर दें, किन्तु अपने इस्लाम-धर्म के अनुसार कुरान का आदर करते हुए मुसलमान रहें, तो क्या आप उन्हें राष्ट्रिय या हिन्दू मानने लग जायँगे ? इसी तरह कोई हिन्दू कहलानेवाला व्यक्ति ही आपके हिन्दुत्व की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो क्या आप उसे 'अहिन्दू' कहने लग जायँगे ? यदि दोनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में देते हैं तो 'हम जन्मजात हिन्दू हैं'—आपके इस कथन का क्या विरोध नहीं होगा ? क्या जो जन्मजात सिंह या शृगाल है, वह किसी भी शर्त पर गैर-शृगाल या गैर-सिंह हो सकता है या कोई गैर-सिंह कभी भी सिंह हो सकता है ?

आप लोग यह भी कहते हैं कि 'उनको हिन्दू जैसा रामदत्त, कृष्णदत्त नाम रखना चाहिए और हिन्दू जैसी वेश-भूषा धारण करनी चाहिए।' परन्तु क्या उस हिन्दूको, जो अमेरिका या इङ्ग्लैण्ड का नागरिक बन गया हो, आप यही सलाह देंगे कि वह भारतीय नाम और वेश-भूषा छोड़कर अब्राहम लिंकन, एटली, चर्चिल जैसे अपने नाम रखे ? विवाहोत्सव उस देश के अनुसार करें, मृत्युसंस्कार में दाह, अग्नि में जलाना बन्द करके कब्र बनाना शुरू कर दे और अपनी परिधान-रीतियाँ, भवन-निर्माण अमेरिकन ढंग से करने लगें ? परन्तु विवाह, मृत्युसंस्कार आदि सोलह संस्कारों में ही परिगणित हैं, यदि विदेशों में रहनेवाले हिन्दू के संस्कार भी बदल जायँगे तो वह हिन्दू ही कैसे रह जायगा ? क्या आपकी 'विश्व हिन्दू-परिषद्' का भी यही मत होगा और विदेश के रहनेवाले हिन्दुओं को अपनी वेश-भूषा, संस्कार सब कुछ गँवाकर ईसाई-मुसलमान बनना पड़ेगा ? वस्तुतः आपका उक्त कथन विदेशी हिन्दुओं के लिए खतरनाक ही है; क्योंकि मुसलमानों को आपने सलाह दी है कि "वे परिधान-रीतियाँ, भवन-निर्माण एवं मृत्युसंस्कार आदि सभी बातों में हिन्दू-जीवन-पद्धति के साथ अपना तादात्म्य अनुभव करें" (पृ० १२८)।

यदि इसका भी उत्तर 'हाँ' में दें तो इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि कोई जन्मजात हिन्दू भी देश बदल जाने से अहिन्दू हो जायगा एवं जन्मजात अहिन्दू अंग्रेज, अरब, फ्रेंच भी भारतवासी एवं भारत का हो जाने से हिन्दू हो जायगा ? फिर

तो आपके जन्मजात हिन्दू की वरिष्ठता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही आपने एक तरफ यह भी कहा कि "पैदा होने से पहले हमारा गर्भाधान-संस्कार होता है, इसलिए हम हिन्दू हैं। सोलह संस्कार जिसके होते हैं वह हिन्दू है।" तब क्या मुसलमानों, अंग्रेजों और फ्रेंचों का भी सोलह संस्कार होने लगे तो आप उन्हें भी जन्म जात हिन्दू मानने लगेंगे ? फिर भी कृत्रिमता ही हुई। क्या ऐसी कृत्रिम वस्तु को भी जन्मजात या सहज कहा जा सकता है ?

साथ ही आप यह भी तो कहते हैं कि "हम ऐसे क्षुद्र नहीं कि यह कहने लगें कि पूजा का प्रकार बदल जानेमात्र से कोई व्यक्ति भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं" (पृ० १२५)। जब ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं तो कोई यदि अपने या अपने बच्चे को किसी नाम से पुकारे, तो आपको क्या आपत्ति हो सकती है ?

सचमुच आप हिन्दू की परिभाषा नहीं कर सकते। संस्कृति का निरूपण भी आप लोगों के वश की बात नहीं। आपके ऐसे ही निष्प्रमाण, सारशून्य उपदेशों से प्रभावित हो कोई कहता है : 'मुसलमान भी कबीरपन्थी, नानकपंथी, जैसा मुहम्मद-पंथी या मुहम्मदी हिन्दू ही हैं।' कोई कहता है : 'आओ, जाति-पांति की झूठी, भेदभाव की दीवारों पर वज्रपात करें' तो कोई कहता है : 'आप लोगों ने रामकृष्ण को भगवान् की कोटि में ढकेल दिया है।' आप पूर्वापर का विरोध भी नहीं देखते। तभी तो आपने सियार के बच्चे का दृष्टान्त दे डाला। सिंहिनी एक सियार के बच्चे को अपनी गुफा में ले गयी और अपने बच्चों के उस साथ शृगाल-शिशु को अपना दूध पिलाकर उसने पाला। बड़े होने पर वे सब भाई-भाई की भाँति खेलने लगे। एकबार जब सिंह-शावकों ने एक विशालकाय महामत्त गजेन्द्रपर आक्रमण किया, तो वह शृगाल-शिशु-चिल्लाकर भागा और उन्हें भाग चलने को कहने लगा। सिंह के बच्चे उसकी उपेक्षाकर अपने शिकार पर टूट पड़े। सियार के बच्चे ने जाकर सिंहिनी से भाइयों के साहसपूर्ण कार्य की शिकायत की। सिंहिनी ने मुस्कराकर कहा : 'निःसन्देह तुम हमारा दूध पीकर बड़े हुए हो, फिर भी तुम अपनी प्रकृति से अलग कैसे हो सकते हो ?

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥

अर्थात् 'पुत्र ! निःसंदेह तुम शूर हो, चतुर और विद्वान् हो, दर्शनीय हो, पर जिस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो, उस कुल में हाथी का शिकार नहीं किया जाता।' यही बात राष्ट्रों के सम्बन्ध में लागू होती है। किसी विशिष्ट देश में साधारण रूप से निवास-मात्र समान चरित्र एवं गुणों से सम्पन्न एकात्म राष्ट्रिय-समाज का निर्माण नहीं कर सकता।

आप लिखते हैं : "नवागतों को अपने जीवन में आमूल परिवर्तन करना चाहिए, मानो प्राचीन राष्ट्रिय कुलपरंपरा में उनका पुनर्जन्म हुआ हो" (पृ० १२६-१२७) साथ ही आप दासता को उतार फेंकने का आह्वान भी करते हुए कहते हैं :

"मुट्ठीभर मुसलमान यहाँ आक्रामक के रूप में आये थे। ऐसे ही थोड़े से ईसाई धर्मप्रचारक यहाँ आये। यह संख्यावृद्धि प्रजननरीति से नहीं हुई, किन्तु स्थानीय जनों के धर्मपरिवर्तन से उनकी संख्या बढ़ी है। भय, बलात्कार या सत्ता-प्रतिष्ठा आदि प्रलोभनों से यह धर्मपरिवर्तन हुआ है; छल-छद्म से भी धर्मपरिवर्तन किया गया है। हमारा कर्तव्य है कि इन परित्यक्त भाइयों को, जो शताब्दियों से धार्मिक दास्य का क्लेश भोग रहे हैं, अपने पूर्वजों के घरों में बुला लायें और ईमानदार, स्वतन्त्रताप्रिय मनुष्यों की भाँति दास्य तथा आधिपत्य के सभी चिह्नों को उतार फेंके, और वंशपरंपरानुगत राष्ट्रिय जीवन की रीतियों का अनुसरण करते हुए इन पुत्रों के पुनरागमन पर हम महान् दीपावली-पर्व मनायें।"

अन्त में आप कहते हैं कि "हम तो सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता भी चाहते हैं। हम अपने घरों के पवित्र स्थानों और देवालयों के अपनी युगों प्राचीन सांस्कृतिक एवं पैतृक निधियों के द्वार खोल दें। निःसंशय यही व्यापक दृष्टिकोण है।" (पृष्ठ १२९)

आपने अपने इन कथनों में पूर्वापर-विरोध का कुछ भी ध्यान हीं रखा है। अतएव एक तरफ तो शृगाल के बच्चे एवं सिंह के बच्चों का दृष्टान्त दे डाला और उसके द्वारा यह दरसाने का प्रयत्न किया है कि जो लोग हिन्दुओं से भिन्न हैं, उनकी प्रकृति हिन्दुओं की प्रकृति से भिन्न है। दूसरी तरफ सबके लिए अपने घरों, देवालयों, सांस्कृतिक एवं पैतृक निधियों का द्वार खोल रहे हैं। क्या हजारों प्रयत्नों से भी आप शृगाल-शिशुओं को सिंह-शिशु बनाने में सफल हो सकेंगे ?

यदि कहें कि नहीं, वे तो हमारे ही बिछुड़े हुए भाई हैं, तब फिर सियार के बच्चे के दृष्टान्त का क्या अर्थ है ? फिर जिस कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, उस कुल के लोग हाथी नहीं मार सकते, इस कथन की संगति कैसे लगेगी ?' जब वे आपके ही कुल के हैं और आप सिंह हैं तो वे शृगाल-कुल के कैसे ? इसके अतिरिक्त माना कि मुट्ठीभर ईसाई या मुसलमान बाहर से आये हैं, पर वे सभी तो मिल-जुलकर एक हो गये, उनका विवेचन आप किस आधार पर करेंगे ? क्या उनका परस्पर खान-पान शादी-विवाह से एक मिश्रण नहीं हो गया ? यदि हाँ, तो क्या आप शुद्ध सिंह कहे जा सकते हैं, क्या सिंह और शृगाल के सांकर्य से निकृष्ट प्रतिलोम संकरों की उत्पत्ति नहीं हो गयी ?

शास्त्रों में ब्राह्मण और कन्या में शूद्र से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल मानी जाती है। फिर म्लेच्छ से उत्पन्न सन्तान क्या होगी, इस पर भी कभी आपने विचार किया

है? फिर यदि अपने बिछुड़े भाइयों को ही गले लगाने की बात है, तब तो सिंह एवं शृगाल की कहानी न उठाकर उस सिंह की कहानी कहनी चाहिए थी, जिसमें कोई सिंहशावक दुर्दैववशात् भेड़-बकरियों में रहने लगा हो और उनके संसर्ग से वैसा ही बन गया हो; पर जब किसी सिंह से उसके सिंहत्व का बोध कराया गया तो वह शुद्ध सिंह हो गया। वस्तुतः शास्त्रविश्वास एवं शास्त्रज्ञान न होने से ही आपने ऐसी असंगतियों का समुच्चय संगृहीत कर रखा है। वस्तुतः जन्मना वर्णव्यवस्था मान्य होने पर ही शृगाल एवं सिंह का दृष्टान्त संगत होता है। जन्मना ब्राह्मण होने का संस्कार आपकी उक्त दृष्टांत पर दृष्टि ले जाता है और शास्त्रविमुख सुधारक होने के संस्कार आपको उससे सर्वथा विपरीत कार्य संपादन के लिए प्रेरित करता है। उसीके अनुसार कहीं आप अपनेको जन्मजात हिन्दू कहते हैं, कहीं विदेशी गैर हिन्दू, ईसाई, मुसलमान तथा उनसे मिले-जुले संकीर्ण ईसाई मुसलमानों के लिए भी अपना घर और मंदिर खोल देते हैं। अर्थात् उनके साथ रोटी-बेटी तक का सम्बन्ध करने को प्रस्तुत हैं।

कभी आप कहते हैं कि 'हम धर्मपरिवर्तन या पूजा प्रकार बदल देनेमात्र से मुसलमान, ईसाई आदिकों को अराष्ट्रिय, अहिन्दू नहीं कह सकते' और फिर कभी कहते हैं कि 'हम सांस्कृतिक और धार्मिक एकता भी चाहते हैं।'

आगे आपने श्री जवाहरलाल नेहरू की उक्ति का उद्धरण किया है। सांस्कृतिक इतिहास की प्रथम अवस्था में हूण तथा शकों जैसी जातियाँ जो आक्रान्ता के रूप में यहाँ आयीं, अपनी मूल रीतियों तथा धर्मों को छोड़ दिया और अपने को राजपूत कहना आरम्भ कर दिया, वे सभी प्रसन्नतापूर्वक हममें विलीन हो गयीं। उस समय हममें आत्मसात् करने का साहस और शक्ति थी। हमने उन्हें अपने राष्ट्र-जीवन की सांस्कृतिक धारा में पूर्ण रूप से विलीन कर लिया।

द्वितीय अवस्था में, जब कि हमारे देश पर अत्यन्त उग्र चरित्रवाले आक्रान्ताओं ने आक्रमण किया, तथा हमारे लोगों ने अपनी समाजरचना में ही सुरक्षा प्राप्त करने के लिए विधि-निषेध के नियमों में अपनेको बाँध दिया। इस प्रकार अपने को बन्द कर दिया। इस प्रकार अपने को पृथक् करते हुए संकुचित हो गये। उनकी दृष्टि से संकुचितता को त्यागकर एकबार पुनः आत्मसात् करने के प्राचीन विचारों को उज्जीवित करना चाहिए।

अन्त में आपने भी उसी आत्मसात् करनेवाले पराक्रमवाद को पुनरुज्जीवित करने की नेहरूवाली बात का समर्थन किया है और फिर पण्डित नेहरू की बात का उद्धरण भी दिया है। "कोई कारण नहीं कि हम मुसलमानों को अपने में

न मिला सकें, जब कि हम पूर्वकाल के हूण एवं शकों को आत्मसात् कर चुके हैं" (पृ० १३१)।

फिर आप अपनी तरफ से कहते हैं कि "निर्विवाद रूप से हमारे राष्ट्रिय जीवन की एकात्मता के लिए यही और केवल यही शुद्धमार्ग है। इससे अधिक तर्कसंगत, व्यावहारिक एवं उचित समाधान अन्य कुछ हो ही नहीं सकता" (पृ० १३१)।

उपर्युक्त उक्तियों में स्पष्ट है कि नेहरू जी की विचारधारा से आप भी पूर्ण सनमत हैं। परन्तु आपको विदित होना चाहिए कि आपकी और श्री नेहरू का तथाकथित संस्कृति-हिन्दू संस्कृति नहीं, किन्तु, वह एक खिचड़ी-संस्कृति है। ऐसा हिन्दुत्व या हिन्दू-संस्कृति शास्त्रीय तथा शाश्वत नहीं है। किन्तु आप जैसे सुधारकों का मनःप्रसूत हिन्दुत्व ही है। शास्त्रीय दृष्टि से तो सनातन परमात्मा ने, सनातन जीवात्माओं के सनातन कल्याण या अभ्युदय निःश्रेयस के लिए अपने निःश्वासभूत सनातन वेदादि-शास्त्रों द्वारा जो विधान या मार्ग बताया है, वही सनातन हिन्दू का सनातन शाश्वत धर्म एवं संस्कृति है। वह गिरगिट की तरह समय-समय पर रंग नहीं बदलती। शास्त्रविरुद्ध इतिहास सर्वथा भ्रमात्मक एवं अप्रामाणिक है।

तातार, हूण, शकादि जातियाँ या तो सर्वथा नष्ट हो गयीं अथवा हिन्दुओं की अन्त्यजादि जातियाँ बौद्धों में घुल-मिल गयीं एवं अन्ततः मुसलमान हो गयीं। इसी कारण हिन्दू-जाति के व्यवस्थापक अनादि अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारि आर्ष धर्मग्रन्थ ही हैं। उनमें ब्राह्मण-क्षत्रियों के सभी संस्कारों का विधान एवं विशेषतः प्रतिलोम सांकर्यों का घोर निषेध है। जिस चाणक्य की आपने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसका भी यही मत है, यह हम बता चुके हैं। तद्विरुद्ध आप लोगों की सब कल्पनायें सर्वथा मिथ्या एवं अप्रमाण हैं।

हिन्दू-जाति के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार व्यवस्थित शुद्ध जातियाँ हैं। इनके सांकर्य तथा अन्य लोगों के सांकर्य से अनेक जातियाँ एवं उपजातियाँ हो गयीं। शुद्ध ब्राह्मणादि एवं अनुलोम त्रिवर्णों में वेदादिशास्त्र के अध्ययन तदर्थानुष्ठान का विधान है। अन्य सबके लिए भी वेदमूलक तन्त्रागम, पुराणादि प्रतिपादित भक्ति, ज्ञान आदि धर्म का विधान है। अन्ततः वेदादि-शास्त्रानुसार अपने-अपने अधिकारानुसार चलनेवाले कर्म, उपासना करनेवाले सभी हिन्दू हो सकते हैं। यही मानव-धर्म भी है। मानवता भी धर्म के ही आधार पर स्थिर होती है। अन्यथा भोजन, पान, सन्तान-उत्पादन आदि कार्य तो पशुओं में भी मनुष्यों के तुल्य ही है। इसीलिए कहा गया है :

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

इस तरह अंग्रेज, फ्रेंच, अरब आदि के मानवमात्र पहले अनादि वेदादि शास्त्रोक्त धर्म का अधिकारानुसार पालन करते थे, अतः सभी हिन्दू थे। नवीन धर्मों के अपनाने से वे अन्य हो गये।

श्रीमद्भागवत में मानवमात्र के ये तीस धर्मों का निर्देश है :

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

(भाग० ७.११.८–१२)

अर्थात् १. सत्य : यथार्थ भाषण, २. दया : पर:दुख मिटाने की भावना, ३. तप:एकादशी आदि शास्त्रविहित व्रत-उपवास करना, ४. शौच : स्नानादिजन्य शुद्धि रखना, ५. तितिक्षा : शीत-उष्णादि का सहन करना, ६. ईक्षा : युक्त-अयुक्त का विवेक रखना, ७. शम : मन का संयम करना, ८. दम : बाह्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना, ९. अहिंसा : सर्वथा परपीड़ा का वर्जन करना, १०. ब्रह्मचर्य : परस्त्री-वर्जन तथा निषिद्ध देश-कालों में स्वस्त्रीवर्जन, ११. त्याग : दान करना, १२. स्वध्याय : अधिकारानुसार मन्त्र एवं भगवान् के नामादि का जप करना, १३. आर्जव : मन से कुटिलता का त्याग करना, १४. सन्तोष : दैववशात् प्राप्त वस्तु से ही तृप्त रहना, १५. समदृक्सेवा : समदर्शी भगवद्भक्तों की सेवा करना, १६. शनैः ग्राम्येहोपरमः : अर्थात् धीरे-धीरे प्रवृत्तिकर्मों से निवृत्त होना अथवा भोगेच्छा से निवृत्त होना, १७. नृणां विपर्ययेहेक्षा : मनुष्यों के निषिद्ध-निष्फल क्रियाओं के विपरीत होने का विचार करना, १८. मौन : वृथा-वार्तालाप से निवृत्त होना, १९. आत्मविमर्शन : देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से पृथक् शुद्ध चेतन आत्मा का विचार करना, २०. अन्नाद्य आदि का संविभाग : यथायोग्य प्राणियों को प्रदान करना, २१. पशु आदि भूतों में सुतराम्, मनुष्यों में देवता एवं आत्माकी बुद्धि करना, २२. सन्तों

की परमगति भगवान् के गुण एवं कर्मों का श्रवण करना, २३. गुण-कर्मों का कीर्तन करना, २४. स्वरूप : गुणविभूतियों का स्मरण करना, २५. भगवान् एवं भक्तों की सेवा : यथा पादसंवाहन, कष्टहरण आदि, २६. पूजा अर्घ्य : पाद्यादि निवेदन करना, २७. अवनति : नमस्कार, दण्डवत् प्रणाम आदि, २८. दास्य : दासवत् स्वकृतकर्मों का सब फल अर्पण करना, २९. सख्य : भगवान् में विश्वास करना, ३०. भगवान् को आत्म-समर्पण करना, देह-गेहादि सब आत्मीयों तथा आत्मा का भी अर्पण कर सब कुछ भगवान् का ही है, ऐसा अनुसंधान करना। ये तीस प्रकार के धर्म सभी मनुष्यों के लिए विहित हैं। इनसे सर्वान्तरात्मा भगवान् सन्तुष्ट होते हैं। इनमें सदाचार, पवित्रता, सेवा, पूजा, भक्ति एवं तत्त्वज्ञान सभी उत्तमोत्तम धर्म आ जाते हैं। इनसे परम कल्याण होता है।

अब भी वेदमूलक तन्त्रागम, पुराणादि में प्रोक्त मानव-भक्ति, ज्ञान, सदाचार का पालन करने पर सभी 'हिन्दू' हो सकते हैं। परन्तु उनका श्रेणिभेद अवश्य रहेगा। उनका खान-पान, विवाह आदि अपनी श्रेणियों में ही होने का नियंत्रण रहेगा। सब घर, सब देवालय, सब सांस्कृतिक एवं पैतृक निधियों के द्वार सबके लिए खुल नहीं सकते। वर्ण-सांकर्य, रक्त-सांकर्य, रोटी-बेटी एक होने से हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति लुप्त या नष्ट हो जायगी। सर्व-सांकर्य (मिक्श्चर)—सब एक हों, तो चाहे भ्रष्ट हिन्दू कहो चाहे भ्रष्ट ईसाई या भ्रष्ट मुसलमान, नाममात्र का भेद होगा। अर्थ में कुछ भी भेद नहीं होगा; क्योंकि सब निष्प्रमाण, निराधार अर्थात् वेदादि-शास्त्रों एवं तदनुसार परंपराओं के विरुद्ध होगा।

श्री नेहरू या आपको उन शास्त्रों के प्रामाण्य का कोई विचार नहीं। अतएव आप कुछ भी कहें, उसका शास्त्रीय विचारों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। जैसे आपने यह माना कि शिवाजी के पुनरुत्थान-कार्य में रनउल्ला और इब्राहिम अपने मुसलमानी नामों से ही सहयोग करते थे' (पृ० १३१), वैसे ही यह भी समझना चाहिए कि अपने धर्म-संस्कृति का आदर करता हुआ भी कोई मुसलमान एक ईमानदार के नाते सहयोग कर सकता है। मातृभूमि के प्रति ज्वलन्त भक्तिभावना ठीक है, साहचर्य एवं भ्रातृभावना भी ठीक है, राष्ट्रजीवन की समानधारा की उक्त चेतना भी ठीक है; परन्तु समान संस्कृति एवं समान पैतृक दाय आदि के सम्बन्ध में सर्वथा शास्त्र-पराधीनता ही कल्याणकारी है।

आप लोग छू-मन्तर के आधार पर गैर-हिन्दुओं को हिन्दू बनाकर एवं हिन्दुओं की अवान्तर विभिन्न जातियों का परस्पर भोजन-पान, विवाह आदि सम्पादन करने का प्रयत्न करते हैं, यह सर्वथा भारतीय वेदादिशास्त्रों एवं परंपराओं के विरुद्ध है। आप जैसे कुछ लोग कहते हैं कि 'भोजन-पान, शादी-विवाह से धर्म का कोई सम्बन्ध

नहीं। इनसे धर्म कभी नहीं नष्ट हो सकता, धर्म कोई कच्चा धागा नहीं, छुई-मुई नहीं।' परन्तु उनको यह जानना चाहिए कि शास्त्रानुसार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की हरएक हलचल धर्म है। शास्त्रविरुद्ध अधर्म है। अन्यथा यदि धर्म फौलादी लोहा है, किसी तरह नष्ट नहीं हो सकता, तब तो कोई महामूर्ख यह भी कह सकता है कि फिर गोमांस खाने या बहन-बेटी के साथ विवाह करने से ही धर्म कैसे नष्ट हो सकता है ? फिर तो बहुत कुछ करने की खुली छूट हो जायगी। यदि गोमांसभक्षकों के लिए आप अपने घर एवं देवालय तथा संस्कृति के पैतृक दायों के द्वार खोल देंगे, उनके साथ खान-पान-सम्बन्ध स्थापित करने, विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने, बहन-बेटी देकर रक्तसांकर्य स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे तो सर्वथा शास्त्रीय परंपराएँ धर्म एवं जातियाँ नष्ट हो जायँगी। यदि आप कहें कि शास्त्रों को हम मानते ही नहीं, तो शास्त्रीय परंपराओं का आदर मिट जायगा ! तब तो बहन-बेटियों के साथ शादी-विवाह में भी क्या बाधा रहेगी ? यदि उस बन्धन को भी तोड़ देंगे तो मानव-दानव, श्वान-शूकर में कोई अन्तर न रह जायगा। फिर हिन्दुत्व का ही नहीं, मानवता का भी सर्वनाश हो जायगा। फिर संस्कृति का नाम केवल दम्भ ही रह जायगा। फिर वेश्यावृत्ति या व्यभिचार से भी कोई परहेज क्यों करेगा और कुलप्रसूत एवं जार-जात में क्या भेद रह जायगा ?

जो कहते हैं कि 'वृक्ष की टहनियों और पत्तियों की तरह पुराने शास्त्रीय धर्म-नियम समाप्त हो जाने चाहिए, उनके स्थान पर नयी पत्तियों की तरह नये धर्म-नियम बनाये जाने चाहिए', उनको यह जानना चाहिए कि सूर्य, चन्द्र, भूमि, भूधर, सागर तथा ईश्वर एवं आत्मा जैसे शाश्वत हैं, वैसे ही हमारे शास्त्र एवं धर्मनियम भी शाश्वत हैं। सूर्य आदि के समान ही धर्म में भी रद्दोबदल नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि 'अठारह पुराण एवं अठारह स्मृतियों के मतभेद से ही मालूम पड़ता है कि देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार शास्त्रों एवं धार्मिक-सामाजिक नियमों में रद्दोबदल होता ही रहा है। फिर आज क्यों न उचित परिवर्तन किया जाय ?', उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के मूल अनादि-अपौरुषेय वेद ही हैं। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद ही हमारे धर्म एवं संस्कृति के मूल हैं। धर्मशास्त्र, स्मृति, रामायण, महाभारत, पुराण, तन्त्र एवं आगम सबका मूल वेद ही है। इसलिए वे सब वेद का ही अनुसरण करते हैं एवं वेदविरुद्ध किसी अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते। तभी महाकवि कालिदास कहते हैं : **श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्**। अर्थात् जैसे स्मृति श्रुति के अर्थ का अनुसरण करती है, वैसे ही सुदक्षिणा ने नन्दिनी के पीछे चलनेवाले दिलीप का अनुसरण किया। महर्षि जैमिनि ने भी वेदार्थ की मीमांसा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि श्रुति का विरोध होने पर स्मृति का प्रामाण्य अनपेक्ष, अनादरणीय है। विरोध न होने पर उसके मूलभूत श्रुतिवचन का अनुमान करके

उसके प्रामाण्य की प्रतिष्ठा होती है : **विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्** । (जै० सू० १. ३. ३) । इसी दृष्टि से **औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायति** इस श्रुतिवचन से विरोध होने के कारण **औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या** इस कल्पित स्मृति का अर्थसंकोच किया जाता है । इन सब बातों से स्पष्ट है कि स्मृतियों एवं पुराणों की विभिन्नता वेद पर ही आधृत है, किसीकी बुद्धि पर नहीं । वेदों में अनादिकाल से कुछ कर्मों में कालभेद और युगभेद से, कुछ में अवस्थाभेद तो कुछ में आपत्-संपद्भेद से विभिन्नता है। सन्ध्या के प्रातः, सायं एवं मध्याह्न कालभेद से आचमनों में भेद है। सम्प्रदाय-भेद से उदित होम, अनुदित होम का भी भेद है । अतः स्मृति, इतिहास, पुराणों के धर्मभेद वेद-सम्मत ही हैं। धर्म-अधर्म की व्यवस्था वेदादिनिरपेक्ष स्वतंत्र बुद्धि से कोई भी कभी नहीं कर सकता और न उसकी कभी आस्तिक-समाज में मान्यता ही होती है ।

वस्तुतः इसी कारण आप शास्त्रों का प्रामाण्य मानने से भागते हैं। यदि शास्त्र-प्रामाण्य मान लें तो आपका कोई भी सिद्धान्त एक मिनट भी टिक नहीं पायेगा । एक तरफ आप शाश्वत धर्म, शाश्वत संस्कृति, शाश्वत हिन्दुत्व की बात करते हैं, दूसरी तरफ सनातन शास्त्र एवं शास्त्रोक्त शाश्वत धर्म या नियम नहीं मानते !

आपने लाला हरदयाल की बतायी घटना की चर्चा की है कि "दक्षिण में एक अंग्रेज अधिकारी था । उसका एक सहायक अधिकारी स्थानीय व्यक्ति शायद नायडू था । उस अंग्रेज का एक अर्दली ब्राह्मण था । एक दिन जब वह अंग्रेज सड़क पर अपने अर्दली के साथ जा रहा था, सामने से वह सहायक अधिकारी आ गया । दोनों ही अधिकारियों ने एक दूसरे को अभिवादन करते हुए हाथ मिलाया, किन्तु जब उस अधिकारी ने अर्दली को देखा तो अपनी पगड़ी उतार कर उसके चरण-स्पर्श किये । अंग्रेज यह देखकर चकित रह गया और उसने पूछा : 'यह क्या बात है ? मैं तुम्हारा उच्च अधिकारी हूँ, तुमने मुझसे सीधे खड़े रहकर हाथ मिलाकर अभिवादन किया और यह जो मेरा चपरासी है, उसे उतनी व्यस्त सड़क पर भी तुम भूमि पर लेटकर साष्टांग प्रणाम करते हो?' अधिकारी ने उत्तर दिया : 'आप मेरे उच्च अधिकारी हुआ करें, किन्तु हैं म्लेच्छ । वह भले ही चपरासी हो, किन्तु हमारे समाज के उच्च वर्ग का है, जिसका शताब्दियों से अत्यंत सम्मान होता चला आ रहा है । उसे झुककर प्रणाम करना मेरा कर्तव्य है ।'. उस अंग्रेज ने इंगलैंड के इण्डिया-आफिस को लिखा कि 'जबतक ब्राह्मणों को उनके उस प्रतिष्ठित पद से बहिष्कृत कर अंग्रेज स्वयं उसे अधिकृत नहीं कर लेते, अर्थात् उन्हीं-से या उनसे भी अधिक सम्मानित नहीं हो जाते, तबतक उनका साम्राज्य अधिक दिनोंतक टिक नहीं सकता" (पृष्ठ १३५) । किन्तु क्या आपके शास्त्रविरुद्ध सह-भोज, सह-विवाह आदि के विस्तार से ब्राह्मण का

यह प्रतिष्ठित पद रह जायगा? यदि अंग्रेज, मुसलमान आदि सभीके लिए अपना द्वार खोल देंगे, सबके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध चलाकर वर्णसांकर्य, रक्तसांकर्य फैला देंगे तो फिर क्या कोई ब्राह्मण रह जायगा? यदि रक्तसांकर्य के कारण सबकी समानता एवं एकता हो जायगी तो कौन ब्राह्मण और कौन नायडू? फिर नायडू क्या ब्राह्मण को साष्टांग प्रणाम करेगा? क्या वह ब्राह्मण भी म्लेच्छ नहीं हो जायगा? आश्चर्य है कि आप ऐसी परस्पर विरुद्ध बातें लिखते हैं, परंतु उनकी असंगतियों पर आपका ध्यान ही नहीं देते!

आपने लिखा है कि "वह (अंग्रेज) बड़ा चतुर था, क्योंकि उसने इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए तदनुरूप व्यवस्था के अनुसार शिक्षा देना प्रारंभ किया। उसने हमें सिखाया कि 'यह एक राष्ट्र नहीं, यहाँके आदिवासी द्रविड़ आदि हैं, आर्य बाहर से आये हैं। हमारे पास कोई मातृभूमि है ही नहीं।' हमसे यह भी कहा गया कि 'हमारा कोई धर्म नहीं, न कोई उल्लेखनीय दर्शन और न नैतिक आधार ही है" (पृ० १३५-३६)। इस तरह हमारा इतिहास विकृत किया गया।

वस्तुत: आप लोग भी उसी शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित होकर जाति-पांति, वर्णाश्रम मिटाकर सबको एक करके वेद, दर्शन एवं धर्मशास्त्र सबको ठुकराकर, एक ऐसे विचित्र ढंग का राष्ट्र बनाना चाहते हैं जो न हिन्दू होगा, न मुसलमान और न अंग्रेज ही।

अंग्रेजों ने अनादि-अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों का अप्रामाण्य सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। वेदों को पौरुषेय ही नहीं, बल्कि भेड़, गाय चरानेवालों के गीत बताया है। धर्मशास्त्रों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि को भी अप्रमाण बताया है। उन्हीं लोगों की कूटनीति का प्रभाव है कि आप ऋषियों, मुनियों एवं धर्म-संस्कृति का नाम लेते हुए भी मूल शास्त्रों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में कहते हैं कि हम किसी पुस्तक या ग्रन्थ के पूजक नहीं। कभी कहते हैं कि हम ग्रन्थों की प्रमाणता न स्वीकार करते हैं और न इनकार करते हैं।

यदि धर्म, संस्कृति एवं राष्ट्र के गौरव का मूल हमारे वेद, धर्मशास्त्र, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र आदिकों पर आस्था नहीं रहेगी, तो धर्म-संस्कृति की दुहायी देते रहने का कुछ भी अर्थ नहीं रह जायगा। जिसको कोई आधारभूत प्रामाणिक प्रकाश सम्भव नहीं होता, वह यों ही भटकता है। कभी रूस या चीन का अन्धानुकरण करता, कभी इंगलैण्ड या अमेरिका का, कभी अन्तर्राष्ट्रियता का, तो कभी राष्ट्रियता का नारा लगाता है।

आप अनेकबार हिन्दुत्व का गौरव-गान करते हैं। "स्वातन्त्र्य-भावना तो उनके (हिन्दुओं के) रक्त में समाविष्ट है" (पृ० १४३)। पर आप तो मानते हैं कि

हममें हूण, शक, तातार आदि अनेक जातियाँ मिल गयीं। अभी भी आप अंग्रेजों और मुसलमानों को अपने में विलीन कर लेने का प्रयत्न कर रहे हैं। फिर भी हिन्दुत्व की बात करते हैं। क्या जिसमें विभिन्न जातियों का रक्त मिल गया हो, वह भी शुद्ध रक्त है ? जिनके लिए आप कहते हैं कि 'हम मंदिर में पूजा करते हैं, तो वह उसे अपवित्र करेगा, यदि हम भजन करते हैं, भगवान् की रथयात्रा निकालते हैं, तो वह इससे रुष्ट होगा। यदि हम गो पूजते हैं, तो वह उसे खाना पसन्द करेगा, यदि हम स्त्री को मातृत्व के प्रतीक रूप में सम्मानित करते हैं, तो वह उस पर बलात्कार करेगा। वह हमारी जीवन-पद्धति के धार्मिक-सांस्कृतिक सभी पक्षों का अपनी पूर्ण शक्ति के साथ विरोध करेगा' (पृ० १४४), आपकी दृष्टि में उन्हीं मुसलमानों से कहना चाहिए था कि "हमारा आपका रक्त एक ही है। मुगल, तुर्क तथा अन्य विदेशी जातियों ने आपको तलवार की नोंकसे इस्लाम में धर्मान्तरित कर लिया है।…अल-गाव की स्मृतियाँ भूल जाओ। आओ, हम सब मातृभूमि एवं स्वतंत्रता और सम्मान के लिए लड़ें" (पृ० १४५)। आप समझते हैं कि शास्त्रहीन निराधार हिन्दुत्व के छू-मन्तर से वे सब शुद्ध धर्मात्मा हो जायँगे और शुद्ध ब्राह्मणादि हिन्दुओं के साथ खान-पान, विवाह के योग्य हो जायँगे। क्या इससे बढ़कर दुराशा का कोई उदाहरण मिल सकता है ? जिसे अपने से प्रकृत्या अत्यंत विरोधी समझते हैं, उसीका अपने में पूर्ण विलय हो जायगा, यह सम्भव मानते हैं! जबतक वे आपसे पृथक् रहें तबतक शृगाल और खराब तथा आपसे मिलते ही वे अच्छे सिद्ध हो जायँगे ? वस्तुतः शास्त्र-विरोधी और शुद्ध हिन्दुत्वविरोधी कांग्रेसी तथा आप सभी शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म से दूर हैं।

आपने लिखा है कि "पं० जवाहरलाल नेहरू ने मुसलमानों को लिखित आश्वासन दिया था कि उनकी धार्मिक भावनाओं का ध्यान रखते हुए स्वराज्य मिलने पर गोवध पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जायगा, यद्यपि कुरान में गोवध के लिए स्वीकृति-सूचक एक भी शब्द नहीं है" (पृ० १४७)। परन्तु इसका भी एकमात्र कारण था कि उनको वेदादिशास्त्रों एवं शास्त्रीय धर्म में कोई विश्वास एवं आस्था नहीं थी। इसीलिए उन्होंने मुस्लिम तुष्टीकरण के लिए गाय की हत्या मंजूर की, देश का बँट-वारा स्वीकार किया और विजातियों से पुत्री का विवाह भी किया।

वस्तुतः जो परंपराप्राप्त शास्त्रों का प्रामाण्य एवं तदुक्त धर्म नहीं मानता, उसके लिए गाय, बकरी एवं गर्दभी में क्या भेद है ? हिन्दू-मुसलमान या कुलप्रसूत और जारजात में क्या भेद हो सकता है ? मंदिर की मूर्ति और म्यूजियम की मूर्ति में क्या भेद है ? और तो क्या, उनकी दृष्टि में तो पुत्री, पत्नी, भगनी आदि का भी भेद सिद्ध नहीं होता। अतः शास्त्र का अनादर सर्वानर्थ का मूल ही है। अगर आप भी

शास्त्रों के प्रामाण्य से भाग जाते हैं तो वे सब अनर्थ आपसे भी हो सकते हैं। कारण स्वेच्छाचारिता का नियामक शास्त्र ही है। उसके अनादर से स्वेच्छाचारिता फैलती ही है।

किसी नेता की "बिना हिन्दू-मुस्लिम-एकता के स्वराज्य नहीं हो सकता और उसका सरल मार्ग है सभी हिन्दू-मुसलमान हो जायँ", इस उक्ति की समालोचना करते हुए आप लिखते हैं: "वह हिन्दू-मुस्लिम-एकता न होकर मुसलिम-एकता होगी; क्योंकि हिन्दू तो रहेंगे ही नहीं।" परन्तु यदि आपको भी हिन्दू-शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म मान्य नहीं तो आपका वह निराधार, निष्प्रमाण, मनःकल्पित हिन्दू भी हिन्दू, मुसलमान, अंग्रेज, फ्रेंच आदि विभिन्न जातियों की खिचड़ी, जाति-संकर (मिक्स्चर) ही होगा। उसकी अपेक्षा तो साधारण प्रामाणिक मुसलमान ही अच्छा है।

आश्चर्य है कि हिन्दू में मुस्लिम-रक्तप्रवेश पर आप उत्तेजित होते हैं, इसे 'निर्लज्जता' कहते हैं (पृ० १४८), परन्तु उसी मुस्लिम-रक्तप्रवेश के लिए मुसलमानों के लिए अपने घर का द्वार खोलकर स्वागत करते हैं और दीपावली पर्व मनाने को तैयार हैं। यदि मुसलमानों का भोजन करने में, मुसलमान को लड़की देने में परहेज नहीं तो बात एक ही है—चाहे मुसलमानों में मिल जाओ या मुसलमानों को अपने में मिला लो। चाहे चाकू पर खीरा डालो या खीरे पर चाकू डालो, परिणाम एक ही होगा। शास्त्रीय परंपरा आप मानते हो नहीं। अशास्त्रीय मनःकल्पित आचारों का कोई भी प्रामाणिक महत्त्व नहीं। फिर नाममात्र के हिन्दू-मुस्लिम विवाद में विद्वानों का आग्रह ही क्यों होगा?

याद रहे कि शास्त्रीय हिन्दू मुसलमानों का ही नहीं, सारे संसार के सभी मनुष्यों का स्वागत करने को तैयार है, परंतु शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुसार ही मानवमात्र शास्त्रोक्त सत्य, भक्ति, ज्ञान आदि पूर्वोक्त मानव धर्म का पालन करने से हिन्दू हो सकता है। फिर भी उसका खान-पान विवाह आदि उन-उन श्रेणियों में ही होगा। अतः रक्त-सांकर्य वर्ण-सांकर्य जैसे राष्ट्रविप्लावक जघन्य अन्यायों, पापों के विस्तार का अवकाश ही न रहेगा। फलतः जन्मजात विशुद्ध हिन्दुत्व एवं ब्राह्मणत्वादिक सुरक्षित रहेगा। अपने शास्त्रों एवं आर्ष-इतिहास को भूल जाने या ठुकरा देने के ही कारण पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों द्वारा गढ़े मिथ्या इतिहासों के आधार पर कांग्रेसी नेताओं ने मुसलमानों एवं अंग्रेजों जैसा ही हिन्दुओं को भी भारत में बाहर से आनेवाला समझा। फिर उसका परिणाम वही होना था, जो हुआ। जब हम सभी बाहर के ही हैं, अनादि काल से हम भारतीय थे ही नहीं, तो फिर बँटवारे के अतिरिक्त झगड़ा मिटाने का रास्ता ही और क्या रह जाता है?

आप यह भी कहते हैं कि "संसार में हिन्दुओं के समान अभागा कोई न होगा। भिन्न-भिन्न समाज के नेताओं ने सदैव अपने समाजों में आत्मविश्वास निविष्ट करके उनकी शिथिल हो रही चेतना को जागृत करने तथा शत्रुओं के सामने उन्हें विजयी एवं वीर्यवान् बनाने का पूर्णशक्ति से प्रयत्न किया। किन्तु यहाँ हमारे ही नेता थे, जो मानो अपने समाज का समस्त पौरुष क्षय करने की प्रतिज्ञा लिये हों। ···अपना व्यक्तिगत बड़प्पन चमकाने के लिए स्वतंत्रता को विदेशियों के हाथ बेंच अपने ही जातिबन्धुओं का गला काटने के लिए अपने देश तथा धर्म के चिरकालिक शत्रुओं के हाथ से हाथ मिलाया" (पृ० १४९)। परन्तु आप भी तो वैसा ही कर रहे हैं। जो वेद, रामायण, महाभारत, मन्वादि धर्मशास्त्र, दर्शन तथा तदनुसार वर्णव्यवस्था, भोजन, पान, विवाहादि मर्यादाएँ करोड़ों भारतीयों के लिए परमादरणीय एवं परम-पूज्य रही हैं; आप उनका अनादर करके उनके स्थान पर नया धर्म, नयी राष्ट्रियता चलाकर प्रजा का अहित कर रहे हैं। ईसाई-मुसलमान नेता अपने-अपने धर्मग्रंथों एवं तत्तदनुसारी परंपराओं का गुणगान करते हैं। पाकिस्तान रेडियो कुरानशरीफ की आयतों का महत्त्व वर्णन करता हुआ प्रतिदिन उसकी विशद व्याख्या करता है, पर आप कहते हैं कि अगर हम भी किसी एक पुस्तक को अपना आदर्श या आधार मानने लगें तो उनसे हमारी विशेषता ही क्या रह जायगी ? आप वेद, रामायण आदि सद्ग्रंथों के तात्पर्यविषयीभूत परमेश्वर तथा कोटि-कोटि हिन्दुओं के पूज्य एवं आदर्श राम और कृष्ण को परमेश्वर न मानकर मातृभूमि का पुत्र कहते हैं और उनको आदर्श न मानकर भगवाध्वज को अपना आदर्श मानते हैं तो फिर उदार बनने की धुन में कांग्रेसी भी संसार के नेताओं से चार हाथ ऊंचा बनने के लिए देश के शत्रुओं से हाथ मिलायें, तो क्या आश्चर्य है ?

'तुष्टिकरण से क्षुधा तीव्र होती है' (१५०) यह ठीक ही है। इसी आधार पर हम धर्मसंघ के लोगों ने बार-बार कांग्रेस तथा नेहरूजी को चेतावनी ही नहीं दी, सन् १९४७-२८ अप्रैल से प्रत्यक्ष सत्याग्रह-आंदोलन भी आरम्भ किया था जिसमें अनेक महापुरुषों के बलिदान भी हुए। पर आपलोग यह सब जानते हुए भी चुप बैठे थे। अस्थिरमति कांग्रेसी धर्म एवं शास्त्र से विमुख होने के कारण ही भूल पर भूल करते गये और अपने ही सिद्धान्तों एवं घोषों के विरुद्ध उन्होंने देश का विभाजन कराया। फलस्वरूप हिन्दू, मुसलमान दोनों ही को भीषण धन, जन, शक्तिक्षय तथा अपमानों का सामना करना पड़ा। यह ठीक ही है कि 'हिन्दू ही भारत के राष्ट्रिय हैं' (१५३), पर वह हिन्दू तभी हिन्दू है, जब भारतीय शास्त्रों एवं परंपराओं के अनुसार हो। परन्तु शास्त्र एवं धर्म से विमुख मिक्शाचर या संकर हिन्दुओं का राष्ट्र एवं कांग्रेसियों का राष्ट्र तो एक ही है, नाममात्र को छोड़कर उसमें कोई अन्तर नहीं। वास्तव में आपके समान ही कांग्रेसी भी आपके ही शब्दों

में "इण्डियन फिलासफी तथा 'इण्डियन आर्ट' तथा उपनिषदों एवं कालिदास आदिकों का गौरवपूर्वक नाम लेते हैं" (पृ० १५५) । आप भी ऋषियों, महर्षियों, दर्शनों एवं शाश्वत धर्म एवं हिन्दुत्व का नाम लेते हैं। परन्तु यह सब क्या है और इसका क्या आधार है, यह पूछने पर आप कुछ भी प्रामाणिक उत्तर नहीं दे पाते। शास्त्रों के प्रामाण्य को आप सर्वथा अस्वीकार कर देते हैं । कौटिल्य के अर्थशास्त्र की आपने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, परन्तु उसका भी प्रामाण्य मानने को तैयार नहीं। यही हाल कांग्रेसियों का भी है।

"सोमनाथ के मंदिर का उद्धार हुआ, स्थापना-संस्कार भी हुआ और कई सौ वर्ष की दासता का कलंक धुल गया" (पृ० १५६), कांग्रेसियों के इस कथन से आपने यह सिद्ध किया कि यह हिन्दू-राष्ट्र है। मुसलमान आक्रामक होकर आये, यह ठीक है। परन्तु सोमनाथ परमेश्वर हैं, ज्योतिर्लिंग हैं, उनकी प्रतिष्ठा या संस्कार होना आवश्यक था—यह आपने और कांग्रेसियों ने किस प्रमाण से निश्चय किया ? क्या हिन्दू-शास्त्रों के बिना किसी पत्थर की मूर्ति में परमेश्वर होनेकी कल्पना की जा सकती है ? शास्त्रों का नाम लेने से आप दोनों ही चुप हो जाते हैं। सोमनाथ के संस्कार के प्रसंग में मेरे पास भी निमंत्रण आया था और मुझसे कहा गया कि आप अपने विद्वानों के साथ अवश्य आइये। मैंने लिखा कि 'मैं प्रसन्नता से इस निमंत्रण को स्वीकार करता हूँ और आने को तैयार हूँ। परन्तु इस शर्त पर कि वहाँ विद्वत्-सम्मेलन में इस बात पर विचार किया जाय कि मूर्तिपूजा एवं मूर्तिप्रतिष्ठा का आधार क्या है ? मंदिरों की मर्यादा क्या है ? उसका पालन कैसे किया जाय ? उसमें किनका कैसे प्रवेश हो और किनका नहीं ?' इस पर वे लोग चुप हो गये। आप लोग अर्ध 'कुक्कटी' न्याय से प्राचीनता की एक टाँग पकड़ लेते हैं और अन्य छोड़ देते या काट भी देते हैं।

आप लिखते हैं : "मिथ्या-वस्तु को भी बार-बार दुहराने से भ्रान्ति होती है, अतः उसको मिटाना आवश्यक है" (पृ० १६१) इससे आपने भी सत्य प्रकट करनेके लिए प्रमाण की आवश्यकता बतायी और इस सम्बन्ध में आपने शास्त्रों एवं गीता का नाम भी लिया है (पृ० १६१) । पर यद्यपि आप शास्त्र और गीता का कांग्रेसियों की तरह नाम तो लेते हैं और अपने काम-लायक अंश को ग्रहण भी करते हैं, अपनी बात मनवाने के लिए उनके आधार पर प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु वह परम प्रमाण शक्ति को ही मानते हैं। इसीलिए गीता के ११वें अध्याय द्वारा प्रदर्शित विश्वरूप की शक्ति को ही आपने महत्त्व दिया है और आपके अनुसार अर्जुन तुरन्त कहता है, 'हाँ अब मैं समझ गया' (पृ० १६१) । परन्तु क्या पिछले १० अध्यायों एवं अगले पाँच अध्यायों के सब प्रश्नोत्तर निरर्थक हैं ?

वस्तुतः दर्शन का एक साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि शक्ति कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत स्वयं वही प्रमाण से ही सिद्ध होती है। डाकुओं की शक्ति भी शक्ति है, आसुरी-तामसी शक्ति भी शक्ति है। दैवी शक्ति, ईश्वरीय शक्ति भी शक्ति है। प्रमाणों के आधार पर आसुरी शक्ति का मुकाबला करने के लिए दैवी या ईश्वरीय शक्ति का आश्रयण करना पड़ता है।

यह ठीक है कि "हमारे नेताओं के प्रमाद से ही देश का बँटवारा करने का पाकिस्तानियों का प्रथम पग सफल हुआ। काश्मीर पर आक्रमण का दूसरा पग भी अंशतः सफल हुआ। आज भी एक तिहाई काश्मीर पर उनका कब्जा है" (पृ० १६५)। आसाम, त्रिपुरा की ओर भी उनका योजनाबद्ध प्रोग्राम चल रहा है। "हमारा वर्तमान नेतृत्व उनकी इन कार्यवाहियों पर कठोरतापूर्वक प्रतिबन्ध लगाने के लिए अतिदुर्बल है" (पृ० १६७), यह भी ठीक है। "मुस्लिमवर्ग का वोट प्राप्त करने के लिए कांग्रेस मुस्लिम तुष्टीकरण भी नीति की अपनाती है" (पृ० १६९), यह भी ठीक है। भारतीय नीतिशास्त्रों एवं धर्म तथा न्याय की उपेक्षा के कारण ही भारतमें अगणित छोटे-छोटे पाकिस्तान बन गये और निरपराध हिन्दुओं के साथ अन्याय भी हुआ। राष्ट्रिय कहलानेवाले मुसलमान भी पाकिस्तानी नींव के भीतर से पोषक रहे और अब भी हैं।

इसी प्रकार "ईसाई लोग भी भाँति-भाँति की रहस्यपूर्ण एवं क्षुद्र युक्तियों से धर्मान्तरण के प्रयत्न में संलग्न हैं" (पृ० १७८)। नागालैण्ड की स्थापना से ईसाई-प्रसारवाद को अधिकाधिक बढ़ावा मिला है। भारत में ईसाई-साम्राज्य स्थापित करने की ईसाई-योजना से अवश्य ही हमारी आँखें खुलनी चाहिए और उसका निश्चय ही समुचित उपाय होना चाहिए। पहाड़ी-राज्य एवं झारखण्ड-राज्य की माँग भी ईसाई-षड्यन्त्र की ही अभिव्यक्ति है। ईसाई-मिशन एवं मुस्लिम-लीग के समझौते के अनुसार दोनों ही मिलकर भारत को पाकिस्तान, ईसाईस्तान बना लेना चाहते हैं— ये सब बातें अवश्य सही हैं। शास्त्र और धर्म से विमुख नेताओं के हाथों में शासन-सत्ता बनी रही तो यह असम्भव भी नहीं है। इसीलिए बड़ी तत्परता के साथ शास्त्र-निष्ठा एवं धर्मनिष्ठा के लिए काम होना चाहिए।

ईसाई, मुसलमान दोनों अपने धर्मग्रन्थों में एवं स्वार्थों में स्थिरनिष्ठा रखते हैं, पर नास्तिक एवं सुधारक हिन्दू नेता लोग शास्त्रों एवं शास्त्रोक्त धर्मों में विश्वास नहीं करते। अतएव उनकी गतिविधियों, व्याख्यानों एवं लेखों द्वारा हिन्दू-धर्म एवं शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा ही व्यक्त होती है।

धर्मान्ध ईसाइयों द्वारा किये गये धर्मान्तरण तथा देवी-देवताओं का अपमान तथा मंदिरों का विध्वंस भी नास्तिक या सुधारक हिन्दू-नेताओं के लिए उद्वेगजनक

नहीं होते, क्योंकि उनकी दृष्टि में तत्तन्माहात्म्यबोधक धर्मपुस्तकों का प्रामाण्य ही नहीं। शास्त्रप्रामाण्य-बुद्धिके बिना देवी-देवताओं एवं मंदिरों का भी कुछ महत्व नहीं होता। वस्तुतः हिन्दुओं के धर्मान्तरण से भी उनको पीड़ा नहीं होती। किन्तु वे तो केवल राजनीतिक दृष्टि से हिन्दूसंख्या के ह्रास के भय से ही ईसाईयत एवं इस्लामियत का विरोध करते हैं, क्योंकि हिन्दूसंख्याके ह्रास से उनका नेतृत्व एवं प्रधानता संकटग्रस्त हो सकती है।

शास्त्रविश्वास एवं वर्णव्यवस्था में शिथिलता आने से ही ईसाइयों, मुसलमानों को अपना मतप्रचार करने में सुविधा होती है। इसीलिए मैक्समूलर ने अपने किसी सम्बन्धी को भेजे गये पत्र में लिखा था कि 'ऋक्-संहिता का एक सरल संस्करण मैं इसीलिए प्रकाशित कर रहा हूँ, जिससे ईसाइयों को हिन्दू-धर्म की कमजोरी दिखाकर ईसाइयत का प्रचार करने में सुविधा हो।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिन वेदों पर हिन्दू-धर्म का विश्वास, है, उनकी पौरुषेयता बताकर, उन्हें साधारण गाय-भेंड़ चरानेवालों का गीत बताकर, उनके मनचाहे ऊलजुलूस अर्थ बताकर, उनके प्रति अश्रद्धा-अविश्वास उत्पन्न कर हिन्दुओं को हिन्दू-धर्म से विचलित किया जा सकता है; अन्यथा नहीं। इसीलिए तो आज भी ईसाई-मिशनरियाँ प्रयत्न करके ईसाई-प्रचारकों को संस्कृत पढ़ाकर वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, दर्शन आदि का गंभीर ज्ञान प्राप्त कराने पर बल दे रही हैं और हिन्दू विद्वानों, आचार्यों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित करके ईसाइयत फैलाना चाहती हैं। दुर्भाग्य है कि आप लोग भी शास्त्रों के प्रामाण्यवाद को ठुकराकर अपनी मनःकल्पित बालू की दीवार पर हिन्दुत्व की स्थापना करके समाज की रक्षा का स्वप्न देख रहे हैं! वेदादि-शास्त्रों पर आधारित वर्णाश्रम-व्यवस्था हम लोगों का एक महान् दुर्ग था। उसीके आधार पर भारत अपनी रक्षा करता आ रहा था। बौद्धों द्वारा वर्णव्यवस्था पर भीषण प्रहार किया गया तो भारत ने इसीके बल पर बौद्धों का मुकाबिला किया और उन्हें भारत से बाहर ही जाकर अपना धर्मविस्तार करना पड़ा। जैन वर्णाश्रम-व्यस्था के विरोधी होते हुए भी व्यवहार में वर्णानुसार ही आचार बनाये रहे, इसीलिए वे यहाँ रह गये।

यूनानी सिकन्दर ने भी भारत पर आक्रमण किया, पर हमारी सामाजिक व्यवस्था के कारण उसे पराजित होकर ही यहाँ से भागना पड़ा। विन्सेंट स्मिथ ने अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया' में लिखा है कि सिकन्दर का आक्रमण सैनिक-आक्रमण ही रहा। उससे भारत में कोई परिवर्तन नहीं हो सके। लड़ाई के घाव शीघ्र ही भर गये। नष्ट हुए खेत फिर से लहलहा उठे, किसान फिर से अपने काम में जुट गये, घटी जनसंख्या फिर पूरी हो गयी। भारत यूनान न बन सका और पुराना जीवन ज्यों-का-त्यों व्यतीत करने लगा। वह शीघ्र ही यूनानी आक्रमण का तूफान

भूल गया। आया था सिकन्दर भारत को यूनान बनाने, पर वह लौटा भारत का शिष्य बनकर। यूनान की उस संस्कृति पर भारतकी संस्कृति की ही छाप पड़ी जिसका उस समय पश्चिम यूनान में बोलबाला था।

यूनान के बाद हूण, शक आदि अनेक जातियाँ आक्रामक के रूप में यहाँ आयीं, पर भारतीय समाज पर उनका भी कोई असर नहीं पड़ सका। अरब तथा तुर्क, मुगल आदि मुसलमान भी आक्रामक के रूप में आये और उनका धीरे-धीरे यहां साम्राज्य भी स्थापित हो गया। तलवार के बल पर इस्लाम यूरोप, चीन तथा एशिया के बहुत बड़े भागों में फैल गया। किन्तु जहाँ अन्य देशों के धर्म-कर्म, संस्कृतियां लुप्तप्राय हो गयीं, वहीं भारत अपने दृढ़ शास्त्रों एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था के बल पर जीता ही नहीं रहा, बल्कि मुकाबला भी करता रहा। अन्त में मुसलमानों को उससे समझौता करना पड़ा। दोनों अपने-अपने धर्म-संस्कृति में स्थिर रहते हुए, रोटी-बेटी का सम्बन्ध न करते हुए भी परस्पर सहयोग करने लगे। साहित्य, कला आदि में आदान-प्रदान करते हुए भी अपने धार्मिक आचरण में दोनों अडिग ही रहे।

पाश्चात्य अंग्रेजी शासनकाल में ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने छल-छद्म से भारतीय संस्कृति एवं धर्म पर प्रहार करना प्रारंभ किया। अपने साम्राज्य की नींव सुदृढ़ करने के लिए मानसिक विजय का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया। 'मैकाले' की शिक्षा योजना ने हमारे सांस्कृतिक दुर्गों को ढहा दिया। उसका कहना था कि हिन्दू-धर्म के प्रत्यक्ष-खण्डन की आवश्यकता नहीं। अंग्रेजी शिक्षा से तीस वर्ष में बंगाल में एक भी मूर्ति-पूजक न बचेगा। यद्यपि उसकी यह इच्छा तो पूरी नहीं हो सकी, पर उससे हमारे शास्त्रीय एवं धार्मिक विश्वासों की जड़ें अवश्य हिल गयीं और आज संस्कृति एवं हिन्दुत्व का नाम लेनेवाले लोग भी शास्त्र एवं शास्त्रोक्त आचार-विचार से विमुख हो गये। हिन्दुओं की अपने शास्त्रों धर्मों एवं शास्त्रीय संस्कृति में अभिमान एवं श्रद्धा मिटा देना ही उस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था।

फ्रांसीसी पादरी डी वाय ने, जो दक्षिण भारत में ईसाईधर्म का प्रचार करने आया था, अपनी पुस्तक में स्वीकार किया है कि मेरी विफलता का कारण यहाँकी वर्णव्यवस्था ही है।

सर जार्ज वर्डवुड ने बहुत दिनों तक भारत में उच्च पदों पर काम किया था। उनके लेखों का संग्रह "स्व" नाम से सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ था जिसे उन्होंने भारत के चारों वर्णों को, जो उनके शब्दों में "हिन्दू भारत के आत्मा की नौका है", समर्पण किया है। उसमें उनका कहना है कि 'जबतक हिन्दू वर्णव्यवस्था अपनाये हुए हैं तभीतक वह भारत है। जिस दिन वे इससे अलग हुए कि फिर

भारत हिन्दुओं का भारत न रह जायगा। तब उस प्राचीन वैभवशाली प्रायद्वीप का पतन होकर अंग्रेजी साम्राज्य का एक पूर्वी कोनामात्र रह जायगा।

वर्णव्यवस्था के कारण ही ईसाई-मिशनरियों को यहाँ सफलता नहीं मिली। १९०८ में ईसाई-कांग्रेसकी रिपोर्ट में लिखा गया है कि चर्च को उन हिन्दू-सुधारकों की सहायता करनी चाहिए, जो जातिबन्धन ढीला करने के प्रयत्न में लगे हैं।

सर चार्ल्स इलियट ने अपने "हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि "छिन्न-भिन्न करने की अपेक्षा जैसा कि बहुत-से यूरोपीय विद्वानों का मत है; वर्णव्यवस्था भारत के इतिहास में एकता की सबसे बड़ी शक्ति रही है। ढाई हजार वर्ष तक इसने कितने ही आक्रमणों का मुकाबला किया और समाज को तरह-तरह के विघटनों से बचाया। इसकी उपयोगिता इसीमें है कि इसने उन सामाजिक सिद्धान्तों को, जो जनसाधारण के प्रतिदिन के जीवनमें व्यक्त होते हैं, सुरक्षित रखा है। सुरक्षा की दृष्टिसे हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था एक सुदृढ़ तथा सबसे स्थायी संस्था है। आज हमारे देश में अनेक सुधारक-संघटन हैं जिनको ईसाइयों द्वारा पर्याप्त सहायता इसलिए दी जाती है कि वे पूरी शक्ति से वेदादि शास्त्रविश्वास एवं शास्त्रों पर आधारित वर्ण-व्यवस्था एवं धर्म को मिटाने का प्रयत्न करें। तभी ईसाइयों को अपने मत-प्रचार तथा हिन्दुओं को ईसाई बनाने में बड़ी सुविधा हो सकती है। आपने भी यह माना ही है कि "जहाँ बौद्धों के धर्मप्रचार से वर्णव्यवस्था एवं जाति-पाँत के बन्धन ढीले पड़ गये थे, वहीं इस्लाम सफल हुआ और जहाँ वर्णव्यवस्था सुदृढ़ रही, वहाँ उसका प्रभाव नगण्य ही रहा।" आश्चर्य है कि फिर भी आप अपने संघटन द्वारा शास्त्रविश्वास और वर्णाश्रमानुसारी जाति-पाँति तथा रोटी-बेटी के नियम को नष्ट करने में पूरी शक्ति से जुटे हैं।

वस्तुतः शास्त्रप्रामाण्य एवं शास्त्रानुसारी वर्णाश्रम-व्यवस्था की पूर्ण प्रतिष्ठा ही धर्मान्ध ईसाई एवं मुसलमानों के षड़यन्त्रों का सही उत्तर है। उसीसे सुदृढ़ दार्शनिक शासक, सेनानी और नीतिज्ञ उत्पन्न होंगे। उसीसे समस्त विरुद्ध शक्तियों का मुकाबला किया जा सकेगा।

आगे आपने कम्यूनिज्म के खतरे की चर्चा करके यह तो ठीक ही लिखा है कि "इस देश ने पाश्चात्य ढंग की जनतांत्रिक रचना अपनायी है। किन्तु इतने वर्षों के प्रयोगो के बाद उसके हितकर फलों को प्राप्त करने में वह समर्थ न हुआ। जनता की सामूहिक इच्छा का प्रतीक बनने के बजाय इसने सब प्रकार की अस्वास्थ्यकर स्पर्धाओं को तथा स्वार्थों एवं विच्छेद की शक्तियों को बढ़ावा दिया है। हमारे देश में जनतन्त्र की गंभीर असफलताओं में कम्यूनिज्म की बढ़ती हुई विभीषिका है, जो जनतांत्रिक विधान की मानी हुई शत्रु है" (पृ० १८५)।

यह भी ठीक है कि इस देश के शासक 'जनतांत्रिक समाजवाद' के नाम पर कम्यूनिस्टों का पूरा अनुकरण कर रहे हैं। और यह भी ठीक है कि देशभक्ति, चरित्र एवं ज्ञान के बिना केवल आर्थिक विकाश ही कम्यूनिज्म से बचने का उपाय नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु शास्त्र एवं धर्मनिष्ठा ही मुख्यरूप से कम्यूनिज्म को रोकने का उपाय है। इसके साथ ही आर्थिक विकास भी अवश्य सहायक होगा।

यह ठीक ही है कि 'जब निष्ठा चली जाती है, कम्यूनिज्म आता है' (पृ० १८७)। रोटी बिना प्राणी कुछ दिन जी भी सकता है, पर निष्ठा के बिना मनुष्य रह नहीं सकता। वह निष्ठा भी निराधार, निष्प्रमाण नहीं, वेदादि शास्त्रोक्त प्रामाणिक धर्म-निष्ठा या ब्रह्मनिष्ठा ही प्राणी के जीवन का लक्ष्य होती है। उसीके लिए प्राणी जीना या मरना भी पसन्द करता है।

प्रत्यक्ष एवं अनुमान से हम जिन वस्तुओं को नहीं समझ सकते, उन्हींको बताने के लिए वेदादि-शास्त्रों का आविर्भाव हुआ है।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥ (श्लोकवार्तिक)

जैसे नेत्र के बिना रूप का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही वेदादिशास्त्रों के बिना धर्म-ब्रह्म भी जाना नहीं जा सकता। इसीलिए गीता में भगवान् ने भी कहा है कि जो शास्त्रविधान को छोड़कर प्रत्यक्षानुमान या तर्क के आधार पर बर्ताव करता है, वह सुख, शांति या सिद्धि कुछ भी नहीं पाता। इसलिए अर्जुन तुम, शास्त्रीय विधान के अनुसार ही कर्तव्य कर्म करो :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

केवल कुछ दृष्टान्तों, विश्वासों या तर्कों के आधार पर धर्म या संस्कृति की सिद्धि नहीं होती और न कोई सुस्थिर निष्ठा ही बनती है।

पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्।
'उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥'

अर्थात् जो समुद्र से उत्तर एवं हिमालय से दक्षिण का देश है, भारतीय जनता जहाँ निवास करती है, वह भारत है। राजर्षि भरत के सम्बन्ध से इसका नाम 'भारत'

पड़ा। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने की है। प्रायः लोग समझते हैं कि यहां भरत से अभिप्राय दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत से है, पर ऐसी बात नहीं। जिन भरत के नाम पर देश का नाम भारत पड़ा, वे ऋषभदेव के पुत्र थे, जो अपनी घोर तपस्या के कारण 'जड़भरत' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

भारत नाम पड़ने के पहले इस देश का नाम 'अजनाभ वर्ष' था। विराट् भगवान् का स्थूलरूप चतुर्दश भुवनात्मक है। उनमें भूलोक एवं भूलोक में भी भारतवर्ष हृदय या मध्य होने एवं विराट् देह में हृदय या नाभि के तुल्य होने से इसे 'अज (परमेश्वर) का 'नाभ' कहा जाता है। विशेष रूप से यहीं वेदादिशास्त्रोक्त धर्म का अनुष्ठान होता है। यहाँ वर्णाश्रमवती प्रजा के साथ नारदजी भगवान् की आराधना करते हैं।

जैसे अन्य अंगों की क्षीणता कथंचित् क्षम्य होने पर भी हृदय के क्षीण या शुष्क होने पर शरीर के लिए संकट उपस्थित हो जाता है, वैसे ही वेद एवं वर्णाश्रमविशिष्ट भारत के क्षीण होने पर समस्त विश्व के लिए संकट उपस्थित हो सकता है। अतः इसके रक्षण के लिए साक्षात् परमात्मा श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण के रूप में यहाँ प्रकट होते हैं। यह भारत अनेक राष्ट्रों का समूह नहीं, किन्तु एक ही राष्ट्र था। राजर्षि भरत इसके एकमात्र शासक थे। इतना ही क्यों, यहांके शासक राजसूय एवं अश्वमेध के प्रसंगों से अखण्ड भूमण्डल के एकच्छत्र सम्राट् हुआ करते थे। **पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया** इस वेदवचन का यही अर्थ है। समुद्रवसना सम्पूर्ण धरत्री का शासक क्षत्रिय अश्वमेधयाजी एक ही सम्राट् होता था। **गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते** के अनुसार यहाँ के लोग स्वर्ग एवं अपवर्ग को भी हस्तगत कर लेते थे। फिर उनके लिए संपूर्ण भूमि का आधिपत्य तो सामान्य बात है।

जैसे माता-पिता से बालक को भाषा प्राप्त होती है, वैसे ही आचार्य से वेदादिशास्त्र प्राप्त होते हैं। माता-पितादि-परम्परा के तुल्य ही आचार्य-परम्परा भी अनादि ही है। अथवा जैसे ईश्वर मनुष्यों को रचकर भाषा देता है, वैसे ही शास्त्र का भी सम्प्रदाय-प्रवर्तन करता है।

पार्थिव-शरीर में पृथ्वी प्रधान होती है। उसका प्रधान उपादान पृथ्वी ही होती है। इसी दृष्टि से 'भूमि माता और मैं उसका पुत्र हूँ :' **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**। किन्तु यह भारतभूमि एवं भारतीयों का ही पोषक असाधारण वचन नहीं है। हरएक देश की भूमि और उसके देशवासियों का वही सम्बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य, भले ही वह किसी भी देश का हो, कह सकता है कि **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**।

"विजय के लिए सद्‌गुणों के साथ वीरता, स्फूर्तिमत्ता अत्यावश्यक है और अपनी मातृभूमि के लिए एक-एक कण की रक्षा के लिए—वह कच्छरन, लद्दाख या नागालैण्ड हो—किसी भी स्थिति में बलिदान अत्यावश्यक है", ये विचार बहुत अच्छे हैं।

आगे चलकर आप यह कहते हैं कि "जीवन्त वर्धमान समाज अपनी प्राचीन पद्धतियों एवं प्रतिमानों में जो आवश्यक और प्रगति के पथ पर अग्रसर करने-वाली हैं, उसे सुरक्षित रखेगा। शेष को जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, फेंक देगा एवं उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा। किसीको प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आंसू बहाने की आवश्यकता नहीं और न नवीन व्यवस्था के स्वागत से पीछे हटने की ही आवश्यकता है। ज्यों-ज्यों वृक्ष बढ़ता है, पक्की पत्तियाँ और सूखी टहनियाँ झड़ जाती और उस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिए ये मार्ग प्रशस्त करती हैं। मुख्य बात यही है कि एकता का जीवनरस हमारे समाज के ढांचे के प्रत्येक भाग में परिव्याप्त रहना चाहिए" (पृ० ११५)।

इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि यद्यपि आप प्राचीन संस्कृति, धर्म, परंपरा तथा वेद-शास्त्र, रामायण-भारत, पुराण, स्मृति सभीकी चर्चा करते और आदर से उनका नाम लेते हैं। किन्तु आपकी बुद्धि में जब जिनकी उपयोगिता समाप्त हो जायगी तब उनको फेंक देने में विलम्ब भी नहीं होगा। आपकी दृष्टि में अनादि-अपौरुषेय वेदादि-शास्त्रों या परंपराप्राप्त प्राचीन पद्धतियों का कोई स्थायित्व नहीं, तो निराधार धर्म-संस्कृति की रक्षा का इतना जी-तोड़ प्रयास क्यों किया जाय ? फिर जैसे वृक्ष की सूखी पत्तियाँ एवं टहनियाँ झड़ जाती हैं वैसे ही कभी वृक्ष भी तो सूख जाता है। फिर क्या संपूर्ण समाज एवं संपूर्ण व्यवस्था भी कभी त्याज्य न हो जायगी ? यही तो जड़वादी मार्क्स भी कहता है कि 'संसार में निर्वाण एवं निर्माण की धाराएँ चलती ही रहती हैं। अतः किसी व्यवस्था के निर्वाण पर आँसू बहाना व्यर्थ है।' नेहरू भी कहते थे कि 'शरीर ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, पिछले वस्त्र एवं पोशाक अनुपयोगी एवं त्याज्य होते जाते हैं; वैसे ही समाज की प्रगति के साथ पुरानी व्यवस्था समाप्त कर देनी चाहिए।' इसी अभिप्राय से 'हिन्दू-कोड' बनाकर मन्वादि धर्मशास्त्रों की व्यवस्थाएँ समाप्त करने का प्रयत्न किया गया था।

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट आदि प्राचीन सभी व्यवस्थाओं को सड़ियल बताकर सर्वथा नयी व्यवस्था ही लाना आवश्यक समझते हैं। आप कहते हैं: 'आवश्यक पद्धतियों को रख लिया जायगा, अनावश्यक तत्त्वों को फेंक दिया जायगा।' ईसाई-मुसलमान भी यही कहते हैं कि 'वेद-शास्त्रों की व्यवस्था किसी काल में उपयोगी रही हो, किन्तु नये युग के लिए बाइबिल-कुरान की व्यवस्था ही उपयोगी है।' भेद इतना ही है कि वे उसके स्थान पर बाइबिल-कुरान की व्यवस्था लाना चाहते हैं, जब कि आप अपौ-

रुषेय-अनादि, ठोस वेदादि प्रमाणों पर आधृत व्यवस्थाओं को छोड़कर अपने मस्तिष्क द्वारा निर्मित व्यवस्थाओं को लागू करना चाहते हैं। कदाचित् आप अपने मस्तिष्क से कुछ प्राचीन व्यवस्थाएँ रखने का प्रयत्न करें, परन्तु आपसे भी अधिक प्रगतिशील उन्हें भी प्राचीन एवं सड़ियल समझकर त्यागने का परामर्श देगा।

अतः अनादि, अपौरुषेय वेदादि-शास्त्र ही हमारी संस्कृति एवं धर्म का मूल है। वेदादि-शास्त्रों का धर्म शाश्वत सनातन धर्म है। कभी भी वह त्याज्य कोटि में नहीं आता। भगवान् उस शाश्वत धर्म की रक्षा के लिए अवतीर्ण होते हैं : **त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता।**

इस तरह स्पष्ट है कि आप राष्ट्रियता की परिभाषा ही अभारतीय है। फिर कोई आस्तिक पुरुष आधारशून्य विदेशी कल्पना को अपना उपास्य, भजनीय कैसे मानेगा? आपके कल्पनानुसार भी 'वह शाश्वत एवं अमर नहीं है। किन्तु हिन्दू यहाँ इस भूमि की संतानरूप में सहस्रों वर्ष से निवास कर रहा है। अर्थात् लाखों, करोड़ों या अनादिकाल से नहीं। विशेषतया आधुनिक काल में हिन्दू-समाज के नाम से जाना गया है" (पृ० १२९)। स्पष्ट है कि कुछ सहस्र वर्षों की वस्तु शाश्वत नहीं होती और न उपास्य ही हो सकती है।

इस विदेशीय-कल्पनोच्छिष्ट सारसंग्रह की अपेक्षा अनादि-अपौरुषेय वेदादि-शास्त्रों के अनुरूप **जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**—जननी-जन्मभूमि का स्वर्ग से भी अधिक महत्त्व है, यह कल्पना कहीं श्रेष्ठ है। भारतीय-साहित्य में श्रीराम द्वारा उसका कितने सुन्दर रूपमें अभिव्यक्ति हुई है :

यद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। वेद पुराण विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोंहि न सोऊ। यह प्रसंग जाने कोऊ कोऊ॥

भारतीय-वैदिक, साहित्य के अनुसार सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्म की ही उपासना होती है, परन्तु उसके पहले ब्रह्मनिष्ठायोग्यता पाने के लिए समष्टि सूक्ष्मप्रपंच-विशिष्ट हिरण्यगर्भ की उपासना की जाती है। उससे भी पूर्व समष्टि स्थूलप्रपंचविशिष्ट महाविराट् की उपासना की जाती है। उसी महाविराट् का अंश होने से आकाश, वायु, तेज, जल तथा न धरित्री की भी उपासना होती है। चतुर्दश भुवनों के मध्य यह अण्ड भूमण्डल है। उसके भी मध्य जम्बूद्वीप एवं उसके मध्य भारतवर्ष है। एक प्रकार से वह महाविराट् का हृदय है। विशेष रूप में यही वैदिक कर्म-काण्ड, उपासना-तथा ज्ञानकाण्ड के अनुष्ठान की पवित्र एवं सुसंस्कारों से ओत-प्रोत भूमि है। अनेक पवित्र तीर्थों एवं ऋषि-महर्षियों तथा वर्णाश्रमी आस्तिक जनसमूह से अध्युषित प्रदेश भी महाविराट् का सर्वोत्तम अङ्ग होने से उपास्य होता है। वेद, रामायणादि प्राचीनातिप्राचीन सद्ग्रन्थों के आधार पर ही प्राकृत सीमाओं के अनुसार द्वीप-वर्ष आदि की

कल्पना भी अतिप्राचीन है। विश्वरचयिता ब्रह्मा ने विश्वप्रपंच का निर्माण कर उसके संचालन के लिए विभिन्न समूहों के अधिपति नियुक्त किये हैं। मनुष्यों के भूखण्ड का अधिपति मनु को नियुक्त किया था :

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै।
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम्॥ (भागवत ३.२१.२)

स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत एवं उत्तानपाद दो पुत्र हुए। उन्होंने धर्मानुसार सप्तद्वीपवती पृथ्वी का पालन किया। उत्तानपाद के ध्रुव आदि हुए।

ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, तपस्तेजःसमन्वित प्रियव्रत ने यह देखकर कि सूर्य सुरगिरि का परिक्रमण करते हुए आधी ही पृथ्वी का प्रकाशन करते हैं, जिससे एक तरफ जब रात रहती है तो दूसरी तरफ दिन होता है—अपने ज्योतिर्मय रथ से रात्रि को भी दिन बनाने की दृष्टि से सात बार सूर्य के पीछे-पीछे सूर्य के समान ही सुरगिरि का परिक्रमण किया। उनके रथखात से सात समुद्र बने और उन्हींके आधार पर सप्तद्वीपों का निर्माण हुआ।

यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन् भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपति, अर्धेनावच्छादयति, तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन् समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय इव पतङ्गः। (भाग० ५.१.३०)

ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन्, यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः। (भागवत ५.१.३१)।

जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक, पुष्कर ये सप्तद्वीप हैं। प्रियव्रत के पुत्र अग्नीध्र, इध्मजिह्वा, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ट, मेधातिथि, वीतिहोत्र क्रमशः—सप्तद्वीपों के शासक नियुक्त किये गये थे (पृ० ३३)। जम्बूद्वीपाधिपति अग्नीध्र के नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व, केतुमाल्य ये नव पुत्र हुए थे। ये पूर्वचित्ति नामक दिव्यांगना से उद्भूत होने के कारण स्वभाव से ही दिव्य संहनन और बल से सम्पन्न थे। उन्हींके नाम से जम्बूद्वीप में नव वर्ष हुए। नाभि से मेरुदेवी में भगवान् विष्णु ही ऋषभदेव के रूप में अवतीर्ण हुए। ऋषभदेव के एक पुत्र महायोगी भरत हुए, जिनके नाम पर ही इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। इसके पहले इस देश का नाम 'अजनाभ' था।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण
आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति। (भागवत ५.४.९)

सप्तद्वीपा मेदिनी एवं उसके द्वीपों पर वैदिक भारतीय राजाओं के ही वंशज शासन करते थे। कालक्रम में उनका वैदिक-धर्म से सम्बन्ध टूट गया, तब उन-उन देशों में पृथक्-पृथक् धर्म आदि बने। रूप, रंग और दृष्टि में भेद तो देश, जलवायु आदिके भेद से होता ही है। सभी द्वीपों एवं वर्षों में अब भी दिव्य, विशिष्ट पुरुषों द्वारा श्री भगवान् विष्णु की ही उपासना हो रही है। भद्राश्व वर्ष में श्री भद्रश्रवा भगवान् हयग्रीव की उपासना करते हैं। हर-वर्ष में प्रह्लाद नृसिंह की आराधना करते हैं। केतुमाल में श्री लक्ष्मी कामदेवके रूप में भगवान् की उपासना करती हैं। किंपुरुष-वर्ष में हनुमान् रामरूप में भगवान् की उपासना करते हैं। भारत में नारदजी वर्णाश्रमवती प्रजा के साथ नारायण की उपासना करते हैं :

तं भगवान् नारदो वर्णाश्रमवतीभिः भारतीभिः प्रजाभिः भगवत्प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति।

(भागवत ५.१९.१०)

भारत की महिमा देवगण भी वर्णन करते हैं :

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

(भागवत ५.१९.२१)

अर्थात् भारतीयों ने कौन-सा बड़ा शोभन कार्य किया है अथवा भगवान् स्वयं ही उन पर प्रसन्न हो गये हैं, जिन लोगों ने भारत में मुकुन्द-सेवा के उपयोगी जन्म पाया है। हम देवताओं को भी ऐसे जन्म की प्राप्ति की स्पृहा रहती है। विष्णु-पुराण के अनुसार समुद्र के उत्तर, हिमाद्रि के दक्षिण का प्रदेश भारतवर्ष है और उसीमें भारतीय प्रजा निवास करती है :

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्रा सन्ततिः॥

श्रीमद्भागवत की दृष्टि से जम्बूद्वीप के भीतर नववर्ष नव-नव सहस्रयोजन विस्तारवाले हैं :

यस्मिन्नेव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामानि अष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति।

(भाग० ५.१६.६)

इसीके अनुसार भारतवर्ष कर्मक्षेत्र है। अन्य आठ वर्ष स्वर्गियों के पुण्यशेष के भोग के स्थान हैं। वे दिव्य हैं। वहाँके पुरुष भी दिव्य हैं। वहाँ सभी वज्रसंहनन होते हैं।

आप मुसलमान, ईसाई आदि अहिन्दुओं को अपनेमें मिला लेना राष्ट्रीय जीवन की एकात्मताके लिए आवश्यक एवं तर्कसंगत समझते हैं। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से जाति का परिवर्तन होता ही नहीं। हाँ, हिन्दू-शास्त्रों में मानवमात्रके भी धर्म वर्णित हैं। भक्ति, ज्ञान, क्षमा, दया आदि धर्मों का पालन करनेवाला कोई भी मनुष्य 'हिन्दू' कहा जा सकता है। परन्तु शास्त्रानुसार जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही वेद के अध्ययन एवं तदुक्त अग्निहोत्रादि धर्मों के अनुष्ठान का अधिकार होता है, अन्य को नहीं। अहिन्दू यदि शास्त्रोक्त हिन्दू-मानवधर्म का पालन करता है, तो वह 'हिन्दू' कहा जा सकता है। हिन्दुओं में जैसे अनेक श्रेणियाँ हैं, वैसे 'शोधित हिन्दू' की भी श्रेणी हो सकती है। यही मार्ग है, शास्त्रीय हिन्दुत्व के संरक्षण का। इस मार्ग से जन्मना ब्राह्मणादि का रक्तसांकर्य से बचाव होगा, साथ ही सांकर्य या धर्मान्तरण आदि द्वारा जातिच्युतों का संग्रह भी हो सकेगा।

इसके अतिरिक्त अन्य भी जो अहिन्दू, हिन्दू-शास्त्रों एवं हिन्दू-धर्म में विश्वास करते हों, वे हिन्दूशास्त्रानुसार अपनी योग्यता के अनुसार हिन्दू-धर्म अपना सकते हैं। गोमांसत्याग, गोरक्षण, पुनर्जन्म-विश्वास, ईश्वरभक्ति, ईश्वर-नाम, गंगास्नान, मंदिर-शिखरदर्शन, सत्य, अस्तेय, भूत-दया आदि धर्मों का पालन कर ऊँचे से ऊँचे पद पाने के अधिकारी हो सकते हैं। बिना प्रतिबन्ध और बिना प्रायश्चित्त अपने परित्यक्त भाइयों को अपने घर बुला लाना बहुत सरल प्रतीत होता है। परन्तु इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि कोई भी अन्य अपने भाई छोटे-छोटे स्वार्थों के वशीभूत होकर धर्मान्तरण स्वीकार कर लेंगे और फिर जब चाहेंगे लौट आयेंगे। ऐसा लचर जातीय-नियम जाति के सर्वनाश का हेतु बन जायगा। हिन्दुओं के कठोर जातिनियम के कारण ही अबतक हिन्दू-जाति जीवित रही है। उसके शिथिल होते ही वह समाप्त हो जायगा।

इसके अतिरिक्त जैसे संस्कृत शब्दों की प्रत्यक्ष शुद्धि-अशुद्धि पाणिनीय आदि आर्षसूत्रों से ही निर्धारित होती है वैसे ही हिन्दू या ब्राह्मणादि जातियों की अप्रत्यक्ष शुद्धि-अशुद्धि वेद तथा वेदाधारित मन्वादि धर्मशास्त्रोंसे ही निर्धारित होती है। केवल किसी व्यक्ति या किसी पार्टी के निर्धारित नियमों का उस सम्बन्ध में कुछ भी महत्त्व नहीं है। आत्मसात् करने की शक्ति की बात करना भी अनभिज्ञता ही है। वेदादिशास्त्रों के विपरीत किसी व्यक्ति या जाति को हिन्दू-समाज में प्रविष्ट करने का अर्थ है, हिन्दू-शास्त्रों एवं धर्म से पराङ्मुख होकर भ्रष्ट होना! किसीकी कितनी भी तीव्र जठराग्नि क्यों न हो, वह खाद्य पदार्थ को ही पचा सकेगा। उसके लिए अखाद्य पाषाण, काष्ठ आदि का पचा सकना संभव नहीं। अभक्ष्य गोमांस आदि के पचाने का साहस करने पर वह स्वयं ही अपवित्र हो जायगा। जैसे खाद्य-अखाद्य का

निर्णय शास्त्रों से ही होता है, वैसे ही किसका हिन्दू-समाज में किस रूप में समावेश हो सकता है, यह निर्णय भी शास्त्र से ही हो सकेगा, मनमानी नहीं।

इसके अतिरिक्त यह भी न भूलना चाहिए कि यदि कथंचित् शास्त्रविरुद्ध मनमानी तौर पर किसी व्यक्ति या जाति को हिन्दू-समाज में आत्मसात् करने का प्रयत्न हुआ, तो पहले तो वह आस्तिक हिन्दू-समाज को मान्य न होगा; वैसा करनेवाला स्वयं ही पतित हो जायगा। दूसरे अन्य जातियों के लोग भी उसी तरह अन्यान्य देशस्थ हिन्दुओं को आत्मसात् करने का प्रयत्न करेंगे।

श्री गोलवलकर राष्ट्रिय जीवन के शाश्वत सूत्रों की चर्चा करते हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि उनके मत में कोई भी शाश्वत शास्त्र एवं शाश्वत धर्म मान्य नहीं है। वे यह मान चुके हैं कि जिसकी उपयोगिता समाप्त हो जायगी, तभी वे उसे फेंक देंगे। राष्ट्रिय एकात्मता के आधाररूप में उन्होंने समान संस्कृति, समान, पैतृक-दाय, समान इतिहास एवं समान परंपराओं तथा समान आदर्शों को भी माना है। किन्तु पाकिस्तान में रहनेवाला हिन्दू या इंगलैण्ड आदि के हिन्दुओं को भी यदि वहाँ के लोग समान संस्कृति आदि मान लेने का आग्रह करें तो क्या वह भी आपको मान्य होगा ? जिनकी दृष्टि में धार्मिक, आध्यात्मिक भावों की अपेक्षा भौतिकता का महत्त्व अधिक है, वे ही किसी देश की राष्ट्रियता के लिए अपनी परंपरा और अपनी संस्कृति की तिलांजलि दे सकते हैं, अन्य नहीं।

वस्तुतः कूटनीतिज्ञों द्वारा भारतवर्ष तथा संसार का इतिहास विकृत किया गया है। रामायण, महाभारत के स्पष्ट आर्ष, परमसत्य इतिहास को झुठलाने का प्रयत्न किया गया है। उसका प्रभाव यहाँतक पड़ा है कि भारतीय संस्कृति के पुजारी कहे जानेवाले लोग किसी अंश में उस इतिहास का खण्डन करते हुए भी अन्य अंशों में उन्हीं इतिहासकारों को ही गुरु मानकर चलते हैं। उसी प्रभाव के कारण 'भारत में अंग्रेजी राज्य' के लेखक एवं 'विचार-नवनीत' के लेखक अंग्रेजों का खण्डन करते हुए भी उन्हीं द्वारा निर्मित इतिहास के आधार पर अपने मन्तव्यों को प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। प्रदेश एवं प्रदेश में निवास करनेवाली जातियां एक ही नहीं होतीं। इसीलिए एक प्रदेश का व्यक्ति अन्य प्रदेश में जा सकता है। परन्तु इससे उसकी जाति नहीं बदल जाती।

प्रदेश के जल-वायु का असर भी मनुष्यों पर पड़ता है। उससे रूप-रंग, आकृति में स्पष्ट भेद परिलक्षित होता है। पंजाबी, बंगाली, मैथिल, मराठी, मद्रासी, उड़िया आदि में प्रदेश के कारण रूप, रंग, आकृति में भेद दीखता है। चीनी, जापानी, रूसी, इंगलिश आदि में भी विलक्षणता दीखती है। परंतु प्रदेश-मूलक जाति का धर्म के साथ भी असाधारण सम्बन्ध नहीं हुआ करता। तभी तो

नेपाली, मैथिल, बंगाली आदि भारतीय प्रदेशमूलक जातियों में धर्मभेद आवश्यक नहीं है। वैदिक कर्म ब्राह्मणादि जातिमूलक होते हैं। अतएव ब्राह्मणादि जातियाँ एवं तन्मूलक वैदिक वर्णाश्रमधर्म, पंजाबी मैथिल, बंगाली, उड़िया आदि सभी भारतीयों में होते हैं। हिन्दू, मुसलमान आदि जातियाँ धर्ममूलक होती हैं। अतएव चीनी समान होने पर भी कोई मुसलमान बन सकता है, कोई ईसाई बनता है। भारतीय समान होने पर भी हिन्दू या मुसलमान बनते हैं। हाँ, वैदिक अग्निहोत्रादि धर्मों का जन्मना ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों से ही सम्बन्ध है। उनमें स्वेच्छाचारिता नहीं चल सकती। कुरान, बाइबिल आदि के धर्म जन्मना जातिमूलक नहीं होते, पर वैदिक-धर्म वैसा नहीं है।

आपके मतानुसार 'श्री सुभाषबाबू में राष्ट्रत्व की भावात्मक चिरंतन निष्ठा की पकड़ थी, इसीलिए वे शिवाजी के आदर्श का आदर करते थे। किन्तु ऐसी राष्ट्रनिष्ठा से रहित अंग्रेजी-शासन के विरोधी रूसो-क्रांति से प्रेरणा लेनेवाले क्रांतिकारी लोग अब रूसी और चीनी नेतृत्व के भक्त बन गये। जो मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए अपना जीवन अर्पण करने की भावना रखते थे, वे आगे अपनी मातृभूमि को रूस एवं चीन का अनुषंगी बनाने के लिए उसी प्रकार जीवन अर्पण करने की इच्छा करने लगे हैं। वे पहले ज्वलंत देशभक्त थे, अब परदेशभक्त हो गये हैं। यह कितना घोर पाप है !' वस्तुतः कम्यूनिज्म का आदर्श राष्ट्रवाद न होकर अन्ताराष्ट्रियवाद ही है। अतः स्व-पर-राष्ट्रकल्पनाहीन अन्ताराष्ट्रियवाद में परदेशभक्त की कल्पना नहीं हो सकती। सिद्धान्तनिष्ठावाला व्यक्ति समान सिद्धान्तवाले दूर के व्यक्ति को भी अपना मानता है। आपने भी राष्ट्रभक्तिवालों के लिए राष्ट्रभक्ति-हीन माता-पिता को भी शत्रु के समान त्याज्य बताते हुए श्री तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियों का उल्लेख किया है :

तजिये तीनहिं कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

हाँ, यह अवश्य है कि समष्टि विराट् में आत्माभिमान करने पर व्यष्टि-देहाभिमान गौण हो जाता है; तथापि व्यावहारिक रूप से व्यक्ति की उन्नति से ही समष्टि की उन्नति होती है। व्यक्ति के पतित या दलित होने पर समष्टि की भी दुर्गति होती है; क्योंकि व्यक्ति-समुदाय ही तो समष्टि है। इसके अतिरिक्त कम्युनिज्म का सिद्धान्त ही शास्त्र एवं तर्क से विरुद्ध है; आत्मा, धर्म, ईश्वर एवं परंपराओं से विमुख बनानेवाला है। इसका विस्तृत वर्णन 'मार्क्सवाद और रामराज्य' में देखा जा सकता है।

आपने पृष्ठ १४९ तक कई पृष्ठों में कांग्रेस की मुस्लिम-तुष्टीकरण की नीति को देशद्रोह एवं जघन्य पाप बताया है। अवश्य ही यह सत्य है, पर आपका मुसलमानों

को आत्मसात् कर और उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करने का उपदेश करके हिन्दू-जाति को विकृत एवं वर्णसंकर बनाने का प्रयत्न भी कुछ कम जातिद्रोह, धर्मद्रोह, देशद्रोह एवं जघन्य पाप नहीं है। जिनमें पीढ़ियों तक दूध बचाकर माँ-बहनों में ही शादियाँ होती रही हैं, जिनमें पाखाने से बचा हुआ बधने का जल ही मुँह-हाथ धोने, वज़ू करने या चाय बनाने तक के काम आता रहा है, जिनमें गोमांस-भक्षण चलता था, उन्हें हिन्दू बनाकर उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करके रक्तसांकर्य कर देना शेष हिन्दुओं को भी मुसलमान बना देना है। क्या निष्प्रमाण, निराधार 'हिन्दू' नाम या कुछ आचारों का पालन करना ही हिन्दुत्व है ? ऐसे निराधार, निष्प्रमाण यह आचार भी कितने दिनोंतक चल सकेंगे ? कांग्रेसी नेताओं में भी शास्त्र-विश्वास एवं परंपराओं के विश्वास घटने से ही ये देशद्रोही भावनाएँ आयी हैं।

कम्यूनिस्ट लोग महायंत्रों, कल-कारखानों का खूब दोष वर्णन करते और उसीको गरीबी-भुखमरी, बेकारी-बेरोजगारी तथा आर्थिक असंतुलन का मूल कारण मानते हैं। परन्तु जब वे ही महायंत्र उनके हाथ में आ जाते हैं तो उसे घटाने का प्रयास न करके बढ़ानेका ही प्रयत्न करते हैं। इसी तरह आप भी मुसलिम दुर्नीतियों एवं दोषों का वर्णन करते हैं। साथ ही उन्हें अपने में मिलाकर परम शुद्ध 'हिन्दू' भी मान लेने को उत्सुक रहते हैं। यह भी आश्चर्य है कि संसार के सभी नेता अपने धर्म और संस्कृति के मूलभूत पवित्र ग्रन्थों का महत्त्व वर्णन करते नहीं अघाते। किन्तु आपकी दृष्टि में आपकी राष्ट्रियता या संस्कृति का कोई भी आधारभूत ग्रन्थ मान्य नहीं है।

आपका यह कहना भी ठीक नहीं कि 'हिन्दू-मुस्लिम-एकताके बिना स्वराज्य न मिलेगा' इस घोषणा की सत्यता का भण्डाफोड़ हो गया।' कारण, उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि अखण्ड भारत का स्वराज्य एकता से ही होता। हिन्दू-मुस्लिम मतभेद का ही परिणाम विभाजन है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ? वस्तुतः कांग्रेसियों के समान आपकी भी राष्ट्रियता काल्पनिक एवं निर्जीव ही है। 'हिन्दू' आपका राष्ट्रिय है, पर वह हिन्दू निराधार एवं निष्प्रमाण ही तो है ! इसीसे जो गैर-हिन्दू ईसाई, मुसलमान आपके लिए अराष्ट्रिय हैं, क्षणभर में आपकी कुछ काल्पनिक वेष-भूषा, कुछ रीति-रिवाज मान लेने पर हिन्दू होकर पक्के राष्ट्रिय बन जाते हैं। यह सब इसीलिए कि आप हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति के ठोस प्रमाण वेदादि-शास्त्रों को अंगीकार नहीं करते। आप हिन्दू-राष्ट्र के अर्थ में 'भारतीय राष्ट्र' शब्द का प्रयोग असंगत कहते है, पर अन्यत्र आप भारत में 'हिन्दू-कॉलोनी' का होना असंगत मान चुके हैं; क्योंकि यहाँका राष्ट्रिय हिन्दू ही है। **न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्** का सीधा अर्थ यही है कि किसी एकाक्ष को एकाक्ष कहना सत्य है, परन्तु अप्रिय है, अतः वैसा

न कहना चाहिए। इसीलिए तो अंधों को 'प्रज्ञाचक्षु' कहने की पद्धति है। माता को 'पिता की पत्नी' भी कहना सत्य है, पर व्यवहार में वैसा न कहकर 'माँ' ही कहा जाता है।

'हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई' या 'चीनी-हिन्दू भाई-भाई' इत्यादि घोष भयमूलक होते हैं' यह कहना भी असंगत है। मेल-जोल की भावना से भी ऐसे घोषों का प्रयोग होता ही है। किसी ग्राम में हिन्दू-अहिन्दू, आस्तिक-नास्तिक तरह-तरह के लोग रहते हैं और उस ग्राम पर यदि डाकुओं या किसी खूंखार जंगली पशु का आक्रमण होता है तो वे सब एक होकर उनका मुकाबिला करते हैं। विभिन्न अवसरों पर विभिन्न मतभेद रहने पर भी उस समय सब भेदों को भुलाकर आक्रामक का मुकाबला होता है। उस समय सभी भाई-भाई ही होते हैं। वैसे वेदों के अनुसार तो प्राणिमात्र 'अमृत के पुत्र' होने से भाई-भाई हैं ही। यही तो समानता, भ्रातृता एवं स्वतंत्रता की आधार-भित्ति है। भीमसेन ने आक्रामक बकासुर से निबट लिया, उसे समाप्त कर दिया। आपके अनुसार मुसलमान आक्रामक हैं, विरोधी हैं, उनसे निपट लेना ही उचित है। परन्तु क्या आप या आपका संघ निबटने जा रहा है ? क्या आप भी उन्हें आत्मसात् करके अपनी बहन-बेटी उन्हींसे ब्याहने नहीं जा रहे हैं ?

आप कहते हैं कि "मुसलमान अब भी इस देश के लिए 'नमक-हलाल' नहीं हैं। इसकी संस्कृति को उन्होंने मनसा ग्रहण नहीं किया। उस जीवन-रचना को स्वीकार नहीं किया, जिसे इस देश ने शताब्दियों से विकसित किया है। इसके दर्शन, इसके राष्ट्रिय महापुरुषों तथा इस देश के आधारभूत तत्त्वों पर उनका विश्वास नहीं है" (पृ० १५९)। यह सत्य है, परन्तु किसी भी जाति का अपना धर्म, अपना धर्मग्रन्थ होता है और तदनुसार ही उसकी संस्कृति होती है। लेकिन आपका धर्म एवं संस्कृति तो आपके अनुसार किसी शास्त्र पर आधारित है नहीं। निष्प्रमाण परम्परा भी 'अन्ध-परम्परा' हो होती है। आप भले ही शास्त्र न मानते हों, परन्तु मुसलमान अपना एक धर्मग्रन्थ मानता है। उसकी संस्कृति, उसका इतिहास, उसके महापुरुष इस्लामी-भावना एवं इस्लामी आदर्श से प्रभावित होंगे। तब वह भारत में रहते हुए भी अपनी संस्कृति को कैसे छोड़ सकता है ? जैसे कोई हिन्दू वेदादिशास्त्रों का अभिमानी दुर्भाग्यवश भले ही कहीं रहे, पर अपने वेदादिशास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों, संस्कृतियों, दर्शनों एवं तदनुसार महापुरुषों से अपना मन हटाकर ईसाई या मुसलमान संस्कृति को अपना नहीं सकता। हाँ, कृतज्ञता के नाते जिस देश में रहे, उसका हित चाहना, उस देशवासियों के साथ सद्व्यवहार रखना, उनके दुःख-सुख में हाथ बँटाना उचित है, परन्तु अपना धर्म, संस्कृति छोड़कर अन्य धर्म-संस्कृति अपना लेना किसीके लिए भी कदापि उचित नहीं। आर्य-राजाओं का ऐसा कभी आग्रह भी नहीं था। आप

भी मानते ही हैं कि पानीपत की लड़ाई में हिन्दुओं के तोपखाने का तोपची इब्राहिम मुसलमान ही था।'

आपका यह कथन कि 'गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन की शंकाओं का उत्तर द्वितीय अध्याय में दिया।........फिर भी अर्जुन सन्तुष्ट न हुआ। अन्त में जब श्रीकृष्ण अपना भीषण विश्वरूप प्रकट करते हैं, तो वह तुरन्त कहता है : 'अब मैं समझ गया!'... इसके पश्चात् हम अर्जुनको अत्यन्त ग्रहणशील पाते हैं।'' इसी तरह आपने यह भी दिखाया कि 'एक प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता को दिल्ली के एक उत्सव में निमंत्रित किया गया था। वे आये और उन्होंने कई हजार स्वयंसेवकों की सुरचना तथा गणवेष देखा। वहाँ तीन लाख की संख्या में एक बहुत बड़ा श्रोतृ-समुदाय भी पूर्ण व्यवस्था एवं शांति के साथ उपस्थित था। उन्होंने कहा : 'यदि यह हिन्दुस्तान देश हिन्दुओं का नहीं तो किसका है? तथा इस भूमि का राष्ट्रिय जीवन यदि हिन्दू का नहीं तो और किसका है? ....उन्होंने साथियों से कहा : 'तुममें से किसीने यदि वह दृश्य देखा होता तो जो कुछ मैंने कहा, उससे भिन्न और कुछ न कहते'' (पृष्ठ १६१–१६२)।

बात भी ठीक है। संघटित शक्ति को देखनेवालों पर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। अतएव साधारण लोगों पर प्रभाव डालने के लिए अंग्रेज-सरकार भी गोरों की संगठित सेना का गाँव-गाँव प्रदर्शन करती थी। हिटलर भी उसी सैनिक-शक्ति का प्रदर्शन करके लोगों पर प्रभाव डालता था। महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल की सभाओं में उपस्थित लाखों मनुष्यों की भीड़ देखकर साधारण लोग प्रभावित होते ही थे। किन्तु विचारशील, सिद्धान्तनिष्ठ लोग ऐसे बाह्य प्रदर्शनों से प्रभावित नहीं होते। विश्वरूप-प्रदर्शन अर्जुन की एक प्रार्थनामात्र की पूर्ति के लिए था। गीता के १०वें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया और कहा कि 'मैं ही सर्वभूतों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ, मैं ही भूतों का आदि, अंत एवं मध्य हूँ। आदित्यों में विष्णु, नक्षत्रों में चन्द्रमा, वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र मैं ही हूँ। इन्द्रियों में मन, भूतों में चेतना, रुद्रों में शंकर, राक्षसों में कुबेर, वसुओं में पावक, पुरोधाओं में बृहस्पति मैं ही हूँ। यज्ञों में जपयज्ञ, नागों में अनन्त, मृगों में मृगेन्द्र शस्त्रधारियों में राम, किंबहुना, सारे ही जगत् को मैं एकांश से धारण करके स्थित हूँ।' इस पर अर्जुन ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और कहा कि 'मुझपर अनुग्रह करके आपने गुह्य अध्यात्म-योग का वर्णन किया, इससे मेरा मोह दूर हो गया :

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥

आपने जैसा अपनेको कहा, आप वैसे ही हैं। यदि आप मेरेलिए शक्य समझते हैं तो कृपा करके अपने ऐश्वर्यका पूर्णरूप से दर्शन करा दें। बस, इसी प्रार्थना पर भगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप दिखलाया।' गीता के किन्हीं शब्दों से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उसके पहले अर्जुन ने भगवान् के वाक्यों को आदरपूर्वक ग्रहण नहीं किया और पश्चात् ग्रहणशील हो गया। ग्यारहवें अध्याय के पहले की तरह ही पीछे भी अर्जुन ने कई प्रश्न किये हैं। **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**—'मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी', यह अर्जुन ने ११वें अध्याय के अन्त में नहीं, १८वें अध्याय के अंत में कहा है।

वास्तव में आप किसी ग्रन्थ को प्रामाण्यबुद्धि से नहीं, किन्तु अपनी इष्टसिद्धि के लिए पढ़ते हैं। कम्युनिस्टों की तरह आप भी कई ग्रन्थों की बातों का उल्लेख कर दिया करते हैं। रूसी लोग एवं भारतीय भूपेन्द्रनाथ सान्याल आदि भी अपने कम्युनिज्म का समर्थन करने के लिए भारतीय वेद, उपनिषद्, गीता आदि का नाम लेते हैं। रूसियों ने महाभारत, रामायण के अनुवाद भी इसी उद्देश्य से किये हैं। शैतान भी अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए शास्त्र का नाम लेता है। परन्तु इससे कभी यह नहीं समझना चाहिए कि वह शास्त्रों का भक्त है।

इसी तरह आप भी अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए ही गीता का नाम लेते हैं, गीता का तात्पर्य समझने के लिए नहीं। पाकिस्तानी भारत को 'दारुल हरब' से 'दारुल इस्लाम' बनना चाहते हैं। आपके लोग केवल जबानी पाकिस्तान का विरोध करते रहे, परन्तु हम धर्मसंघ के लोग विभाजन से पहले ३ अप्रैल सन् '४७ से प्रत्यक्ष सत्याग्रह कर "भारत अखण्ड हो" नारा बुलन्द करते हुए विरोध कर रहे थे। १५ अगस्त के दिन विभाजन के समय भी विरोध का नारा बुलन्द कर रहे थे। आप लोगों को सहयोग के लिए अनेक बार बुलाया गया, पर आप तटस्थ रहने में ही अपना हित समझ रहे थे। हमारे विरोध को वाइसराय के सेक्रेटरी ने अपनी डायरी में नोट किया था।

"काश्मीर, आसाम, त्रिपुरा में योजनाबद्ध रूप से पाकिस्तान की नीति चल रही है। सब जगह उनकी संख्या में विस्तार हो रहा है। स्थानीय मुसलमान भी उनके विस्तार को प्रश्रय देते हैं। देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में आज भी उनके षड्यंत्र चल रहे हैं। हमारा वर्तमान नेतृत्व उनका मुकाबिला करने के लिए अत्यंत दुर्बल है। हर जगह मुसलमानों की विघटनात्मक और विध्वंसक क्रियाओंको प्रोत्साहन मिलता है। मौलाना मुहम्मद अली का यह कहना था कि 'पापी से पापी मुसलमान भी उनकी निगाह में महात्मा गांधी से बहुत अधिक श्रेष्ठ है'' (पृ० १७३)। यह सब कथन ठीक है, पर क्या आपकी योजनानुसार हिन्दू बना लेनेमात्र से मुसलमानों की ऐसी

भावनाएँ समाप्त हो जायँगी ? बहुत लोगों ने कितने ही मुसलमानों को शुद्ध किया। उनकी वेश-भूषा तथा नाम भी बदल दिये; पर वे लोग यहाँसे जो लाभ उठाना था, उठाकर कुछ हिन्दू-लड़कियों से शादी करके जो थे वही हो गये। फिर आपकी आत्मसात् करने की योजना कैसे सफल होगी ?

तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्रह्मसू० २.१.११) में स्पष्ट बताया गया है कि बड़ा-से-बड़ा तार्किक ऊँचे-से-ऊँचे तर्कों से किसी तत्त्व का व्यवस्थापन करता है तो उससे उच्च-कोटि का तार्किक अपने तर्कों से उसका भी खण्डन कर देता है :

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यै - रन्यथैवोपपाद्यते ॥

अतः शास्त्रप्रामाण्य से सर्वथा हीन तर्कों के बल पर भारतीय संस्कृति, भारतीयता या हिन्दुत्व की रक्षा नहीं हो सकती। जब शास्त्र के मानने का प्रसंग आता है तब आप तर्क की ओर भागते हैं और जब कठोर तर्क का सामना होता है तो विश्वास की ओर दौड़ते हैं। पर आपको मालूम होना चाहिए कि केवल विश्वास—प्रमाणहीन विश्वास अन्धविश्वास माना जाता है। तर्क एवं विचार भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माने जाते, किन्तु प्रमाण के सहायकमात्र होते हैं। 'प्रमा-करण' को ही प्रमाण कहा जाता है। प्रमाणों में चाक्षुष आदि छह प्रकार के प्रत्यक्ष, अनुमान तथा वेद एवं तद-नुसारी शास्त्र-आगम—ये हो तोन मुख्य माने जाते हैं। वैसे उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि भी प्रमाण अन्य दार्शनिक मानते हैं। किन्तु विचार एवं तर्क, जिनका कुछ-कुछ सहारा आप लेते हैं, स्वयं प्रमाण ही नहीं हैं।

वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रंथ 'संक्षेप-शारीरक' में कहा गया है :

स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो नाप्यागमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ।

अर्थात् स्वाध्याय या वेद के तुल्य कोई भी विचार ब्रह्म-प्रमा का करण यानी प्रमाण नहीं और न वह अंग ही है। अंग दो प्रकार के होते हैं : सन्निपत्योपकारक एवं आराद्रुपकारक। जैसे : प्रोक्षण, अवघातादि व्रीह्यादि अंगों का संस्कार कर याग के उपकारक होते हैं तो प्रयाजादि फलों के जनन में साक्षात् याग के उपकारक होते हैं। किन्तु विचार प्रोक्षणादि की तरह अंगों के उपकारक नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान का मुख्य अंग वेद नित्य-सिद्ध है। विचार उसके स्वरूपका उपकारक नहीं हो सकता और न प्रयाजादि के तुल्य वह वेद के ब्रह्मज्ञान-जननमें किसी शक्ति का आधान ही करता है। अतः पुरुषगत असंभावनादि दोषों के निराकरण द्वारा ही विचार का ब्रह्म-ज्ञान में उपयोग है। इसीलिए पूजित-विचाररूप 'मीमांसा' वेदान्त द्वारा ब्रह्मज्ञान-जनन में इतिकर्तव्यता भाग को पूरा करती है, जैसा कि 'कि 'भावयेत्, केन भावयेत्,

कथं भावयेत्' यह साध्याकांक्षा, साधनाकांक्षा और इतिकर्तव्यताकांक्षा होती है। इनकी पूर्ति 'स्वर्गं भावयेत्, यागेन भावयेत्, प्रयाजादिभिरङ्गैरुपकृत्य भावयेत्' इस तरह होती है। अर्थात् स्वर्ग का भावन करे, यज्ञ से भावन करे, प्रयाजादि अंगों द्वारा याग को उपकृत कर भावन करे, वैसे ही ब्रह्मज्ञान में भी तीनों आकांक्षाएँ होती हैं। उनकी पूर्ति भी निम्नोक्त प्रकार से होती है : 'ब्रह्मज्ञानं भावयेत्, वेदान्तेन भावयेत्, उपक्रमोपसंहारादिभिरुपकृत्य भावयेत्, षड्विधैर्लिङ्गैः ब्रह्मणि तात्पर्यमवधार्य असम्भावनादिकं निरस्य भावयेत्।' अर्थात् ब्रह्मज्ञान का भावन करें, वेदान्तों से भावन करें, उपक्रमादि लिंगों से ब्रह्म में वेदान्तों का तात्पर्यनिर्धारण कर असंभावनादि दोषों को मिटाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें :

धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥

अभिप्राय यह कि पूर्व-उत्तर दोनों ही मीमांसाओं के अनुसार धर्म-ब्रह्म में तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं, किन्तु शास्त्र के अभिप्राय को बुद्ध्यारूढ करने का साधनमात्र माना गया है। अतः धर्म या ब्रह्म को समझने के लिए शास्त्र का प्रामाण्य मानना अनिवार्य है।

प्रमाणजन्य तत्त्वज्ञान की दृढ़ता के लिए ही तर्क अंगीकार किया गया है। संक्षेप-शारीरककार भी विचार को असम्भावना-निवृत्ति द्वारा ही सार्थक मानते हैं :

पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः सकलो विचार इति वेदविदः।

अतः केवल अन्धविश्वास या कुछ तर्कात्मक विचारमात्र किसी सिद्धान्त के साधक-बाधक नहीं हो सकते। कम्युनिस्ट का खण्डन भी केवल विश्वास के आधार पर नहीं हो सकता। किसी शास्त्र को प्रमाण, किसी शाश्वत सिद्धान्त को सदा के लिए अपरिहार्य न मानने में कम्युनिस्ट एवं आप तथा आपका संघ समान ही है। शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म तथा जाति-पाँति को आप और कम्युनिस्ट दोनों ही नहीं मानते।

'प्रतिकर (मुआविजा) बिना दिये ही जमींदारी, जागीरदारी छीन लेना'— आप कम्युनिस्टों का दोष कहते हैं' (पृ० १९०)। किन्तु आपके 'जनसंघ' ने भी तो अपने घोषणापत्र में यही घोषणा की थी कि 'जनसंघ मुआविजा बिना दिये ही जमींदारी, जागीरदारी समाप्त कर देगा।'

आपने पृष्ठ १८५ पर वर्तमान जनतन्त्र के सम्बन्ध में कहा है कि 'जनता की सामूहिक इच्छा के प्रतीक बनने के बजाय इसने सब प्रकार की अस्वस्थकर स्पर्धाओं तथा स्वार्थों एवं विच्छेद की शक्तियों को बढ़ावा दिया है।' किन्तु अपनी तरफ से उसका कोई विकल्प नहीं बताया। जनतन्त्र, कम्युनिज्म, सोशलिज्म का भी

आप अगले पन्नों में खंडन करते हैं। तब क्या आप हिटलर का अधिनायकतन्त्र या साम्राज्यवाद का समर्थन करना चाहते हैं, यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए। साथ ही वहीं आप 'जनतन्त्र की असफलताओं में ही अपने देश में कम्युनिज्म की विभीषिका की वृद्धि' मानते हैं।

निःसंदेह 'उच्चस्तर के आश्वासनमात्र से कम्युनिज्म को रोका नहीं जा सकता', परन्तु 'देशभक्ति, चरित्र एवं ज्ञान जैसी उच्चतर भावनाओं के आह्वानमात्र से भी' (पृ० १८६) उसे रोकना असंभव है। रोटी-कपड़े की समस्या तो रोटी-कपड़े से ही हल होती है, देशभक्ति, चरित्र एवं ज्ञान से नहीं। इसीलिए तो भारतीय शास्त्रों में शोक-मोह-निवृत्ति के लिए आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्या), परलोकचिन्ता-निरसन के लिए त्रयी (धर्मविद्या) और लौकिक जीवन-निर्वाह के लिए वार्ताविद्या (कृषि, वाणिज्य, शिल्प, पशुपालन) की आवश्यकता बतायी गयी है। अतः शास्त्र-प्रामाण्यबुद्धि, तदनुसार ब्रह्म एवं धर्म में निष्ठा तथा वार्ता का पूर्ण विस्तार ही कम्युनिज्म को समूल नष्ट कर सकता है। अन्धविश्वास पर आधारित देशभक्ति एवं तथाकथित निराधार चरित्र के बल पर उसका उन्मूलन नहीं हो सकता। प्रामाणिक धार्मिक-निष्ठा के अभाव तथा आध्यात्मिक विचारों की कमी एवं महायन्त्रवाद के परिणामस्वरूप उत्पादन-साधनों के केन्द्रीकरण, निस्सीम आर्थिक असन्तुलन तथा बेकारी, बेरोजगारी, गरीबी का विस्तार होने से ही कम्युनिज्म की ओर जनता की प्रवृत्ति होती है।

"मार्क्स के अनुसार भी 'महायंत्रसंपन्न पूँजीवाद के गर्भ से ही कम्युनिज्म की उत्पत्ति होती है।' इसीलिए पाश्चात्य लोग ईसाईमत द्वारा आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता का विस्तार एवं डालर की सहायता से गरीबी रोकने का प्रयास करते हैं—यह उनका बुद्धि-विभ्रम है" (पृ० १८६), यह कहना भी ठीक नहीं। यद्यपि वैदिक दार्शनिक अध्यात्मवाद एवं धर्म तथा वैदिक राजनीतिशास्त्र द्वारा ही मार्क्स आदि के तर्कों का समूल उन्मूलन होता है, बाइबिल, कुरान आदि से नहीं, तथापि आपके निराधार एवं अन्धविश्वास पर आधारित हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति की अपेक्षा तो ईसाइयत आदि का प्रचार कम्युनिज्म को कहीं अधिक रोक सकता है; क्योंकि फिर भी उनका आधार कोई धर्मग्रन्थ ही है। पर आप तो किसी भी धर्मग्रन्थ को अपनी मान्यताओं एवं हिन्दुत्व का आधार मानते ही नहीं।

"ईसाई-धर्म की त्रुटियों के प्रतिक्रियास्वरूप ही तो कम्युनिज्म है। ईसाई-विश्व के कट्टर देश रूस ने ईसामसीह के धर्म का क्यों त्याग किया? ईसाई-बहुल केरल में कम्युनिज्म क्यों फैला?" (पृ० १८६) आदि बालोचित उक्तियाँ सर्वथा निःसार हैं। कहीं भी ऊपर से भले कोई चाहे ईसाई, मुसलमान या हिन्दू ही क्यों न

हो, पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अध्यात्मनिष्ठा या धर्मनिष्ठा है ही। इसीलिए तो भारत में ही देखें तो कम्युनिस्टों में प्रधानता हिन्दुओं की है। मुसलमान भी कम्युनिस्ट हैं ही। इतना ही क्यों, आपसे भी तो कोई प्रश्न कर सकता है कि आपके शंकराचार्य के जन्मस्थान केरल एवं रामकृष्ण, विवेकानन्द की जन्म-भूमि बंगाल में कम्युनिज्म क्यों पनप रहा है ? शंकराचार्य की जाति के ही ब्राह्मण क्योंकर कम्युनिस्ट नेता बन गये ?

अवश्य ही किसी भी धर्मग्रन्थ तथा तदुक्त ईश्वर एवं धर्म के ठोस प्रचार से जब भौतिकवाद शिथिल होगा, तभी भौतिकता पर आधारित कम्युनिज्म कमज़ोर होगा। फिर भी भौतिकवाद पर आधारित तर्कों एवं उनके द्वारा उठायी गयी राज-नीतिक-आर्थिक समस्याओं का पूर्ण समाधान वैदिक-दर्शनों, राजनीतिक, आर्थिक शास्त्रों के बिना हो सकना असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त महायंत्रों के विस्तार, बेक़ारी, बेरोजगारी या आर्थिक विषमताओं का फैलाव रोके बिना किसी भी धर्म-प्रचारमात्र से कम्युनिज्म का रुकना सम्भव नहीं।

आप कहते हैं कि "ईसाइयत के प्रसार से समाज की प्राचीन श्रद्धाएँ और राष्ट्रियता भंग होती जाती है, वहीं कम्युनिज्म बढ़ता है। कम्युनिज्म के बढ़ने का सबसे बड़ा यही मनोवैज्ञानिक तत्त्व रहा है" (पृ० १८७)। वस्तुतः आपका मनो-वैज्ञानिक तत्त्व ही सबसे कमजोर एवं लचर तर्क है। किसी तरह हिन्दुस्तान के लिए किसी अंश में यह कहा जा सकता है, पर ईसाई-राष्ट्रों में उसके प्रचार से उनकी प्राचीन श्रद्धाएँ एवं राष्ट्रियता क्यों भंग होगी ? साथ ही हिन्दुस्थान में आपके संघ-संबंधी प्रचार से भी प्राचीन शास्त्रों एवं तदुक्त जाति-पाँति, खान पान तथा आचार-विचार की श्रद्धाएँ भंग हो रही हैं, क्या इस पर भी कभी आपने विचार किया है ? जो शास्त्रों पर विश्वास छोड़ बैठेगा, वह आपके उपदेशों एवं पुस्तकों पर तथा भगवा-ध्वज पर भी कितने दिनों तक विश्वास रख सकेगा ?

इसी पृष्ठ में लिखित आपकी विज्ञानवाली बात भी निःसार ही है। यह आप-को मालूम होना चाहिए कि ईसाइयों ने ही बड़े समारोह के साथ पहले-पहल विज्ञान की धज्जियाँ उड़ायी हैं। विज्ञान ने मात्र काल, अन्तरिक्ष आदि ईसाई-कल्पनाओं को ही नहीं उड़ाया, आपके हिन्दुस्थान की आत्मा, ईश्वर एवं परलोक की कल्पनाओं को भी उड़ाने का प्रयत्न किया था। किन्तु कुछ शताब्दियों बाद आपके ही शब्दों में 'विज्ञान ने अपनेको उस रूप में अप्रमाणित करना प्रारंभ कर दिया।'

"साइंस एण्ड रिलीजन (धर्म एवं विज्ञान) पुस्तक में सर ओलिवर जोसेफ लाज एफ० आर० एस० डी० एस० सी०, एल-एल० डी०, प्रो० जान एम्बोज, प्रो० डब्ल्यू० बी० बाट्मली, प्रो० एडवर्ड हल, जान एलन हार्कर, प्रो० जर्मन सिम्स वुड-

हैड तथा प्रो० सिल्वेनिस फिलिप्स थाम्पसन—इन सात प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने अपने समय में प्रचलित वैज्ञानिक मन्तव्योंके विरुद्ध अपना मत प्रकट किया था। इसमें ईश्वर, जीव, धर्म एवं विकास के सम्बन्ध में डार्विन के मत का खण्डन कर आस्तिक पक्ष का समर्थन किया गया है। प्रो० बाट्मली ने कहा है कि 'हैवल का पुराना भौतिक-स्कूल वर्तमान युग से बिलकुल दूर है। 'हैवल की 'दि रिड्ल आफ युनिवर्स' का उत्तर 'रद्दी विचार एवं नूतन उत्तर' (दि ओल्ड रिड्ल एण्ड न्यूएस्ट आंसर) पुस्तक में दिया गया है। इसी तरह सैकड़ों पुस्तकें उच्छृङ्खल विज्ञान के खण्डन में आस्तिक वैज्ञानिकों द्वारा ही प्रकाशित हैं। इसके लिए 'मार्क्सवाद और रामराज्य' (पृ० १४६) द्रष्टव्य है।

महान् वैज्ञानिक डाक्टर ली ने यह स्पष्ट कहा है कि 'आजका सबसे बड़ा आविष्कार यह है कि अभी हमने कुछ भी नहीं जाना। आपका यह कथन सत्य से अत्यंत दूर है कि "विज्ञान-निष्ठा के इस अवसाद के पश्चात् पश्चिम का मनुष्य अज्ञान-सागर में कर्णाधारहीन नौका के समान हो गया। प्राचीन निष्ठाएँ मर चुकी थीं तथा नवीन निष्ठाएँ प्रकाश में आ नहीं पायी थीं। निष्ठा की इस रिक्तता की स्थिति में यह घटित हुआ कि उस अवकाश को पूर्ण करने के लिए कुछ ऐसे विश्वास आये जिनमें सत्य एवं शिव का आभासमात्र था। ऐसा ही एक विश्वास कम्युनिज्म भी था" (पृ० १८७)। क्योंकि कम्युनिज्म विज्ञाननिष्ठा के अवसाद का परिणाम नहीं है। किन्तु वह विज्ञान के ही पूर्ण विश्वास पर आधारित है। कम्युनिज्म की वैज्ञानिक व्याख्या करनेवाले मार्क्स एवं एंगल्स ने विज्ञान के आधार पर भी देहभिन्न आत्मा, ज्ञान, आनन्द आदि अभौतिक तत्त्वों का निराकरण करके भूतों का ही परिणाम चेतना स्वीकार किया है। अन्य वैज्ञानिकों ने महायंत्रों के आविष्कार को ही कम्युनिज्म का उद्गम-स्थान घोषित किया है। साथ ही विज्ञान के आगामी विकास पर ही महायंत्रों एवं कम्युनिज्म का आगामी पूर्ण विकास माना है। दार्शनिकों ने अपने तर्कों एवं विज्ञानों के आधार पर वैज्ञानिकों की सर्वज्ञता के दावा भर का खण्डन कर यह प्रमाणित किया है कि धर्म, ब्रह्म, आत्मा, काल आदि के सम्बन्ध में विज्ञान का निर्णय अंतिम या सही नहीं है। प्रयोगों, यंत्रों आदि के आधार पर होनेवाले प्रत्यक्षायित ज्ञान ही विज्ञान हैं। किन्तु प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि की पहुँच के बाहर अर्थात् प्रत्यक्ष-अनुमान से अविज्ञात धर्म, ब्रह्म आदि का प्रतिपादन करना वेद का विषय है, विज्ञान का नहीं :

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
> एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से विदित नहीं हो पाता, उसका ज्ञान

वेद से होता है—यही वेद की वेदता है। इस तरह दार्शनिकों ने विज्ञान के घमण्ड का खण्डन कर धर्म-ब्रह्म-निष्ठा को पुनः प्रतिष्ठापित किया है।

कुछ थोड़े-से बहुत समझदार वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि 'हमें जिज्ञासा के मार्ग पर चलकर खोज करनी चाहिए। हमारे निर्णय गलत भी हो सकते हैं। अभी हमारी खोज बहुत थोड़ी एवं अधूरी है। इसके आधार पर हमें शास्त्रोक्त निर्णयों में अर्थात् आत्मा, ब्रह्म, धर्म आदि के विचारों में हस्तक्षेप न कर उनसे सबक लेकर आगे खोज करने का प्रयत्न करना चाहिए।' किन्तु मार्क्स, एंगल्स आदि कम्युनिज्म के प्रवर्तकों का आत्मा, ज्ञान, आनंद एवं धर्म आदि के सम्बन्ध में अभी भी वही निर्णय है कि 'इस सम्बन्ध में विज्ञान का निर्णय ही ठीक एवं अंतिम है।' परोक्षवादी शास्त्र की अपेक्षा प्रत्यक्षवादी विज्ञान के प्रत्यक्ष करिश्मे अब भी अपनी वैज्ञानिक चमत्कृति की चकाचौंध में लोगों को मोहित करते हैं। उत्तरोत्तर वर्धमान वैज्ञानिक यंत्रों, राकेटों, वैद्युत चमत्कारों, परमाणु, हाइड्रोजन के विश्लेषणजनित परिणामों का प्रभाव अनिवार्य रूप से आध्यात्मिक, धार्मिक लोगों पर भी पड़ रहा है। यही कारण है कि अमेरिका, इंगलैण्ड आदि राष्ट्र अपने धार्मिक प्रचारों एवं धन-साहाय्य आदि द्वारा भौतिकवादी कम्युनिज्म के विस्तार को रोकने का कुछ प्रयास कर रहे हैं। उनके भीतर भी इसका असाधारण प्रभाव प्रतिक्षण बढ़ ही रहा है।

इसलिए जबतक भारतीय, वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीतिक शास्त्रों के द्वारा कम्युनिज्म-सिद्धान्त के आधार पर उठायी गयी समस्याओं एवं तर्कों का सक्रिय समाधान न होगा, तबतक उसका रुकना असम्भव ही है। कम्युनिज्म में सत्य एवं शिव का आभास नहीं और वह कोई विश्वास ही है। वह तो शुद्ध भौतिकवादी तर्कों पर आश्रित है। अमेरिकनों का डालर-दान, किन्हींका अन्नदान, धनदान, भूदान आदि भी सर्वथा निरर्थक नहीं। वे सभी यथासम्भव आर्थिक विषमता के निवारक हैं, किन्तु वे निःस्वार्थ हों तो उनका महत्त्व बहुत अधिक हो सकेगा।

भारतीय शास्त्रों से अनुसार ज्ञान के लिए विद्या, संरक्षण के लिए शक्ति एवं दान के लिए धन होता था। तभी इनकी विषमता अनर्थकारिणी नहीं होती थी। पर जहाँ विद्या विवाद, शक्ति विनाश एवं धन के लिए कारण होता है वहाँ निश्चय ही आर्थिक आदि विषमताएँ सब अनर्थोंकी हेतु ही होती हैं। इसलिए धर्मयुक्त संतुलित विषमता भी क्षम्य हो सकती है, धर्मयुक्त होने पर भी असंतुलित आर्थिक विषमता कभी भी क्षम्य नहीं। हाथ की अँगुलियों में असमानता होती है, पर वह असन्तुलित नहीं। वैसी विषमता को तो रोग ही समझा जाता है। पेट की निःसीम मोटाई तथा हाथ-पाँवों की निःसीम पतलाई जलोदर रोग का ही चिह्न है। किसी घर में करोड़ों, अरबों की संपत्ति का होना और किसीको रोजी का भी कोई ठिकाना न होना, किसी-

के घर लाखों सन्तरे सड़ते रहें और किसीको इलाज के लिए सन्तरे की एक फाँक भी न मिले, तो उससे अनर्थ की ही सृष्टि होगी। यही कारण था कि वैदिक दृष्टि में अतिथि-सत्कार, दान, साहाय्य तथा यज्ञादि के प्रसंग से वितरण द्वारा आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न प्रतिक्षण चलता रहता था। सम्राट् लोग भी यज्ञों में सर्वस्वदान कर अकिंचन हो जाया करते थे। "तीन-चार रुपये प्रतिदिन कमानेवाले रिक्शेवाले को 'ए, ओ' पुकारना, साठ रुपये मासिक कमानेवाले को 'बाबूजी' कहना भी घृणा के आधार पर नहीं, किन्तु जातीय व्यवस्थाओं या राजकीय पदों के आधार पर होता है" (पृ० १८८)। आप भी मान चुके हैं कि 'एक शासक अंग्रेज की अपेक्षा भी एक गरीब ब्राह्मण चपरासी का अधिक सम्मान उसकी जाति या कुल के आधार पर किया जाता था' (पृ० १३५) श्रम या धन के आधार पर सम्मान का रूप अलग होता है तथा कुल या पद के आधार पर सम्मान का रूप अलग। एक करोड़पति भी जज के सामने बड़े सम्मान के साथ उपस्थित होता है। धन की की दृष्टि से जज का महत्त्व बहुत ही कम रहता है, पर पद की दृष्टि से उसका महत्त्व अधिक है।

'कर्तव्य कर्मों के पालन में ऊँच-नीच होने का भाव नहीं है' (पृ० १८९), यह भी सत्य नहीं। कारण कर्तव्य कर्मका पालन करनेवालों में भी उत्कर्ष-अपकर्ष का भेद होता ही है। तभी तो कर्तव्यपरायण शूद्र कर्तव्यपरायण ब्राह्मण को नमस्कार करता है, ब्राह्मण शूद्र को नमस्कार नहीं करता। पिता पुत्र को प्रणाम नहीं करता, पुत्र पिता को प्रणाम करता है। पिता पुत्र को 'ए, ओ' कहकर पुकारता है, पर पुत्र 'पिताजी' कहकर पुकारता है। यह कोई घृणामूलक व्यवहार नहीं और न इससे कम्युनिज्म का ही खतरा होता है। एक वेद-वेदांग विद्वान् आज मुश्किल से महीने में सौ-पचास कमाता है, पर एक मोची या जूतों पर पालिश करनेवाला उससे बहुत अधिक कमा लेता है। तब क्या आपकी दृष्टि में मोची का वैदिक ब्राह्मण से अधिक या बराबर सम्मान होना चाहिए ? प्राचीन काल में सदैव वैदिक ब्राह्मण के सम्बोधन और मोची के सम्बोधन में भेद रहा। किन्तु उसका हेतु न तो घृणा थी और न उससे कम्युनिज्म का खतरा ही खड़ा हुआ। आज भी ऐसे व्यवहार नहीं, किन्तु असंतुलित अर्थ-वैषम्य ही वर्गभेद, वर्गसंघर्ष का कारण बनता है।

वस्तुतस्तु मार्क्स के अनुसार कुछ अधिक बोनस, भत्ता या धन मिलनेमात्र से कम्युनिस्ट को सन्तोष न होगा। उसकी दृष्टि में तो विनिमय-मूल्य से होनेवाली सभी आमदनी, लागत खर्च एवं सरकारी टैक्स, मशीन, मकान का भाड़ा आदि निकालकर सबकी सब धनराशि मजदूर के श्रम का फल है। वह उसीको मिलना चाहिए। इससे कम में कम्युनिस्ट कभी भी सन्तुष्ट न होगा। कुछ आर्थिक असमानता

तो कम्युनिस्टों में भी रहती है। बुद्धिजीवी और श्रमजीवी के व्यवहार एवं सम्बोधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं। 'सबको शिक्षा, श्रम और उसका फल पाने का समान अवसर' ही उनकी समानता का अर्थ है। इंजीनियर एवं राज के काम, दाम, आराम में तो भेद उनको भी मान्य ही है।

इसी तरह 'मतपत्र-पेटिका से समाजवाद को प्राप्त करेंगे, चीन तथा रूस के समान गोली से नहीं' (पृ० १८९) यह आपके नेताओंकी कोई नवीन बात नहीं। इसमें यह हेतु भी नहीं कि रूस के लोग अधिक जाग्रत थे, इसलिए वहाँ गोली की आवश्यकता थी। भारत के लोग राष्ट्रसेनानियों के कहने से गर्दन भी कटा सकते हैं, अतः यहाँ गोली की आवश्यकता नहीं। किन्तु कार्ल मार्क्स ने ही अपने ग्रन्थों में वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विद्वेष एवं वर्ण-विध्वंस द्वारा समाजवाद की स्थापना बतायी है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका जैसे प्रजातांत्रिक देशों में वर्ग-क्रान्ति के बिना निर्वाचन-प्रथा से भी समाजवाद लाया जा सकता है।

आपने लिखा है कि "यहाँ हमारे लोग नम्र, वीरपूजक हैं। ····वे राष्ट्रसेनानी के आदेशानुसार गर्दन झुकाकर सिर कटाने-हेतु अर्पण कर देंगे" (पृ० १८९)। परन्तु भारत की अपेक्षा बहुत पहले इङ्गलैण्ड में मजदूर-दल की सरकार बन चुकी है। नेता के प्रति अन्धश्रद्धा पाश्चात्त्य-जगत् की देन है, उसीसे अन्ध लोगों के समान आप भी लाभ उठा रहे हैं। भारत में तो ईश्वर एवं आचार्यों में भी शास्त्रानुसार ही विवेकयुक्त श्रद्धा का विधान है: **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्, समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** (उपनिषद्)। ब्रह्म को जानने के लिए समित्-पाणि होकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण जाना चाहिए। यद्यपि श्रुति का अर्थ गुरुपरंपरा से ही जानने का विधान है, तथापि शास्त्रों के अनुसार ही गुरु का लक्षण जानना चाहिए, शास्त्रविरुद्ध आचार एवं उपदेश देनेवाले को कभी गुरुत्वेन वरण नहीं करना चाहिए। शास्त्रविरुद्ध आचरण एवं उपदेश देनेवालों का जो आज भारत में सम्मान हो रहा है, वह पाश्चात्त्य-सभ्यता की ही देन है। इतना ही क्यों, कम्युनिस्टों, मार्क्सवादियों के पास तो कुछ सिद्धान्त भी हैं, पर भारतीय पार्टियाँ तो सर्वथा सिद्धान्तहीन हैं। भूमि अदि छीनने के लिए कम्युनिस्टों के पास कुछ तर्क भी हैं, पर यहाँ तो तर्कहीन होने पर भी धड़ल्ले से जन-जन की वैध सम्पत्तियों के छीनने में कोई हिचक नहीं। श्री तिलक ने 'मिताक्षरा' के जन्मना स्वत्ववाद के अनुसार 'देश के स्वराज्य में अपना जन्मसिद्ध अधिकार' माना था, पर भारतीय संस्कृति का ढोल पीटते हुए भी आपका जनसंघ प्रतिकर बिना दिये जन-जन की वैध भूमि आदि छीन लेने की घोषणा कर चुका है। आप कहेंगे : 'वह तो फिर से बँटवारे के लिए आवश्यक है।' पर क्या दान के लिए भी चोरी या डाके से धन-संग्रह वैध कहा जा सकता है ?

वस्तुतः वैध संपत्ति-स्वातंत्र्य के अनन्तर शिक्षा एवं धर्म की स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती है, जनतन्त्र भी समाप्त हो जाता है; क्योंकि जनतन्त्र वहाँ रहता है जहाँ जनता में नापसंद सरकार को बदलनेकी शक्ति बनी रहती है। वह शक्ति तभी-तक रहती है जबतक जनता में निर्वाचन जीतने की शक्ति रहती है। वह भी तभी-तक सम्भव होता है, जबतक जनता के पास वैध सम्पत्ति रहती है। सम्पत्ति रहने पर ही निर्वाचन जीतना सम्भव है। पोस्टर, नोटिस, लाउडस्पीकर, मोटर एवं कार्य-कर्ताओं के बिना योग्य से योग्य व्यक्ति भी निर्वाचन में सफल नहीं हो पाता। अतः उसे धनहीन बना देने के पश्चात् निर्वाचन लड़कर सरकार बदल देने की स्वतन्त्रता प्रदान करने का अर्थ है, किसी पक्षी को पंख काटकर, पंखहीन कर उड़ने की मुकम्मिल स्वतन्त्रता देना।

आप कहते हैं : "समाजवाद इस मिट्टी को उपज नहीं है। यह हमारे रक्त एवं परंपराओं में नहीं है। हमारी परंपराओं एवं आदर्शों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। हम लोगों के लिए यह परकीय विचार है" (पृ० १९१)। परन्तु जब आपने शास्त्रप्रामाण्यवाद को तिलांजलि दे दी, खान-पान एवं भारतीय सदाचार को त्याग देना उचित माना, किसी भी प्राचीन मान्यता की उपयोगिता खतम होने पर उसे आप त्याज्य मान लेते हैं और इस भूमि की जो उपज नहीं, यहाँके रक्त से जिनका सम्बन्ध नहीं, उन्हें आत्मसात् कर सकते हैं, तो फिर समाजवाद से ही परहेज क्यों? यदि शास्त्र एवं पारम्पर्य का त्याग हो सकता है, तो समाजवाद में और कोई भी नयी बात नहीं। आखिर क्या वर्तमान मोटर, हवाई जहाज, फाउन्टेनपेन, भारतीय भूमि की ही उपज है? यदि नहीं, तो क्या उनसे परहेज करते हैं?

वस्तुतः भौतिक समाजवाद या समाजवाद शास्त्र, धर्म, ईश्वर के निराकरण पर ही अवलंबित हैं। उनका शास्त्रादि की प्रतिष्ठा से ही समूलोन्मूलन हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः यदि उसका उन्मूलन इष्ट है, तो शास्त्रप्रामाण्यवाद समझने का प्रयत्न करना आवश्यक है।

आप अपने 'अमर-समाज' के सम्बन्ध में कहते हैं कि "उसने महत्तम व्यक्तियों को जन्म दिया तथा सर्वोत्कृष्ट दर्शन एवं पवित्रतम सामाजिक मानदण्डों को विकसित किया। आपने राम, कृष्ण, शंकराचार्य का भी उल्लेख किया है" (पृ० १९५)। परन्तु क्या किसी भी सर्वोत्कृष्ट दर्शन को सांगोपांग मानने की हिम्मत करते हैं?

आपने वहीं पर राम, कृष्ण को भूमिका एक पुत्र माना है। परन्तु क्या आप राम, कृष्ण, शंकराचार्य के उपदेशों या उनके द्वारा अपनाये हुए शास्त्रों का प्रामाण्य मानते हैं? रामायण, महाभारत में तो राम, कृष्ण को 'साक्षात् परब्रह्म' कहा गया है, फिर वे पृथ्वी के पुत्र कैसे?

हिन्दू-समाज का गौरव उसके प्रामाणिक धर्म, दर्शन एवं सदाचारों पर निर्भर था। उसी आधार पर प्रतिष्ठा भी थी। परन्तु आज आत्मश्लाघाके सिवा कुछ भी आपके पास नहीं। आप कहते हैं: 'समाज हो ईश्वर का जीवित स्वरूप है' (पृ० १९६), पर यह किसी भी शास्त्र में वर्णित नहीं है। ईश्वर का स्थूलरूप महाविराट् है। भारत एवं भारतीय समाज भी उसीका एक अंश होने से वह भी ईश्वर का एक अंश है। इसकी विशेषता तो इसके वेदादि-शास्त्रों एवं तदुक्त कर्म, उपासना, ज्ञान-विज्ञानों से थी, पर उसकी आज उपेक्षा हो रही है। भारत का वैभव, ज्ञान विदेशी लेखकों के आधार पर नहीं; किन्तु भारतीय रामायण, महाभारतादि आर्ष-इतिहासों से ही प्राप्त हो सकती है। विदेशी विचारकों के उक्त लेखों में भारतीय वैभव का शुद्ध रूप नहीं मिलेगा।

कृण्वन्तो विश्वमार्यम् (ऋ० सं० ९. ६३. ५) का 'विश्व के मनुष्यमात्र को आर्य बनाओ' (पृ० १९८) अर्थ नहीं। ऐसा अर्थ वेदभाष्यकार सायणादि से विरुद्ध है। वहाँ तो ऋत्विजों से संपूर्ण सोमादि हवि को संस्कारों द्वारा श्रेष्ठ बनाने के लिए कहा जा रहा है। अतएव वेद **तिस्रः प्रजा आर्याः** के अनुसार ब्राह्मणादि तीन प्रकार की प्रजाओं को 'आर्य' कहते हैं।

यह ठीक है कि भारत का प्राचीन गौरव एवं धन-धान्य, कला-कौशल, चिकित्सा, विज्ञान आदि की उन्नति अवश्य ही महत्त्वपूर्ण थी। आखिर हम इतने उन्नत होते हुए भी वर्तमान घृणित अवस्था में क्यों पहुँचे ? धन-धान्यपूर्ण संस्कृति के इस देश में दुःख-दारिद्रय एवं अधर्म का पिशाच किस प्रकार घुसा, यह कभी सोचा है ?

आपका यह कहना तो ठीक है कि 'विदेशी मुस्लिमों, अंग्रेजों के अत्याचारों एवं जाल-फरेब के कारण भारतीय सद्गुणों एवं वैभवों का नाश हुआ।' यह कहना भी ठीक है कि "हमारी जनसंख्या, सेना, नीतिज्ञता, पराक्रम, ऐश्वर्य, बुद्धिमत्ता, ज्ञान एवं प्रत्येक गुण भी, जिनसे किसी भी जाति को निश्चित विजय प्राप्त होती है, आक्रामकों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ थे।"···इसी प्रसंग में कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के सम्बन्ध में आप कहते हैं कि 'जिसकी बराबरी का संसार के समस्त राज-नीतिक-साहित्य में दूसरा एक भी ग्रन्थ मिलना कठिन है। यह छोटा-सा ग्रन्थ ऐसे विचारों का कोष है, जिनकी स्वाभाविक एवं स्थायी श्रेष्ठता देश-काल को सभी सीमाओं से परे है" (पृ० २००)। आपकी उपर्युक्त बातें बहुत ठीक हैं, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि आप फिर भी उस ग्रन्थ का प्रामाण्य और उसे अपना मार्ग-दर्शक नहीं मानते ! कौटिल्य पद-पद पर धर्म एवं वेदादि-शास्त्रों का गौरव-वर्णन करता है। यदि उसे आप मानते तो कितनी अच्छी बात होती ! कौटिल्य का निम्नोद्धृत वचन गंभीरता से विचारणीय है :

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

(कौ० अर्थशास्त्र १.३.४)

अर्थात् आर्य-मर्यादा के सम्यक् व्यवस्थित होने और वर्णाश्रम की स्थिति संपादित होने पर त्रयी (ऋक्, यजुः, साम) यानी वेदत्रयी द्वारा रक्षित लोक प्रसाद को प्राप्त होता है, अवसाद को नहीं।

आगे आपने लिखा है कि : "हमने पहले शकों, हूणों के बर्बर-समूहों को खदेड़ दिया था। जो लोग यहाँ रह गये थे, उनको अपनी सर्वग्राही संस्कृति में समाविष्ट कर लिया" (पृ० २००)। परन्तु क्या कभी यह भी सोचा कि यह सर्वग्राही 'मिक्शर'-संस्कृति कौटिल्य को मान्य थी ? वस्तुतः कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में वर्णसांकर्य को ही राष्ट्र का विध्वंसक माना है। मनु भी वही बात कहते हैं :

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रियैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥

(मनु० १०।६१)

संभव है, इसी सांकर्य से यह सर्वगुणसम्पन्न देश गुलामी की जंजीरोंमें जकड़ गया हो। चन्द्रगुप्त के समय कौटल्य के धर्म एवं शास्त्र का पूर्ण सम्मान था। देश के लोग बलिष्ठ एवं धर्मिष्ठ थे। तभी तथाकथित विश्वविजेता सिकन्दर एवं सेल्युकस आदि को पराजित किया जा सका था। यह ठीक है कि ऐक्य के अभाव में राजा का पद जनता की निष्ठा का आधार बन जाने से परस्पर द्वेष एवं स्पर्धा से छोटे-छोटे राजाओं के सम्बन्ध दूषित हो जाने पर शत्रु-मित्र की पहचान न होने तथा अदीर्घ-दर्शितापूर्ण प्रवृत्तियों के कारण शत्रु हमारे अतिथि बनकर विजेता एवं शासन बन गये" (पृ० २०१)। किन्तु राष्ट्र के पतन का इससे भी अधिक मूलकारण था आन्वीक्षिकी, त्रयी (तीनों वेद), वार्ता तथा दण्डनीतिरूप लोकप्रतिष्ठा-हेतु विद्याओं का अनभ्यास। जहाँ विधिवत् उक्त विद्याओं का ज्ञान एवं ठीक से अनुष्ठान चलता रहता है, वहाँ कभी भी ऐसा प्रमाद नहीं होता। अतएव यह कथन ठीक नहीं कि "महाभारत-युद्ध के बाद लम्बे शांतिकाल में समस्त राष्ट्र सुरक्षा की भावना के कारण एक प्रकार की मूर्च्छा को प्राप्त हो गया था। ऐक्य की प्रवृत्ति, जो आनेवाले खतरे की चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, शताब्दियों के कालान्तर में मन्द पड़ गयी थी" (पृ० २०१)। क्योंकि आपके कथनानुसार भी कौटिल्य के काल में देश पूर्ण समृद्ध एवं शक्तिशाली था। कौटल्य-काल महाभारत-युद्ध से दो-ढाई हजार वर्ष पीछे का है। फिर कौटल्य के बाद होनेवाली दुर्दशा का हेतु कौटल्य-पूर्वकाल की स्थिति को कसे कहा जा सकता है ? महाभारत-युद्ध के पूर्व भी भारत में छोटे-छोटे बहुत-से

राज्य थे और उनमें संघर्ष भी चलता ही रहता था। इसका परम प्रमाण द्रौपदी को नग्न करने का प्रयत्न, पाण्डवों का वनवास तथा महाभारत-युद्ध ही है।

जनता में राजपद का सम्मान तो महाभारत-काल में ही नहीं, मन्वादि-काल में भी था ही।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति। (मनु० ७.८)

नराणां च नराधिपम्। (गीता)

आदि मनु तथा भगवद्गीता के वचनों में स्पष्ट ही राजा को ईश्वररूप कहा गया है। इतने स्पष्ट शब्दों में कहीं भी किसी एक समाज को ईश्वररूप में नहीं कहा गया है। अतः देश की दुरवस्था का मूल था, बौद्ध-प्रभाव के विस्तार के कारण वेदादि-शास्त्रों में अश्रद्धा का सूत्रपात, तदुक्त वर्णाश्रम-व्यवस्था की विशृंखलता, तदनुसारी धर्मों के अनुष्ठानों में शिथिलता। भट्टपाद कुमारिल, शंकराचार्य आदि के प्रयत्नों से जितने अंशों में शास्त्रादि-व्यवस्था प्रतिष्ठापित हो सकी, उतने अंशों में समाज जीवित रह सका। उतने अंशों में उन आगन्तुक उपद्रवों के निवारणार्थ प्रयत्न भी होते रहे। यही मुसलिम-आक्रमणों के भी प्रतिरोध की कहानी है।

कौटल्य के उपदेशों का ठीक आदर एवं पालन न करने और आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति की उपेक्षा के परिणामस्वरूप मार्गभ्रष्ट हिन्दू ही विदेशी आक्रामकों के सहायक बने। इतना ही नहीं, इसी कारण बहुत दिनों से हमारे देश में इतनी अदीर्घदर्शिता बढ़ गयी कि वह निर्वाण या विध्वंस ही सोचना जानने लगा, निर्माण या रचना की बात सोचता ही नहीं था। पृथ्वीराज की किन्हीं बातों से उद्विग्न होकर लोगों ने सोचा कि उसे मिटाना है, भले ही मुगल आयें। किन्तु जब मुगल एवं मुसलिम कुकृत्यों से लोग उद्विग्न हुए तो सोचा कि इस शासन को खत्म करना है, फिर जो आये सो आये। फलस्वरूप अंग्रेजों के पाँव जमाने में मदद कर मुसलिम-शासन समाप्त किया गया।

अंग्रेजों से ऊब जाने पर उनके खत्म करने का प्रयत्न हुआ और यह सोचा गया कि अंग्रेज हटने चाहिए, उनके स्थान में जो आये सो आये। इस प्रयत्न के फलस्वरूप कांग्रेस को बलवान् बनाकर सफल बनाया गया। कांग्रेस ने देश के टुकड़े किये—हिन्दुस्तान, पाकिस्तान का बँटवारा स्वीकार किया; भूमि-संपत्ति छीनी; धर्म-कर्म तथा शास्त्रों को ठुकराया; मनमाना कानून बनाया; गोहत्या को बढ़ावा दिया। अब आज जनता की इच्छा है कि कांग्रेस हटनी चाहिए, इसके स्थान पर अन्य चाहे जो भी आये।

किन्तु हम निर्माण नहीं सोचते, इस अन्ध-परंपरा से कभी भी शांति न होगी। निर्माण के बिना निर्वाण सर्वथा व्यर्थ ही होता है। जबतक हम अपनी शास्त्रीय

परंपराओं के अनुसार अपने निर्माण की रूपरेखाओं पर विचार करेंगे, तबतक सभी दलों एवं संघटनों की प्रतिक्रियास्वरूप प्रवृत्तियाँ शांति एवं समृद्धि-स्थापना में सफल न हो सकेंगी। धर्म-संघ, रामराज्य-परिषद् का प्रयास इसी निर्माण की ओर है।

आप 'पंजाब को वेदों का जन्मस्थान मानते और उन्हें पवित्रता मानते हैं' (पृ० २०५)। किन्तु खेद है कि आप उन पवित्र वेदों को अपने संघटन का आधार बनाने को तैयार नहीं। आप यह मानते हैं कि "प्रान्त, दल, भाषा, पन्थ, सम्प्रदाय के नये वेष में परस्पर घृणा-द्वेष का वही अभिशाप अपना मृत्यु-नृत्य किये जा रहा है" (पृ० २०७)। परन्तु यह नहीं सोचते कि हम सर्वमान्य या बहुमान्य वेदादिशास्त्रों, रामायण, महाभारत, मनु-गीतादि ग्रन्थों को जबतक अपना सरपंच मानकर उनके अधीन अपनी गतिविधि नहीं बनायेंगे, तबतक कोरे रोनेमात्र से क्या कभी हमारा उद्धार हो सकता है?

आप यह भी मानते ही हैं कि "राजसूय, अश्वमेधादि वैदिक यज्ञों द्वारा संपूर्ण भारत को एक ही चक्रवर्ती के सर्वोच्च राजकीय प्रभुत्व के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न होता था। उसमें राज्यों की जनता का शोषण या दमन के सदृश कोई स्वार्थी मन्तव्य नहीं होता था। वह छोटे राज्यों में एक सर्वोच्च केन्द्रीय सत्ता के प्रति राज्यभक्ति की अपेक्षामात्र रखता था। अन्य बातों में हस्तक्षेप न करते हुए उनको स्वतन्त्ररूप से पहले के समान रहने को छोड़ देता था" (पृ० २०९)।

पर इतना ही क्यों, मान्धाता आदि सप्तद्वीप-अधिपति चक्रवर्ती हुए। अन्य लोग जम्बूद्वीपाधिपति भी हुए। अन्ताराष्ट्रिय संघटन एवं सुव्यवस्था का संपूर्ण कार्य चक्रवर्ती राज्य पर ही निर्भर रहता था। उसीसे विश्व में शांति एवं सुव्यवस्था बनी रहती थी। विभिन्न प्रान्तों, पन्थों, पार्टियों की तबतक देश-विभाजनकी ओर प्रवृत्तियाँ चलती रहेंगी, जबतक इस प्रकार के यज्ञों के मूल वेदों तथा भारतीय राजनीतिक ग्रन्थों का लोग सम्मान करना न सीखेंगे। यही नहीं, तबतक नाना प्रकार के पन्थों से देश विभक्त ही बना रहेगा और विदेशियों की कूटनीति का शिकार बन और भी नाना विभागों में विभक्त होता रहेगा। द्रविड़नाड, पंजाबी सूबा, झारखण्ड स्थानकी माँगों के रूप में उसीकी प्रारम्भिक अभिव्यक्तिमात्र है। अवश्य ही एकात्मक राज्य की व्यवस्था के विरुद्ध 'संघात्मक' राज्य की कल्पना दुर्भाग्यपूर्ण है। इसीका परिणाम नदीजल-विवाद, सीमा-विवाद आदि प्रकाश में आ रहे हैं और उन्हींकी परिणति है, राज्यों का परस्पर बिलगाव एवं एक को दूसरे के सुख-दुःख में सहानुभूति का अभाव।

यद्यपि आत्मनिर्णय का अधिकार एक प्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए मान्य है; तथापि पाकिस्तान, हिन्दुस्तान के विभाजन के मूल में उसकी मान्यता

स्वीकृत हो चुकी है। यद्यपि उसकी रोकथामकी कुछ व्यवस्था भी है, फिर भी वर्तमान शासन के कर्णधारों की कमजोरी से जो कुछ हो जाय, वह थोड़ा ही है। यह भी ठीक है कि इस दुरवस्था को दूर करने के लिए समाज को संघटित, जागरूक, राष्ट्रिय चेतना तथा ऐक्य की भावना से पुनरुत्थानशील बनाना चाहिए। परस्पर प्रेम और अनुशासन का भाव भी बढ़ाना आवश्यक है। किन्तु क्या यह सब पीढ़ियों से प्रचलित शास्त्रसम्मान, धर्मनिष्ठा, सदाचार-परिपालन के बिना सम्भव है? क्या काल्पनिक गीतों एवं खेलों के प्रलोभन से एकत्रित बालकों का संघटन ही वह संघटन होगा ?

यद्यपि आप प्रतिक्रिया-पक्ष का खण्डन करते हैं, पर क्या आपकी प्रस्तुत पुस्तक में ही मुसलमानों, अंग्रेजों एवं कांग्रेसियों की घृणित-निंदित चेष्टाओं, दुर्नीतियों, दुर्गुणों के वर्णन में सैकड़ों पृष्ठ नहीं खर्च हुए हैं? वस्तुतस्तु शास्त्रदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति के लिए यह सब कोई नयी बात नहीं है। जबतक रोग का स्वरूप एवं निदान सम्यक् रूप से विदित नहीं होता, तबतक चिकित्सा भी ठीक नहीं होती। यों तो दोष ही क्या, गुण का देखना भी दोष है। गुण तो यही है कि गुण-दोष-दर्शनसे सर्वथा विमुक्त रहा जाय :

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः। (भागवत)

गुण यह उभय न देखिये देखिय सो अविवेक। (रामचरितमानस)

तथापि व्यवहार में **विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः** (अमरको० २. ब्रह्मवर्ग ५) के अनुसार दोषज्ञ होना विद्वान् का लक्षण कहा गया है। पूर्व-मीमांसा के **अथातो धर्मजिज्ञासा** (१. १. १) सूत्र में 'अकार' का प्रश्लेष कर धर्म-जिज्ञासा के समान अधर्म-जिज्ञासा की भी प्रतिज्ञा की गयी है। जैसे धर्म का ज्ञान अनुष्ठान के लिए अपेक्षित है, वैसे ही अधर्म का ज्ञान भी उससे बचने के लिए अपेक्षित होता है।

यही कारण है कि धर्म-शास्त्रों में तथा पुराणों में विस्तार के साथ गुण-दोषों का वर्णन है। इसमें पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, दिन-रात; सुख-दुःख, विष-अमृत, गंगा-कर्मनाशा, काशी-मगध, सभी तो हैं।

भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुनदोष बेद बिलगाये॥
ताते कछु गुन-दोष बखाने। संग्रह त्यागन बिनु पहिचाने॥

जड़ चेतन गुणदोषमय, विश्व कीन्ह करतार॥
सन्त हंस गुण पय गहहिं, परिहरि बारि विकार॥

आपका यह कथन कि "सभी गोमांसभक्षी मुसलमानों का चिन्तन करते-करते हिन्दू-नेताओं को कोई दोष नहीं भासित होता" (पृ० २१७), निस्सार है; क्योंकि उपादेय-बुद्धि से दोष का चिन्तन ही घृणा का निवारक होता है। हेय-बुद्धि

से दोष-चिन्तन से तो उत्तरोत्तर घृणा ही बढ़ती है। हिन्दू-शास्त्रों एवं धर्मों का अध्ययन एवं अनुष्ठान का सम्बन्ध टूट जाने और पाश्चात्य-विचारों का अध्ययन करने पर उपर्युक्त बुद्धि सम्भव ही है। एक नेता मुझे ऐसे भी मिले, जिन्होंने कहा कि 'गोहत्या बन्द हो जाने पर हम लोग जनता से क्या कहकर वोट माँगेंगे ?' आज तो हजारों अपटूडेट, आधुनिक युग के हिन्दू भी इस विचार के हो गये हैं कि यदि हम गाय न खायेंगे तो गाय ही हमें खा जायगी। क्या यह मुसलिम-दोष-चिन्तन का फल है ? यही कहना होगा कि यह सब वैदिक सिद्धान्तों की अशिक्षा एवं वर्तमान कुशिक्षा का ही परिणाम है। शास्त्रों ने केवल सावधानी के लिए गुण-दोष का वर्णन किया है। सदैव दोषानुसंधान को तो त्याज्य ही कहा है :

नैवातीव प्रकर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥ (श्लोकवार्तिक)

अर्थात् दोषचिन्तन में बहुत मन नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि कभी-कभी कहीं दोष न होने पर भी दोष-चिन्तन करनेवाले को चिन्तन की महत्ता से दोष भासित होने लगते हैं। अतः स्व-पर-दोष का निराकरण करने के लिए दोष का ज्ञान होना चाहिए। इसीलिए श्रीराम के अनेक गुणों में "स्वदोष-परदोषवित्" भी एक गुण है। वे अपने तथा अन्यों के दोषों को भी जानते थे।

"आप अपने संघ के संगठन का बखान करते हुए कहते हैं कि "संघ का यह अनोखा लक्षण है, जिसमें साधन-साध्य एकरूप हो जाते हैं। जैसे भक्त के लिए भक्ति साधन एवं साध्य दोनों हैं, वैसे ही हमारे संगठन का कार्य, जो समाज के प्रति अत्यधिक भक्ति के कारण उत्पन्न होता है, स्वप्रेरित, स्व-आधारित हैं। अपने निर्धारित पथ पर अखण्ड एकाग्रता उन सिद्धान्तों की पूर्ण पकड़ के कारण उत्पन्न होती है, जो शाश्वत सामर्थ्यशाली एवं स्व-आधारित है, राष्ट्रिय जीवन की जड़ों का निर्माण करती है। ऐसी एकाग्रता ने ही हमारे संगठन को अजेय, चिर-उन्नतिशील बनाया है' (पृ० २१९-२०)।

किन्तु क्या जी स्वाधारित, स्वप्रेरित होता है, उसके लिए भी प्रयत्न आवश्यक होते हैं ? दार्शनिक-जगत् में सर्वकारण में ही स्वकारणत्व का सर्वाधार में ही स्वाधारत्व का औपचारिक प्रयोग होता है। उसका बीज है : **मूले मूलाभावादमूलं मूलम्** (सांख्यसूत्र)। भक्ति की स्वफलता का भी अर्थ यही है कि जैसे अपक्व आम्र ही पक्वाम्र का हेतु होता है। अर्थात् पक्व-अपक्व दो अवस्थाओं के भेद से ही 'हेतु-हेतुमद्भाव" होता है, अत्यन्त अभेद में तो कार्य-कारणभाव कभी भी बन नहीं सकता। यदि राष्ट्रिय जीवन शाश्वत सामर्थ्यशाली एवं स्वाधारित है, तब उसकी जड़ों का निर्माण क्या होगा ? क्या वह बिना जड़ों के शाश्वत रहा ? यदि हो तो अब भी वैसे ही रहने दो। यह **अव्यापारेषु व्यापारः** क्यों ?

पूर्व के अनेक पृष्ठों में आपने राष्ट्र की दरिद्रता, हीनता एवं दुरवस्था का वर्णन किया है। क्या उन सब अवस्थाओं के रहते हुए भी 'शाश्वत सामर्थ्यशाली राष्ट्र' कहा जा सकता है? यदि भारतमाता के अंग-प्रत्यंग, छिन्न-भिन्न, क्षत-विक्षित ज्यों-के-त्यों बने रहे और दिनोंदिन छिन्न-भिन्न होते रहे, देश में गोहत्या का का काला कलंक चलता रहे, शास्त्र एवं धर्मघाती कृत्य होते रहे, धर्मशास्त्रविरोधी शासन दिनोंदिन शास्त्र, धर्म, संस्कृति एवं देश का विनाश करता ही रहे और आपका संघ इन सम्बन्धों में कुछ न कर सके, तो भी आप अपनी सफलता ही का स्वप्न देखें तो 'किमाश्चर्यमतः परम् !'

आजकल भारत में कितने ही अवतार हैं, जो अपनेको सर्वशक्तिमान् ईश्वर मानते हैं। किन्तु क्या अवतारी के सामने भी गोहत्या होती रहे; देश, जाति, धर्म का पतन होता रहे और अवतार पूजते रहें—यह संगत है? हाँ, यदि गोहत्या आदि समस्याएँ समाप्त हो जायँगी तो गोरक्षा के नाम पर चंदा बटोरने एवं वोट माँगने के काम तथा अवतार-पूजा में बाधा अवश्य खड़ी होगी।' परन्तु क्या डाक्टरों के अस्तित्व के लिए रोगों का बना रहना भी आवश्यक है?

आगे आपने कांग्रेस के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए कांग्रेस की असफलता की फिर चर्चा की है। पर क्या कोई यह पूछ नहीं सकता कि आपको वे उद्देश्य अभीष्ट हैं या नहीं? देश को स्वतन्त्र, शक्तिशाली, सच्चरित्र, सत्यनिष्ठ, अहिंसक, भ्रष्टाचारहीन तथा अखण्ड, अक्षत, निष्कंटक बनाना आपको अभीष्ट है या नहीं? यदि है तो आप भी वैसा करने में कहाँतक सफल हुए? यदि नहीं तो मनःकल्पित उन्नति के आधार पर शाश्वत सामर्थ्यशाली, स्वाधारित, स्वप्रेरित मान लेने का क्या अर्थ है? आज जो-जो देश की त्रुटियाँ आप स्वयं ही बड़े समारोह के साथ अन्य लोगों के सम्बन्ध से वर्णन कर रहे हैं, क्या वे सब त्रुटियाँ आपके शाश्वत सामर्थ्यशाली राष्ट्रिय-जीवन के अनुरूप हैं?

आगे आपने कांग्रेसी तिरंगे-ध्वज की समालोचना की है। उसमें भगवा-रंग हिन्दुओं का, हरा मुसलमानों का और सफेद अन्य सभी जातियों का बताते हुए कहा है कि "भगवा-त्याग का प्रतीक और सफेद पवित्रता तथा शान्ति का प्रतीक है।.... कौन कह सकता है कि यह एक शुद्ध स्वस्थ राष्ट्रिय दृष्टिकोण है, यह तो केवल एक राजनीतिज्ञ की जोड़-जाड़ है" (पृ० २२४)। पर क्या आप बता सकते हैं कि आपका एक कौन-सा राष्ट्रिय-ध्वज था? भगवा-ध्वज राष्ट्रिय-ध्वज कब था और इसमें क्या प्रमाण है? महाभारत-संग्राम में तो अनेक वीरों के पृथक्-पृथक् ही ध्वज थे। अर्जुन 'कपिध्वज' नाम से प्रसिद्ध है, तो श्रीकृष्ण 'गरुडध्वज' नाम से। सूर्यवंशियों का 'सूर्यध्वज' था। किसी राजा ने संन्यासी का भक्त होने से 'भगवा-ध्वज' बना लिया,

तबसे उसके राज्य में भगवा-ध्वज चल पड़ा। अबतक विभिन्न राज्यों के अपने-अपने पृथक्-पृथक् ध्वज चलते हैं। नेपाल हिन्दू-राष्ट्र है, उसका ध्वज भगवाध्वज न होकर अन्य ही है। जिस राज्य या समूह ने किसी भावना से अपने राष्ट्र के प्रतीक-स्वरूप जैसा ध्वज मान लिया, उसके लिए वही ठीक है। उस दृष्टि से त्याग, पवित्रता एवं शांति के प्रतीकरूप में भगवा-रंग, श्वेत एवं हरे रंग का समुच्चयभूत तिरंगा भी हो ही सकता है।

संविधान के सम्बन्ध की समालोचना ठीक ही है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि भारतीयता का आधार तो आपके पास भी कुछ नहीं। वेदादि अपौरुषेय शास्त्र, मन्वादि आर्ष धर्मग्रन्थ, शुक्र, कौटल्य आदि नीतिशास्त्र आप भी नहीं मानते। फिर जैसे कांग्रेसी, वैसे ही आप भी हैं।

आप कहते हैं कि "संविधान में भारतीय आदर्शों या राजनीतिक दर्शनों की कोई झलक नहीं" (पृ० २२५)। पर क्या आप ही उपर्युक्त आदेशों, दर्शनों में से किसीको भी मानते हैं ? यदि नहीं, तो दूसरों को कहने का कैसे अधिकार है ?

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥

जहाँ दोनों पक्षों में समान दोष एवं समान हो परिहार हो, वैसे अर्थविचार में किसी एक पर ही पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता। अतएव आपका यह कहना कितना संगत है, यह स्वयं सोचें।

आप कहते हैं : "क्योंकि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े हैं, जिन्होंने अपने आधार-स्तम्भ को खो दिया, उनको बहना ही पड़ेगा" (पृ० २२५)। परन्तु क्या आपका कोई आधार-स्तम्भ है ? कोई धर्मग्रन्थ, कोई दार्शनिक सिद्धान्त, कोई रामायण, महाभारत आदि इतिहास या राजनीतिक ग्रन्थ आपको मान्य है ? यदि कुछ निराधार, स्वाभ्यूहित शब्दजाल या गीत आपके लिए आधार हो सकते हैं, तो कांग्रेसियों, कम्युनिस्टों के भी अपने विचार आधार हैं ही।

पीछे आपने कहा था : "हमारा शाश्वत सामर्थ्यशाली राष्ट्रिय-जीवन स्वाधारित है।" अब यहाँ ठीक उसके विपरीत लिखा है : "हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रिय-जीवन अपना जड़मूल ही खो बैठा है, इसीलिए बहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है—इस दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था में हम आजकल अपनेको खड़ा पाते हैं" (पृ० २२५)। वस्तुतः यही है वस्तुस्थिति। इससे भिन्न तो आकाशीय कल्पना की उड़ान या कोरी भावना ही हो सकती है। आवश्यक है कि इसी वस्तुस्थिति को समझकर इसे दूर करने का प्रयत्न किया जाय। उसके लिए मनमानी नहीं, शास्त्रीय परंपराओं के अनुसार ही

संघटन की आवश्यकता है। कह देनेमात्र से स्वार्थपरता, मतभेद और अनुकरण की दुर्गन्धको नहीं रोका जा सकता।

आगे के पृष्ठों में आपने कांग्रेसी-शिविरों एवं उनकी स्त्रैण-प्रवृत्तियों एवं अमेरिकन तथा फ्रांसीसी स्त्रैण-प्रकृति का वर्णन कर अपने संघ का ही गौरव-गान किया है। अवश्य ही यौन-संबन्ध से प्रभावित साहित्यों द्वारा राष्ट्रों एवं सभ्यताओं का विनाश होता है और उससे प्रत्येक समाज, राष्ट्र एवं जाति तथा व्यक्ति को सावधान रहना आवश्यक है। किन्तु उसके लिए भी शास्त्रीय धर्माचरण अपेक्षित है। तभी तो वेद स्वयं कहते हैं : **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते**। अविद्या अर्थात् विद्या-भिन्न, विद्यासदृश वैदिक काम-कर्म-ज्ञान से ही पाशविक, स्वाभाविक काम-कर्म-ज्ञान का अतितरण कर अधिकारी प्राणी विद्या उपासना या तज्जनित विद्या तत्त्वज्ञान द्वारा अमृतत्व पाता है।

इतिहास साक्षी है कि बौद्धों ने वेदादि-शास्त्रों का सम्बन्ध छोड़ दिया। ज्ञान, वैराग्य, संन्यास, योगसाधना की ओर बढ़े और खूब बढ़े। कुछ-कुछ लोग सिद्ध भी हुए, परन्तु शास्त्रविहीन स्वाभ्यूहित मार्ग अपनाने के कारण अन्ततः उनका पतन ही हुआ। सहजयान, वज्रयान आदि कई साधनाओं में वैराग्य के स्थान में राग का प्राधान्य हो गया, इसी कारण उनका पतन भी हुआ।

आगे आपने देश-विदेश के संघर्ष को महान् तथ्य के रूप में वर्णन किया और कहा कि **जीवो जीवस्य जीवनम्**। मात्स्यन्याय भी इसीका प्रमाण है।' यह भी ठीक है कि "घोषणाएँ बदल गयी हैं, वास्तविकता वही बनी रहती है, पारस्परिक मित्रता की कामना भी मृगतृष्णा ही है, शक्तिहीन को शक्तिशाली मित्र से भी खतरा रहता है। अतः हर तरह से स्वयं ही शक्तिशाली बनना आवश्यक है" (पृ० २३६)।

यद्यपि प्रत्येक राष्ट्रों, जातियों में ही नहीं, किन्तु व्यक्तियों में भी देवासुर-संग्राम अनादिकाल से ही चला आ रहा है। राजसी-तामसी प्रवृत्तियाँ असुर हैं तो सात्त्विकी प्रवृत्तियाँ देव। देव दुर्बल और असुर प्रबल होते ही हैं। हम देखते ही हैं कि काम, क्रोध, ईर्ष्या के भाव प्रबल होते हैं और शम, दम, शान्ति, सन्तोष के भाव दुर्बल। यह आन्तरिक संघर्ष ही अधिक विकृत होकर बाह्य संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। कुशल यही है कि देव सत्यपक्षपाती होते हैं, तो असुर असत्यपक्ष-पाती। इसीलिए अनेक बार देवताओं की हार होने पर भी अन्त में विजय उन्हींकी होती है। **सत्यमेव जयते नानृतम्**—अन्त में सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं। **तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः**—बुद्धियों का स्वभाव से ही तत्त्व का पक्ष-पात करना है। पर्वत-कन्दरा का लाखों वर्ष का बद्धमूल अन्धकार भी प्रथम-प्रभा से ही नष्ट हो जाता है। कोटि-कोटि कल्पों की भ्रांतियाँ प्रमा-प्रत्यय से क्षण में ही नष्ट

हो जाती है। संशय और भ्रम से असंपृक्त, यथास्थित भूतविषयक प्रमात्मक ज्ञान का लाख यत्न करने पर भी विपर्ययात्मक ज्ञान से बाध नहीं होता; क्योंकि बुद्धि का स्वभाव ही तत्त्वपक्षपात यानी यथार्थका आग्रह होता है" :

निरुपप्लवभूतार्थ-स्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥

(प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति)

किन्तु इस तरह संघर्ष स्वाभाविक प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह स्वाभाविक नहीं है। **अमृतस्य पुत्राः** के अनुसार तो भ्रातृता ही स्वाभाविक है और शत्रुता औपाधिक। पानी स्वभाव से निर्मल है, उसमें मलिन भूमिके सम्पर्कसे मलिनता औपाधिक रूपमें आती है। यदि **जीवो जीवस्य जीवनम्** या "मात्स्य-न्याय" को स्वाभाविक मान लें तो किसी कुटुम्ब, जाति, समाज या राष्ट्र का कभी सौमनस्य, सामंजस्य तथा ऐक्य नहीं हो सकेगा; क्योंकि मत्स्य तो एक जाति के होते हुए भी आपस में ही एक दूसरेके भक्षक होते हैं। तब भाई भाई पर भी कैसे विश्वास करेगा, राष्ट्रिय-सामाजिक संघटन भी कैसे पनप सकेंगे? अतः "मात्स्य-न्याय" को महान् तथ्य न मानकर औपाधिक ही मानना उचित है।

अतएव समन्वय या सामंजस्य-वाद ही अपेक्षित सिद्धान्त है। भ्रातृत्व ही वास्तविक एवं प्रामाणिक है। मलिन जल भी निर्मली के उपचार से शुद्ध हो जाता है। कभी का डाकू भी कालान्तर में महर्षि बन जाता है। दुर्जन और सज्जन तो सर्वत्र ही मिलते हैं। अपनी जाति एवं समाज में भी दोनों तरह के लोग मिलते हैं। इसीलिए तो लौकिक-अलौकिक उपायों से दुर्जनता मिटाने एवं सज्जनता बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। भक्तराज प्रह्लाद की यही तो प्रार्थना है :

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

(भाग० ५.१८.९)

अर्थात् विश्व का कल्याण हो, खल प्राणी की खलता दूर हो जाय, सभी एक दूसरे का भला सोचें, सबका मन भद्रदर्शी हो, सबकी बुद्धि परमेश्वरमें प्रविष्ट हो। अन्य भक्तों की भी प्रार्थना है कि दुर्जन सज्जन बनें, सज्जन शांति प्राप्त करें, शान्त बन्धनों से मुक्त हों और मुक्त अन्य लोगों की मुक्ति का प्रयास करें :

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तस्त्वन्यान् विमोचयेत्॥

"संसार के प्रायः सभी लोग सैनिक-संघटन का महत्त्व मानते हैं और युद्ध-कौशल को सफलताके लिए आवश्यक बतलाते हैं। किन्तु तत्काल संघटन कर युद्ध-कौशल संपादन करने से सफलता नहीं मिलती, युद्धकौशल के लिए चिरन्तन अभ्यास अपेक्षित होता है। भारत में तो एक वर्ग-क्षत्रिय का युद्ध नित्यकर्म ही माना गया है। शास्त्रोक्त वर्ण-व्यवस्था में ही सबका समाधान निहित है। यहाँतक कि सन्धि-विग्रहादि भी शास्त्रप्रामाण्य पर ही निर्भर हैं। यही कारण है कि कौटल्य आदि नीतिज्ञों ने शास्त्रविश्वास पर बल दिया था। शास्त्रप्रामाण्य एवं आस्तिक्य से ही संधि सम्भव है, क्योंकि परस्पर विश्वासोपगम ही सन्धि है। इसीलिए राजनीति-ग्रन्थों में भी नास्तिक्य निंद्य माना गया है।

संसार में रहते हुए भ्रातृत्वभाव और सद्भावनाके बिना अन्ताराष्ट्रिय, राष्ट्रिय, सामाजिक, जातीय, कौटुम्बिक किसी भी क्षेत्र में शांति संभव नहीं। इसी-लिए न्याय की भी महत्ता है। न्याय्य-मार्ग पर चलनेवाले के पशु-पक्षी भी साथी बन जाते हैं, जैसा कि राम का साथ वानर-भालुओं ने दिया। अन्याय के रास्ते पर चलनेवालों का साथ उनका भाई भी छोड़ देता है, जैसा कि रावण का साथ विभी-षण ने छोड़ा :

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥

(अध्यात्मरामा० १.४)

इसीलिए धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र के अनुसार न्याय-अन्याय का विश्लेषण आवश्यक है। भगवान् कृष्ण यह नहीं कहते कि 'मैं लोकसंहारकृत् काल हूँ, संहार ही करूँगा। किन्तु यही कहते हैं कि 'अन्याय्य पथ पर चलनेवाले का ही संहार करूँगा।' तभी तो गीतामें वे कहते हैं कि तुझे तथा तेरे सदृश धर्ममार्गनिष्ठों को छोड़ विपक्ष के सभी योद्धा मारे जायँगे :

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

ईश्वर भी कर्मानुसार ही यथायोग्य फल देता है। दुष्टनिग्रह और शिष्ट-अनुग्रह ही उसका विधान है। धार्मिक शासन का भी यही कार्य होता है। नीति-शास्त्रों में शत्रु से समाक्रान्त होने पर निर्बल-दशा में धार्मिक बलवान् मित्र का आश्रयण विहित है। पंचतंत्र, कथासरित्सागर आदि ग्रन्थों में मित्र-लाभ को नीति का परम सार और मित्र-भेद से महती विनष्टि कहा गया है। किसी भी संघटन का अर्थ ही मित्र-संग्रह है। सुग्रीव, विभीषण की सुस्थिति श्रीराम जैसे मित्र के लाभ से

ही हुई। बुद्धिमान् ईमानदार, कमजोर मित्रों से भी लाभ निकलता है। पंचतन्त्र में, मूषक, कछुआ, कौआ, शृगाल, खरगोश, हिरण आदि की मैत्री का महत्त्वपूर्ण उदाहरण वर्णित है।

कहीं-कहीं तो आवश्यकतानुसार चूहे और बिल्लीकी भी सफल संधि हो सकती है। परिस्थिति के अनुसार गुट-निरपेक्षता एवं गुट-सापेक्षता भी लाभदायक हो सकती है। गत दिनों जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया, तो अमेरिका एवं इंग्लैण्ड ने बिना शर्त भारत की सहायता की थी। भले ही उसमें कुछ उनका भी स्वार्थ रहा हो, भारत को उस अंश में उनका कृतज्ञ होना ही चाहिए। किसी गुट में न रहने पर भी वैयक्तिक या सामूहिक रूप से जिसने हमारी सहायता की हो, उसके प्रति कृतज्ञ ही नहीं, समय पर उसकी सहायता के लिए प्रस्तुत रहना भी सज्जनता है। यदि पाकिस्तान, काश्मीर, लद्दाख, नेफा, कच्छरन आदि भारतीय प्रदेशों का उद्धार करने के लिए शक्ति एवं मैत्री दोनों अपेक्षित हैं, तो आक्रमण के लिए तो उससे भी अधिक शक्ति अपेक्षित होती है।

अन्ताराष्ट्रियता एवं विश्वबन्धुत्व तथा राष्ट्रियता और जातीयता का विरोध भी सिद्धान्तज्ञान-शून्यता में ही सम्भव है। विश्व ही नहीं, प्राणिमात्र को ब्रह्मस्वरूप समझने पर भी अन्यायी को उसके हित के लिए दण्ड देना एक विश्वबन्धु का ही कर्तव्य है। आपने भी तो माना है कि "भगवान् कृष्ण ने कहा कि मैं 'लोकक्षयकृत्' महाकाल हूँ।" क्या श्रीकृष्ण से अधिक विश्वबन्धुत्व किसीमें हो सकता है? अतः सैनिक या सेनानायक को विश्वबन्धुत्व का उपदेश हानिकारक नहीं। पर व्यष्टिका समष्टि के साथ समन्वय भी समझना आवश्यक है।

कई लोग युद्ध के अवसर पर अर्जुन के लिए भगवान् का सर्वात्मभावोपदेश भी असंगत मानते हैं। परन्तु उन्हें—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्॥

आदि वचनों का समन्वयात्मक अध्ययन करना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जायगा कि शुभ-अशुभ, शत्रु-मित्र सर्वत्र एक ही स्वप्रकाश ब्रह्मात्मतत्त्व है। फिर भी अधर्म और अन्याय से उसकी अभिव्यक्ति में बाधा पड़ती है। अतः व्यवहार में सर्वत्र शांति-समन्वय के लिए अधर्म, अन्याय मिटाकर धर्म एवं न्याय की व्यवस्था अनिवार्य

है। तदर्थ अन्यायी, अधर्मी को दण्ड देना व्यष्टि-समष्टि दोनों के ही हितार्थ अपेक्षित है।

यह समझना कि समष्टि-हितैषी व्यष्टिगत हितों की उपेक्षा करता है, भूल है। कहा जा चुका है कि एक व्यक्ति मानवता के नाते मानव होता हुआ भी भारतीयता के नाते भारतीय भी है तथा ब्राह्मणता के नाते ब्राह्मण भी है। ब्राह्मणोचित कर्म छोड़कर तो वह मानव भी नहीं हो सकता, क्योंकि स्वधर्मनिष्ठ होना ही तो मानवता है। व्यष्टियों के बुद्धिमान् बलवान् और धर्मनिष्ठ होने पर ही समाज या राष्ट्र बुद्धिमान्, बलवान् एवं धर्मिष्ठ होता है। इसी तरह राष्ट्रोंके शक्तिशाली होने पर ही विश्व शक्तिशाली हो सकेगा। व्यष्टि के दौर्बल्य से समष्टि का दौर्बल्य अनिवार्य है; क्योंकि व्यष्टि का समुदाय ही समष्टि है।

"वर्तमान भारतीय शासन भी शक्तिशाली होने का प्रयत्न कर ही रहा है। अतएव अपनी दुर्बलता और अज्ञान अन्ताराष्ट्रियता के जोरदार नाम के आवरण में छिपाना चाहते हैं। संसार का भविष्य विचारने की धुन में कुएँ में गिर पड़नेवाले ज्योतिषी की विपत्तिसे पाठ सीखें। अन्ताराष्ट्रिय उद्योग प्रारंभ करने से पूर्व, जिन्हें सम्पादित करने की उनके पास कोई शक्ति नहीं, अपने राष्ट्र को व्यवस्थित कर लें" (पृ० २३८-२३९), यह कथन दुरभिमानमूलक है। किसीसे मतभेद हो सकता है, पर उसके सत्प्रयत्नों को झुठलाना दुरभिसन्धिमात्र है। कौन नहीं जानता कि आधुनिक ढंग के अस्त्र-शस्त्र, टैंक-मशीनगन और शक्तिशाली लड़ाकू वायुयानों का निर्माण कर बहुत अंशों में देश को स्वावलम्बी और शक्तिशाली बनाने का सफल प्रयत्न देश के कर्णधारों ने किया है। केवल भारत के ही नहीं, संसार के सभी राष्ट्रों के लोग अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करते हुए भी अन्ताराष्ट्रिय सहयोग करते हैं। यह दूषण नहीं, भूषण ही है।

जितने अंशों में अन्ताराष्ट्रियता के मोह में विदेशियों की कूटनीति का शिकार होकर कांग्रेसी नेताओं ने देश का विभाजन आदि अनर्थ किये, उसकी जितनी निन्दा की जाय, कम ही है। पर इतने से ही अन्ताराष्ट्रिय सहयोग त्याज्य नहीं हो सकता। जैसे आप राष्ट्रियता के व्यामोह में जातिहित तथा वर्णाचार का अहित करते हैं, वैसे ही राष्ट्रिय कर्णधार भी शांति का अग्रदूत बनने के मिथ्याभिनिवेश में राष्ट्रहित का नुकसान कर बैठते हैं। उन्होंने सह-अस्तित्व एवं पंचशील की घोषणा के जाल में फँसकर तिब्बत को गँवाकर चीनियों को लद्दाख और नेफा पर हमला करने का अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दिया। पाकिस्तान, लंका, बर्मा जैसे छोटे-छोटे देशों ने भी इस कमजोरी से लाभ उठाया।

यह सच है कि "शक्ति का ही सर्वत्र सम्मान होता है। शक्तिशाली का ही उपदेश भी सुना जाता है। शक्तिशाली की क्षमा ही क्षमाकोटि में परिगणित होती

है। सामर्थ्य ही पुण्य है और दुर्बलता है पाप" (पृ० २४५)। किन्तु इसे सामर्थ्य की प्रशंसा का 'अर्थवाद' ही समझना चाहिए। इससे दुर्बलता दूरकर सामर्थ्य के सम्पादनार्थ प्रयत्न होना चाहिए। यह नहीं कि पुण्य, पाप इसके अतिरिक्त होते ही नहीं। कांग्रेसी भी पहले कहते थे कि गुलाम का कोई धर्म नहीं होता, गुलामी मिटाना ही धर्म है। फलस्वरूप वे न तो गुलामी के समय शास्त्र और धर्म के संपर्क में आये और न अब स्वतन्त्रता के समय ही धर्म से संबद्ध हुए। यही स्थिति आपके संघ की भी है। वे जाति-पाँति का विचार छोड़कर सबके सब सबके साथ खाते-पीते और कहते हैं कि यही सैनिक का धर्म है, शक्तिशाली बनना ही धर्म है। परिणामस्वरूप वे शास्त्रोक्त धर्म-सदाचार से बहिर्मुख होते जा रहे हैं।

विश्वामित्र के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि "एक दिन उन्होंने एक चाण्डाल के घर मृत कुत्ते की सड़ती टांग देखी। विश्वामित्र ने छिपाकर उसे ले लिया और पहले परमात्माको भोग लगाकर खाने को सिद्ध हुए। चाण्डाल विस्मय से बोला : 'अरे ऋषि, तुम कुत्ते की टाँग कैसे खा रहे हो?' विश्वामित्र ने उत्तर दिया : 'संसार में तपस्या और सत्कर्म करने के लिए मुझे पहले जीवित रहना और शक्तिशाली होना आवश्यक है" (पृ० २४६)। आश्चर्य है कि जब आप वेदादि-शास्त्रों का प्रमाण स्वीकार करने को तैयार नहीं, तो ऐसी पौराणिक कथाओं पर कैसे विश्वास हो गया? वस्तुतः शास्त्रीय पद्धति के बिना ऐसे शास्त्रवचन आप और आपके साथियों का अकल्याण ही करेंगे।

विश्वामित्र की कथा का सार इतना ही है कि प्राणरक्षा का प्रयत्न अनिवार्य है। वस्तुतः आपने विकृत रूप में ही विश्वामित्र की कथा का उल्लेख किया है। उसका यथार्थ रूप निम्नोक्त है : महाभारत के आपद्धर्म-प्रकरण के १४१ वें अध्याय में भीष्म ने कहा है कि 'प्रजा में योग-क्षेम, सुवृष्टि सब कुछ राजमूलक होता है। प्रजा में व्याधि, मरण, भय, कृत, त्रेता, द्वापर, कलि सब राजमूलक होते हैं। भीषण अकाल आने पर भी विज्ञानबल का आश्रय लेकर जीवित रहने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी समय बारह वर्ष की घोर अवृष्टि के कारण ओस भी नहीं पड़ता था। अन्न-जल के बिना सर्वत्र हाहाकार मच गया। सरोवर, सरिता, झरने आदि सूख गये थे। ऋषि लोग भी सब नियमों और आश्रम को छोड़कर इतस्ततः भाग रहे थे। उस समय विश्वामित्र श्वपच-गृह में कुत्ते का मांस प्राप्त करने के लिए प्रविष्ट हुए। यह विदित होने पर कि ये महर्षि विश्वामित्र हैं, उसने कहा : 'महर्षे, यह श्वमांस है, यह विद्वानों के लिए सर्वथा अभक्ष्य है। अन्य भिक्षा के लिए प्रयत्न करो' :

भिक्षामन्यां भिक्षय मा ते मनोऽस्तु श्वभक्षणे। ....श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥

(महाभा० शान्ति० १४१.६८)

विश्वामित्र ने कहा : 'इस भीषण दुर्भिक्ष में और कुछ भी नहीं मिल रहा है, मैं क्षुधार्त हूँ, जीवन से निराश होकर ऐसा कर रहा हूँ।' अगस्त्य ने भी वातापि-असुर का भक्षण किया था। मैं आत्मरक्षा के लिए ऐसा नृशंस कर्म कर रहा हूँ।' श्वपच ने कहा : 'शिष्ट लोग प्राण भी त्याग देते हैं, पर अभक्ष्य-भक्षण नहीं करते। क्षुधा एवं अनशन से मरकर अपने अभीष्ट कामों को प्राप्त करते हैं' :

कामं नरा जीवितं सन्त्यजन्ति न चाभक्ष्ये क्वचित् कुर्वन्ति बुद्धिम्।
सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीह विद्वान् प्रियस्वकामं सहितः क्षुधैव ॥

(महाभा० शान्ति० १४१.७८)

विश्वामित्र ने कहा कि ज्ञानोत्पत्तियोग्य शरीर की रक्षा प्रत्येक प्रकार से करनी चाहिए। इसीसे यश एवं स्वर्ग सम्भव है। मैं व्रत एवं तपस्या में निरत होकर इस अभक्ष्य-भक्षण का प्रायश्चित्त कर लूँगा। इसीमें मुझे पुण्य की प्रतीति होती है। मैं प्राणसंकट में पड़कर ऐसा करने पर भी तुम्हारी तरह चाण्डाल नहीं बनूँगा, क्योंकि तीव्र तप द्वारा अभक्ष्यभक्षणजनित दोष दूर करने में भी समर्थ हूँ :

यद्यप्येतत् संशयात्मा चरामि नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव।

(वहीं १४१.८०)

विश्वामित्र ने यह भी कहा कि मैं बहुत समय से निराहार भटक रहा हूँ। मेरे जीवित रहने का अन्य कोई उपाय नहीं है। क्षत्रिय का पालन ऐन्द्र धर्म है। ब्राह्मण का आग्निक धर्म है। वेदरूप वह्नि ही ब्राह्मण का बल है। क्षुधा को शान्त-कर मैं अपने उस वेद की रक्षा करूँगा :

ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः।
ब्रह्म वह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ॥

(वहीं १४१.६४)।

उन्होंने कहा कि मैं जीवन की कामना से अभक्ष्यभक्षणार्थ बुद्धिपूर्वक प्रस्तुत हूँ। इससे प्राण धारणकर ईन्धन से उद्दीप्त अग्नि के तुल्य तपस्या, विद्या एव तत्त्वज्ञान से सब अशुभों, पापों को मिटा दूँगा और आत्मा को बलवान् बना लूँगा।

बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥

(वहीं १४१.६७)

यहाँ स्पष्ट ही तपस्या द्वारा आत्मबल के संपादन की बात कही गयी है।

अन्त में मुनि ने ब्राह्म-विधान, अग्निसंस्कार करके ऐन्द्राग्नेयविधि से उस चरुकाश्रपण किया और यथाविधि दैव एवं पित्र्यकर्म करने का निश्चय किया। जब विश्वामित्र इन्द्रादि देवताओं एवं पितरों को यथाक्रम भाग देने के लिए उद्यत हुए, उसी समय इन्द्र ने संपूर्ण विश्व की प्रजा का आप्यायन करते हुए वर्षा की और औषधियाँ उत्पन्न कर दीं। भगवान् विश्वामित्र तपस्या से दग्धकिल्बिष होकर महती सिद्धि को प्राप्त हुए। विश्वामित्र ने उस दैव्य एवं पित्र्य कर्म को समाप्त किया और उस हवि का भक्षण न कर औषधियों से देवों एवं पितरों को तृप्त किया :

ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेणैर्विधिना मुनिः।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं श्रपयतः स्वयम्॥
ततः समारभन् दैवं पित्र्यं कर्म च भारत।
आहुत्य देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात्॥

एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः। संजीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः॥
विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्बिषः। कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम्॥
स संहृत्य च तत्कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः। तोषयामास देवांश्च पितॄंश्च द्विजसत्तमः॥

(महाभा०, शान्ति० १४१.९५–९९)

यहाँ स्पष्ट है कि विश्वामित्र को वह श्वमांस खाना नहीं पड़ा। उसके पहले ही इन्द्रादि का आसन डोल गया। उन्हें शीघ्र वृष्टि एवं औषधियाँ उत्पन्न करनी पड़ीं। कथा का अभिप्राय इतना ही है कि भीषण आपत्ति के समय जिस किसी तरह भी जीवन धारण का प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी यहां अभक्ष्य-भक्षण का विधान कथमपि नहीं है।

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत्॥
एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते॥
तस्मात्कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना॥

(वहीं, १००–१०२)

अतः सुस्पष्ट है कि ऐसे वचनों से श्वमांसभक्षण का समर्थन अनभिज्ञता ही है।

एक ही कर्म कहीं पुण्य होता है तो स्थानान्तर में पाप भी। अहिंसा यद्यपि धर्म है, तथापि डाकू या हत्यारे को बचाने के लिए अहिंसा पाप ही है। प्रसंगान्तर में इसे विस्तार से लिखा जा चुका है। ब्रह्मसूत्र में भी इस विषय की चर्चा है।

उपनिषद् में उषस्तिचाक्रायण का उपाख्यान है। उन्होंने क्षुधापीड़ित होकर हस्तिपक का उच्छिष्ट कुल्माष खाया था। जब उसने पानी देने को कहा, तब उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'पानी तो हमें कहीं भी मिल सकता है, अतः तुम्हारा पानी नहीं पी सकते, कुल्माष तो कहीं मिल नहीं रहे हैं, अतः उच्छिष्ट कुल्माष खाकर प्राण बचाना उचित है। **सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्** (ब्र० सू० ३.४.२८)। प्राणसंकट होने पर सर्वान्नग्रहण की अनुमति हो सकती है, क्योंकि उषस्ति के आख्यान में ऐसा ही देखा गया है।

संसार में दुर्बल के लिए भी क्षमा, दया आदि का अवकाश रहता है, क्योंकि किसीकी अपेक्षा सभी दुर्बल होते हैं और किसीकी अपेक्षा सभी प्रबल।

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते।
उपर्युपरि पश्यन् हि सर्व एव दरिद्रति ॥

अपने से नीचे की ओर दृष्टि डालने पर सभी अपना महत्त्व समझने लगते हैं, परन्तु अपने से ऊपर की ओर देखने से हरएक अपने को क्षीण, दुर्बल या दरिद्र समझने लगता है। अतः दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति को भी अपने से निम्नश्रेणी के लोग मिल सकते हैं। वह उनके प्रति क्षमा एवं दया कर सकता है। दरिद्रसे दरिद्र को भी उससे भी अधिक दरिद्र मिल सकते हैं और वह उन्हींको थोड़ी-सी भी सहायता पहुँचाकर पुण्य का भागी हो सकता है।

अतएव आपका यह कहना भी कि "एक पतला-दुबला व्यक्ति मच्छर जैसा जा रहा है और कोई उसका कान खींच लेता है, अब यह मच्छर सिर से पैर तक काँपता कहता है, 'महाशय मैं आपको क्षमा करता हूँ' तो कौन उसपर विश्वास करेगा" (पृ० २४६), दुरभिमानमूलक ही है। यह कहना भी कि—

"तावानेवास्ति पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥

अर्थात् वही पुरुष है जो न सहन करता और न क्षमा करता है, क्षमा करनेवाला तथा सहन करनेवाला न तो स्त्री है और न पुरुष" (पृ० २४७), गलत है। प्रस्तुत श्लोक एकदेशी है। फिर सहन एवं क्षमा में क्या भेद है, यह भी आपने नहीं बताया। लोक में तो सहन और क्षमा में कोई भेद नहीं होता। क्या क्षमा-दयाशील एवं सहिष्णु होना दुर्गुण है? क्या **अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्** यह गीता का उपदेश असंगत है?

वस्तुतः संसार में अनेक प्रकार के अधिकारी होते हैं। सबके लिए एक उपदेश देना शास्त्राध्ययन-शून्यता का ही परिणाम है। ब्राह्मण का असन्तोष दोष है, पर क्षत्रिय का वही गुण होता है।

'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः ।'
'शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ।'

ऋषि-मुनि लोग शम से सिद्धि प्राप्त करते हैं, पर राजा नहीं। वैसे तो किसी व्यवहार-परायण के लिए 'न मारना' ही उपदेश पर्याप्त नहीं। किन्तु उसे तो समझना चाहिए कि किसीको मारना पाप है, लेकिन मार खाना महापाप है। किसी पर अत्याचार करना पाप है, पर किसीके अत्याचार का शिकार बनना है महापाप! इतना ही नहीं, अत्याचार, अनर्थ के प्रति क्रोध भी होना आवश्यक है, उसीको यहाँ 'अमर्ष' कहा गया है। भीमसेन ने इसीकी चर्चा करते हुए कहा था कि 'अमर्ष (क्रोध) से शून्य निस्तेज व्यक्ति का न मित्र आदर करता है और न शत्रु ही उससे डरता है :

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ।

जिसे अपने माता-पिता के अपमान या माँ-बहनोंकी बेइज्जती पर क्रोध नहीं आता, वह अमर्षशून्य (क्रोधशून्य) व्यक्ति निंद्य है। इसी प्रकार राष्ट्रध्वज या राष्ट्र-मर्यादाओं के अतिक्रमण एवं अवमान में भी अमर्ष का महत्त्व है। निकृति एवं क्षमा अर्थ का मूल है : अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च। 'यहाँ 'निकृति' का अर्थ है, छल-छद्म और क्षमा का अर्थ है, लतखोर होना, अपमान पी जाना। शौर्य-वीर्य की दृष्टि से वह निन्द्य ही है।

शास्त्रों में परिस्थिति के अनुसार सब वस्तुओं को आदरणीय कहा गया है, किन्तु सिद्धान्त का निश्चय पूर्वापर का समन्वय करके ही किया जाता है। महाभारत के अनुसार भीष्म पितामह का उपदेश सुनकर भी विदुर, अर्जुन आदि अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचे। युधिष्ठिर के प्रश्न पर विदुर ने कहा कि बहुश्रुतत्व, तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञक्रिया, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य, संयम ये सब आत्मसम्पद् हैं, इनको प्राप्त करो। इन्हींसे धर्म और अर्थ मिलते हैं। धर्म से ही ऋषि लोग संसार का अतितरण करते हैं। धर्म में ही सभी लोक प्रतिष्ठित हैं। धर्म से ही देवता वृद्धि को प्राप्त हुए। धर्म में ही अर्थ भी प्रतिष्ठित है। सर्वश्रेष्ठ धर्म है, अर्थ मध्यम है और काम है उन सबमें छोटा। अतः सर्वदा धर्म-प्रधान ही होना चाहिए। सर्वभूतों से आत्मतुल्य बरताव करना उचित है :

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ॥
धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि ॥

(महाभा० शान्ति० १६७. ५,८,६)

वहीं अर्जुन ने अर्थ की ही श्रेष्ठता बतलायी :

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।
कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥
अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥

(महाभा० शान्ति० १६७.११-१२)

अर्थात् खेती, व्यापार, गोरक्षा और विविध शिल्प ये ही सब अर्थके स्रोत हैं। अर्थ से ही कर्मों में व्यतिक्रम नहीं होता। अर्थ के बिना धर्म और काम दोनों ही निष्पन्न नहीं हो सकते। अर्थवान् प्राणी ही धर्म का आचरण एवं काम का सेवन कर सकता है। अतः धर्म और काम दोनों अर्थ के ही अंग हैं। अर्थसिद्धि से ही दोनों निष्पन्न होते हैं। इसीलिए अर्थवान् व्यक्ति की सब लोग वैसे ही आराधना करते हैं, जैसे सारी प्रजा ब्रह्मा की। श्मश्रुल, जटिल, मुण्डी, काषायवसन और वल्कला-जिन-धारी तपोधन तथा शान्त विद्वान् भी अर्थापेक्षी होते हैं। स्वर्गमनाकांक्षी भी अन्ततः अर्थाकांक्षी ही होते हैं। आस्तिक-नास्तिक, नियमनिष्ठ, अज्ञानी-ज्ञानी सभी अर्थसापेक्ष होते हैं। अतः भोगों से भृत्यों और दण्डों से शत्रुओं को समन्वित करने-वाला अर्थवान् ही होता है।

विषयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम्।
कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥

(महाभा० शान्ति० १६७.१३)

नकुल और सहदेव ने भी अर्थ की प्रशंसा की है, किन्तु धर्मयुक्त अर्थ एवं अर्थ-युक्त धर्म ही पुरुषार्थ बताया है :

अर्थयोगं दृढं कुर्याद्योगैरुच्चावचैरपि।
अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परम प्रिये।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥
योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः।
तद्धित्वामृतसंवादं तस्मादेतौ मताविह ॥

(महाभा० शान्ति० १६७-२२-२४)

भीमसेन ने काम की ही प्रधानता वर्णन करते हुए कहा कि संसार में कोई भी अकाम पुरुष अर्थ की अपेक्षा नहीं करता और न वह धर्म ही चाहता है। निष्काम काम भी क्यों चाहेगा ? अतः संसार में काम ही प्रधान पुरुषार्थ है। काम से ही ऋषि लोग बड़ी से बड़ी तपस्या करते हैं; कन्दमूल-फलाशी, वायुभक्ष होकर भी वेदोपवेदादि के स्वाध्याय में निरत होते हैं; श्राद्ध-यज्ञादि क्रियाओं या दान-प्रतिग्रह में व्यापृत होते हैं। वैश्य व्यापार में, किसान खेती में, गोप गोपालन में कारु और शिल्पी शिल्प में—सभी काम से ही व्यापृत होते हैं। देवकर्म करनेवाले भी काम से ही व्यापृत हैं। कहाँतक कहें, काम से ही प्रेरित होकर लोग समुद्र में भी प्रवेश करते हैं, अतः काम ही सब कुछ है। धर्म और अर्थ का भी सार काम ही है। जैसे पिण्याक से तल श्रेष्ठ है, मट्ठे से घृत और काष्ठ से पुष्प-फल वैसे ही धर्म और अर्थ से काम ही श्रेष्ठ है :

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात्कामो विशिष्यते॥
एतत्सारं महाराज धर्मार्थावत्र संस्थितौ।
नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थ-धर्मतः॥

(महाभा० शान्ति १६७.२९,३४-३५)

अन्त में भीमसेन ने कहा।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे॥

(महाभा० शान्ति० १६७.४०)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तीनों का समानरूप से आदर करना चाहिए। जो इनमें से किसी एक का ही भक्त है, वह जघन्य है। जो अर्थ-काम में दक्षता प्राप्त करता है, वह मध्यम है। उत्तम वही है जो त्रिवर्ग में निरत है।

अन्त में युधिष्ठिर ने सबकी प्रशंसा करते हुए कहा कि जो न पाप में रत है, न पुण्य में तथा न अर्थ एवं काम में रत है, जो निर्दोष और लोष्ठ (ढेला) तथा कांचन में समबुद्धि हैं, वही सुख-दुःख और अर्थसिद्धि (कर्मवृन्द) से विमुक्त होता है। जरा-विकारादि से युक्त जन्म-मरणवाले भूतकर्मों एवं संस्कारों द्वारा वह पुनः जन्म-मरण को ही प्राप्त होता रहता है। सबमें मोक्ष ही प्रशंसनीय है। स्नेह, राग, द्वेषादि के रहते मोक्ष असम्भव है। इसलिए प्रिय-अप्रिय से विमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है। पूर्वोक्त अधिकारी त्रिवर्गहीन होने पर भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से मोक्ष ही मुख्य पुरुषार्थ है :

यो वै न पापैर्निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषः समलोष्ठकाञ्चनो विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः॥
(महाभा० शान्ति० १६७.४४)

आपने अप्रतीकार की समालोचना ठीक ही की है। किंतु अर्जुन के अप्रतीकार और आधुनिक नेताओं के अप्रतीकार में महान् अन्तर है। वस्तुतः अप्रतीकार का प्राधान्य सत्याग्रह से प्रचलित हुआ। पर यह भी न भूलना चाहिए कि वास्तविक अहिंसा एवं सत्य का महत्त्व कम नहीं है। यह अलग बात है कि वह हममें है या हम उसका केवल ढोंग ही रचते हैं। अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः (योग-सूत्र २.३५) मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसके समीप आते ही हिंस्र प्राणियों की हिंसा-प्रवृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। 'रामचरितमानस' में चन्द्रमा मुनि के आश्रम में इसका प्रत्यक्ष दर्शन होता था। वहाँ मूषक, मार्जार, व्याघ्र, बकरे भी मेलजोल से रहते थे। राष्ट्रिय स्वतंत्रता के आंदोलन में गांधीजी ने उसी-का प्रयोग करना चाहा। दूसरे लोगों ने कम से कम नीति के रूप में इसे अपनाया। क्रांतिकारियों की छिटपुट कार्यवाहियों की अपेक्षा यह मार्ग अधिक सफल रहा। एक सैनिकशक्तिसम्पन्न शासक के सामने हिंसामार्ग अपनाने का अर्थ होता है, भीषण जनक्षय। अतः अहिंसा का आश्रय लेकर अन्यायों के विरुद्ध विपक्षी पर प्रहार न कर उसके प्रहार सहते हुए आगे बढ़ना एवं विरोधी संघटन बढ़ाने का प्रयत्न करना अनुचित नहीं। आज आप लोग भी इसका प्रयोग करते ही हैं।

भगवान् कृष्णको आप महान् उदाहरण मानते हैं। उन्होंने कंस आदि का वध किया और गीता में अहिंसा का उपदेश दिया। ऐसे ही राम का उदाहरण भी आपने प्रस्तुत किया है (पृ० २४७-२४८)। किंतु कृष्ण एवं राम की वेदादि-शास्त्रनिष्ठा की ओर आपका ध्यान क्यों नहीं जाता? वस्तुतस्तु कृष्ण ने केवल अहिंसा का ही उपदेश नहीं दिया, युद्ध का भी तो उपदेश दिया है। अन्यायी, अत्याचारी को दण्ड देना उसके कल्याण के लिए अपेक्षित है, अतः वह हिंसा भी अहिंसा ही है। आज के सब आक्रामक भी तो यही कहते हैं कि हम शांति-स्थापनार्थ ही युद्ध करते हैं।

यद्यपि सहृदय शासकों पर ही अहिंसात्मक आंदोलन अधिक सफल होता है, तथापि क्रूरवृत्ति शासकों की क्रूरता को भी अहिंसात्मक आंदोलन शिथिल कर देता है। अहिंसात्मक अप्रतीकार गतिरोध भी मिटाता है, प्रह्लाद की भी अप्रतीकारात्मक भक्तिनिष्ठा थी। हनुमान् ने भी पाताल से राम को लाते समय शत्रुकृत प्रहारों को नगण्य मानकर प्रतीकार में समय न लगाकर श्रीराम-लक्ष्मण को वानरी सेना में पहुँचाने में ही संलग्न रहे।

आपने कई पृष्ठों में महान् व्यक्तियों को देवत्व-प्रदान" शीर्षकसे (पृ० २९३) लिखा है कि दुर्भाग्य से पूर्वजों द्वारा स्थापित आदर्शों के स्मरण की परंपरा में विकृति आ गयी। यद्विभूतिमत् सत्त्वम् के अनुसार यह भ्रमपूर्ण विश्वास हुआ कि ऐसे सब महापुरुष अतिमानव हैं। सर्वसाधारण लोग इन्हें 'देवता' की श्रेणी में ढकेल कर अपने आपको परिस्थितियों का दास समझकर प्राप्त कर्तव्य से पलायन करते हैं। परमात्मा पृथ्वी पर मुझे विपत्तियों के भँवर से मुक्त कर किनारे पर लगाये।"

आप अवतारों की पूजा की अपेक्षा उनके आदर्शों के अनुकरण पर ही बल देते और कहते हैं कि "उद्यम ही सर्वशक्तिमान् है" (पृ० २५६)। यह ठीक है, पुरुषार्थ का महत्त्व अवश्य है। किन्तु यह भी न भूलना चाहिए कि पुरुषार्थ के साथ दैवीबल की भी अपेक्षा होती ही है। जैसे दो पंखों से ही पक्षी उड़ पाता है, वैसे ही दैव एवं पुरुषकार दोनों मिलकर ही कार्यसिद्धि के हेतु होते हैं :

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ (गीता १८.१४)

अर्थात् शरीर, आत्मा, विविध करण, एवं चेष्टाएँ तथा पाँचवाँ दैव यानी फलोन्मुख प्राक्तन कर्म प्रत्येक कार्य में आवश्यक है; फिर भी पुरुषार्थ न कर केवल 'दैव-दैव' की पुकार लगाना आलसियों का ही काम है। साथ ही ईश्वर अपेक्षा न कर अपने ही बौद्धबल, बाहुबल के अभिमान में रहना भी पतन का मूल है। इसीलिए भगवान् ने बताया कि हे अर्जुन, सर्वकाल में मेरा स्मरण भी और साथ ही युद्ध भी करते रहो। अर्थात् देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार जो भी कर्त्तव्य उपस्थित हों, उनका पालन करते रहो :

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।

आभीरों द्वारा पराभूत होने पर अर्जुन ने कहा था कि यह वही मेरा गाण्डीव धनुष है, वे ही मेरे अमोघ बाण हैं, वही नन्दिघोष रथ है, वे ही घोड़े हैं और वही मैं रथी हूँ, फिर भी केवल भगवान्के बिना सब कुछ वैसे ही निरर्थक हो गया जैसे भस्म में डाली आहुति, छद्म से की गयी उपासना, या ऊषर में डाला बीज :

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥
(श्रीमद्भाग० १.१५.२१)

पुरुषार्थ श्रेष्ठ है, हिम्मत अच्छी है, पर उसी सीमा तक जहाँ तक अहंकार की बात न आये। साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि श्रीराम एवं श्रीकृष्ण सचमुच

परमेश्वर थे। उन्हें ईश्वरकोटि में ढकेला नहीं गया। जिन ग्रन्थों के आधार पर राम, कृष्ण का अस्तित्व सिद्ध होता है, उन्हींसे उनका ईश्वरत्व भी सिद्ध होता है और उनकी पूजा, ध्यान, जप पुण्यदायक माना जाता है :

प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः।

(वाल्मी० रामा० युद्ध १२८.११७)

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः।
जज्ञे विष्णुर्महातेजाः ···· ॥ (वा० रा०)

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। (भाग० १.३.२८)

आपने लिखा है कि "जब रावण सीता को हर ले गया तब श्री रामचन्द्रजी ने उसी प्रकार विलाप किया और उसी प्रकार रोये जैसा कि हममें से कोई अपने पारिवारिक जीवन में विपत्ति आने पर करेगा। ऐसा कर उन्होंने संसार के समक्ष घोषित कर दिया कि वे भी अन्य किसीके समान ही मनुष्य हैं" (पृ० २५७)। यही देखकर तो रावण भी राम को मनुष्य ही समझता था किन्तु आस्तिक तो गीता के इस वचन के आधार पर कि—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

श्रीराम या श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर परमात्मा ही मानते थे और मानते हैं। श्लोक का स्पष्ट यह अर्थ है कि मैं अजन्मा, अव्यय, सर्वभूतों का ईश्वर निजी सच्चिदानन्द-स्वरूप होता हुआ भी प्रकृति का आश्रयण कर अपनी माया से श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि रूपों से व्यक्त होता हूँ।

आद्य शंकराचार्य ने भी अपने गीता-भाष्य में स्पष्ट लिखा है :

नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम्। अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी॥ स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत् तस्य स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-स्वभावोऽपि सन् मायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन्निव लक्ष्यते।

अर्थात् नारायण अव्यक्त से भी परमोत्कृष्ट हैं। संपूर्ण ब्रह्माण्ड अव्यक्त से उत्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड के भीतर भू आदि सप्तलोक और यह सप्तद्वीपोंवाली मेदिनी रहती है। उन नारायण भगवान् ने इस जगत् की रचना कर उसकी स्थिति के लिए

प्रथम मरीचि प्रभृति प्रजापतियों को रच और उन्हें वेदोक्त प्रवृत्तिलक्षण धर्म का उपदेश किया। पश्चात् सनकादि को उत्पन्न कर उन्हें ज्ञान-वैराग्य-लक्षण निवृत्तिधर्म का उपदेश किया।....वे भगवान् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज से सदा सम्पन्न रहते हुए अपनी वैष्णवी त्रिगुणात्मिका माया को वश में कर, अज, अव्यय तथा भूतों के ईश्वर एवं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप होते हुए भी अपनी माया से ही देहवान् जैसे होकर, लोकानुग्रह करते हुए-से प्रतीत होते हैं। इससे स्पष्ट है कि भगवान् मनुष्य जैसे प्रतीत होते हुए भी मनुष्य नहीं, साक्षात् ईश्वर ही थे।

अतएव "महान् व्यक्तियों को देवत्व प्रदान....। यह भ्रमपूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ कि ऐसे सब महापुरुष अतिमानवी हैं" (पृ० २५३-२५४) यह सब आपका कथन भ्रमपूर्ण तथा भ्रामक ही है। "लोग महापुरुषों को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल देते हैं" (पृ० २४६) आपके इस कथन के आधार पर ही आपके कार्यकर्ता ने एक बड़ी सभामें यह भी कहा था कि लोगों ने राम, कृष्ण को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल दिया। रामायण, महाभारतादि सद्ग्रन्थों को प्रमाण न माननेवाले नास्तिक लोग ही राम, कृष्ण को परमात्मा न मानकर महापुरुष मानते हैं। अतः किसी लोकमान्य तिलक आदि जीव को एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण को समानरूप से महापुरुष की कोटि में रखना नितान्त भ्रम ही है। वाल्मीकि, वशिष्ठ, व्यास, प्रभृति महर्षिगण तो श्रीराम, श्रीकृष्ण को परात्पर ब्रह्म ही मानते हैं।

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्योऽग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या.... ॥

अर्थात् राम सूर्य के भी सूर्य हैं, अग्नि के भी अग्नि हैं, प्रभु के भी प्रभु हैं एवं श्री के भी श्री हैं।

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥

(भाग० ९.१२ २२)

अर्थात् जिन लोगों ने राम का स्पर्श किया, दर्शन किया, जिन्होंने उनके साथ संवेश किया, जिन्होंने राम का अनुगमन किया वे सभी कौशलपुरवासी दिव्यधाममें पहुँच गये, जहाँ महामहायोगीन्द्र एवं मुनीन्द्र जाया करते हैं। उदीर्ण रावण के वधार्थी देवों की प्रार्थना पर साक्षात् विष्णु ही राम के रूप में प्रकट हुए थे।

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥ (भागवत)

अर्थात् सभी वस्तुओं का याथात्म्य परम कारण ब्रह्म या ईश्वर में निहित होता है। उस कारण का भी परमार्थ स्वरूप कृष्ण ही हैं। फिर उनसे भिन्न कौन

वस्तुतत्त्व हो सकता है जिसका निरूपण किया जाय ? अनेक उपनिषदें भी समारोह के साथ श्रीराम, श्रीकृष्ण का साक्षात् परमात्मा होना बतला रही हैं। तब उनको परमात्मा की श्रेणी में ढकेलना कैसे कहा जा सकता है ?

उद्यम सर्वशक्तिमान् है, यह तो ठीक है, किन्तु 'उद्यम ही सर्वशक्तिमान् है' यह दुरभिमानमात्र है। भारतीय परंपरा के अनुसार तो सर्वशक्तिमान् सिवा ईश्वर के और कोई है ही नहीं। ईश्वर-कृपासहकृत उद्यम अवश्य परमादरणीय एवं महत्त्वपूर्ण है। भगवान् ने भी **मामनुस्मर युद्ध च** के अनुसार परमेश्वराश्रयण एवं कर्तव्य दोनों का समुच्चय आवश्यक बतलाया है

आप कहते हैं कि "जान बचाने की इसी प्रवृत्ति से लोग महापुरुषों को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल देते हैं। साधारण मनुष्य जब विपत्तियों से घिर जाता है तब वह हतप्रभ होकर भयभीत हो जाता है। अब क्या करें, यह न समझ सकने के कारण वह परमात्मा की शरण लेता है। वह रोता-बिलखता हुआ परमात्मा की शरण लेता है। निराशा के उस अंधकार में उसे परमात्मा को छोड़ आशा की कोई किरण नहीं दिखायी देती। कभी-कभी हम महान् सन्तों और विद्वानों को भी इस प्रकार विलाप करते देखते हैं। यदि इन परिस्थितियों में कोई महापुरुष उपस्थित हो जाता है और अपने पौरुष, धैर्य तथा बुद्धिमत्ता से घटनाचक्र में परिवर्तन कर देता है तो उसे तुरन्त देवताओं की श्रेणी में डाल दिया जाता है। किन्तु यह तो कोरी दुर्बलता ही है कि जिसके कारण व्यक्ति ऐसे महापुरुषों को मानवों की कोटि से बाहर ढकेल देता है" (पृ० २५६)।

यद्यपि कर्तव्य-विमुख होकर केवल ईश्वर पर निर्भर होने का बहाना बनाना निंद्य है और वही 'दैव दैव आलसी पुकारा' का उदाहरण है। फिर भी विपत्ति में ईश्वर की शरण ग्रहण करना अनुचित नहीं है। तभी सन्त और महापुरुष कर्तव्य-परायण होते हुए भी ईश्वरशरणागति को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और उस परिस्थिति में घटनाचक्र बदलनेवाले का आगमन निश्चय ही ईश्वर-कृपा का प्रभाव है। अवश्य ही हर प्रभावशाली महापुरुष को ईश्वर मान लेना कमजोरी है, किन्तु श्रीराम, श्रीकृष्ण को उस कोटि में डालना अत्यन्त अज्ञान है। अतएव उन्हें 'अपने समान ही मनुष्य समझने' का (पृ० २५७) प्रमाद कभी भी नहीं करना चाहिए। तभी तो अंगद ने कहा था :

राम मनुज कस रे शठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा ॥

अन्य लोगों ने भी कहा है :

तात राम नहि नरभूपाला। भुवनेश्वर कालहुं के काला ॥

आप यह भी कहते हैं कि "राजपूत रणक्षेत्र में मृत्यु का एकमात्र विचार लेकर युद्ध में घुसे थे, विजय की इच्छा से नहीं" (पृ० २६१)। "जैसी इच्छा वैसा परिणाम, यदि विजय की इच्छा सर्वोपरि है तो विजय प्राप्त होती है। जो केवल मृत्यु की कामना करता है, उसे मृत्यु अवश्य मिलती है। राजपूतों का बलिदान निःसंदेह रीति से असाधारण पराक्रम, स्वाभिमानी तथा निडर वृत्ति का परिचायक है, परन्तु साथ ही वह एक गलत एवं आत्मघाती आकांक्षा का प्रतीक है" (पृ० २६२)। किन्तु यह विचार अत्यंत भ्रामक है। भारतीय शास्त्रों के अनुसार एक क्षत्रिय युद्ध में मरने के लिए नहीं कूदता कर्तव्यपालन की ही दृष्टि से युद्ध में संलग्न होना उसका धर्म है। अपने राष्ट्र, प्रान्त, ग्राम एवं वैयक्तिक धर्म-संस्कृति, धर्म, बपौती-मिलकियत की रक्षा के लिए युद्ध में कूदना धर्म है। उसमें जय और पराजय दोनों ही सम्भव होते हैं। इसीलिए भगवान् ने कहा है कि सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय की चिन्ता बिना किये सब समान मानकर कर्तव्य-पालन की दृष्टि से ही युद्ध करना चाहिए :

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ (गीता…)

गीता कहती है कि मारे जाओगे तो स्वर्ग पाओगे और जीतोगे तो राज्य :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् । (गीता…)

आम तौर पर बलाबल का परीक्षण कर बलवान् होकर या बलवान् का आश्रय लेकर ही युद्ध करना श्रेष्ठ है। अन्यथा सन्धि का प्रयत्न करना ही उत्तम है। सम्मानपूर्ण सन्धि न हो सकने एवं निष्क्रियता में पापकी संभावना होने पर निर्बलता होने और बलवान् का आश्रय न मिलने पर भी युद्ध में कूदना आवश्यक है। जैसे जहाँ माता, पिता, गुरुजनों का वध हो रहा हो, गोवध या मंदिरों का विध्वंस हो रहा हो, वहाँ निष्क्रिय होकर गुरुजनों का वध देखना निश्चय ही पाप है। ऐसी स्थिति में युद्ध ही श्रेष्ठ है। पूर्ण निश्चय के साथ युद्ध में कूदनेवाले थोड़े-से भी वीर बड़े-से-बड़े शत्रुदल को पराजित कर सकते हैं। यदि विजय न मिल सकी तो भी वे कर्तव्य-पालन-परायण वीर युद्धोपासना से ब्रह्मलोक जैसी दिव्यगति पाते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥

(महाभा० उ० प्र० ३३.६१)

अर्थात् योगयुक्त परिव्राट् एवं रण में अभिमुख, युद्ध करता हुआ मारा गया योद्धा दोनों सूर्यमण्डल भेदकर ब्रह्मलोक के भागी होते हैं। केवल कामना से न विजय

मिलती है और न स्वर्ग ही। भले ही कामना से कोई मृत्यु पा जाय, किन्तु धर्म एवं उपासना से ही कामना सफल होती है। धर्महीन व्यक्ति भले ही स्वर्ग एवं विजय चाहे, पर उसे मिलेगा नरक एवं पराजय ही। वस्तुतः वीर योद्धा मरने की भावना कभी नहीं करता, वह तो अपने को काल का काल भी महाकाल, महामृत्युंजय मानकर अहंग्रहोपासाना करता हुआ युद्ध में आगे बढ़ता है। उसी भावना के अनुसार मरने पर सूर्यमण्डल भेदकर मृत्युंजय पद जाता है।

आप कहते हैं कि "क्षात्र-धर्म की एक गलत धारणा के कारण इन वीरों ने बलिदान की आकांक्षा लेकर स्वयं को नष्ट कर दिया, यह एक दुर्बलता है। समझदार व्यक्ति के लिए मरना-मारना कभी भी आदर्श नहीं हो सकता" (पृ० २६-६३)। किन्तु यह धारणा भी गलत ही है, क्षात्रधर्म धर्मशास्त्रसम्मत धर्म है। उसके अनुसार वीरों का युद्ध करना धर्म है। उसमें कामना न होने पर भी विजय एवं मृत्यु दोनों सम्भव हैं। वीर में शौर्य, वीर्य, ओज, तेज के साथ-साथ धैर्य, दाक्ष्य, विवेक, विज्ञान की भी अपेक्षा होती है। जहाँ विवेक, विज्ञान, धैर्य का प्रतीक योगेश्वर कृष्ण एवं शौर्य, वीर्य, ओज, तेज का प्रतीक धनुर्धर पार्थ होता है वहीं विजय, भूति एवं ध्रुवा नीति रहती है :

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ (गोता ····)

आजकल कई लोगों में जोश होता है, परन्तु होश नहीं। कई बड़े-बड़े विद्वानों में होश बहुत होता है, परन्तु जोश नहीं। वे सर्वत्र फूंक-फूंककर पाँव धरते हुए संघर्ष से, खतरे से बचने का ही प्रयत्न करते रहते हैं। देश के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं, माँ-बेटियों की इज्जते लुट रही है, शास्त्र एवं धर्म की मर्यादाएँ नष्ट हो रही हैं, गायें कट रही हैं, तो भी चुपचाप सोचते रहते हैं। ऐसे ही लोगों के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो अमर्षी और अक्षमी है, वह न स्त्री है और न पुमान्। कृषि सूख जाने पर वर्षा का क्या अर्थ ? समय चूक जाने पर फिर पछताने का भी क्या फल ?' क्षात्रधर्म के अनुसार बहुत सोच-विचार कर युद्ध का अवसर खोना अधर्म है। **विद्यमान रिपु पाइ रन, कायर कथहिं प्रलाप।** ऐसे युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होना नष्ट होना नहीं। उससे वीरता को प्रेरणा मिलती है, नयी तैयारी होती है, नया प्रयत्न होता है और अन्त में शत्रु का निःशेष नाश होता है। संसार के सभी युद्धों में कुछ लोगों के मरने के बाद ही तो विजय मिली है। मरना-मारना भले ही उद्देश्य न हों, परंतु विजय के लिए मरना-मारना पड़ता ही है। राम की विजय के लिए कितनों को मरना पड़ा, कितनों को मारना भी पड़ा। देवासुर-संग्राम, कौरव-पांडव आदि सभी संग्रामों की यही स्थिति रही है। युद्ध का अर्थ ही है शत्रुका स्वायत्तीकरण। वध, बन्ध, धनापहरण आदि द्वारा पराभिभव उसका अवश्यम्भावी परिणाम है।

आप कहते हैं कि "विजयशाली की ही पूजा होती है" (पृ० २५८) । गीता की दृष्टि से सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय में समबुद्धि से युक्त कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति ही साधकरूपमें आदरणीय होता है; किन्तु पूज्य तो स्वयंप्रकाश, सत्, सदा अनभिभूत परमेश्वर ही है। निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, ब्रह्म इसी दृष्टि से पूज्य होता है। देवता, ऋषि एवं सत्पुरुष उसी सत्स्वरूप परमेस्वर को प्राप्त करनेवाले होने से पूज्य हैं। सत् को जानने एवं प्राप्त करनेवाला भी सत्स्वरूप हो होता है, वेदान्त का डिण्डिम घोष है कि ब्रह्मवित् ब्रह्म ही हो जाता है : **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**

इसके अतिरिक्त जैसे ज्योतिस्वरूप सूर्य के सम्बन्धविशेष से चन्द्र, नक्षत्र आदि भी ज्योतिष्मान् होते हैं, वैसे ही ईश्वर की उपासना के सम्बन्ध से उपासकों में भी ईश्वर का ऐश्वर्य सन्निविष्ट हो जाता है, अतः उनकी पूजा भी फलदायिनी है। 'सिद्ध' के अतिरिक्त 'साधक' भी स्वधर्मनिष्ठा, कर्तव्यपालन आदि के प्रभाव से सत्स्वरूप ब्रह्मनिष्ठ होकर भविष्यत्काल में ब्रह्मभाव को प्राप्त करते हैं, अतः उनका भी आदर उचित ही है। इस दृष्टि से बाह्य सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय नगण्य होने से कर्तव्यनिष्ठा के कारण बलिदान की भी पूजा होती है। इसी कारण ईसा आदि की भी पूजा हुई। सती एवं शूर बाह्यदृष्टि से सफल न होते हुए भी कर्तव्यनिष्ठ एवं परमार्थफलप्राप्ति से सम्पन्न होने के कारण पूज्य हैं।

कौरव-पाण्डवों की सन्धि कराने के लिए श्रीकृष्ण कौरवों के दरबार में गये, तो विदुर द्वारा सफलताविषयक प्रश्न किये जाने पर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा था कि यद्यपि सन्धि की सफलता में हम आशावान् नहीं, फिर भी धर्मकार्य के प्रयत्न का अलौकिक पुण्य तो प्राप्त होगा ही :

धर्मकार्यं तनूशक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तं भवति तत्पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥

(महाभा० उ० प० ९२.६)

पंक में निर्मग्न गाय के उद्धरण का समुचित प्रयास करनेवाला प्राणी उसे बचाने में सफल न होने पर भी सत्प्रयत्नजनित पुण्य का भागी होता ही है। स्कन्दपुराण के अनुसार धर्मसंस्थापना करने में असमर्थ प्राणी भी यदि मनसा, वाचा, कर्मणा यथाशक्ति प्रयत्न करता है तो वह सर्वपापमुक्त होकर सम्यग् ज्ञानप्राप्ति का भागी होता है :

यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सन्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात्॥

('व्यासतात्पर्य-निर्णय' में उद्धृत स्कान्दीय वचन)

महाभाग भगीरथ गंगाजी को लाने में सफल हुए, अतः उनका नाम हुआ। किन्तु उनके पिता-पितामहादिकों ने गंगा लाने-हेतु तपस्या करते-करते जीवन बिता

दिया तो क्या उनका महत्त्व कुछ कम है ? देश की आजादी का प्रयत्न प्रारम्भ करनेवाले गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लोकमान्य तिलक तथा अगणित क्रांतिकारियों ने महान् प्रयत्न न किया होता तो क्या गांधी, नेहरू आदि स्वातंत्र्यप्राप्ति में सफल हो सकते थे ? इसीलिए तो समझदार लोग आज भी उन जीवनदानियों का महान् सम्मान करते हैं। इसीलिए कर्तव्यनिष्ठा ही आदर्श है, बाह्य सफलता नहीं।

मान लें कि आपके संघसंचालक और आपने प्रयत्न करते-करते अपना जीवन बिता दिया और सफलता न मिली, किन्तु भविष्य में उसका फल मिला किसी अतादृक् व्यक्ति को, तो पूजा के योग्य कर्तव्यनिष्ठ ही होता है, फलवान् नहीं। इसीलिए गीता के अनुसार साधक के सामने फलकामना नहीं, कर्तव्यपालन तथा कर्तव्य कर्म ही रहना उचित है।

आपने भी कहा ही है कि "श्रीराम ने वास्तविक धर्म की प्रस्थापना के लिए ताड़का और बाली को मारा, यद्यपि स्त्री का वध एवं वृक्ष की ओट में अयुद्धयमान की हत्या क्षात्रधर्मसम्मत नहीं। श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को भीष्म, द्रोणादि के विरुद्ध लड़ने और कीचड़ में फँसे एवं विरथ कर्ण को मारने का उपदेश दिया था। अधर्मशक्तियों के ऊपर धर्मशक्तियों की विजय के तत्त्वज्ञान की शिक्षा सहस्राब्दियों से दी गयी है !....आज आपकी दानवी शक्तियाँ विश्वसंहारक शस्त्रास्त्र लेकर विश्व के रंगमंच पर दिखायी देती हैं। साम्यवादी भी आज विनाश की भीषण शक्तियों से सम्पन्न दिखायी देते हैं। परन्तु मनुष्य की अन्तर्जाति अच्छाई अधिक प्रबल है" (पृ० २६३–२६५)।

आप लिखते हैं कि "महापुरुषों के उदाहरण तथा शिक्षाएँ धर्म-संस्थापन के मार्ग हैं, हममें सही विवेक जाग्रत कर सकती हैं। यद्यपि धर्म-संस्थापनाकार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, अधर्मशक्तियों पर धर्मशक्तियों की विजय में सभी श्रेष्ठ पुरुषों को प्रयत्न करना चाहिए" (पृ० २६५), यह ठीक है। परन्तु धर्म क्या है और अधर्म क्या, इसका निर्णय कैसे हो ? संसार में परस्पर विरुद्ध विभिन्न समुदाय अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न करते और दूसरों का अपकर्ष भी बतलाते हैं। युक्ति, तर्कों और वागडम्बरों की कहीं कमी नहीं। श्रीराम एवं श्रीकृष्ण धर्म-अधर्म का निर्णय शास्त्रों एवं शास्त्रानुसारी सत्पुरुषों के उपदेशानुसार ही करते थे। शास्त्रों के यज्ञ-यागादि धर्म एवं धार्मिकों का विध्वंस करनेवाले राक्षसों का वध धर्म है, यह शास्त्रनिष्णात विश्वामित्र के वचन से ही श्रीराम ने निर्णय किया और उसका अनुसरण किया।

'वाली का वध धर्म है या अधर्म ?' इस सम्बन्ध में रामायण में ही वाली और राम का प्रत्यक्ष संवाद हुआ था। राम ने वाली के वध को शास्त्रानुसार धर्मसंगत ही बतलाया और बाली ने उसे स्वीकार भी किया था। उसका सार यही है कि 'भरत

सारे देश के शासक हैं, उनकी ओर से राम दुष्टनिग्रह एवं शिष्टपालन के अधिकारी हैं। वाली ने सुग्रीव की पत्नी को छीनकर धर्म-मर्यादा का अतिक्रमण किया। अतः राम ने अपराधी को 'दण्ड' दिया, न कि क्षात्र-धर्मानुसार युद्ध किया। युद्ध का धर्म पृथक् है और दण्ड का विधान पृथक्। यही कारण है कि क्षत्रिय मृगया द्वारा दुष्ट मृगों को नियंत्रित करता है। वाली भी एक मृग था। मृग के साथ क्षत्रिय-धर्मानुसार युद्ध नहीं किया जाता। इसलिए सुप्त, प्रमत्त, पलायन-परायण मृग का वध करना भी धर्म-विरुद्ध नहीं।

श्रीकृष्ण ने भी कभी धर्म की कोई नयी व्याख्या नहीं की। उन्होंने अर्जुन को शास्त्रानुसार ही कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय का आदेश दिया, स्वयं भी वे वैसा ही करते थे। राजनीति का मत यह है कि जो जिसके साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ दूसरा भी वैसा ही बर्ताव करें; मायावी के साथ माया से और साधु के साथ साधुभाव से बर्ताव करना चाहिए :

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधनीयः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(महाभा० उ० प० ३.७७)

धर्मशास्त्रविरुद्ध भी कोई राजनीतिक व्यवहार महान् धर्म के संस्थापन में उपयोगी होने पर क्षम्य होता है, किन्तु धर्मशक्ति, अधर्मशक्ति का निर्णय शास्त्र के बिना स्वतंत्ररूप से नहीं हो सकता। अतः साम्यवादी धर्मशक्ति हैं या अधर्मशक्ति, यह निर्णय भी शास्त्र के बिना कैसे होगा? आप किसी ग्रंथ या पुस्तक या शास्त्र को प्रमाण मानते ही नहीं। फिर तो आप साम्यवादी को अधर्मशक्ति कह सकते हैं और वे आपको। कौन-से आचरण तथा आदर्श धर्मशक्ति के परिचायक हैं और कौन अधर्मशक्ति के, इसमें सिवा शपथ के आपके पास और कोई प्रमाण नहीं। अस्त्र-शस्त्रादि शक्ति से सम्पन्न होना अधर्मशक्ति का परिचायक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महाभारत के अनुसार अर्जुन के पास पाशुपत-अस्त्र था जो आधुनिक परमाण्वस्त्र से कहीं अधिक शक्तिशाली था, तो क्या अर्जुन को भी अधर्मशक्ति माना जाय? फिर यहाँ तो साम्यवादी रूस से भी अधिक शक्तिशाली परमाण्वस्त्र साम्यवाद विरोधी अमेरिका के पास हैं। बिना प्रमाण के प्रमेय का निर्णय नहीं हो सकता, धर्माधर्म में प्रमाण आर्यपरंपरा के अनुसार अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थ ही हैं। जब आप किसी ग्रंथ को प्रमाण ही नहीं मानते, तो आप धर्माधर्म का निर्णय ही कैसे करेंगे? फिर क्या धर्म-संस्थापना और क्या अधर्म-संस्थापना है, यह भी कैसे कह सकेंगे?

आपका यह कहना ठीक है कि "विजय के लिए संघर्ष समुचित उपाय है। तिब्बत पर चीन का अधिकार होने देना भारतीय शासनाधिकारियों की सबसे बड़ी भूल थी" (पृ० २६७)। यह भी ठीक है कि "चीन का जिस ढंग से मुकाबिला करना चाहिए था, वैसे नहीं हुआ।" किन्तु "सारी पोली चीनी-जाति असभ्य हैं, अंग्रेज उससे सभ्य हैं" (पृ० २६९) यह कथन आवेश का ही परिचायक है। आप स्वयं कहते हैं कि "गाली देना दुर्बलता है", किन्तु चीनियों को 'दैत्य (पृ० १६८), सौजन्यहीन, मानवोचित गुणहीन, सर्वभक्षी' आदि (पृ० २६९) की संज्ञा देकर वही दुर्बलता स्वयं आप दिखा रहे हैं। शक्तिशाली होना, प्रसार करना, अपनाना, यह तो राजनीति में गुण है, दोष नहीं। फिर जब कि कम्युनिज्म के अनुसार संसार में जबतक कहीं भी पूंजीवाद रहेगा, तबतक साम्यवाद के लिए संक्रमण-काल ही रहेगा, अतएव संसारभर को लाल बनाना साम्यवाद का अनिवार्य साधन है; तब उसके लिए उसका प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही है। संसार में अपने अभ्युदय के लिए कूटनीतिक उपायों का प्रयोग होता ही है, उन्हींमें विश्वासघात भी आ जाता है। इसलिए राजनीति में विश्वासघात करना भी उतना अपराध नहीं, जितना कि विश्वासघात का शिकार बनना। राजनीति स्पष्ट कहती है :

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।

अर्थात् अविश्वस्त में विश्वास नहीं करना चाहिए, साथ ही विश्वस्त में भी अति-विश्वास उचित नहीं। इसमें संदेह नहीं कि चीन और पाकिस्तान की सांठ-गांठ से भारत के सामने एक भीषण खतरा उपस्थित है। साथ ही दोनों के ही पंचमांगी भारत के भीतर रहकर सर्वाधिक संकट उत्पन्न करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। यद्यपि चीन के आक्रमण से भारत का कुछ प्रमाद दूर हुआ, जिसके कारण ही वह सैनिक-संगठन एवं शस्त्रास्त्र, वायुयान आदि के निर्माण में तत्पर हुआ और पाकिस्तान का मुकाबिला कर सका। फिर भी दब्बूनीति या शांति का अग्रदूत बनने की मृगमरीचिका के कारण आन्तर कण्टक-शोधन तथा बाह्य आक्रामकों के साथ यथायोग्य व्यवहार नहीं कर सका। फलस्वरूप काश्मीर के खोये क्षेत्र को भीषण बलिदान से प्राप्त करके भी उसने 'ताशकन्द-समझौते' के नाम पर गँवा दिया।

श्री नेहरू ने काश्मीर के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा की थी कि 'काश्मीर की एक-एक इंच भूमि से हमलावरों को मार भगाकर ही दम लेंगे।' चीन के आक्रमण के समय भी दुबारा प्रतिज्ञा की थी कि 'हिमालय की भूमि से चीनी आक्रामकों को भगाकर ही दम लेंगे।' किन्तु दोनों हो प्रतिज्ञाएँ सर्वथा अपूर्ण रहीं। भारतीय सैनिकों की अदम्य उत्साहशक्ति और अमेरिकी तथा इंगलिश शस्त्रास्त्र सहायता-प्राप्ति और देश की संघटित स्थिति के कारण तथा कुछ आन्तरिक आधिदैविक उपासनाशक्ति के

कारण ही चीनियों को महान् धन-जन-शक्ति का क्षय करके विजय पर भी युद्धबंदी की घोषणा करके पीछे लौटने को बाध्य होना पड़ा।

यह सही है कि पेट्रोल की कमी चीनियों के लिए एक बड़ी समस्या थी और आसाम के तेलकूप शीघ्र हाथ पड़ने की उसे आशा थी। फिर भी उसे यही प्रतीत हुआ कि रूसी भूमि में फँसकर जैसे हिटलर को पराजित होना पड़ा, वैसे ही भारत में आगे बढ़ने से हो सकता है कि शस्त्रास्त्रसम्पन्न अजेय भारतीय सैनिक शक्ति से पराजित होना पड़े। इसलिए विजय प्राप्त करने की हालत में युद्धबंदी की घोषणा कर चीन पीछे हटा। इससे भारत के लिए तत्काल का खतरा हटा और स्वावलम्बी होने का अवसर मिला। फिर भी एक लाख वर्गमील भूमि जो भारतीय भू-भाग थी, उस पर चीन का कब्जा बना ही रहा। आजतक नेहरू की हमलावरों को मार भगाने की प्रतिज्ञा आलमारी में पड़ी-पड़ी सड़ रही है।

देश-विभाजन के पहले और विभाजन के समय भी धर्मसंघ ने ही उसका विरोध, सत्याग्रह और प्रदर्शन द्वारा किया। विभाजन के पूर्व ही मैंने कहा था कि "किसीकी अनुचित माँग स्वीकार करने से उसकी माँग बढ़ती ही है। पाकिस्तान बन जाने के बाद दोनों पाकिस्तान को मिलानेवाले गलियारा काश्मीर, जूनागढ़, हैदराबाद की माँग होगी। अन्तमें 'मान-इस्लाम' की योजना भी स्पष्ट है। यदि कहीं न कहीं रुकना है, तो पहले से ही क्यों न रुका जाय?"

यह तो ठीक है कि श्रेष्ठ लोगों के आचरण का प्रभाव सर्वसाधारण पर पड़ता है। ऊपर के लोग चरित्रहीन हों तो उसका प्रभाव निम्नश्रेणी के लोगों पर पड़ेगा ही। किन्तु इस श्रेष्ठता की परख केवल बाह्य वैभव से ही नहीं होती। धार्मिक, आध्यात्मिक निष्ठा की श्रेष्ठता ही वास्तविक श्रेष्ठता होती है। प्रायः धन-धान्य और अधिकारसंपन्न लोगों में चरित्रहीनता होती है। धर्मनियंत्रित, सदाचार से सम्पन्न शासक अधिकारी जनता के परमपुण्यों से ही मिलते हैं। फिर भी गीता ने **शुचीनां श्रीमतां गेहे** जन्म की अपेक्षा भी योगियों के कुल में जन्म को दुर्लभतर बताया है। सर्वथा योग्य माता-पिता, योग्य गुरु के परिनिष्ठित आचरणों एवं शास्त्रानुसारी सदुपदेशों से ही सदाचारनिष्ठा हो सकती है। श्रुति कहती है:

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।

फिर जबतक वर्णाश्रमानुसार वेदादिशास्त्रों की शिक्षा-व्यवस्था नहीं होती तबतक के लिए भी शास्त्रानुसारी साहित्य एवं प्रवचनादि को छोड़ सदाचार, सच्चारित्र्यके निर्माण का कोई मार्ग भी तो नहीं है। श्रुति ने सत्य, दम, तप आदि साधनों का एक-एकबार ही उपदेश दिया है, पर स्वाध्याय-प्रवचन का उपदेश बार-बार किया है:

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।

इसीमें माता-पिता एवं गुरुजनोंके पवित्र शास्त्रानुसारी जीवनादर्श का भी उपयोग होता है। मनु का भी यही कहना है कि जिस मार्ग से आपके पिता-पितामहादि चलते आये हैं, उनका अनुसरण करते हुए उनके धर्म, सदाचार के मार्ग पर चलना ही कल्याणकारी है। ऋषियों, महर्षियों एवं पूर्ण धर्मनियंत्रित शास्त्रनिष्ठ शासकों का आचरण एवं उपदेश असाधारण प्रभाव डालता है। साक्षात् परमेश्वर परब्रह्म ही मर्त्य-शिक्षण के उद्देश्य से मानवरूप में अवतीर्ण होते हैं :

मर्त्यावितारस्त्विह मर्त्यंशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥

(भाग० ५.१९.५)

इस प्रकार शिक्षित, विनीत, धर्मनियंत्रित एवं शास्त्रदृष्टियुक्त व्यक्ति एवं समाज ही व्यष्टि-समष्टिके अभ्युदय में उपयोगी हो सकते हैं। शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म-सदाचार से शून्य कोई भी आदर्श राष्ट्र को लक्ष्यभ्रष्ट कर सकता है। इसीलिए भारतीय परंपरा के अनुसार पूर्वज गुरु, आचार्य, अवतार, ईश्वर तभी आदर्श हो सकते हैं, जब कि उनका सिद्धान्त, आचार सभी शास्त्रसम्मत हो। भगवान् बुद्ध योगी, तपस्वी तथा सिद्ध भी थे, फिर भी वेदादिशास्त्रविरोधी होने के कारण हमारे आदर्श नहीं बन सके। शास्त्रहीन होने के कारण ही कांग्रेस के नेतृत्व ने राष्ट्र को लक्ष्यभ्रम करके देश-विभाजन, परंपराविनाश तथा गोवधादि अनर्थों का भागी बनाया।

इस प्रकार जब जाति-सांकर्य, रक्त-सांकर्य के कारण वस्तुभूत हिन्दुत्व मिट गया तो हिन्दू-राष्ट्र, हिन्दू-संकृति की रक्षा की निस्सार घोषणा का क्या अर्थ होगा ? आप स्वयं कहते हैं कि "किन्तु उन्होंने (मुसलमानों ने) हमारी इस (उपकार) भावना का प्रतिदान कैसे किया ? निर्वास, अपहरण तथा सब प्रकार के बर्बर अत्याचारोंकी घटनाओं से भरा उनका १२०० वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। हमारे देश में मुसलमानों की इतनी बड़ी संख्या उनके द्वारा सम्पूर्ण देश में किये गये घातक विनाश के परिणामों में से एक है। केवल टूटे स्मारक की नहीं, वरन् टूटे समाज के टुकड़े भी उनके द्वारा किये गये विध्वंस के उसी प्रकार साक्षी हैं" (पृ० २९२)। फिर उनके साथ रोटी-बेटी एक करके आप उन्हें किस छूमन्तर से आत्मसात् कर लेंगे ?

यह ठीक है कि हमारे सैनिकों का त्याग एवं उत्साह प्रशंसनीय है। उन पर हमें गर्व होना चाहिए। उनको यह अनुभव भी होना चाहिए कि सम्पूर्ण समाज हमारे पीछे है। साथ ही उनमें उत्साह भरने के लिए अपने शास्त्र एवं धर्म तथा प्रामाणिक ऐतिहासिक आदर्शपुरुषों के प्रति श्रद्धा के बिना सम्पूर्ण राष्ट्र को अखण्डनिष्ठा स्थिर नहीं रह सकती।

यह कहना भी निस्सार है कि 'संघ पूरी शक्ति के साथ जनशक्ति को जागृत एवं संचालित करनेमें जुटा है। वह जीवनदायी आदर्श, सद्‌गुण एवं चारित्रिक संस्कार देते हुए बढ़ रहा है" (पृ० २९५)। कारण, शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म से विमुख होने के कारण संघ के चरित्र एवं संस्कार सब मनःकल्पित होने से निरर्थक एवं हानिकर हैं। अपने संघटनों की श्रेष्ठता सभी वर्णन करते हैं, पर किसी राष्ट्रव्यापी कार्य को, जिसमें अनेक शक्तियों का प्रयत्न है, एक संघटन तक सीमित कर रखने का प्रयास टिट्टिभ दुरभिमानमात्र है। स्पष्ट है, चीनी-युद्ध में शस्त्रास्त्रों की कमी नेताओं के अनुत्साह के कारण हुए। राष्ट्र-पराभव से राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक उत्तेजित तथा सजग हो गया तथा राष्ट्र के कर्णधारों की निद्राभंग हुई और अतीत से शिक्षा-ग्रहण कर वे कमी-पूर्ति के काम में संलग्न हो गये। पाकिस्तानी युद्ध में भी भारतीय सफलता का वही बीज था। प्रायः भारतीय सैनिक दल-विशेष से संबंधित नहीं हैं। सौभाग्य से अब भी उनमें ईश्वर एवं धर्म के प्रति आस्था है। अपने पूर्वजों की परंपरा का गौरव उन्हें उत्साहित करता है। तभी तो उन दिनों सरकारी प्रसारणों में भी राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, भीष्म, द्रोण, महाराजा शिवा, प्रताप आदि के पराक्रमों एवं दानवीर कर्ण के दान-शौर्य का महत्त्व गाया जाता था। उसी जागरूक उत्साह का यह जाज्वल्यमान उदाहरण था कि भारतीय वीरों ने विरोधियों के अभेद्य माने जानेवाले पैटन-टैंकों का बड़े से बड़ा कब्रिस्तान बनाकर पाश्चात्योंको भी आश्चर्य में डुबो दिया!

आप कहते हैं कि "हम अपनी महान् सेना के समीप हैं तथा प्रतिष्ठित हुतात्माओं को सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, जिनके शौर्य एवं बलिदान द्वारा यह महान् दिवस राष्ट्र को प्राप्त हुआ।......उनके अपने जीवन का बलिदान—श्रेष्ठ आत्माहुति आदि श्रेष्ठ बलिदानों की भावना राष्ट्र के लिए प्रेरणादायी होगी" (पृ० ३००)। किन्तु पिछले पृष्ठों में ठीक इसके विपरीत लिखा है कि "बलिदानी महान्, पर आदर्श नहीं' (पृ० २५९), "बलिदान दुर्बलता का परिणाम है और भारतीय संस्कृति में बलिदानको सर्वोच्च आदर्श नहीं माना है।...अन्ततः वे असफल हुए और असफलता का अर्थ है उनमें कोई गंभीर त्रुटि थी" (पृ० २६०)। "राजपूतों का यह हौतात्म्य हमारे भारतीय शौर्य की गाथाओं का एक स्मरणीय, फिर भी दुःखद अध्याय है" (पृ० २६२)।

यह तो ठीक है कि "दुष्ट मनोवृत्तिका विनाश बिना किये पाकिस्तान या किसी राष्ट्र का युद्धसाधन, शस्त्रास्त्र, बमवर्षक राडार आदि के नष्ट करनेमात्र से काम नहीं चलता, क्योंकि उनका निर्माण अनेक बार हो सकता है। परन्तु दुष्ट मनोवृत्ति के नाश के लिए यह आवश्यक नहीं कि दुष्ट मनोवृत्तिवाले मनुष्यों का ही विनाश

कर दिया जाय। यह भी ठीक है कि राम को रावण के संहार का ही प्रयत्न करना पड़ा था, कृष्ण को भी कंस को मिटाना ही पड़ा था" (पृ० ३०२-३)। फिर भी इन उदाहरणोंसे भी उक्त तथ्यपूर्ण आदर्श का बाध नहीं होता। उत्तम आदर्श तो यही है कि अहिंसा एवं सत्य आदि पवित्र धर्मनिष्ठा के प्रभाव से सदुपदेश द्वारा दुष्ट-मनोवृत्ति का विनाश करके सद्वृत्ति का निर्माण किया जाय। **दुर्जनः सज्जनो भूयात्** आदि सदुक्तियों का यही अभिप्राय है। तथापि यह मार्ग सर्वसाधारण का नहीं है, प्रत्युत महान् सिद्धपुरुषों का मार्ग है। दण्डविधान का मार्ग ही सर्वसाधा-के लिए राजमार्ग है। **दण्डः सुप्तेषु जागर्ति** (महाभा० राज० ७.१८) के अनुसार सुविहित दण्ड ही सन्मार्ग का प्रतिष्ठापक होता है। इसीलिए विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, भगवती आदि ने लोकशिक्षार्थं इसी मार्ग का अवलम्बन किया। सुतरां सामान्य लोगों के लिए इस मार्ग का अवलम्बन असंगत नहीं है। संसार में विचित्र प्रकृति के प्राणी होते हैं। कई लोग दण्ड द्वारा ही शांति के मार्ग पर आ सकते हैं; साम, दान, आदि द्वारा नहीं। उसे वे कमजोरी समझते हैं। अतः ऐसे स्थलों में झखमार कर युद्ध का मार्ग ही अपनाना पड़ता है।

इसी तथ्य को समझकर परम शांतिप्रिय होते हुए भी लालबहादुर शास्त्री शक्ति के द्वारा ही पाकिस्तानी आक्रमण का सामना करने के लिए संनद्ध हुए और सैनिक, असैनिक संपूर्ण राष्ट्र ने दिल खोलकर उनके इस निर्णयका स्वागत किया था। परन्तु दुःख के साथ यह भी कहना पड़ता है कि शास्त्रीजी युद्ध में तो नहीं, परन्तु समझौतेकी कुर्सीपर बैठकर जीती बाजी हार गये। वीरों के महान् त्याग, बलिदानों द्वारा अपने ही देश काश्मीर के जिन महत्त्वपूर्ण स्थानों को प्राप्त किया था, 'ताशकन्द-समझौते' द्वारा भारत को उनसे भी हाथ धोना पड़ा। इस तरह हम जिस काश्मीर को भारत का अविभाज्य अंग मानते तथा घोषित भी करते हैं, उसे जीतकर भी समझौते के नाम पर उन्हें फिर हमलावरों के हाथों में सौंप देना पड़ा। इस तरह १८ महीने में शास्त्रीजी ने जो कीर्ति कमायी थी, १८ सेकेण्ड में उसे गँवा दिया गया।

वस्तुतः भारत के पूर्ण अखण्ड एवं शक्तिशाली हुए बिना शांति-सामंजस्य सम्भव नहीं। इसमें अनेक कठिनाइयाँ होने पर भी उनका सामना करना अनिवार्य है। शांति या क्रांति जिस मार्ग से भी हो, अखण्डता एवं शक्तिशालिता अनिवार्य हैं। आजकल अधिकांश राष्ट्रों की यह नीति रही है कि वे कई देशों की शक्ति छिन्न-भिन्न करने की दृष्टि से विभाजन कर देते हैं। जर्मनी, कोरिया, भारत, वियतनाम में यही दुर्नीति चलायी गयी। जो देश कलतक हमारे थे, वे ही आज इन कूटनीतिज्ञों के करते हमारे लिए बिराने हो गये। शक्तिशाली एवं संघटित भारत दुर्भावनापूर्ण

पाकिस्तान एवं चीन दोनों का मुकाबला करने में कभी असमर्थ न होगा। फिर, परिस्थिति के अनुसार अन्य राष्ट्रों की नीतियों में भी परिवर्तन हुए और हो सकते हैं। जनतंत्रवादी, स्वतंत्र पचास करोड़ आबादीवाला भारत लाल होकर अमेरिकी गुट के लिए शिरःशूल हो, यह अमेरिका कभी नहीं चाहेगा। इसी तरह भारत को आत्मसात् कर चीन रूस से उत्कृष्ट शक्तिशाली हो जाय, यह रूस भी नहीं चाहेगा।

नीतिज्ञों का मत है कि शांति का सबसे उत्तम मार्ग है 'शक्तिशाली होना'। यद्यपि खाद्य-सामग्री के उत्पादन तथा शस्त्रास्त्रों के निर्माण में देश जुटा हुआ है। आत्मनिर्भरता का सिद्धांत स्वीकृत ही नहीं, आचरित तथा प्रचारित भी हो रहा है। फिर भी परमाणवस्त्रों के निर्माण के सम्बन्ध में शांति-स्थापना की दृष्टि से हमारा देश विमुख ही है। हम यह अनेकबार कह चुके हैं कि निर्बलता नहीं, किन्तु शक्तिशालिता ही शांति का मूल है। यदि अमेरिका और रूस दोनों परमाणुशक्ति के आविष्कार में में एक दूसरे से बढ़-चढ़कर न होते या एक को दूसरे की अधिक शक्ति की कल्पना न होती तो शायद अबतक युद्ध छिड़ गया होता। शक्तिशाली होने पर भी धैर्य से काम लेना, उसका प्रयोग न करना सबसे बड़ी महत्ता है। अर्जुन के पास पाशुपत-अस्त्र रहने पर भी उसने उसके प्रयोग की बात तक नहीं सोची, यही उसकी महत्ता थी।

वस्तुतः किसी निमित्त-विशेष से आनेवाला गुण कभी स्थायी नहीं रहता। निमित्त के समाप्त हो जाने पर वह भी समाप्त हो जाता है। शस्त्रास्त्र के अभाव से होनेवाली सहिष्णुता, क्षमा आदि से न तो स्थिरता होती है और न उनका महत्त्व ही होता है। इसी प्रकार शत्रुओं द्वारा घिर जाने पर राष्ट्रिय-एकता एवं प्रतिरोध की अदम्य शक्ति का भाव उदित हो जाता है तो वह भी स्थायी नहीं रहता। भले ही वह तत्काल आवश्यक एवं लाभदायक हो। गुणों की स्थिरता एवं महत्ता तो तभी होती है, जब उनका आविर्भाव मानवता, गुरुजनों के शास्त्रीय आचरण एवं शिक्षण से होता है। स्थिर, प्रामाणिक, शास्त्रीय-आधार-विहीन परंपराएँ भी अन्ध-परंपराओं से अधिक महत्त्व नहीं रखतीं।

अतएव "सभी वाद अपने उदात्त रूप में" (पृ० ३२१) आदि कथन भी निस्सार ही हैं। क्योंकि हिन्दू-परंपरा में तो सभी भली-बुरी बातें हुई हैं। राम भी हुए और रावण भी, कृष्ण भी हुए और कंस भी तथा कौरव, पाण्डव सभी तो हुए हैं, किन्तु हिन्दू-विधान धर्मशास्त्रों ने जिनका विधान किया, जिनकी ग्राह्यता बतायी, उन्हींका गौरव मान्य होता है। अतएव कहना यह चाहिए कि हिन्दू वैदिक-परंपराओं या रामायण, महाभारत के रामराज्य एवं धर्मराज्य-संबंधी परंपराओं में आधुनिक सभी

वादों के सब गुण आ जाते हैं, पर उनके दोष नहीं आ पाते। जैसे लोकतंत्र का सिद्धांत है कि शास्त्रानुसारी जनमत का अनादर न हो। रामायण की राजनीतिक परंपरा से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि राम जैसे परमप्रिय, गुणवान्, लोकप्रिय पुत्र को भी यौवराज्य-पद देने के लिए महाराज दशरथ ने जनप्रतिनिधियों एवं जनता की राय जाननी आवश्यक समझी और उनसे स्पष्ट अपनी सम्मति देने को कहा। श्रीराम ने भी सीता के विरुद्ध जनमत (भले ही वह अल्पमत ही रहा हो) की उपेक्षा नहीं की, किन्तु उसका आदर करते हुए प्राणप्रिया सती-साध्वी सीता को वनवास देना उचित समझा। शस्त्रास्त्र या कारावासादि दण्डविधान द्वारा जनता का मुँह बंद करना उन्होंने सर्वथा अनुचित ही समझा। हिन्दू-समाज में धर्मनिरपेक्षता या ब्रह्मनिरपेक्षता कभी भी मान्य नहीं थी। सदैव धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीनता ही आदरणीय रही। नीतिशास्त्रों के अनुसार राजा को अधर्म एवं अन्याय के मार्ग पर चलनेवाला अपना पुत्र भी दण्डनीय रहा और धर्मनिष्ठ शत्रु भी अनुग्राह्य रहा है। जिस देश में जो भी धर्म प्रामाणिक एवं परंपराप्राप्त है, नीतिशास्त्र उसीकी रक्षा करने का आदेश देते हैं। समाजवाद का लक्ष्य आर्थिक असमानता का निराकरण करना नहीं, किन्तु शिक्षा प्राप्त करने, रोजगार चुनने और अपने परिश्रम का पूरा फल प्राप्त करने का समान अवसर प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है। यह सब भारतीय परंपरा के विपरीत है, यहाँ तो शास्त्रीय एवं लौकिक योग्यता के अनुसार ही शिक्षा, रोजगार आदि का विधान होता है।

आपने लिखा है कि "मनु ने घोषित किया है कि भोजन के अतिरिक्त धन-संग्रह करनेवाला चोर के समान दण्डनीय हैं" (पृ० ३२१)। किन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि मनु की ऐसी कोई घोषणा है ही नहीं। हाँ, श्रीमद्भागवत में व्यास की किसी ऐसी ही घोषणा से आपको यह भ्रम हुआ है। व्यासकी वह घोषणा है :

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(भाग० ७.१४.८)

अर्थात् जितने से उदर-पोषण हो, उतने में ही प्राणियों का वास्तविक स्वत्व होता है, अधिक में जो अभिमान करता है, वह चोर और दण्डार्ह भी है। यहाँ संग्रह का नहीं, किन्तु अभिमान का निषेध है, क्योंकि संग्रह के बिना तो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का विधान ही नहीं हो सकता। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है कि जिसके घर में तीन वर्ष के लिए या उससे भी अधिक भृत्य-पोषण के लिए पर्याप्त वित्त हो, उसे ज्योतिष्टोम करके सोमपान करना चाहिए :

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वाऽपि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥

(मनु० ११.७)

आर्थिक असन्तुलन दूर करने के जितने उत्तम मार्ग भारतीय शास्त्रों में है, उतने और कहीं नहीं। "मार्क्सवाद और रामराज्य" नामक ग्रंथ में यह विस्तार से देखा जा सकता है।

आगे के पृष्ठों में आप लिखते है कि "हमारे नेता क्रांतिकारियों एवं तिलक आदि के जन-आन्दोलनकारियोंकी गतिविधियों में भी शामिल रहे, फिर भी उन्हें इनसे सन्तोष नहीं हुआ, तब उन्होंने संघ की स्थापना और उसके कार्यक्रम को निश्चित किया।" (पृ० ३२६)। यह कोई नयी बात नहीं। यह आम बात है कि कोई भी नवीन मतवादी ऐसा ही कहता है। एक नास्तिक भी कहता है कि मैंने देश-विदेश के प्रचलित सभी मतों तथा वादों का अध्ययन और उनकी साधनाओं का अभ्यास किया, किन्तु मुझे संतोष न हुआ, तब मैंने नया मत निकाला है।

आप कहते हैं कि "संघ एक ग्रंथ और एक व्यक्ति-विशेष का पूजक नहीं।" आपने लिखा है कि "एक धार्मिक नेता ने मुझसे पूछा वह कौन-सी पुस्तक है, जिसका आप अनुसरण करते हैं?" मैंने उत्तर दिया कि अपने आपको एक पुस्तक के शब्दों तक सीमिति रखेंगे तो किसी भी मुसलिम और ईसाई से अच्छे नहीं होंगे।" (पृ० ३३२)। यहाँ भी बात स्पष्ट नहीं हुई। क्या इसका यह अर्थ है कि 'आप एक पुस्तक तक ही अपने को सीमित नहीं रखते, किन्तु हिन्दुओं के सभी वेदादि प्रामाणिक धर्मग्रंथ तथा प्रमाणों को मानते हैं, उन सबका अनुसरण करते हैं अथवा 'किसी भी पुस्तक का अनुसरण नहीं करते?' प्रथम पक्ष तो आपको अभीष्ट प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अपने स्पष्टीकरण में आप कहते हैं कि इस उत्कृष्ट सांस्कृतिक परंपरा के अनुरूप संघ न तो किसी व्यक्ति-विशेष का और न ग्रन्थ-विशेष का ही, अपितु भगवाध्वज को ही परम सम्मान अधिकार-स्थान पर अपने सामने रखा है। यह आप नहीं कहते कि एक ही पुस्तक क्यों, संघ सभी प्रामाणिक वैदिक ग्रंथों एवं प्रमाणों का स्वीकार करता है, अतः द्वितीय अर्थ ही आपको अभीष्ट है, जिसके अनुसार आप और आपका संघ विशुद्ध नास्तिकपक्षीय सिद्ध होता है।

आप लिखते है कि "हमारी संस्कृति का दूसरा विशिष्ट पहलू यह है कि हमने किसी भी ग्रंथ को अपने और अपनी संस्कृति का एकमेव सर्वोच्च नहीं माना। हमारे सभी धर्मग्रन्थ मानवजीवन के एकमेव लक्ष्य के विभिन्न पहलुओं एवं मार्गों का स्पष्टीकरण है। संघ ने किसी एक पुस्तक को अधिकृत रूप से न स्वीकृत किया है और न

नकार ही किया है" । (पृ० ३३२), यह कथन प्रमाणविरुद्ध ही है । किसी एक ग्रंथ में सब बातों का पूर्णरूप से आ जाना तो आस्तिकों को भी मान्य नहीं । हाँ, धर्म का प्रबोध वेदादिशास्त्रों से ही होता है, यह आस्तिकों की मान्यता अवश्य है । जो वेदादि-शास्त्रों को छोड़ मनमानी तौर पर धर्माधर्म या कार्याकार्य का निर्णय करता है वही नास्तिक है, यह अवश्य मनु एवं गीता को मान्य है :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ (गीता १६.२३)
नास्तिको वेदनिन्दकः । (मनु० २.११)

अतः 'यह मान्यता सांस्कृतिक परंपरा है' यह कहना सर्वथा निराधार है ।

इसी प्रकार यह कथन भी प्रमाणशून्य एवं निराधार है कि "हमारी संस्कृति का सदैव आदेश रहा है किसी व्यक्ति को हम उतनी ही मात्रा में महान् और श्रद्धेय समझें, जितनी मात्रा में वह आदर्श को अपने जीवन में प्रकट करता है ।' संपूर्ण विश्व में केवल हमारा ही धर्म ऐसा धर्म है जो किसी व्यक्तिविशेष का ऐतिहासिकता अथवा व्यक्ति-प्रामाण्य पर आधारित नहीं है ।" इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि आपकी संस्कृति केवल आपके दिमाग का फितूरमात्र है, किसी प्रमाण पर आधृत नहीं । आस्तिक ऐसी वैयक्तिक मान्यताओं को सर्वथा निःस्सार मानते हैं; क्योंकि व्यक्तियों में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दूषण अनिवार्य हैं । इसीलिए वैदिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति या हिन्दू-सस्कृतिक के रूप में आस्तिकों को मान्य है । शास्त्रों के अनुसार जीवरूप माता-पिता, गुरु आदि तथा महर्षि, देव, पितर आदि व्यक्तियों की पूजा निरपवादरूप से मान्य है तथा उपासकों के लिए उपास्य सर्वोच्च सत्तारूप में मान्य होता है । इसी प्रकार निराकार, निगुण परमेश्वर एवं सगुण, साकार परमेश्वर विष्णु, शिव, राम, कृष्ण सभी सर्वोच्च सत्तारूप से ही पूज्य हैं । रहा यह कि रामोपासक के लिए राम भले सर्वोच्च सत्ता के रूप में पूज्य हों, तद्भिन्न लोगों के लिए राम को सर्वोच्च सत्तारूप से पूज्य नहीं कहा जा सकता । क्या आपका भगवाध्वज सर्वमान्य हो सकता है ? सामान्यतया सभीकी दृष्टि भगवा कपड़ा एवं ध्वज पर पड़ती है । आदर्श के रूप में भी वह सर्वमान्य नहीं । अधिक से अधिक वह आपको तथा आपकी पार्टी को ही सर्वोच्च रूप में मान्य हो सकता है । किन्तु राम, कृष्ण, विष्णु आदि तो हिन्दूशास्त्र की दृष्टि से अखण्ड चेतन परमेश्वर परब्रह्म रूप से सर्वथा सर्वोच्चरूप से मान्य हैं ही । उनकी सर्वोच्चता न मानकर जड़ काष्ठ, वस्त्र-विशेष की सर्वोच्चता मानना जड़वादिता की ही अभिव्यंजना है ।

आगे (पृ० ३३८ तक) आपने रूसियों के जनशुद्धिकरण एवं मस्तिष्क-मार्जन का उदाहरण देकर अहिन्दू-धारणाओं से बचाव का उपदेश दिया और विचार-

स्वातंत्र्य का समर्थन किया है। परन्तु क्या संघ में इसका आदर होता है? उसे दूसरों की सभाओं में बाधा डालकर सभाभंग करते हुए भी हम लोगों ने देखा है। हमने रामराज्य प्रत्याशी के चुनाव के समय उसके निम्नतम एवं घृणित प्रचारों को देख लिया है। लोग यही कहते हैं कि जब बिना सत्ता के यह हालत है तो सत्ता आने पर तो ये कम्युनिज्म के जनशुद्धिकरण, मस्तिष्क-मार्जन को मात कर देंगे। आप देशी राजनीतिक दलों के दुर्गुणों का बड़े समारोह से वर्णन करते हैं, किन्तु अपने दल के शत प्रतिशत ओछेपन, क्षुद्रता, संकीर्णता से दृष्टि ही हटा लेते हैं। शास्त्र एवं शास्त्रीय धर्म की पूर्णरूप से उपेक्षा कर कबड्डी खेलनेमात्र से राष्ट्रिय जीवन कैसे बन जायगा, यह ही आप ही सोच सकते हैं। बुरे संस्कारों को नष्टकर उत्तम, दिव्य संस्कारों का लाना अत्यन्त आवश्यक है जो अशास्त्रीय, अधार्मिक पद्धति से नहीं आ सकता। प्रातः-सायं सन्ध्या, अग्निहोत्र, स्वाध्याय का समय है। उस समय के विहित कर्मों का परित्याग कर कबड्डी खेलना, लाठी चलाना आदि अनिषिद्ध एवं अंशतः लाभदायक होने पर भी पतन का ही मूल है। शास्त्र कहते हैं कि जिस काल में जो कार्य विहित है उसे न करना तथा तद्भिन्न कार्य एवं निन्दित कार्य करना इन्द्रियार्थों में प्रसक्त होना, अतएव पतन का कारण है।

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥

(मनु० ११.४४)

अनुशासित ढंग से खड़े होना, शस्त्रास्त्र की शिक्षा प्राप्त करना, राष्ट्ररक्षा की भावना जागरूक करना संसार के सभी सैनिक संघटनों में होता है। इससे अधिक संघ की कबड्डी में और क्या रहता है? फिर उसकी व्याख्या कितने ढंग से ही क्यों न कर ली जाय। श्री सदाशिव एवं मल्हारराव जैसा मतभेद स्वतन्त्र मस्तिष्कों में सदैव रहा है और रहेगा। महाकवि माघ के अनुसार कृष्ण, सात्यकि, उद्धव एवं बलराम में भी विचार-भेद रहा। यदि संघ में ऐसे विचारों का कोई अस्तित्व मान्य नहीं, तो पूर्वोक्त विचार-स्वातन्त्र्य का गुणगान निरर्थक ही है। लोकतंत्र के अनुसार मतभेद होने पर भी बहुमत के अनुसार चलना अनिवार्य होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि युद्ध के समय सभी सैनिक युद्ध छोड़ मतभेद के शास्त्रार्थ में लग जायँ। अर्जुन और कृष्ण आदि जैसे अनुशासित वीर एवं दार्शनिक साथ-साथ हो सकते हैं, वैसे ही आज भी हो ही सकते हैं। तभी तो आज भी विभिन्न देशों में सैनिक शासक होते ही हैं।

कहा जाता है कि 'सैनिक अनुशासन में दण्ड के भय का भाव तथा धन और पद का लोभ भी रहता है। परन्तु संघ में एकत्र की भावना, साहचर्य और लक्ष्य के

लिए समर्पण की भावना ही आत्मसंयम एवं स्वतः स्वीकृत अनुशासन के लिए सदस्यों के व्यवहार को ढालती है।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि भारतीय संस्कृति में गीता के अनुसार तो युद्धादि सभी कर्म कर्तव्य-पालन की बुद्धि से ही किये जाते हैं। शिक्षा ही नहीं, प्रत्युत युद्ध के लिए भी सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय में भी समत्वबुद्धि से युक्त होकर ही कर्म करना कहा गया है, अन्यथा पापप्राप्ति कही गयी है :

> सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
> ततो युद्धा युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
>
> (गीता २.३८)

वैसे तो अत्यंत अकाम की कोई क्रिया ही नहीं होती। संसार की सभी चेष्टाएँ काम का ही परिणाम है। इसीलिए 'जानाति, इच्छति अथ चेष्टते' यानी ज्ञान और इच्छा के पश्चात् ही कोई कर्म होता है। कबड्डी, व्यायामादि खेल खेलनेवाले सभी लोग स्वेच्छा से ही अनुशासन स्वीकृत करते हैं। सदैव खेलों में भय और काम की कल्पना भी नहीं होती। दार्शनिक व्याख्या चाहे जो भी कर ली जाय, व्यावहारिक स्थिति तो कांग्रेसियों के अहिंसा, सत्य के संकल्प से भी गयी-बीती हालत संघ के स्वेच्छास्वीकृत समर्पण की है। संघ में माता, पिता, गुरुओं एवं शास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन न करने के लिए भले ही उच्चतर राष्ट्रिय आह्वान का नाम ले लिया जाय, गोरक्षा जैसे सात्त्विक कार्य के लिए सत्याग्रह तक में संघ की प्रवृत्ति छल-छद्‌म से रिक्त नहीं होती।

संघ के लोग धर्मग्रंथों को मानने से इसीलिए भागते हैं कि शास्त्रानुसार तो खान-पान, विवाह आदि में जातिभेद का ध्यान आवश्यक होता है। प्रत्येक वर्ण के संकल्प में जाति एवं गोत्र का उल्लेख होता है। स्पष्ट है कि संघ का हिन्दुत्व, संघ की संस्कृति सर्वथा धार्मिक तथा शास्त्रीय परंपरा से बहिष्कृत है। हाँ, शास्त्रज्ञों के अनुसार वह जातिभेद घृणामूलक न होकर धर्म एवं शास्त्रमूलक ही होता है। रन्तिदेव जाति का आदर करते हुए भी एक अन्त्यज को भोजन देने से पीछे नहीं हटते, फिर भले ही उससे उनको प्राणान्त-बाधा भी सहनी पड़ी।'

आपने 'अनुपम कार्यशैली' (पृ० ३६०) शीर्षक से यह बताया कि वर्धा में संघ का महान् महत्त्व देखकर गांधीजी ने शिविर-अवलोकन की इच्छा प्रकट की। उन्हें अन्दर लाया गया। जब उन्होंने संघ में हरिजन कितने हैं, यह जानने की इच्छा व्यक्त की, तो संघसंचालक ने कहा कि 'मेरी दृष्टि में सब हिन्दू ही हैं।' जब गांधीजी ने विशेष प्रयत्न से पूछा तो उनसे कहा गया कि 'यहाँ हरिजनसमेत अनेक जातियों के लोग रहते हैं, पर वे एक दूसरे की जाति के सम्बन्ध में बिना किसी प्रकार का

विचार किये संघ-शिविर के सभी कार्यक्रमों में खाने-पीने से लेकर खेलने-कूदने तक आनन्द और समरसतापूर्वक साथ-साथ भाग लेते हैं" · पृ० ३६१)। इससे वर्णाश्रमी सहज ही समझ लेते हैं कि संघ वर्णाश्रम-धर्मविरोधियों का ही एक जमघट है। वर्णाश्रम के लिए गांधीजी और कांग्रेस से भी उतना खतरा नहीं जितना कि संघ से है। गांधीजी कहते थे : 'हम रोटी-बेटी एक नहीं चाहते (यद्यपि वे चाहते वैसा ही थे), तथापि संघ में भले ही पार्टीभेद का ज्ञान रह सकता है, परन्तु एकता के नाम पर संघी जाति को अत्यंत भुला देने का यत्न करते हैं। इसीलिए संघ में ब्राह्मण, हरिजन सब अपने-अपने घर से रोटी लाकर मिला देते हैं और फिर आपस में सब परोसते हैं, सब खाते हैं। इसी संस्कार के प्रभाव से दीनदयाल उपाध्याय, अटलबिहारी वाजपेयी जैसे संघनिष्ठ लोगों ने मुसलमानों के साथ भी रोटी-बेटी एक कर उन्हें भी आत्मसात् करने का स्वप्न देखा है। इस सन्दर्भ में जनसंघ के 'कालीकट-अधिवेशन' के अवसर पर प्रकाशित 'जनदीप-स्मारिका' में श्री अटलबिहारी वाजपेयी का एक लेख द्रष्टव्य है।

जनसंघ के भूतपूर्व अध्यक्ष दीनदयाल उपाध्याय ने भी कानपुर में कहा था कि 'हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार आर्यसमाजी, सनातनधर्मी, कबीरपंथी, जैन आदि हिन्दू हैं वैसे ही मुसलमान मुहम्मदपंथी हिन्दू हैं।' श्री अटलबिहारी वाजपेयी भी जनसंघ के प्रमुख नेता हैं। वे रोटी-बेटी की एकता और जाति-पाँति आदि सभी भेद की दीवारों पर वज्रपात करना चाहते हैं। शायद वे हिन्दू-मुसलमानों के गोरक्षकत्व, गोघातकत्व के भेद पर भी वज्रपात कर दें। फिर तो एक विशाल नये समाज का जन्म हो जायगा जिससे न केवल संघ का उद्देश्य पूरा होगा, गांधी-नेहरू ने जिस हिन्दू-मुस्लिम रोटी-बेटी की एकता कराकर नये समाज की नींव डाली थी, उसकी भी पूर्ति हो जायगी !

जहाँतक सफलता का प्रश्न है, "गुरुजी को छोड़ दो" यह आंदोलन सफल नहीं रहा। सरकारी आग्रह के अनुसार संघ को लोकतंत्रात्मक प्रणाली का विधान अंगीकार करना पड़ा। गोरक्षा के आंदोलन में तो संघी केवल अवसर से लाभ उठाने की ही बात करते हैं। अवसरवादिता उनकी विशेषता है। सात नवम्बर के प्रदर्शन में जबतक खतरा नहीं था, तबतक संघी कहते थे कि 'वह आंदोलन संघ का ही है।' जब खतरा दिखायी पड़ा तो स्पष्ट कह दिया कि 'उसका संघ से कोई संबंध नहीं।' गोरक्षा-महाभियान समिति के प्रतिज्ञापत्र पर आपने हस्ताक्षर किया कि 'ईश्वर की शपथ कर प्रतिज्ञा करता हूँ कि राजनीतिक लाभ उठाने का प्रयास न करता हुआ मनसा, वाचा, कर्मणा अपनी पूरी शक्ति से गोहत्याबन्धी-आंदोलन में भाग लूँगा। गोहत्याबंदी के लिए कुछ उठा न रखूंगा।' परंतु मौके से पहले कह दिया कि 'मेरा आंदोलन में विश्वास नहीं है।'

आपने लिखा है कि "स्तुति से प्रसन्न होकर हमारे नेता राष्ट्रहित के लिए बलिदान कर सकते हैं" (पृ० ३६९) । परन्तु अपनी प्रशंसा तो संघ को भी इष्ट है ही । हाँ, अपनी निन्दा पर संघ सभी शिष्टताओं को तिलांजलि दे ही देता है । "संघ अपने मूल्य से गणवेश आदि खरीदता है, गुरुदक्षिणा भी अपने पास से ही देता है । संघ में चन्दा—चन्दे के लिए संघ में स्थान नहीं" (पृ० ३५२)—यह सब प्रचार-मात्र है । संघ में जितना चन्दा मांगा जाता है, उतना कहीं भी नहीं ।

खण्डो बल्लाळ के बलिदानों की प्रशंसा करते हुए आप कहते हैं कि "अन्त में वह अपने जीवन को स्वराज्य के लिए अंतिम भेट के रूप में चढ़ा देता है । कैसा उदात्त, श्रेष्ठ और अनोखा आत्मत्याग और आत्म-बलिदान है" (पृ० ३७५) । यहाँ आप इस पूर्वोक्त समालोचना को भूल जाते हैं कि बलिदानी में कोई न कोई गंभीर त्रुटियां होती हैं, तभी वह सफल नहीं होता । अवश्य ही राष्ट्रभक्ति का महत्त्व अधिक है, पर उसमें भी शास्त्रीय दृष्टिकोण आवश्यक है । राष्ट्र भगवान् के महाविराट् स्वरूप का ही एक अंश है । तभी उसकी उपासना 'उपासना' शब्द से कहने लायक हो सकती है । अन्यथा संसार में सभीका किसी न किसी वस्तु में प्रेम होता ही है । वह उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग बलिदान करता ही है, तो वह गुणविशेषमात्र हो होता है, भक्ति नहीं ।

खुशामद की समालोचना करते हुए आपने यह भी कहा है कि "भगवान् शंकर विष पीकर भी अप्रभावित रहे, पर वे ही शंकर भस्मासुर की स्तुति के शिकार बने और स्वयं के लिए आपत्ति बुला लाये" (पृ० ३६८) । इसमें संदेह नहीं कि खुशामद-पसन्द आदमी दूसरों की कूटनीति के शिकार बन जाते हैं । परंतु अच्छा होता कि जीवों तक ही आप इसे सीमित रखते । अल्पज्ञ जीव प्रशंसा सुनते हुए अपनी वस्तुस्थिति को भूल जाता है । परन्तु ईश्वर सर्वदा सर्वज्ञ ही रहता है । वह वस्तुस्थिति को नहीं भूलता । भगवान् शंकर स्तुति से नहीं, प्रत्युत (वृकासुर) भस्मासुर की उग्र तपस्या से सन्तुष्ट हुए थे (स्तुतिमात्र से नहीं) । थोड़ी देर के लिए वैसा मान लें तो भी ईश्वर की स्तुति तो वस्तुस्थिति से कम होती है । क्योंकि वस्तुतः किसीके आरोपित गुणों (अविद्यमान गुणों) का वर्णन ही स्तुति या प्रशंसा बतलाती है । परन्तु ईश्वर में तो अपरिमित, अनंत गुण विद्यमान हैं । उनका वर्णन करते-करते ब्रह्मादि भी पार नहीं पा सके, फिर उनमें विद्यमान गुणों से अधिक आरोपित गुणों का तो कोई वर्णन कर ही नहीं सकता । विद्यमान अनन्त गुणों का अतिस्वल्पांश वर्णन तो स्तुति न होकर अपमान ही ठहरता है । किसी अरबपति को सहस्रपति कहना प्रशंसा नहीं, अपमान ही है ।

फिर भी भगवद्गुणस्वरूप एवं नाम का कीर्तन प्राणियों के कल्याण का हेतु

है। भगवान् के अनन्त गुणों का कीर्तन संभव न होने से यद्यपि वह स्तुति तो नहीं होती, तथापि उससे भी प्राणी का कल्याण हो जाता है। आकाश अनन्त है, उसका पार पाना असम्भव है. फिर भी अपनी शक्तिभर मच्छर से लेकर गरुड़पर्यन्त विभिन्न पक्षी उसमें उड़ते ही हैं। इसी तरह भगवान् के अनन्त गुणों का वर्णन अशक्य होने पर भी अपनी-अपनी शक्तिभर ब्रह्मादि सभी भगवद्गुणवर्णन करते और उतने मात्र से ही उनका कल्याण हो ही जाता है।

तुमहि आदि खग मशक प्रयन्ता। उड़हिं अकाश न पावहिं अन्ता॥

नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणः। यही बात पुष्पदन्त ने शिवमहिम्नस्तोत्र (श्लोक १) में कही है :

> **महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी,**
> **स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।**
> **अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्,**
> **ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः॥**

अर्थात् हे हर, यद्यपि आपकी अनन्त महिमा का पार न जानने के कारण मेरे द्वारा की गयी आपकी स्तुति आपके अनुरूप नहीं है। कोई अखण्ड भूमण्डलाधिपति को ग्रामाधिपति कहकर प्रशंसा करे तो वह उसके अननुरूप होने के कारण निन्दा ही है। फिर भी मेरी ही क्या, ब्रह्मादि देवों की भी तो वाक्शक्ति आपके अनन्त गुणों के वर्णन में असमर्थ होकर आपके सम्बन्ध में शिथिल हो जाती है। यदि सबका वर्णन अशक्य होने पर अपनी शक्तिभर ब्रह्मादि आपके गुणों का वर्णन करते हैं तो अपनी शक्तिभर ही करते हैं। फिर तो मेरा भी यह प्रयत्न अपवादार्ह न होकर ठीक ही है।

अन्यत्र आत्मश्लाघा बड़ा दोष है, परन्तु भगवान् कृष्ण कहते हैं कि 'संसार में मुझसे परे कोई वस्तु नहीं, मैं ही सर्वोत्कृष्ट परात्पर हूँ' :

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय। (गीता ७.७)

—क्या यह भगवत्कर्तृक आत्मलाघा है ? निश्चय ही ऐसा समझना सर्वथा भूल है। कारण, करुणापरवश भगवान् ने जीवों के कल्याणार्थ वस्तुस्थिति का यह निरूपण किया है। वैसे ही वस्तुतः भगवान् की स्तुति ब्रह्मादि द्वारा की जाने पर भी अननुरूप ही रहती है, तथापि वे आशुतोष हैं, थोड़े में ही प्रसन्न हो जाते और लोगों का कल्याण कर देते हैं। उनके लिए स्तुति का शिकार बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। कई लोग उनके दिये वरदान का दुरुपयोग करते हैं। वस्तुतः उत्तम वर माँगने से अपने आपको वंचित करते हैं। ब्रह्मा से भी अनेक लोग तपस्या द्वारा वरदान प्राप्त कर

ब्रह्मादि सभी देवों के बाधक बनते हैं, पर अन्त में ऐसे सभी लोग अपना ही अहित करते हैं।

जो लोग व्यष्टि-समष्टि के समन्वय का मार्ग नहीं समझ पाते, वे ही एकांगी बनकर अन्यांग को नुकसान पहुँचाते हैं। जो यह समझता है कि मैं वैयक्तिक चरित्र-निर्माण और उत्थान में न लगकर केवल राष्ट्र का उत्थान करता हूँ, वह न अपना और न राष्ट्र का ही कल्याण करता है, अपितु दोनों के ही पतन का हेतु बनता है। क्योंकि स्वयं तरकर ही दूसरों को तारा जा सकता है : **स्वयं तीर्णः परांस्तारयति**। साथ ही जो स्वात्मोत्थान में संलग्न होकर समष्टिहित की उपेक्षा करते हैं, वे भी राष्ट्र के विनाश में स्वयं भी विनाश के शिकार होते हैं।

साथ ही धर्माधर्म के गौरव-लाघव का विचार भी आवश्यक होता है। कभी सत्य के लिए प्राण दे देना भी अच्छा है, परन्तु कभी साधु पुरुषों को अत्याचारियों का शिकार होने से बचाने के लिए झूठ बोलना भी धर्म हो जाता है। अतः समष्टि-व्यष्टि-हित एवं धर्माधर्म के गौरव-लाघव का ज्ञान होने पर फिर पतन का डर नहीं रहता। कभी राष्ट्रहित के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा जूझनेवाले वीर के कुछ वैयक्तिक दोष इसी दृष्टि से क्षम्य हो सकते हैं।

कहा जाता है कि "हमारा राष्ट्रिय वैभव और सुख उसी दिन धूल में मिल गये, जिस दिन से हमने केवल **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** का विचार किया। इसी प्रकार जब हमने केवल व्यक्तिगत, पारिवारिक जीवन की संकुचितता में अपने को लीन कर दिया, तभी हमारी वैसी ही अधोगति हुई। अतः हमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोनों ही दोषों का परिहार कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए" (पृ०३८३)।

किन्तु यह भी अविचारित-रमणीय ही है, क्योंकि यहाँ दोनों का समन्वय करना है, किसीका त्याग नहीं है। किसी लक्षण का लक्ष्य में न जाना अव्याप्ति और लक्ष्यभिन्न अलक्ष्य में लक्षण का जाना अतिव्याप्ति होती है। दो मार्गों का नाम अव्याप्ति, और अतिव्याप्ति नहीं होता। मध्यम मार्ग पर चलकर ही सत्-असत् दोनों पक्ष छोड़कर शून्यवादी माध्यमिक और अनेकांतवादी जैन बन गये। ऐसे ही व्यष्टि-समष्टि दोनों वादों को छोड़नेवाला 'धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का' होगा। अतः सर्वथा व्यष्टि को आत्मोन्नति का प्रयास करना चाहिए, परन्तु समष्टिहित का ध्यान रखते हुए ही।

हम पीछे लिख चुके हैं कि अपना व्यक्तित्व रखते हुए भी कोई जाति की दृष्टि से ब्राह्मणादि भी है, ब्राह्मणत्व की रक्षा करते हुए भी वह एक हिन्दू या भार-

तीय भी है। वैसे ही भारतीय होते हुए भी प्राणी मानव भी है। उस नाते समस्त मानवता का सम्मान और हिताचरण भी आवश्यक ही है। इसी तरह प्राणित्वेन रूपेण सर्वप्राणिहितैषिता भी अनिवार्य ही है। अध्यात्म-दृष्टि से भी पुत्रात्मवाद की निवृत्ति के लिए चावार्क का देहात्मवाद भी एक सोपान के रूप में ग्राह्य है। देहात्मवाद से छुटकारा पाने के लिए कुटुम्बवाद, जातिवाद का भी आश्रयण अपेक्षित है। जातिवाद से छुटकारा पाने के लिए राष्ट्रवाद भी एक आवश्यक ग्राह्य वस्तु है। राष्ट्रवाद से भी ऊँचे उठकर मानवतावाद या विश्ववाद का ग्रहण भी आवश्यक है। अन्त में समष्टि प्राणिवाद और उससे भी आगे विराट्, महाविराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, ब्रह्मवाद, और फिर निर्विशेष ब्रह्मात्मवाद ही अंतिम गति है।

आप जिन आद्य शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, विवेकानन्द की प्रशंसा करते हैं, उनका भी अन्तिम ध्येय "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" ही तो था। रही 'ऊँची कथनी, नीची करनी' की बात (पृ० ३८२)। सो तो राष्ट्रवाद में भी रहती ही है। बहुत-से लोग राष्ट्रवाद का भी चोला पहनकर राष्ट्रियता के नाम पर स्वात्महित, स्वात्मप्रशंसा की कामना में लिप्त दिखाई देते ही हैं। परकीय समालोचना करनेवाले आत्म-समालोचना से वंचित होने के कारण स्वात्मदोषज्ञान से भी शून्य ही रहते हैं। व्यावहारिक बात भी यही है कि लोग व्यष्टि-समष्टि दोनों हितों से दिलचस्पी रखते ही हैं। चीटियों के बिल पर आटा डालने की बात ग्रामों में भी प्रचलित है। पंचमहायज्ञों द्वारा देव, पितर, ऋषि, मनुष्य तथा प्राणिमात्र के तर्पण का प्रयास किया ही जाता है। प्रेम, गर्व, श्रद्धा की भावना तो बनाने से ही बनती है। स्वाभाविक प्रेम-श्रद्धा तो माता, पिता, गुरुजनों में ही होती है परन्तु शास्त्र, धर्म, इतिहास, परंपरा आदि के अनुसार जैसे राष्ट्र के तीर्थों, ऋषियों, आदर्शों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है वैसे ही समष्टि विराट्, महाविराट्, ईश्वर, ब्रह्म आदि में भी श्रद्धा उत्पन्न होती ही है। परन्तु आपने तो धर्म, इतिहास, परंपरा आदि का नाम लेते हुए भी शास्त्र का नाम नहीं लिया है।

आप ही बतायें कि क्या यह कथन आप पर ही लागू नहीं होता कि "क्या हमारे देश में अपने को प्रगतिशील कहनेवाले लोगों को प्राचीन जीवनादर्श प्रतिगामी तथा गर्हित प्रतीत होते हैं, उनके अनुसार वे पुराने हो गये हैं ?" नूतन मसीहा नवोन्माद से पीड़ित हैं" (पृ० ३८४)। क्या शास्त्रप्रामाण्य एवं शास्त्रोक्त समाजव्यवस्था को ठुकराकर ब्राह्मण, हरिजन सब एक हैं ? सब का खान-पान, रोटी-बेटी एक करने का नवोन्माद आपमें नहीं है ? क्या यह भी पाश्चात्यों की ही देन है ? पाश्चात्यों के प्रभाव से ही शास्त्र एवं शास्त्रोक्त मर्यादाओं के अतिक्रमण को संघ ने अपा आदर्श मान लिया है। वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा के अनुसार धर्मविपरीत राजनीति

के आधार पर ही राष्ट्र की काट-छाँट की जाती है" (पृ० ३८७), धर्मनियंत्रित राजनीति में नहीं। धर्मनियंत्रित राजनीति तो विष्णु की पालनी शक्ति होती है। उसीके द्वारा व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व सबका कल्याण होता है। उसीके लिए शास्त्रों में कहा है कि दण्डनीति के नष्ट होने पर त्रयी एवं तदुक्त धर्म डूब जाता है :-

सर्वे धर्माः राजधर्मप्रधानाः।···मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।

(महाभा० शा० ६३. २७-२८)।

यह ठीक है कि 'पाश्चात्यों ने दोषों तथा दोषपूर्ण व्यवहारों को अपनाया, वह स्वतंत्रता के बदले स्ववंचना ही है।' परन्तु प्रमाणभूत शास्त्रों की उपेक्षा कर मिथ्या एवं कपोलकल्पित राष्ट्रिय आदर्श की दुहाई देनेवाले भी अनिवार्य रूप से दासतावृत्ति के गुलाम होते हैं। स्वतंत्रता का सम्मान भारतीय संस्कृति में कम नहीं, किन्तु उसका अर्थ उद्दाम पाशविक वृत्ति या इंद्रियपराधीनता नहीं। मनु के अनुसार **सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्** (४.१६०)—पराधीनता दुःख तथा आत्मवशता ही सुख है।

आप मनुवचन का उद्धरण देकर कहते हैं कि "इस देश के अग्रजन्मा पुरुषों से अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें" (पृ० ३९१)। परन्तु आपके मत में सो मानव एक ही है, फिर कौन अग्रजन्मा है और कौन अन्त्यजन्मा ? आश्चर्य है कि आपको ऐसे वचनों के उद्धरणों में संकोच नहीं होता।

आपने यह भी कहा है कि "देशभक्ति में श्रेणियाँ नहीं होतीं। भक्ति तो आत्मसमर्पण तथा बिना किसी प्रकार का विचार किये पूर्ण एवं विशेषरूप से अपने को उत्सर्ग करने की भावना है" (पृ० ३९१)। परन्तु यह सब शास्त्र एवं व्यवहार दोनों से ही विरुद्ध है। भक्तिशास्त्र में प्राकृत, मध्यम, उत्तम आदि रूपों से भक्ति की अनेक श्रेणियाँ बतायी गयी हैं।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

(भाग० ११. २. ४७)

अर्थात् जो किसी मूर्ति में श्रद्धा से भगवान् की पूजा करता है, पर भक्तों तथा अन्य रूप से भगवान् में जिसका प्रेम नहीं, वह प्राकृत भक्त है।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

(भाग० ११. २. ४६)

अर्थात् जो ईश्वर में प्रेम, ईश्वराधीन भक्तों में मैत्री, बालिशों में कृपा तथा द्वेषियों की उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

(भाग० ११.२.४५)

अर्थात् जो सर्वभूतों में भगवत्-सत्ता का अनुभव करता और सब भूतों को भगवान् में देखता है, वह उत्तमभक्त या भागवतोत्तम है।

इतना ही नहीं, और भी अनेक प्रकार के भक्ति के भेद हैं। 'भक्ति' शब्द मुख्यरूप से भगवद्भक्ति में ही प्रयुक्त होता है। देश आदि में तो भगवत्त्व का आरोप करके ही भक्ति-शब्द प्रयुक्त होता है। इस तरह भगवद्भक्ति में अनेक भेद हैं तो देशभक्ति में भेद क्यों नहीं ? जैसे भगवान् में सकाम, निष्काम दोनों ढंग की भक्ति होती होती है, वैसे ही देशभक्ति भी। वस्तुतः निष्कामता की बात करनेवाले भी सकाम ही होते हैं; क्योंकि मनु के अनुसार अकाम की कोई भी चेष्टा सम्भव ही नहीं :

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥

(मनु० २.४)

फिर भी शास्त्रीय कामनाओं से सामान्य लौकिक कामनाओं को बाधित करना और उत्कृष्ट शास्त्रीय कामनाओं से क्षुद्र पाशविक कामनाओं का बाध करना आवश्यक है। अन्त में भगवत्-कामना से सब कामनाओं का बाधकर तत्त्वसाक्षात्कार और सर्वबाध कर अमृत्व प्राप्त किया जाता है। यही अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते (ईशोप० ११) इस वेदमन्त्र का सार है।

वस्तुतः स्वकीय आत्मा का बिना विचार किये आत्मोत्सर्ग हो ही नहीं सकता। आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझ लेने पर निर्विशेष स्वप्रकाश परमात्मस्वरूप से भिन्न देश, काल, वस्तु सभीका बाध हो जाता है। जैसे घटाकाश का महाकाश में स्वात्मसमर्पण या तरंग का महासमुद्र में स्वात्मसमर्पण होता है, वैसे ही आत्मा का परमात्मा में आत्मसमर्पण ज्ञान का ही विषय होता है, क्रिया का नहीं और वह बुद्धात्म-बोध में ही पर्यवसित होता है।

अवश्य ही तत्त्वज्ञानसम्पन्न ब्रह्मविद्वरिष्ठ सर्वभूतहितैषी होते हैं। वे स्वयं भूतभौतिक प्रपंचातीत आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होते हुए उस पद पर अन्य लोगों को भी प्रतिष्ठित करने के लिए भूतों से सम्बद्ध होते हैं। तभी तो प्रह्लाद ने कहा था कि मैं इन संसारतप्त प्राणियों को छोड़कर अकेला मुक्तिपद में जाने को तैयार नहीं : नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षरेकः। (भाग० ७. ९. ४४)

बोधिसत्त्वों की धारणा है कि संसार के सब प्राणी जबतक क्लेशनिर्मुक्त नहीं होते तबतक हमें अपने मोक्ष की कल्पना भी नहीं करनी है। सर्वमुक्ति के पश्चात्

ही मोक्ष की बात सोचेंगे। फिर भी समष्टि या व्यष्टि भौतिक जगत् को ही ध्येय या प्रकाशस्तम्भ मानना जड़वादिता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। विवेक-विज्ञान के प्रतीक योगेश्वर कृष्ण एवं शौर्य, वीर्य, ओज, तेज के प्रतीक धनुर्धर पार्थ का संयोग केवल भौतिक विजय और श्री की प्राप्ति का मूल नहीं, अविद्यामय सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपंच को बाधित कर अखण्ड स्वात्मस्वाराज्यप्राप्ति का भी मूल है।

आपने कहा है कि "विश्व को नरकासुर की नीति से मुक्त करने के पश्चात् उसके द्वारा अपहृत सहस्रों स्त्रियों को छुड़ाया गया, जिसके कारण समाज के सामने गम्भीर समस्या खड़ी हो गयी। उस समय श्रीकृष्ण स्वयं आगे आये और औपचारिक रूप से उन्होंने उन सब स्त्रियों को अपनी धर्मपत्नियाँ घोषित कर उन्हें समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान किया। इसीलिए तो उनके मस्तिष्क एवं हृदय के अनुपमेय गुणों के कारण सारा संसार उनको महान् धर्मनिरूपक मानता था" (पृ० ३९७)। परन्तु आपकी ये सब कल्पनाएँ दुरभिसन्धिपूर्ण, निस्सार एवं निराधार हैं। यह तो ठीक है कि दिव्यसद्गुणसम्पन्न लोगों को अपनी महत्ता भुलाकर साधारण लोगों में मिल-जुलकर उन्हें ऊपर उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु इसके लिए शास्त्र एवं शास्त्रीय मर्यादाओं का अतिक्रमण करना तो उच्चतर समाज के आदर्शों से लोगों को एवं स्वयं अपने को भी गिराना ही है।

वस्तुतः पुराणेतिहासों को छोड़कर नरकासुर का वध और कृष्ण का सहस्रों स्त्रियों को धर्मपत्नी घोषित करना किस प्रमाण से सिद्ध है, क्या यह आप बता सकते हैं ? परन्तु पुराणों द्वारा भी उक्त कथन की सिद्धि सर्वथा असम्भव ही है; क्योंकि भागवत में स्पष्ट वर्णन है कि नरकासुर या भौमासुर के मरने पर भगवान् ने उसके समृद्धिमय भवन में प्रवेश किया और उन १६००० क्षत्रिय-कन्याओं को देखा जिन्हें विक्रम से राजाओं को जीतकर भीम ने हरणकर अपने यहाँ अवरुद्ध कर रखा था :

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम्।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः॥

(भाग० १०.५७.३३)

यहाँ स्पष्ट ही 'राजन्यकन्यानाम्' से कन्याओं का उल्लेख है। भौम ने राजस्त्रियों का नहीं, कन्याओं का हरण किया और वे सब कन्यारूप में ही सुरक्षित थीं। तभी कृष्ण ने उन राजन्य-कन्याओं को देखा, ऐसा कहा गया है। अतः समाज के नेताओं के सामने उनके सम्बन्ध में कोई भी समस्या नहीं थी। उन कन्याओं ने ही दैववशात् प्राप्त अभीष्ट पति को मन से वरण किया, यह भी वहीं स्पष्ट है :

मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम् ।
भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् ।
इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥

(भाग० १०.५९.३४-३५)

विधाता से सबने यह माँग की कि कृष्ण ही हमारे पति हों और भाव से अपना हृदय कृष्ण में स्थित किया। उनके अभिप्राय को जानकर ही कृष्ण ने उन्हें शिबिकाओं और रथों द्वारा द्वारका भेज दिया (श्लो० ३६)। द्वारका में एक शुभ-मुहूर्त पर कृष्ण ने उनके साथ विवाह किया, यह भी उल्लेख है :

अथो मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु ताः स्त्रियः ।
यथोपयेमे भगवान् तावद्रूपधरोऽव्ययः ॥

(भाग० १०.५९.४२)

एक ही मुहूर्त में भगवान् ने उतने ही रूप धारण करके नानाभवनों में स्थित उन स्त्रियों का पाणिग्रहण किया। द्रौपदी के साथ वार्तालाप करते हुए उन रानियों ने स्वयं भी यही कहा था कि क्षितिविजय के प्रसंग से राजाओं को जीतकर भौम ने हम राजकन्याओं को रुद्ध कर रखा था। हम सब संसृति से छुड़ानेवाले भगवान् के पदाम्बुज का मुक्ति के लिए ध्यान कर रही थीं। आप्तकाम भगवान् ने सगण भौम को मारकर हम सबको परिणीत किया :

भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा ज्ञात्वाऽथ नः क्षितिजयो जितराजकन्याः ।
निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ॥

(भाग० १०.८३.४०)

क्षितिजय के प्रसङ्ग से राजाओं को जीतकर भौम ने हम राजकन्याओं को रुद्ध कर रखा था। हम सब संसृति से छुड़ानेवाले भगवान् के पदाम्बुज का मुक्ति के लिए ध्यान कर रही थीं। आप्तकाम भगवान् ने सगण भौम को मारकर हम सबको परिणीत कर लिया।

श्लोक के पदों को ध्यान से पढ़ने पर आपकी कल्पना सर्वथा निस्सार हो जाती है। जो श्रीकृष्ण गीता में स्पष्ट कहते हैं कि शास्त्रविधि के अनुसार सब काम करना चाहिए, वे स्वतन्त्र धर्म के निरूपक कैसे हो सकते हैं ? वैसे धर्म के निरूपक तो आप जैसे सुधारक ही हो सकते हैं। इसीसे प्रतीत होता है कि प्रमाणों को तोड़-मरोड़कर स्वाभीष्टसिद्धि के लिए आप लोग कितना अनर्थ कर सकते हैं। फिर भी सदाचार, सच्चरित्र की बातें करते हैं।

इसी प्रकार का "एक साधु एक कुत्ते को गोद में लिये सड़क के किनारे पड़ी जूठन के टुकड़े को बड़े प्रेमपूर्वक उसी कुत्ते के साथ स्वयं भी खा रहा था। उसके निकट से जाते हुए एक व्यक्ति ने उसे पहुँचा हुआ महात्मा पहचाना और उसके पास गया" (पृ० ३९७) यह भी आपका दृष्टान्त मनगढन्त एवं सारशून्य है। इस प्रकार के आदर्शों से न समाज की सेवा हो सकती है और न समाज का उद्धार। हाँ, इससे आपके पन्थ की वृद्धि भले ही थोड़े दिनों के लिए हो जाय।

आपने अष्टावक्र के वचनों का अभिप्राय यह कहा है कि "इन सज्जनों ने मेरी हड्डी, मेरे मांस तथा मेरे चमड़े से मुझे पहचाना। कसाई हड्डी-मांस का व्यापार करता है और मोची चमड़े का। सच्चा दार्शनिक तो मनुष्य की आत्मा को पहचानता है, जो सबमें एक है" (पृ० ३९८)। परन्तु क्या आप इस ज्ञान में परिनिष्ठित हैं ? फिर क्या वह आत्मा ईसाई, मुसलमानों में नहीं है ? यदि है तो फिर एक सीमित और खण्डित समाज को ही हठ करके अपना ध्येय कैसे बनाते हैं ?

वस्तुतः ऐसी उक्तियाँ जड़ एवं भौतिक देह से आत्मभाव हटाकर ब्रह्मात्म-भावना के पोषण में ही उपयुक्त होती हैं। इनके आधार पर अघोरपंथ का समर्थन एवं शास्त्रीय समाज-व्यवस्था का अपलाप नहीं किया जा सकता। आप सौजन्य में विश्वास का प्रतिपादन करते हुए यह भूल जाते हैं कि हमने इसी पुस्तक में अपने से मतभेद दिखानेवालों की कितनी कटु, किन्तु निस्सार समालोचना की है। ठीक ही किसीने कहा है कि परोपदेश के समय सभी शिष्ट होते हैं, अपने कार्य के समय उसी शिष्टता को भूल जाते हैं :

परोपदेशवेलायां सर्वे शिष्टा भवन्ति हि।
विस्मरन्ति हि शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते ॥

बिच्छूवाला दृष्टान्त तो अच्छा ही है (पृ० ४००), परन्तु यदि वैसी ही भावना हो तभी। कार्यकर्ताओं में सद्‌गुण, सच्चरित्र के साथ मधुरवाणी का साहचर्य अपेक्षित है, यह ठीक ही है। मिथ्याभिमान सचमुच सर्वसाधारण का तथा साधक का सबसे बड़ा शत्रु है। गर्वहीन आत्मविश्वास भी कल्याणकारी है। अपने से निम्न की ओर ध्यान देने से साधारण व्यक्ति भी अपना महत्त्व समझने लगता है। अपने से ऊपर की ओर देखने से बड़ा-से-बड़ा शक्तिशाली भी अपने को क्षुद्र ही समझता है :

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥

आप श्रीकृष्ण, शंकराचार्य को आदर्श मानने का दावा करते हैं, परन्तु उनकी शास्त्रनिष्ठा, सदाचारनिष्ठा की उपेक्षा करते हैं, यही आश्चर्य है। यद्यपि उत्साही,

सच्चरित्र सन्त पुरुष जड़ प्राणी को भी अपने समान ही सन्त बना सकता है। फिर भी—

ममता रत सन ज्ञान कहानी। अतिलोभी सन बिरति बखानी॥

जैसे प्रयत्न को 'अव्यापारेषु व्यापारः' ही कहा जाता है।

आपने कहा है कि एक सेनानायक को औरंगजेब ने मुसलमान बना लिया था। वे बाद में निकलकर शिवाजी के पास आये। शिवाजी ने उन्हें हिन्दुओं में मिलाकर अपने ही परिवार के एक सदस्य का उनसे विवाह कराकर रक्त-संबंध स्थापित कर दिया था। अपने प्रत्येक सदस्य को चाहे वह कितने ही निम्नस्तर का क्यों न हो, समाज में उपयोगी स्थान प्राप्त करा दें" (पृ० ३९६-९७)। पर क्या यह उत्कोच (घूस) या तुष्टीकरण नीति नहीं ? कांग्रेस मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए रियायत कराती है, तब आप उसे दब्बूनीति तथा तुष्टीकरण कहकर तीव्र समालोचना करते हैं, परंतु क्या मुसलमानों को लड़की देकर रक्त-सम्बन्ध स्थापित करके अपनी शास्त्रीय, धार्मिक-मर्यादा को तिलांजलि देकर किसी हिन्दू या अहिन्दू को हिन्दू बने रहने के लिए प्रयत्न करना उचित है ? क्या इस घूस से आपका समाज सुस्थिर रहेगा ? क्या उनकी भी उत्तरोत्तर माँग और नहीं बढ़ेगी ?

फिर आप तो सभी मुसलमानों को आत्मसात् करना चाहते हैं। बहन-बेटी देकर आत्मसात् करने की बात चलेगी, तब हम किस मुख से ईसाइयों को भला-बुरा कह सकते हैं कि 'वे नौकरी तथा लड़कियों का प्रलोभन देकर हिन्दुओं को ईसाई बनाते हैं ?

यह कहा जा चुका है कि गीता के अनुसार सफल पुरुष आदर्श नहीं। किन्तु सफलता-असफलता, हानि-लाभ और जय-पराजय में समबुद्धि होकर जो सदा कर्तव्य-परायण है, वही आदर्श एवं पूज्य हो सकता है। संपूर्ण संसार की कौन कहे, संसार का एक राष्ट्र या एक समाज का भी आत्यन्तिक सुधार नहीं हो सकता। तभी तो सर्व में असर्वता, अकर्ता में कर्तृता, अभोक्ता में भोक्तृता, एक में अनेकता पूर्ण में अपूर्णता ही संसार है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसके उत्थान या सुधार का प्रयत्न न होना चाहिए। स्वयं भगवान् एवं उनकी प्रेरणा से ऋषि, महर्षि, आचार्य, महापुरुष समय-समय पर उसके उद्धारार्थ आते हैं। परात्पर ब्रह्म, भगवान् श्रीराम, तथा भगवान् श्रीकृष्ण भी उसके कल्याणार्थ ही प्रकट होते हैं। अपने-अपने समय में सभी उसकी उन्नति तथा उत्थान करते हैं। उनके समय के करोड़ों पुरुष कृतार्थ होते हैं। उनके पश्चात् भी उनके प्रतिष्ठापित धर्ममार्ग पर चलकर अगणित लोगों का कल्याण होता है। फिर भी संसार अपनी ही रफ्तार पर चलता है। श्रीराम के

समय करोड़ों प्राणी मुक्त हुए, करोड़ों उनके साथ साकेतधाम गये। श्रीकृष्ण की बात भी ऐसी ही है, परंतु उनके बाद ही फिर पतन प्रारंभ हो गया।

श्रीकृष्ण के परमधाम पधारते ही कलि का आरम्भ हो गया, उनके पश्चात् दो-चार हजार वर्ष भी शांति नहीं रही। आज भारत का कितना भीषण पतन हुआ है! बौद्धों का आतंक फैला, श्री शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ, उनके परम प्रतापी सिद्ध शिष्य भी आये, फिर भी नास्तिकवाद बढ़ता ही रहा। फिर भी वे सभी असफल नहीं कहे जा सकते। अधिकारियों का उनके द्वारा कल्याण हुआ ही। इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि जो समष्टि-साध्य कार्य एक व्यक्ति द्वारा अनिष्पाद्य होता है, उसकी निष्पत्ति में अनुद्विग्न होते हुए जो संभव हो, उसे करते रहना चाहिए।

आप कहते हैं : "बलिदानी महान् तो हैं, परन्तु असफलता होने के कारण उसमें कोई न कोई गंभीर त्रुटि अवश्य है। अतः वह पूज्य नहीं, पूज्य तो सफल ही होता है।" किन्तु कई असुर-प्रकृति के लोग अधिक सफल होते हैं। सात्त्विकी दैवी प्रकृति के लोग असफल होते हैं। फिर भी क्या धर्मरक्षार्थ आत्मोत्सर्ग करनेवाले असफल बलिदानी की अपेक्षा वह दानवी वृत्ति का सफल आक्रामक पूज्य कहा जा सकेगा ?

वस्तुतः आसुरी प्रवृत्ति एवं युगप्रवाह के विपरीत लक्ष्य की ओर हिम्मत के साथ बढ़ना, प्रयत्न जारी रखना परम कर्तव्य है। सफलता में विलम्ब हो सकता है। अनेकबार विरोधियों को ही सफलता मिले, तो भी उत्साहभंग बिना किये धैर्य के साथ आगे बढ़ना ही महापुरुषों का लक्षण है। सफलता और असफलता तो गौण वस्तु है।

आपद्यमग्नधैर्यत्वं सम्पद्यनभिमानिता।
यदुत्साहस्य चात्यागस्तद्धि सत्पुरुषव्रतम्॥

यह ठीक है कि मैत्री एवं अन्ताराष्ट्रिय सद्भाव अपेक्षित है, किन्तु वह न्यायमार्ग से ही उचित है, किसी भी मूल्य पर नहीं। यह सच है कि हमारे नेता कभी पाकिस्तानियों से किसी भी मूल्य पर मित्रता खरीद रहे थे और कभी चीन के साथ। उसीके परिणामस्वरूप देश को विभाजन एवं विनाश का दुर्दिन देखना पड़ा। यह भी ठीक है कि संसार के अधिकांश लोग शक्ति के ही पुजारी होते हैं। किन्तु आप भी तो शक्ति का ही गुणगान करते हैं। "ऐसे अनेक लोग हैं, जो शक्तिसम्पन्नता के समय अंग्रेजों के उपासक थे, वे ही हिटलर के प्रखर प्रताप के समय नाजीवाद के उपासक बन गये। फिर वे ही रूस एवं अमेरिका की जीत होने पर उनके साथी बन गये और नाजीवाद के निन्दक बन गये" (पृ० २४५)।

यहीं नहीं, ऐसे लोग जिनमें तथाकथित राजा-रईस, सेठ-साहूकार, महन्त-मठाधीश कुछ आचार्य एवं विद्वान् भी सम्मिलित समझने चाहिए। सभी देशों में, विशेषतः इस देश में सदा ही ऐसे लोग रहे हैं और वे सर्वथा शक्ति के ही पुजारी रहे हैं। फिर वह शक्ति चाहे विदेशी हो, चाहे स्वदेशी, चाहे ईमानदारों की शक्ति हो, चाहे डाकुओं की। उन्हें केवल शक्ति ही चाहिए, सिद्धान्त से कुछ प्रयोजन नहीं। देश में विदेशी शासन हो तो वे उसके भक्त बन जाते हैं। कम्युनिस्ट, कांग्रेस, सोशलिस्ट, रामराज्य, जनसंघ किसी भी सिद्धान्त से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं, उन्हें तो केवल शक्ति ही चाहिए। किन्तु यह भी समझना चाहिए कि ऐसे लोग अवसरवादी, सिद्धान्त-हीन, बेपेंदी के लोटे तथा सर्वथा अविश्वसनीय ही समझे जाते हैं। प्रशंसा तो सिद्धांत-वादी को ही होती है। तभी तो श्रीकृष्ण दुर्योधन की माया में न फँसकर धर्मराज युधिष्ठिर के ही साथी बने और उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'जो धर्मपक्षीय पाण्डवों साथी है, वही हमारा साथी है, जो उनका दुश्मन है, वह हमारा दुश्मन है :

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।

आपने यह भी कहा है कि "पिछले कुछ दर्शकों से हमारे देश में जो विचार चला, उसमें शक्ति को पापपूर्ण और गर्हित माना जाता रहा। अहिंसा के गलत अर्थ लगाने के कारण राष्ट्र के मस्तिष्क की विवेचन-शक्ति समाप्त हो गयी" (पृ० २४६)। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि राष्ट्र का कोई भी समझदार सदैव खल की शक्ति को पापपूर्ण समझता है। कारण खल की शक्ति सदैव परपीडन का ही हेतु रही है : **खलस्य शक्तिः परपीडनाय।** सात्त्विकी, दैवी शक्ति सदैव पूज्य एवं आदरणीय रही है; क्योंकि वह सदैव दूसरों की रक्षा के ही काम में आती रही है : **साधोः शक्तिः रक्षणाय।** रक्षिका शक्ति को कोई पागल ही पापपूर्ण कहेगा। हाँ, स्वातन्त्र्य-आंदोलन में अधिकांश लोग शक्तिहीनता के कारण ही अहिंसा-मार्ग से गतिरोध मिटाने का प्रयत्न करते रहे हैं; क्योंकि कुछ क्रांतिकारियों द्वारा किया गया किंचित् स्वल्प शक्ति-संग्रह अपरिमित, हिंसक शक्तिपूर्ण विरोधी शासकों के सामने नगण्य ही नहीं, किंतु हानि-कारक भी था। अतः कोई भी समझदार उस समय की अहिंसानीति का समर्थन ही करता। शक्तिसंग्रहमात्र का यदि देशविरोधी होता तो आनन्द-मठ के संन्यासियों के स्तुत्य शक्तिसंग्रह को प्रश्रय एवं आदर कैसे मिलता ?

आपने अहिंसा एवं शान्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि "मनुष्य को तभी विनम्र होना चाहिए जब कि वह दूसरों को विनीत करने में समर्थ हो। किसी व्यक्ति को कब क्षमाशील होना चाहिए ? तभी जब वह उतना शक्तिशाली हो जाय कि वह अपने को अपमानित करनेवाले को नष्ट कर सके। दूसरों की सेवा कब करनी चाहिए ? तभी जब वह इतना योग्य हो जाय कि संसार उसकी स्वयं इच्छा से सेवा

करने को प्रस्तुत हो।" फिर आपने श्रीकृष्ण को इसके महान् उदाहरण के रूप में रखा (पृ० २४७)। किन्तु कोई भी कार्य हिंसात्मक है अथवा अहिंसात्मक, यह निर्णय करने का मापदण्ड उसके पीछे निहित हेतु है, न कि स्वयम् वह कार्य। आपने किसी साधु के उक्त उद्धरण और 'विनाशाय च दुष्कृताम्' इस उद्धरण से सिद्ध किया है कि धर्म-संस्थापना का अर्थ है दुष्टों का विनाश।

आप यह भी कहते हैं कि "श्रीकृष्ण ने युद्ध टालने और शांति-प्रस्थापन करने का निःसंदेह उपदेश किया। उसके लिए संपूर्ण शक्ति लगा दी। परंतु उन्होंने दूरदृष्टि से स्पष्ट रूपसे समझ लिया था कि उनकी स्वयंकी श्रेष्ठतम शक्ति ही अंतिम रूप से निर्णायक है" (पृ० २५०)। अवश्य ही प्रवृत्तिमार्गीय व्यक्तियों के लिए उक्त विचार कुछ उपयोगी है। किन्तु सर्वदा-सर्वथा विनम्रता, क्षमा, सेवा और अहिंसा, शान्ति धारण करने की यही शर्त है, यह नहीं कहा जा सकता। उक्त गुणों को धारण करने की इच्छावाले साधक को पहले कृष्ण के समान शक्तिशाली ही होना चाहिए, यह कौन कह सकता है ?

वस्तुतस्तु अधिकार-भेद से साधनों की व्यवस्था होती है। राजनीतिक राष्ट्रिय पुरुषों का मार्ग दूसरा होता है और शांतिपरायण मुनियों का मार्ग दूसरा। इसीलिए कहा गया है शमेन सिद्धि मुनयो न भूभृतः। शम द्वारा मुनियों को ही सिद्धि मिलती है, राजाओं को नहीं।

आपकी 'अहिंसा'-परिभाषा के समान ही कम्यूनिस्टों की 'अपराध'-परिभाषा भी है। उनके अनुसार "चोरी, डाका, अपहरण, हत्या आदि किसी कार्य के गुण या दोष, न्याय या अन्याय के निर्णय करने का एकमात्र मापदण्ड है पीछे का हेतु, न कि स्वयम् वह कार्य। अर्थात् यदि कोई प्राणी गरीबी से परेशान है, भूखों मर रहा है या उसका पुत्र मरणासन्न है, भूखों मर रहा है चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं है, निर्दय समाज ने उसकी न्यायपूर्ण मांगों को सदा ही ठुकराया हो तो उस हालत में चोरी, डाका आदि का जिम्मेदार शोषक समाज है, न कि स्वयम् वह व्यक्ति।" परंतु क्या यह ठीक है ? विनम्रता, क्षमा, सेवा आदि ऐसे गुण हैं, जिनका धारण करना प्रत्येक ब्राह्मणादि सद्गृहस्थ के लिए अपेक्षित है। तो क्या जबतक वह श्रीकृष्ण के समान विरोधी को नष्ट कर देने में समर्थ न हो तबतक उद्दण्ड एवं अविनीत ही बना रहे ?

हमारे नेता अन्नसंकट-समस्या का एकमात्र समाधान परिवार-नियोजन ही समझने लगे हैं और चारे की समस्या का समाधान वधशाला (कत्लखाना) बढ़ाने से ही करना चाहते हैं। बरकत एवं उत्पादन विस्तार की ओर उनकी बुद्धि जाती ही नहीं। देश की लाखों एकड़ उर्वरा भूमि नगद पैसा कमाने के काम में लगायी

जा रही है। जहां पर्याप्त गेहूँ एवं जौ का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है वहाँ गन्ना, ईख, तमाखू के उत्पादन की होड़ लगायी जा रही है। महाराष्ट्र में अंगूर पैदा करने में सरगर्मी दिखायी जा रही है। उसका अधिकतर भाग मद्य-निर्माण के काम में आता है। कहीं तमाखू, कहीं मूंगफली, कहीं-कहीं तो अभी भी अफीम की खेती चलायी जा रही है। यद्यपि गन्ना आदि का भी उपयोग होता ही है, फिर भी उनके बिना हम मर नहीं सकते। परन्तु गेहूँ आदि अन्न के बिना तो जीवन ही खतरे में पड़ सकता है। अतः नगदी पैसे के मोह में पड़कर अन्न के उत्पादन की उपेक्षा अवश्य ही घातक है। किन्तु इतना ही नहीं, हमें यह भी समझना चाहिए कि धर्मनिष्ठा, धर्माचरण सुख एवं समृद्धि का हेतु होता है तथा दुराचार, पाप आदि दरिद्रता, दीनता, हीनता एवं भुखमरी का हेतु। अतः परिवार-नियोजन के वन्ध्याकरण, नपुंसकीकरण तथा गाय-बैलों की हत्या के पापों से शीघ्रातिशीघ्र बचने का उपाय करना चाहिए।

हमारे उक्त विचारोंसे असहमत लोगों को अपना विरुद्ध मत अवश्य प्रकट करना चाहिए। हमारे यहाँ विचार-विनिमय का मार्ग खुला रहता है। यदि युक्ति-युक्त, तर्कसंगत एवं शास्त्रशुद्ध खण्डन हमारे सामने आयेगा, तो हम अवश्य उसका स्वागत करेंगे। किन्तु ऐसे लेखकों को अपने प्रदर्शित लेख या पुस्तक की प्रति हमारे पास अवश्य भेज देनी चाहिए।

सुना है, राममनोहर लोहियाजी के किसी अनुयायी ने किसी पुस्तक में लिखा है कि "स्वामीजी लोहिया के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके।" किन्तु वह पुस्तक प्रयत्न करने पर भी मुझे नहीं मिली। वस्तुतः लोहिया ने कई बार मुझसे पत्र-व्यवहार किया था, दिल्ली-जेल में वे स्वयं भी मुझसे मिलते रहे। परंतु मेरी जानकारी में ऐसा कोई अवसर नहीं आया जब वे मेरे उत्तर से असंतुष्ट रहे हों। मैं प्रायः संबद्ध व्यक्तियों को अवश्य ही पुस्तक पहुँचाने का प्रयत्न करता हूँ। इतना ही नहीं, अपने पत्रों में विरोधी लेखकों के लेखों को प्रकाशित करने की प्रेरणा भी देकर विचार-विनिमय का मार्ग प्रशस्त करनेका प्रयत्न करता हूँ।

२. 'हमारी राष्ट्रियता' : एक समीक्षा

"राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ" तथा "जनसंघ" के प्रमुख नेता श्री गोलवलकर-जी की "विचार-दर्शन" तथा "हमारी राष्ट्रियता" नामक पुस्तकें देखने का अवसर मिला। इन पुस्तकों में माननीय लेखक महोदय ने राष्ट्रियता के मूल देश, जाति, धर्म, संस्कृति एवं भाषा को मानकर उनपर विचार प्रकट किये हैं। संक्षेपतः उन पर हमें भारतीय शास्त्रों की दृष्टि से कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

जाति-समीक्षा

जाति के सम्बन्ध में आपने जो धारणा प्रकट की है, वह स्पष्ट है। आपका कहना है कि "जाति एक परंपरागत समाज को कहते हैं, जिसके आचार, भाषा तथा वैभव अथवा विनाश की स्मृतियाँ समान होती हैं। संक्षेप में वह एक जन-समुदाय होता है, जिसका उद्भव समान एक-संस्कृति की छाया में होता है। इस प्रकार की जाति को राष्ट्र का एक अंग कहते हैं।"

वस्तुतः जाति की जो भी शास्त्रीय परिभाषाएँ हैं, उनसे उपर्युक्त परिभाषा का कोई मेल नहीं बैठता। आचार, भाषा, कला आदि परिवर्तनशील वस्तुएँ हैं, उनके आधार पर नित्य-वस्तु जाति निर्भर नहीं कही जा सकती। हिन्दुओं के आचार तथा भाषाओं में परस्पर महान् भेद है। एक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के आचारों में बड़ा अन्तर है। 'संस्कृत भाषा ही सबकी भाषा है,' यह कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। शास्त्र की दृष्टि से भी संस्कृत द्विजातियों की ही भाषा कही गयी है। कई लोगों के लिए तो संस्कृत शब्दों का उच्चारण भी निषिद्ध है : **नोच्चरेत् संस्कृतां गिरम्** (स्कन्दपुराण)। यही कारण है कि नाटकों में प्राकृत का प्रयोग अबाध रूप से होता है। अतएव धर्म के आधार पर ही 'हिन्दूजाति' का व्यवहार उपयुक्त है। 'कुरान' के अनुसार जैसे इस्लाम-धर्मानुयायी मुसलमान होता है, 'बाइबिल' के अनुसार जैसे ख्रिस्त-धर्मानुयायी ईसाई होता है, वैसे ही हिन्दूशास्त्र वेद एवं वेदानुयायी आर्ष धर्मग्रन्थों के अनुसार हिन्दूशास्त्रोक्त धर्म का विश्वासी ही हिन्दू होता है। यही एक ऐसी परिभाषा है, जिसके अनुसार हिन्दूजाति की सभी श्रेणियाँ उसमें अन्तर्गत हो सकती हैं। साथ ही अन्यान्य चाहे जो कोई लोग भी हिन्दू-जाति के भीतर एक अन्त्यज या मानव श्रेणी में आ सकते हैं, यद्यपि 'जन्मना वर्ण'-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणादि श्रेणियों में किसी अन्य का सन्निवेश नहीं हो सकता।

आप लिखते हैं कि "चाहे उस (राष्ट्र) में कुछ लोगों का मूल विदेश ही हो, उन्हें इस मातृजाति में इस प्रकार मिल जाना चाहिए कि जो अलग किये ही न जा सकें। उन्हें मौलिक राष्ट्रिय जाति के साथ केवल आर्थिक, राजनीतिक जीवन में ही एक होना आवश्यक नहीं; वरन् उसके धर्म, संस्कृति और भाषा में भी एक हो जाना चाहिए। अन्यथा वे राष्ट्र-कलेवर का अंग नहीं हो सकते। यदि मातृजाति नष्ट हो जाती है, तो उन मनुष्यों का नाश होने पर, जिनके सम्बन्ध से वह बनी है, अथवा उसके आधारभूत सिद्धान्तों तथा धर्म-संस्कृति के नाश हो जाने पर तो राष्ट्र का स्वतः अन्त हो जाता है।"

वस्तुतः **आकृतिग्रहणा जातिः** (महाभाष्य ४.१.६३) अर्थात् अनुगत एक-प्रत्ययगम्य संस्थान, आकृति-व्यंग्य या उपदेशगम्य जाति शरीर के रहते हुए बदल नहीं सकती। मृत श्वान के शरीर को भी श्वान ही कहा जाता है। इस प्रकार की जाति में अन्य जाति के लोगों का सन्निवेश किस तरह हो सकता है, यह विचारणीय है। आपने **समानप्रसवात्मिका जातिः** इस परिभाषा पर बड़ा जोर दिया है, लेकिन वह कल्पनामात्र है। आपकी दृष्टि में इस न्यायसूत्र के अनुसार एक प्रकार के जन्म-वाले एक जाति के समझे जाने चाहिए। परन्तु वनस्पति और पशु दोनों प्रकार के प्राणी किसी न किसी प्रकार अपने पूर्वज के शरीर से उत्पन्न होते हैं। फिर तो सबकी जाति एक ही है। माता-पिता के शुक्र-शोणित से सबकी उत्पत्ति होती है, अतः मनुष्य, सिंह, साँप सभीको एक जाति का माना जाना चाहिए। कुछ संकीर्ण दृष्टि से देखने पर दूध पीनेवाले मनुष्य, कुत्ते, ऊँट, चूहे, गधे आदि में भी प्रसवभेद नहीं दिखायी देता। फिर तो किसीकी पृथक्-जाति की कल्पना ही नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः उक्त न्यायसूत्र का अर्थ यह है कि समान बुद्धि का प्रसव करनेवाला गोत्व आदि धर्म ही जाति है। उसीके द्वारा 'गौः गौः' इत्याकारक समानबुद्धि समस्त गो-व्यक्तियों में होती है।

"विचार-दर्शन" पुस्तक में वर्ण-व्यवस्था की बात मानी गयी है और वर्ण-व्यवस्था के अनुसार 'ज्ञानदान, शत्रुसंहार, कृषि-वाणिज्य' आदि कर्मों की व्यवस्था भी मानी गयी है। परन्तु इतना ही नहीं, जीविकार्थ कर्मों के अतिरिक्त अदृष्टार्थ भी अनेक कर्म होते हैं। उनमें व्यवस्था है। याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह, वाजपेयादि ब्राह्मणों के कर्म हैं। याजन, अध्ययन, दान तथा राजसूय, वैश्यस्तोमादि में क्षत्रिय, वैश्य का अधिकार है।

कहा जाता है कि "संघी एवं सभाई दोनों ही वर्णाश्रम धर्म को मानते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। एक ओर वे राम, कृष्ण आदि अवतारों को भी मानते हैं, मंदिर-प्रवेश, मूर्तिपूजन आदि का समर्थन करते हुए अपने को 'सनातनी'

कहते हैं और दूसरी ओर 'जन्मना वर्ण' व्यवस्था न मानकर 'कर्मणा वर्ण'-व्यवस्था का पोषण करते हैं। आप तथा हिन्दू-सभा जन्मना मुसलमानों को शुद्धि द्वारा हिन्दू बना लेने के पक्ष में हैं। इसके अनुसार कोई भी शुद्ध मुसलमान ब्राह्मण, क्षत्रिय बन सकता है, जन्मना ब्राह्मण के साथ विवाहादि कर सकता है। इस प्रकार रक्त-सांकर्य तथा वर्ण-सांकर्य होना स्वाभाविक है। श्रीकृष्ण एवं कौटल्य वर्णसंकरता को राष्ट्र-विप्लवकारी तथा कुल-विनाशकारी बतलाते हैं। श्रौत-स्मार्त सभी धर्म-कर्म 'जन्मना वर्ण'-मूलक ही है। कर्मणा वर्णव्यवस्था अनिश्चित एवं अव्यवस्थित है, तब दिनभर में कितनी ही बार वर्ण बदल सकता है। घर की सफाई करते हुए अन्त्यज, घर का काम करते हुए शूद्र, सौदा खरीदते हुए वैश्य, कुत्ता हटाने के लिए दण्ड हाथ में लेते ही क्षत्रिय, पूजा-पाठ करते हुए ब्राह्मण बन जाना सहज बात है।[1]

धर्म और संस्कृति

धर्म तथा संस्कृति के सम्बन्ध में आपका कहना है कि "वह जहाँ जनता का प्राण है, जहाँ वह व्यक्ति एवं समाज के सारे कर्मों का समानरूप से नियंत्रण करता है, वहीं धर्म और संस्कृति का विवेचन कठिन है।" किन्तु वे धर्म की स्पष्ट परिभाषा नहीं बतलाते। संस्कृति के सम्बन्ध में आपका कहना है कि "युगों से चले आये आचार, परम्पराएँ, ऐतिहासिक तथा अन्य अवस्थाएँ एवं धार्मिक विश्वास और तदनुगामी दर्शन का सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ता हुआ प्रभाव संस्कृति होती है। एक विचित्र जातिभावना का (जिसकी व्याख्या करनी कठिन है) सृजन करते हुए यह मुख्यतया उसी धर्म तथा दर्शन का स्पष्ट फल होती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस जाति की चेतना पर अपनी विशेष मुद्रा अंकित करते हुए सामाजिक जीवन का नियन्त्रण करती है।" परन्तु वे यूरोपीय धर्म को ऐसा नहीं मानते। अतएव वहाँ धर्म से भिन्न ही संस्कृति है। आपका कथन है कि "यूरोप में ईसाई-धर्म सबका समान होने पर भी विशेष संस्कृति जातीय-भावना का विकाश करती है। प्रत्येक जाति उस विभिन्न आकृति पर अभिमान करती है और अत्यन्त उद्योग से उसकी रक्षा करती है। इस तरह धर्म जहाँ विभेदकारी नहीं होता, वहाँ संस्कृति ही राष्ट्रभावना के अन्य आवश्यक तत्त्वों के साथ विशिष्ट राष्ट्रियता के निर्माण में एक निर्णायक वस्तु बन जाती है" (पृ० ३८-३९)। इन बातों से आपके धर्म और संस्कृतिसम्बन्धी भावों पर प्रकाश पड़ता है।

वस्तुतः जबतक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा निश्चित आगम या शास्त्र के प्रामाण्य

(१) जाति का संक्षिप्त विवेचन आगे किया गया है। विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़िये : "सिद्धान्त", वर्ष २ के १७, १९-२०, ३१ और ३६ अंक।

का विचार न हो, तबतक धर्म एवं संस्कृतिसम्बन्धी सभी कल्पनाएँ निराधार ही रहती हैं। कितने ही अन्धविश्वास, अन्धपरम्पराएँ तथा रूढ़ियाँ हैं, जिनका परित्याग करना अभीष्ट समझा जा रहा है। फिर केवल परम्पराओं एवं विश्वासों के आधार पर धर्म या संस्कृति का निर्णय किस तरह किया जा सकता है? इतिहास भी सब ग्राह्य नहीं होते, क्योंकि इतिहास तो सम्पत्ति-विपत्ति, पुण्य-पाप सभी तरह का होता है। किसी भी समाज में भली-बुरी सभी तरह की घटनाएँ घटती हैं। उनमें से न सभी उपादेय होती हैं और न सभी त्याज्य ही।

संस्कृति की परिभाषाएँ : 'युगों से चले आये आचारों, परम्पराओं, ऐतिहासिक तथा अन्य अवस्थाओं एवं धार्मिक विश्वास तथा तदनुगामी दर्शन के सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ते हुए प्रभाव' को 'संस्कृति' कहा गया है। एतावता 'सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ता हुआ प्रभाव स्वतन्त्र रूप से संस्कृति है। 'परम्पराप्राप्त आचार' स्वतन्त्र रूप से संस्कृति है, 'परम्पराएँ तथा ऐतिहासिक एवं अन्य अवस्थाएँ' स्वतन्त्र रूप से संस्कृति है। यहाँ 'युगों से चले आये आचारों' से भिन्न 'परम्पराएँ' क्या हैं? एवं 'ऐतिहासिक तथा अन्य अवस्थाएँ' क्या हैं? इन सबका कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। साथ ही यह सब 'संस्कृति' शब्द का अर्थ क्यों है, इस सम्बन्ध में भी किसी भी प्रकार के प्रमाण का उपन्यास नहीं किया गया है, जिससे सभी बातें निराधार एवं अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती हैं।

यद्यपि उक्त पुस्तक में अनेक स्थानों में वेद, रामायण, महाभारत तथा ऋषियों का नाम आदर से लिया गया है, तथापि तदनुसार आचार-विचार, वर्णाश्रम-व्यवस्था का 'संघ' में कोई आदर नहीं है। 'संध्या' तक में प्रवृत्ति नहीं है। बल्कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरुद्ध शूद्र-अन्त्यजों का स्पृष्ट भोजन-पान आदि 'संघ'में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं आदृत है।

आप लिखते हैं कि "हिन्दुस्थान में तो धर्म एक सर्वव्यापी सत्ता है। वह जीवन के सुदृढ़ दर्शन की अटल नींव पर स्थित है। अतएव जाति के जीवन में अनन्तकाल से एकाकार हो गया है।" परन्तु वह क्या है, इसे स्पष्ट नहीं किया गया। इतना ही नहीं, आप लिखते हैं कि "जीवन का प्रत्येक कर्म, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा जातिगत अथवा राजनीतिक, सब धार्मिक आदेश होता है।" यदि युद्ध करना या शान्ति स्थापित करना, कला या उद्योग, धनसंग्रह या दान, मरना-जीना सब कुछ जिसके आदेश पर होता है, तो वह फिर अज्ञात क्यों? क्या उस धर्म का स्वरूप सब लोग जानते हैं और सबका जीवन-मरण धर्मानुसार ही है? यदि हाँ, तो यह भीषण पतन क्यों?

इतना ही नहीं, आप यह भी लिखते हैं कि "स्वभावतः हम वही बन गये, जो

हमारे धर्म ने हमें बनाया।" क्या सचमुच हम जैसे बने हैं, धर्म ने ही वैसा बनाया है? यह धर्म का गोरखधन्धा विचित्र है। आगे आपका कहना है कि "हमारी जातीय भावना, हमारे धर्म की सन्तान और इस प्रकार हमारी संस्कृति, हमारे सर्वव्यापी धर्म की प्रसूति एवं उसके कलेवर का एक अविभेद्य अंगमात्र है।" बिना प्रमाण के मनमाना कुछ लिखना-कहना आजकल का एक फैशन-सा हो गया है। इसीलिए निराधार कार्य-कारणभाव, जन्य-जनकभाव की भी कल्पना कर ली जाती है। ऐसी असम्बद्ध बातों पर क्या विचार किया जाय?

यद्यपि 'धर्म व्यक्तिगत वस्तु है, उसका राजनीतिक जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिए' इस पक्ष का हम भी खण्डन करते हैं। फिर भी वस्तुतः धर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति तो व्यक्तिगत रूप से ही मान्य है। अतएव देश, काल, नाम, गोत्रादि के उच्चारणपूर्वक ही धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान होता है। कहा जाता है कि "साररूप में धर्म तो समाज के सारे कर्मों का उचित रूप से परिचालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के लिए अवकाश रखता है तथा प्रत्येक प्रकार का मानसिक ढाँचा ग्रहण करने के लिए उचित मार्ग प्रदान करता है। साथ ही वह सम्पूर्ण समाज को सदाचार द्वारा भौतिक से आध्यात्मिक स्तर पर उठाकर पहुँचा देता है।" जान पड़ता है, आपका यह धर्म वर्णाश्रमानुसारी श्रुति-स्मृतिबोधित धर्म से कोई विलक्षण है। वस्तुतः व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है। अतः व्यक्ति के उत्थान से ही समाज का उत्थान होना सम्भव है। व्यक्तिगत रूप से ही अनुष्ठित धर्म व्यक्ति का उत्थान करता है। यदि व्यक्तियों के समुदाय ने धर्म का अनुष्ठान किया, तो समाज का भी उत्थान होता है। समाज में भी ब्राह्मणादि जातियों को ही उद्दिष्ट कर तत्तत् धर्म विहित हैं, अविशेषेण धर्म का विधान नहीं है, अवश्य ही सामान्यधर्म मनुष्यमात्र के लिए विहित हैं।

आपका यह भी कहना है कि "जिस प्रकार अनेक मस्तिष्क होते हैं, उसी प्रकार अनेक मार्ग भी होते हैं। यही धर्म का आध्यात्मिक नियम है। यह सांसारिक अथवा भौतिक स्तर में भी प्रत्येक मनुष्य की मनुष्यता के पूर्ण आकारपर्यन्त विकसित होने के लिए अवसर प्रदान करने की क्षमता रखता है। साथ ही उस उच्चतम आध्यात्मिक जीवन तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति के पथप्रदर्शन एवं नेतृत्व के लिए अपने कार्य में क्षणभर के लिए विरत नहीं होता। ऐसा धर्म उपेक्षित नहीं हो सकता।"

वस्तुतः शास्त्रों की दृष्टि से कर्म ही धर्म है। धर्म संस्कार या फल द्वारा भले ही प्रेरक हो, स्वयं वह अनुष्ठेय ही है। धर्म की उपर्युक्त व्याख्या इस तरह निश्चित धर्म के सम्बन्ध में दूर से सुननेवाले ही करते हैं। व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है,

यह पहले कहा जा चुका है। उसीके लिए राजनीति होती है। व्यक्तियों एवं समाज के लाभार्थ ही धर्म और राजनीति भी है। अतः जो धर्म व्यक्तियों एवं समुदाय को अपेक्षित है, उसकी विरोधिनी नीति कभी भी आदरणीय नहीं हो सकती। बल्कि धर्म का ही नियंत्रण राजनीति पर होता है।

आपका यह कहना सच है कि "राजनीति भी धर्म का एक छोटा-सा अंशमात्र है। हम अपने राष्ट्रिय-जीवन में धर्म को नहीं छोड़ सकते।" आश्चर्य है कि आप वेद एवं रामायण तथा महाभारत का नाम लेते हैं, धर्म का महत्त्व वर्णन करते हैं, फिर भी 'धर्म' नाम से प्रसिद्ध क्रियाओं के प्रति आपको कोई आदर नहीं। प्रत्युत उसके विपरीत ही चेष्टा का प्रचार आपके यहाँ चलता है। शास्त्रानुसार उपनयनादि संस्कारों, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियमों की उपेक्षा तथा खान-पान, विवाहादि में शास्त्रीय व्यवस्थाओं की अतिक्रमण भी स्पष्ट लक्षित होता है। वस्तुतः आजकल के लोग धर्म को बहुत दुरूह बतलाकर 'धर्म' नाम से प्रसिद्ध क्रियाओं की ओर दुर्लक्ष्य करना चाहते हैं। वे कहा करते हैं कि 'खाने-पीने, विवाह-शादी से धर्म का क्या सम्बन्ध ? धर्म कोई कच्चा धागा नहीं, जो खान-पान से टूट कर नष्ट हो जाय।' बस, इसी दृष्टि से धर्म की बड़ी-बड़ी बातें करते हुए भी भंगी, चमार सबकी रोटी खाने में लोग धर्म की हानि नहीं समझते। होटल की बनी चाय, बिस्कुट पीना-खाना, संसारभर के जूठे चीनी-मिट्टी के बर्तनों में खाना अनुचित नहीं समझते। संध्या, सूर्यार्घ्यदान, वैश्व-देव, श्राद्ध, तर्पण, अग्निहोत्रादि तथा शास्त्रोक्त आचारों की उपेक्षा करते हैं।

शास्त्रों में धर्म का लक्षण करते हुए बतलाया गया है कि जिससे ऐहिक पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस् (मोक्ष) का साधन हो और जो समाज एवं व्यक्तियों का धारण-पोषण करे, वही धर्म है : **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (वैशे० सू० १ १.२)। इस प्रकार यद्यपि धर्म का तटस्थलक्षण पूरा हो जाता है, तथापि जबतक स्वरूप-लक्षण प्रतिपादित नहीं होता, तबतक उसके संबंध में संदेह बना ही रहता है कि 'वे अभ्युदय–निःश्रेयस् किससे मिलते हैं ?' इस प्रश्न के समाधान के ही लिए महर्षि जैमिनि ने बतलाया कि 'प्रवर्तक–निवर्तक वेदवाक्यों द्वारा लक्षित अर्थ ही धर्म एवं अधर्म हैं : **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** (मीमांसादर्शन १.१.२.)। अतएव वस्तुतः शास्त्रगम्य कर्म ही धर्म एवं शास्त्रनिषिद्ध कर्म ही अधर्म है।

आप यह भी कभी कहते हैं कि "यूरोप में एक ही धर्म है। प्रकृत्या धर्म वहाँ विभेदकारी जातीयता का निर्माण नहीं करता। इसी कारण वहां राष्ट्रों में कलह, युद्ध एवं शांति के किसी कार्य में धार्मिक उत्साह कोई प्रेरणा नहीं करता। ऐसी में स्थिति में जाति, संस्कृति और संभवतः भाषा की विभिन्नता होने के कारण राष्ट्रिय

भेदभाव उत्पन्न होते है।" यह कथन भी आंशिक ही सत्य है, क्योंकि हिन्दूधर्म में भी ईश्वर की आराधना और पूजा को मुख्य-धर्म माना गया है :

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। (भाग० १. २. ६.)

इज्याचारदमाऽहिंसा-दान-स्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥ (याज्ञ० स्मृ० १.८)

अर्थात् यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, स्वाध्यायादि कर्मों में परम, सर्वश्रेष्ठ धर्म है योग (चित्तवृत्ति-निरोध) द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करना। मुसलिम-धर्म तथा ईसाई-धर्म मे धर्म के नाम पर जो संघटन है, वह हिन्दुधर्म में परिलक्षित नहीं होता। उनमें अपने धर्मग्रन्थ एवं धर्म के प्रति जो दृढ़ता है, वह आपके अनुयायियों में नहीं। स्वयं आप भी किसी भी एक ग्रन्थ को सांगोपांग मानने को तैयार नहीं।

"रूस का समाजवाद भी धर्म है" यह आपका नया 'इलहाम' मालूम पड़ता है। जो प्रत्यक्ष ही धर्मविरोधी हैं, उनके मत्थे भी उनके यथेष्टाचार को ही 'धर्म' कहकर लादना कहाँतक उचित है? वह धर्म तो वैसा ही है, जैसा कि 'भट्टिकाव्य' में किसी राक्षस का कथन है कि 'ब्राह्मणों, गौओं आदि को मारना, यज्ञविध्वंस करना हमारा धर्म है :

अघ्नो द्विजान् देवयजान्निहन्मः कुर्मः पुरं प्रेतपुराधिवासम्।
धर्मो ह्ययं दाशरथे निजोनो नैवाध्यकारिष्महि वेदवृत्ते॥

(भट्टिकाव्य २.३४)

इसपर भगवान् राम ने उत्तर दिया :

धर्मोऽस्ति सत्यं तव राक्षसायमन्यो व्यतिस्ते तु ममापि धर्मः।
ब्रह्मद्विषस्ते प्रणिहन्मि येन राजन्यवृत्तिर्धृतकार्मुकेषुः॥ (वही २.३५)

हे राक्षस! पूर्वोक्त ब्राह्मणघातादि तुम्हारा धर्म है, यह ठीक है। किन्तु इसके विपरीत हमारा भी यह धर्म है कि तुम जैसे ब्रह्मघातियों का वध करें। इसीलिए क्षत्रिय-वृत्ति के अनुसार हमलोग धनुष-बाण धारण करते हैं।

आपका कहना है कि "यूरोप में राजनीतिक परिवर्तनों से धार्मिक स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ।" किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जड़वादी, भौतिकवादी, मार्क्सवादी राजनीति से अवश्य ही धार्मिक भावनाओं का बाध होता है। व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदि न रहने से यज्ञ, दान, तप आदि सभी धर्मों पर प्रत्यक्ष आक्रमण होता है। शास्त्र भी दण्डनीति में गड़बड़ी होने से त्रयी (वेद) एवं त्रयीप्रोक्त धर्म का सर्वथा संकट में पड़ जाना बतलाते हैं : **मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्** (महाभा० शान्ति० ६३.२८)।

३. राष्ट्रियता की कसौटी

देश, जाति, धर्म, संस्कृति और भाषा ये पाँचों वस्तुएँ यद्यपि आदर की पात्र हैं, फिर भी ये ही राष्ट्रियता की मूल-वस्तु हों' यह आवश्यक नहीं। अल्पसंख्यकों की समस्या का विचार तभी उठता है, जब एक देश में किसी एक धर्म के लोगों का बाहुल्य हो तथा भिन्न धर्म के लोग अल्पसंख्यक हों। ब्राह्मण, क्षत्रियादि में भी बहु-संख्यक-अल्पसंख्यक हैं। शैवों-वैष्णवों, हिन्दुओं-जैनों के भेद में भी अल्पसंख्यक-बहु-संख्यक होने का प्रश्न उठता है। मुसलमानों में भी शिया-सुन्नियों में अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक का प्रश्न उठता है। माना कि किसी देश में जड़वादियों का ही बाहुल्य हो, तब भी वहाँ अल्पसंख्यकों का प्रश्न उठ सकता है। इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का ही राज्य होता है। सरकारी कोष से ईसाईयत का प्रचार होता है। अंग्रेजी भाषा को अन्ताराष्ट्रिय भाषा बनाने का निरन्तर प्रचार चलता है। जर्मनी ने अपनी भौगोलिक राष्ट्रिय एकता का प्रयत्न किया। आस्ट्रिया ने (जो कि जर्मनी का ही एक प्रान्त था) प्रशिया, बवेरिया तथा जेकोस्लोवाकिया आदि के नये राष्ट्र बनाकर जर्मन जाति के पैतृक देश का अपहरण किया था। जर्मनी ने तीव्र प्रयत्न से अपने पैतृक देश पर पुनः अधिकार कर लिया, अपनी भाषा में दृढ़ता का प्रयत्न किया और यहूदियों का 'अनार्य' कहकर अपने देश से निकाल बाहर किया।

भाषा को भी मुख्यरूप से राष्ट्रियता का आधार कहा जाता है। किन्तु भारत में भाषा का भेद आपके मन्तव्य के स्पष्टरूप से विरुद्ध है। आपका यह भी कहना कि "हमारी भाषा में भेद का बोधक कोई शब्द ही नहीं है", आश्चर्य की बात है। भारतीय दर्शनों के अनुसार धर्म या लक्षण स्वयं ही भेदक होते हैं। वैशेषिक-दर्शन ने तो 'विशेष' नाम के अनंत व्यावर्तक पदार्थ माने ही हैं।

वैसे अहिन्दुओं के सम्बन्ध में यद्यपि संघी कहा करते हैं कि 'हमारी नीति समता की है, किन्तु आप 'हमारी राष्ट्रिता' के पाँचवें प्रकरण में कहते हैं कि "हमें पहले ही यह ध्यान रख लेना होगा कि जहाँतक राष्ट्र का सम्बन्ध है, जो देश, जाति धर्म, सस्कृति और भाषा, इन पाँच सीमाओं के बाहर हैं वे राष्ट्रिय जीवन में तब-तक स्थान नहीं प्राप्त कर सकते, जबतक अपने भेदभावों की तिलाञ्जलि देकर वे राष्ट्र के धर्म, संस्कृति और भाषा को ग्रहण नहीं कर लेते तथा राष्ट्रिय जाति में पूर्ण-रूप से विलीन नहीं हो जाते। जबतक वे किसी भी प्रकार के अपने जातीय, धार्मिक तथा सांस्कृतिक भेदों को रखे हुए हैं, वे विदेशी ही हैं, चाहे वे राष्ट्र के मित्र हों या शत्रु। सभी प्राचीन राष्ट्रों में, जिनका राष्ट्रिय जीवन महायुद्ध के पहले भी पूर्ण

विकसित था, यही दृष्टिकोण स्वीकृत है। यद्यपि वे राष्ट्र धार्मिक सहनशीलता का व्यवहार करते हैं, तो भी आगंतुकों को राजधर्म के रूप में राष्ट्रिय धर्म स्वीकार करना पड़ता है, राष्ट्रिय समाज में अभिन्न रूप से सम्मिलित हो जाना पड़ता है। राष्ट्र के साथ एकाकार हो जाना पड़ता है। आगन्तुकों को स्वभावतः ही मुख्य निवासियों के समूह में–राष्ट्रिय जाति में–उसकी संस्कृति एवं भाषा को स्वीकार कर, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं में भाग बँटाकर, अपने विभिन्न अस्तित्व की सम्पूर्ण चेतना को खोकर तथा अपने विदेशी मूल को भूलकर एकरूप हो जाना पड़ता है। अन्यथा उन्हें बाहरी जनों की भाँति रहना पड़ता है तथा वे किसी भी प्रकार के विशेष संरक्षण के पात्र भी नहीं समझे जाते।

किसी स्वत्व एवं अधिकारों की बात तो दूर रही। वहाँ विदेशी समूहों के लिए दो ही मार्ग खुले हैं: या तो राष्ट्रिय जाति में विलीन हो जायँ तथा उसकी संस्कृति ग्रहण कर लें अथवा जाति की इच्छा के अधीन बसते रहें। यही है तर्कयुक्त ठीक-ठाक हल। हिंदुस्थान में या तो विदेशी जातियों को अवश्य ही हिंदू-संस्कृति और भाषा ग्रहण कर लेनी चाहिए, हिन्दू-धर्म का सम्मान करना सीखना चाहिए, हिन्दू-जाति, संस्कृति एवं हिन्दू-राष्ट्र को गौरवान्वित करने के अतिरिक्त कोई भाव हृदय में नहीं रखना चाहिए। युगों से चली आयी परंपराओं के प्रति असहनशीलता एवं अकृतज्ञता का अपना भाव ही त्यागना आवश्यक नहीं, वरन् उसके प्रति प्रेम, श्रद्धा का निश्चित भाव भी धारण करें अर्थात् या तो विदेशीयता त्याग करें अथवा पूर्णतया हिन्दू-राष्ट्र के अधीन होकर देश में ठहरें। किसी वस्तु पर उनका अधिकार न होगा, वे किसी विशिष्ट अधिकार के पात्र नहीं, अधिक श्रेष्ठ व्यवहार की बात तो दूर रही, उन्हें नागरिक अधिकार भी नहीं मिलेंगे।"

आप भी हिन्दुस्थान के हिन्दुओं की एक ऐसी अवस्था पर विश्वास करते हैं, जिसने 'किसी अविज्ञात समय में हिन्दुस्थान में प्राकृत अवस्था छोड़ दी और एक सुव्यवस्थित सभ्य सजातीय सत्ता प्रारम्भ कर दी।' इससे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि कभी न कभी हिन्दुस्थान के हिन्दू प्राकृत अवस्था (जंगली अवस्था) और असभ्य अवश्य थे। किन्तु वह बहुत चिरकाल की बात है। आपके अनुसार 'वेदादि-साहित्य प्राचीनतम मात्र कहे जा सकते हैं, अनादि-अपौरुषेय नहीं। वे एक उन्नत भावोंके संग्रहमात्र हैं।' इससे इतना सिद्ध है कि वेद उन्नत भावों का संग्रह है; बहुत प्राचीन है और उनका गौरवपूर्ण अस्तित्व गर्व का विषय है। परन्तु वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता या ईश्वरनिर्मितता आदि आपके मस्तिष्क में नहीं बैठी। वेदों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत दोनों को आपने 'महाकाव्य' के रूप में स्मरण किया है। इसी प्रकार गीता को महाभारत का 'अनश्वर मुकुट-मणि' कहा है। आपने महाभारत को पैंतालिस सौ या पाँच हजार वर्ष प्राचीन मानकर यह बतलाया है कि

"वह महाभारत जिस एक अत्यंत सुसंघटित, परिष्कृत एवं सुसभ्य समाज का चित्रण करता है, जो शक्ति एवं कीर्ति के उच्च शिखर पर था। उसे वह अवस्था प्राप्त करने में कितना समय लगा होगा।" इससे हिन्दू-जाति की प्राचीनता तो सिद्ध की गयी, पर साथ ही यह भी मान लिया गया कि 'वह मूलतः असभ्य थी।'

आपने लोकमान्य की यह कल्पना कि 'आर्यों का स्थान उत्तरी ध्रुव था,' सही मानी है। परन्तु उत्तरी ध्रुव को अस्थिर मानकर बताया है कि "उत्तरी ध्रुव बहुत समय पूर्व पृथ्वी के उस भाग में था, जिसे आज 'बिहार एवं उड़ीसा' कहा जाता है। वहाँसे वह उत्तर-पूर्व को चला गया। ऐसी स्थिति में हिन्दू उत्तरी प्रदेश को छोड़कर हिन्दुस्थान में नहीं आये, किन्तु उत्तरी ध्रुव ही हिन्दुस्तान में हिन्दुओं को छोड़कर प्रवास कर गया।" आधुनिक भू-गर्भशास्त्रियों को उत्तरी ध्रुव का इतना परिवर्तन कहाँ तक मान्य है, यह बात अलग है। किन्तु श्री सम्पूर्णानन्दजी ने तो 'आर्यों का आदिदेश' पुस्तक में लोकमान्य का पक्ष खण्डनकर यही सिद्ध किया है कि 'वेदों तथा अवेस्ता के आधार पर भारतवर्ष में सप्तसिंधु प्रदेश ही आर्यों का आदिदेश है।' आपने हिन्दू-जाति के आदर्शरूप में स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, गांधीजी और अरविन्द को रखा है, जिनका रामायण-महाभारत की सभ्यता से मेल नहीं खाता, जिनके सिद्धांतों का परस्पर कोई सामंजस्य नहीं है।

उक्त पुस्तक में आपका कहना है कि "हमें एक ओर तो मुसलमानों से और दूसरी ओर अंग्रेजों से युद्ध करना पड़ेगा।" आपके अनुसार "मुसलमान राष्ट्र के अंग नहीं हो सकते, उन्हें नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हो सकता। शत्रु-मित्र, चोर-स्वामियों की एक ऊटपटांग गठरी राष्ट्र नहीं।" पुस्तक में फाउलर होलकोम्बे, वर्गेस आदि के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि "राष्ट्रियता से उस जनसमुदाय का बोध होता है, जिसकी जाति, भाषा, धर्म, परंपरा और इतिहास के बन्धन समान हों।" वर्गेस के अनुसार 'राष्ट्र' का अर्थ है जनसमुदाय, जिसकी भाषा एवं साहित्य, आचार तथा भले-बुरे का साम्य हो और जो भौगोलिक एकतायुक्त देश में रहता हो। 'गाल्पोविक' की परिभाषा है कि "सभ्यता की समानता ही राष्ट्र है।" तथा च भौगोलिक एकतायुक्त देश, जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा यह राष्ट्र है, (संस्कृति में ही ऐतिहासिक परम्पराओं का अन्तर्भाव है)। भारतीय दृष्टिकोण से राष्ट्रभाव अगले अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

'विचारदर्शन' में आप यह भी कहते हैं कि "मुसलमानों एवं ईसाइयों को चाहिए कि वे अपने आपको हिन्दू कहें और उन्हें हिन्दू-परम्परा का अभिमान हो। फिर भी वे प्रभु ईसा या मुहम्मद के उपासनामार्ग पर चलने के लिए स्वतंत्र हैं। किन्तु उपासना के साथ-साथ जीवन का संपूर्ण व्यवहार बदलने की आवश्यकता नहीं। व्यक्तिधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म भी राष्ट्र-धर्म होता है। उपासना-मार्ग का

परिवर्तन होने से राष्ट्रधर्म या कुलधर्म में परिवर्तन उचित नहीं। अतः मुसलमान, ईसाई अपने नाम राम, कृष्ण, अशोक, प्रताप आदि न रखकर जान, थामस, अली, हसन, इब्राहिम आदि क्यों रखते हैं? चर्च या मसजिद में जाने से खून विदेशी नहीं हो सकता।"

वस्तुतः 'बाइबिल', 'कुरान' आदि को मानते हुए ईसाइयत एवं इसलाम के अनुसार चर्च या मसजिद में उपासना करते हुए भी अपने आपको हिंदू कहना, रामदास, कृष्णदास आदि नाम रखना, क्या बुद्धिसंगत है? क्या इसी तरह इंग्लैण्ड, फ्रांस, ईरान ईराक आदि देश भी अपने यहाँ रहनेवाले हिन्दुओं को नहीं कह सकते? क्या वहाँके हिन्दू भी विष्णु, राम, कृष्ण, शिव की उपासना करते हुए अपने को ईसाई या मुसलमान कहें? क्या वे जान, हसन आदि अपना नाम रखें?

आपके 'संघ' के नेता कहते हैं कि 'मुसलमान अपना नाम बदल दें, धर्म बदल दें, देश की भाषा का आदर करें, त्योहार एवं छुट्टियाँ राष्ट्रिय ही मनायें, तब वे राष्ट्र में रह सकते हैं।" स्वाभिमान अवश्य आदरणीय है, फिर भी उसकी एक सीमा होती है। निस्सीम अभिमान के कारण ही हिटलर का विनाश हुआ। हिटलर की 'आत्म-कहानी' पढ़ने पर मालूम पड़ता है कि इन नेताओं पर उसका पूर्ण प्रभाव पड़ा है। यदि देश के आधार पर जाति का प्रयोग होता है, तो इसमें आपत्ति नहीं होती। जैसे हिन्दी मुसलमान, हिंदी सिख, हिंदी ईसाई ऐसे व्यवहार सम्भव हैं। लेकिन जब धर्म के आधार पर जाति का व्यवहार होता है, तो हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि अपने धर्मानुसार सर्वथा स्वतंत्र जाति के ही रूप में रहेंगे।

इस तरह जिस एक जाति की कल्पना की जाती है, वह असैद्धान्तिक होने के साथ अव्यावहारिक भी है। जर्मनी जैसी जातीय क्रांति केवल "अन्ताराष्ट्रिय मानवाधिकार घोषणापत्र' के विरुद्ध ही नहीं, प्रत्युत विश्व में फैले हिन्दुओं के विनाश का कारण भी होगी। साथ ही देश में एक जाति की सम्भावना भी नहीं हो सकती। लेनिन ने समस्त रूस को एक मार्क्सीय-स्तर पर संघटित करना चाहा। यूक्रेन की राष्ट्रियता का विनाश करना चाहा। लेकिन परिणाम यह हुआ कि "रूसी गणराज्य की प्रत्येक इकाई को राष्ट्रियता (नेशनलिटी) के रूप में माना गया।" यूक्रेन की राष्ट्रियता के सम्मुख उसे घुटने टेक देने पड़े। अतएव राष्ट्रियता का तात्पर्य एक-जाति से न समझना चाहिए।

राष्ट्रका भाव

'हिन्दू महासभा", 'राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ', 'जनसंघ' आदि की दृष्टि में 'समान धर्म, समान भाषा, समान संस्कृति, समान जाति एवं समान इतिहासवाले

लोग 'एकराष्ट्रिय' कहे जा सकते हैं। ऐसे राष्ट्रिय लोगों का देश ही 'एक-राष्ट्र' है, जैसे भारतवर्ष। इसमें समान धर्मादिवाले हिन्दू बसते हैं, इसीलिए यह 'एकराष्ट्र' और 'हिन्दू-राष्ट्र' है।' उपर्युक्त संस्थाओं के मतानुसार "मुसलमान, ईसाई आदि भारत-राष्ट्र के राष्ट्रिय या नागरिक नहीं हो सकते। हाँ, यदि वे हिन्दूधर्म में सम्मिलित हो जायँ, यहाँके धर्म, संस्कृति, भाषा को अपना लें, हिन्दू हो जायँ, तभी वे इस राष्ट्र के राष्ट्रिय हो सकते हैं।"

उक्त संस्थाओं को वेदादि-शास्त्रसम्मत 'जन्मना वर्णव्यवस्था' पर विश्वास नहीं है। तभी तो वे किसीको भी, भले ही वह 'जन्मना' मुसलमान या ईसाई हो, शुद्ध कर हिन्दू, ब्राह्मणादि-बनाने की चेष्टा करते हैं। इन्हें शास्त्रोक्त आचार-विचार, विवाह आदि किसीमें विश्वास नहीं। वस्तुतः इनका 'हिन्दुत्व' 'मुसलिम-विरुद्धत्व' ही है।

श्री गोलवलकरजी तो अपनी पुस्तक 'हमारी राष्ट्रियता' में यह भी कहते हैं कि "मुसलमान भले ही इस्लाम-मजहब मानता रहे, मसजिद और 'कुरान' का अनुसरण एवं अध्ययन करता रहे, यदि वह अपने को 'हिन्दू' कहता है, हिन्दू-ढंग का नाम रखता है, हिन्दू-ढंग की वेष-भूषा धारण करता है तो वह हिन्दू-राष्ट्र का राष्ट्रिय भी हो सकता है।"

किन्तु एक शास्त्रविश्वासी आस्तिक इन सब बातों को सर्वथा निराधार ही समझता है। वेदों, स्मृतियों एवं नीतिग्रन्थों में 'राष्ट्र'शब्द के जो अर्थ ग्राह्य हैं, उनसे उक्त बातों का कोई सम्बन्ध नहीं। वेदादि-शास्त्रों के अनुसार कोई भी जनपद, देश या राज्य 'राष्ट्र'शब्द का अर्थ होता है। वेदों में अनेक स्थलों पर 'राष्ट्र' शब्द आया है।[1] सायण, उव्वट, महीधर आदि भाष्यकार आचार्यों ने

१. ऋग्वेद-संहिता के "मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य" (४. ४२. १), "युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौः" (७. ८४. २), "अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्" (१०. १२५. ३), "राजा राष्ट्राणां देशो नदीनाम्" (७. ३४. ११) तथा ऋग्वेद दशम मण्डल के १०९. ३; १२४. ४, १७३ १-२; १४३. ५; १७४. १ एवं ८. १००. १०, ६. ४. ५ में; यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता में "वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे" (१०. २), "पृष्ठीमे राष्ट्रमुदर" (२०. ८) "प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे" (२०. १०) एवं १०. ४, ९. २३ और १२.११में तथा अथर्व-संहिता में "ये देवा राष्ट्रभृतो" (१३. १. ३५), "आ ते राष्ट्रमिह रोहितो" (१३. १. ५), "आ त्वागन् राष्ट्रं सहवर्चसो" (३. ४. १), "समहमेषां राष्ट्रं स्यामि" (३. १९. २), "तद्वै राष्ट्रमा स्रवति" (५. १९. ८), "ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रम्" (११. ७. १७), "उत्तरं राष्ट्रं प्रजयो" (१२. ३. १०), "ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च" (१२. ५. ८) इत्यादि।

'राष्ट्र'[1] शब्द का देश, जनपद एवं कहीं राज्य अर्थ किया है। मनु आदि ने 'सप्तांग' राज्य बतलाया है।[2] उन सप्तांगों में राष्ट्र को एक अंग माना है। यहाँ 'राष्ट्र' शब्द का 'जनपद' अर्थ किया है। मेधातिथि 'जनपद-समूह' को राष्ट्र कहते हैं। इस तरह कहीं-कहीं 'राष्ट्र' शब्द सम्पूर्ण राज्य का भी वाचक माना गया है। मनु ने राष्ट्र का अर्थ देश किया है।[3] याज्ञवल्क्य ने भी कई वचनों में राष्ट्र का उल्लेख 'देश' अर्थ में किया है।[4] महर्षि पराशर ने भी देश के अर्थ में ही 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया है।[5] 'कामन्दकीय-नीतिसार' में भी मनु के अनुसार राज्य के सप्तांग का वर्णन आया है। वहाँ भी 'राष्ट्र' राज्य का एक अंग बतलाया गया है और उसका अर्थ 'जनपद' किया है।[6]

'राजृ दीप्तौ' इस दीप्ति अर्थवाले 'राजृ' धातु से कर्म में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने से 'राष्ट्र' शब्द बनता है। अतः विविध सामग्रियों से दीप्त देश ही 'राष्ट्र है।[7] करण-प्रत्यय करने से उस देश को 'राष्ट्र' कहा जाता है, जिस देश से राजा या राज्य

१. "द्विता—क्षितिस्वर्गभेदेन द्वित्वापन्नं राष्ट्रम्" (ऋ० ४. ४२. १); "राष्ट्रं राज्यम्" (ऋ० ७. ८४. २), "राष्ट्रे स्वकीये देशे" (महीधर, यजुः० ९. २३), "राष्ट्रं जनपदः" (उव्वट-महीधर, यजु० १०. २), "राष्ट्रं जनपदसमूहः" (उव्वट, यजु० १२. ११), "राष्ट्रदा देशदात्र्यः" (महीधर, यजुः० १०. ३), "राष्ट्रं राज्यम्" (अथर्व० ३. ४. १), "राष्ट्रं जनपदम्" (अथर्व० ३. ३९. २), इत्यादि।

२. "स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥" (मनु० ९. २९४)। अत्र कुल्लूकभट्टः—'राष्ट्रं देशः।' 'मेधातिथिः—राष्ट्रं जनपदाः।'

३. "उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।" (७. १९५.)। अत्र टीका—'अस्य च देशमुत्सादयेदिति।'

४. "ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम्। साधून् सम्मानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत्॥" राजधर्म० १. ३३८) "अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् स्वकोशं योऽभिवर्धयेत्। सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः॥" (१. ३४०)।

५. "जारेण जनयेद्गर्भं मृते व्यक्ते गते पतौ। तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्॥" (अ० १०)। माधवटीका—'अत एव पतितां तादृशीं स्वराष्ट्रादुत्सार्य परराष्ट्रे प्रेषयेत्।'

६. "स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्। परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥" (कामन्दकीय० ४. १)। वहीं श्लोक ४८ से ५४ तक राष्ट्र का निरूपण किया गया है और 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ 'जनपद' लिया गया है।

७. "राजृ दीप्तौ (राष्ट्रम्। ष्ट्रन्निति ष्ट्रन्। तितुत्रेति इण्-निषेधः") इति माधवीय धातुवृत्तिः।

दीप्त हो ।[1] देश की दीप्ति के सम्पादनार्थ ही धार्मिक, सांस्कृतिक, उच्चजातीय, उच्च-भाषा-भाषी जनसमूह भी उपयुक्त हो सकता है। ऐसे जनसमूह से अलंकृत एवं दीप्त देश ही 'राष्ट्र' है।

कहा जा सकता है कि "जैसे रंग-बिरंगे फूलों एवं मणियों से माला शोभित होती है, वैसे ही विविध जातियों, विविध धर्मों, विविध संस्कृतियों एवं विविध भाषाओं से अलंकृत देश ही राष्ट्र माना जाय।" अन्य प्रमाणों के आधार पर भले ही इस प्रकार की खिचड़ी को हानिकर सिद्ध किया जाय, परन्तु केवल 'राष्ट्र' शब्द के आधार पर ऐसा करना असम्भव नहीं क्योंकि आखिर परमेश्वर का विराट् रूप तो अनन्त रंग-बिरंगे पदार्थों एवं देशों से राजमान है ही, तभी तो वह विविध रूपों से राजमान होने के कारण ही विराट्' है।

कौटल्य तथा कामन्दक के अनुसार धार्मिक जनता एवं बुद्धिमान् स्वामी, राजा आदि भी राष्ट्र के अन्तर्गत मान्य हैं। कौटल्य के अनेक वचनों में 'राष्ट्र' शब्द देश के अर्थ में ही उपयुक्त हुआ है।[2] राष्ट्र में जिन-जिन वस्तुओं का होना अनिवार्य है, उनका उल्लेख करके कौटल्य ने उन्हें भी गौणी वृत्ति से 'राष्ट्र'-शब्दवाच्य कहा है। उन वस्तुओं में कृषि, धान्य, उपहार, कर, वाणिज्य-लाभ, नदी-तीर्थादि-लाभ एवं पत्तनादिजन्य लाभ, सब राष्ट्र के लिए आवश्यक बतलाये गये हैं।[3] राष्ट्र में जिन-

---

१. "ष्ट्रन्प्रत्ययो 'धः कर्मणि ष्ट्रन्' तथा 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे' इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां भवति। अतोऽन्यत् ष्ट्रन्-प्रत्ययविधायकं सूत्रं नास्ति। अतो 'राजते शोभतेऽनेन' इति विग्रहे राजधातो. करणे ष्ट्रनि अनुबन्धलोपे सेटत्वात् प्राप्तस्येटः 'तितुत्रथसिसुसरकसेषु च' इत्यनेन निषेधे 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना जस्य ष्टुत्वे ष्ट्रत्वे राष्ट्रमिति सिद्धम्। स्त्रियां षत्वात् ङीपि राष्ट्री स्वामिनीत्यर्थः। अत्र राजते द्योततेऽनेन देशेनेति राष्ट्रम्। राजते शोभतेऽनया स्वामिन्या इति राष्ट्री। अत्रोभयत्र ष्ट्रन्निति योगविभागेन ष्ट्रन्प्रत्ययः।"

२. "ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश। 'सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः। कर्षकोदास्थिता राष्ट्रे राष्ट्रान्ते व्रजवासिनः॥' (राष्ट्रान्ते राष्ट्रसीमायाम्)। पुर-राष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेद्। दुर्गराष्ट्रप्रमाणम् (दुर्गराष्ट्रयोरियत्ताम्)। चतुर्दण्डान्तरा रथ्या। अष्टदण्डो राष्ट्रपथः। 'न च बाहिरिकान् कुर्यात्पुरराष्ट्रोपघातकान्।' कितव-वञ्चक नट-नर्तकादीन्··· पौरान् जानपदांश्च कापथं प्रवर्तयन्)। पुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेदनुग्रहार्थम्। राष्ट्रविवीत-पथं साहसः। सर्वज्ञख्यापनं राज्ञः कारयन् राष्ट्रवासिषु। दुर्गराष्ट्रदण्डकोपकम्। राष्ट्रपालमन्त-पालं वा स्थापयितुम्") (प्रकरण १६२)।

३. "सीता (कृषिः), भागो (धान्यषड्भागः), बलिः (उपहारो भिक्षा वा), करः (फलवृक्षादिसम्बद्धं राजदेयम्), वणिक् (वणिग्द्वारेणादेयम्), नदीपालः (तीर्थरक्षकद्वारेणादेयम्), तरः (नदीतरणवेतनम्), नावः (नावध्यक्षद्वारलभ्यम्), पट्टनम् (अल्पनगरलभ्यम्), विनीतं

जिन वस्तुओं का होना आवश्यक है, जिन विशेषणों से विशिष्ट होनेसे देश 'राष्ट्र' हो सकता है, उनका निर्देश भी कौटिल्य ने किया है। जिस देश की रक्षा सीमावर्ती पर्वत, अरण्य, नदी, समुद्र आदि भौगोलिक साधनों से सुगम हो, वह देश 'स्वारक्ष' होकर राष्ट्र है। जिस देश की सुखपूर्वक जीविका या जीवनयात्रा चल सके, वह 'स्वाजीव' है। शत्रुद्वेषी सामन्तवर्ग जिसके वशवर्ती हों, वैसे राजा तथा प्रजा से युक्त देश 'शक्यसामन्त' राष्ट्र है। इसी तरह वह देश राष्ट्र है, जो अनिष्ट पंक, पाषाण, ऊषर, विषम, कण्टक, श्रेणी, व्याल, मृगाटवी आदि से रहित हो, जो कमनीय हो। जो देश कृषि, खनिद्रव्य, हस्ती, अरण्य आदि से युक्त, गोवंश के लिए अनुकूल, पुरुषों को हितावह, सुरक्षित गोचरभूमियुक्त, विविध पशुओं से सम्पन्न हो, यथासमय जिसमें वर्षा हो एवं जो जल-स्थल के विविध मार्गों से युक्त हो, वह 'राष्ट्र' है। सारभूत, आश्चर्यपूर्ण, अत्यन्त पवित्र तीर्थादि से युक्त, दण्ड एवं कर आदि को सहन कर सकनेवाला, कर्मशील शिल्पी एवं किसानों से युक्त, बुद्धिमान् गम्भीर धार्मिक स्वामी से युक्त, वैश्य-शूद्रादि वर्णों के लोग जिस देश में पर्याप्त हो, जहाँ राजभक्त, पवित्र, निष्कपट एवं धार्मिक जन निवास करते हों, ऐसी जनपद-सम्पत् से युक्त देश राष्ट्र है।[1] कामन्दक आदि नीतिशास्त्रज्ञों ने भी इन्हीं बातों का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है।[2]

(विनीताध्यक्षद्वारेणादेयम्), वर्तनी (अन्तपाल-द्वारलभ्यम्), रज्जूः (विषयपालादेयम्), चोररज्जूश्च (चोरग्राहकाय ग्रामदेयम्), राष्ट्रम्। पिण्डकरः, षड्भागः, सेनाभक्तम्। बलिः, करः, उत्सङ्गः, पार्श्वम्, पारिहीणकम्, औपायनिकम्, कोष्ठेयकञ्च राष्ट्रम्" (अ० ३६)।

१. "मध्ये चान्ते च स्थानवानात्मधारणः परधारणश्चापदि स्वारक्षः स्वाजीवः शत्रुद्वेषी शक्यसामन्तः पङ्कपाषाणोषरविषमकण्टकश्रेणीव्यालमृगाटवीहीनः कान्तः सीता-खनिद्रव्यहस्तिवनवान् गव्यः पौरुषेयो गुप्तगोचरः पशुमान् अदेवमातृकः वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः सारचित्रबहुपण्यः दण्डकरसहः कर्मशीलकर्षकः अबालिशस्वामी अवरवर्णप्रायो भक्तशुचि मनुष्य इति जनपदसम्पत्" (कौटलीय अर्थशास्त्र, प्रकरण ९६)।

२. "भूगुणैर्वर्धते राष्ट्रं तद्वृद्धिर्नृपवृद्धये। तस्माद् गुणवतीं भूमिं भूत्यै नृपतिरावसेत् ॥
शस्याकरवती पण्यखनिद्रव्यसमन्विता। गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्वृता ॥
रम्या सकुञ्जरवना वारिस्थलपथान्विता। अदेवमातृका चेति शस्यते भूर्विभूतये ॥
स्वाजीवो भूगुणैर्युक्तः सानूपः पर्वताश्रयः। शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भः कृषीवलः ॥
सानुरागो रिपुद्वेषी पीडाकरसहः पृथुः। नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् धनी ॥
ईदृग्जनपदः शस्तोऽमूर्खव्यसनिनायकः। तं वर्धयेत् प्रयत्नेन तस्मात्सर्वं प्रवर्धते ॥
(कामन्दकीय नीतिसार ४. ४८–५०, ५२–५४)

इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि सप्ताङ्ग राज्य ही 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ है। यों तो 'वाल्मीकीय-रामायण' में ग्रामादि के अर्थ में भी 'राष्ट्र' शब्द आया है।[1] कई स्थलों में 'उपावर्त' या उपद्रव अर्थ में भी 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अमरकोष' में राजा के साले को 'राष्ट्रिय' कहा गया है।[2] फिर भी वेदों, उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृतियों में 'राष्ट्र' शब्द का 'जनपद' देश एवं राज्य' अर्थ किया गया है। उसी राज्य आदि के विशेषण रूप से जनता, राजा आदि भी गृहीत होते हैं।

किन्तु 'राष्ट्र' या 'जनपद' के नाम पर किसी जातिविशेष या धर्मविशेष का बहिष्कार अथवा निष्कासन सिद्ध नहीं होता। अतः "मुसलमान, ईसाई जब हिंदू बनें या अपना हिन्दू-नाम धारण करें, तभी वे राष्ट्रिय हो सकते हैं, अन्यथा नहीं" आदि बातें सिद्ध नहीं होतीं। एकभाषाभाषी या समान-भाषाभाषी होने से यदि एकराष्ट्रियता का सिद्धान्त माना जायगा, तब तो बिहारी, बंगला, उड़िया, तेलगु, तमिल, कन्नड़-भाषाभाषी लोग भी एकराष्ट्रिय न हो सकेंगे, क्योंकि उनकी भाषाएँ न तो समान हैं और न एक ही। इसी तरह 'एक धर्मवाले एकराष्ट्रिय हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। जैन, बौद्ध, वैदिक आदि धर्म माननेवालों में महान् मतभेद स्पष्ट है। शास्त्रोक्त ब्राह्मणादि जातियों में भी भेद है, अतः एकजातीयता भी राष्ट्रियता नहीं कही जा सकती।

शास्त्रों में इस देश का नाम 'भारतवर्ष', 'अजनाभवर्ष' आया है। इसके अन्तर्गत, ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, काश्मीर, कुरु, कोशल, पांचाल, भद्र, वाल्हीक, आनर्त आदि अनेक नामवाले प्रदेश आते हैं। भारतवर्ष का पुराणोक्त परिमाण ९ हजार योजन है। इस दृष्टि से इस समय उपलब्ध समस्त पृथ्वी ही 'भारतवर्ष' है। उसके अन्तर्गत भरतखण्ड-प्रदेश ही आजकल 'भारत' नाम से प्रसिद्ध है। सुतरां इस देश में रहनेवाला कोई भी व्यक्ति 'भारतीय' या 'राष्ट्रिय' कहा जा सकता है। हाँ, प्राचीनकाल से इस देश में वर्णाश्रमी ब्राह्मण आदि, जो आजकल 'हिन्दू' कहे जाते हैं, यहीं रहते थे; अतः यह देश उनका है। इस देश में उनका स्वत्व, उनके देवता तथा तीर्थस्थल थे। उनके पूर्वजों के ऐतिहासिक संस्कारों से ओतप्रोत यह देश उनकी बपौती, मिल्कियत है। भले ही 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के सिद्धान्तानुसार जिसने युद्ध करके इस देश को अपने अधिकार में कर लिया, उनका भी इस देश पर कभी-कभी स्वत्व हो गया हो।

---

१. 'राष्ट्राणि नगराणि च' (वाल्मीकि-रामायण)।

२. 'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' (अमर०)।

भुक्तिप्रमाण के आधार पर भी १२ वर्षपर्यन्त जिस भूमि अथवा संपत्ति पर जिसका अक्षुण्ण अधिकार होता है, वह उसकी हो जाती है। किन्तु यह बात व्यक्तिगत अधिकार में सम्बन्ध में ही हो सकती है। किसी बड़ी जाति के अधिकार का प्रश्न उक्त सिद्धान्त से ऊँचा है, क्योंकि जातिगत संघर्ष तो प्रायः सदैव बना रहता है। यद्यपि आज भी कितने ही ग्रामों के नाम पर महाराष्ट्रिय, सरयूपारीण, गुर्जर आदि ब्राह्मणों एवं मारवाड़ी आदि वैश्यों की जातियाँ प्रसिद्ध हैं। जैसे : कोंकणस्थ, देशस्थ, कह्राड़े, भोपटकर, पुणताम्बेकर, लोणकर, बड़नगरा, बिसनगरा, डूंगरपुरा, आदि एवं करुआ, चमड़िया, डीडवाना, देसवाली, सेकसरिया, राजगढ़िया आदि। फिर भी आज उनका अधिकार उन-उन गाँवों पर नहीं है और संघर्ष भी नहीं। परन्तु भारत पर तो भले ही कभी मुसलमानों का अधिकार हो गया हो, फिर भी संघर्ष सदैव बना रहा। हिन्दू सदा ही अपनी मातृभूमि, अपनी देश की रक्षा के लिए संघर्षरत रहे हैं। किसीके मकान या संपत्ति पर भले ही लुटेरे कुछ समय तक बलात् अधिकार कर लें और उस भूमि या संपत्ति के स्वामी को हथकड़ी-बेड़ी से जकड़ कर, मुँह बन्दकर ताला जकड़ दें; फिर भी एक अविकृत-मस्तिष्क, अलुप्त-स्मृति, पुंस्त्वसम्पन्न व्यक्ति अवश्य सोचता है कि 'जब भी मुझे अवसर एवं सामर्थ्य मिलेगा, डाकू को मार भगाकर अपनी मिल्कियत पर अधिकार कर ही लूँगा।'

इस दृष्टि से जिस प्रकार किसी साधारण जाति का स्वत्व किसी ग्राम या किसी गृह में होता है, उसी प्रकार किसी बड़ी जाति का स्वत्व किसी देश पर होता है। जैसे इंग्लैण्ड की भूमि पर अंग्रेजों का है, फ्रांस पर फ्रांसीसियों का, जर्मनी पर जर्मनों का, अरब पर अरबों का स्वत्व है, वैसे ही हिन्दुस्थान पर हिन्दुओं का स्वत्व है, भारत में वर्णाश्रमियों का स्वत्व है। इसी अभिप्राय से यह देश हिन्दुओं का कहा जा सकता है। उनके तीर्थ, उनके देवमन्दिर, उनके पूर्वजों के ऐतिहासिक स्थान इस देश के कोने-कोने में विद्यमान हैं। अतः यह देश विशिष्ट रूप से हिन्दुओं का है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'यहां अन्य देशों के लोग रह ही नहीं सकते या इस देश के नागरिक नहीं हो सकते।'

वस्तुतः आधुनिक राष्ट्रवाद एक अन्धविश्वास और प्रतिक्रियामात्र है। भूतपूर्व अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था : 'मैं स्वशासित राज्य पर वर्षों से व्याख्यान देता आ रहा हूँ, किन्तु वह क्या है, यह कह नहीं सकता।' इसी प्रकार पश्चिमी राष्ट्रवादियों की भी बात है। राष्ट्र के विषय में मुख्यतः पाँच विचार हैं : १. परम्परावादी, २. उदारवादी, ३. जनवादी, ४. साम्यवादी और ५. उग्रराष्ट्रवादी।

परंपरावादी 'बर्क' ने राष्ट्र की परंपराओं को, जिनमें पूर्वजों की बुद्धिमानी सन्निविष्ट हो, आदर की दृष्टि से देखा है। उदारवादी विचारकों में 'बेन्थम' तथा

'मेजिनी' मुख्य हैं। बेन्थम ने कहा था : 'एक राष्ट्र के अंतर्गत वैयक्तिक स्वतंत्रता होनी चाहिए। मनुष्य के प्रकृतिदत्त अधिकारों की सुरक्षा होनी चाहिए। 'विधि-शासन' अन्ताराष्ट्रियता की तरफ झुका हो। एक राष्ट्र में अनेक धर्म, भाषा और जाति के लोग रह सकते हैं।' आगे उसने कहा है कि 'देशभक्ति विश्वबन्धुत्व से मुझे शत्रु बनाती है, तो मैं देशभक्त नहीं हूँ।' मेजिनी का भी कहना था : 'राष्ट्रवाद का अर्थ अन्ताराष्ट्रिय शत्रुता नहीं है।' जनवादी विचारधारा फ्रांसीसी राज्यक्रांति से प्रारंभ होती है, जब जनता का 'दैवी सिद्धान्त' उदित हुआ। 'ओटो वीवर' ने कहा है : 'वह राष्ट्र राष्ट्र नहीं, जहां जनता को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकार न हो।' साम्यवादियों ने तो राष्ट्रवाद की भरपेट निन्दा की है। उनके अनुसार यह एक 'पूंजीवादी नारा' है। पाँचवाँ है, उग्र राष्ट्रवाद। इसके दो रूप हैं : राष्ट्रराज्य (नेशन स्टेट) तथा सांस्कृतिक राज्य। प्रथम का प्रचार ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन आदि में तो दूसरे का प्रचार मध्य-यूरोपीय देशों में हुआ। इसके प्रवर्तक हिटलर ने कहा है कि 'एक जाति, एक राष्ट्र। जहाँ-जहाँ जर्मन, वहाँ-वहाँ जर्मन-राष्ट्र।' मुसोलिनी और जिना ने भी इसी बात को दुहराया। 'बार्कर'-ने 'लार्ड ऐक्टन' के बहुराष्ट्रिय विचार का खण्डन करते हुए लिखा था कि 'एक राज्य में एक ही राष्ट्र सम्भव है।' भारत के जनसंघी जैसे राष्ट्रवादी भी इसी उग्र राष्ट्रवाद के अनुयायी हैं। अन्तर यही है कि हिटलर रक्त की प्रधानता स्वीकार करता था और ये निराधार हैं।

शास्त्रीय सिद्धान्त तो यह है कि समष्टि-हित का ध्यान रखते हुए व्यष्टि-अभिमान करना लाभदायक होता है। परन्तु समष्टि-हित-विरुद्ध होने पर वही व्यष्टि-अभिमान हानिकारक हो जाता है। जैसे व्यक्तिवाद, जातिवाद समष्टिविरोधी होने पर खतरनाक होते हैं, वैसे ही समष्टिविरुद्ध राष्ट्रवाद 'हिटलरी राष्ट्रवाद' की तरह ही भयानक होता है। वस्तुस्थिति यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण होते हुए मानव भी है और मानव होते हुए परमेश्वर की सन्तान या उसका अंश जीव भी है, वैसे ही उसी परमेश्वर की संतान होने के नाते सभीके साथ समानता एवं भ्रातृता का सम्बन्ध है।

●

४. संस्कृति का अर्थ और वर्ण-व्यवस्था

स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसके प्रचार की चर्चा चल पड़ी, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। वास्तव में किसी देश या राष्ट्र का प्राण उसकी संस्कृति ही है, क्योंकि यदि उसकी कोई अपनी संस्कृति नहीं, तो संसार में उसका व्यक्तित्व ही क्या ? किन्तु संस्कृति का क्या अर्थ है और भारतीय संस्कृति क्या है, यह नहीं बतलाया जाता। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का अनुवाद 'सस्कृति' किया जाता है। परंतु 'संस्कृति' संस्कृत भाषा का शब्द है, अतः संस्कृत-व्याकरण के अनुसार ही उसका अर्थ होना चाहिए।

तदनुसार 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में सुट्' प्रत्यय होने पर 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है। इस तरह लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।

संस्कृति और संस्कार

'संस्कार' या 'संस्करण' का भी संस्कृति से मिलता-जुलता अर्थ होता है। संस्कार दो प्रकार के होते हैं : 'मलापनयन' और 'अतिशयाधान'। किसी दर्पण पर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना 'मलापनयन संस्कार' है। तेल, रंग द्वारा हस्ती के मस्तक या काष्ठ की किसी वस्तुको चमकीला तथा सुन्दर बनाना 'अतिशयाधान संस्कार' है। नैयायिकों की दृष्टि से वेग, भावना और स्थितिस्थापक ये ही तीन संस्कार हैं। अनुभवजन्य और स्मृति की हेतु 'भावना' है। अन्यत्र किसी भी शिल्पादि में बार-बार अभ्यास करने से उत्पन्न कौशल की अतिशयता को ही 'भावना' माना गया है :

> तत्तज्जात्युचिते शिल्पे भूयोऽभ्यासेन वासना।
> कौशलातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा ॥

स्वाश्रयकी प्रागुद्भूत अवस्था के समान अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही 'संस्कार' है :

स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकः अतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।

योगियों की दृष्टि में न केवल मानस संकल्प. विचार आदि से ही, अपितु देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि की सभी हलचलों, चेष्टाओं और व्यापारों से

संस्कार उत्पन्न होते हैं। अतएव 'कर्मसंस्कार' या 'कर्मवासना' शब्द से उनका व्यवहार होता है। इस दृष्टि से सम्यक्, असम्यक् सभी प्रकार के कर्मों से संस्कार उत्पन्न होते हैं।

संस्कारों का प्रभाव

संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिए उत्तम और निकृष्ट संस्कार इस रूप से संस्कारोंमें उत्कृष्टता या निकृष्टता का भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों द्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरण को संस्कृत करना चाहिए, यह भी शास्त्र का आदेश है :

> यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा भवन्ति,
> स ब्राह्मणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति।

यहाँ 'सम्' की आवृत्ति करके 'सम्यक् संस्कार' को ही 'संस्कृति' कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारों का पर्यवसान भी मलापनयन एवं अतिशयाधान में होता है। कुछ कर्मों द्वारा पाप, अज्ञानादि का अपनयन और कुछ द्वारा पवित्रता, विद्या आदि अतिशयता का आधान किया जाता है। साधारणतः दार्शनिकों के यहाँ यह सब आत्मा में होता है, पर वेदान्त की दृष्टि से अन्तःकरण में, आत्मा तो सर्वथा असंग ही रहता है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि जैसे खान से निकले हुए हीरक एवं मणि में संस्कार द्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या-तत्कार्यात्मक प्रपंचमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कारों द्वारा व्यक्त की जाती है। तथा च आत्मा को प्राकृत निम्नस्तरों से मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरों से सम्बद्ध करने या प्रकृति के सभी स्तरों से मुक्त कर उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्द-साम्राज्य सिंहासन पर समासीन करना ही आत्मा का संस्कार है। ऐसे संस्कारों के उपयुक्त कृतियाँ हो 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती हैं। जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अदृष्ट दोनों हो 'धर्म' शब्द से व्यवहृत होते हैं, वैसे हो संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती हैं। इस तरह सांसारिक निम्नस्तर, सीमाओं में आबद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही 'संस्कृति' हैं।

विभिन्न संस्कृतियाँ

विभिन्न देशों और जातियों की विभिन्न संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृतियों में प्रायः संघर्ष भी चलता है। कहीं तो संस्कृतियों की खिचड़ी बन जाती है और कहीं एक सबल संस्कृति निर्बल संस्कृति का विनाश कर देती है। संस्कृति का भूमि के साथ

सम्बन्ध होने से ही उसमें विभिन्नता आती है। किसी देश के जलवायु का प्रभाव वहाँके निवासियों के आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा-साहित्य आदि पर पड़ता ही है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इसी प्रभाव को प्राधान्य दिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'किसी राष्ट्र के किसी असाधारण बड़प्पन के गर्व को ही संस्कृति कहना चाहिए। उदाहरणार्थ, इङ्गलैण्ड के लोगों को सबसे बड़ा गर्व अपनी पार्लमिण्टरी शासनप्रणाली के आविष्कार के लिए है। अमेरिका को गर्व है कि उसने संसार में स्वतन्त्रता की पताका फहरायी और दो महायुद्धों में उसने विश्व को स्वतन्त्रता का वरदान दिया। हिटलर ने जर्मनी में आर्यत्व के विशुद्ध रुधिर का गर्व उत्पन्न किया। अतः उनकी यह विशेषता ही उनकी संस्कृति का आधार है।" किसी अंश में ये सब भाव ठीक हैं, परन्तु संस्कृति की ऐसी परिभाषाएँ अन्धों द्वारा हाथी के वर्णन जैसी हैं।

संस्कृति का आधार

एक परिभाषा, लक्षण एवं आधार स्वीकृत किये बिना 'संस्कृति' क्या है, यह समझ में नहीं आ सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि संस्कृति का लक्ष्य आत्मा का उत्थान है। जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृति का आधार हो सकता है। यह विभिन्न जातियों के धर्मग्रन्थों द्वारा ही बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओं की भूषणता-दूषणता, सभ्यता या असभ्यता का निर्णायक या कसौटी और हो ही क्या सकती है? अतः ईसाई-संस्कृति का आधार उनकी पवित्र 'बाइबिल' और मुसलिम संस्कृति का आधार 'कुरानशरीफ' है। इसी तरह हिन्दू-संस्कृति के आधार वेदादि-शास्त्र हैं।

भारतीय संस्कृति

अब प्रश्न होता है कि भारतीय संस्कृति क्या है? इसमें संदेह नहीं कि भारत में कई विदेशी जातियाँ आयीं और बस गयीं। भारतीयों के आचार-विचार, रहन-आदि पर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति का आधार ही बदल गया। भारत हिन्दुओं का देश है, अतः उन्हींकी 'संस्कृति' है, जिसके मूलस्रोत वेदादि-शास्त्र हैं। अतएव लौकिक-पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक उन्नति का वेदादिशास्त्रसम्मत मार्ग ही 'भारतीय संस्कृति है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृति के सभी अंगों पर वेदादिशास्त्रमूलक सिद्धान्तों की ही छाप है। बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। संसार के प्रायः सभी देशों की प्राचीन संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की कितनो ही बातें विकृत रूप से पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, किसी न किसी रूप में वर्णव्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशों के प्राचीन ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि की भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र तो व्यापक रूप में फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँचीं, यह दूसरा प्रश्न है, पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिन्दू-संस्कृति से है। भारत की भूमि से भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पन के गर्व का बात कही जाती है, उसका भी अनुभव इसी संस्कृति में होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यही मानना पड़ता है कि हिंदू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। यह मान लिया जाय तो विवाद का अवसर ही नहीं रहता, क्योंकि हिन्दू-संस्कृति की सोमा हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में निर्धारित है। उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धान्तों और उसके विकसित रूप का संपूर्ण चित्र मिल सकता है।

खिचड़ी संस्कृति

आजकल के कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति के मिश्रित रूप को ही 'भारतीय संक्रृति' मानते हैं। इसीको 'हिन्दुस्तानो संस्कृति' का भी नाम दिया जाता है। किन्तु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। इसका न कोई आधार है और न कोई स्पष्ट रूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृति के किसी अंग पर विदेशो प्रभाव पड़ा, वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी। दर्शन, कला, साहित्य आदि सभीमें यह दिखलाया जा सकता है। देश के नेताओं ने 'इण्डियन यूनियन' (भारत-संघ) को 'सेक्युलर स्टेट' (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित कर दिया है। अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि 'सबकी संस्कृति की रक्षा की जायगी, किसी संस्कृति पर हस्तक्षेप न किया जायगा।'

कई नेताओं ने यह भी कहा है कि 'रंग-बिरंगे पुष्पों या हीरों द्वारा जैसे माला की शोभा बढ़ती है, वैसे ही अनेक धर्मों और संस्कृतियों का यदि एकसूत्र में संग्रथन हो तो उससे राष्ट्र की शोभा बढ़ेगी, घटेगी नहीं। अतः किसी पुष्प, हीरक या उसके रंग के बिगाड़ने की अपेक्षा नहीं।' ऐसो स्थिति में संस्कृति की खिचड़ो कहाँतक ठोक है ? हिन्दू-जाति, हिंदू संस्कृति, हिंदू-धर्म, वेदादिशास्त्र, मंदिर और राम-कृष्ण आदि समक्ष में आ सकते हैं। उसी तरह कुरान, मसजिद, इस्लाम, अरबी-उर्दू भाषा भी समक्ष में आ सकती है। परन्तु इन दोनों को बिगाड़कर वेद-कुरान, कलमा-कुरान, मन्दिर-मसजिद, अल्लाह-राम आदि को मिलाकर हिन्दुस्तानी संस्कृति, हिन्दुस्तानी भाषा आदि कथमपि समक्ष में नहीं आते। राम भी अच्छा, खुदा भी अच्छा, परन्तु

रम-खुदेया खतरे से खाली नहीं। दीनदार, ईमानदार हिन्दू या मुसलमान दोनों ही ठीक, बे-दीन, बे-ईमान दोनों ही खतरनाक हो सकते हैं। अपने-अपने मूलधर्मों, संस्कृतियों एवं मूलशास्त्रों पर विश्वास न रहेगा, तो कृत्रिम संस्कृतियों और उनके कृत्रिम आधारों पर विश्वास होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

एक संस्कृति

कुछ दिनों से 'एक संस्कृति' का नारा लगाया जा रहा है। यहाँ भी वही प्रश्न होता है कि 'कौन संस्कृति—हिन्दुस्तानी खिचड़ी या विशुद्ध हिन्दू-संस्कृति ?' तथा-कथित हिन्दुस्तानी संस्कृति में क्या सर्वसाधारण हिन्दू या मुसलमान को कभी पूरी श्रद्धा हो सकती है ? फिर यदि एक संस्कृति हिन्दू-संस्कृति ही मानी जाय, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि मुसलमान उसे स्वीकार कर लेंगे ?

कुछ लोग कहते हैं कि 'मुसलमान कलमा-कुरान और मसजिद का आदर तथा अपनी भाषा, वेशभूषा रखते हुए भी भारतीय संस्कृति के रूप में हिन्दू-संस्कृति का पालन कर सकते हैं।' फिर आचार-विचार, रहन-सहन, इतिहास, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि से भिन्न संस्कृति कौन-सी वस्तु होगी जिसे मानकर मुसलमान उसपर गर्व करेगा ?'

कुछ लोग तो यहाँतक कहते हैं कि 'एक संस्कृति हिन्दूसंस्कृति ही है, वही सबको माननी पड़ेगी। जो ऐसा न करेंगे, उन्हें भारत छोड़ना होगा।' किन्तु ऐसा कहना सरकार द्वारा घोषित सेक्युलर (धर्मनिरपेक्ष) नीति के विरुद्ध ही नहीं, हिन्दू-धर्म एवं हिन्दूसंस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त के भी विपरीत है।

हिन्दू-धर्म तो प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्मानुसार चलने की स्वतंत्रता देता है। स्वधर्मे निधनं श्रेयः उसका सिद्धान्त है। अतः उसे कभी भी अभीष्ट नहीं कि येन-केन-प्रकारेण सभी हिन्दू बना लिये जायँ। हिन्दूसंस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, इस दृष्टि से एक संस्कृति का नारा ठीक है, पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि देश में अल्पसंख्यकों की संस्कृतियों का संरक्षण न हो। यह भारत की ही विशेषता है कि वह भिन्नता में भी एकता देखता है। एकसूत्र में गुथे हुए मणियों की माला का उदाहरण भी इसीमें घटता है।

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था

संस्कृति' के प्रसंग में ही कर्मणा वर्ण-व्यवस्था की बात उठती है। सोचा यह जाता है कि 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मान लेने पर अन्यधर्मावलंबियों को हिन्दू-समाज

में लाने की सुविधा होगी। मौलवी, मुल्ला, अध्यापक आदि बुद्धिजीवी ब्राह्मण बन जायँगे। सैनिक आदि बलजीवी क्षत्रिय, व्यापारी वैश्य और सेवापरायण शूद्रकोटि में आ जायँगे। बहुतों को इसका प्रलोभन रहेगा।' यद्यपि यह ठीक है कि भारत में वैदिकों का बाहुल्य होने से वैदिक-संस्कृति ही 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय से भारतीय संस्कृति कही जा सकती है। वेद और वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों के अनुसार आचार-विचार, उपासना, कर्म आदि का हिन्दू-संस्कृति में समावेश है। उन धर्मों का पालन करनेवाला कोई भी हिन्दू कहला सकता है। तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णव्यवस्था जन्मना ही है। कर्मणा वर्णों का उत्कर्ष अवश्य होता है।

जैसे बीज और क्षेत्र दोनों ही अंकुर के कारण होते हैं, वैसे ही जन्म और कर्म दोनों वर्ण के मूल हैं। प्राक्तन गुण-कर्मानुरूप जन्म लेकर वर्ण और फिर समुचित गुण-कर्म से उसका उत्कर्ष होता है। गुण-कर्मविहीन अधम और गुण-कर्मयुक्त उत्तम ब्राह्मणादि होते हैं। जन्मप्राप्ति में भी प्राक्तन कर्म अपेक्षित होते ही हैं। जैसे जन्म एवं शौर्य, क्रौर्य आदि गुण-कर्म से युक्त मुख्य सिंह होता है और गुण-कर्म के बिना जन्ममात्र से जाति-सिंह। जन्म के बिना गुण-कर्ममात्र से मनुष्य को भी शौर्यादि गुण-कर्मसे सिंह कहा जाता है, पर वह गौण प्रयोग है। इसी तरह जन्म और कर्म से मुख्य ब्राह्मणादि, गुण-कर्म के बिना केवल जन्म से जाति-ब्राह्मणादि, जन्म के बिना गुण-कर्मादि से गौण ब्राह्मणादि का व्यवहार होता है।

जैसे माता, भगिनी आदि को उद्दिष्ट करके उनके कर्तव्यों का विधान है। इसी तरह व्यवस्था भी रह सकती है। अन्यथा पत्नी का कर्म करने से दुहिता या भगिनी भी पत्नी हो जायगी। इसीलिए **ब्राह्मणो यजेत** आदि विधान है, **यः ब्राह्मणो भवितुमिच्छेत् स यजेत** या **यो यजेत स ब्राह्मणः** ऐसा विधान नहीं है। **पत्नी एवं कुर्यात्** यही विधान है, **या एवं कुर्यात् सा पत्नी** ऐसा विधान नहीं है। कर्मणा वर्ण-व्यवस्था मानने पर दिनभर में ही अनेक बार वर्ण बदलते रहेंगे, फिर व्यवस्था क्या होगी? अतः उपनयन, वेदाध्ययन, अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान, भोजन, विवाहादि सभी सांस्कृतिक कर्म जन्मना ब्राह्मणादि के आपस में ही हो सकते हैं। जन्मना ब्राह्मण और कर्मणा मुसलमान-ब्राह्मण आदि में भोजन, विवाहादि सम्बन्ध तथा जन्मना वर्णों से भिन्न लोगों का उपनयन, अग्निहोत्रादि कर्मों का अधिकार सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है।

५. 'जाति' और 'हिन्दुत्व' : शास्त्रीय दृष्टिमें

जाति क्या है ?

साधारण रूप से नित्य और अनेक में समवेत धर्म ही 'जाति' पद से व्यपदेश्य होता है, ऐसे ही धर्म को 'जाति' कहा जाता है। अनेक गो-व्यक्तियों में समवेत और नित्य धर्म 'गोत्व' जाति है। यही धर्म अपने धर्मवालों का सजातीय और विजातीय से व्यावर्तन भी कर देता है। गोत्व-धर्म विजातीय घटादि और सजातीय अश्व-महिषादि से गौ को व्यावर्तित कर देता है। बहुधा आकृतिभेद से जातिभेद की मान्यता चलती है, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से आकृतिभेद न रहने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों में जातिभेद मान्य होता है। यहाँतक कि पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से जाति-अर्थ में ही 'ब्राह्मण' शब्द सिद्ध होता है, अजाति में तो 'ब्राह्म' शब्द बनता है—ब्राह्मोऽजातौ। 'ब्राह्मणी' आदि में 'ङीष्' प्रत्यय भी 'जाति' अर्थ में ही होता है।

आकृतिग्रहणा जातिः लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

अर्थात् आकृति यानी अनुगत संस्थानविशेष से जाति की व्यंजना होती है। यहाँ आकृति को उपदेश का उपलक्षण माना गया है। 'ऐसी आकारवाली वस्तु गौ है' इस प्रकार के उपदेश से गोत्वजाति का परिज्ञान होता है। 'अयं ब्राह्मणः' इस प्रकार के प्रत्यक्ष उपदेश से ब्राह्मण आदि जातियों का परिज्ञान होता है। इसी अंश की व्याख्या शेष कारिका में की गयी है।

जो असर्वलिङ्गभागी हो और एकबार के उपदेश से अनुगतरूपेण ग्राह्य हो, वही जाति है : असर्वलिङ्गभागित्वे सति सकृदुपदेशग्राह्यत्वं जातित्वम्। 'ब्राह्मणः, वृषलः' आदि शब्द पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्गवाले होने पर भी नपुंसकलिङ्गवाले नहीं हैं, अतः असर्वलिङ्गभागी हैं। साथ ही 'अयं ब्राह्मणः' इस उपदेश से उसके पितृ-पितामहादिकों में भी ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता है। 'अयं वृषलः' ऐसे उपदेश से वृषल के पुत्र, पौत्र, सहोदरादि में वृषलत्व का ज्ञान हो जाता है। अतः इनमें अनुगत-संस्थानरूप आकृति अनुपलब्ध होने पर भी जाति का व्यवहार होता है।

'संस्थानव्यंग्य' गोत्वादि जाति या 'उपदेशगम्य' ब्राह्मणादि जाति जन्म से ही होती है। साथ ही जाति यावद्द्रव्यभावी, असर्वलिङ्गभागिनी तथा अनेकानुगत होती है।

आविर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः ।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः ॥
(महाभाष्य ४.१.६३)

जैसे गुण के बिना द्रव्य नहीं रहता, वैसे ही जाति के बिना भी द्रव्य नहीं रहता । इसीलिए जैसे द्रव्य के रहते गुण का नाश नहीं होता, वैसे ही जाति का भी नाश नहीं होता । इसीलिए मृत हरिण-शरीर को भी हरिण ही कहा जाता है । क्षत्रियगुण-कर्मवाले द्रोण, कृप, अश्वत्थामा आदि को ब्राह्मण ही कहा गया और ब्राह्मण-गुण-कर्मवाले युधिष्ठिरादि को भी क्षत्रिय ही कहा गया है । ब्राह्मण-गुण-कर्मानुसार अर्जुन संन्यास में प्रवृत्त होना चाहता था, पर भगवान् ने उसे रोका और कहा कि 'यदि तुम धर्मयुक्त संग्राम में प्रवृत्त न होंगे, तो निश्चय ही पाप के भागी होगे । जैसे शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शूकर, कूकर, देव, मनुष्य आदि जन्म प्राप्त होते हैं, आकस्मिक नहीं, वैसे ही ब्राह्मणादि जन्म भी :

तद्य इह रमणीयचरणास्ते ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा आपद्येरन् ।

अर्थात् शुभाचारवाले प्राणी ब्राह्मणादि योनियों को प्राप्त होते हैं, अशुभाचार-वाले चाण्डालादि और पश्वादि योनियों को प्राप्त होते हैं । कर्मों के अनुसार ही जैसे हरिण-हरिणी से हरिण उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण-ब्राह्मणी से ब्राह्मण उत्पन्न होता है । असवर्ण विवाह आदि से संकरी सृष्टि ही होती है । जन्मना जाति के आधार पर ही फिर जात्यनुसारी कर्म चलते हैं । इसीलिए ब्राह्मणकर्म, क्षत्रियकर्म, वैश्यकर्म, शूद्रकर्म, स्त्रीकर्म, पुरुष-कर्म की व्यवस्था होती है । जन्ममूलक वर्णव्यवस्था होती है और वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्म-धर्म की व्यवस्था होती है । जन्मना वर्ण और कर्मणा उत्कर्ष, यही व्यावहारिक स्थिति है । योनि, विद्या और तप ब्राह्मण का कारण होता है । विद्या, तप के बिना भी 'जाति-ब्राह्मण' होता है । योनि के बिना विद्या-तप से 'सिंहो माणवकः' के समान गौण ब्राह्मण कहलाता है । सिंह-सिंही से जन्म होने से शौर्य न होने पर भी जातिसिंहत्व का व्यवहार होता है । सिंह-सिंही से जन्म न होने पर भी शौर्यादि-गुणयोग से गौणसिंहत्व का व्यवहार होता है ।

जन्मना प्राप्यते सा जातिः । जाति मुख्यरूप से जन्मना ही होती है, फिर भी कहीं-कहीं देश के नाम से जाति का व्यवहार होता है । इसका कारण यह है कि देश के सम्बन्ध से जाति-व्यंजक संस्थिति में विशेषता आती है । विभिन्न देशों के जल, वायु आदि के प्रभाव से रंग, रूप और बनावट में भेद पड़ता है । अमुक-अमुक जंगल के हाथियों और शेरों में भी इसी दृष्टि से भेद दिखायी देता है । अतः उन-उन देशों और जंगलों के नाम से उन-उन हाथियों एवं शेरों की जाति का व्यवहार होता है । इसी तरह घोड़ों, गायों में भी देशादि-भेद से उनकी बनावट, रचना आदि में कुछ

भेद प्रतीत होता है। व्रीहि, गोधूमादि अन्नों और आम्रादि फलों पर भी इसका प्रभाव कुछ अंशों में पड़ता है। काल का भी प्रभाव कुछ अंशों में पड़ता है। अमुक महीने के व्रीहि की अमुक जाति, अमुक महीने के व्रीहि, आम्रादि की अमुक जातियाँ होती हैं। इन सब बातों का प्रभाव मनुष्यों पर भी पड़ता है। इसीलिए चीनी, जापानी, बर्मी, इंग्लिश, अफ्रीकी मनुष्यों के भी रूप, रंग, और बनावट का भेद उपलब्ध होता है। इसी संस्थानभेद से व्यंग्य होने के कारण इनमें जातिभेद की कल्पना होती है।

इतना ही क्यों, भारत में भी नेपाली, मैथिल, पंजाबी, द्रविड़, बंगाली, उत्कल, मराठा, मद्रासी मनुष्यों में भी बनावट का भेद उपलब्ध होता है। यावद्द्रव्य-भावी होने के कारण देशादिजन्य विशेषताओं के कारण जातिभेद की कल्पना चल सकती है। परन्तु ब्राह्मणत्वादि जाति संस्थान-व्यंग्य नहीं है, वह साक्षात् उपदेशव्यंग्य होती है। यही कारण है कि भारत के विभिन्न भागों के मनुष्यों में बनावट का भेद होने पर भी ब्राह्मणत्वादि मैथिल, पंजाबी, बंगाली आदि सबमें बराबर है। तन्मूलक धर्म भी समान ही है। इसी तरह बनावट में एक से होने पर भी उनमें क्षत्रिय, ब्राह्मणादि भेद होता है, तन्मूलक धर्म में भी भेद होता है। देशादिकृत विशेषताएँ व्याप्य हैं, ब्राह्मणत्वादि उनकी अपेक्षा व्यापक है। शास्त्रों ने तो पशु, पक्षी, पाषाणादि में भी ब्राह्मणत्वादि भेद मान रखा है।

उपदेशव्यंग्य जाति में भी विशेषताएँ हैं ही, किन्तु उनका स्वरूप सूक्ष्म है, संस्थान (बनावट) आदि के समान वे सर्वसाधारणगम्य नहीं होतीं। जैसे : आम्रत्व, निम्बत्व का भेद सर्वग्राह्य है, फिर भी आमों के अवान्तर भेद दुर्गम हैं। जिनमें बनावट का भेद है, उनका भेद ग्राह्य होने पर भी जहाँ बनावट का भेद नहीं, वहाँ रसभेद से भेद ज्ञात होता है कहीं रसभेद भी नहीं ज्ञात होता, किन्तु वीर्य-विपाकादि परिणामभेद से भेद विज्ञात होता है। इसी तरह विराट् पुरुष की मुख, बाहु, उरू, पाद की तत्तद्विशिष्ट शक्तियों से उत्पन्न ब्राह्मणादि की विशेषताएँ भी प्रत्यक्षानुमानगम्य न होने पर भी आर्षज्ञानगम्य हैं। उनके रक्तादि में बाह्यभेद न होने पर भी तत्तच्छक्ति-विशेषविशिष्टत्व का बोध परम्परा के उपदेश से गम्य है।

चीनी, जापानी, इंग्लिश आदि जातिभेद भी केवल निवास के आधार पर नहीं होते, अपितु परंपरा से निवासियों में वहाँके जल-वायु से प्रभावित होने पर रूप, रंग, बनावट में प्रभाव के कारण ही तत्तत् जाति-व्यवहार होता है। इसीलिए दूसरे देश का निवासी कुछ दिनों से दूसरे देश में रहने भी लग जायँ, तब भी उनकी जाति उस देश से व्यवहृत नहीं होती। अंग्रेज भारत में रहें या चीन में, तब भी वे भारतीय या चीनी नहीं कहला सकते। इसी तरह जब कोई हिन्दू या भारत का परंपरा से निवासी हो, वहाँके जल, वायु का उसकी बनावट पर प्रभाव हो, तभी

वह 'हिन्दो' या 'भारतीय' कहा जा सकेगा। आजकल की नागरिकता की कथा इससे सर्वथा भिन्न है। वह तो सरकारों की मान्यता के ऊपर निर्भर रहती है, उसमें किसी प्राकृतिक भेद की बात नहीं होती।

प्राकृतिक आधार पर जो भेद होते हैं, वे मान्यता या विश्वास पर आधृत नहीं होते। जो चीन का परंपरया निवासी है और वहाँके जल-वायु से जिसकी रचना, रूप-रंग, बनावट प्रभावित है वह चीनी है, चाहे वह बौद्ध हो, मुसलमान हो, चाहे हिन्दू। वह चाहे चीन की भूमि को पितृभूमि, पुण्यभूमि मानता हो या चाहे देशद्रोही हो, सर्वथा चीनी ही कहलायेगा। इसी तरह यदि कोई परंपरा से भारतनिवासी एवं भारत के जल-वायु से प्रभावित एवं भारतीय रूप-रंग, बनावट-वाला होगा तो उसे जो भी नाम दिया जाय, हिन्दी, हिन्दू या भारतीय, वह अनिवार्य रूप से वही कहा जायगा। उसमें विश्वास और मान्यता के कारण कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, देशद्रोही हो या देशभक्त, वह वही कहलायेगा। कोई देश को पितृभूमि, पुण्यभूमि माने अथवा न माने, उससे उसकी देशकृत जाति में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

वर्तमान काल में जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि का व्यवहार चल रहा है, वह धर्मभेद के आधार पर है। इसीलिए देश की दृष्टि से वह किसी जाति का हो, जो धर्म मानता है, उसी धर्म का वह माना जाता है। धीरे-धीरे उन-उन धर्मानुयायियों में भी जाति का व्यवहार चल पड़ा है। यहाँ भी अनेकसमवेत, एक, नित्य धर्म में जातिव्यपदेश सम्भव है ही। कुरानादिप्रोक्त-धर्मानुयायित्व मुसलमानत्व और वेदादि-शास्त्रप्रोक्त-धर्मानुयायित्व हिन्दुत्व आदि धर्म एक और अनेक समवेत हैं ही। इसमें एक ही गड़बड़ी रहती है और वह यह कि आजकल यह नित्य नहीं है। अन्य धर्मानुयायी कालान्तर में अन्यधर्मानुयायी भी बन सकता है। ईसाई से मुसलमान और मुसलमान से ईसाई बनते रहते हैं। अतएव यावद्द्रव्य-भावित्व भी इनमें नहीं है, इसीलिए इन्हें 'जाति' कहने में कठिनाई पड़ती है। किन्तु वैदिकों में जन्मानुसार वर्ण-व्यवस्था और तदनुसार ही धर्मव्यवस्था होती है। अतः धर्मानुयायित्व भी यावद्-द्रव्यभावी है, इसलिए उसमें जातिव्यवहार हो सकता है। भेद इतना ही है कि स्वगुण-कर्मच्युत शौर्य-क्रौर्यविहीन सिंह जैसे भ्रष्ट या अधम सिंह कहलाता है, वैसे ही स्वधर्मविमुख हिन्दू भ्रष्ट या अधम हिन्दू कहलायेगा।

वेदों में 'सिन्धवः' शब्द आता है, वह सिन्धुनदी के पार्श्ववर्ती देशों एवं तन्निवासियों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वेदों में 'सकार' के स्थान में 'हकार' का भी प्रयोग हो जाया करता है। इस सम्बन्ध में 'सरस्वती' 'हरस्वती' आदि वैदिक उदाहरण हैं। 'केसरी' का 'केहरी' आदि लौकिक उदाहरण भी प्रसिद्ध हैं। तथाच

'सिन्धु'—'सिन्धवः', 'हिन्धुः'-'हिन्धवः' व्यवहार चलने लगा। कालक्रम से 'धकार' का परिवर्तन 'दकाररूप' में हुआ और 'हिन्दू' नाम चल पड़ा। 'सिन्धु' शब्द का लक्षणा से सिन्धु-समीपस्थ देश अर्थ है। 'गंगायां घोषः' उदाहरण में प्रसिद्ध है कि गंगा-तट ही जहती लक्षणा से गंगा-शब्द का अर्थ है, वहीं घोष (आभीरपल्ली) सम्भव है। इसी तरह जहती लक्षणा से सिन्धुपार्श्ववर्ती देश सिन्धु-शब्द का अर्थ हुआ। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस प्रयोग में अजहती लक्षणा से मंच का अर्थ मंचस्थ पुरुष होता है वैसे ही सिन्धुदेश निवासी भी सिन्धु-शब्द का अर्थ होता है।

इस दृष्टि से सिन्धुनदीके इस पार समुद्रतट तक और उस पार भी समुद्रतट तक के निवासी हिन्दू कहे जा सकते हैं। यही भारतवर्ष हुआ। यहाँ अनादिकाल से जन्मना वर्णव्यवस्था एवं तदनुसारी वैदिक-धर्म प्रचलित था, अतः वैदिक-धर्मानुयायी हिन्दू हुए। यही सृष्टिस्थल भी है। यहींसे अन्यान्य जातियों एवं धर्मों का अन्यान्य देशों में प्रसार हुआ है। जो धर्मविमुख हो गये, वे भ्रष्ट-हिन्दू ही अन्य नामों से व्यवहृत होने लग गये। उनके अलग-अलग धर्म भी हो गये। उन्हीं हिन्दुओं के गुणों को लेकर हिन्दू की परिभाषा 'मेरुतन्त्र', 'मेदिनी-कोष' आदि में की गयी है :

हीनं दूषयति, हिंसकान् दुनोति वा हिन्दुः, हिनस्ति दुष्टान् वा ।

अर्थात् हीन या अधम को जो दूषित करे, जाति-बहिष्कृत करे, वह हिन्दू है या हिंसक को जो दण्ड दे, वह हिन्दू है अथवा दुष्टों का जो हनन करे वह हिन्दू है। हीनता, हिंसा, दोष आदि का ज्ञान अपौरुषेय वेदादि-शास्त्रों से ही होता है, अतः वेदादि-शास्त्रानुसारी हिन्दू हुए। वेदादिशास्त्रप्रोक्त धर्म ही हिन्दू-धर्म है। हिन्दू-धर्म-प्रलोपकारो से 'मेरुतंत्र' में हिन्दू-धर्म पद से वेदादिशास्त्रप्रोक्त धर्म ही विवक्षित है।

हिन्दू, हीनता, दोष अथवा हिंसा को वेदादिशास्त्रानुसार जानकर वेदादि-शास्त्रानुसार ही दण्ड देता है, दुष्ट का हनन करता है, क्योंकि वेद ही अपौरुषेय, अतएव समस्त पुंदोषशंका-कलंकशून्य ईश्वरीय ग्रन्थ है, अतः वैदिक धर्मानुयायित्व ही हिन्दुत्व है, यह निर्गलित अर्थ हुआ। यहीं प्रथम सृष्टि हुई, अतः यहींके लोग अन्यत्र जाकर बसे, अतएव मूलतः सभी हिन्दू हैं। कालक्रम से अनेक कारणों से स्वधर्मविमुख होने से भ्रष्ट-हिन्दू ही अन्यान्य देशनिवासो, अन्यान्य धर्मानुयायी होकर अन्यान्य जाति के कहे जाने लगे :

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च । —मनु०

जैसे प्राण द्वारा शरीरस्थिति होती है, वैसे ही धर्म से विराट् की स्थिति होती है : **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ।** भारतवर्ष में ही उस धर्म का सार्वदिक् रूप से अवस्थान है, यहीं अनादि-अपौरुषेय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है।

मोहनजोदड़ो, हडप्पा आदि खंडहरों से यह सिद्ध हो गया है कि संसार की सबसे प्राचीन संस्कृति 'वैदिक-संस्कृति' है। मन्वादि धर्मशास्त्रों से तो वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता सिद्ध है ही। संसार के सभी ग्रन्थ पौरुषेय हैं, केवल वेद ही अपौरुषेय है। वेदों की सर्वप्राचीनता तो सिद्ध है ही। उन वेदों में भारत की सिन्धु आदि विभिन्न नदियों का वर्णन है। हिन्दू-धर्म ही पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि में क्रमेण विकृतरूप से उपलब्ध हो रहा है। देशकृत जाति की दृष्टि से भी सभी जातियाँ मूलतः हिन्दू हैं, क्योंकि यहीं प्रथम सृष्टि हुई है, यहींसे अन्यत्र देशों के मनुष्यों का प्रसार हुआ है। वेद एवं तदनुसारी धर्म भी मूलतः सबका ही है, क्योंकि ईश्वरीय शास्त्र एवं धर्म वही है। जन्मना वर्णव्यवस्था भारत में ही अवशिष्ट है, अतः वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त धर्म भी यहीं अवशिष्ट हैं।

वास्तविक जन्मना वर्णव्यवस्था विदेशियों के यहाँ यद्यपि लुप्त हो गयी है, तथापि यह उचित है कि वे भी केवल व्यवहारोपयोगी ज्ञानप्रधान, बलप्रधान, धन-प्रधान, शिल्प-सेवादिप्रधान समूहों की एकबार गुण-कर्मानुसार ब्राह्मणादि-वर्ण व्यवस्था चलाकर उसे जन्मना सुस्थिर करें और आपस में ही भोजन, विवाहादि करते हुए त्रिशल्लक्षण सनातनधर्म का पालन करें। परंतु जन्मना वर्णव्यवस्था के लुप्त हो जाने तथा उपनयन-परंपरा के नष्ट होने के कारण वे वेदाध्ययन तथा तदुक्त श्रौत-कर्मों के अनुष्ठानार्ह नहीं रहेंगे। तो भी त्रिशल्लक्षण धर्म-पालन से वे गति वही पा सकेंगे, जो वैदिकों को प्राप्त होगी। उनके कल्याण के लिए वेदों के ही सारभूत तत्त्वों से रामायण, महाभारतादि आर्ष-ग्रन्थ बने हैं। उनके श्रवण तथा विभिन्न भाषाओं में अनूदित ग्रन्थों का अध्ययन करके उन्हीं दिव्य सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक तत्त्वों का ज्ञान उन्हें प्राप्त हो सकता है। इसी दृष्टि से भारतवासी होने पर भी, रूप-रंग, बनावट एक ढंग की होने पर भी, दैशिक दृष्टि से नीची इंगलिश आदि के समान एक भारतीय या हिन्दी-जाति की दृष्टि से एक जाति के होते हुए भी धर्म की दृष्टि से उनमें हिन्दू, मुसलमान आदि भेद हो सकता है।

हिन्दुत्व का वास्तविक आधार और लक्षण

आचार-विचार, भाषा, कला, विश्वास आदि शिक्षा, संग, देशाटन आदि से बदलते रहते हैं। देश के आधार पर रूप-रंग, बनावट से होनेवाली जातियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। धर्ममूलक जातियों पर ही इन बातों का प्रभाव पड़ता है। 'बीजाङ्कुरन्याय' से प्राणियों के जन्म-कर्म की परम्परा अनादि है। स्वप्न-जागर, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय की परम्परा भी अनादि है। इस अनादि विश्व का नियामक अनादि परमेश्वर है। उसके निःश्वासभूत अकृत्रिम वेद एवं तदनुसारी

आर्ष धर्मग्रन्थ विश्व का विधान या कानून है । तद्विहित कर्मादि ही धर्म है । तत्प्रतिपालक जाति हिन्दूजाति है । इस दृष्टि से 'हिन्दूकानून से जो शासित हों, वे हिन्दू हैं' यह परिभाषा भी इसी आधार पर ठीक है; क्योंकि 'हिन्दू-ला' का आधार मिताक्षरा, दायभाग, व्यवहारमयूख आदि निबन्धग्रन्थ हैं । उनका भी आधार मन्वादि धर्मशास्त्र और उनका भी आधार वेदादि-शास्त्र हैं । जात्या हिन्दू भी व्यावहारिक दृष्टि से तबतक 'हिन्दू' माना जाता है, जबतक विरोधी धर्मान्तर ग्रहण नहीं कर लेता । इसी आशय से ईसाई, मुस्लिम, यहूदी, पारसी से भिन्न लोगों को हिन्दू मानने की रीति चल रही है । सिख, जैन, बौद्ध और वेदादि-शास्त्र एवं तदनुसारी निबन्धानुयायी तो हिन्दू ही हैं ।

किन्तु आजकल देश में अलग होने का भी एक रोग चल पड़ा है और उसको मानने के लिए परिभाषा को शिथिल करने, रबड़-छन्द की तरह बढ़ाने-घटाने का भी रोग चल रहा है । यह सामान्य नियम है कि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषों से शून्य लक्षण या परिभाषाएँ प्रत्यक्ष लक्ष्यों में प्रत्यक्षानुसारी बनायी जाती हैं । जैसे गौ प्रत्यक्ष लक्ष्य है तो उसका सास्नादिमत्त्व लक्षण प्रत्यक्षानुसारी है । जिसमें सास्ना (गलकम्बल) नहीं, वह गौ नहीं । पर जहाँ लक्ष्य का ज्ञान ही आगमादिजन्य हो, वहाँ लक्षण भी आगमानुसारी ही होता है । जैसे शुद्ध-संस्कृत शब्द सर्वज्ञकल्प महर्षियों को भले ही प्रत्यक्ष हों, पर सर्वसाधारण को तो लक्षणों, व्याकरणसूत्रों से ही वे ज्ञात होते हैं । अतः महर्षि लक्ष्यैकचक्षुष्क और साधारण लोग लक्षणैकचक्षुष्क होते हैं । आगमानुसारी लक्षण सुस्थिर होते हैं, मनमानी रबड़-छन्द के समान उनका घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं । उसका फल भी प्रत्यक्ष है कि लाखों वर्षों के ग्रन्थों का उन्हीं लक्षणानुसारी स्थिर लक्ष्यों के आधार पर अर्थ-निर्णय हो जाता है, कठिनाई नहीं पड़ती । अन्य भाषाओं में, जहां लक्षण स्थिर नहीं, हजार वर्ष के भी ग्रन्थों का अर्थज्ञान दुर्लभ हो जाता है । इसी तरह ब्राह्मणादि वर्ण एवं तदनुसारी धर्म शास्त्रगम्य है, अतः धर्ममूलक हिन्दू आदि जातियाँ भी शास्त्रमूलक ही होनी चाहिए, उनकी परिभाषा भी शास्त्रानुसारी ही होनी चाहिए । अधिक संग्रह के लोभ से रबड़-छन्द की तरह परिभाषाओं को घटाना-बढ़ाना सर्वथा अनुचित है ।

यद्यपि कहीं-कहीं देश के अनुसार जाति का नाम पड़ता है, जैसे कि 'मैथिल' आदि नाम मिथिला के सम्बन्ध से पड़ा है, किन्तु 'मिथिला' नाम जाति के सम्बन्ध से नहीं हुआ है । कई स्थानों में जहाँ कोई भी नहीं रहता, उन प्रदेशों का भी कोई न कोई नाम कल्पित होता ही है । इस तरह देशनामों के आधार पर ऐकान्तिक जातिकल्पना नहीं की जाती । जब 'हिन्दू' शब्द धर्मविशिष्ट जाति का वाचक हो, तभी हिन्दुओं का निवास-स्थान होने से देश का नाम 'हिन्दुस्थान' होगा । परन्तु

हिन्दनिवासी होने के कारण जाति का नाम हिन्दू माना जाय और हिन्दू-निवास-स्थान होने से देश का नाम 'हिन्दुस्थान' माना जाय, तब तो अन्योन्याश्रय दोष ध्रुव होगा। साथ ही हिन्दनिवासी अन्य लोगों को भी 'हिन्दू' कहना पड़ेगा। अतः हिन्दू-लक्षण अतिव्याप्त ही होगा।

कई लोग हिमालय के 'हि' और इन्दुसरोवर के 'न्दु' को जोड़कर प्रत्याहार-न्याय से 'हिन्दू' शब्द बनाते हैं, अर्थात् हिमालय से लेकर इन्दुसरोवर (कुमारी अन्तरीप) तक का देश हिन्दुस्थान है।

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम्।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते॥

सारांश, 'सिन्धवः' इस वैदिक शब्द के आधार पर अथवा 'हिनं दूषयते' आदि व्युत्पत्तियों के आधार पर हिन्दू-शब्द धर्मविशिष्ट जाति का ही वाचक है।

कुछ लोग हिन्दू-जाति की इस प्रामाणिक एवं निश्चित परिभाषा तथा उसके निश्चित नियम को ही उसके पतन या ह्रास का कारण बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में 'जाति-बहिष्कार की प्रथा सर्वथा बन्द होनी चाहिए। लक्षण अधिकाधिक संग्राहक होने चाहिए, नियम सरल होने चाहिए, वे भी शिथिल होने चाहिए, नियमोल्लंघन करनेवालों को क्षमा कर देनी चाहिए, अनुशासन की कार्यवाही नहीं करनी चाहिए। हिन्दूशास्त्रों और धर्म में भी नये सुधार-परिष्कार होने चाहिए।' इसी आशय से नयी स्मृतियों और 'हिन्दू-कोड' की आवश्यकता बतलायी जा रही है। विकाशवाद के अनुसार यह सब ठीक ही है, क्योंकि उसके अनुसार अभीतक ज्ञान-क्रियाशक्ति का पूर्ण विकाश हुआ ही नहीं है। अतः कोई भी सर्वज्ञ हुआ ही नहीं है। फिर कोई भी शास्त्र, कोई भी धर्म, कोई भी परिभाषा या कोई भी नियम पूर्ण कैसे माना जाय? फिर उत्तरोत्तर परिष्कार, सुधार आदि आवश्यक ही हैं। परंतु जो परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् मानते हैं—रेल, तार, रेडियो वायुयान, परमाणुबम, हाइड्रोजनबम बनानवाले वैज्ञानिकों के मस्तिष्कों का भी निर्माता परमेश्वर को ही मानते हैं, उनकी दृष्टि में तो उस परमेश्वर के शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों से ही प्राणियों को कर्मानुसार सीमित ज्ञान-क्रियादि शक्तियाँ मिलती हैं। पूर्ण ज्ञान-क्रियादि शक्तियाँ तो परमेश्वर में ही हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्र और धर्म का स्थिर ही होना ठीक है, नियम भी स्थिर ही ठीक हैं, अनुशासनहीनता ही पतन का मूल है।

हिन्दू-हिमायती सुधारक हिन्दुओं के नाशक ही हैं। ईसाई, मुसलमान कहते ही हैं कि 'हिन्दूधर्म कभीके लिए अवश्य लाभदायक था, परन्तु आजके देश-काल के लिए वह पुराना हो गया, अब समाज के सामने वे सड़े-गले नियम नहीं रखे जा

सकते।' 'यही आधुनिक सुधारक भी कहते हैं कि 'दुनिया बहुत आगे बढ़ गयी है, अब पुराने धर्म लाभदायक नहीं होंगे। दुनिया के बदलने के साथ-साथ अपने-आपको, समाज को, धर्म को बदलते चलना ही बुद्धिमानी है। आज वायुयान के जमाने में बैलगाड़ी से चलना, हाईड्रोजनबम के जमाने में पत्थरों के औजारों से लड़ना बुद्धिमानी नहीं है।' भेद इतना ही है कि ईसाई, मुसलमान जहां ईसाई एवं इस्लामधर्म तथा 'बाइबिल' और 'कुरान' को मानने का आग्रह करते हैं, वहाँ ये सुधारक उन्हें भी मानने को तैयार नहीं। वे शास्त्रों में सुधार या नया शास्त्र चाहते हैं। सामान्य जनता समझ लेती है कि ईसाई, मुसलमान और सुधारक हिन्दू एक ही बात कर रहे हैं। जब सुधारक भी नया शास्त्र बनाना आवश्यक समझते हैं, पुराने हिन्दूशास्त्र को लाभदायक नहीं समझते, तो फिर पुराने शास्त्रों को छोड़कर 'बाइबिल', 'कुरान' क्यों न मान लिये जायँ? इस तरह अन्ततः ये सुधारक ईसाइयों, मुसलमानों के साथी बन जाते हैं।

किन्तु क्या ईसाई-मुसलमान और क्या सुधारक, सभीको समझ लेना चाहिए कि सत्य सिद्धान्त में प्राचीनता ही भूषण है, नवीनता नहीं। यदि नवीनता ही मान्य होगी, तब तो आजके लिए 'बाइबिल', 'कुरान' भी पुराने हो गये, ईसाइयत और इस्लामियत भी पुरानी हो गयी। वह भी सड़ गयी होगी। अब उनकी अपेक्षा भी नया शास्त्र और नया सिद्धान्त बनाना ही आवश्यक होगा। इसी तरह विकाशवादी का विकाशवाद भी तो अब पुराना हो गया। जब उत्तरोत्तर के लोग अधिकाधिक विज्ञानी और पूर्व-पूर्व के लोग अल्पविज्ञानी या अज्ञानी हैं तब तो पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र की अपेक्षा पिता, पितामह, प्रपितामह और शिष्य, प्रशिष्य की अपेक्षा गुरु, परमगुरु, परात्परगुरु आदि अज्ञानी ही होंगे। फिर उनकी बात भी कैसे मान्य होगी?

सच तो यह है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सभी विषयों में ज्ञान सीखना पड़ता है। फिर पिता और गुरु को अपनी अपेक्षा अज्ञ कहना कितनी बड़ी अज्ञता है? जो विकाशवादी अपने पूर्वजों को बन्दर मानते हैं, उन्हें यह समझ लेना होगा कि यदि उनके पूर्वज बन्दर थे तो वे भी बन्दर ही हैं, क्योंकि बन्दर की सन्तान सिंह कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अतएव चन्द्र, सूर्य, आकाश, वायु, भूमि, आत्मा आदि अपरिगणित प्राचीन वस्तुओं का सम्मान किया जाता है, क्षुधा-पिपासा-निवृत्त्यर्थं अन्न-जल ग्रहण किया जाता है, सन्तानसुखार्थं भार्यासंग्रहादि आज भी करना ही पड़ता है। नवीन भी प्लेग, विसूचिका आदि महामारियां से सभीको उद्वेग होता है। अतः सत्य सिद्धांतों, शास्त्रों, तदुक्त धर्मों की प्राचीनता ही नहीं, अनादिता एवं नित्यता भी मान्य होती है। धर्म की परिभाषा, स्वरूप और

प्रमाण सुस्थिर हैं। उनमें रद्दोबदल सर्वथा असंगत है। शास्त्रों ने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार जो परिवर्तन बतलाये हैं, वे तो व्यवस्थित हैं। जैसे हर ग्रीष्म, शीत और वर्षा के परिवर्तन भी प्रवाहरूप से नित्य ही हैं। उनके पृथक् विधान भी उसी रूप में नित्य ही हैं। अतः परिवर्तनवादी हिन्दू-हितकारी नहीं, अपितु मूलघाती ही हैं।

कुछ लोग आधुनिक लोगों द्वारा प्रचारित 'साम्प्रदायिकता' से घबड़ाकर हिन्दुत्व और साम्प्रदायिकता, हिन्दू और साम्प्रदायिक का भेद सिद्ध करने के लिए आकाश-पाताल का कुलाबा भिड़ाते हैं। वे नहीं जानते कि आधुनिक लोग अनुचित दलबन्दी, नाजायज गिरोहबन्दी को ही 'सम्प्रदाय' कहते हैं। परन्तु 'सम्प्रदाय' शब्द का अर्थ ऐसा नहीं, अपितु ज्ञान, उपासना, कर्मकाण्ड आदि की अनादि अविच्छिन्न आचार्यपरंपरा को 'सम्प्रदाय' कहा जाता है। हमारे यहाँ 'साम्प्रदायिकता' गौरव की चीज है, लज्जा की बात नहीं। तुल्यं साम्प्रदायिकम् (जै० सू०) के अनुसार साम्प्रदायिक होने से ही ब्राह्मणभाग की मन्त्रभागवत् अपौरुषेयता, अनादिता सिद्ध की गयी है। शुद्ध वैदिक-सम्प्रदायनिष्ठ व्यक्ति ही 'हिन्दू' होता है।

जो लोग कहते हैं कि सिंधु से लेकर सिन्धुपर्यन्त भारतभूमि को जो पितृभू और पुण्यभू मानता है, वही हिन्दू है:

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

किन्तु उनकी यह परिभाषा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों से पूर्ण है। इसके अनुसार प्राचीनकाल के वे हिन्दू, जो दूसरे द्वीपों में रहते थे, हिन्दू ही नहीं कहे जा सकते। हिन्दूशास्त्रों के अनुसार तो वैदिक ही हिन्दू थे। वेदों के आधार पर परमेश्वर सृष्टि रचता है। अतः वेद अनादि हैं। कहीं भी उत्पन्न होनेवाला किसी भी देश को पितृभू और पुण्यभू माननेवाला हिन्दू हो सकता है, केवल वह वैदिकधर्मानुयायी होना चाहिए। मुसलमान, ईसाइयों ने भी धर्म के आधार पर ही जाति की कल्पना की है। इस्लाम एवं ईसाई धर्मविश्वासी कोई भी और कहीं भी हो, मुसलमान या ईसाई कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त देश की सीमाएँ अव्यवस्थित हैं। इस आधार पर यदि जाति-कल्पना करें तो जाति भी अव्यवस्थित ही रहेगी। आज सिन्धु की कौन कहे, विपाशा,

चन्द्रभागा, वितस्ता, इरावती नदी भी भारत में नहीं हैं, वे पाकिस्तान में हैं। वहाँ-के निवासियों को व्यावहारिक रूप से क्या कहेंगे ? किसी समय ईरान, अफगानिस्तान आदि भी भारत की ही सीमा में थे, जो सिन्धु से परे हैं। वहाँके निवासियों और उसी भूमि को पितृभू, पुण्यभू माननेवालों को इस परिभाषा के अनुसार हिन्दू कैसे कहा जायगा ? इसी तरह यदि कोई ठीक हिन्दू-धर्म का विरोधी भारतभूमि में बाहर से आकर बस जाय और यहाँ अपना अभिमत धर्मस्थान बना ले और इस भूमि को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानने लग जाय, तो उसे भी 'हिन्दू' कहना पड़ेगा।

इतना ही क्यों, मुसलमान भी इस देश को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं। उनके अनेक धर्मस्थान यहाँ हैं ही, उन्हें वे पुण्यभूमि मानते ही हैं। फिर उनमें यह लक्षण अतिव्याप्त ही होगा। कुछ लोग कहते हैं कि 'पुण्यभूमि का अर्थ धर्म की उत्पत्ति का स्थान है।' फिर भी यह परिभाषा अनुचित होगी। वैदिकों का सनातधर्म नित्य है, वह कहीं भी उत्पन्न नहीं हुआ। अतः यह सनातनधर्म की उत्पत्ति की भूमि नहीं है। इस दृष्टि से सनातनधर्मी ही हिन्दू न कहे जा सकेंगे। फिर प्रश्न यह होगा कि 'पितृभूमि' पुण्यभूमि, दोनों जो माने वही हिन्दू है, अथवा दोनों में से एक भी माननेवाला हिन्दू है ? 'कुछ लोग चीनी, जापानी बौद्धों को 'हिन्दू' सिद्ध करने के लिए यही पर्याप्त मानते हैं कि उनकी पितृभूमि यद्यपि भारत नहीं है, तथापि उनका धर्म भारत में ही उत्पन्न हुआ, अतः वे भी हिन्दू हैं। परन्तु यदि एक-एक भी लक्षण माना जाय तब तो पितृभूमिमात्र मानने से भी कोई हिन्दू हो सकेगा। मुसलमानों का धर्म भले ही यहाँ न उत्पन्न हुआ हो, तथापि उनकी भी पितृभूमि भारत है ही।

वस्तुतः ये सब निष्प्रमाण लक्षण हैं और केवल संख्या बढ़ाने की दृष्टि से ही गढ़े जाते हैं। कहा जाता है कि 'भारत के वैदिक, चार्वाक, जैन सब हिन्दू कहे जायंगे।' परन्तु यदि पुण्यभूमि माननेवाला हिंदू है, तब चार्वाक कैसे हिन्दू होगा, जब कि उसके यहाँ परलोक ही नहीं ? धर्माधर्म की मान्यता नहीं, तब तीर्थ और धर्म की चर्चा ही क्या ? इस दृष्टि से धार्मिकता को लेकर ही इस पक्ष में भी कैसे हिन्दुत्व की कल्पना होगी ? फिर अधार्मिक चार्वाक हिन्दू कैसे होगा ?

इसके अतिरिक्त जब जैन, बौद्ध, चार्वाक भी हिन्दू इस नाते हैं कि वे भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं, तब मुसलमान भी यदि भारत को पितृभूमि

और पुण्यभूमि मानें, तो निश्चय ही वे भी हिन्दू कहे जा सकेंगे। जैसे वैदिकों की पुण्य-भू और तीर्थों को न मानते हुए भी जैन केवल अपने तीर्थों और पुण्यभू को मानने हिन्दू हैं, वैसे ही उपर्युक्त दोनों के तीर्थों और पुण्यभू को न मानने पर भी स्वाभिमत पुण्यभू और तीर्थ मानने पर मुसलमान भी हिन्दू कहे जा सकेंगे। काशी आदि से भिन्न तीर्थ मानने पर भी जैन हिन्दू हैं, तो काशी आदि से भिन्न, अपनी मसजिदों, बहराइच आदि स्थानों को तीर्थ मानने से भी मुसलमान हिन्दू हो सकेंगे। इसलिए कई लोगों ने तो यहाँतक भी कहा कि 'हिन्दुस्थान में रहनेवाला हिन्दू है।' फिर तो स्पष्ट है कि प्रादेशिकता हिन्दुत्व ठहरेगा। यदि बीच में धार्मिकता भी लाना चाहेंगे, तो उसकी परंपरा भी माननी पड़ेगी और तथाकथित साम्प्रदायिकता भी आ ही जायगी। अतः ये सब लक्षण असंगत हैं।

वास्तव में 'वेदादि-धर्मशास्त्र और तदाधारित निबन्धानुयायित्व' हिन्दुत्व है। यदि कोई सर्वमान्य विशेषता और प्रमाण की अपेक्षा न हो तब तो वास्तविक संग्राहक लक्षण यही है कि 'गोभक्ति, प्रणवादि-नामपूजा, पुनर्जन्म-विश्वास' हिन्दुत्व के प्रयोजक हो सकते हैं। जैन, बौद्ध, सिख, हिन्दू सबमें यह लक्षण संगत हो जाता है :

> गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवादौ दृढ़ा मतिः।
> पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

किन्तु इससे भी प्रामाणिक हिन्दु-परिभाषा तो निम्नोक्त ही है।

> वेदशास्त्रोक्तधर्मेषु वेदाद्युक्तधिकारवान्।
> आस्थावान् सुप्रतिष्ठश्च सोऽयं हिन्दुः प्रकीर्तितः॥

अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मों में वेदादिशास्त्रानुसार हो जो अधिकारी हो और अधिकारानुसार जो विश्वासवान् एवं उस धर्म में प्रतिष्ठित हो, वही प्रामाणिक हिन्दू है।

यों जैसे जातीयता के कारण अनुचित दुराग्रह और पक्षपात को तथाकथित 'साम्प्रदायिकता' कहा जा सकता है, वैसे ही प्रादेशिकता को लेकर अनुचित दुराग्रह को भी गिरोहबंदी कहा जा सकता है। किसी एक के मतभेद के कारण दूसरों को

मौत के घाट उतारने के दुराग्रह को ही तथाकथित 'साम्प्रदायिकता' कहा जा सकता है। समष्टि-हित का ध्यान रखते हुए व्यष्टि-हित का प्रयत्न अनुचित नहीं, परंतु समष्टि-हित की विघातक व्यष्टि-समुन्नति के प्रयत्न निश्चय ही हानिकारक हैं। व्यक्तिवाद, तथाकथित सम्प्रदायवाद, प्रदेशवाद या राष्ट्रवाद भी उसी तरह खतरनाक हैं। हिटलर का राष्ट्रवाद विश्वशान्ति के लिए अहितकर था, इसीलिए उसका अन्त सभी चाहते थे।

अब यहाँ विचारणीय विषय यह है कि धार्मिकता व्यापक है या प्रादेशिकता? स्पष्ट है कि प्रादेशिकता बहुत ही क्षुद्र है। पहले तो भारत कितना बड़ा है, कौन है? इसका भी पूरा निर्णय नहीं हो रहा है। पुराणों में ९ हजार योजन उसका परिमाण लिखा है, जिसका अभिप्राय आजकल का सारा संसार ही भारत है। फिर तो सभी व्यक्ति भारतीय या हिन्दू हैं। ईरान, गान्धार आदि तो कलतक भारत ही था। गान्धारी का खास सम्बन्ध गन्धार ही से था। यदि धार्मिकता हिन्दुत्व है, तब तो विभिन्न देशों में उसकी व्याप्ति हो सकेगी। यदि प्रादेशिकताके अभिप्राय से हिन्दुत्व की व्याख्या की जाय, तो अधिक से अधिक भारत के राष्ट्रभक्त मनुष्य हिन्दू हो सकते हैं। तथा च इसकी क्षुद्रता स्पष्ट है। इस दृष्टि से विभिन्न द्वीपों और वर्षों के निवासी राजर्षिगण कथमपि हिन्दू न कहे जा सकेंगे।

जो भारतीय राष्ट्रिय समाजवाद को ही हिन्दुत्व मानते हैं, उनके मत से हिन्दुत्व केवल मिट्टी के कुछ टुकड़ेमात्र से सम्बद्ध है। किन्तु अन्य देश, द्वीप या वर्ष का नागरिक वैदिकधर्मावलम्बी भारतीय राष्ट्रिय समाज से अलग ही रहेगा। फिर क्या वह हिन्दू न रह सकेगा?

६. तीन राष्ट्रिय स्वतन्त्रताएँ

महाराज ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सब प्रकार की परवशताएँ दुःख और पूर्ण स्वतन्त्रता ही सुख है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। —मनु०, ४.१६०

इतना ही नहीं, जैसे वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार अनन्त ज्ञान, अनन्त सत्ता और अनन्त आनन्द ईश्वर का स्वरूप है, वैसे ही अनन्त स्वतन्त्रता भी ईश्वर का ही रूप है। इसीलिए प्रत्येक प्राणी जीवित रहने, अपनी सत्ता अक्षुण्ण रखने, सुखी रहने तथा दूसरों पर शासन करने की इच्छा के समान ही स्वतन्त्र रहना भी चाहता है। किसी पक्षी को सोने के पिंजड़े में रखें, शीतल-मधुर-सुगन्धित जल पीने को दें, मधुर-मनोहर फल खाने को दें, फिर भी वह सन्तुष्ट नहीं रहता। वह स्वतन्त्र ही रहना चाहेगा है। सोने का पिंजड़ा भी उसे बन्धन प्रतीत होता है। वह खारा पानी पीकर और खट्टा फल खाकर भी स्वतन्त्रता के साथ वृक्षों की टहनियों पर विचरण करना पसन्द करता है।

ये पाँचों चीजें निःसीम रूप से (अनन्त रूप से) परमेश्वर में ही रहती हैं। अपनी सीमित सत्ता, सीमित ज्ञान, सीमित सुख, अपूर्ण शासनशक्ति तथा स्वाधीनता को पूर्ण निःसीम (अनन्त) बनाने के लिए ही जीव शिवपद की, नर नारायणपद की प्राप्ति चाहता है, क्योंकि पूर्णता उसीमें है।

किन्तु जब कहीं-कहीं यही स्वतन्त्रता उच्छृंखलता का रूप धारण कर लेती है तो वह लाभ के बदले हानिकारक बन जाती है। यदि पुत्र माता-पिता की, शिष्य गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन कर स्वाधीनता की कामना करें तो उन्नति के बजाय वे अवनति के कण्टकाकीर्ण गर्त में ही गिरने के लिए बाध्य होंगे।

व्यवहार में देखा जाता है कि जिस वस्तु की प्राप्ति अभीष्ट होती है, पहले उसका बलिदान करना पड़ता है, तभी वह प्रिय वस्तु मिल पाती है। जो व्यापारी व्यापार पर करोड़ों रुपये बलिदान करते हैं, वे ही अरबों का लाभ उठाते हैं। ऐसे ही जो जितनी मात्रा में स्वतन्त्रता का बलिदान कर सकता है, वह उतनी ही मात्रा में उसे प्राप्त कर पाता है। माता-पिता, गुरुजनों के वश में रहकर ही पुत्र या शिष्य योग्य, विद्वान् और गुण-सम्पन्न बन सकते हैं। इसी प्रकार वे कभी राष्ट्र के बड़े-से-बड़े उन्नायक हो सकते हैं। अधिक नियन्त्रित होकर स्वधर्मनिष्ठा, इन्द्रियनिग्रह, प्राण-

स्मृतियों में उल्लेख है कि कोई राजा यदि अन्य देश में शासन करने जाय तो वह वहाँके धर्मगुरुओं के अनुसार वहाँके आचारों को जानकर उनका पालन करे, उनमें हस्तक्षेप न करे :

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा स वशमागतः॥

शुक्रनीति में भी बहुत से स्मतिविरुद्ध परम्पराप्राप्त आचारों को दण्डक्षेत्र से बाह्य माना है। आज भी सु क्षा-परिषद् के 'मानवाधिकार-घोषणापत्र' के अनुसार किसी सरकार को किसी भी नागरिक के धार्मिक-विश्वास में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति में शिक्षा-स्वाधीनता के तुल्य ही धार्मिक-स्वाधीनता भी पूर्ण स्वतंत्रता का एक अनिवार्य अंग है।

धन की स्वतन्त्रता

इसी प्रकार वैध धन की स्वाधीनता भी प्रत्येक राष्ट्र के लिए अनिवार्य है। शिक्षा एवं धर्म की स्वाधीनता भी धन की स्वाधीनता के बिना बेकार हो जाती है। धन रहने पर ही यज्ञ, दान, मंदिर-निर्माण, भोग-राग शिक्षा-संचालन आदि संभव होता है। लोकतंत्र, जनतंत्र भी व्यक्तिगत वैध धन रहने पर ही चल सकता है। जनतंत्र वहीं रह सकता है जहाँ जनता में नापसन्द सरकार बदलकर मनचाही सरकार बना सकने की शक्ति रहे। यह वहीं संभव है, जहाँ जनता स्वतंत्रता से निर्वाचन जीत सकती है। यह भी वहीं संभव है, जहाँ निर्वाचन निष्पक्ष एवं सस्ता हो और जनता के प्रत्येक व्यक्ति के पास निर्वाचन लड़ने का साधन रहे। निर्वाचन-साधनों में धन का प्रमुख स्थान रहता है। व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदि रहने पर ही पोस्टर, नोटिस अखबार, लाउडस्पीकर, जीप, कार्यकर्ता आदि का संग्रह हो सकता है। जहाँ निर्वाचन महँगा और जनता धनहीन हो, जहाँ जनता नापसंद सरकार कभी बदल ही नहीं सकती। जहाँ पेट भरने को रोटी, तन ढांकने को कपड़ा तथा बीमार के लिए इलाज मिलना कठिन हो, जहाँ २१०, ५०० रु० निर्वाचन की जमानत का भी रुपया जुटना कठिन होता है, वहाँ बहुव्ययसाध्य निर्वाचन-विजय संभव कहाँ ?' फिर भी मक्कार शासक यही कहते रहते हैं कि 'यह जनतंत्र सरकार है, जो चाहे एम० पी०, एम० एल० ए० बने; राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री बने; मन-

चाहो सरकार बनाये और नापसन्द सरकार बदल दे।' यह कथन ठीक वैसा ही है, जैसे किसी पक्षी के पंख काटकर उसे उड़ने की मुकम्मिल आजादी दे दी जाय, अथवा किसी मनुष्य का पैर काटकर उसे दौड़ने की खुली छूट दे दें। यह सब सिवा मक्कारी के कुछ नहीं। इस तरह स्पष्ट है कि धनहीन जनता किसी खूँखार शासन को भी बदलने में समर्थ नहीं होती। सिर झुकाकर सब अत्याचार सहने के सिवा उसके सामने कोई चारा ही नहीं रहता। कोई भी आंदोलन बिना धन के संभव नहीं है।

राष्ट्रिय उत्पादन की दृष्टि से भी नौकरशाही, व्यापार, उद्योग-धन्धों और खेती की अपेक्षा छोटी-छोटी समितियाँ एवं व्यक्तिविशेष अधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं। यद्यपि किन्हीं व्यापार आदि विषयों में 'संभूय समुत्थान' (कम्पनी आदि) का शास्त्रों में समर्थन मिलता है, फिर भी खेती आदि के सम्बन्ध में व्यक्तिगत प्रयत्न ही अधिक सफल होते हैं। आम तौर पर व्यक्तिगत वस्तुओं में लाभ के लोभ एवं हानि के डर से प्राणी सावधानी से प्रयत्न करता है। साझेदारी या नौकरशाही में वह सफलता कभी भी नहीं मिल सकती।

सुना जाता है कि सोवियत रूस में सामूहिक कृषि-प्रणाली समाप्त होने जा रही है। वहाँ व्यक्तिगत इकाइयों के रूप में खेत बाँट दिये जायँगे। वहाँ किसानों को वचन दे दिया गया है कि खेतों के बड़े प्लाट नहीं बनाये जायँगे और न वे राजकीय फार्मों के साथ ही मिलाये जायँगे। संसार के अन्य भागों के किसानों की भाँति ही सोवियत किसान भी चाहते रहे हैं कि कृषि पर उनका अधिकाधिक नियंत्रण रहे। सन् १९२८ में वहाँ सामूहिक खेती की योजना कार्यान्वित की गयी थी। कहा जाता है कि उस समय डेढ़ करोड़ किसान मौत के घाट उतार दिये गये। यह संख्या भी वास्तविकता से कम ही है। इसमें उन लाखों व्यक्तियों की गणना नहीं है, जिन्हें उस कार्यक्रम को लागू किये जाने के बाद दीर्घकालीन दुर्भिक्ष में मौत का शिकार बनना पड़ा। तबसे बराबर कृषि में अवनति होती रही है। प्रायः इस कमजोरी से सभी कम्युनिस्ट देश पीड़ित हैं। कोई भी कम्युनिस्ट देश अपनी जनता को खिलाने के लिए स्वावलम्बी नहीं। सबको भी विदेशों से मँगाये गये अन्न पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

कहा जाता है कि ख्रुश्चेव के हटाये जाने का एक यह भी मुख्य कारण था कि उनको भी विदेशों से पर्याप्त अन्न मँगाना पड़ा। इतने दिनों के बाद सामूहिक खेती रूसी नेताओं को अव्यावहारिक प्रतीत होने लगी। यह ठीक ही है, खेतों को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर किसान जितना श्रम कर सकता है, उतना सामूहिक खेती में नहीं। चीनी 'कम्यूनों' में भी यही बात है। इन घटनाओं से उन देशों की आँखें खुलनी चाहिए जो व्यक्तिगत खेती को खत्म कर सहकारी एवं सामूहिक प्रणाली चलाने जा रहे हैं।

बड़े उद्योग-धन्धों के लिए भी यही कहा जा सकता है कि वे भी सहकारी होने की अपेक्षा व्यक्तिगत रहकर ही अधिक लाभदायक हो सकते हैं। उसमें कुछ अंशों में संभूय समुत्थान (सामूहिक सिस्टम) लाभदायक हो सकता है, पर वह सर्वथा ऐच्छिक और अपेक्षाकृत सीमित होना चाहिए। व्यक्तिगत लाभ का लोभ एवं हानि का डर हर क्षेत्र में प्रगति के लिए अनिवार्य अंग है। इस दृष्टि से पूर्वोक्त तीन प्रकार की स्वतंत्रताओं प्राप्ति से ही प्राणी लौकिक-पारलौकिक, अभ्युदय-निःश्रेयस प्राप्तकर वास्तविक स्वतंत्रता का सुख भोग सकता है। ●

६. वैयक्तिक सम्पत्ति और आर्थिक सन्तुलन

सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार रामराज्य में मान्य है, जब कि भौतिकवादी राजनीतियों का विकास इससे विपरीत है। पश्चिम के राजतन्त्र ने अपने ऊपर नियामक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति की। इसी प्रकार पूँजीपतियों ने अपने ऊपर नियामक राज्यशाही के विरुद्ध क्रांति कर पार्लमेण्टरी सरकार की स्थापना की और 'जनतंत्र' का नारा लगाया। फलतः वैयक्तिक स्वार्थमूलक शोषण का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि इन दो क्रांतियों से व्यक्ति की उद्दाम प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करनेवाले धर्म तथा राज्य दोनों की समाप्ति हो गयी और प्रतियोगितामूलक, उपयोगितावादी जनतंत्र का विकास हुआ। वहाँके समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों ने अवसर-विशेष के कारण उस भ्रष्ट जनतंत्र का समर्थन किया। 'बेन्थम' जैसे उदार विचारवाले व्यक्ति ने अधिकतम लोगों के ही सुख की अभिकांक्षा की। प्रसिद्ध जीवशास्त्री 'स्पेंसर' तथा 'डार्विन' जैसे विद्वानों ने भी 'संघर्ष में योग्यतम ही बच सकता है और उसे ही बचना चाहिए' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। 'माल्थस' ने इस भ्रष्ट जनतंत्र से उत्पन्न अवस्था के असन्तुलन का उत्तरदायी जनसंख्या के सिद्धान्त से प्रकृति को बतलाया।

निष्कर्ष यह कि धर्म तथा राज्यशक्तियों के नियंत्रण से विहीन वैयक्तिक सम्पत्तिमूलक जनतंत्रवाद के गर्भ में शोषण तथा उत्पीड़न का जन्म हुआ। एक ओर सन्तरे सड़ रहे थे, तो दूसरी ओर वे लोगों को इलाज के लिए भी नहीं मिलते थे। एक ओर कड़ाके के जाड़े में भी महलों के लोग गर्मी से पीड़ित थे तो दूसरी ओर लोग गर्मी के महीनों में भी भूख की ज्वाला से सड़कों पर ठण्डे हो रहे थे। तात्पर्य यह कि इस परिस्थिति में ऐसे अव्यवस्थित समाज का जन्म हुआ, जिसमें एक ओर लोग अतिसुख से दुःखी थे और दूसरी ओर मनुष्य जैसी अमूल्य ईश्वर की रचनामात्र 'कंकाल की छाया' बनकर माँगपूर्ति का सन्तुलन-बिन्दु बनी थी।

प्रतिक्रियास्वरूप समाज ने वैयक्तिक सम्पत्ति के विरुद्ध नारा लगाया। सम्पत्ति का समाजीकरण, केन्द्रीकरण, राष्ट्रीकरण, केन्द्रीकरण आदि आर्थिक धारणाएँ समाज में उठने लगीं। समाजवादी, साम्यवादी, फासिस्टवादी और नाजीवादी आदि प्रवृत्तियाँ ऐसे ही विचारों का प्रतिनिधित्व करती थीं। 'मार्क्स' ने वैयक्तिक सम्पत्ति समाप्तकर सर्वहारा के अधिनायकत्व का समर्थन किया और 'लेनिन' ने उसका यूरोप के बड़े भूभाग रूस पर प्रयोग किया। उसका संघटन 'स्तालिन' ने

किया, जिसमें अधिनायकत्व-शासन ने वैयक्तिक सम्पत्ति नष्ट करने का प्रयत्न किया। उसे कहाँतक सफलता मिली, वहाँकी जनता ने किस प्रकार विवशतापूर्वक रक्त-स्नान किया, यह स्वतंत्र विषय है। वहाँकी नागरिक स्थिति उस कुत्ते से अच्छी नहीं, जिसे खाने-पीने, स्नान करने की तो पूर्ण व्यवस्था हो, किन्तु स्वतंत्रतापूर्वक टहलने और भूँकने पर पूर्ण प्रतिबन्ध है! साम्यवाद पूँजी के केन्द्रीकरण का प्रतिवाद प्रस्तुत करता है, किन्तु आज विश्व की आर्थिक व्यवस्थाओं में पूँजी का केन्द्रीकरण स्वयं रूस में सर्वाधिक है। जनता के नाम पर लेनिन, स्तालिन और ख्रुश्चेव ने वैसे ही किया और कर रहे हैं, जैसे १४वीं शताब्दी में 'लुई' ने भगवान् के नाम पर फ्रांस पर शासन किया था।

कहा जाता है कि रूस में वर्ग, जाति, शोषण के स्रोत तथा पूँजीवादी मनोवृत्ति का पूर्ण 'सफाया' हो गया है, फिर भी शासन में खर्च का सर्वाधिक अंश आन्तरिक खुफिया, पुलिस आदि पर खर्च किया जाता है। मालेनकोव, मोलोतोव, बुल्गानिन, ख्रुश्चेव जैसे मार्क्सवाद के यशस्वी नेता गद्दार बन जाते हैं। क्या मनुष्य पर विश्वास करनेवाले मार्क्स के काल्पनिक 'राज्यविहीन समाज' की ओर रूस के जाने का यही मार्ग है? कहने का तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति के उन्मूलन का प्रयास तो किया गया है, किन्तु समाज में व्याप्त वैयक्तिक आकांक्षाओं के उन्मूलन के लिए सैन्य-शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग का अवलम्बन नहीं किया गया। जो कोई अन्य मार्ग था, उसे मार्क्स ने 'अफीम की गोली' समझा। वस्तुतः 'अरस्तू' के शब्दों में वैयक्तिक संपत्ति वह दर्पण है, जिसमें मनुष्य अपना प्रतिबिंब देखता है। आगे चलकर उसने कहा है कि 'मनुष्य का जो कुछ अपना है, उसी पर वह गर्व करता है।'

रामराज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति तो मान्य है, किन्तु उसका सन्तुलन किया जाता है। वैयक्तिक सम्पत्ति की उत्पत्ति स्वत्व द्वारा होती है। स्वत्व सात प्रकार का हुआ करता है: १. दाय, २. निध्यादि और पुरस्कार का लाभ, ३. क्रय द्वारा अर्जन, ४. विजय, ५. सूद, ६. कर्मयोग (कृषि आदि) और ७. सत्प्रतिग्रह:

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च॥

(मनु० १०.११५)

हम देखते हैं कि चेतन से उत्पत्ति, नियंत्रण तथा प्रभुत्व ये तीन बातें अचेतन पर होती हैं। लोक में भी अचेतन पर चेतन का ही स्वत्व होता है। अतएव उस परम चेतन का पुत्र ही इस अचेतन (प्रकृति) का उत्तराधिकारी हुआ। इसलिए ब्रह्मा, वशिष्ठ, दक्ष, मनु तथा इक्ष्वाकु में परम्परया उत्तराधिकार का विकास होता

है। उससे भी आगे विजय, अर्जन, दान, पुरस्कार से स्वत्व का विकास हुआ। यहीं पर धर्म की भी बात आती है। जिसने जैसा धर्माचरण किया, उसे वैसा ही सुख-साधन (स्वत्व) प्राप्त हुआ। चूँकि शुभाशुभ कर्मों में विभिन्नता है, अतएव समष्टि जगत् या व्यक्ति के असाधारण स्वत्व उत्पन्न होने में भी विभिन्नता होगी। जिनके शुभाशुभ कर्मों का सन्तुलन पेट भरकर जीनेमात्र तक है, उनको उतना ही स्वत्व प्राप्त होगा।

उत्तराधिकार के साथ उत्तराधिकारी को अपने पूर्वजों के उत्तरदायित्व को वहन करना पड़ता है। उसकी अवहेलना पर उर उसे उत्तराधिकार से भी वंचित रहना पड़ता है। मरने के समय पिता सम्प्रति कर्म करता है। उस समय अपने पुत्रों से कहता है : त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः, त्वं लोकः। पुत्र उत्तर देता है : अहं ब्रह्म, अहं यज्ञः, अहं लोकः (बृह० उ० १.५.१७)। अर्थात् पिता पुत्र से कहता है कि अनधीत वेदों का अध्ययन करना, अकृत यज्ञों को सम्पन्न करना, अपूर्ण लोकसम्पादन को पूर्ण करना, यह तुम्हारा कर्तव्य है और पुत्र उसे स्वीकार करता है। ध्यान देने की बात है कि यदि पुत्र पिता की आज्ञाओं का पालन नहीं करता तो वह असाधु है। असाधु से सम्पत्ति छीनी जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दाय का आधार धर्म है। धर्महीन होना पशु का लक्षण है और उत्तराधिकारहीन व्यवस्था भी पशुता का लक्षण है ; क्योंकि उत्तराधिकार वैयक्तिक सम्पत्ति में ही सम्भव है। मनुष्य में ही यह पाया जाता है। पशु में न वैयक्तिक सम्पत्ति है, न उत्तराधिकार। उत्तराधिकार के लिए अपने पिता का पुत्र बनना पड़ता है जिसमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान के स्थान पर शब्द (आगम) प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि मनुष्य में शब्द-प्रमाण पाया जाता है। अतएव शब्द-प्रमाण मानना मनुष्य का असाधारण लक्षण है। अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण तो पशु भी मानता है। चूँकि मनुष्य आगम-प्रमाण मानता है, इसलिए माता तथा भगिनी आदि का व्यवहार भी कर पाता है। किन्तु पशु में न आगम-प्रमाण है, न माता-भगिनी का व्यवहार। इस प्रकार कह सकते हैं कि आगम-प्रमाण के मिटने पर पशुता का विकास होगा। इसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति होने पर ही हानि का डर और लाभ का लोभ है। फलतः सभ्यता के विकास की सम्भावना भी हो सकती है।

वैयक्तिक सम्पत्ति के मानने पर विषमता का विकास होता है। पूंजीवादी देशों में इस असन्तुलन को सन्तुलित करने का प्रयास नहीं किया गया। फलतः उसकी सारी अच्छाइयाँ बुराइयों में परिणत हो गयीं। किन्तु रामराज्य में आर्थिक सन्तुलन स्थापित करने के लिए धर्म तथा राज्यशक्ति द्वारा प्रयास किया जाता है। जहाँ धर्म और राज्यशक्ति दोनों को अवहेलना होती है, उसे हम 'अराजकतन्त्र' कहते हैं।

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि किस प्रकार से धर्म के आधार पर आर्थिक सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

भोग के साथ दान, परोपकार, अतिथि-सत्कार, यज्ञादि के द्वारा धार्मिकता तथा सन्तुलन दोनों का विकास होता है। संपूर्ण प्रकृति को ईश्वरमय समझकर तथा संपूर्ण जीवमात्र को ईश्वरांश समझकर उससे बचे हुए अंश का हर्ष से स्वीकार करना ही रामराज्य की अर्थनीति का मूलमन्त्र है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(ईशोप० १. १)

हमारा यही आदर्श है। यही कारण है कि कोई शुद्ध भारतीय एक घूट जल भी पीने लगता है तो उसे भगवान् के चरणों में अर्पित और प्रसाद समझकर पान करता है। यद्यपि समाज में व्यष्टि के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार विषमता का निर्माण होता रहता है, फिर भी प्रत्येक आस्तिक जीव मात्र को बन्धु समझकर (अमृतस्य पुत्राः) सर्वथा समता की ओर अग्रसर होता रहता है। परोपकार एक व्यापक धर्म माना गया है।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जब यह उदार भाव आता है, व्यष्टि अपने को समष्टि का प्रतिबिम्ब अर्थात् विराट् के रूप में समझने लगता है। नेत्र सूर्य, उदर आकाश, कुक्षि समुद्र, अस्थि पर्वत, रोमावलियों वृक्ष इस प्रकार के भाव होने पर अपने-पराये का प्रश्न ही विलीन हो जाता है। उस समय समष्टि-दुःख में दुखी तथा समष्टि-सुख में सुखी होना पड़ता है। आत्मवत् समस्त ब्रह्माण्ड मे सुख-दुःख के भाव का विकास होने पर अपने दुःख और सुख का भाव ही नष्ट हो जाता है। इस अवस्था में शोषण और उत्पीड़न का प्रश्न ही कहाँ उठ सकता है? यह भाव जहांतक विकसित होगा, उतने अंश में कल्याण अवश्य होगा।

उपनिषदों में 'मधुविद्या' का उपदेश दिया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का सुखसाधन बने। कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र, विश्व, पितृलोक, देवलोक, आदिकों के प्रति क्रमशः व्यक्ति में समाज के कल्याण-भावना का उदय होना आवश्यक है। एक साधक सोचता है कि हे भगवन्! जगत् आपने खेलने के लिए खिलौना बनाया। कुछ दुर्बुद्धि उसमें ममता करते हैं। वस्तुतः आप ही रचयिता तथा सर्वस्व हैं। संपूर्ण वस्तु ईश्वरीय है। इस प्रकार सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण, केन्द्रीकरण तथा समाजीकरण न होकर उसका 'ईश्वरी-करण' होता है। उससे निर-

न्तर चिन्ता लगी रहती है कि वस्तु समष्टि-कल्याण में ही उपयुक्त हो। इस कर्तव्य-पालन में उसे शरीर तक का मोह नहीं रहता।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। जहाँ एक तरफ त्याग, दान, परोपकार, आतिथ्य, सेवा आदि द्वारा समष्टि-सेवा का भाव बढ़ाने का प्रयत्न किया गया, वहीं दूसरी तरफ व्यष्टि को प्रतिग्रह से बचनेके लिए भी उपदेश दिया गया। क्योंकि धर्माधारित समाजव्यवस्था में निष्क्रियता आकाशकुसुमवत् है। उसमें पुरुषार्थ को प्रोत्साहित किया जाता है। उञ्छ तथा शिल-वृत्ति को श्रेष्ठ बतलाया गया है। कुसूलधान्यज्ञ और कुम्भीधान्यक, त्र्यहिक, अश्वस्तनिक को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताया गया है। कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः यह एक साधारण-सी कहावत थी। स्थिति यह होती है कि देनेवालों में त्याग और लेनेवालों में लेने से सर्वथा दूर रहने का प्रयत्न होता था। इस धर्म के प्रभाव से आर्थिक सन्तुलन बना रहता था। आध्यात्मिक तथा भौतिक अर्थनीति में यही अन्तर है कि एक में देनेवालों में देने की होड़ लगती थी, किन्तु कोई लेनेवाला नहीं। दूसरे में देनेवाले देने से जान बचाते हैं, किन्तु लेनेवाले नारा लगाते हैं 'लड़कर लेंगे, मरकर लेंगे' और 'मारकर लेगें।' ऐसे शब्द भी धर्मशासित राष्ट्र में सुनायी नहीं पड़ते।

यह तो हुई धर्माधारित समाज की व्यवस्था। व्यष्टि इन सिद्धान्तों को मानने में असमर्थता दिखाता है, तो राज्यशक्ति द्वारा इन सिद्धान्तों के पालन के लिए बाध्य किया जाता है। राज्य इस बात की चेष्टा करता है कि प्रत्येक व्यक्ति निर्धारित सामान्य जीवनस्तर के सुखसाधन प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त न तो वह मोटे को छील सकता है, न पतले को मोटा बना सकता है। समाजवादी भी समानता से विकास के अवसर की ही समानता की बात स्वीकार करते हैं। बात भी ऐसी ही है, क्योंकि अतिविषमता मिटायी जा सकती है, लेकिन पूर्ण समानता कभी स्थापित नहीं की जा सकती। विषमता के अतिरेक का प्रश्न अतिरेक (सरप्लस) से आरम्भ होता है। पूँजीवादी राष्ट्रों में लाभ अर्थात् अतिरेक का बँटवारा नहीं होता। रामराज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति के होते हुए भी अतिरिक्त का बँटवारा मान्य है और वह भी पाँच भागों में :

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

(भाग० ८.१९.२७)

धर्म, यश, मूलसम्पत्ति की रक्षा, स्वजीवनयापन के लिए, उद्योग में लगे स्वजनों के लिए ये पाँच भाग हैं। यह विश्व की अर्थनीति के लिए धर्माधिष्ठित रामराज्य की अर्थनीति को अपूर्व देते हैं।

पाँच विभागों में बँटवारा करते समय एक अंश धनाध्यक्ष के पास स्वतन्त्र हो जाता है, अतएव अनावश्यक विषमता का बीजारोपण होता है। उसके लिए व्यवस्था यह है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसके पास ३ वर्ष के लिए पर्याप्त सामग्री हो जाय, ज्योतिष्टोम यज्ञ करे :

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥

(मनु० ११.७)

यह नित्यकर्म माना है, अर्थात् अनिवार्य। इस प्रकार पुनः सम्पत्ति का वितरण होकर व्यक्ति राष्ट्र के सामान्य जीवनस्तर पर पहुँच जाता है। इतने पर भी यदि व्यक्ति अतिविषमता की ओर उन्मुख हुआ और उसके पास सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी, तो उसका अर्थ यही समझा जायगा कि उसने समाज के साथ चोरी की है। अतएव वह चोर है, उसे चोर की तरह दण्ड देकर पेटभर अन्न के मार्ग पर पुनः ला दिया जाय :

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(भाग० ७.१४८)

जैसा कि बतलाया है, उत्तराधिकार के नियम में यह बात है कि उत्तराधिकारी समष्टि-कल्याणमूलक परम्पराओं का अवश्य पालन करे। अन्यथा उसे उत्तराधिकार से भी वंचित कर दिया जा सकता है; क्योंकि उस स्थिति में व्यक्ति असाधु माना जाता है और उससे राज्य द्वारा सम्पत्ति छीनी जा सकती है। लेकिन राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह उस सम्पत्ति को अपने हाथ में न लेकर साधु व्यक्ति के हाथ में दे दे। मनु ने कहा है :

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति।
स कृत्वा प्लवमात्मानं सन्तारयति तावुभौ॥

(मनु० ११. १९)

राज्य आर्थिक-सन्तुलन की सदा चेष्टा किया करता है। जो व्यक्ति निर्धन हो गया है, उद्योग में जिसे सफलता नहीं मिली, फिर भी योग्य हो तो राज्य का कर्तव्य होता है कि उसे बिना व्याज का धन दिलाये। इस प्रकार वह सहायता देकर, दिलाकर व्यक्ति का उत्थान करता है। हाँ, वह इस बात की चेष्टा करता रहता है कि 'सहायता देनेवाला कहीं स्वयं सहायता पाने की हालत में न आ जाय।' अर्थात् 'एक वर्ग के व्यक्ति की उन्नति का तात्पर्य सम्पूर्ण समाज की उन्नति है।' यह भाव रामराज्य में ही सम्भव है। शस्त्र और शास्त्र दोनों के उचित प्रयोग से राज्य-शक्ति और वैयक्तिक सम्पत्ति में ऐसा सम्बन्ध बनता है कि आर्थिक-संतुलन बना रहे। ●

७. धर्मसापेक्ष पक्षपात-विहीन राज्य

जब हम आर्थिक-सन्तुलन पर विचार करते हैं, तो धर्मसापेक्ष राज्य पर विचार आवश्यक हो जाता है। किन्तु आज वह पश्चिम की प्रयोगशाला का एक बहिष्कृत-सा विषय बन गया है। उस पर विचार करना विश्व को पीछे, विनाश के गर्त में ले जाना माना जाता है। भारतवर्ष में जब धर्मसापेक्ष राज्य की बात कही जाती है तो तत्काल पश्चिम का दृश्य सामने आता है और भारतीय आधार पर बिना विचार किये उसकी इस रूप में उपेक्षा होने लगती है कि लोग इस विषय पर बात भी सुनना नहीं चाहते। इस अवस्था में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। वस्तुतः भारतीय और पश्चिमी धर्मसापेक्ष राज्य में महान् और मौलिक अन्तर है, इसे आँखों से ओझल नहीं किया जाना चाहिए।

पश्चिम में जब यूरोप पर यूनानी-राज्य की प्रतिक्रिया हो रही थी और उसका पर्यवसान मध्ययुगीन राजनीति में हो रहा था, तो उस समय राज्य-पुरोहितों और राजाओं का राज्य और धर्मसम्बन्धी एक विलक्षण रूप सामने आया। ईसाई-धर्म के अभ्युदय के बाद समाज में ईसाई-पुरोहितों का शक्ति-विकास इस रूप में हुआ कि वे केवल राज्याभिषेक की धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन ही नहीं करते थे, बल्कि राजाओं के अधिकार का भी निर्णय करते थे। 'पुरोहितों की संस्था' का संघटन होने लगा, जिसके प्रधान 'पोप' कहे जाते थे। इनका शासन राज्य से परे और स्वतंत्र होता था, कहीं तो राज्य से ऊपर भी। आगे चलकर राजाओं और पोपों में संघर्ष भी हुआ। पश्चिम में पोपों द्वारा संचालित और नियंत्रित राज्य-व्यवस्था को 'धर्मसापेक्ष-राज्य' कहा गया। जब राजाओं ने पोपों की शक्ति समाप्त कर दी और उन पर राजशक्ति का प्राधान्य स्थापित किया, तो राज्यपक्ष से भी दो प्रकार के विचारक सामने आये। एक वे जो राज्य-संचालन में धर्म के हस्तक्षेप को मान्यता देना चाहते थे और दूसरे वे, जो राज्य की शक्ति को चर्च या पोप की शक्ति के ऊपर ही नहीं, उसमें संशोधन, परिवर्धन और नियंत्रण की पूर्ण अधिकारिणी भी मानते थे। राज्यशक्ति की इस व्याख्या ने धर्मनिरपेक्ष और सर्वाधिकारवादी राज-नीति को जन्म दिया जिसकी दोनों धाराएँ आज भी विश्व की राजनीति में कार्य कर रही हैं।

पश्चिम में धर्म के प्रति एक और विद्रोह हुआ, जिसका भी राजनीतिक महत्त्व है। पश्चिम में व्यवहृत जितने 'धर्म' या 'सम्प्रदाय' थे, वे परिस्थिति-विशेष

में व्यक्ति-विशेष से व्याख्यात या उपदिष्ट थे। उनमें मानवकल्याण के पर्याप्त तथ्य तो थे, किन्तु वे दर्शन का रूप धारण करने में असमर्थ रहे। फलतः उनकी उक्तियाँ ही शाश्वत सत्य का रूप लेने लगीं। अनुयायियों में उन उक्तियों के प्रति शाश्वतिक विश्वास भी हो गया, जब कि उनका सम्बन्ध शाश्वतिक शक्ति की उस चिरन्तन-धारा के साथ कभी भी नहीं हो पाया था, जिसके साक्षात्कार के माध्यम से श्रेय और प्रेय दोनों का त्रिकालत्व हस्तामलकवत् स्पष्ट कर सकें। परिणाम यह हुआ कि इतने अंश में पश्चिमी धर्म अन्ध-श्रद्धा का विषय बनने लगा, जब कि उसके अनुयायी उसे सार्वकालिक और सार्वजनिक मानने का हठ न छोड़ पाये। प्रकृति के रहस्यों के प्रति सहज जिज्ञासा जब वहाँ नया रूप धारण करने लगी, तो वहाँके धर्म को मान्यताओं से विरोध होने लगा। प्रमाण के लिए वहाँकी धार्मिक मान्यता के अनुसार पृथ्वी की आयु ७००० वर्ष की थी। बहुत दिनों तक वैज्ञानिक भी यही रट लगाते रहे और समग्र इतिहास इतने ही काल में पर्यवसित करते रहे। खेद है कि भारतीय विद्वान् आज भी उतने काल के पूर्व के इतिहास को 'प्राक्कालिक इतिहास' कहते हैं, जब कि पश्चिमी विचारकों ने इस मत में परिवर्तन कर लिया है। हाँ, तो गैलीलियों ने कहा कि 'पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारों तरफ घूमती है।' यह मान्यता ईसा की उक्ति के विपरीत थी, अतएव उसे 'नास्तिक' कहकर उसका धार्मिक वध किया गया। लेकिन विज्ञान का चरण आगे बढ़ा। प्रकृति के रहस्य जिस रूप में सामने आने लगे, वे "बाबावाक्यं प्रमाणं स्यात्" के विपरीत पड़ने लगे। विज्ञान की मान्यता को धार्मिक घोषणाओं से समाप्त किया जाने लगा। यद्यपि सत्य के विपक्ष में घोषणाएँ तो समाप्त हो गयीं, किन्तु एक गम्भीर प्रभाव प्रवाहित हो गया कि विज्ञान पश्चिम में धर्मविरोधी हो गया। फलतः वैज्ञानिक क्षमताओं पर विकसित राजनीति में धर्म अपांक्तेय बन गया।

एक तीसरी बात भी महत्त्वपूर्ण हुई, जिसका धर्म का राजनीतिक सम्बन्ध निश्चित करने में प्रमुख हाथ रहा। धर्म वहीं भी मात्र उपासना या धार्मिक कृत्य के रूप में नहीं रहा, उसका सामाजिक प्रयोग में भी हाथ रहा। पश्चिम में जब उसकी मान्यता समाप्त होने लगी तो उसने कुछ क्षेत्रों में स्थिर रहने का प्रयास किया, कुछ स्थानों में समझौता। जहाँ स्थिर रहने का प्रयास किया, वहाँ शक्तिधरों के पृष्ठपोषक के रूप में अपने को स्थिर रखना चाहा। अतएव शक्तिधरों ने शोषण और उत्पीड़न की वास्तविकता धार्मिक व्याख्याओं द्वारा सिद्ध की। फलतः धर्म शोषकों का दलाल या एजेंट बन गया। जहाँ समझौता किया, वहाँ इसने समाज के क्षेत्र से अपने को हटाकर मात्र उपासना और कृत्यों के रूप में अवशिष्ट कर लिया। अतएव धर्म की सामाजिकता समाप्त हो गयी और वह केवल वैयक्तिक रह गया।

जब भारत में धर्म की बात की जाती है, तो आधुनिक विचारकों के सामने

तत्काल यही पश्चिमी दृश्य और विशेषता सामने आने लगती है। वे तुरन्त कह देते हैं कि "वैज्ञानिक युग में धर्म की क्या आवश्यकता ? धर्म वैयक्तिक चीज़ है, उसका राजनीति से क्या प्रयोजन ? धर्म सदा शोषण और उत्पीड़न की दार्शनिक व्याख्या करता रहा। आज समाज के विकसित चरण में धर्म का कोई महत्त्व नहीं", आदि-आदि। खेद के साथ कहना पड़ता है कि तथाकथित भारतीय विद्वानों ने कभी भी भारतीय ढंग से यदि भारतीय धर्म-परंपरा का अध्ययन किया होता तो सम्भव है, आजकी भारतीय स्थिति में भारतीयता का प्रयोग विश्व को नया सन्देश दे सकता।

जिस सन्दर्भ को हमने ऊपर प्रस्तुत किया है, वास्तव में भारत की परम्परा में उसका कोई स्थान नहीं। न तो भारत में कभी पोपों-जैसी संस्था रही और न वैज्ञानिक सत्य के साथ कभी "बाबावाक्यं प्रमाणं स्यात्" का हठ ही। भारतीय धर्मशास्त्रों ने कभी शोषण-उत्पीड़न का समर्थन नहीं किया। जब हम विश्व में अन्य धर्मों की स्थिति देखते हैं, तो 'धार्मिक अर्थशास्त्र' नामक कोई वस्तु ही नहीं, जब कि 'भारतीय धर्म-विज्ञान' ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का व्यावहारिक और वैज्ञानिक अध्ययन और प्रयोग किया है।

फलतः धर्मसापेक्ष राज्य का तात्पर्य यह हुआ कि 'राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, कला, इतिहास आदि का प्रयोग और व्याख्या धर्म के आधार पर की जाय और उसे जीवन में व्यावहारिक रूप दिया जाय।' राज्य इस व्यवस्था का कार्यान्वयन मात्र करे, न कि संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन। धर्मसापेक्ष राज्य का कथमपि यह तात्पर्य नहीं कि किसी धर्म या सम्प्रदायविशेष का शासन हो और अन्य धर्म या सम्प्रदाय शासन से दूर और उपेक्षित रहें। समाज का जो अंग जिस धर्म में विश्वास रखता हो, उसे उसके अनुकूल जीवन बिताने की पूर्ण स्वतन्त्रता और व्यवस्था होनी चाहिए। 'कल्याणकारी-राज्य' समाज के कल्याण और लक्ष्य की स्वयं व्याख्या करने लगता है। इसका फल यह होता है कि वह सामाजिक मान्यताओं में सामाजिक संघटनों की मर्यादा के विपरीत परिवर्तन और संशोधन करने लगता है। यहीं हमारा उससे विरोध उत्पन्न हो जाता है।

वस्तुतः समाज में कौन-सा अंश उपेक्षित और कौन-सा आवश्यक है, इसका निर्णय समाज के घटक स्वयं करें। राज्य केवल वातावरण प्रस्तुत करे कि समाज में स्वयं-संचालन की शक्ति आये। उसके स्वयं-संचालन में जहाँ बाधा हो, उसे दूर करना राज्य का कर्तव्य है। इस अवस्था में धर्म, परंपरा की रक्षा तो होती ही है, साथ ही समाज राज्य की अपेक्षा न कर स्वयं अपनी व्यवस्था करने की शक्ति रखता है। नौकरशाही के स्थान पर सहकारिता और सहयोग सहज रूप में सामने आते हैं। आज समाज के कार्यों को राज्य ने जितने अंश में अपने हाथों में लिया, उतने अंश में समाज निष्क्रिय हो गया है।

धर्मसापेक्ष राज्य में सबसे बड़ी बाधा यह पड़ती है कि राज्य में विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के लोग रहते हैं। यदि उनकी मान्यता में परस्पर विरोध है, तो धर्म-सापेक्ष स्थिति कैसे चल सकती है ? दूसरी बात यह कि धर्मसापेक्ष राज्य के कारण ही यूरोप में धर्म के नाम पर संघर्ष और लज्जाजनक रक्तपात हुआ है। क्या उस स्थिति को पुनः यहाँ भी लाया जाय ? वस्तुतः पश्चिम में धर्मराज्य नहीं, अपितु धार्मिकों का सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष था। जिस सम्प्रदाय ने राज्य-शक्ति को प्रभावित कर लिया, उसने अन्य सम्प्रदायों के उत्थान में बाधा पहुँचायी। इसमें संघर्ष हुआ। भारतीय धारणा के अनुसार राज्यशक्ति किसी सम्प्रदाय के हित का साधन नहीं, उसे तो धर्मानुकूल प्रतिष्ठित करने का प्रश्न है।

इस प्रश्न को व्यावहारिक रूप में समझ लेना आवश्यक है। देश में एक धर्म-विभाग हो, उसमें सभी धर्मों के मान्य आचार्य प्रतिनिधि रूप में हों। जिस धर्म की व्यवस्था का प्रश्न हो, वे अपना निर्णय दें और राज्य उस निर्णय को कार्यरूप में परिणत करे। कहीं-कहीं धर्मों में परस्पर विरोध भी आता है। जैसे मुसलमान गोहत्या का सम्बन्ध धार्मिक कृत्य के साथ जोड़ते हैं और हिन्दू गोरक्षा अपना पवित्र कर्तव्य मानते हैं। ऐसे स्थलों पर यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि ऐसे अंश नित्य-धर्म हैं या काम्य ? नित्य-कर्म वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक हो जाते हैं। काम्य-धर्म सर्वथा वैयक्तिक होते हैं। समाज के निमित्त से किये कृत्य भी सामाजिक होते हैं। यदि व्यक्ति काम्य-कर्मों द्वारा अपना कल्याण करता है और समाज को हानि पहुँचाता है तो आवश्यक है कि ऐसे कृत्यों और धार्मिक मान्यताओं पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। जहाँतक ज्ञात है, गो-बलि इस्लाम में विहित नहीं है। हो भी तो वह नित्य-कर्म के रूप में नहीं। विश्व के किसी धर्म में नित्य-कर्म समष्टि-विरोध में नहीं है और न उसमें परस्पर संघर्ष है। इस प्रकार की ही राज्य-व्यवस्था को हम 'धर्मसापेक्ष पक्षपात-विहीन राज्य' कहते हैं। इसीमें अल्पसंख्यकों की मान्यताओं का भी रक्षण होगा और वे राष्ट्र के साथ विश्वासघात भी नहीं कर सकते।

'जनसंघ' के समान ही 'स्वतन्त्र-पार्टी' भी धर्म का नाम लेती है, फिर भी 'राम-राज्यपरिषद्' से उसका पर्याप्त भेद है। स्वतन्त्र-पार्टी कांग्रेस की कुर्सी का विरोध कर रही है और परिषद् कांग्रेस के सिद्धान्त का। पार्टी का विचार है कि कांग्रेस अपने संविधान का पालन करे, तो उसका कोई विरोध नहीं। स्वतन्त्र-पार्टी में आँखें मूँदकर सम्मिलित होने की जल्दीबाजी में लोग इस बात पर भी ध्यान नहीं दे रहे हैं कि पार्टी कर क्या रही है ? इस पर रामराज्य-परिषद् के अध्यक्ष ने आरा के भाषण में इस ओर ध्यान आकृष्ट कराया उसके कुछ अंश को हम ज्यों-का-त्यों यहाँ दे रहे हैं :

'स्वतन्त्र-पार्टी कांग्रेस-संविधान को अपना आधार मानती है जिसका परिषद् ने विरोध किया। यदि अपने संविधान का पालन कांग्रेस ने किया, जैसा कि असम्भव नहीं, तो स्वतन्त्र-पार्टी का अस्तित्व कहाँ रह जाता है? स्वतन्त्र-पार्टी के कर्णधार कांग्रेस का विरोध जिन अंशों में आज कर रहे हैं, उनका बीजारोपण जब हो रहा था तो वे भी कांग्रेस एवं कांग्रेसी सरकार में प्रतिष्ठित पदों से उनका समर्थन कर रहे थे। पार्टी व्यक्तिगत सम्पत्ति की वकालत करती है, साथ ही गांधीवादी ट्रस्टीशिप भी मानती है, जो व्यक्ति के पक्ष में नहीं है। इतना अवश्य है कि पार्टी उद्योगपतियों द्वारा शोषण के लिए 'स्वतन्त्र व्यापार और स्वतन्त्र उद्योग' चाहती है, इसीलिए उसका नाम 'स्वतन्त्र-पार्टी' रखा गया। अन्यथा नियम और लक्ष्य में बँधे संघटन को स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है?'

देश के विभाजन के मूलपुरुष राजाजी आज खण्डित भारत को भी खण्ड-खण्ड करना चाहते हैं। देश की राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर उत्तर-दक्षिण के विषबीज का आरोपण आपने ही किया। राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के समय आप अपने को समग्र राष्ट्र का नेता मानते हैं, किन्तु हिन्दी के प्रश्न पर अपने को दक्षिणी समझने लगते हैं। पटना में उन्होंने कहा था कि 'हम उस क्षेत्र से आते हैं, जिस पर हिन्दी नहीं लादी जा सकती।' यहाँ राजाजी क्षेत्रविशेष के व्यक्ति हो गये।

वस्तुतः पूँजीपतियों और राजाओं के चंगुल में फँसे राजाजी समग्र राष्ट्र की मूर्ति का साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं। पंजाब के दौरे के समय अकालियों की खुशामद में उन्होंने पंजाबी सूबे का समर्थन किया, यद्यपि वे सिख और हिन्दू दोनों में किसी एक को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहे। जालंधर में उन्होंने कहा : 'यदि तुम हमारा साथ दोगे तो तुम्हें पंजाबी सूबा मिलेगा।' अमृतसर की सार्वजनिक सभा में अपने को सम्भालते हुए उन्होंने कहा : 'जो उनका साथ 'स्वतन्त्रता' के संघर्ष में देगा, वह किसी स्थानीय माँग को पूरा करने में समर्थ हो सकेगा।' इसका स्पष्टीकरण उन्होंने वहीं प्रेस-कान्फ्रेंस में किया : 'कोई चीज जिसे समाज चाह रहा है, उसे अवश्य मिलनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि पंजाबी सूबा आ रहा है।' यहाँ राजाजी ने पंजाबी सूबे के साथ उस आधार को स्पष्ट किया, जिससे भारत के पूर्वी और पश्चिमी समाज ने जो चाहा था, उसे राजाजी ने दिलाया था अर्थात् पाकिस्तान। आज भी केरल में मुस्लिम-लीग के नेतृत्व का खयाल राजाजी को है, क्योंकि उसकी भी माँग पूरी करनी है। तब ईसाइस्तान का प्रश्न आयेगा और राजाजी उसका भी नेतृत्व करेंगे!

राजाजीका 'धर्मराज्य'

अपने मनोरथ के लिए राजाजीने उन उद्देश्यों को ग्रहण किया, जिससे जनता

अपना अस्तित्व जमा सकें। उन्होंने कहा : "स्वतन्त्र-पार्टी धर्मराज्य चाहती है।" 'धर्मराज्य कैसा होगा ?' इसकी व्याख्या करते हुए आपने "संविधान से सभी धर्मों को समानाधिकार की गारण्टी दी है, किन्तु समानाधिकार की पूर्ति न होने से धार्मिक अल्पसंख्यक वर्ग चिल्ल-पों मचाते हैं। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि संविधान की सभी व्यवस्थाओं को कार्यरूप में परिगत करेंगे।" राजाजी का धर्मराज्य केवल अल्प-संख्यकों की सुरक्षा के लिए है, जिसमें पाकिस्तान ईसाइस्तान, सिखिस्तान आदि के बीज हैं, जिसकी स्थापना राजाजी जैसे मानवतावादी के लिए आवश्यक है। अन्यथा जिस संविधान की व्यवस्थाओं के लिए राजाजी प्रतिज्ञा करते हैं वह देश के ४ करोड़ हिन्दू, हिन्दुओं की धार्मिक मान्यता, जैसे उपासना, विवाह, उत्तराधिकार, अन्त-र्जातीय सम्बन्ध आदि में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करता है। अभी जो कुछ शेष है, उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए वे प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

धर्मराज्य के लिए मूल-प्रश्न है कि क्या राज्य धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है। यदि राज्य जनकल्याण के नाम पर धर्म में सुधार कर सकता है, तो वह धर्मराज्य नहीं हो सकता। राजाजी के शिष्य प्रो० रंगा ने पटना में ही कहा कि 'हम कल्याण-कारी राज्य का समर्थन करते हैं।' इस अवस्था में धर्मराज्य की बात केवल उप-हासास्पद ही है। सबसे बड़ी बात है कि स्वतंत्र-पार्टी गांधीजी की शिक्षा और सिद्धान्त को अपना मार्गदर्शक मानती है। इधर एक शिष्य कल्याणकारी राज्य का स्वप्न देख रहे हैं और दूसरी ओर गांधीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोबाजी ने 'स्वराज्य-शास्त्र' नामक पुस्तक में 'कल्याणकारी-राज्य' का खण्डन किया है।

इस प्रकार रामराज्य-परिषद् और स्वतंत्र-पार्टी के तुलनात्मक विवेचन से हम देखते हैं कि दोनों में मूलभूत भेद है। सैद्धान्तिक मतभेद के साथ व्यावहारिक अन्तर भी कम नहीं। पार्टी पंजाबी सूबा तथा इस प्रकार की अन्य क्षेत्रीय स्वतंत्रता, भाषा-वार विभाजन द्वारा देश की एकता समाप्त करने पर तुली है। राष्ट्रभाषा के विषय में उसका दृष्टिकोण असमीचीन ही नहीं, उपेक्षणीय भी है। फलतः पार्टी की वर्तमान स्थिति के साथ परिषद् का सम्बन्ध होना असंभव है।

परिषद् के सिद्धांत अत्यंत स्पष्ट और शाश्वतिक हैं। उसकी मान्यता कभी न कभी अवश्य स्वीकार की जायगी। आवश्यकता है धैर्य, त्याग और लगन से कार्य करने की। सफलता तो ध्रुव ही है।

पार्टी के २१ सूत्रों में से मूलभूत कुछ सूत्रों की विवेचना से पार्टी और परिषद् का भेद स्पष्ट हो जाता है :

१. सामाजिक न्याय की उपलब्धि में स्वतंत्र-पार्टी, जाति, धर्म, व्यवसाय, राजनीतिक भेद नहीं करना चाहता।' 'सामाजिक न्याय' एक ऐसा शब्द है जिसकी

व्याख्या निश्चित नहीं। सभी राजनीतिक विचार के लोग उसकी व्याख्या अपने आधार पर करते हैं। मार्क्सवादी भी सामाजिक न्याय मानते हैं, किन्तु उनकी धारणा स्वतंत्र-पार्टी के लोगों को मान्य होगी, ऐसा विश्वास नहीं होता। अतएव सामाजिक न्याय के रूप और आधार के विषय में स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। सामाजिक न्याय के साथ ही अवसर की समानता भी लगा दिया गया है। इससे यह भी ध्वनित हो रहा है कि सामाजिक न्याय की स्वतंत्र-पार्टी ऐसी व्यवस्था करता है, जिसमें अवसर की समानता अलग से समझी जा सकती है, यदि उसका सम्बन्ध राजनीतिक स्वत्वों से है तो सम्भव है, उसमें जाति, व्यवसाय आदि का प्रश्न न आये। किन्तु जब उसका सम्बन्ध समाज से होगा तो इस प्रश्न को राजनीतिक संघटन सुलझा दे, यह, एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विचार अपेक्षित है। स्वतंत्र-पार्टी राज्य के हस्तक्षेप को कम से कम मानता है। किन्तु समाज के विषय में वह राजनीतिक दल अर्थात् राज्य के अधिकार को मानता है। इस अवस्था में उसका समाजवादी सर्वग्राही राज्य के साथ सामाजिक प्रश्न पर मूलभूत अंश में क्या भेद रहा ? स्वतंत्र-पार्टी ने सामाजिक न्याय की जब कोई परिभाषा नहीं दी और उसमें राज्य का हस्तक्षेप मान रही है तो स्पष्ट है कि विवाह, उपासना आदि को यह मानकर उसमें राज्य हस्तक्षेप को प्रश्रय देगी।

इसमें आकर स्वतन्त्र-पार्टी ने वही रुख अपनाया जो हमने ऊपर कहा है। वह जनता के कल्याण और प्रगति के लिए वैयक्तिक प्रेरणा और क्षमता को मुख्य आधार मानती है। यदि वह न्यूनतम राज्य-हस्तक्षेप की नीति को मान्यता दे रहा है तो सामाजिक कार्यों में वह राज्य या राजनीतिक संघटनों को क्यों महत्त्व दे रहा है ? वस्तुतः वैयक्तिक क्षमता और प्रेरणा के आधार पर व्यक्ति के सुख, प्रगति और कल्याण, उद्योग को नहीं छोड़ा जा सकता। अतिव्यक्तिवाद और अतिसमाजवाद और अतिसमाजवादी मनोवृत्ति से बचकर हमें व्यक्ति, समाज और राज्य के सम्बन्धों में प्राचीन भारतीय व्यवस्था के अध्ययन ओर प्रयोग पर ध्यान देना आवश्यक होगा। इस सूत्र से भीष्म, मनु, याज्ञवल्क्य और कौटल्य की अपेक्ष स्वतंत्र-पार्टी मिल के अधिक निकट है, जिसकी निर्बाध वैयक्तिक-स्वतन्त्रता के हम पक्षपाती नहीं।

३ इस सूत्र में दो पक्ष हो गये हैं। प्रथम में कहा गया है कि "कानून तथा अन्य प्रतिबन्धक उपायों का अवलम्बन करने के स्थान पर राज्य को मनुष्य के मन में निहित तथा परम्परा से प्राप्त उन सेवा-वृत्तियों का उपयोग करना चाहिए जिनके पालन में उसे नैतिक, श्रेष्ठता, गौरव, सन्तोष और आत्मपूर्ति का अनुभव होता है। प्रतिबन्धक उपायों का तात्पर्य है, जनता की सद्वृत्तियों पर अविश्वास करना तथा

उसे एक राजनीतिक पार्टी का दास बनाना।" इसके समाधान के लिए द्वितीय पक्ष में कहा गया है कि "इसलिए पार्टी गांधीजी द्वारा प्रतिपादित 'ट्रस्टी-शिप' के सिद्धांत में विश्वास करती है।

प्रथम पक्ष में मनुष्य ने निहित भावना और परम्परा को महत्त्व दिया गया है। यदि इन दोनों में विरोध उत्पन्न हो गया तो उस आधार पर सेवावृत्तियों का उपयोग करना चाहिए, इस पर ध्यान नहीं दिया गया। वस्तुतः मनुष्य के मन में निहित भाव तथा परम्परा इनके औचित्य का निर्णय किसी लक्ष्यपूर्ण आधार पर किया जाना चाहिए। ये स्वयं में आधार नहीं हैं। यदि आधार नहीं तो मनुष्य के मन में निहित भाव तथा परम्परा दोनों अनिर्दिष्ट दिशा में भी जा सकते हैं जिसका सम्बन्ध जीवन के लक्ष्यहीन स्वरूप में पहुँच सकता है। फलतः उसकी नैतिक एकता, गौरव, सन्तोष और आत्मपूर्ति का अनुभव नहीं भी हो सकता। वस्तुतः इस धारणा से पश्चिम की १९वीं शती की 'यद्भाव्यं नीति' का समर्थन होता है। परिषद् परम्परा और मानवीय स्वभाव दोनों का निश्चित संविधान के आधार पर आदर करती है। यदि वे दोनों शाश्वत संविधान की धारणा के विपरीत हैं तो उनमें संशोधन भी किया जा सकता है। फलतः एक जीवन का लक्ष्य निश्चित होता है और उसकी उपलब्धि में ही परम्परा और मानवीय स्वभाव का उपयोग हो पाता है। इस आदर्शवादी धारणा में ही वास्तविक वैयक्तिक क्षमता का निवास और स्वतन्त्रता का प्रयोग सम्भव हो सकता है। अन्यथा व्यक्ति के मनोभाव परस्पर विरुद्ध होकर समष्टि-व्यवहार का रूप ही नहीं ले सकते।

ट्रस्टी-शिप : अपने प्रथम पक्ष की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र-पार्टी ने गांधीजी के ट्रस्टी-सिद्धान्त को आधार बनाया है। पहली बात तो यह है कि ट्रस्टी-शिप का विचार गांधीजी के समय ही अव्यावहारिक सिद्ध हो चुका था और उसका स्पष्टीकरण उस समय भी नहीं हो पाया। जब सिद्धान्त व्याख्यासापेक्ष हो जाते हैं तो व्याख्याओं में मतभेद हो जाने पर सत्पक्ष-ग्रहण करने में असमर्थता होती है। ट्रस्टी-शिप के सिद्धान्त भी यही हालत है। दूसरी बात यह है कि क्या प्रथम पक्ष में उपस्थित धारणा का मेल गांधीजी के ट्रस्टी-शिप के साथ बैठता है? स्पष्टीकरण के लिए गांधीजी द्वारा प्रस्तुत ट्रस्टी-शिप के सूत्रों को ज्यों-का-त्यों यहां उद्धृत कर देना आवश्यक है :

(१) ट्रस्टी-शिप वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित समाज को कल्याणकारी समाज में परिवर्तित करने का एक साधन है। इसमें पूंजीवाद का कोई स्थान नहीं होता। इतना अवश्य है कि वह वर्तमान स्वामित्वप्राप्त वर्ग को सुधरने का अवसर अवश्य देता है। यह इस आस्था पर आधारित है कि मानवीय स्वभाव में सुधार किया जाना असम्भव नहीं है।

(२) इससे सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के आधार को समाज के हित में उपयोगी (अधिकारों) के अतिरिक्त मान्यता नहीं दी जा सकती।

(३) इसमें सम्पत्ति के स्वामित्व और उपयोग के नियमन की बात भी असम्मिलित नहीं है।

(४) अतः राज्य द्वारा नियमित ट्रस्टी-शिप में कोई भी व्यक्ति अपने स्वार्थ की तृप्ति के लिए अथवा समाज के हित के विरुद्ध सम्पत्ति अपने पास नहीं रख सकता और न उसका उपयोग ही कर सकता है।

(५) जिस प्रकार जीवन-यापन के उचित न्यूनतम वेतन निर्धारित करने का सुझाव दिया गया है, उसी प्रकार समाज में किसी भी व्यक्ति द्वारा उपार्जित की जाने-जानेवाली आय की उच्चतम सीमा भी निश्चित की जानी चाहिए। ऐसी न्यूनतम और उच्चतम आय में जो अन्तर हो, वह उचित हो और समता पर आधृत हो। साथ ही समय-समय पर उसमें परिवर्तन होता रहे जिसमें इस अन्तर को पूर्णतः समाप्त करने का झुकाव हो।

३. इस सूत्र के अधीन समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन कार्यक्रम निश्चित होगा, न कि निजी सबक या लोभ-लालच के आधार पर। उक्त छः सूत्रों के लिखने का यहाँ मात्र इतना ही तात्पर्य है कि क्या स्वतंत्र-पार्टी के व्यक्तिगत उद्योग के लिए इसमें स्थान है? क्या इसमें परम्परा या मानव के मन में निहित भाव को स्थान दिया गया है? यहाँतक कि राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप के विपरीत स्पष्ट ही राज्य द्वारा नियमित ट्रस्टी-शिप की बात कही गयी है। इसमें जहाँ तक वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रश्न है, उसका स्वत्व समाज से बाहर कुछ नहीं है। व्यक्ति को केवल सुधरने का अवसर दिया गया है, वह भी केवल उस समय तक जबतक राज्यशक्ति हाथ में न आ जाय। राज्यशक्ति हाथ में आने पर राज्य-नियंत्रित ट्रस्टी-शिप का रूप शुद्ध समाजवादी हो जाता है जिसका विरोध करने के लिए स्वतंत्र-पार्टी कटिबद्ध है।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एक प्रकार से स्वतंत्र-पार्टी का मूलाधार है। लेकिन उसके लिए पार्टी ने अपने अन्य सूत्रों को पूरक नहीं बनाया, प्रत्युत उसके प्रत्येक सूत्र इसका विरोध करते हैं। विशेषकर ६,१०,११ सूत्र ऐसे हैं जो ट्रस्टी-शिप-सिद्धान्त के विपरीत आर्थिक आयोजन प्रस्तुत करते हैं और वे ही मुख्यरूप से आर्थिक-समस्या के समाधानरूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

जहाँतक हमारा ट्रस्टी-शिप के साथ सम्बन्ध है, हम मानते हैं कि ट्रस्टी-शिप द्वारा वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा सम्भव नहीं। 'ट्रस्टी सम्पत्ति के विक्रय, दान, उत्तराधिकार आदि के अंश में स्वत्व नहीं रखता, जब कि वैयक्तिक सम्पत्ति के ये ही

मुख्य अंग हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वतंत्र-पार्टी विकेन्द्रीकरण मानती है। ऐसी स्थिति में ग्रामों से लेकर नगरों तक, छोटे उद्योगों से लेकर बड़े उद्योगों तक ट्रस्टियों की नियुक्ति का 'चुनाव' होगा या वे 'वंशानुगत' होंगे? 'वंशानुगत ट्रस्टी' ये शब्द ही परस्पर विरुद्ध हैं। वंशानुगत ट्रस्टी होता ही नहीं। यदि वह वंशानुगत है तो ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त न होकर केवल भाव है। अतएव व्यवहार में उसका कोई मूल्य नहीं। चुनाव या नियुक्ति के आधार पर आये हुए ट्रस्टी कुटुम्ब कुटुम्ब में होंगे या समाज की इकाइयों में। यदि कुटुम्ब कुटुम्ब में ट्रस्टियों का चुनाव प्रारम्भ हुआ तो वह उपहास से अधिक कुछ नहीं होगा। यदि समूह या समाज की इकाइयों के ट्रस्टी की बात सोची जाती है, तो 'कम्यूनों' की वही व्यवस्था है जिसका प्रयोग कम्यूनिस्ट करना चाहते हैं और स्वतंत्र-पार्टी उनका शत्रु नम्बर १ है। स्वतंत्र-पार्टी के विधायक चाहे जो सोचें, किन्तु सिद्धान्तों के व्यवहार और विकास-परंपरा से यही निष्कर्ष प्रस्तुत होता है।

परिषद् ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के स्थान पर 'व्यक्ति-स्वामित्व' और 'स्वत्व' के सिद्धान्त को मानती है जिसमें उसे सम्पत्ति के वैध संरक्षण, संवर्धन, दान, विक्रय, उत्तराधिकार आदि की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। वैधता के तात्पर्य में ही लाभ पर नियंत्रण, उसके वितरण तथा उत्पादन की दिशा का निर्धारण इस रूप में होता है कि व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के हित का समन्वय सम्भव हो जाता है।

४. पार्टी की मान्यता है कि "जनता में विश्वास के आधार पर ही शासकीय नीतियों का निर्माण किया जाना चाहिए। राजकीय प्रतिबंध, वर्ग और जाति-विद्वेष, कर्तव्यों की अवहेलना तथा नागरिक स्वतंत्रता के मूल्य पर शासनाधिकारियों के अधिकार बढ़ाकर शासन को सफल बनाने की नीति अनुचित है।" लेकिन जनता में विश्वास का आधार हो क्या हो? यदि जनता मे जाति और वर्गविशेष ही आधार हो जाय, तो क्या शासन को उसी आधार पर चलना पड़ेगा?

पार्टी के प्रत्येक सूत्र से ध्वनित होता है कि उसके पास जीवन का लक्ष्य और आधार नहीं है। फलतः वह 'जनता के विश्वास और मनोभाव' आदि शब्दों की आड़ में जनतंत्र की अनौपचारिक स्वतंत्रता का समर्थन करती है। वस्तुतः 'जनता के विश्वास और मनोभाव' बुरे और भले दोनों हो सकते हैं। उनका किस आधार पर ही प्रयोग किया जाना चाहिए, पार्टी इसके स्पष्टीकरण की ओर ध्यान ही नहीं दे रही है।

५. पार्टी आध्यात्मिक मूल्यों को स्थिर रखने, बढ़ाने तथा अपनी संस्कृति एवं परंपरा में जो कुछ अच्छा है, उसे सुरक्षित रखने में विश्वास रखती है। इसीलिए वह जड़वादी दर्शन को रोकना चाहती है। यहाँ दो बातें विचारणीय हैं, पहली तो

यह कि आध्यात्मिक मूल्यों को स्थिर रखने तथा बढ़ाने के लिए अपनी संस्कृति में जो कुछ 'अच्छा' का क्या तात्पर्य है ? कितना अंश भला है और कितना अंश बुरा, इसका आधार क्या होगा ? यदि वेद-शास्त्रों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के मन-मानी आधार को माना गया तो वह परिषद् की धारणा के विपरीत होगा। आगे चलकर पार्टी ने गांधीजी तथा उनके विचारों को अपना मार्गदर्शक माना है। फलतः अपनी संस्कृति में जो कुछ अच्छा का भी आधार गांधीजी की शिक्षाएँ ही होंगी। स्पष्ट है कि इस प्रकार के आधार से किसी भी संस्कृति की अच्छाई और बुराई का वास्तविक निर्णय नहीं हो सकता। जो कुछ होगा, वह भ्रांतिमूलक ही होगा।

दूसरी बात, आध्यात्मिक मूल्यों के स्थिर करने और जड़वादी दर्शन के रोकने के लिए है। आध्यात्मिक मूल्यों से तथा धार्मिक भावों से पार्टी का क्या अभिप्राय है, स्पष्ट नहीं होता। क्या विद्यालयों में प्रातःकाल प्रार्थना करा देने तथा कुछ महात्माओं के, जो गांधीजी की शिक्षा के अनुरूप हों, जीवन-चरित्र पढ़ा देने से ही आध्यात्मिक मूल्यों की स्थिरता सम्भव है ? पार्टी एक ओर आध्यात्मिक मूलों की आवश्यकता स्वीकार करती है और दूसरी ओर गोवधबन्दी योजना को अस्वीकार करती है। फिर भी भारत में गोवधबन्दी को धार्मिक प्रश्न मानने में असमर्थ स्वतंत्र-पार्टी अपने को धार्मिक प्रश्नों के लिए प्रतिनिधि संस्था बनाने की घोषणा करे, यह कम आश्चर्य की बात नहीं !

वस्तुतः आध्यात्मिक मूल्यों की अस्थिरता के लिए आवश्यक है कि राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कला आदि सभीको धर्म के आधार पर स्थिर करना होगा। उनके संघटन और विचार इसी रूप में ढालने पड़ेंगे। इसके लिए पार्टी के कोई सूत्र क्रियाशील नहीं, न तो उनका धार्मिक भावों के साथ का तारतम्य है। परिषद् और स्वतंत्र-पार्टी में यही मूलभूत भेद है जिससे सभी भेद उत्पन्न हो गये। परिषद् धर्म-नियंत्रित व्यक्ति, समाज और राज्य को मानती है, तभी आध्यात्मिक मूल्यों की स्थिरता और जड़वादी दर्शन का प्रतिरोध सम्भव होगा।

६. पार्टी वैयक्तिक उद्योगों पर बल देते हुए मानती है कि "संविधान के मूलभूत अधिकारों तथा सुरक्षाओं का, जो सम्पत्ति, व्यापार और नौकरी तथा राज्य द्वारा सार्वजनिक कार्यों में किसीकी सम्पत्ति ली जाने की दशा में उसे समुचित मुआविजा प्रदान करने के सम्बन्ध में स्वीकृत की जा चुकी है, पूर्णरूपेण पालन किया जाय।" यदि स्वतंत्र-पार्टी वैयक्तिक उद्योग को मानती है तो लाभ के प्रश्न पर उसका क्या अभिप्राय है ? यदि लाभ पर ध्यान नहीं दिया जाता तो यह पूंजीवादी शोषण का प्रतीक होगा जिसे हम भारतीय संस्कृति और परंपरा से अनुकूल मानने में असमर्थ हैं। यदि उसका सम्बन्ध ट्रस्टी-शिप के साथ लगाया गया तो उसमें वैयक्तिक उद्योगों की वैसी अवस्था का, जिसमें स्वत्व हो, कोई सम्बन्ध नहीं। संविधान में

'समुचित मुआविजा' नहीं, केवल 'मुआविजा' शब्द है। यदि मुआविजा द्वारा ही सम्पत्ति लेने का अधिकार राज्य का बना रहा तो संविधान के माध्यम से वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा कथमपि सम्भव नहीं। पार्टी संविधान को मानने के लिए तैयार है, लेकिन संविधान में यह स्थिति बनी है कि संसद् जो चाहे कर सकती है। फलतः उसमें परिवर्तन सम्भव है और हुआ भी है। अतएव पार्टी की उक्त मान्यताओं के स्थान पर परिषद् मानती है कि वैयक्तिक उद्योगों की स्थापना के साथ उनके लाभ का धर्म, यश, अर्थ, (मूल सम्पत्ति-रक्षा) स्वजन तथा पूंजी लगानेवाले के लिए पाँच विभाग कर उसका वितरण किया जाय। संविधान के आआर पर नहीं, मनु, याज्ञवल्क्य तथा अपने धार्मिक आचारों पर वैयक्तिक स्वत्व की रक्षा की जाय।

७. पार्टी प्रतियोगी उद्योग द्वारा उत्पादन बढ़ाने तथा विकास करने में विश्वास रखती है। व्यापार के क्षेत्र में राज्य के प्रवेश का विरोध करती है। उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादन और उपभोक्ता को स्वतंत्र चयन का मूलभूत अधिकार मानती है। लेकिन इनसे उत्पन्न होनेवाले शोषण के अवसरों पर प्रतिबन्ध की बात नहीं सोचती। इसके विपरीत परिषद् व्यापार और उद्योग तथा मूल्यनिर्धारण में भी राज्य के हस्त-क्षेप को मानती है। यदि नियमों तथा सामाजिक कल्याण की भावना से परे उद्योग, व्यापार की नीति हो तो राज्य हस्तक्षेप कर उन्हें सन्तुलित करे। कुछ अवसरों पर जब निजी पूंजी के प्रयोक्ता लाभ के लिए बाजार में, जैसा कि उत्पादक और उप-भोक्ता के स्वतंत्र चयन में अधिक सम्भव है, शोषण के कारण बनने लगे तो राज्य का हस्क्षेप अनिवार्य है। इतना अवश्य है कि राज्य उत्पादन-क्षेत्र में स्वयं प्रतियोगी न बने और न इस दृष्टि से इन क्षेत्रों में प्रवेश करे।

परिषद् की दृष्टि से जहाँ साधनों तथा अन्य सुविधाओं के अभाव में निजी उद्योग के स्थापन में बाधा और कठिनाई हो, राज्य स्वयं उद्योगों की स्थापना कर सकता है। साथ ही यदि निजी उद्योग तथा व्यापार सामाजिक सन्तुलन को हानि तथा स्वयं को लाभ पहुँचा रहे हैं, तो उनमें भी राज्य के उद्योग तथा व्यापार स्थापित कर सकता है। लेकिन जब उक्त स्थितियाँ न हों या समाप्त हो जायँ तो राज्य को उद्योग, व्यापार, कृषि में प्रतियोगी के रूप में भाग नहीं लेना चाहिए।

८. करों के विषय में पार्टी ने वर्तमान सरकार की आलोचना तो की, किन्तु विकल्प में अपना कोई रूप नहीं रखा। परिषद् की स्पष्ट धारणा है कि कर उत्पादन के अनुपात और आधार पर लगाये जायँ। कर वस्तु की उत्पादन-क्षमता तथा उससे होनेवाले लाभ पर लगाना आवश्यक है। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन पर ७५ प्रतिशत तक कर लगाया जा सकता है; साथ ही कुछ व्यक्ति या समाज ऐसे हैं, जिन पर कर लगाया हो नहीं जा सकता। क्योंकि वे किसी ऐसे उत्पादन में संलग्न नहीं जिनसे

लाभ हो। फलत: बुद्धिजीवी तथा श्रमजीवियों से राष्ट्र के लिए बुद्धि तथा श्रम संबंधी सेवा ले ली जाय और उनको करभार से मुक्त किया जाय। साथ ही जो उत्पादन के साधनों से लाभ अर्जित कर रहे हैं, उनपर उत्पादन-क्षमता के आधार पर ही कर की व्यवस्था की जाय।

९. पार्टी सभी विषयों में अपने समक्ष गांधीजी की शिक्षाओं से मार्गदर्शन प्राप्त करेगी। इसका तात्पर्य है कि गांधीजी के सिद्धान्त ही स्वतंत्र-पार्टी के वर्तमान तथा भविष्य की नीतियों के निर्धारक हैं। लेकिन गांधीजी के सिद्धान्त स्वयं में कभी स्पष्ट हो सके हैं? नेहरूजी गांधीजी के राजनीतिक उत्तराधिकारी माने जाते रहे। स्वतंत्र-पार्टी नेहरू की कांग्रेस को गांधीजी की कांग्रेस नहीं मान रही है। नेहरूजी स्वतंत्र-पार्टी को गांधीजी से असम्बद्ध मानते थे। इस प्रकार स्वतंत्र-पार्टी और नेहरू-जी की कांग्रेस में कौन गांधीजी के सिद्धान्तों पर है और कौन नहीं, इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? जब आज ही ऐसी स्थिति है तो भविष्य में क्या होगा, इसका अनुमान लगाना अत्यंत सरल है।

वस्तुतः किसी व्यक्ति के सिद्धान्त तात्कालिक होते हैं। उनके आधार पर किसी भविष्य की वार्ता सोचना कठिन होता है। अतएव परिषद् किसी व्यक्ति के सिद्धान्तों के आधार को न स्वीकार कर त्रिकालाबाधित वेदादि-शास्त्रों के आधार को ही मानती है। गांधीजी के विचार जितने अंशों में उनके अनुकूल हों, उनका ग्रहण स्वयं हो जायगा। यदि वे प्रतिकूल हैं तो उनको स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या?

यही कारण है कि परिषद् धर्मनियन्त्रित ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहती है जिसमें आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों का पूर्ण संरक्षण एवं सक्रिय प्रवर्तन सम्भव हो। फलत: वर्तमान संविधान में संशोधन कर उसे शास्त्रों के आधार पर धर्म-नियन्त्रित बनाना आवश्यक है। राज्य धर्म में हस्तक्षेप न करे। अतएव धर्म में हस्तक्षेप करनेवाले हिन्दू-विवाह, तलाक, उत्तरा-धिकार, मन्दिरप्रवेश आदि कानूनों को रद्द किया जाय। गोवध वैधानिक रूप से बन्द हो। भारतीय धर्मशास्त्रों एवं राजनीतिक शास्त्रों के अनुसार व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति का संक्षरण और शास्त्रीय मार्ग से वितरण करके आर्थिक असन्तुलन दूर किया जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्टी सभी प्रकार की संगतियों, आधार तथा लक्ष्य से स्वतन्त्र है। सम्भवत: इसीलिए उसका नाम 'स्वतन्त्र' रखा गया। अन्यथा 'स्वतन्त्र-पार्टी' नाम का कोई तात्पर्य ही स्पष्ट नहीं होता। पार्टी के कुछ अपने तो नियम होंगे। वह उनमें तो परतन्त्र अवश्य होगी। लेकिन स्वतन्त्र-पार्टी उससे भी स्वतन्त्र दिखायी पड़ती है। तभी तो हिन्दू-महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष और मुस्लिम-लीग के कार्यकर्ता एक साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर कार्य करेंगे, परिणाम तो भविष्य पर है।

८. मार्क्सवाद और स्वेतलाना

वैसे सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करने में घटनाओं का अधिक महत्त्व नहीं हुआ करता। यदि मार्क्सवादी दृष्टिकोण ठीक है, तो उनके अनुयायी रूस या चीन में मार्क्सवाद के गुण एवं सुख-समृद्धि न हों तब भी उसके लिए मार्क्सवाद को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। आज गौतम बुद्ध एवं ईसा के अनुयायी देशों में भी उनके गुण कहाँ परिलक्षित होते हैं? मनु, शुक्र, बृहस्पति, चाणक्य के देश भारत में भी कहाँ उनकी नीति सफल हो रही है? अतः यही समझना चाहिए कि ये दोष उन देशों एवं समाज के लोगों के हैं, उन सिद्धान्तों के नहीं। इसलिए मैंने प्रमाणों के आधार पर ही मार्क्स के सिद्धान्तों की 'मार्क्सवाद एवं रामराज्य' में समालोचना की है। तथापि प्रायः कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट सज्जन रूसी स्वर्ग का अधिकाधिक माहात्म्य वर्णन करके भी मार्क्स के सिद्धान्त को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयत्न किया करते हैं। साथ ही मार्क्स के सिद्धान्त का नाम भी जहाँ 'भौतिक द्वन्द्ववाद' है, वहीं उसका नाम 'ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद' भी है। कम्युनिस्ट इतिहास का सर्वाधिक महत्त्व मानते हैं। अतएव इतिहास को कभी उस वाद में दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। यद्यपि इतिहास में सत्य की अपेक्षा स्वार्थ-विशेष-सिद्धि के लिए असत्यांश अधिक होता है, यह मैंने 'मार्क्सवाद और रामराज्य' में तथा अन्यत्र विस्तार से बतलाया है; फिर भी इतिहास उपेक्षणीय नहीं है।

हाँ, तो रूसी स्वर्ग कैसा है, यह जितना स्पष्ट सत्य रूसी तानाशाह, कम्युनिस्टों की दृष्टि से मानवता का उद्धारक और दैवी-शक्ति का विशेष प्रतिनिधि स्टालिन की पुत्री जितना आँखों देखा स्पष्ट वर्णन कर सकती है, उतना और कोई नहीं। इसी दृष्टि से क्रेमलिन की राजकुमारी स्टालिन की पुत्री 'स्वेतलाना' की अपनी कलम से लिखी अपनी ही बीती-कहानी, आँखों-देखी घटना या अपनी जीवनी 'स्वेतलाना' पुस्तक से रूसी शासकों के विचारों एवं रूस की कुछ घटनाओं का यहाँ उल्लेख किया गया है।

एकबार लेनिन से कुछ लोगों ने रूस में दूसरी राजनैतिक पार्टी के न होने का कारण पूछा, तो उसने बतलाया कि 'विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने के लिए ही विभिन्न पार्टियों की आवश्यकता होती है। रूसमें वर्गभेद समाप्त हो चुका है, सभी शुद्ध साम्यवादी विचारधारा के ही लोग हैं। अतः यहाँ अन्य वर्गों के प्रतिनिधित्व की

आवश्यकता ही नहीं। इसीलिए यहाँ अन्य पार्टी का न होना भूषण ही है, दूषण नहीं।'

अन्य कम्युनिस्ट भी प्रायः यही कहा करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि जब रूस में वर्गभेद समाप्त हो चुका होता तो रूसी शक्तिशाली गुप्तचर-विभाग किसके द्वारा किये जानेवाले किस षड्यन्त्र की खोजबीन करने में दिन-रात अपनी शक्ति का व्यय करता ? और फिर विरोधियों के सफाया (कण्टक-शोधन) का क्या अर्थ है, जो स्टालिन के समय में भी चालू था और अब भी बराबर चालू है ? स्वेतलाना के अनुसार स्टालिन की पत्नी, स्वेतलाना की माँ स्टालिन-विरोधियों के सफाया करने के गुप्त-अभियान को, जिसमें स्टालिन के लेफ्टिनेण्ट इच्छा या अनिच्छा या जी-हूजूरी की आदत की वजह से पूरे सहमत रहते थे, 'अनावश्यक रक्तपात' की संज्ञा दिया करती थी। (पृ० ३४, इसीके परिणामस्वरूप उसे भी मृत्यु का शिकार बनना पड़ा।

आजकल विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट-पार्टियाँ निर्वाचन में भाग लेती हैं और लोकतन्त्र की बातें भी करती हैं, किन्तु वस्तुतः कम्युनिज्म में 'लोकतंत्र' नहीं हुआ करता। वहाँ तो अधिनायकवाद' ही चलता है। इसीलिए कम्युनिस्टों का विश्वास है कि सर्वहारा के डिक्टेटरशिप से ही समाजवाद की स्थापना हो सकती है। लोकतंत्र तो वहीं रहता है जहाँ सम्पत्ति-स्वातंत्र्य एवं भाषण-स्वातंत्र्य हो। वहीं लोग निर्वाचन में सफलता प्राप्तकर नापसन्द सरकार को हटा मनचाही सरकार बना सकते हैं। जहाँ विचार-स्वातंत्र्य पर पूर्ण प्रतिबन्ध तथा व्यक्तिगत भूमि, संपत्ति, कल-कारखानों, उद्योग-धन्धों का पूर्ण सरकारीकरण हो; व्यक्ति जड़प्राय शासनयंत्र का एक नगण्य पुर्जामात्र रह जाय, वहाँ कैसा निर्वाचन और कैसा मन-चाहा शासन-परिवर्तन ? आश्चर्य है कि फिर भी कम्युनिस्ट कम्युनिज्म में तानाशाही न होने की बात करते ही हैं।

स्वेतलाना ने अपनी कलम से कई जगह स्टालिन को 'रूस का तानाशाह' कहा है। 'रूस के तानाशाह की एक लड़की भी है' (पृ० ४८)। स्वेतलाना के परम-प्रिय मित्र एलेक्सी को, जिसे वह अपना पति बनाना चाहती थी, इस आरोप में गिरफ्तार कराया गया कि उसने अपनी बुर्जुआ वंश-परंपरा को छिपाया। इसी अप-राध में उसे २५ वर्ष का सपरिश्रम कारावास दिया गया (पृ० ५९)।

कम्युनिस्ट रूस को मानवता का उद्धारक एवं मार्गदर्शक मानते हैं। किन्तु यहूदियों के सम्बन्ध में स्वयं 'पोलिटब्यूरो' की बैठक में निश्चय किया गया कि 'एक तिहाई को आत्मसात् कर लिया जायगा और एक तिहाई को समाप्त कर दिया जायगा' (पृ० ७०)। कम्युनिस्ट सामन्तवाद को निन्दा करते हुए मानवता एवं समानता की बात करते हैं। स्टालिन ने ग्रेगरी मोरोजोव से, जो कि स्वेतलाना का

स्वयंवृत प्रेमी और भावी पति था, न मिलने के लिए स्वेतलाना से कहा कि "तुम्हें अपनी हैसियत का भी खयाल है ?" इसपर स्वेतलाना ने कहा : "पापा, एक और आप साम्यवाद और कम्युनिज्म की बातें करते हैं और दूसरी ओर गैर-हैसियत की बातें ? साम्यवादी होने पर भी आपके मन से सामन्तवादी विचारधारा नहीं गयी ? क्या सब मनुष्य समान नहीं हैं ?" (पृ० ७६) ।

स्टालिन का कहना था कि 'यहूदी हमारी शासन-व्यवस्था में फिट नहीं बैठ सकते' (पृ० ७६) । रूसी तानाशाहों में भी हिटलर से कुछ कम यहूदियों के प्रति घृणा नहीं थी । स्वेतलाना के शब्दों में 'जिन लोगों के बारे में जरा भी बुर्जुआ होने का शक होता, उनके साथ किस प्रकार चोर-डाकुओं जैसा व्यवहार किया जाता था, यह मैंने प्रत्यक्ष देखा ।'

कम्युनिस्ट मजदूरों के ही बल पर कम्युनिज्म फैलाने का प्रयत्न करते हैं और साम्यवादी शासन को मजदूरों के लिए दिव्यस्वर्ग बताते हैं । उन मजदूरों की रूस में क्या दशा है, यह भी स्वेतलाना से सुनिये ।

"मजदूरों को किस प्रकार बिना विश्राम किये पिस्तौल की नोक पर काम करना पड़ता था, यह भी मैंने देखा और देखा कि किसान भी, जो किसी भी देश के लिए 'अन्नदाता' ही कहे जा सकते हैं, रूस में किस तरह जीवन व्यतीत करते हैं ? औद्योगिक उन्नति के पीछे दीवाने, मजदूरों के कल्पित स्वर्ग में भूमिहीन किसानों की दशा और भी दयनीय थी । गाँवों में उनके पास न कुछ खाने को था और न कुछ करने को । भूख से तंग आकर वे शहरों की ओर भाग रहे थे और किसी कारखाने में मजदूरी कर जी-तोड़ मेहनत करने के बाद ही अपने पेट का गड्ढा भरने का साधन जुटा पाते थे । उबली जुआर और गेहूँ का माँड ही उन दिनों मजदूरों का भोजन था । राशन-कार्ड भी एक तरह का विशेषाधिकार बन गया था । मिलनेवाला राशन इतना थोड़ा होता था कि शायद ही किसीका ठीक-ठीक गुजर चलता हो, बिना आटा दिये रेलगाड़ी की सीट मिलना भी मुश्किल था" (पृ० ८३) ।

'राशन इतना कम पड़ता था कि ग्रेगरी और मैं बारी-बारी से भोजन करते थे । दोनों समय भोजन कर सकना उन दिनों बहुत बड़ी विलासिता समझी जाती थी । यह है कम्युनिस्टों के बिहिश्त साम्यवादी सोवियत रूस का हाल ! परन्तु जनता इतनी आतंकित रहती थी कि इस आक्रोश को प्रकट नहीं कर सकती थी । मैं जानती थी कि इस आक्रोश के केन्द्र पापा थे' (पृ० ८४) । "फिर भी मैं प्रसन्न थी । क्रेमलिन की राजकुमारी के बन्दी-जीवन की अपेक्षा मुझे अभावों से भरा यह जीवन सुखकर प्रतीत होता था" (पृ० ८४) ।

स्वेतलाना ने ग्रेगरी से शादी कर ली । वह यहूदी था । स्वेता के लड़का हुआ,

परन्तु स्टालिन ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वह कहती है कि 'जिसने अपने प्रतिद्वन्द्वी ट्रास्टस्की के हजारों अनुयायियों को इसीलिए नामशेष कर दिया कि उनका नेता ट्रास्टस्की एक यहूदी जमींदार था, वह कैसे बरदाश्त करता कि उसका दोहता यहूदी हो।' आश्चर्य है कि भौतिक द्वन्द्ववाद में जातिवाद कहाँसे आ गया! जातिहीन समाज की स्थापना का जो लोग उद्घोष करते हैं, क्या उनके मतानुसार भी जाति के नाम पर एक मानवसमाज का शोषण एवं उत्पीड़न करने के लिए इतनी योजनाबद्ध प्रक्रिया कार्यान्वित हो सकती है?

"कुछ दिनों बाद एलेक्सी की तरह ग्रेगरी भी पापा के गुप्तचर-विभाग का शिकार बनकर साइबेरिया के यातना-शिविर के हवाले········। कैसी क्रूर है यह राजनीति······! मैंने विह्वल होकर कहा: 'पापा, सच बताओ, मेरे ग्रेगरी का क्या हुआ? तुम्हें सब पता है, तुम्हारी मर्जी बिना रूस में पत्ता भी नहीं हिल सकता" (पृष्ठ ८७)।

'स्टालिन ने अपनी पुत्री को अपने क्रेमिलिन महल में ही रख लिया और उसका विवाह अपने विश्वसनीय दाँये हाथ ज्दानोव के पुत्र 'यूरी ज्दानोव' से कर दिया और उसकी शादी के उपलक्ष्य में पाँच लाख लोगों को दावत दी। वह भी एक दो दिन नहीं, पूरे दो सप्ताह के लिए। "उसमें पापा ने लगभग २ लाख पौण्ड खर्च किये। फ्रेंच, क्रीमियन, स्पेनिश तथा जर्मन शराबों की नदियाँ बहा दीं' (पृ० ९०)।

क्या इस कम्युनिस्ट तानाशाह का ठाट-बाट किसी सम्राट् या बादशाह से कम था? फिर भी कम्युनिस्ट राजा-जमींदारों की कुछ राजसी स्थितियों की समालोचना करते नहीं अघाते और उसे 'शोषण' की संज्ञा देते हैं। यूरी से भी स्वेतलाना को 'येकालरीना' लड़की हुई (पृ० ९१)।

स्टालिन की मृत्यु के सम्बन्ध में स्वेतलाना ने सम्भावित किया था कि 'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि पापा की विरोधी नेता-मण्डली क्रेमिलिन की सत्ता पर काबिज हो गये, पापा की वही गति हुई जो पापा ने अपने विरोधियों की थी। पापा के चारों ओर बुलगानिन, ख्रुश्चोव, मालेनकोव, मोलोतोव बैठे थे। पापा की लाश के जो चारों ओर बैठे, वे सबके सब मुझे मुर्दार मांस खानेवाले गिद्धों की भाँति से दिखाई देने लगे" (पृ० ९४)।

सच है जैसे एक जहरीले बिच्छू का पेट फाड़कर ही दूसरा जहरीला बिच्छू निकलता है, वैसे ही एक तानाशाह को समाप्त कर ही तो दूसरा तानाशाह जन्मता है। स्टालिन बड़ी गरीबी हालत से इतनी उन्नति कर सका था। स्वेता ने लिखा है: "पापा के पिता को अपनी रोजी चलाने के लिए जूते बनाने का काम अपनाना पड़ा था (पृ० १०३)। उसे १५ साल तक साइबेरिया की जेल में बिताना पड़ा, और

भी अनेक बार वह जेलों में रहा। रूसी-क्रान्ति के बाद बनी नयी सरकार में १५ आदमियों में एक नाम पापा का भी था, शायद रूस की जनता ने तभी पहली बार पापा का नाम जाना।"

यद्यपि मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्तिवाद और जातिवाद के समान ही 'राष्ट्रवाद' भी है, यही समझा जाता है। पूरे संसार में पूंजीवाद का समूलोन्मूलन हुए बिना साम्यवाद के लिए संक्रमण-काल हो माना जाता है। इसीलिए विश्वक्रान्ति की अनिवार्यता साम्यवादी की जबान पर रहती है, तो भी स्टालिन की दृष्टि में यही बात थी कि रूस को अपनी चिन्ता स्वयं करनी होगी। रूस में जो भी प्रणाली चलेगी, वह रूसी ही होगी, वही यहाँ टिक सकेगी। समस्या यही थी कि देश को अपने पैरों पर कैसे खड़ा किया जाय। ये ही विचार उसके क्रान्ति के पहले थे, यही बाद में थे (पृ० १०५)।

स्टालिन समझता था कि हम उन्नत देशों से १०० या पचास वर्ष पीछे हैं, इसीलिए वह औद्योगिक विकास में जुट गया, सामूहिक खेती के आन्दोलन में तो धनी किसानों का एकदम सफाया कर ही दिया गया। जिन किसानों और ग्रामीणों ने शहरों में जाकर कारखानों में मजदूरी करने से इन्कार किया, उनका भी सफाया हुआ। निस्संदेह इस प्रकार मौत के घाट उतारे जानेवालों की संख्या लाखों में होगी। (पृ० १०७)।

आसुरी प्रवृत्तियों में मानव-मानव का शोषक बन जाता है, इसीको 'मात्स्यन्याय' कहा जाता है। जैसे पानी में रहनेवाली मछलियाँ आपस में ही बड़ी छोटियों का भक्षण करती हैं, जंगलों के खूंख्वार जानवरों में भी प्रबल, दुर्बल के भक्षक होते हैं। चूहे को बिल्ला, बिल्ले को कुत्ता; कुत्ते को बघेरा, बघेरे को शेर, शेर को शार्दूल, उत्पीड़ित करता है। यही स्थिति मनुष्यों में हो जाती है। सब एक दूसरे के शोषक-भक्षक हो जाते हैं। किन्तु किसी तानाशाह की इच्छानुसार लाखों मानव सफाया के नाम पर मौत के घाट उतारे जायँ, इसका उदाहरण पशुओं में भी मिलना कठिन है।

इसीलिए तो रामराज्य, धर्मराज्य में धर्म-निष्ठा और ब्रह्मनिष्ठा के सम्पादनार्थ प्रयत्न किया जाता है और वर्गविध्वंस, वर्गसंघर्ष, श्रेणीसंघर्ष को समाप्त कर वर्ग-समन्वय, श्रेणी-सामञ्जस्य, सर्व-सौमनस्य की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाता है। भक्त प्रह्लाद भगवान् से यही वरदान माँगते हैं कि सम्पूर्ण विश्व का स्वस्ति (कल्याण) हो; खल या दुर्जन प्राणी, प्रसन्न (सज्जन) बनें; सब आपस में एक दूसरे के पोषक, रक्षक, शुभचिन्तक बने; कोई किसीका शोषक या भक्षक न बने; सब एक दूसरे के

पू८६ बनें; सबका मन भद्रदर्शी हो; सबकी बुद्धि परमात्मनिष्ठ हो :

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे अवेक्ष्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

(भाग० ५ १८. ९)

रामराज्य का स्वप्न देखनेवाले सन्त तुलसी ने रामराज्य का चित्रण करते हुए कहा है :

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति नीति॥

(रामचरित-मानस, उत्तर०)

सचमुच क्या ईश्वर एवं धर्म के बिना जड़वादी शासनों में कभी शोषणशून्य समाज का बन सकना सम्भव है ?

स्वेता ने यह भी लिखा कि "पापा ने जब रूसी बागडोर संभाली तब रूस लकड़ी के हल से खेती करता था और जब उन्होंने बागडोर छोड़ी तो रूस के पास अणु-आयुधों का अभूतपूर्व भण्डार जमा था। पहले रूस थरथर काँपता था अब और देश रूस से थरथर कांपने लगे" (पृ० १०७)। स्वेता के अनुसार 'जार के समय क्रान्ति के बाद विश्वयुद्ध से पूर्व, विश्वयुद्ध के बाद वहाँ विवादग्रस्त विषयों पर अपना अभिमत व्यक्त करना कभी खतरे से खाली नहीं था। लेखक खुलेआम कुछ नहीं कह सकते थे। तब उपन्यास के पात्रों के मुख से कथोपकथन के रूप में वे अपनी बात कहला देते थे।'

स्वेतलाना ने संस्कृति एवं सभ्यता पर अपना मत व्यक्त किया है। उसके अनुसार संस्कृति का अर्थ होता है, अपने ही अंग से उद्भूत और अपने ही अन्दर प्रसुप्त एक तत्त्व, जब कि सभ्यता का अर्थ होता है, कोई ऐसी चीज जो मशीनी हो, बाहरी हो और कृत्रिम हो। संस्कृति प्रदेश-विशेष पर निर्भर करती है और इसीलिए वह किसी खास मिट्टी या परिस्थिति का स्वाभाविक विकाश ही होती है, जब कि सभ्यता किसी भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर नहीं होती। सभ्यता कहीं भी और सर्वत्र प्रकट हो सकती है। संस्कृति का अर्थ होता है सृजन और विकाश, जब कि सभ्यता का अर्थ होता है, आविष्कार और भौतिक उन्नति। उदाहरण के लिए यदि कोई उड़ना चाहे और हवाई जहाज का आविष्कार कर ले, वह सभ्य कहलायेगा। किन्तु यदि उस व्यक्ति के शरीर में अन्दर से ही पँख निकल आयें तो वह संस्कृति होगी। सदाचार है, संस्कृति और सद्व्यवहार है, सभ्यता। यदि किसी व्यक्ति में सदाचार का अभाव हो तो कोई भी व्यक्ति उसे सदाचार नहीं दे सकता। सदाचार

कहीं बाहर से बटोरा नहीं जा सकता। किन्तु सद्व्यवहार तो किसीको भी एक जानवर को भी सिखाया जा सकता है। संगीत संस्कृति है, जब कि संगीत का विज्ञान या संगीतशास्त्र सभ्यता का एक अंग है। संगीत हर कोई सीख सकता है, पर गवैया हर कोई नहीं हो सकता। इमर्सन अमेरिकन संस्कृति का प्रतिनिधि है। एडीसन और फोर्ड अमेरिकन सभ्यता के प्रतिनिधि हैं। संस्कृति शाश्वतोन्मुख है तो सभ्यता निरन्तर गतिशील। संस्कृति है वेदना और अनुभूति तो सभ्यता है बुद्धिवाद और विश्लेषण। संस्कृति जैसे संगीत है और सभ्यता जैसे छन्द। सभ्य हम जीवित प्राणी को बना सकते हैं, किन्तु सुसंस्कृत उनमें से बिरले को ही कर सकते हैं। पौधों का हम संस्कार तो कर सकते हैं, पर उन्हें सभ्य नहीं बना सकते। इस प्रकार यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति अत्यंत सुसंस्कृत तो हो, किन्तु सभ्य न हो। या इससे उलटी बात भी हो सकती है। पूर्व संस्कृति पर जोर देता है और पश्चिम सभ्यता पर जोर देता है। संस्कृति की छाप पड़ती है दिल पर और सभ्यता की दिमाग पर। पुराने यहूदी लोग मुख्यतः सुसंस्कृत लोग थे। रोमन मुख्यतः सुसभ्य लोग थे, जब कि यूनानियों में संस्कृति और सभ्यता दोनों ही का एक अद्भुत समन्वय था। इसीलिए 'दोस्तोंएवस्की' रूसी-लेखक के अनुसार संसार का कोई भी राष्ट्र या समाज बाहर से आयातित कार्यक्रम के आधार पर नहीं ढाला जा सकता (पृ० ११४-११६)।

वस्तुतः भारतीय दृष्टि से तो संस्कृति एवं सभ्यता का समन्वय ही है। दोनों एक दूसरे के पूरक ही हैं। देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की चेष्टाएँ संस्कृति हैं; क्योंकि संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'कृञ्' धातु से क्तिन् प्रत्यय एवं सम् उपसर्ग से सुट् आगम होकर 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है। 'सम्' उपसर्ग परे कृञ्' धातु को भूषण अर्थ में सुट् का आगम होता है। फलतः समीचीन भूषणभूत कृति 'संस्कृति' कहलाती है। संसार में वही कृति समीचीन और भूषणभूत होती है जिस कृति में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम की कसौटी पर लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक, अभ्युदय एवं निःश्रेयस की साधनता सिद्ध हो सके तथा वही कृति संस्कृति है।

वैदिकों के यहाँ गृह्यसूत्रों के षोडश संस्कार और ४८ श्रौत-संस्कार शास्त्र के अनुसार अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधन होते हैं। लोक में भी मलापनयन एवं अतिशयाधान को 'संस्कार' कहा जाता है। दोनों में ही समीचीनता एवं भूषणता होती है। चूर्ण-निघर्षण द्वारा दर्पण का संस्कार कर उसे सुन्दर सुशोभित किया जाता है। रंगीन चित्रादि के निर्माण द्वारा अतिशयाधान कर हस्तिमस्तक को एवं तैलादि द्वारा स्तम्भ आदि को संस्कृत किया जाता है। सम्यक् पुण्यजनक साधुशब्दों का व्याकरणसूत्रों द्वारा असाधुशब्दों से पृथक्करण ही संस्कृत शब्दों का संस्कार

है। जैसे गालिनी (चालनी) द्वारा अग्राह्य तुष, भूसी आदि से ग्राह्य चावल आदि का पृथक्करण संस्कार कहा जाता है, वैसे ही अग्राह्य अशुद्ध शब्दों से शुद्ध शब्दों का पृथक्करण भी निश्चय ही संस्कार है।

कुछ लोग प्राकृत शब्दों का संस्कार या सुधार कर संस्कृत शब्दों का निर्माण होना मानते हैं। परन्तु यह प्राकृत व्याकरण के विरुद्ध है। वहाँ तो संस्कृत को प्रकृति मानकर उससे उद्भूत शब्दों को प्राकृत माना जाता है : **प्रकृतिः संस्कृतम्, तस्मादुद्भवं प्राकृतम्।**

इस तरह लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस के हेतुभूत या तदनुकूल प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध (प्रामाणिक) देह, इन्द्रिय, मन, अहंकारादि, की चेष्टाएँ या हलचलें संस्कृति शब्द से व्यपदिष्ट होती हैं। जैसे खान से निकले हीरक एवं माणिक में संस्कार (खराद आदि) द्वारा चमक या शोभा बढ़ा दी जाती है, वैसे ही अविद्या-तत्कार्यात्मक प्रपञ्च-मग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कारों द्वारा व्यक्त की जाती है। तथा च आत्मा को प्रकृति के निम्नस्तरों से मुक्त कर क्रमेण ऊपरी स्तरों से सम्बद्ध करना या प्रकृति के सभी निम्नस्तरों से मुक्त कर उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्द-साम्राज्य के सिंहासन पर समासीन करना ही आत्मा का संस्कार है। उन्हीं संस्कारों से उपयुक्त कृति 'संस्कृति' शब्द से कही जाती है। जैसे वेदोक्त कर्म एवं कर्मजन्य अदृष्ट दोनों ही 'धर्म' शब्द से व्यवहृत होते हैं, वैसे ही संस्कार एवं संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही 'संस्कृति' शब्द से कही जाती हैं। इस तरह सांसारिक निम्नस्तरीय सीमाओं में आबद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल सम्यक् एवं भूषणभूत देहादि की कृतियाँ, चेष्टाएँ ही संस्कृति हैं।

इसी तरह 'सभ्यता' शब्द का अर्थ भी प्रामाणिक, सुशोभित, हितकारी व्यवहार ही होता है। "सह भान्ति जना यत्र सा सभा"—एक साथ एकत्रित होकर मनुष्य जहाँ देदीप्यमान होते हैं, उसीको 'सभा' कहते हैं। सभा में भी जो साधु पुरुष होते हैं, वे ही 'सभ्य' कहलाते हैं। सभा वही होती है जहाँ अच्छे लोग बैठकर सुशोभित एवं देदीप्यमान हों, जो धार्मिक एवं सदाचारी सुसंस्कृत हों। इसीलिए कहा गया है :

> **न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।**
> **नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥**
>
> (महाभारत, उ० प० ३५. ५८)

अर्थात् वह सभा सभा नहीं, जिसमें वृद्ध लोग न हों और वे वृद्ध वृद्ध नहीं होते जो धर्म की बात न कहें। वह धर्म भी धर्म नहीं जिसमें सत्य न हो और वह सत्य सत्य नहीं जिसमें छल-छद्म की मिलावट हो। एतावता केवल मनुष्यों का

"जैसे-तैसे" उनका कहीं एकत्रित हो जानामात्र सभा नहीं। वह तो 'सभाभास' ही होती है। इसी तरह मन्वादिकों ने कहा है कि सभा में या तो प्रवेश ही न करना चाहिए या फिर वहाँ समञ्जस, धर्मयुक्त सत्य-बात कहनी चाहिए। सभा में धर्म से उचित बात न बोलना या विरुद्ध अधर्म की बात कहना दोनों से ही मनुष्य किल्बिषी (पातकी) होता है :

सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्बिषी॥

(महाभा० ८. १३)

भारतीय मन्वादिशास्त्रों में धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय के निर्णय का पवित्र स्थान सभा ही माना जाता है। उसको 'पर्षद्' या 'परिषद्' भी कहा जाता है। धर्म-निर्णायक-पर्षद् में तीन-पाँच शिष्ट सदाचारी वेदादिशास्त्र पारंगत ब्राह्मण बैठते हैं। वेद में यह कामना की गयी है कि राष्ट्र में युवकजन 'सभेय' अर्थात् सभ्य हों। आज भी असंयम, अनियंत्रण एवं उच्छृंखलता को 'असभ्यता' की संज्ञा दी जाती है। सदाचारी, धार्मिक, शास्त्रनियंत्रित जीवन को ही 'सभ्य-जीवन' कहा जाता है। इतना ही नहीं, भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार तो शास्त्रप्रमाणानुसारी मनुष्य को ही 'मनुष्य' कहा जाता है : शास्त्रप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वं मनुष्यत्वम्। प्रत्यक्षानुमानानुसारिणी मतियों के अनुसार तो वानरादि पशु भी व्यवहार करते हैं, परन्तु नरों का व्यवहार तो शास्त्रानुसारी बुद्धि पर ही निर्भर होता है।

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

लौकिक मति जिधर जाती है, उधर जानेवाले वानर होते हैं। शास्त्र जिधर जाते हैं, उधर जानेवाले ही नर होते हैं।

आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि व्यवहार तो नर और वानर दोनों के साधारण ही होते हैं धर्म ही नर की असाधारणता या विशेषता है। उसके बिना नर और वानर में कोई भेद ही नहीं :

आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

धर्म का बोध शास्त्र से ही होता है। शास्त्र-नियंत्रित मनुष्य ही मनुष्य है। उसका समुदाय ही 'समाज' कहलाता है। पशु या पशुप्राय लोगों का समुदाय समाज न कहलाकर 'समज' कहलाता है :

समाजो मनुष्याणाम् समजः पशूनां सङ्घः।

श्वेताने आगे लिखा है कि "रूस के कुछ चतुर साहित्यकार सरकार और नवीन शासन को प्रशस्तियाँ गा-गाकर सरकारी संरक्षण पा गये, जब कि असली प्रतिभाशाली रोटी को भी मुँहताज हो गये। बोरिस पास्तरनाक रूस में शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद करके अपनी जीविका चलाते थे, किन्तु प्रच्छन्न रूप से वे अपने हृदय का दर्द जिन रचनाओं से उड़ेल रहे थे, वे रूस में प्रकाशित नहीं होती थीं। उनकी प्रसिद्ध रचना "डा० जिवागो" में इसी बात का मार्मिक चित्रण है कि एक सैनिक तानाशाही में किस प्रकार एक बुद्धिवादी का अन्त हो जाता है।

डा० जिवागो संसार की सब भाषाओं में अनूदित होकर प्रकाशित हो चुका है, किन्तु आजतक वह रूस में प्रकाशित नहीं हो सका। उस पुस्तक पर उन्हें 'नोबल-पुरस्कार' भी प्राप्त हुआ, किन्तु रूस के सैनिक साम्यवादी शासन में उनको पुरस्कार देने की घटना को भी 'साम्राज्यवादियों का एक षड़यंत्र' घोषित किया गया। रूस की सरकार की ओर से उन्हें कभी मान्यता नहीं मिली। अन्ततः "पास्तरनाक" ने नोबल-पुरस्कार लेने से इनकार कर दिया। "पास्तरनाक" की १९६० में मृत्यु हो गयी तो रूसी साहित्यकारों और कलाकारों की भीड़ उमड़ पड़ी। सरकारी विरोध के बावजूद उनके शव को श्रद्धांजलि देने के लिए कई हजार से अधिक रूसी पत्रकार, साहित्यकार और बुद्धिजीवी एकत्रित हुए। यह सब देखकर मैं चकित रह गयी। परन्तु रूस की जनता के मन पर आतंक की कमी नहीं हुई। कोई विदेशी पर्यटक यदि आज भी रूस जाकर "पास्तरनाक" की कब्र पर श्रद्धा के फूल चढ़ाना चाहें, तो कोई सामान्य नागरिक यह बताने को तैयार नहीं होगा कि पास्तरनाक की कब्र कौन-सी है और कहाँ है? उस युग में कई लेखकों को केवल इसीलिए गोली से उड़ा दिया गया कि उन्होंने अपनी रचनाएँ रूस से बाहर प्रकाशित करायी या प्रकाशनार्थ भेजीं" (पृ० ११७-१८)।

स्टालिन के समय उन्हें (स्टालिन को) सोवियत जनता के पिता के रूप में चित्रित किया जाता था। उनके अन्दर एक दैवीशक्ति का आरोपण किया जाता था। परन्तु उनके मरने के तीन साल बाद रूस के तत्कालीन सूत्रधार अपनी असफलताओं को स्टालिन पर थोपने लगे। सरकारी इशारों पर लेखकों ने वैसी ही रचना लिखनी प्रारम्भ कर दीं। "योद्धा पैदा नहीं हुआ करते' उपन्यास में पहली बार स्टालिन की खुली समालोचना की गयी। उन्हीं दिनों बलात् सामूहिक खेती के विरोध में लेखकों ने लिखा और स्टालिन पर ही कटाक्ष होता था। मास्को में ये भी नारे लगे कि 'लेनिन ने हमें जमीन दी, स्टालिन ने वह छीन ली" (पृ० ११९-२०)। 'स्तब्धता' उपन्यास में साइबेरिया का एक सन्तरी, जो यातना-शिविर तथा बलात् श्रम-शिविर में रहा था, एक दूसरे वृद्ध को एक घटना सुनाता है :

"हम कुछ सौ कैदियों के एक झुण्ड को अहाते की तरफ ले जा रहे थे, तभी हंगामा शुरू हो गया। हर तरफ से औरतें दौड़ती हुई आयीं। उन्होंने कैदियों के झुण्ड को घेर लिया, वे रो रही थीं। चिल्ला-चिल्लाकर अपने-अपने आदमियों का नाम लेकर उन्हें पुकार रही थीं। वे विभिन्न शहरों से आयी थीं। पता नहीं, कहाँ छिपी थीं। चीख, क्रन्दन, रुदन, हाहाकार अपने आदमियों की तलाश में उन्होंने कैदियों की पंक्तियों को छिन्न-भिन्न कर दिया। सन्तरियों ने औरतों को धकेलना शुरू कर दिया। उन्हें भय हुआ कि कहीं ये कैदी भाग न जायँ। कैदियों को हुक्म दिया गया। 'दौड़कर चलो!' कैदी दौड़ने लगे। औरतें भी उनके पीछे भागने लगीं। तब उन्होंने रायफलों के कुन्दों से मार-मारकर औरतों को पीछे हटाना शुरू किया। तभी मैंने एक कैदी को जोर-जोर से रोते सुना, कैदियों का झुण्ड का झुण्ड रोने लगा। औरतों के कारण वे कैदी रो पड़े। अब वे अधिक बरदाश्त कर सके। वे चिल्लाये कि 'तुम औरतों को क्यों मारते हो? हमें उनसे अलविदा तो कह लेने दो।' पर इसकी क्या इजाजत है? नियम इसकी इजाजत नहीं देता (पृ० १२५)।

"स्वर्गीय स्वर्णिम उद्यानों से युक्त, सर्वसामग्री-सम्पन्न, सर्वैश्वर्यपूर्ण दिव्य महल को भी, जहाँसे कोई भी निकलना न चाहता हो, यदि तार के काँटों से घेरकर किसीसे कह दिया जाय कि 'यह सब कुछ तुम्हारा है, खूब आनन्द लो, लेकिन यहाँ से बाहर जाने की इजाजत नहीं', तो उसे वह स्वर्ग छोड़कर बाहर भागने की इच्छा होगी। वह ऐश्वर्य उसे काटने लगेगा, क्योंकि उसमें स्वतन्त्रता नहीं रह गयी जो सबसे अधिक मूल्यवान् है (पृ० १२७)। कभी पापा (स्टालिन) ने अपनी मित्र-मण्डली के सामने ख्रुश्चेव को भालू-नृत्य दिखाने को विवश किया था। क्या ख्रुश्चेव ने उसी अपमान का बदला लेने के लिए लेनिन की समाधि के पास एक दूसरी समाधि में स्टालिन का शांतिपूर्वक सोना भी बरदास्त नहीं किया? (पृ० १५१)।

"आखिर बार जब मुझे पापा के पास पहुँचाया गया, उस समय का दृश्य खूब याद है। उनकी जबान बन्द थी और केवल आँखें खुली थीं। बार-बार 'पापा, पापा' जोर से बोलने पर भी उनके मुँह से आवाज नहीं निकली तो मैंने अपना कान उनके मुख के पास लगाया। पापा के होठ कुछ हिले, फिर होठों पर सफेद झाग की परत फैल गयी। मैंने एक नजर मुँह लटकाये बैठी गृद्ध-मण्डली की ओर डाली। ख्रुश्चेव की नजर मुझसे मिली और वह टिक न सकी। इसके बाद पापा की आँखें बन्द हो गयीं और मैं पछाड़ खाकर गिर पड़ी।...क्या अब भी ख्रुश्चेव को भय है कि कहीं किसी दिन मैं उस रहस्य को प्रकट न कर दूँ? (पृ० १५१)।

"ख्रुश्चेव-युग समाप्त हो गया। ख्रुश्चेव के रूप में (रूस में) जो व्यक्तिवाद उभर रहा था, वही शायद उसके पतन का सबसे प्रमुख कारण भी था (पृ० १६३)। जो लोग कभी मेरे कृपाकटाक्ष के लिए तरसते थे, हमेशा खुशामद करने के लिए

मेरे आगे-पीछे घूमा करते थे, अब वे भी मुझसे आँखें चुराते थे, मुझसे बात करते डरते थे। यह शायद सरकारी आतंक था, मेरी उपेक्षा थी या वे पापा का प्रतिशोध मुझसे लेना चाहते थे ? (पृ० १६६)।

"कुछ दिनों बाद मैंने सुना कि सित्यावस्की और एक अन्य प्रगतिशील लेखक डेनिल पर मुकदमा चला और उन्हें यातना-शिविर में भेज दिया गया। उनका केवल अपराध यह था कि उन्होंने अपनी कृतियाँ प्रकाशनार्थ यूरोप भेज दी थीं, क्योंकि रूस में उनके प्रकाशित होने की कोई आशा न थी। लेकिन सरकार की दृष्टि में यह एक राजद्रोह था। यह घटना १९६६ की है। इससे सभी रूस के बुद्धिवादी लेखक आतंकित हो गये। सब समझ गये कि सिंहासन पर चाहे जो बैठे, स्टालिन हो, चाहे ख्रुश्चेव, चाहे कोसीजिन, साम्यवादी शासन में विचार-स्वातंत्र्य कभी सहन नहीं किया जा सकता" (पृ० १६८)।

स्वेतलाना के अनुसार "अक्तूबर-क्रान्ति के पश्चात् सैनिक साम्यवादी शासन के दबदबे में लोग भूखों मर रहे थे। जीवन-स्तर का सर्वथा ह्रास हो रहा था। साहित्यिक गतिविधियों का नामशेष रह गया था। समस्त साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ बन्द हो चुकी थीं। पुस्तकों के नाम पर केवल राजनीति के 'पंफलेट' छपते थे। अखबार भी कम्युनिस्ट-पार्टी के 'रोजनामचे' मात्र रह गये। विद्यार्जन का कोई सिलसिला नहीं था। सोवियत गणराज्य से जैसे साहित्य नाम की वस्तु का लोप हो गया। जितने विख्यात लेखक थे, यातना-शिविरों में भेज दिये गये। उसमें मास्को और पेट्रोग्राट की अपेक्षा रोम, पेरिस, प्राग और बर्लिन में रूसी लेखकों की संख्या कहीं अधिक थी। उनमें कितने व्यक्तियों एवं साहित्यकारों ने आत्महत्या की या उन्हें गोली से उड़ा दिया गया, इसका कोई हिसाब नहीं है" (पृ० ११०)।

स्वेतलाना लिखती है : "पापा की इच्छा के विरुद्ध आचरण करनेवालों का हश्र क्या हुआ, यह रूस में मैंने आँखों देखा। मैं जानती हूँ कि सरकार उस जड़ मशीन का नाम है जिसके दिल नहीं होता, फिर वह सरकार चाहे रूस की हो चाहे भारत की। (पृ० १७५)। मुझे लगा कि रूस-सरकार ने शायद मेरे विरुद्ध कोई कड़ा कदम उठाने का निश्चय कर लिया है। सम्भव है, मैं रूस जाते ही गिरफ्तार कर ली जाऊँ और मुझे भी प्रगतिशील लेखक होने के अपराध में गिरफ्तार कर यातना-शिविर भेज दिया जाय (पृ० १७९)।

"याद आ रहा है, मुझे अमेरिका से से ढाई गुना बड़ा लगभग ८७ लाख वर्ग-मील में फैला २३ करोड़ की आबादी का अपने जन्म का महान् देश ! उसके बर्फ से ढँके मैदान ! उसकी अपार खनिज सम्पदा, उसका साहित्य, उसका संगीत, उसके लोकनृत्य, उसकी संस्कृति या उसके लोग, पग-पग पर प्रकृति को चुनौती देनेवाला

उनका परिश्रम और उनकी विवशता (पृ० १८०)। मेरे लेखक मित्रो और साथियों, मैं तुम्हें भी भूली नहीं। जानती हूँ कि रूस के बर्फ से ढँके मैदानों पर इस समय भेड़िये विचरण कर रहे हैं और सारा देश एक बुद्धिहीन विवश आतंक का शिकार है। जानती हूँ, वहाँ लोग मुर्दा शब्दों को पकड़ते हैं, उनके जिन्दा अर्थों को नहीं। यह भी जानती हूँ कि आज वहाँ पुलिस, घुड़सवार, सेना को ही प्रथम साहित्यिक कृतियों की आलोचना का अधिकार है। जानती हूँ, किसी अनचाही उपमा के लिए, अवांछित प्रतीक के लिए, अधिकारियों की दृष्टि से अनुचित शब्दालंकार के लिए या अभिव्यंजना के लिए तुम्हें जेल में ठूँसा जा सकता है। किन्तु यह स्थिति ऐसे ही स्थायी नहीं, जैसे कि पतझड़ स्थायी नहीं हुआ करती (पृ० १८१-८२)।

"रूस में व्यक्ति मर चुका है, केवल समाज जीवित है। बिना व्यक्ति के समाज कैसे जीवित रह सकता है, इस बहस में मैं नहीं पड़ूँगी। अलबत्ता इतना अवश्य जानती हूँ कि रूस व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा में विश्वास नहीं रखता। वहाँ कोई भी निर्णय देने में स्वतंत्र नहीं। वहाँ कोई भी व्यक्ति यह मानने को तैयार न होगा कि बिना सामूहिक निर्णय के, बिना किसी पूर्वनियोजित कार्यक्रम के कोई भी घटना घट सकती है। पिछले पचास वर्षों में मुझे यही सिखाया गया है कि सबकी एक राय होनी चाहिए, सबकी एक ही राजनीतिक विचारधारा होनी चाहिए। एक ही ढंग का संगीत, एक ही ढंग की कविता, एक ही ढंग की कला, सर्वत्र एक ही ढंग से सोचने, बोलने और देखने का तरीका! पर मैं यह भी जानती हूँ कि पचास साल लगातार की जानेवाली इस कोशिश के बावजूद वहाँ व्यक्ति मुकम्मिल तौर से मर नहीं पाया। लोग व्यक्तिगत, आशा-आकांक्षाओं को न तिलांजलि दे सकते हैं और न उनकी सचाई से नकार कर सकते हैं।

"उसी रूस में मैं जन्मी हूँ, पली हूँ। मैंने भी मार्क्सवाद का खूब अध्यापन किया है, किन्तु जब से होश संभाला, कदम-कदम पर व्यक्तिगत विचारों की खातिर मुझे खूब संघर्ष करना पड़ा। मैंने हृदय पर कितने आघात सहे, इसे मेरे सिवा कौन जानेगा? कितनी ही बार वह मानसिक व्यथा के बोझसे टुकड़े-टुकड़े हो चुका है। पर मैं लौह-पुरुष की बेटी हूँ न! और उससे भी बढ़कर उस क्रान्तिकारी महिला की बेटी हूँ जो अपने शक्तिशाली उसी लौह-पुरुष से भी लोहा लेने से नहीं घबरायी अन्त में बेशक वह टूट गयी, किन्तु झुकी नहीं। उसी डबल स्टील की धारा मेरे नसों में प्रवाहित हो रही है। मैं जानती हूँ, रूस के घनी घोरी मुझे मेरे व्यक्तिगत विचारों को रखने की छूट नहीं देंगे (पृ० १८८)। विचार-स्वातंत्र्य के लिए मैं सब परिणाम भोगने को तैयार थी। आजादी का असली मतलब भी यही समझती हूँ कि अपने ढंग से सोचने और अभिव्यक्त करने की आजादी हो। यदि ऐसा नहीं हो तो सब प्रकार

की आजादी व्यर्थ है। वह तो गुलामी का ही दूसरा नाम है। बल्कि शरीर की गुलामी के बजाय मन की गुलामी तो कहीं अधिक खतरनाक होगी है (पृ० १८९)। मेरी एक साध तो अभी बाकी ही है—व्यक्ति का स्वातंत्र्य, शोषणरहित समाज, व्यक्ति और समाज का समन्वय और अन्त में निर्भय तथा सुखी नये मानव का उदय!" (पृ० १९२)।

वास्तव में स्वेतलाना ने सिद्धान्त की दृष्टि से कोई नयी बात नहीं कही, विचार-स्वातंत्र्य हो, व्यक्ति एवं समाज का समन्वय हो, निरातंक, निर्भय, शांतिपूर्ण ढंग से परस्पर एक दूसरे के प्रति सामंजस्य, सौमनस्य की भावना हो, यही विचारकों का मन्तव्य है। परन्तु एक प्रगतिशील आधुनिकतम देश के सर्वे-सर्वा साम्यवादी अधिनायक की प्रिय पुत्री के मुख से वैसे विचार अवश्य ही आश्चर्यजनक हैं। यह तो सभी दार्शनिक मानते हैं कि शारीरिक गुलामी से कहीं अधिक भयंकर मानसिक गुलामी होती है। किसीको पराजित कर उसके घर एवं सम्पत्ति पर कोई कब्जा कर ले, उसे हथकड़ी-बेड़ी से जकड़ दे, उसकी जबान पर ताला लगा दे, तो भी उस निगृहीत व्यक्ति की यह भावना जागरूक रहती है कि यह घर, यह सम्पत्ति मेरी है। मैं जब भी कभी स्वतंत्र हो सकूँगा हमलावर को पराजित करूँगा। अपनी सम्पत्ति अपने घर पर अधिकार प्राप्त करूँगा। परन्तु यदि उस निगृहीत के मस्तिष्क पर विरोधी का अधिकार हो जाय, उसके विचार बदल दिये जायँ या क्लोरोफार्म आदि औषधों द्वारा उसके मस्तिष्क को विकृत या बेहोश कर दिया जाय तो भले ही वह शारीरिक दृष्टि से स्वतंत्र हो, उसके हाथ-पाँव बन्धनमुक्त हों; तथापि वह पराधीन ही है। वह सम्पत्ति-स्वातंत्र्य की बात भी नहीं सोच सकता। कभी-कभी तो हमलावर को ही मालिक मान बैठता है।

पाश्चात्य देशों के बैन्थम, मिल आदिकों ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य का बहुत समारोह के साथ समर्थन किया था। विश्व के महान् विचारक मनु ने स्वतंत्रता को ही सुख बतलाया है :

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। (मनु० ४.१६०)

अर्थात् परवशता ही दुःख है, आत्मवशता (स्ववशता) ही सुख। सीमित सत्ता, ज्ञान आनन्द, शासन, जीव का रूप है और निःसीम सत्ता आदि ईश्वर का रूप। प्रत्येक प्राणी अपनी सत्ता, ज्ञान आदि को निस्सीम बनाना चाहता है। कोई भी सीमित सत्ता-ज्ञान, सीमित आनन्द, सीमित स्वतंत्रता में सन्तुष्ट नहीं होता। परमात्म-प्राप्ति बिना अपूर्ण में पूर्णता नहीं आती। यद्यपि किसीको राजद्रोह के लिए स्वतंत्र भाषण देने की और विचार व्यक्त करने की छूट कोई भी शासन नहीं दे सकता। साथ ही माता-पिता, गुरुजनों तथा लौकिक सुविधाओं एवं ईश्वरीय संविधानरूप शास्त्रों का नियंत्रण

भी अनिवार्य रूप से सबको मानना पड़ता है, उनका आदर न करने पर तो स्वतंत्रता के नाम पर उच्छृङ्खलता को ही बढ़ावा मिलेगा। नियंत्रण बिना पुरुषार्थसिद्धि भी दुष्कर ही होती है। फिर भी परमात्म-प्राप्ति के पहले और परमात्म-प्राप्ति साधना के लिए भी ईश्वरीय न्याय एवं मानवता के अनुसार कुछ अनिवार्य स्वतंत्रताएँ सभी सभ्य सरकारों को मान्य हैं और होनी चाहिए।

धन, धर्म एवं शिक्षा की स्वाधीनता सभी सभ्य एवं समुचित स्वाधीनता का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वैध एवं बपौती तथा गाढ़े पसीने की कमाई सम्पत्ति में स्वाधीनता मिलनी चाहिए। उसीसे वह धर्म, राजनीति आदि में भी प्रगति कर सकता है। वैसे ही धर्म, उपासना आदि की भी स्वतन्त्रता आवश्यक है। अपने-अपने विश्वास के अनुसार धर्माचरण, ईश्वरोपासना की छूट सबको होनी चाहिए। वेदादि-शास्त्रों के अनुसार तो राजा या शासन सब पर हुकूमत कर सकता है, पर धर्म पर नहीं। धर्म में रद्दोबदल करने का अधिकार राजा को नहीं होता, किन्तु राजा को ही धर्म-नियंत्रित होना चाहिए।

इसी प्रकार शिक्षा में भी शासन का हस्तक्षेप अनुचित है। शिक्षा का धर्म, कर्म, सभ्यता संस्कृति आदि से असाधारण सम्बन्ध रहता है। इसीलिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुवर्ग पुरुषार्थ-प्राप्ति का मूल ज्ञान-विज्ञान शिक्षा पर ही निर्भर होता है। अतः परम्पराप्राप्त ढंग से ही शिक्षा की व्यवस्था कल्याणकारिणी होती है। **सा विद्या तन्मतिर्यया** इस शास्त्रवचन के अनुसार विद्या वही है, जिससे धर्म-ब्रह्म-वृद्धि हो। अतः धर्मनिष्ठा, ब्रह्मोपासना, सदाचार, संस्कृति की पोषक ही शिक्षा होनी चाहिए।

आजकल सरकारें शिक्षा पर भी हावी हो गयी हैं। प्रायः विभिन्न शासन-पद्धतियों के लिए विभिन्न पृष्ठभूमि अपेक्षित होती है। धर्मनियंत्रित रामराज्यीय शासनपद्धति के लिए अध्यात्मवादी राष्ट्र होना आवश्यक है। धर्मनिरपेक्ष भौतिक-वादी शासन के लिए भौतिकवादी राष्ट्र आवश्यक है। इसीलिए शासन-विधान के उपयुक्त राष्ट्र-निर्माण में शिक्षा का उपयोग किया जाता है। परन्तु राज्यलक्ष्मी चपला होती है। अतः यदि शासन के बदलने के साथ शिक्षा में परिवर्तन हो तब तो धर्म, संस्कृति सबमें भी परिवर्तन आ जायगा, क्योंकि शिक्षानुसारिणी बुद्धि एवं बुद्ध्यनुसारिणी इच्छाएँ और फिर तदनुसार ही सब क्रिया-कलाप होने लगते हैं। फिर उससे अनादि या अतिप्राचीन धर्म, दर्शन, संस्कृतियाँ प्रभावित एवं विकृत हो जाती हैं।

रूस, चीन या अन्य देशों में विचार-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध इसीलिए है कि परम्पराप्राप्त शिक्षाओं के अनुसार उपदेश के संस्कार-विचार भौतिकवादी शासन में

फिट नहीं होते। भारत के शासक भी लगभग इन्हीं विचारों से प्रभावित हो रहे हैं, पर यहांके लोग लोकतांत्रिक समाजवाद की बात करते हैं। किन्तु यह भी कोई नयी बात नहीं है। मार्क्स ने पहले ही कहा था कि जिन इङ्गलैण्ड, अमेरिका आदि देशों में 'पार्लमेण्टरी' पद्धति प्रचलित है वहाँ लोकतंत्रात्मक ढंग से भी समाजवाद लाया जा सकता है। वहाँ वर्गसंघर्ष, वर्गविध्वंस या खूनी-क्रांति के बिना भी समाजवाद की स्थापना हो सकती है। परन्तु लोकतंत्र-निर्वाचन-पद्धति से पार्लमेण्ट में बहुमत बनाकर फिर उसीके अनुसार कानून बनाकर वैयक्तिक भूमि, सम्पत्ति, कल-कारखानों, उद्योग-धन्धों का अपहरण कर सबका राष्ट्रीकरण किया जा सकता है। उसीके अनुसार आजकल कहीं व्यापक रूप से कहीं आंशिक रूप से राष्ट्रीकरण किया जा रहा है।

किन्तु राष्ट्रीकरण या समाजवाद स्वयं में लोकतांत्रिक नहीं होते। कहने के लिए वहाँ विचारस्वातंत्र्य होता है। सबको लेख लिखने, भाषण देने, अखबार, पत्र-पत्रिका चलाने का अधिकार होता है, परन्तु परिस्थिति ऐसी बना दी जाती है कि वह सब हो नहीं पाता। भूमि, सम्पत्ति का अपहरण होने से प्रायः सब धनहीन हो जाते हैं। धन के बिना प्रेस, अखबार, पत्र-पत्रिका कैसे चल सकती हैं? पोस्टर, नोटिस, लाऊडस्पीकर बिना सभा कैसे की जा सकती है? पैसे बिना यह सब कैसे हो सकेगा? जहाँ व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति, उद्योग आदि होते हैं, वहीं निष्पक्ष सफल निर्वाचन होते हैं। वहीं अखबार, भाषण आदि द्वारा स्वतंत्र प्रचार और मताभिव्यक्ति हो सकती है। वहीं जनता को नापसन्द सरकार बदलकर मनचाही सरकार बनाने का सार्थक अधिकार रहता है। परन्तु राष्ट्रीकरण के नाम पर जहाँ जनता धनहीन बना दी जाती है, वहाँ तथाकथित अधिकार वैसे ही होते हैं, जैसे पक्षी के पँख काटकर उसे उड़ने की आजादी देना और मनुष्य की टाँग काटकर उसे दौड़ने की खुली छूट या मुकम्मिल आजादी देना। उसी तरह जनता को धनहीन बनाकर, उसको अखबार निकालने सभा करने, निर्वाचन लड़कर सरकार बदलने राष्ट्रपति या प्राइम मिनिस्टर बनने की मुकम्मिल आजादी देना, शुद्ध धूर्तता, मक्कारी या दगाबाजी को छोड़कर और कुछ भी नहीं। यद्यपि लोकतान्त्रिक समाजवादियों के यहाँ रूस आदि के समान लेखकों, साहित्यिकों को यातना-शिविरों में तो नहीं भेजा जाता और न उनको गोली से ही उड़ाया जाता है, फिर भी उनको बेकार अवश्य कर दिया जाता है। सरकारी नीति के समर्थक साहित्यिक लेखक पुरस्कृत होकर फलित, प्रफुल्लित होते हैं। स्वतंत्र विचार या भारतीय दार्शनिक, सांस्कृतिक विचार-धारावाले लोगों की कृतियाँ प्रकाशित ही नहीं हो पातीं। बड़े अखबारों, प्रेसों को सर-कारी सहायता, विज्ञापन देकर उन पर शासक अपना ही वर्चस्व बनाये रखते हैं। उससे भिन्न मत रखनेवालों की चर्चा भी नहीं करते। इस तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति

हरण कर राष्ट्र को निर्धन बना देने के बाद भाषण-स्वातंत्र्य, निर्वाचन-स्वातंत्र्य की चर्चा व्यर्थ ही है। भय एवं आतंक से बनायी लोकप्रियता स्थायी नहीं होती। यह भी स्टालिन के प्रतिवाद में होनेवाले व्यवहारों से स्पष्ट हो जाता है।

रूस में ही नहीं, भारत आदि देशों में भी तो वहाँके कम्युनिस्ट स्टालिन को मानवता के प्रति वरदान मानते और उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। परन्तु जब ख्रुश्चेव द्वारा स्टालिन की खुले आम समालोचना का समाचार देश-विदेश में पहुँचने लगा, तब उनकी स्थिति विचित्र-सी हो गयी। यह आमतौर पर देखा जाता है कि किसी प्रभावशाली व्यक्ति के सम्बन्ध में अनेक दैवी शक्तियों की कहानियाँ जोड़ दी जाती हैं। भारत में एक ही कहानी पृथक्-पृथक् दो व्यक्तियों में जुड़ी सुनने को मिली। उनके माता-पिता के सन्तान नहीं होती थी तो वे एक महात्मा के पास गये जो बड़े सिद्ध थे। उनसे सन्तान की प्रार्थना की। उन्होंने कहा : 'तुम्हारे भाग्य में तो सन्तान है ही नहीं।' माता-पिता ने कहा : "हम तो बिना वरदान लिये जायँगे ही नहीं।' महात्मा ने कहा : 'अच्छा, जाओ फिर मुझको ही तुम्हारे यहाँ आना पड़ेगा।' दूसरे दिन देखा गया तो वहाँ महात्माजी का शव ही पड़ा मिला, बाद में जो सन्तान उत्पन्न हुई, उसे महात्माजी का ही प्रादुर्भाव माना गया। अतः स्टालिन को राष्ट्रपिता और दैवीशक्ति का विशेष प्रतिनिधि माना जाना आश्चर्य की बात नहीं।

'स्वेतलाना' पुस्तक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रूस में वैयक्तिक खेती के स्थान में सामूहिक खेती पर पहले बहुत बल दिया गया था और उसके लिए सम्पन्न किसानों को अपना सर्वस्व गँवाना पड़ा था। उसके कारण करोड़ों को बेकारी तथा मृत्यु का शिकार बनना पड़ा था। किन्तु स्टालिन के पश्चात् रूसी शासकों को भी सामूहिक खेती का दुष्परिणाम विदित हो गया। किसानों को वैयक्तिक खेती में जो ममत्व एवं तत्परता होती है, वह बात सामूहिक खेती में नहीं बन पाती। तभी तो इतने दिनों सरकारी तौर पर उत्तमोत्तम ढंग के औजारों, उपकरणों, रासायनिक खादों की बड़ी मात्रा में उपयोग करने पर भी रूस अन्न की दृष्टि में अमेरिका से पिछड़ा ही नहीं, आत्मनिर्भर भी नहीं हो सका। वहाँके किसानों का 'लेनिन ने हमें जमीन दी, स्टालिन ने हमसे वह छीन ली" यह नारा उसी असफलता का परिणाम है। पिछले दिनों तो सुना गया था कि रूसी-सरकार फिर से वैयक्तिक खेती बनाने का विचार कर रही है।.

भारत में तो अभी साम्यवादी देशों का ही अन्धानुकरण किया जा रहा है। व्यक्तिगत खेतों में छोटे-छोटे खेतों के कारण और उच्चस्तरीय औजारों एवं खाद आदि के दौर्बल्य के कारण अन्नोत्पादन में प्रगति नहीं हो सकती। अतः बढ़ती हुई

जनसंख्या को देखते हुए विशाल मात्रा में अन्नोत्पादन आवश्यक समझा जा रहा है। आधुनिकतम यन्त्रों एवं खादों को प्रयोग करने के लिए सामूहिक खेती अत्यावश्यक समझी जा रही है। इतना ही नहीं, स्वावलम्बी किसानों की हल-बैलों द्वारा होनेवाली खेती को अनावश्यक समझा जा रहा है। इसीके कारण बलवान् बैलों एवं स्वास्थ्यकर खादों एवं बहुमूल्य खादों के मूलस्रोत गोधन को समाप्त करके विदेशों को गोमांस, गोचर्म आदि का निर्यात करके डालर कमाने एवं खेती के यांत्रिक औजारों और रासायनिक खादों का आयात करने का प्रयास किया जा रहा है।

अवश्य ही स्टालिन ने परमाणु, उद्‌जन-बम आदि तथा अन्यान्य अस्त्र, शस्त्रों, विध्वंसक पोतों वायुयानों तथा आधुनिक अन्य साज-सामानों का निर्माण एवं विस्तार किया है। उनके बाद भी इन कामों की प्रगति जारी है। विशिष्ट लोगों के जीवनस्तर भी उन्नत हुए हैं, पर जनसामान्य की शिक्षा, रोटी-कपड़ा एवं चिकित्सा-सौविध्य की व्यवस्था नगण्य हो है। इस तरह पसीने की कमाई का उपयोग भी विशिष्ट लोगों के ही काम में होता है।

यद्यपि समाजवाद में विशिष्ट व्यक्तियों की अपेक्षा समष्टि जनसामान्य की सुख-सुविधाओं का ही अधिक ध्यान रखना संगत था। कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट राजा-महाराजाओं, सामन्तों, जमींदारों की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि 'ये सब शोषक हैं। सामान्य जनसमूह के हिस्से की सम्पत्ति भी शोषण कर अपने ऐशो आराम में खर्च करते हैं। परन्तु स्वेतलाना के वर्णनानुसार तो वहाँ जनसामान्य दुःखी हैं, साधनहीन है, वह अन्यायों, अत्याचारों का शिकार हो रहा है। विशिष्ट नेताओं की सुख-सुविधाएँ राजा महाराजाओं से भी अधिक हैं। स्वेतलाना की शादी करने में स्टालिन ने दो लाख पौण्ड खर्च किये। विविध प्रकार की प्रसिद्ध विदेशी उत्कृष्ट शराबों की नदियाँ बहा दीं। कई सप्ताहों तक दावतें चलती रहीं। क्या साम्राज्यवादी, पूँजीवादी, सामन्तवादी इससे अधिक सार्वजनिक धनों का दुरुपयोग करते हैं ?

मार्क्सवादीय समाजवाद का लक्ष्य ही है कि कोई किसीका शोषण न करे। सभीको योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार काम, दाम, आराम प्राप्त हो। सभी को शिक्षा और काम चुनने और उसका समुचित फल पाने का समान अवसर मिलना ही साम्यवाद है। परन्तु उस अवस्था को लाने के लिए मार्क्स ने राज्य-लोप भी आवश्यक बतलाया था। जैसे कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य बिना सेना-पुलिस का सहारा लिये, बिना पार्लमेण्ट एवं अदालत का दरवाजा खटखटाये आपसी तौर पर ही सब सुख-सुविधा प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही राष्ट्र एवं अन्ताराष्ट्रिय जगत् के सभी नागरिक बिना राज्य के भी आपसी तौर पर सब व्यवस्था कर लेंगे।

अतएव सर्वहारा के 'डिक्टेटरशिप' में एकबार क्रान्ति होने के बाद राज्य-लोप के लिए पार्लमेण्ट एवं राज्यपालिका, न्यायपालिका पुलिस, सैन्य-संगठन आदि सबका भंग होना आवश्यक है। लाल-सेना एवं पुलिस तथा गुप्तचर-विभाग के संगठन की सरगर्मी देखकर लेनिन के मित्रों ने लेनिन के सामने राज्य-लोप का प्रश्न उठाया था, परन्तु लेनिन ने उत्तर दिया था कि 'जबतक सभी देशों में मजदूर-क्रान्ति नहीं होती, सभी देशों से पूंजीवाद का अन्त नहीं हो जाता तबतक संक्रमण-काल है और तबतक सर्वहारा का डिक्टेटरशिप ही साम्यवाद के अभ्युदय के अनुकूल है। अन्यथा शीघ्र ही साम्राज्यवादी हमें समाप्त कर देंगे।' संक्रमण-काल के नाम पर रूस के नेता अन्ताराष्ट्रिय साम्यवादी आंदोलन को शिथिल कर अपने राष्ट्र को ही शक्तिशाली बनाने में जुट गये और यद्यपि बहुत अंशों में शक्तिशाली भी हो गये, पर साम्यवाद का लक्ष्य छूट गया। साम्राज्यवाद के स्थान पर नियंत्रणशून्य शुद्ध अधिनायकवाद और उसकी सभी प्रतिक्रियाएँ रूस में खुलकर व्यक्त हो गयीं।

वस्तुतः ईश्वर एवं धर्म के सम्बन्ध बिना किसी भी प्राणी का वैयक्तिक जीवन संस्कृत-नियंत्रित नहीं होता। उसके बिना समाज भी सुसंस्कृत नहीं होता, क्योंकि व्यक्तियों का समुदाय ही तो समाज है। कितने भी सुन्दर नियम एवं कानून क्यों न हों, धार्मिक, समाजहितैषी योग्य व्यक्तियों के नेतृत्व बिना वे निरर्थक होकर आलमारियों में पड़े-पड़े सड़ते ही रहते हैं। साम्यवादियों की दृष्टि में अविकसित आदिम साम्य-संघ के अतिरिक्त विकसित साम्य-संघ ऐतिहासिक नहीं है। अर्थात् कभी भी राष्ट्रिय या अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर राज्यहीन ऐसा साम्य-संघ नहीं रहा, जिसमें शासन, सरकार, राज्यपालिका, न्यायपालिका आदि के बिना भी सब सुव्यवस्था रही हो। परन्तु भारतीय शास्त्रीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से राज्य, राजा आदि से विहीन सुखी-सन्तुष्ट समाज का होना अनैतिहासिक नहीं। महाभारत के अनुसार कृतयुग में सम्पूर्ण प्रजा ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न, धार्मिक एवं परस्पर पोषक और रक्षक होने के कारण राज्य एवं राजादि से निरपेक्ष, सुखी तथा सन्तुष्ट थी :

न वै राज्यं न राजासीत् न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

(महाभा० शान्ति ५९. १४)

अर्थात् उस समय न राज्य था, न राजा और नहीं कोई दाण्डिक या दण्डविधान ही था। फिर भी वहाँ कोई अव्यवस्था नहीं थी; क्योंकि सभी धर्म-ब्रह्मनिष्ठ थे। अमृतस्य पुत्राः (ऋ० सं० १०. १३ १) के अनुसार सब सबको अमृत का पुत्र समझते थे। धर्मदृष्टि से भी सब परस्पर पोषक, रक्षक, हितचिन्तक ही थे। कोई किसीका शोषक, भक्षक या अनिष्टचिन्तक नहीं था। धर्म-ब्रह्मनिष्ठा के बिना ऐसा होना सम्भव भी नहीं।

इसीलिए तो जब कालक्रम से उस परंपरा में रज एवं तम का प्रवेश हुआ और उनका धर्म-ब्रह्म-ज्ञान धूमिल हो गया तथा लोभ, राग, द्वेष और क्रोध आदि का उदय हुआ तब उनमें भी मात्स्यन्याय फैल गया। उसी मात्स्यन्याय के निवारण के लिए राज्य-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। परन्तु भौतिक साम्यवाद एवं समाजवाद में तो ब्रह्म-धर्म के लिए कोई स्थान ही नहीं है। फिर तो बात भले ही ऊँची-ऊँची बहुत-से लोग कर लेते हों, परन्तु समष्टिहित के नाम पर प्रायः सभी व्यक्ति-हित के जंजाल में फँस जाते हैं। जैसे धर्महीन अनियंत्रित राजतंत्र में कण्टक-शोधन के नाम पर अपरिगणित व्यक्तियों (जिनमें बहुत निरपराध भी होते थे) की समाप्ति भी की जाती थी, वैसे ही आजकल साम्यवादी देशों में सफाया या मस्तिष्क-मार्जन के नाम पर लाखों निरपराधियों को यातना-शिविरों में भेजा या गोली से उड़ा दिया जाता है।

भारत आदि कई देश समाजवाद को ही 'जनतांत्रिक समाजवाद' कहते हैं। उसमें प्रत्येक नागरिक को अपना मत व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति को पार्टी बनाने, चुनाव लड़ने, अखबार निकालने, सरकार को आलोचना करने का अधिकार मान्य होता है। परन्तु जनता को इतना धनहीन बना दिया जाता है कि उसको अखबार निकालने, इलेक्शन लड़ने, नापसन्द सरकार बदलकर मनचाही सरकार बनाने का अधिकार होने पर भी वह कुछ कर नहीं पाती। जैसे किसी पक्षी का पंख काटकर उड़ने की मुकम्मिल आजादी देना या मनुष्य के पाँव काटकर दौड़ने की खुली छूट देना शुद्ध मक्कारी ही है, ठीक वैसे ही जहाँ चुनाव इतना महंगा हो गया हो कि लाखों रुपये खर्च होते हैं, जहाँ जनता के पास तन ढँकने को वस्त्र और पेट भरने को रोटी एवं बीमार बच्चे के इलाज के लिए दो पैसे भी न मिल पाते हों वहाँ एम०पी०, एम०एल०ए० या राष्ट्रपति बनने की स्वतंत्रता देने की बात भी मक्कारी ही है। भारत को ही लीजिये, पचास करोड़ मनुष्यों में से पचास लाख भी मनुष्य ऐसे नहीं मिल सकते जो चुनाव की जमानत का ही ढाई या पाँच सौ रुपया भी आसानी से निकाल सकें।

यद्यपि यहाँके मजदूरों, किसानों की गरीबी मिटाने, कंगालों की कंगाली दूर करने के नाम पर राजाओं एवं जमींदारों, जागीरदारों तथा बड़े काश्तकारों को खत्म किया गया, परन्तु किसान-मजदूरों की गरीबी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, उनको

इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। राजाओं, जमींदारों के खत्म होने से उनको मिलनेवाला लाभ किसानों के जेब में जाना चाहिए था, परन्तु वैसा न कर उससे धनवान् ही अधिक धनी हुए। मुट्ठीभर पूंजीपति करोड़पति से अरबपति हो गये। शासनारूढ़ पार्टी से संबंद्ध लोग अवश्य सुखी हुए हैं। शासनारूढ़ पार्टी एवं अन्य सबल पार्टियों के लोगों को चुनाव लड़ने के लिए करोड़ों रुपये मिल जाते हैं। चुनाव पूंजीपतियों, कंपनियों के हाथ का खिलौना हो गया है। पहले राजाओं, जमींदारों के साधारण खर्चों की तीव्र आलोचना की जाती थी। परन्तु आज प्राइम मिनिस्टर एवं मिनिस्टरों की रक्षा के लिए लाखों गुप्तचरों, प्रत्यक्ष पुलिस-दलों का उपयोग किया जाता है। कहा जाता है कि केवल प्राइममिनिस्टर के ही ऊपर प्रतिघण्टा लाखों रुपया खर्च होता है। चुनाव के दौर में एक-एक स्टेज बनाने में सत्तर-सत्तर, अस्सी-अस्सी हजार रुपये खर्च किये जाते हैं। एक वाइसराय की रक्षा पर नियुक्त कुछ सैकड़े पुलिसों की नियुक्ति देखकर गांधीजी ने उसकी तीव्र आलोचना की थी, पर अब उन्हींके लोकप्रिय कहे जानेवाले उत्तराधिकारियों की स्थिति तो सर्वथा अवर्णनीय है।

अतः स्पष्ट है कि जबतक भारतीय नीतिशास्त्रों एवं धर्मशास्त्रों के अनुसार धर्मनियंत्रित शासनतन्त्र नहीं चलेगा तबतक सुख-शान्ति, सुविधा, समता और न्याय दुर्लभ ही रहेगा। ●

६. भारत में जनतन्त्र

इस समय प्रचलित शासन-पद्धतियों में सबसे अच्छी 'जनतंत्र-शासनपद्धति' ही मानी जाती है। इसीलिए अधिनायकवादी लोग भी जनस्वीकृति के लिए जनमत का संग्रह करते हैं। यद्यपि उनके यहाँ शासनारूढ़ पार्टी के विरुद्ध कोई व्यक्ति या पार्टी चुनाव लड़नेवाली नहीं होती और न कोई उनके विरुद्ध लेख-भाषणादि ही प्रकाशित करा सकता है। तब भी वोट डालने का काम वहाँ भी होता है। 'राजतंत्र' का फिर से पनपना निकट भविष्य में संभव नहीं। 'अधिनायकवाद' (डिक्टेटरशिप) से लोगों को घृणा है। जनतंत्र में शासन की सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित होती है। जनता के लिए, जनता द्वारा जनता का शासन ही 'जनतंत्र-शासन' कहलाता है। किन्तु वह तभी सफल होता है, जब जनता सावधान, सतर्क एवं जागरूक रहे। तभी तो जान लाक ने कहा था : "स्वतंत्रता बहुत अच्छी वस्तु है, पर जब उसके साथ उसकी सगी बहन सतर्कता रहे तभी। उसके बिना तो आत्महत्या की स्वतंत्रता से अधिक उसका कोई मूल्य नहीं।" साथ ही उस जनतंत्र के लिए यह भी आवश्यक है कि चुनाव इतना सस्ता हो कि जिससे राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक उसे लड़ने में सक्षम हो। अर्थात् जनता के पास इतनी सम्पत्ति हो कि वह आसानी से चुनाव की जमानत दाखिल कर सके। कुछ पोस्टर, नोटिस, जीप, लाउडस्पीकर आदि का प्रबन्ध कर सके।

आज भारत में जनतंत्र-शासन घोषित है। कहा जाता है कि इस जनतंत्र शासन में प्रत्येक नागरिक को एम० पी० या राष्ट्रपति होने का अधिकार है। जनता नापसन्द सरकार बदलकर मनचाही सरकार बना सकती है। सबको अखबार निकालने, सरकार की समालोचना करने का अधिकार है। परन्तु दुर्भाग्यवश वस्तु-स्थिति यह है कि ५० करोड़ मनुष्यों में से मुश्किल से ५० लाख ही ऐसे निकलेंगे जो जमानत दाखिल करने की स्थिति में हों, बाकी लोगों की हालत ठीक इसके विपरीत ही है।

आज तन ढाँकने को वस्त्र एवं पेट भरने को रोटी और बीमार बच्चे के लिए इलाज की सुविधा सबको सुलभ नहीं, फिर वास्तविक अर्थ में जनतंत्र कहाँ ? जनता में चुनाव के कारण ही प्रान्तों, नगरों, गाँवों में, घर-घर फूट एव पार्टीबन्दी बढ़ रही है। लाइसेंसों एवं नौकरी आदि की सुविधाओं के प्रलोभनों से ही अधिकांश जनता अपने वोटों का प्रयोग करती है। इसीलिए थोड़े-थोड़े पैसों के प्रलोभनों का

आसानी से जनता पर असर पड़ जाता है। फलस्वरूप जनतंत्र के नाम पर भीषण पतन, अनैतिकता तथा भ्रष्टाचार का विस्तार हो रहा है।

बिहार के एक विशिष्ट मजिस्ट्रेट ने बताया कि इस समय के चुनाव में इतना बड़ा अपराध हुआ है कि उसका दण्ड हमारे दण्डविधान में ढूंढ़ने से भी नहीं मिलता। उन्होंने कहा कि "एक जगह पचीस लठैत आये और उन्होंने कहा कि 'हमारी पंचायत ने तय कर लिया है कि सब बैलट-पेपर दे दो, हम सब वोट डलवा लेंगे। लाचार होकर अधिकारियों को सब दे देना पड़ा और उन लोगों ने अभीष्ट पार्टी को वोट डलवा दिया।" एक वकील ने बताया कि 'एक जगह एक प्रसिद्ध गुण्डा रिवाल्वर लेकर खड़ा हो गया और लोगों से उसने अपने अभीष्ट पार्टी के चिह्न पर मोहर लगवा ली। किन्हीं एजेण्टों को उसके सामने कुछ बोलने या कार्यवाही करने की हिम्मत नहीं पड़ी।' एक स्त्री ने चार सौ वोट अकेले डाले। गुण्डों के भय से किसीको कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। एक जगह एक स्त्री ने रखे हुए २० बैलट-पेपर उठा लिये, अफसर को उसे पकड़ने की हिम्मत न पड़ी, क्योंकि उसने देखा तो पीछे घातक शस्त्र लिये लोग खड़े थे।

एक गाँव के निर्वाचन-स्थल में लगभग १५ लोग आये और बोले कि "यहाँ का फैसला है कि हम लोगों को आठ सौ बैलट-पेपर दे दो, नहीं तो हम लोग तुम लोगों को खत्म कर देंगे।" और उन्होंने २-२॥ बजे ही मतपत्र-पेटिका बन्द करा दी। दूसरे पक्ष के लोग आ गये, उन लोगों ने आग्रह किया कि हम लोग वोट डालेंगे, तो मारकाट की नौबत आयी!

कहीं एक जगह लोगों ने निर्णय कर लिया कि अमुक पार्टी को ही वोट देंगे। एक व्यक्ति को दूसरे को वोट देते देख लिया तो उसकी खूब पिटायी हुई। इससे आतंक बढ़ गया। लोग वोट डालने आये ही नहीं, दो-चार लोगों ने सभी वोट डाल दिये। अनेक स्थलों में आतंक से डरकर लोग वोट डालने हो नहीं गये, फिर भी दो चार लोगों ने सब वोट डाल दिये। कहीं पुलिस की ट्रक आ गयी तो वहाँ ऐसे काण्ड नहीं हो सके। परन्तु बिहार में इतना अपर्याप्त पुलिस का प्रबन्ध था कि उसका कोई असर नहीं पड़ सका।

पटना के विभिन्न बूथों पर एक-एक व्यक्ति ने कहीं १७, कहीं १२ तो कहीं ११ बार वोट डाले। वोट डालने के पहले जो निशान स्याही का लगाया जाता है, उसे २ मिनट में ही मिटा दिया जाता है। जनसंघ एवं कम्युनिस्टों में इस प्रकार के बोगस वोट डलवाने में होड़ लग रही थी। कहा जाता है कि विभिन्न स्थानों में इस

प्रकार के विशेषतः मुस्लिम औरतों के बुर्कों द्वारा अधिकाधिक बोगस वोट खुलकर डलवाये गये।

जनसंघियों ने वोट के लिए विभिन्न नारों एवं पोस्टरों से काम किये, कहीं तो 'हर हाथ को काम, हर खेत को पानी, घर-घर को दीपक, जनसंघ की निशानी' ये नारे थे तो कहीं-कहीं 'गोहत्या बन्द कराना चाहो तो जनसंघ को वोट दो !' कहीं 'अध्यात्म और धर्म की रक्षा चाहो तो जनसंघ को अपना वोट दो' तो कहीं 'जनसंघ को वोट दो, नहीं तो कम्युनिस्ट जीत जायगा !' कहीं 'हिन्दुत्व को बचाओ, जनसंघ को वोट दो !'

इन नारों के प्रभाव से कितने ही आस्तिक, कितने ही साधु-महात्मा, कितने ही पण्डित भी इनकी कूटनीति के शिकार बन गये। पर उन्हें यह पता ही नहीं था कि इनका धर्म, इनका अध्यात्म क्या है ! ये किसी धर्मग्रन्थ या शास्त्र का प्रामाण्य नहीं मानते। इनके धर्म में सबकी रोटी-बेटी एक होती है। इनका धर्म इनकी निजी कल्पनामात्र है। स्वतन्त्र-पार्टी भी कभी-कभी धर्म का नाम लेती है। पर उनके महान् नेता राजगोपालाचारी ने ब्राह्मण होते हुए भी अपनी कन्या गांधीजी के लड़के को ब्याही दी, जो वैश्य थे।

कांग्रेसी लोग चमार-भंगियों को धर्म की कसम दिलाकर वोट का सौदा तय करते रहे हैं, यद्यपि कांग्रेस में किसी शास्त्र या धर्म का कोई स्थान नहीं। कांग्रेसी शासन में डालर कमाने के लिए बराबर हजारों, लाखों, गायों, बैलों की हत्या की जाती हैं, फिर भी जनता ने 'बैल की जोड़ी' के नाम पर उन्हें भी वोट दिया। ऐसे ही जनसंघी शास्त्र और धर्म के विरुद्ध 'धर्मयुद्ध' छेड़ने की बात करते हैं। हिन्दुत्व के नाम पर जनता ने उन्हें भी वोट दिया।

कांग्रेसी, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, जनसंघी सभी जाति-पांति के घोर विरोधी, खान-पान, रोटी-बेटी एक करके जात-पांत मिटाने के प्रयत्न में ही तल्लीन रहते हैं। पर चुनाव के समय सब पर जात-पांत का भूत हावी हो जाता है। कहा जाता है कि ४० प्रतिशत बोगल वोट गत मध्यावधि चुनाव में पड़े, तो ९० प्रतिशत जात-पांत के नाम पर पड़े। सिर-फुड़व्वल भी खूब हुई। कहीं कांग्रेसी पिटे, कहीं जनसंघी पिटे। बी०के०डी० भी इन कामों में पीछे नहीं रहा। 'जाट की बेटी जाट को, जाट की रोटी जाट को, जाट का वोट जाट को' इस प्रकार जात-पांत के नारे खूब चले। आनन्दमार्गियों की भी एक 'प्रोटेस्ट-पार्टी' बन गयी। आनन्द-मार्ग वेदशास्त्र तथा वैदिक धर्म, जात-पांत चोटी या जनेऊ कटाकर ईसाइयत जैसे मत का प्रचारक एक सम्प्रदाय है। सुना गया है कि उसको ईसाई राष्ट्रों से बड़ी सहायता मिलती है,

क्योंकि ईसाइयत फैलाने में सबसे बड़ी बाधा हिन्दूशास्त्र एवं जाति-पाँति ही है। उनके भी झण्डे, पोस्टर, बिल्ले खूब बँटे।

प्रायः प्रसिद्ध सभी पार्टियों को विदेशी एवं देशी पूंजीपतियों से खूब धन की सहायता मिली। विभिन्न कम्पनियाँ एवं पूंजीपति खुलकर पैसा देते हैं और अपने लाभ का सौदा करते हैं। असल में चुनाव एक तरह से पूंजीपतियों का ही खेल हो गया है। तभी तो एक-एक एम० एल० ए० के चुनाव क्षेत्र में डेढ़-डेढ़ सौ जीपों एवं ट्रैक्टरों का दौरा हो रहा था। हजारों हजार कार्यकर्ता एक-एक उम्मीदवार की तरफ से दौड़ रहे थे। पूंजीपति लोग करोड़ों खर्च कर एम० एल० ए०, एम० पी० लोगोंको खरीद लेते हैं। अगर अरबों खर्च करने पर एक प्रांत की सरकार भी हाथ में आ जायँ तो उसमें घाटा नहीं समझा जाता। समाचार-पत्रों पर एक दृष्टि डालने और 'नीर-क्षीर-विवेक' न्याय से विचार करने पर वास्तविकता सामने आ जाती है।

ऐसी अवस्थाओं को देखकर बहुत से सज्जन आस्तिक निर्वाचन एवं राजनीति से ही दूर रहने की बात करते हैं और गुण्डों ने राजनीति को अपनी बपौती मिल-कियत समझ लिया है। परन्तु यदि सत्पुरुष, आस्तिक, सद्गृहस्थ राजनीति में न आयेंगे तो भ्रष्टाचार उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ता ही जायगा। फिर सुख-शान्ति एवं न्याय की आशा दुराशा ही होगी। अन्याय, भ्रष्टाचार का प्रभाव राष्ट्र के साधु-असाधु सभी लोगों पर पड़ सकता है। कुशासनका ही प्रभाव है कि आज हर-एक के लिए झूठ बोलना, बेईमानी करना, घूस देना एक सामान्य-सी बात हो गयी है। आज लोग इसे पाप ही नहीं समझ रहे हैं। बड़े-बड़े उपदेशक एवं धर्मप्राण लोग भी इन दोषों में लिप्त पाये जाते हैं।

भारत के राजा-रईस, जमींदार, जागीरदार समाप्त कर दिये गये। सेठ, साहूकार भी अधिकांश समाप्तप्राय हैं। मुट्ठीभर कम्पनियाँ एवं उनके मालिक बचे हुए हैं। वे भी इसलिए कि सरकार एवं सरकारी विशिष्ट लोगों को इन लोगों ने अपने हाथों में कर रखा है। तभी तो यद्यपि समाजवाद के नाम पर या गरीबों-मजदूरों, किसानों की गरीबी, भुखमरी मिटाने के नाम पर राजाओं, नबाबों, जमींदारों, जागीरदारों को समाप्त कर दिया गया। परन्तु बड़े पूँजीपतियों एवं उनकी कम्पनियाँ अभी भी बची हुई हैं, यद्यपि समाजवाद के अनुसार सभी उत्पादन-साधनों का राष्ट्रीकरण होना अनिवार्य माना जाता है।

जो भी धनवान् बाकी बचे हैं, वे शक्तिशाली पार्टियों के निर्वाचन की सहायता के नाम पर खूब धन देकर अपनी रक्षा की गारण्टी प्राप्त करना चाहते हैं। आज शक्ति एवं धन का ही महत्त्व है। सिद्धान्त, धर्म, ईश्वर, शास्त्र का कोई मूल्य नहीं

है। धर्मप्राण कहे जानेवाले मन्दिर, तिलक, पूजापाठ में लगे रहनेवाले लोग भी शक्ति की ही ओर दृष्टि रखते हैं। परन्तु उनका भीतर से कोई ईमान या धर्म नहीं है। वे कांग्रेस, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, जनसंघ, किसी की भी पूजा करने को तैयार हैं। चाहे वे धर्मध्वंसक हो, गोघातक हों, जाति-पाँति के नाशक हों, कुछ भी हों इसमें उनको कुछ भी प्रयोजन नहीं। रामराज्य-परिषद् जो कि धर्म, धन, जाति, संस्कृति एवं वैध बपौती मिलकियत की रक्षा के लिए ही काम कर रही है, उसकी गणना इनकी दृष्टि में कुछ भी नहीं है।

ऐसी स्थिति में नितान्त आवश्यक है कि उस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय। निर्भीक विद्वान् एवं सन्त सामने आयें तथा इस तमस्तोम का भेदन (पर्दाफाश) कर शुद्ध दार्शनिक, धार्मिक राजनीतिक तत्त्वज्ञान प्रकट कर राष्ट्र को जागरूक एवं सतर्क करें।

यद्यपि यह काम बहुत लम्बे समय का और कष्टसाध्य है, क्योंकि अन्धकार, भ्रान्ति बहुत व्यापक है, तथापि दुःसाध्य नहीं है। साथ ही सिवा इसके दूसरा मार्ग भी नहीं है। शास्त्र, धर्म एवं संस्कृति की रक्षा का यही एकमात्र मार्ग है। धर्म अधर्म, नीति-अनीतिका विवेक-विज्ञान उन्मीलित हो। ज्ञान-विज्ञान सिद्धान्त, दर्शन बहुत अच्छा होने पर भी जबतक तदनुरूप आचार नहीं होता तबतक भक्ति, ज्ञाननिष्ठा भी सुसम्पन्न नहीं हो सकती। पहले राजनीति का क्षेत्र सीमित रहता था। धर्म, कर्म, आचार-विचार में ज्ञान-विज्ञान में जनता स्वतन्त्र थी। परन्तु अब राजनीति सभी क्षेत्रों पर हावी हो रही है। सत्ता हथियाने के लोभ से अधिकाधिक लोग राजनीति में शामिल हो रहे हैं। देश में पचासों राजनीतिक पार्टियाँ बन चुकी हैं। झूठ, जाल-फरेब, दगाबाजी चारों ओर बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में सत्य, सदाचार, सच्चरित्रता, शालीनता का अत्यन्त ह्रास होने से धर्म, भक्ति, ज्ञान के अस्तित्व की रक्षा भी कैसे हो सकेगी ?

अतः अध्यात्मवाद पर आधृत धर्म-नियंत्रित शासनतंत्र का सिद्धान्त माननेवाली, रामराज्य-परिषद् जैसी भारतीय धर्मशास्त्रों एवं नीतिशास्त्रों से अनुप्राणित राजनीतिक संस्था को सबल बनाना अत्यावश्यक है। सन्त, साधु, आचार्य, विद्वान्, सद्गृहस्थ, धनिक, निर्धन, व्यापारी, किसान, मजदूर, मिलमालिक सब मिलकर रामराज्य-परिषद् को सहयोग देकर इस दूषित वातावरण का अन्त करने में सहायक बनें। जहाँतक सिद्धान्त एवं तर्क का प्रश्न है, आज कोई पार्टी या नेता रामराज्य के तर्कों, सिद्धान्तों के सामने खड़े नहीं हो सकते। 'मार्क्सवाद और रामराज्य' जैसे ग्रन्थों एवं शास्त्रों तथा शास्त्रोक्त सदाचार सद्धर्मयुक्त सिद्धान्तों का निर्भीक प्रचार

होना चाहिए तथा सिद्धान्तवादी दैनिक, साप्ताहिक पत्रों का भी विस्तार होना चाहिए। तदर्थ धार्मिक धनिकों को मुक्तहस्त होकर सहायता-प्रदान का पुण्यलाभ करना चाहिए।

साथ ही जनसाधारण को भी परमुखापेक्षी न होकर "उपस्थितस्य गतिश्चिन्तनीया" के अनुसार इस गयी-बीती हालत में भी जो हो सकता है, उसे करने का प्रयास करना चाहिए। यह ठीक है कि अधिकांश धनिक, सन्त-महन्त तथा विद्वान् शक्ति के पीछे जाते हैं। सिद्धान्त, सदाचार उनकी दृष्टि में नगण्य ही होता है। फिर भी तत्त्वज्ञानी धनिकों, विद्वानों एवं सन्तों का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है। कुछ न कुछ लोग हैं ही। प्राचीन काल में भी सोने की लंकावाले रावण के साथी अधिकांश होते थे और उसीसे लाभ भी समझते थे। परन्तु हनुमान, अंगद जैसे वास्तविक अर्थ में धर्मवीर भी थे, जो सोने की लंका की परवाह न कर सदाचारनिष्ठ राम के ही साथी बने यद्यपि राम के पास भोजन-सामग्री (राशन) एवं शस्त्रास्त्र का भी प्रबन्ध नहीं था। अतः ईश्वर पर दृढ़तापूर्वक भरोसा रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए। किसी दिन सफलता अवश्य चरण-चुम्बन करेगी, यही बात ध्यान में रखनी चाहिए : उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत। ●

२०. कौटिल्य और अध्यात्म

कौटिल्य की दृष्टि से मनुष्ययुक्त भूमि ही अर्थ है। भूमि, जनपद एवं जन तीनों मिलकर 'राष्ट्र' होता है। उनमें भी भूमि एवं देश अंग हैं और जन है अंगी। राष्ट्र तभी धर्म, अर्थ, काम से समृद्ध होता है जब धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय, सदाचारी, न्यायशील राजा हो। प्रजारक्षण की दृष्टि से ही राजा को हिंसा का भी आश्रय लेना पड़ता है।

धर्म्यामारेभिरे हिंसामृषिकल्पा महीभुजः।
तस्मादसाधून् पापिष्ठान् निघ्नन् दोषैर्न लिप्यते ॥

(कामन्दकीय-नीतिसार ६. ५)

अर्थात् ऋषिकल्प राजा लोग भी धर्म के लिए ही हिंसा का आश्रयण करते थे। असाधु एवं पापिष्ठ लोगों का वध करता हुआ भी राजा उस दोष से लिप्त नहीं होता। प्रजा-रक्षणार्थं ही कूट युद्धनीति का भी सहारा लिया जाता है।

सुनियतमुपहन्यात् कूटयुद्धेन शत्रून्,
तिरयति नहि धर्मं छद्मना शत्रुघातः।

(काम० नीति० १९.७१)

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह कूटयुद्ध से भी शत्रु का वध करे। यह छद्म द्वारा भी शत्रुघात धर्म का बाधक नहीं होता। इसी श्लोक को जयमंगला टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है :

विषेण हे माधव मायया वा शस्त्रेण गोविन्द तथाग्निना वा।
यैस्तैरुपायैररविन्दनाम शत्रोर्वधं वेदविदो वदन्ति ॥

अर्थात् हे माधव ! विष, छल, शस्त्र या अग्नि जिन किन्हीं उपायों से अधार्मिक एवं प्रजाबाधक शत्रु का वध करना चाहिए, ऐसा वेदविदों का मत है। इसी दृष्टि से इन्द्र ने छल-छद्म से भी वृत्र आदि सहस्रों-लक्षों असुरों का संहार किया। महाभारत की राजनीति में भी इसका समर्थन है। धर्मरक्षा और सदाचार-प्रवर्तन की दृष्टि से प्रबल दुर्वृत्त लोगों का ही, जिनके द्वारा कोटि-कोटि निरपराध साधु पुरुषों का धन-धर्म प्रतिक्षण संकटग्रस्त रहता है, कूटयुद्ध छल-छद्म से वध अनुमत होता है, अन्यथा नहीं।

भारतीय नीति की दृष्टि से धर्म से अर्थ एवं अर्थ से काम की प्राप्ति तथा काम से सुखलाभ माना गया है। जो युक्ति से उनका सेवन नहीं करता, वह अर्थ-काम को नष्ट कर स्वयं को भी नष्ट करता है :

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः।
आत्मानं हन्ति तौ हत्वा युक्त्या यो न निषेवते ॥

(काम० नीति० १.५१)

किन्तु और ऊँची दृष्टि से तो धर्मका मुख्य फल मोक्ष ही है और अर्थ उसका गौण-फल है। काम का परम प्रयोजन जीवनधारण है, इन्द्रिय-तृप्ति गौणफल है। जीवनधारण का भी मुख्यफल तत्त्वजिज्ञासा है, अन्य सब गौण है :

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

(भागवत १.२.९-१०)

काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा।
विड्वराहादिदेहेन ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम् ॥

(सम्बन्धवार्तिक ११३०)

यहाँतक कि काम्य-कर्मों का भी अन्तःकरण की शुद्धि में ही उपयोग माना जाता है ! ऐन्द्रपद आदि उच्चफलों के भोग के लिए उच्चकोटि की देह तथा उच्च-शुद्ध मन, इन्द्रियों की अपेक्षा होती है ! इसीलिए श्वान, शूकर आदि की देहों से ऐन्द्रपद का सुखभोग नहीं हो सकता। अश्वमेधादि कर्मों द्वारा देवताओं तथा परमेश्वर की उपासना होती है। उसमें अन्तःकरण शुद्ध, उन्नत तथा अशुद्धि एवं क्षुद्रता से रहित बनता है। अतएव ऐन्द्रपद से धर्म, ज्ञान आदि सुलभ होते हैं।

जगन्मृगतृषातुल्यं वीक्ष्येदं क्षणभङ्गुरम्।
सुजनैः सङ्गतिः कार्या धर्माय च सुखाय च ॥

(कामान्दकीय नीति० ३.१३)

अर्थात् जगत् को मृगतृष्णाके जल के समान मिथ्या एवं क्षणभङ्गुर समझकर उसके भोगों में आसक्त न होकर धर्म एवं दिव्यसुख के लिए सज्जनों, विद्वानों एवं सन्तों की संगति करनी चाहिए। संगति से ही विनय की प्राप्ति होती है। विनयी राजा ही अपने अमात्य, भृत्य, पुत्र एवं प्रजा को विनयी बनाकर सबका उद्धार कर सकता

है। संसार में मिथ्यात्व-बुद्धि एवं परमार्थ ब्रह्मकी अद्वितीयता का बोध होने से वैराग्य, विवेक, अनासक्ति की स्थिरता तथा कामज-क्रोधज व्यसनों से छुटकारा मिलता है। वेदान्त-शास्त्रों ने द्वैतमात्र को 'अवस्तु' कहकर अनृत एवं मनोराज्य के तुल्य कहा है। उसमें भद्र, अभद्र की कल्पना ही नहीं है। वाणी से उदित और मन से चिन्तित सब कुछ अनृत ही है :

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसाध्यातमेव च॥

वैसे भी शोक-मोह से आक्रान्त प्राणी के लिए विश्वप्रपञ्च का मिथ्यात्वबोध शान्तिदायक होता है। विश्व के विस्मरण में ही शान्ति होती है। सुषुप्ति में विश्व-विस्मृति तथा सत्-पद की प्राप्ति होती है, इसीलिए वहाँ शान्ति रहती है और मन की थकावट दूर हो जाती है। निद्रा ठीक होने से न केवल शान्ति की प्राप्ति ही होती है, बहुत-से रोग भी दूर होते हैं। आयुर्वेद के अनुसार इन्द्रिय का उपशम महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यथा :

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥

(वाग्भट)

प्रज्ञापराधों का त्याग, इन्द्रियों का उपशम, सत्-स्मृति, देश-काल एवं आत्मा का विज्ञान तथा सद्वृत्त का पालन आरोग्य का परम कारण है।

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च प्रियं हितम्॥

प्रजा के सुख में ही राजा का सुख एवं प्रजा का हित ही राजा का हित है। राजा का अपना प्रिय, उसका अपना हित कुछ नहीं। प्रजा का प्रिय ही राजा का हित है। जैसे गर्भिणी गर्भस्थ शिशु की हितदृष्टि से भोजन आदि करती है, वैसे ही प्रजाहित की दृष्टि से ही राजा के सब व्यवहार होते हैं।

इमं राजर्षयो विदुः इस गीतावचन के अनुसार राजर्षिगण सांख्य-योग के विद्वान् होते थे। इसीलिए शोक-मोह से अनभिभूत रहकर बिना उद्विग्न हुए धैर्य से कर्तव्य-पालन में अग्रसर होते थे। अजर, अमर, अच्छेद्य, अदाह्य, आत्मा के ज्ञान में परिनिष्ठित होने के कारण संधि, विग्रह, यान, संग्राम आदि करते हुए सामूहिक संग्रामों में क्षत-विक्षत होते हुए भी धैर्य एवं साहस के साथ आगे बढ़ते थे। जैसे मृग-तृष्णा में भरपूर जल की प्रतीति होने पर भी वहाँ जल का लेश नहीं होता, वैसे ही

सांख्य अर्थात् वेदान्त के अनुसार निर्दोष, निःसंग ब्रह्मात्मभाव में परिनिष्ठित राजा राजशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के अनुसार राष्ट्र के धारण-पोषण, समन्वय-सामञ्जस्य के लिए भरपूर प्रयत्न करता हुआ भी निष्प्रपञ्च ब्रह्म का ही अनुभव करता है। ब्रह्मात्मनिष्ठा के प्रभाव से सदाचार, धर्म एवं राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध के प्रसंग में वह संहार करता हुआ भी निर्लेप रहता है।

हत्वापि स इमांल्लोकात् न हन्ति न निबध्यते।

इन्द्र कहता है : 'मैंने वेदान्तविचारशून्य अरुन्मुख यतियों को मारकर कुत्तों को दे दिया। बहुत-सी संधियों का अतिक्रमण कर मैंने प्रह्लाद के बहुत-से जाति-बन्धुओं को मार डाला। अन्तरिक्ष के पौलोमों एवं पृथिवीके काल-खंजों को मार डाला। किन्तु ब्रह्मविद्या के प्रभाव से मेरे एक रोम का भी नुकसान न हुआ :

अरुन्मुखान् यतीन् हत्वा शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्।
बह्वीः सन्धा अतिक्रम्य दिवि प्राह्लादीनतृणमहमन्तरिक्षे।
पौलोमान् पृथिव्यां कालकाश्यान् तस्य मे तत्र न लोमं च नामीयते॥

(कौ. ब्रा. उ. ३.१)

इसीलिए तो राज्य की सुव्यवस्था के निमित्त आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्या) परम आवश्यक है। आन्वीक्षिकी द्वारा विवेकी, जितेन्द्रिय राजा सभी व्यसनों का निराकरण कर अपनी प्रजा को भी व्यसन से मुक्त कर सकता है।

प्रजा के व्यसनयुक्त होने पर राष्ट्र एवं राजा की उन्नति कथमपि नहीं हो सकती। किन्तु स्वयं व्यसन से मुक्त राजा ही प्रजा को भी व्यसनों से मुक्त कर सकता है। अर्जित राज्य भी राजा को व्यसनों से नहीं छुड़ा सकता। अतः राजा का निर्व्यसन होना आवश्यक है। इसीलिए सत्संगति से निर्व्यसनी होने के लिए राजा को तत्पर रहना चाहिए।

प्रजानां व्यसनस्थायां न किञ्चिदपि सिद्ध्यति।

(कामन्दकीय नीति० १४.२७)

राजात्वव्यसनी राज्यव्यसनापोहनक्षमः।
न राजव्यसनापोहसमर्थं राज्यमूर्जितम्॥

(कामन्दकीय नीति० १५.२)

इसीलिए सभी राज्यों में राज्य-व्यसन मिटाने में समर्थ राजा की अपेक्षा होती है। राजवृत्तिरिति (कौट० १.२.११)—इसीलिए राजवृत्ति के रूप में राजशास्त्र या नीतिशास्त्र प्रसिद्ध है। अतः राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री जो भी राजा के स्थान में हो,

जिसके भी हाथ में शासनसूत्र हो, उन्हें निश्चय ही राजशास्त्र के अनुसार निर्व्यसन होना आवश्यक है।

कृतयुग में सभी ब्रह्मविद्, जितेन्द्रिय, सदाचारी, धर्मिष्ठ और निर्व्यसन होते हैं। उस समय राजा, राज्य, दण्डविधान आदि के न होने पर भी सब परस्पर पोषक होते हैं। धर्म द्वारा सारी व्यवस्था सम्पन्न हो जाती है। वहाँ नीतिशास्त्र की अपेक्षा ही नहीं रहती। किन्तु अन्य युगों में कोई भी शासनतन्त्र क्यों न हो, उसके लिए नीतिशास्त्र परमावश्यक है। इसीलिए कृतयुग के अन्त में जब रजस्तम के प्रवेश से ज्ञान-विज्ञान में मालिन्य आया, तभी संग, लोभ तथा क्रोध का संचार हुआ। प्रजा में 'मात्स्य-न्याय' फैला। मात्स्यन्याय से पीड़ित प्रजा ने ब्रह्मा के पास जाकर उनसे त्राण का उपाय पूछा तो ब्रह्मा ने उसे एक लाख अध्याय का नीतिशास्त्र प्रदान करते हुए कहा : 'इसके अनुसार आप लोग अपनी व्यवस्था चलायें।' फिर भी शास्त्र एवं व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, जबतक उसे कार्यान्वित कराने के लिए शासनशक्ति नहीं होती तबतक सफलता नहीं मिलती। इसीलिए प्रजा ने शासक राजा की माँग की तो ब्रह्मा ने अग्नि, आदित्य, इन्द्र आदि अष्ट लोकपालों का तेज संगृहीत कर 'राजा' का निर्माण किया और उसे नीतिशास्त्र या संविधान को कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त किया।

राजा का परम कर्तव्य है कि वह पहले अपने आपको विनयी बनाये। फिर अमात्यों, भृत्यों तथा पुत्रों को और पश्चात् प्रजा को विनयी बनाये। जो राजा अपने अमात्यों, भृत्यों और पुत्रों को विनयी बनने का आह्वान नहीं कर सकता, वह प्रजा में भी विनय नहीं ला सकता। अतः पहले स्वयं को सत्संगति से जितेन्द्रिय, सदाचारी, नियंत्रित बनाकर ही दूसरों को वैसा बनाना चाहिए :

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्।
ततोऽमात्यांस्ततो भृत्यांस्ततः पुत्रांस्ततः प्रजाः॥

(काम० १.२५)

यही कारण है कि राज्य की सुव्यवस्था के लिए आन्वीक्षिकी के समान ही त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति भी अनिवार्यतः आवश्यक हैं। धर्मनिष्ठा, अहिंसा से मात्स्यन्याय (शोषण) मिटाना मुख्य पक्ष है। उसके असंभव होने पर दण्ड द्वारा मात्स्यन्याय का अन्त किया जाता है। प्रथम पक्ष का उदाहरण चन्द्रमा आदि मुनियों के आश्रम हैं। वहाँ अहिंसा के प्रभाव से बाघ, बकरे, चूहे, बिल्ले भी परस्पर पोषक हो जाते थे। दूसरों का उदाहरण आज भी सरकसों में देखा जा सकता है। दण्ड के भय से ही शेर अपने सिर पर चढ़े बकरे को भी नहीं मारता।

मनु ने कहा है कि त्रैविद्य विद्वानों से राजा त्रयी (धर्मविद्या), शाश्वती दण्डनीति तथा अध्यात्म-विद्या आन्वीक्षिकी का ज्ञान प्राप्त करे और लोक द्वारा वार्ता अर्थात् कृषि, वाणिज्य, पशुपालनादि का ज्ञान प्राप्त करे :

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥

(मनु० ७.४३)

'वेत्ति, विद्यते, विन्दति, वित्ते' (कौ० अ०) के अनुसार 'विद्' धातु के अर्थ-भेद से चारों विद्याओं के विभिन्न अर्थ होते हैं।

धर्माधर्मयोः स्वरूपं लोको यया वेत्ति जानाति सा त्रयी विद्या ।

अर्थात् जिसके द्वारा लोक को धर्म-अधर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है वह 'त्रयी विद्या' है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ही त्रयी विद्या है। अथर्व-वेद में भी ऋक् एवं यजुर्जातीय के ही मन्त्र हैं। अतः उसे भी त्रयी में ही समाविष्ट समझना चाहिए।

विद्यते पाल्यते राज्यं यया सा दण्डनीतिर्विद्या ।

जिस विद्या द्वारा राज्य का पालन होता है वह 'दण्डनीति विद्या' है।

विन्दति प्राप्नोति भूमि-हिरण्यादीनर्थान् लोको यया सा वार्ता विद्या ।

जिसके द्वारा लोक को भूमि, धन, धान्य-हिरण्यादि अर्थ की प्राप्ति होती है, वह 'वार्ता-विद्या' है।

वर्तते जीवति लोकोऽनयेति वार्ता ।

अर्थात् कामन्दक के अनुसार जिसके द्वारा लोगों का जीवन-निर्वाह होता है, वह कृषि-वाणिज्य, पशुपालनादि वार्ता-विद्या है।

आत्मानात्मयाथात्म्यं भावस्वभावं प्रामाण्याप्रामाण्ये विद्यानां
बलाबले च लोको वित्ते विचारयति यया सा आन्वीक्षिकी ।

अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा-अनात्मा का याथात्म्य तथा पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य, प्रमाणों तथा विद्याओं एवं उनके प्रामाण्य-अप्रामाण्य तथा बलाबल का विचार किया जाता है, वही 'आन्वीक्षिकी विद्या' है। श्रवण के अनन्तर श्रुत आत्मा, पर-मात्मादि तत्त्वों का मननात्मक तर्कों से विचार करना ही न्यायशास्त्र का भी प्रयोजन है। इसी दृष्टि से उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमांजलि में कहा है कि श्रोतव्यो

मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इस श्रुति के अनुसार वेदान्त-श्रवण के पश्चात् किये जाने-वाले श्रुत अर्थ के तर्कों द्वारा मननरूप वह न्यायचर्चा भी भगवान् की उपासना ही है :

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरा गता ।।

(न्यायकु० १.३)

श्रवण के अनु अर्थात् पश्चात् श्रुत अर्थ का जो मननात्मक ईक्षण किया जाता है, वही 'आन्वीक्षिकी' है । पूर्वोक्त मनुवचन में आन्वीक्षिकी को 'आत्मविद्या' कहा गया है ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों ही पुरुषार्थों का मूल ज्ञान-विज्ञानरूप विद्या ही होती है । सभी देशों में जीवन में उन्हें सुचारु ढंग से अर्जित करने के लिए जीवन के प्रथम वय (अवस्था) में ज्ञानार्जन का प्रयास किया जाता है । आधुनिक संसार में अर्थ-काम की शिक्षा का प्राधान्य है । भारतीय दृष्टिकोण से बालकों के निर्मल-कोमल, पवित्र अन्तःकरण में धर्म-ब्रह्म का संस्कार डालना परमावश्यक है । अन्य शिक्षाएँ तो परिस्थिति के अनुसार स्वतः भी मिल जाती हैं । इसीलिए तो चींटियों एवं मधु-मक्खियों से अर्थसंग्रह की शिक्षा मिल जाती है । पंचतंत्र में मित्रलाभ एवं मित्रभेद के उदाहरणों में भी पशु-पक्षियों के ही उदाहरण आते हैं । मधुकरों एवं कपोतों में राजतंत्र एवं लोकतंत्र-शासन के उदाहरण मिल जाते हैं ।

अतः सर्वप्रथम त्रयी-वेद द्वारा एवं तन्मूलक धर्मशास्त्रों से धर्म का त्र्यय्यन्त वेदान्त एवं न्यायशास्त्र द्वारा ब्रह्मात्म का ज्ञान प्राप्त कराना अपेक्षित है । पश्चात् व्यावहारिक जीवन चलाने के लिए नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा वार्ताविद्या का भी अभ्यास अपेक्षित है । व्यवहारतः ज्ञानी, अज्ञानी सभी प्राणियों के लिए भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, बीमारी की बाधा सदैव खड़ी रहती है । अतः सभीको अन्न-जल, वस्त्र, औषध की अपेक्षा होती है और वह भी एक दिन नहीं, किन्तु सदैव भूख-प्यासकी बाधा बनी रहती है । इतर प्राणी प्रतिदिन क्षुधा से पीड़ित होते हैं । प्रतिदिन भोजन का प्रबन्ध करते हैं । परन्तु मनुष्य दीर्घदर्शी बुद्धिमान् है, वह स्थायी योजनाबद्ध प्रबन्ध करता है । उसीके लिए ही कृषि, वाणिज्य एवं पशुपालनादि वार्ता-विद्या का विस्तार है । उसका भी विधि-विधान परम्परा से ज्ञातव्य है ।

कौटल्य ने कहा है कि अध्यक्ष-प्रचार से वार्ता-रहस्यज्ञों एवं व्यवसायियों से वार्तासमयविद्भ्यो वणिग्भ्यश्च (कौ० सू०)—परम्पराशास्त्र एवं व्यवहारपरायण व्यवसायियों से वार्ता का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी जबतक तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती तबतक सफलता नहीं मिलती । सामान्यरूप एवं विशिष्ट रूप से साध्य-साधनभाव तथा प्रतिबन्धक-निवृत्ति के उपायों को जानकर साधनों का संग्रह कर

तत्परता से तदनुकूल प्रयत्न करने पर निश्चय ही सफलता मिलती है। वार्तावित् शासक वार्ताविद्या का प्रचार कर जीवनसामग्री का संग्रह करता और अकाल, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदि के समय भी अपनी प्रजा का रक्षण करने में सफल होता है। इसीलिए कामन्दक के अनुसार लोक की स्थिति ही वार्ता पर निर्भर है : **वार्ताप्रतिबद्धत्वाल्लोकस्थितेः**। वार्ता द्वारा धन-धान्य की समृद्धि होती है। परिश्रम करनेवालों को अपने परिश्रम का ठीक फल मिलता है। ईमानदारी से उत्पादन एवं वितरण की व्यवस्था ठीक चलती रहती है, तो सभी सुखी रहते हैं। किन्तु लोभ, मोह आदि के कारण संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं जो दूसरों के गाढ़े पसीने की कमाई का अपहरण करके ही आनन्द लेना चाहते हैं। हमलावरों, चोरों, शत्रुओं तथा राजाओं के मुँह लगे कर्मचारियों तथा राजकीय लोभ से भी प्रजा को अपनी कमाई के संभोग में अनेक प्रकार की बाधाएँ खड़ी होती हैं।

आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम्॥

(कामन्द० ५.८१)

यद्यपि जनता में बड़ी शक्ति होती है; तथापि वह बिखरी रहती है। अतः वह स्वयं लुटेरों एवं आक्रामकों का मुकाबिला कर सब बाधाओं को दूर करने में समर्थ नहीं होती। फलस्वरूप साधुपुरुष संत्रस्त होते और असाधु प्रहृष्ट होते हैं :

इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः।

जनसमूह किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है। प्रबल दुर्बल के भक्षक हो जाते हैं। शोषण, उत्पीड़न तथा मात्स्यन्याय का बोलबाला हो जाता है। उस समय किसी दण्डनीतिज्ञ दण्डधर शासक की आवश्यकता होती है। इसीलिए कहा गया है : **राजानं प्रथमं विन्देत्** सबसे पहले धार्मिक राजा को प्राप्त करना चाहिए। शोषण, उत्पीड़न एवं मात्स्यन्याय का अन्त करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य है। राजा भी नीतिशास्त्र के अनुसार चलता है तभी वैसा करने में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं।

नयेन जाग्रत्यनिशं नरेश्वरेसुखं स्वपन्तीह निराधयः प्रजाः।

(कामन्द० ७.५८)

यद्यपि आजके संसार में अनेक राष्ट्र और अनेक प्रकार के शासन हैं, सभीके अपने संविधान, अपनी नीतियाँ हैं; तथापि सर्वप्राचीन संसार का आर्ष नीतिशास्त्र ही सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि वह वेदादि-शास्त्रों एवं सर्वज्ञकल्प ऋषियों के परिनिष्ठित ज्ञान का ही परिणाम है। यही कारण है कि आधुनिक संसार के सभी संविधानों में आये दिन परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती रहती है।

मनुष्य कितना भी बुद्धिमान् क्यों न हो, आखिर तो अल्पज्ञ ही होता है। उसे सब देश-काल का परिज्ञान नहीं होता। इसीलिए बहुत सोच-समझकर संसार के विविध विधानों का अध्ययन कर विधान बनाने पर भी कुछ ही दिनों में आगे चलकर उसमें त्रुटि मालूम पड़ती है। किन्तु मनु, शुक्र, बृहस्पति, कौटल्य आदिकों के नीतिसूत्रों में आजतक परिवर्तन की आवश्यकता इसीलिए प्रतीत नहीं होती कि वे सर्वज्ञकल्प वेद एवं ऋतम्भरा प्रज्ञासम्पन्न महर्षियों के उस ज्ञान-विज्ञान के परिणाम हैं, जिसके सामने किसी भी देश-काल की कोई परिस्थिति तिरोहित नहीं। ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर संसार के सब ज्ञेय अल्प ही होते हैं। उनका ज्ञान सर्वज्ञेयों से बड़ा होता है।

जैसे प्रत्येक प्राणी को जीवन की आकांक्षा होती है और उसके लिए सबको अन्न-वस्त्रादि की अपेक्षा होती है, वैसे ही उसके लिए कृषि, वाणिज्य, शिल्प, पशुपालनादि वार्ता की अपेक्षा हैं और वैसे ही धन-धान्यादि की रक्षा के लिए दण्डनीति भी अत्यंत आवश्यक है। इसीलिए अराजकता की सर्वत्र निन्दा की गयी है। परन्तु आजकल तो साम्यवाद, समाजवाद के समान ही अराजकतावाद भी एक वाद के रूप में प्रसिद्ध है।

यद्यपि आजकल दण्डनीति, राजनीति की धर्म-निरपेक्षता का गुणगान किया जाता है, उसी धुन में शिक्षा-क्षेत्र से भी धर्म को निकाल बाहर किया गया है। कुछ लोग तो धर्म को 'अफीम की गोली' से तुलना करते हैं। उनकी दृष्टि में अन्न-वस्त्र आदि की मुख्य समस्याओं एवं अन्यान्य अपने अधिकारों से लोगों को अन्यमनस्क बनाने के लिए ही धर्म की बात उठायी जाती है। किन्तु वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है।

आजकल संकट मिटाने के लिए नलकूपों, नहरों, ट्रैक्टरों, रासायनिक खादों पर अरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं तो भी अन्नसंकट नहीं कट रहा है। लाचार होकर शासकों को धर्मविरुद्ध परिवार-नियोजन, वन्ध्याकरण, नपुंसकीकरण का मार्ग अपनाना पड़ रहा है। कम्युनिस्ट, जनसंघी आदि सभी उसीके समर्थक हैं। कमाई खूब होती है, पर बरक्कत नहीं हो रही है। स्पष्ट है कि धर्म से ही बरक्कत होती है। धर्मविरुद्ध, ईमानदारी एवं गाढ़े पसीने की कमाई बिना बरक्कत नहीं होती और न हो सकती है। धर्मबुद्धि के बिना शोषण, उत्पीड़न की निवृत्ति नहीं हो सकती। धर्मबुद्धि के बिना किसी भी शासन की स्थिति नहीं रह सकती। टैक्स वसूल करने में अनाचार-अत्याचार रोकने की दृष्टि से भी दण्ड देने पर शासन विद्वेष्य हो जाता है। अतः शासक-शास्यभाव की स्थिति ही धर्ममूलक है। सदाचारी शिष्य अपनी इच्छा से ही किसी विद्वान् को गुरु बनाकर उसे अपना शासक बनाता है। बड़े-बड़े सम्राट् भी

आत्मकल्याण के लिए किसी अकिंचन विरक्त ज्ञानी की शरण जाकर उसे 'गुरु' बनाकर उसकी आज्ञानुसार साधनाभ्यास करते तथा स्वच्छन्दता का निरोध करके पराधीनता अंगीकार करते हैं। इसी प्रकार राजा, प्रजा दोनों ही जब धार्मिक होते हैं तभी शुद्ध शासक-शास्यभाव (गुरु-शिष्यभाव) बनता है।

जैसे बहुत साधन, व्यापार आदि में बलिदान करने से ही बहुधन की प्राप्ति होती है वैसे ही कुछ स्वतन्त्रता का बलिदान करने पर ही महती स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। माता-पिता एवं गुरु-आचार्य के पराधीन रहने से ही सदाचार, सच्छिक्षा की प्राप्ति होती है। विद्वान् एवं सदाचारी ही वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। बुद्धिहीन बड़ा से बड़ा बलवान् हाथी एवं सिंह भी अन्त में पराधीन ही रहता है।

सर्वज्ञकल्प वेदादिशास्त्र तथा सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में श्रद्धा-विश्वास होने पर उनकी आज्ञा से प्राणियों की निष्ठा बन सकती है। श्रद्धेय सर्वशासक सर्वज्ञ भगवान् के वचन ही शास्त्र होते हैं : शास्तुर्वचनं शास्त्रम्।

जो मद-मान-समुद्धत होते हैं, वे शास्त्रों के पराधीन बनना नहीं चाहते। जो शास्त्र को अपने तन्त्र में रखना चाहते और उनका अपमान करते हैं, ऐसे ही लोग संघटित होकर शासक को भी स्वायत्त बनाने की चेष्टा करते हैं। शास्त्रों में मनमानी रद्दोबदल करना चाहते हैं। अतः धर्मभाव का जागरण करके ही उच्छृंखलों का नियंत्रण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। शास्त्र के अनुसार ही उद्वृत्तों को अनुद्वेजक दण्डविधान द्वारा शासित किया जा सकता है। बहुजनसम्मत दण्डविधान ही सुखकारी होता है। बहुजन-विद्विष्ट दण्डविधान कभी सफल नहीं होता। परलोक मे सुखबुद्धि से ही अपराधी दण्डविधान को सहन करता है। परलोक-बुद्धि के लिए त्रयी का आदर और अभ्यास आवश्यक होता है। इस तरह त्रयी भी लोकस्थिति की हेतु है।

दण्डविधान का उद्देश्य अपराध-निवृत्ति है। वह वेदादि शास्त्र-विश्वास के बिना केवल दण्ड-विधानमात्र से सम्भव नहीं। शास्त्रानुसार ही दण्ड-विधान द्वारा अपराधी अपने को शुद्ध अनुभव कर सकता है। शुचिता, अशुचिता का बोध त्रयी, वेदादि-शास्त्रों के द्वारा ही सम्भव है। त्रयी के अनुसार अपराधी राजदण्ड से विशुद्ध हो जाता है। पुनः उसे नरकादि दुःख नहीं भोगना पड़ता। अनादि-अपौरुषेय होने के कारण पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमादादिदोषशून्य वेदों पर ही शाश्वत विश्वास किया जा सकता है, पौरुषेय ग्रन्थों पर नहीं; क्योंकि पुरुषों में कोई न कोई दोष होता ही है।

राजा-प्रजा, दो राष्ट्रों तथा दो मित्रों में, गुरु-शिष्यों में, दम्पती तथा पिता-पुत्र में पारस्परिक सम्बन्ध तभी सफल होता है जब परस्पर विश्वास हो। जो अर्थ-

परवश होते हैं, उनका न कोई बन्धु होता है, न कोई गुरु ही : अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धुः। विश्वास न होने पर कौन शास्ता होगा और कौन शास्त्र ?

वर्तमानकाल में अध्यापकों, छात्रों, स्त्रियों, पुरुषों, मजदूरों, मिलमालिकों के आन्दोलनों का मूल भी अविश्वास ही है। परस्पर विश्वासोपगम के लिए ही राष्ट्रों की संधियां होती हैं। तदर्थं वेदप्रामाण्य एवं आस्तिक्यबुद्धि अपेक्षित है। जिसका कोई धर्म या शास्त्र नहीं, उसका ईमान भी क्या होगा ? उसके बिना लिखित प्रतिज्ञा करने या शपथ लेने पर भी विश्वास कैसे होगा ? वर्तमान दण्डनीति प्रतिदिन दण्ड देकर अपराधी का शोधन करती है, पर परस्पर कलह का उत्तरोत्तर विस्तार होता है। मात्स्यन्याय, अविश्वास प्रतिदिन बढ़ता जाता है। लोभ, कर्तव्यच्युति, औद्धत्य, मोह, निद्रालुता, अज्ञता, क्रोध, मिथ्याभाषण, आलस्य, निन्दित कर्मप्रवृत्ति, असन्तोष आदि दोषों की निरन्तर वृद्धि हो रही है। ये सब बातें शासकों, शिष्यों में, सेव्य-सेवकों में फैल रही हैं। प्रायः सर्वत्र परिवारों में प्रेमशून्यता, वंचकता का ही साम्राज्य है। राष्ट्रों की संधियां छद्मपूर्ण होती हैं। आत्मीयता एवं बन्धुता का सर्वत्र अभाव है। स्थिर अपौरुषेय वेदादि-शास्त्रों में जबतक प्रामाण्यबुद्धि न होगी, तबतक यह स्थिति बनी ही रहेगी। जैसे वेश्या धनार्जन के लिए मिथ्या-प्रेम-प्रदर्शन करती है, वह विश्वास्य नहीं होती, वैसे ही वेश्यावृत्ति-परायण संसार पर विश्वास असंभव ही है। परन्तु वेदशास्त्र-विश्वासी तो शुद्ध धर्मनिष्ठा से कर्तव्य-परायण होते हैं। उन्हींमें स्थिर निष्ठा होती है। आज ही मरण हो अथवा युगान्तर में, लक्ष्मी आये चाहे जाय, नीति-निपुण चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति, परन्तु धर्मनिष्ठ धीर न्यायमार्ग से एक पग भी नहीं डिगते :

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

इसीलिए कौटल्य ने आर्य-मर्यादा की व्यवस्थिति, वर्णाश्रम-व्यवस्था और त्रयी के सम्मान को ही संसार की उन्नति का मार्ग बतलाया है :

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

(कौट० अर्थ० १-३)

वेद तथा वेदोक्त धर्म-मर्यादा में शंका तथा अविश्वास पैदा होने पर फिर भी वही अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इस तरह वेदादि-शास्त्रों में अपराग उत्पन्न होना नीतिशास्त्रोक्त भेदनीति है : शङ्काजननं निर्भर्त्सनं च भेदः। शंका की स्थिति में भी

यद्यपि कुछ लोग वेदोक्त धर्म का अनुष्ठान करते हैं, परन्तु शंकित चित्त की धर्म में निष्ठा नहीं होती। तभी तो कई विद्वान् और स्वधर्मनिष्ठ भी अपने पुत्रों को वेदविरुद्ध सुधार-मार्ग से नहीं रोकते, प्रत्युत उसकी प्रेरणा भी देते हैं।

आज प्राय: संस्कृत के विद्वान् अपने पुत्रों को संस्कृत न पढ़ाकर अंग्रेजी पढ़ाने में लगाते हैं। पुत्र को विलायत-यात्रा के लिए प्रेरणा देते हैं। इन कामों से उन्हें प्रत्यक्ष सम्मान एवं प्रतिष्ठा का लाभ दिखायी देता है। अत: शास्त्रनिष्ठा गौण हो जाती है। ऐसी स्थिति में त्रयी की अप्रतिष्ठा से नीति तथा वार्ता भी असफल होती है। पुनरपि मात्स्यन्याय की प्रवृत्ति होती है। अतः त्रयी के प्रति अप्रामाण्य-शंका का का अपनोदन करने के लिए तर्क-प्रधान आन्वीक्षिकी विद्या का विशिष्ट प्रचार आवश्यक है।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

(कौट० अर्थ० १.२)

आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय है। उसका आश्रय लेने पर अध्यात्मनिष्ठा, शोक-मोहरहितता, शास्त्र-प्रामाण्यबुद्धि एवं शास्त्रतात्पर्यनिर्धारण, प्रामाण्य-शंकानिवृत्ति, धर्मनिष्ठा आदि महत्त्वपूर्ण बातें अनायास सम्पन्न होती हैं। अर्थ-लाभ, सम्मान-लाभ त्रयी-मार्ग से भी प्राप्त हो सकता है और त्रयी से अविरुद्ध अन्य मार्ग से भी वह संभव है। किन्तु धर्म-प्रधान व्यक्ति त्रयो का अतिक्रमण करके अर्थलाभ नहीं चाहता, जैसे कि क्षुधा से व्याकुल प्राणी भी विषमिश्रित मधुरान्न-भक्षण करके तात्कालिक तुष्टि-पुष्टि, क्षुन्नि-वृत्ति की इच्छा नहीं करता। कारण विषमिश्रित मधुरान्न-भक्षण में इष्टसाधनता होने पर भी उसमें बलवान् अनिष्ट की अननुबन्धिता नहीं है।

आन्वीक्षिकी के अनुसार बलवान् अनिष्ट का अननुबन्धी इष्टसाधन ही ग्राह्य है। विषमिश्रित मधुरान्नभक्षण से इष्ट सिद्ध अवश्य होगा। परन्तु इष्ट से अधिक बलवान् अनिष्ट होगा, क्योंकि तात्कालिक कुछ सुख होने पर भी अन्त में मृत्यु निश्चित है। भोजन-निर्माण में भी धूमादिजनित कष्ट होता है, पर वहाँ अनिष्ट की अपेक्षा भोजनजनित तृप्ति-पुष्टि आदि इष्ट का साधन बलवान् है। इसीलिए 'बलवद-निष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनता' को ही विध्यर्थ माना जाता है।

इस तरह कुछ लोगों की दृष्टि से जीवनधारण एवं बुभुक्षानिवृत्ति के लिए आहार अपेक्षित है, आहार के लिए वार्ता अपेक्षित है। वार्ताफल सुरक्षा के लिए दण्डनीति और दण्डनीति की सफलता के लिए त्रयी एवं त्रयी की फलपर्यवसायिता के लिए आन्वीक्षिकी की अपेक्षा होती है।

कुछ लोगों की दृष्टि से जीवन का परम उद्देश्य तत्त्वजिज्ञासा, भगवतत्त्व-साक्षात्कारपूर्वक परमपद-प्राप्ति ही है। किन्तु उसके लिए योग (चित्त की एकाग्रता) अर्थात् निर्विकल्प समाधि की परमावश्यकता है। तदर्थ वैराग्य की अपेक्षा है।

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः। समाहितस्यैव दृढः प्रबोधः।

अर्थात् अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि प्राप्त होती है और समाहित को ही दृढ़ प्रबोध होता है। गोस्वामीजी भी कहते हैं :

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्याना मोच्छप्रद बेद बखाना॥

वैराग्य के लिए चित्तशुद्धि अपेक्षित है। तदर्थ भगवदाराधनबुद्ध्या स्वधर्मानुष्ठान अपेक्षित है :

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। (गीता)

स्वधर्मज्ञान के लिए त्रयी की अपेक्षा है। त्रयीप्रोक्त धर्म के अनुष्ठान के लिए धन की अपेक्षा, धन के लिए वार्ता एवं वार्ता की सुरक्षा के लिए दण्डनीति अपेक्षित है।

कोई भगवद्दर्शन के उद्देश्य से बदरिकाश्रम की यात्रा कर रहा हो तो उसे मध्य में भोजन, विश्राम आदि की भी अपेक्षा होती है। उसके बिना उद्देश्य-पूर्ति सम्भव नहीं। साथ ही यदि मार्ग में भेड़िया, बघेरा आदि का आक्रमण हो तो उसका भी मुकाबिला करना अनिवार्य होता है। यदि मार्ग में डाकुओं ने आक्रमण कर वस्त्र, भोजन, द्रव्यादि यावत्सामग्री छीन ली तो भी यात्रा का उद्देश्य पूरा न होगा। अतः डाकुओं का सामना करना भी अनिवार्य हो जाता है। इसी तरह जीवन-यात्रा का परम उद्देश्य भगवद्दर्शन होने पर भी उसके लिए योग, त्रयी, धर्म, धन, वार्ता तथा दण्डनीति की अपेक्षा होती है। इसीलिए तो कामन्दक के अनुसार दण्डनीति का विप्लव होने पर आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता सब निरर्थक हो जाते हैं :

सत्योऽपि हि न सत्यस्ताः दण्डनीतेस्तु विप्लवे।

(कामन्द० २.८)

मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।

(महाभारत शान्ति० ६३.२८)

इस प्रकार सभी दृष्टियों, प्रमाण-युक्तियों, से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि आज सर्वथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति इन चारों विद्याओं का अभ्यास और कार्यान्वयन नितान्त आवश्यक है। प्राणी तभी लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का भागी हो सकता है।

द्वितीय भाग समाप्त

विचार-पीयूष

तृतीय भाग : सुधारक हिन्दू और शास्त्रीय सनातनधर्म

"भारतीय इतिहासके छः स्वर्णिम पृष्ठ" पुस्तक स्व० श्री विनायक दामोदर सावरकर की प्रखर प्रतिभा का परिणाम है। विद्वान् लेखक ने उसमें अतीत घटनाओंकी समालोचनाओं के आधार पर उस समय की विचारधाराओं के औचित्यानौचित्य पर विचार किया है। हम भी उसी औचित्यानौचित्य-विचार की समीक्षा करेंगे।

आप लिखते हैं : "मुसलमानों के पूर्वकाल में शक, यवन आदि ने जो देश पर आक्रमण किये, उनका उद्देश्य हिन्दुस्थान पर अपनी राजसत्ता स्थापित करना था। उनके आक्रमणों का कारण कोई धार्मिक या सांस्कृतिक शत्रुता नहीं। परन्तु इस नये इसलामी शत्रु के आक्रमण के पीछे हिन्दू-राष्ट्रसत्ता को उद्ध्वस्त कर सम्पूर्ण हिन्दुस्थान पर मुस्लिम-आधिपत्य के साथ पूर्व के शत्रुओंको जो नहीं सूझी, ऐसी महत्त्वाकाङ्क्षा थी, जो राजनैतिक महत्त्वाकाङ्क्षा से कई गुना अधिक प्रचण्ड थी। उनमें धार्मिक महत्त्वाकाङ्क्षा धधक रही थी जो हिन्दू-राष्ट्र के जीवन-प्राण कहलानेवाले हिन्दू-धर्म और हिन्दुत्व को नष्ट करने तथा मुस्लिम-धर्म को तलवार के बल हिन्दुओं पर लादने के लिए उनके आक्रमणको सतत उत्तेजना देती रही। इस हेतु समस्त एशिया महाद्वीप के लाखों मुसलमान विभिन्न राष्ट्रों से निकलकर हिन्दुस्थान पर सदियों तक निरन्तर आक्रमण करते रहे।"

वस्तुत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कूटनीतिज्ञ लोग जानते हैं कि भौतिक पराधीनता सरलता से दूर की जा सकती है, पर आध्यात्मिक या मानसिक पराधीनता बड़ी भयङ्कर होती है। एक व्यक्ति के हाथ-पैरों में हथकड़ी-बेड़ी डालकर उसकी जबान पर ताला लगा देने पर भी वह मन तथा मस्तिष्क से स्वतन्त्र है और बाह्य भौतिक बन्धनों के काटने का सफल प्रयास कर सकता है। किन्तु यदि मन या मस्तिष्क को क्लोरोफार्म सुँघाकर या किसी अन्य औषधि से विकृत या पराधीन बना दिया जाय तो हथकड़ी-बेड़ी कट जाने पर भी वह कुछ नहीं कर सकता। इसलिए भौतिक शरीर पर विरोधियों का शासन कुछ क्षण के लिए सह्य हो सकता है, परन्तु आध्यात्मिक-मानसिक शरीर पर विरोधी शासन असह्य होता है और वैसा होना भी

चाहिए। फिर भी मुसलमानों के बर्बर अत्याचारों, तलवारों या बलात् धर्मान्तरण से भी वास्तव में हिन्दू-मस्तिष्क स्वतन्त्र ही रहा। अत एव वे न केवल बराबर उनका विरोध करते रहे, बल्कि और भी कट्टर होते गये। गुरु गोविन्दसिंह के दो नौनिहालों एवं अन्यान्य लोगों ने सिर कटाना मंजूर किया, पर चोटियों के दो बाल देना उन्हें मंजूर नहीं था।

किन्तु अंग्रेजों ने तो मीठी छुरी चलाकर, शिक्षा-सभ्यता में रद्दोबदल कर हमारे मस्तिष्क ही बदल दिये, जिससे हम घर बैठे विदेशी बन गये। मुसलमानों ने मन्दिरों को तोड़ा, शास्त्रों को जलाया; फिर भी हमने नये-नये, पहले से कहीं अधिक मन्दिर बना लिये। शास्त्रों को कण्ठस्थ रखकर बचाया और उत्तरोत्तर अच्छे-अच्छे भाष्य-वार्तिकों का निर्माण किया। लेकिन अंग्रेजों की शिक्षा एवं अन्य कूटनीतियों से मन्दिरों से भी हमारी आस्थाएँ मिट गयीं, शास्त्रों से विश्वास उठ गया और मन्दिर हमारे लिए एक म्यूज़ियम जैसी वस्तु बन गये। बड़े से बड़े आधुनिक नेताओं में शास्त्रों, वेदों एवं तदुक्त धर्मों पर विश्वास ही नहीं रह गया। स्वयं श्री सावरकरजी ने ही धर्म को 'देश-कालानुसार मनुष्यों द्वारा कल्पित नियम' ही माना है। वे हिन्दू-धर्म को राष्ट्र की प्राणप्रिय वस्तु कहते हैं; पर वह हिन्दू-धर्म और हिन्दुत्व क्या है, यह नहीं बता पाते। सिद्धान्त-दृष्टि से अनादि-अपौरुषेय वेद और तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थ ही हिन्दू-धर्म और हिन्दुत्व का आधार हो सकते हैं। किंतु सावरकरजी वेद-शास्त्रों की उपेक्षा करके तदुक्त धर्म को धड़ल्ले से ठुकराने का परामर्श देते है। उन्होंने अपनी वसीयत (मृत्यु-पत्र) में लिखा है कि "मेरे शव का विद्युत् द्वारा दाह किया जाय और मेरी अन्त्येष्टि न की जाय।" क्या यह हिन्दू-शास्त्रों और तदुक्त धर्मों का सम्मान है?

हिन्दू-राष्ट्र तथा हिन्दू-धर्म के लिए मुस्लिम तथा ईसाई दोनों ने भयङ्कर शत्रुता के कार्य किये हैं। मुस्लिमों के बाह्य कर्म बड़े ही उग्र और बीभत्स रहे, जब कि ईसाई ऊपर से कोमल व्यवहार करते हुए भी भीतर से अत्यधिक हानिकारक थे। विद्वान् लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "मुसलिम आक्रमणों से जब देश संकटग्रस्त था, उसी समय ईसाइयों ने भी ईसा की दसवीं "शती में मलाबार में घुसबैठ की। ईसा को १५ वीं शती से पुर्तगोज, डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज आदि ईसाई-राष्ट्र पश्चिम समुद्रीमार्ग से हिंदुस्थान पर टूट पड़े! इनका भी स्वरूप वैसा ही राक्षसी था, जैसा मुसलमानों का।

वस्तुतः आधुनिक इतिहास विरोधियों द्वारा बिगाड़े गये हैं। विदेशी इतिहास-कारों और हमारे प्रत्यक्ष शत्रुओं द्वारा लिखे गये इतिहास सही नहीं। उनमें हिंदुओं की गौरव-गाथाओं को बार-बार लुप्त किया गया और उन पर आयी आपत्तियों की ही घटनाओं को हिन्दू-इतिहासके रूप में प्रदर्शित किया गया। सर सुन्दरलाल ने

अपने 'भारत में अंग्रेजीराज' पुस्तक में कुछ न्यायप्रिय अंग्रेजों के ही लेखों से इतिहास-सम्बन्धी बेईमानी की चर्चा की है। विद्यालयों में पढ़ाई जानेवाली इतिहास की पुस्तकों में हूणों के आक्रमण के बाद की हिन्दुओं की स्थिति के सम्बन्ध में एक-दो पंक्ति भी न लिखकर सीधे मुसलमानों की सिंध पर चढ़ाई के वृत्तान्त का वर्णन किया गया और बराबर एक के बाद इस्लामी आक्रमणों के अध्याय जुड़ते रहे हैं। इस तरह उनके अनुसार हिन्दुओं का इतिहास परायों के आक्रमण और हिन्दुओं की पराजय और उनकी अखण्ड-दासता की ही कहानी है। इसलिए डा० अम्बेदकर जैसे हिन्दू-धर्म-विद्वेषी ने लिखा है : 'हिन्दुओं का जीवन निरन्तर पराजय का जीवन रहा है। यह इस प्रकार का जीवन जीना है जिसके विषय में प्रत्येक हिंदू लज्जा का अनुभव करेगा।"

वस्तुत: लेखक का यह कहना ठीक ही है कि "हूणों के पतन के बाद हिन्दुओं के दिग्विजय का इतिहास है। सन् ५५० के बाद हिंदू-राजाओं ने विभिन्न भागों से सिंधुनदीको पारकर आज जिन्हें सिंधु, बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान, हिरात, हिंदूकुश, गिलगित, काश्मीर आदि कहा जाता है और जो प्रदेश सम्राट् अशोक के पश्चात् हिन्दुओं के हाथ से यवन, शक, हूण, म्लेच्छों के हाथ चले गये थे, छीनकर हिन्दुओं ने ५०० वर्ष तक अपने अधिकार में रखा। इतना ही नहीं, चन्द्रगुप्त के साम्राज्य ने उस पार जाकर हिन्दूकुश तक हिन्दू-विजयवाहिनियों ने वैदिक-धर्म का ध्वजा फहरायी।

एक समय काश्मीर के उस पार मध्यएशिया के खोतान में भी हिन्दू-राज्य प्रस्थापित थे। तभी तो स्मिथ जैसे विदेशी इतिहासकार ने भी आश्चर्य के साथ कहा था कि 'हिन्दुओं के हाथों मिहिर गुल की पराजय तथा हूणशक्ति का सम्पूर्ण विनाश होने के उपरान्त लगभग पाँच शताब्दियों तक भारत ने विदेशी आक्रमणों से मुक्ति का अनुभव किया। डाक्टर अम्बेदकर के पागल आक्षेपों का इसे सीधा खण्डन समझना चाहिए।

मुहम्मद बिनकासिम के आक्रमण से पचास वर्ष पूर्व से ही हिन्दुस्थान पर अनेक बार मुसलमानों के हमले होते रहे। इसमें छोटी-छोटी टुकड़ियों से लेकर विशाल सेनाएँ तक भाग लेती रहीं। किन्तु हिन्दुओं ने सदैव उन प्रयत्नों को विफल कर दिया था। अन्त में अरब के मुख्य खलीफा के ओमान-स्थित उस्मान नामक गवर्नर ने सिन्ध के हिन्दू-राज्य पर प्रत्यक्ष आक्रमण किया, परन्तु सिन्ध के तत्कालीन ब्राह्मणराजा चाचा ने अरबसेना को नष्ट कर सेनापति अब्दुल अजीज को पराजित कर दिया। उसके बाद सन् ६४ तक अरबों ने कोई उल्लेख्य गड़बड़ी नहीं की। हाँ, सीमावर्ती मरकनी नामक छोटे से दूरस्थ हिन्दू-प्रदेश को जीतकर मुसलमानों

ने वहाँके हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना लिया। आगे चलकर ही वे कट्टर जङ्गली बलोच हुए।

ई० सन् ७११ में अरबी मुसलमान सेनापति ने ५० हजार की विशाल सेना लेकर सिन्ध पर प्रथम विशाल आक्रमण किया। वहाँ वैदिकधर्माभिमानी ब्राह्मण राजकुल का 'दाहिर' नामक राजा राज्य करता था। वहाँ वैदिक-धर्मियों की ही बहु-संख्या थी, बौद्ध अल्पसंख्यक थे। उसके पूर्व हूणों का उग्र राजा मिहिर गुल बौद्धों पर भीषण अत्याचार करता था। वह यद्यपि हूणवंशीय म्लेच्छ था, तो भी वैदिक देवता रुद्र का उपासक था, अतः वैदिकधर्माभिमानी था। मिहिर गुल के बाद हिन्दू-राजाओं के शासन में बौद्धों को स्वधर्मपालन के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

बौद्धों का राष्ट्रद्रोह

मुसलमानों के आक्रमण से बौद्ध अत्यन्त प्रसन्न थे। उनका विश्वास था कि जैसे यवनों (ग्रीक लोगों) के राजमिन्यांडर प्रभृति और कुषाणों के कनिष्क आदि ने बौद्धधर्म स्वीकार कर भारत में बौद्ध-राज्य की स्थापना की, वैसे ही मुसलमान भी बौद्ध बनकर बौद्ध-राज्य की उन्नति करेंगे। अरबी सेनापति ने जैसे ही महत्त्व-पूर्ण 'देवल' नामक बन्दरगाह को छीना, वैसे ही बौद्ध-नेताओं ने आगे बढ़कर उस विदेशी सेनापति का स्वागत किया और कहा कि 'दाहिर के समान वैदिकधर्मी राजा और उसके लोगों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमारे (बुद्ध) गुरु ने हमें अहिंसा की शिक्षा दी है। हम शस्त्र धारण कर राजाओं के युद्ध में हिस्सा नहीं लेते। आप विजयी हैं, आप ही हमारे राजा हैं।' राजनीति-कुशल मुहम्मद बिनकासिम ने उस समय बौद्धों को अभयदान दिया। मुसलमान इतिहासकारों ने इस वृत्तान्त के सम्बन्ध में लिखा है कि 'कासिम की सेना को दुर्गम मार्गों की जानकारी देने, सेना को स्थान-स्थान पर रसद पहुँचाने में, दाहिर की सेना का रहस्य बताने में बौद्धों और उनके भिक्षुओं ने सभी प्रकार की संभव सहायता की।'

दाहिर और कासिम की सेना से भयङ्कर युद्ध हुआ। कासिम के पास तोप तो नहीं, परन्तु एक दूरमारक अस्त्र था, जो हिन्दुओं के पास नहीं था। इस कारण हिन्दुओं का बल कम पड़ा। दाहिर की सेना में कुछ अरबी मुसलमान भी सैनिक थे। उन्होंने भी मुसलिम-सेना का साथ दिया और अपने मालिक का 'काफिर' कह कर द्रोह किया। हिन्दुओं की इन शत्रुपक्षीय लोगों पर विश्वास करने की दुर्नीति का परिणाम सभीको भोगना पड़ा। [परन्तु यहाँ भी कोई सुने तो किसका दोष है? शास्त्र स्पष्ट कहते हैं : न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्। अर्थात् अवि-श्वस्त पर तो विश्वास करना ही नहीं चाहिए, विश्वस्त पर भी अतिविश्वास नहीं

करना चाहिए।] फिर दाहिर ने बड़ी वीरता से लड़कर वीर गति पायी। उसके गिरते ही हिन्दू-सेना में भगदड़ मच गयी। दाहिर की वीरगति सुनते ही उसकी तेजस्विनी रानी ने सैकड़ों हिन्दू-वीराङ्गनाओं के साथ धधकती चिताओं में जौहर का वरण किया। फिर भी 'सूर्या' और 'परिमला' दो राजकन्याएँ तथा अन्य स्त्रियाँ उन बर्बरों के हाथ लग ही गयीं। उन आततायियों ने लूटपाट, अग्निकाण्ड करते हुए नगरों, ग्रामों में सर्वत्र कत्ले-आम किया।

संकट के समय बौद्धों के कृत्य

राजा के मरते ही बौद्धों ने बौद्ध-विहारों में मुसलमानों के स्वागतार्थ विशाल-काय घण्टे बजाये और मुसलमान राजा के उत्कर्ष के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ कीं। फिर भी उनकी कामनापूर्ति नहीं हुई। मुसलमानों ने निष्ठुरतापूर्वक बौद्धों का भी सफाया कर दिया। हिन्दू तो बीच-बीच में लड़ते रहे, उधर तो कुछ भय भी था। किन्तु बौद्धों को तो उन्होंने निःशङ्क हो गाजर-मूली के समान काट डाला। जो बौद्ध मुसलमान बन गये, वे ही जीवित रह सके। बौद्धों में प्रचलित 'बुद्ध-प्रस्थ' का अपभ्रंश ही मुसलमानों में प्रचलित 'बुत-परस्त' शब्द है। बौद्ध-विहारों के प्रस्थों में अधिकतर मूर्तियाँ दिखायी देती थीं। ऐसे बुद्ध-प्रस्थों या बुत-परस्तों को विध्वंस करना मुसलमानों के लिए धर्माज्ञा थी।"

यहाँ भी विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि बौद्ध लोग भी वैदिक हिन्दू ही थे, किन्तु वे सुधारक हो गये। उनका शास्त्रों से विश्वास उठ गया। वे वेद और वैदिक धर्मग्रन्थों का प्रामाण्य नहीं मानते थे। बुद्ध स्वयं भी हिन्दू ही थे। वे भी प्रतिक्रियास्वरूप ही वैदिक-धर्म के विरोधी हुए। उन्होंने बौद्ध-धर्म चलाया, पर उनके यहाँ भी कोई स्थायी प्रामाणिक शास्त्र नहीं था। वर्ण, आश्रम, जाति-पाँति की कोई आस्था उनमें और उनके अनुयायियों में नहीं थी। फिर संकट की घड़ी में वे बौद्ध भी कैसे रह सकते थे? अतएव उन्हें मुसलमान बनने में कुछ भी देर न लगी। जो लोग हिन्दू-शास्त्र, धर्म, ईश्वर, जाति-पाँति मानते थे, वे ही प्राणसंकट के समय भी हिन्दू रहे। प्राण दे डाले, पर धर्म नहीं छोड़ा। प्रश्न उठता है कि इसी तरह सुधारक हिन्दू भी शास्त्र नहीं मानता, जाति-पाँति में विश्वास नहीं करता, तब मौका पड़ने पर क्या वह भी बौद्धों के समान राष्ट्रद्रोही नहीं हो सकता? सुधारक हिन्दू-धर्म की बातें तो करता है, हिन्दुत्व का गुणगान भी गाता है। किन्तु उसका हिन्दुत्व और धर्म निराधार अथवा हिन्दू-धर्म-निरपेक्ष है। कारण वह कहता और लिखता है कि 'परिस्थिति के अनुसार धर्म एवं धार्मिक नियम बनते हैं और वे तोड़े भी जा सकते हैं।'

श्री सावरकर भी कहते हैं : "स्मृतियाँ बनती हैं। कभी उनका महत्त्व भी होता है, परन्तु उनको सनातन मान लेना उचित नहीं। उपयोग खत्म होते ही उनका खत्म हो जाना ही उचित है।" उन्हींका अनुकरण करते हुए सनातनधर्मी सुधारकों में भी श्री मदनमोहन मालवीयजी तथा श्री गांधीजी आदि ने भी आचार-विचार, खान-पान, विवाह, शुद्धि-अशुद्धि, विलायत-यात्रा आदि के प्रसङ्ग में प्राचीन शास्त्रों का भरपेट विरोध किया। आजकल नये 'सनातनी सुधारक' भी निकल रहे हैं, पर स्पष्ट है कि मौका आने पर ये भी टिकाऊ नहीं रह सकते। आधुनिक लोग भी मानते हैं कि 'भारत की पूर्वी एवं पश्चिमी सीमाओं पर अधिकांश बौद्ध थे और वे अनायास मुसलमान बन सके। किन्तु उत्तर प्रदेश आदि में जहाँ जाति-पाँति, खान-पान के सम्बन्ध में कट्टरता थी, वहाँ मुसलिम-शासन में रहकर भी कितने ही हिन्दू मुसलमान नहीं बने। कट्टर हिन्दू ही बने रहे। इसीसे सिद्ध होता है कि जाति-पाँति द्वारा हिन्दू-समाज की रक्षा हुई।

अनादि-अपौरुषेय वेद नित्यशास्त्र है। आर्षग्रन्थ वेदों का विवरणमात्र है। वेदों एवं आर्षग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित धर्म ही स्थिर धर्म है। उसमें कभी रद्दोबदल नहीं किया जा सकता। वैदिक अग्निहोत्रादि वर्णश्रमानुसारी धर्म ब्राह्मणादि जाति-मूलक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों तथा शूद्रों के भी समान कर्म नहीं हैं। वर्णों में रक्त-साङ्कर्य होने से धर्मबाधा उपस्थित होती है। इसीलिए विवाह, खान-पान आदि का व्यवहार वैदिक दृष्टिकोण से शुद्ध धार्मिक है। जैन, बौद्ध आदि शास्त्रप्रामाण्य नहीं मानते। इसीलिए सुधारक इस सम्बन्ध में अधकचरे हैं। वे वेद-शास्त्र का नाम तो लेते हैं, पर उनका परम्पराप्राप्त अर्थ न मानकर मनमानी अर्थ करते हैं। जातिभेद, विवाह, खानपान की वैदिक मर्यादा नहीं मानते। फलस्वरूप प्राण-संकट उपस्थित होने पर उन्हें भी सरलता से बौद्धों के समान ही धर्मान्तरित किया जाना किसी के लिए कठिन नहीं।

बौद्ध-धर्म का विनाश

श्री सावरकर के अनुसार "बौद्ध-धर्म के विनाश का कारण केवल वैदिक धर्म-धुरन्धरों द्वारा सफल खण्डन ही नहीं था, किन्तु सामाजिक और राजकीय कारण भी थे। परायों के आक्रमणों के राष्ट्रिय संकट के समय बौद्ध-संघों द्वारा सामूहिक तौर पर की गयी राष्ट्र-द्रोही तथा और आततायी हिंसाओं द्वारा जागरूक हिन्दू-समाज उन्हें उखाड़ फेंकने को सन्नद्ध हो गया। उस समय राष्ट्रद्रोही प्रवृत्तिवालों का संघ ही बौद्ध-संघ बन गया। अतः समस्त भारत में बौद्धों को राजाश्रय नहीं मिल सका।" उत्तर प्रदेश के कट्टर वैदिक राजपूत वैदिक-धर्म के उद्धार में लगे थे।

उस समय बौद्ध-संघ पङ्गु बना पड़ा था। जनसामान्य भी बौद्धों की आततायी हिंसा से तंग आकर ऊब गया। बौद्धों के इन भीषण-अत्याचारों का वर्णन पूर्णतः अवैदिक लोगों ने किया है। विन्सेण्ट स्मिथ ने लिखा है : 'अशोक के अनुसार ही हर्ष ने भी मांसभक्षण और प्राणिहत्याकरनेवाले को प्राणदण्ड का आदेश जारी कर रखा था, जिसे राजा भी क्षमादान नहीं कर सकता था। इस प्रकार उसके राज्य में मछली, पशु-पक्षी तथा हिंस्र जानवर तक की हत्या में प्राणदण्ड दिया जाता था। गुजरात के जैनमतालम्बी राजा कुमारपाल ने भी बौद्ध-राजा अशोक का अनुसरण किया। प्राणिहत्या करनेवालों को पकड़ने के लिए गुप्तचरों का व्यापक प्रबन्ध था। अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। इसका नमूना निम्नलिखित है :

शहीद जूँ का स्मारक : एकबार एक अभागे व्यापारी ने एक जूँ को मसल कर मार डाला। उस अपराध में उसे आन्हिलवाडा लाकर एक विशेष न्यायालय में उपस्थित किया गया। वहाँ उसे सब सम्पत्ति जब्त किये जाने का दण्ड सुनाया गया। एक व्यक्ति कच्चा मांस तश्तरी में ले जाते हुए पकड़ा गया तो उसे प्राणदण्ड दिया गया। जूँ मारनेवाले की सम्पत्ति जप्तकर जैनाचार्यों की व्यवस्थानुसार जूँ का स्मारकस्वरूप विशाल स्मृति-भवन बनाया गया। उसका नाम 'यूका-विहार' (जूँ का मन्दिर), रखा गया। यह बात जेन-लेखकों ने बड़े गौरवपूर्ण ढङ्ग से वर्णन की है। इन घटनाओं के कारण भी लोगों ने बौद्ध-धर्म का जुआ उतार फेंका!

वस्तुतः अहिंसा तो वैदिक-धर्म में भी है, फिर भी अवस्थाभेद से बहुत कुछ भेद है। एक संन्यासी या वनस्थ के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्राणी को न सताना अहिंसा है। किसीका अनिष्ट, चिंतन करना भी हिंसा है। किन्तु देश, राष्ट्र, धर्म की रक्षा के लिए आवश्यक संग्राम की हिंसा अहिंसा ही है। इसी तरह वैदिक यज्ञ-यागादि के देवतोद्देश्य से कतिचित् पशुओं का उपयोग भी अहिंसा ही है; क्योंकि शास्त्रानुसार ही उससे पशु की सद्गति होती है। वैष्णवों के अनुसार 'हिंसनीय की अननुग्राहिका हिंसा ही हिंसा और अनुग्राहिका हिंसा अहिंसा है।' **अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्** (ब्र० सू० ३.१.२५) सूत्रके भाष्य में स्पष्ट कहा गया है कि हिंसादिदोषयुक्त होने से वैदिक कर्म अशुद्ध है, यह पूर्वपक्ष उचित नहीं; क्योंकि वैदिक वचनों के अनुसार वैदिक कर्म परम पवित्र है। उस पशुका उपयोग हिंसा नहीं है। वैदिक वचनों के अनुसार ही धर्माधर्म का निर्णय होता है। जैसे **मा हिंस्यात्** आदि वैदिक-वचनों के अनुसार ही हिंसा पाप है, वैसे ही **अग्निषोमीयं पशुमालभेत** आदि वचनों के अनुसार पश्वालम्भन (यज्ञों में पशु का प्रयोग) धर्म ही है।

छुआछूत और बौद्ध-धर्म

आमतौर पर प्रसिद्ध है कि वैदिक सनातनधर्म में ही स्पर्शास्पर्श का विधान

है। परन्तु श्री सावरकर जी कहते हैं कि "बौद्ध लोग छुआछूत नहीं मानते थे, इस प्रसिद्धि के ठीक विपरीत बात है। बौद्ध-राज्य में प्राणि-हिंसा और अपराधी के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। खोज-खोजकर उक्त अपराधी को प्राणदण्ड दिया जाता था। अतः बौद्धराज्य-काल में छुआछूत भी अत्यन्त दृढ़ हो गयी।" प्रमाण-स्वरूप उन्होंने बौद्धमतावलम्बी चीनी प्रवासियों के विचार दिखलाये हैं। वे लिखते हैं कि "जिन जातियों ने बौद्ध-धर्म के अनुसार अहिंसा-धर्म का पालन नहीं किया, जिन्होंने हिंसात्मक बन्धों को नहीं त्यागा, उन चाण्डाल आदि जातियों को इस अप-राध के कारण नगर से बाहर निकाल दिया जाता था। उन्हें गाँव से दूर कोढ़ियों की तरह निवास करना पड़ता था। जब कभी उनको गाँवों में आने की अनुमति दी जाती थी, तो उन निर्वासित अछूतों को अपने हाथ में घुंघुरू-बँधी एक लकड़ी लेकर या टिमकी बाँधकर उसे बजाते हुए जाने की सख्त आज्ञा थी, जिससे उसकी आवाज सुनकर हरएक पथिक सावधान होकर उनकी छूत से बचा रहे। वैदिक, बौद्ध तथा जैनों में भी यह प्रथा रही, पर बौद्धकाल में यह प्रथा अत्यन्त निष्ठुर थी। अछूत लोग भी अपने से नीच जातियों को अछूत मानते थे। वैदिकों की सापेक्ष अहिंसा की अपेक्षा बौद्धों की आततायी अहिंसा में ही चाण्डाल आदि जातियों की अधिकाधिक दुर्दशा हुई। बौद्ध-काल में मछली मारनेवाले, मांसभक्षण करनेवालों को प्राणदण्ड देने-वाले बौद्ध-राज्य की अपेक्षा लाखों लोगों की उपजीविका के साधन तथा सापेक्ष हिंसा को दण्डनीय माननेवाले वैदिक-राज्य को ही चाण्डाल आदिकों ने अधिक सुखकारी माना।"

वस्तुतः वैदिकों में अस्पृश्यता घृणामूलक नहीं, विज्ञानमूलक है। आज भी चिकित्सक एक रोगी को स्पर्शकर हाथ धोकर ही दूसरे रोगी को छूता है। रजोधर्म होने पर अपनी माँ-बहन तथा पत्नी भी अस्पृश्य मानी जाती हैं। सूतक-पातक में ब्राह्मण अपने को ही अस्पृश्य मानकर देवताओं को नहीं छूता। एक महाविद्वान् वैदिक भी अपनी माता की पूजा करता है, उसका चरणोदक लेता है; फिर भी उसे शालग्राम का स्पर्श करने से रोकता है। क्या उसे अपनी ही माँ से घृणा है? वेदों ने श्वान, सूकर आदि योनियों के साथ ही उन्हीं जैसा ब्राह्मण, चाण्डाल आदि योनियों का भी वर्णन किया है : ब्राह्मणयोनिं श्वयोनिं चाण्डालयोनिं वा....(छान्दो० अ० ६ ख० १० मं० ७) जैसे पक्षियों में काक, गृद्ध आदि अस्पृश्य हैं, वैसे ही मनुष्यों में भी कुछ लोग अस्पृश्य होते हैं।

जिन लोगों ने बलात् अथवा भय से बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था, वे हजारों अछूत बौद्ध-धर्म छोड़कर पुनः वैदिकधर्मी बन गये। फलतः मुसलमानों के सिन्ध में प्रवेश के पहले ही हिन्दुस्तान में ऊँचे वर्गों से लेकर जनसामान्य में बौद्धों की

संख्या निरन्तर घटती जा रही थी। इस निरन्तर भीषण क्षीणता का प्रत्यक्षदर्शी चीनियों ने वर्णन किया है। बुद्ध-निवास के कारण पवित्र माने जानेवाले तथा सुसम्पन्न स्थान बुद्धगया, मृगदाव, श्रावस्तीनगर, कुशीनगर, कपिलवस्तु आदि बौद्ध-तीर्थं उस समय उजड़ गये थे। वहाँ यत्र-तत्र जङ्गल का दृश्य दीखने लगा। इस तरह मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व यद्यपि बौद्धधर्म तेजी से नष्ट हो रहा था, फिर भी सिन्ध, काम्बोज, पूर्वी बंगाल में उनका अस्तित्व स्थिर था। बिहार में बौद्धभिक्षुओं की बड़ी संख्या थी। उस समय सर्वत्र वैदिकराज्य पनप रहे थे। इस कारण बौद्ध-सम्प्रदाय में राष्ट्रद्रोही उपद्रव अथवा जनता पर बलात् बौद्ध-धर्म थोपने की शक्ति नहीं थी। परन्तु वैदिकराज्यों में उन्हें स्वधर्मपालन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, यह चीनी बौद्धों ने माना है। पाश्चात्त्य इतिहासकारों का पूर्वाग्रह बन गया था कि वैदिक राजसत्ताधरों ने बौद्धों का तलवार के बल पर निर्मूलन किया होगा। उन पर वैदिक-धर्म बलात् लादा गया होगा। इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने तत्कालीन इतिहास का मन्थन कर खूब छान-बीन की, फिर भी उनको कोई अपवादस्वरूप भी प्रमाण नहीं मिला।

मुसलमानों के समागम से ही बौद्धों का समुच्छेद हुआ था। एक हाथ में तलवार दूसरे में कुरान लेकर आक्रमण करनेवाले मुसलमानों के द्वारा ही बौद्ध-विहार, बौद्ध-स्तूप तथा बौद्ध समाप्त किये गये। प्रायः सभी बौद्ध मुसलमान हो गये! बहुत-से लोग अपने प्राण और धर्मग्रन्थ लेकर चीन भाग गये। बहुत-से नष्ट हो गये, पर युद्ध किसीने नहीं किया। इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं कि बौद्ध के किसी समुदाय अथवा सेना ने मुसलमानों का सामना किया हो।

दिल्ली, लखनऊ उत्तर प्रदेश आदि जहाँ एक से एक क्रूर सुलतान एवं बादशाहों ने राज्य किया, वहाँ उस समय वैदिक हिन्दुओं की बहुलता थी और आज भी है। यहाँ बौद्धों की संख्या कम हुई। जहाँ-जहाँ बौद्ध अधिक थे, वहीं मुसलमान अधिक बने। वहीं उनकी बड़ी संख्या मुसलमानों की जनसंख्या पायी जाती है। मुसलमानों की आततायी हिंसा के सामने बौद्धों की आततायी अहिंसा पराजित हो गयी।

आगे लेखक कहता है कि "जैसे गङ्गाजी से निकलकर अलग-अलग जल-प्रवाह पुनः गङ्गा की मुख्यधारा में मिल गये, वैसे ही बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म में जा मिला। बुद्ध को भी हिंदू-अवतारों में सम्मिलित कर लिया गया। इस तरह बुद्ध-मत का पूर्ण हिंदूकरण हो गया।

[वस्तुतः बौद्ध-धर्म आज भी विदेशों में सत्तारूढ़ है। भारत में भी वह शनैः-शनैः पनप रहा है और उसकी उग्रता क्रूरता और विलगाव की प्रवृत्ति आज भी

वैसी है, जैसे पहले थी। बुद्ध के अवतार की बात भी किसी समझौते से नहीं, किन्तु शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार हुई। वह भी गौतम बुद्ध को नहीं, किन्तु विष्णुयश ब्राह्मण के पुत्र बुद्ध को अवतार माना गया है। बुद्ध और गौतम बुद्ध में वैसा ही भेद है, जैसे लक्ष्मी और गृहलक्ष्मी में। बौद्धों के 'लङ्कावतार-सूत्र' में अनेक बुद्धों की चर्चा है। लङ्कावतार में कर्मों के अनुसार उनकी विभिन्न उत्कृष्ट, अपकृष्ट जातियों का भी उल्लेख है।]

हिन्दुओं की प्रतिरोध-शक्ति

"तीन सौ वर्ष तक हिन्दुओं ने मुसलमानों को सिन्ध से बाहर पैर नहीं फैलाने दिया। बार-बार उन पर आक्रमण कर हिन्दुओं ने सिंध पर पुनः विजय प्राप्त कर ली और उसे दो सौ वर्ष तक अपने अधिकार में रखा। सन् ७११ में सिंध पर मुसलिम-विजय हुई। वस्तुतः तीन सौ वर्ष के कालखण्ड के सम्बन्ध में इतिहासकार चुप है। इसका रहस्य यही है कि उनके समय तक सिन्ध में मुसलमान हिन्दुओं की प्रतिरोध-शक्ति से प्रतिरुद्ध थे। यह कम समय नहीं। अंग्रेज भारत में डेढ़ सौ वर्ष रहे, इतने में ही प्रतीत होता है कि उन्होंने शताब्दियों तक हिन्दुस्थान पर शासन किया होगा।

"इस समय मुसलमानों का आवेश समाप्त हो गया था, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसी समय पश्चिमी एशिया, अफ्रीका महाद्वीप, दक्षिण फ्रांस तक के यूरोपीय प्रदेशों को वे पादाक्रान्त कर सके थे। किन्तु वे सिन्ध से आगे नहीं बढ़ने पाये, हिन्दुओं की प्रतिरोधशक्ति से सिन्ध में ही जकड़े रहे। चित्तौड़ के बाप्पा रावल ने तो सिन्ध पर आक्रमण कर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया था। बाद में अरबों ने पुनः उसे जीत लिया, परन्तु अन्त में सुमेर राजपूतों ने सिन्ध पर अपनी सत्ता प्रस्थापित ही कर ली।

मुसलमानों के अत्याचार

"गांधार के उस पार गजना के अन्य जाति के मुसलमानों की सत्ता स्थापित हुई। वहाँके सुबुक्तगीन ने गांधार-राजा पर आक्रमण कर वायव्यदिशा से हिन्दुस्थान में घुसने की तैयारी प्रारंभ कर दी। उधर पंजाब और गांधार के हूणों को पादाक्रान्त कर हिन्दुओं ने हिन्दूकुश तक अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया था। ब्राह्मणवंशीय राजसत्ता वहाँ शासन करती रही। सुबुक्तगीन के समय उक्त कुल का जयपाल राजा राज्य करता था। उसने मुकाबिले में आक्रमण किया, परन्तु उसे सफलता न मिली। इससे उत्तेजित होकर सुबुक्तगीन ने विशाल सेना लेकर उसपर आक्रमण किया। जयपाल ने आसपास के हिन्दू-राजाओं का आह्वान किया। सबने साथ दिया और उस आततायी से टक्कर ली, फिर भी उसकी पराजय हुई। वहाँ-

की हिन्दू-राजसत्ता का उच्छेद हो गया। सुबुक्तगीन मर गया। उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। वह हिन्दू-द्वेष और धर्मोन्माद में पिता से सौ गुना बढ़ा-चढ़ा, क्रूर मुसलमान था। महमूद गजनी ने, जिसने स्वयं 'बुत-शिकन्द' (मूर्तिभञ्जक) उपाधि ग्रहण की थी, धर्माधीश खलीफा के सामने प्रतिज्ञा की कि 'यदि मैं सम्पूर्ण हिंदुस्थान से काफिरों को समाप्त न कर सका, तो सच्चा मुसलमान नहीं।'

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसने सिन्धुनदी पारकर एक के बाद दूसरा हमला करना आरम्भ कर दिया। यहींसे १००० से ७०० ई० के बाद शताब्दियों तक मुसलमानों के साथ हिन्दुओं के महायुद्धों का क्रम आरंभ होता है। विजय के कारण महमूद गजनी को आत्मविश्वास हो गया। उधर जयपाल को दो पराजयों से नैराश्य हो गया। १००१ ई० में मुहम्मद गजनी के आक्रमण करने पर सिन्धुनदी के आसपास जयपाल ने फिर उसका सामना किया, किन्तु दुर्दैव से वह धीरोदत्त पुनः पराजित हुआ। उस मान-धन ने अपने पुत्र अनङ्गपाल को राजसत्ता सौंपकर धधकती अग्निचिता में प्रवेशकर प्राणोत्सर्ग कर दिया।

अनङ्गपाल ने भी पिता का व्रत-पालन किया। १००६ ई० में मुलतान पर आक्रमण करने के लिए महमूद गजनी ने अनङ्गपाल से सेना ले जाने का मार्ग माँगा, तो अनङ्गपाल ने निर्भीकतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उसने स्वधर्मरक्षण की दृष्टि से हिन्दू-राजाओं से मिलकर शक्तिसञ्चय किया और १००८ ई० में महमूद के पुनः आक्रमण करने पर मुकाबिला कर मुसलमानों के छक्के छुड़ा दिये। केवल दो प्रहरों के युद्ध में मुसलमानों की व्यूह-रचना अस्त-व्यस्त हो गयी। महमूद पीठ दिखाकर लौटने लगा। इतने में एक अघटित घटना घटी। अनङ्गपाल का हाथी जलते हुए अग्नि-बाणों की मार से भड़क उठा और घूमकर पीछे की ओर भागा। इससे सेना में भगदड़ मच गयी। महमूद ने अवसर से लाभ उठाया और अपने भागते हुए सैनिकों को ललकारा और कुछ चुने सैनिकों का व्यूह बाँधकर प्रबल आक्रमण कर दिया।

इस अन्तिम संघर्ष में हिन्दू जीती बाजी हार गये। उस महँगी विजय से वह अपने बचे सैनिकों के साथ लौट गया। अनङ्गपाल का पीछा नहीं किया। फलतः पञ्जाब पर मुसलिम-सत्ता स्थापित नहीं हो सकी। डेढ़ वर्ष बाद उसने फिर अनङ्गपाल पर आक्रमण किया। अनङ्गपाल ने इसबार एकाकी ही अपनी बची-खुची सेना लेकर मुकाबिला किया और वीरगति पायी।

१०१० ई० में महमूद ने पञ्जाब को भी गजनी-राज्यों में मिला लिया। पुनः उसने थानेश्वर, मथुरा आदि पर आक्रमण कर धर्मान्धता के साथ मन्दिरों का विध्वंस, नगरों का अग्निदाह, जनता का कत्ले-आम तथा हिन्दू-ललनाओं का अप०

हरण, धन-सम्पदा की लूट आदि दुष्कर्म कर पुनः गजनी लौट गया। पुनः उसने कन्नौज पर आक्रमण कर घोर लूट-पाट और हत्याकाण्ड किये। १०२३ ई० में उनसे ग्वालियर, कालिञ्जर पर आक्रमण किया, तो वहाँके राजाओं ने प्रतीकार किये बिना उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

सोमनाथ पर आक्रमण

१०३६ ई० में उसने सौराष्ट्र के प्रसिद्ध सोमनाथ-मन्दिर पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक आक्रमण किया। इसबार उसकी विशाल भीषण सेना के आतङ्क से सौराष्ट्र का राजा भी अपने नाम को कलङ्कित कर भाग निकला। उस समय कोई सैनिक-संघटन सामना करने के लिए था ही नहीं। फिर पुजारी ही सामना करने के लिए आगे बढ़े। धर्मरक्षा के लिए आस-पास के हिन्दुओं को जो मिल सके, हथियारों को लेकर एकत्रित होने का आह्वान किया। इस आह्वान पर दूर-दूर के बहुत-से हिन्दू आ डटे। इसमें किसीका स्वार्थ नहीं था। वह विशुद्ध 'धर्मयुद्ध' था। पर वे प्रशिक्षित सैनिक नहीं थे। फिर भी मुहम्मद की व्यूहबद्ध सेना से दिन-रात जूझते रहे। मन्दिर के परकोटे के बाहर और मन्दिर के भीतर भी बराबर सशस्त्र प्रतीकार जारी रहा। महमूद ने स्वयं जाकर सोमनाथ की मूर्ति को भङ्ग किया।

मुसलिम इतिहासकारों के अनुसार भी मन्दिर की रक्षा करते-करते कम-से कम पचास हजार हिन्दू धर्मवीर मारे गये। वस्तुतः एक दिन मरना निश्चित ही है— आज या सौ वर्ष बाद! फिर भी अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा के अनुसार भगवान् के मन्दिरों के रक्षार्थ मृत्यु से बढ़कर और कोई चीज नहीं।

समर मरण पुनि सुरसरि तीरा।
राम - काज क्षणभङ्गु शरीरा॥

किन्तु खेद की बात है कि सोमनाथ के मन्दिर का इतिहास लिखते हुए विदेशी एवं अनेक कृतघ्न हिन्दू-इतिहासकारों ने भी उन पुजारियों एवं हिन्दू-समुदाय की देवता के प्रति भोली-भक्ति का उपहासमात्र किया है। उनके भव्य बलिदानों का रत्तीभर भी गौरव-गान नहीं किया: 'लो देखो, हमने तुम्हारी मूर्तियाँ तोड़ डालीं, तुम्हारा देवता हमारा कुछ न कर सका। तुम्हारा देवता झूठा, हम मूर्तिभञ्जकों का अल्लाह देव ही सच्चा है!'

वस्तुतः हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार मूर्ति ही देवता नहीं है। किन्तु मूर्ति में देवता की भावना से पूजा की जाती है। अतएव एक देवताओं की लाखों मूर्तियाँ पूजी जाती हैं। स्वभावतः कभी-कभी मूर्तियों का अङ्ग भङ्ग होता ही रहता है, पर एतावता देवता का अङ्ग-भङ्ग नहीं माना जाता। किसीके चित्र या फोटो का सम्मान

था पूजन तो किया ही जाता है और उसके सम्मान से मूर्तिवाले का भी सम्मान समझा जाता है। परन्तु फोटो या चित्र के नाश से फोटोवाले का नाश समझनेवाला कोई मूर्ख ही हो सकता है, समझदार नहीं।

ऐसे मौलवी-मुल्लाओं की डींगों का उत्तर देते हुए वीर सावरकर ने ठीक ही लिखा है : "क्या इन डींगों को ही सच्ची-कसौटी मानें ? अल्लाह् को धिक्कारनेवाला चंगेज खाँ और उसके उत्तराधिकारियों ने खलीफा की राजधानी में घुसकर खलीफा को खतम कर दिया था। अल्लाह् के घर मस्जिदों को जला दिया, कितनी मस्जिदों को घुड़साल बना दिया। कुरान की पुस्तकों को घोड़ों के पैरोंतले रौंदवाया। तब अल्लाह् ने भी चंगेज खाँ आदि का हाथ नहीं पकड़ा ! क्या ऐसे सैकड़ों प्रसङ्गों को देखकर मौलवी-मुल्ला अपने अल्लाह् को झूठा और कमजोर मानेंगे ?"

सोमनाथ-मन्दिर को ध्वस्त कर अपार धन-सम्पत्ति लूटकर सुलतान महमूद गजनी लौटने लगा, तो उसे मालूम पड़ा हिन्दू-जनता उत्तेजित हो उठी है। मालवा का नरेश अपनी विशाल सेना लेकर समराङ्गण में उसकी वापसी की प्रतीक्षा कर रहा है। तब महमूद ने उससे सामना करने का साहस नहीं दिखाया। मालवा का सीधा मार्ग छोड़कर वह सिन्धु के मरुस्थलीय मार्ग से गजनी लौट गया। १०३० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। उसने हिन्दुस्थान पर १५ बड़े आक्रमण किये थे।

धर्मान्तरण

श्री सावरकरजी लिखते हैं कि "आगे के इतिहास के अनुसार हिन्दुओं ने महमूद द्वारा विजित राज्यों को फिर से जीत लिया। परन्तु धर्मान्तरित किये हिन्दुओं को धार्मिक दृष्टि से हिन्दू-राष्ट्र की क्षीण होनेवाली संख्याशक्ति की पूर्ति नहीं कर पाये। तत्कालीन हिन्दू-समाज के जातिभेद, छुआछूत, धार्मिक असहिष्णुता आदि विचित्र काल्पनिक विभ्रम हिन्दू-राष्ट्र के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुए। उसी कारण बलात् मुसलमान् बनाये जानेवाले हिन्दू मुसलमान ही बने रह गये। उससे मुसलमानों की संख्या पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ती गयी। उनमें भावी पीढ़ियाँ और कट्टर मुसलमान बन गयीं। बाद में ईरानी, तुर्की, मुगलों के आक्रमणों के समय वे भी हजारों की संख्या में उनकी सेना में भरती होकर आक्रमणकारी हुए।

सिन्धु नदी के पार 'धूरी' नामक हिन्दुओं की एक जाति निवास करती थी। परिस्थितिवश वह मुसलमान हो हिन्दुओं की कट्टर दुश्मन बन गयी। प्रख्यात हिन्दू-द्वेषी सुल्तान मुहम्मद गोरी इसी हिन्दू-जाति का था। वस्तुतः अफगानिस्तान, पठानिस्तान, बलोचिस्तान आदि के बहुत-से मुसलमान वहाँके आदिनिवासी हिन्दू ही थे। धर्म के बदलने से उनकी राष्ट्रियता भी बदलती रही। यही धर्मान्तरता, राष्ट्रान्तरता है।"

'धर्म' शब्द का अर्थ

यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग विभिन्न धर्मों अथवा स्वतंत्र दर्शन के तत्त्वज्ञान और तुलनात्मक अध्ययन करने तथा उनमें से व्यक्तिगत रूप से स्वीकार करने योग्य गुणों का आचरण करने के अर्थ में नहीं है। किन्तु 'अमुक पुस्तक ईश्वर-प्रेरित है, उसकी दो जिल्दों में जो धर्म बताया गया है, वही केवल धर्म है, उसके अतिरिक्त अन्य सब असत्य-पाप है' इस प्रकार अहङ्कार से जो संस्था उस धर्म के तथाकथित तत्त्वज्ञान को ही नहीं, किन्तु आचार-विचार, निर्बन्ध, व्यवहार, भाषा आदि को भी भिन्नधर्मावलम्बियों पर उपदेश के बल पर थोपने में असफल होकर कपट, क्रूरता, बलात्कार तक में संकोच नहीं करती, ऐसी आक्रामक संस्थाओं के लिए 'धर्म' शब्द का प्रयोग है। राष्ट्रान्तर ऐसी धार्मिक संस्थाओं द्वारा किये गये धर्मान्तरण का ही परिणाम है।

वस्तुतः धर्म का स्वरूप तो अनादि-अपौरुषेय वेदों से ही विचारित होता है। ईश्वर, जीव, जगत् अनादि हैं। अतः ईश्वरीय शासन-संविधानरूप वेद भी अनादि ही हैं। डेढ़ हजार या दो हजार वर्ष से ही ईश्वरप्रेषित धर्मग्रन्थ का प्रसार हुआ, यह युक्तिसंगत नहीं। ऐसा होने पर ईश्वर में विषमता दोष होगा; क्योंकि उसने दो हजार से पूर्व के लोगों को कल्याण का मार्ग ही नहीं बताया। अतः कहना होगा कि अनादि काल से ही ईश्वर और उसका शास्त्र तथा धर्म है। अन्य सादि धर्म और मत उसीके आंशिक रूप हैं। फिर बलात् किसी भी धर्म या विचार को लादकर किसीका धर्मान्तरण करना तो तर्कसंगत भी नहीं।

लेखक आगे लिखते हैं कि "उस समय हिन्दुओं ने जाति-बहिष्कार का प्रति-अस्त्र अपनाया। मुसलमानों के धार्मिक आक्रमण का प्रतीकार करने के लिए राम-बाण-सरीखा कोई प्रत्यस्त्र नहीं था। पर वह जाति-बहिष्कार धर्मरक्षक न होकर स्वधर्मघातक ही सिद्ध हुआ।"

जातिभेद और जाति-बहिष्कार

लेखक के अनुसार "हिन्दुओं द्वारा हूणों के समूलोच्छेद के बाद हिन्दुओं के सैकड़ों नेताओं ने हिन्दू-समाज और हिन्दू-राष्ट्र की राजनैतिक-सामाजिक सुस्थिति लाने के लिए राष्ट्रिय-स्तर पर सर्वाङ्गीण प्रयास आरंभ किया। तत्कालीन राजकीय नेतृत्व उदयोन्मुख राजपूतों के प्रतापी राजघरानों को प्राप्त था। उस पुनर्निर्माण में हिन्दू-समाज की व्यवस्था जातिभेद की चौखट में जमाकर बिठायी जा रही थी। धीरे-धीरे जाति-प्रथा को जन्मजात जातिभेद का अपरिहार्य रूप प्राप्त हुआ। चार वर्ण और उनके पेट से निकले। अन्यान्य गौण जातिप्रवादों की अभिवृद्धि होते-होते अन्त में शास्त्र की अनुमति से प्रायः सर्वसम्मति से हिन्दूजाति सामाजिक-धार्मिक

दृष्टि से चार हजार अन्तर्गत जन्मजात जातियों में विभाजित हो गयी। यह परिवर्तन उस काल की वैदिक हिन्दू-राष्ट्र की सामाजिक स्थिति की आवश्यकतानुसार ही हुआ। इसके अनुसार अपनी जाति में ही खान-पान, विवाह रहेगा। बहुत-सी जातियों में अन्य जातियों के साथ रोटी-पानी का व्यवहार दण्डनीय था। लड़की देने-लेने पर भी कड़ा प्रतिबन्ध था। इसीके अनुसार हुक्का-बन्दी, पानी-बन्दी, बेटी-बन्दी, स्पर्श-बन्दी, शुद्धिबन्दी, सिन्धु-बन्दी आदि सात नाम हुए। हिन्दुओं की प्रगति में बाधा डालनेवाली ये सात बन्दियाँ मानों सात बेड़ियाँ थीं। इन्हें म्लेच्छों ने नहीं, किन्तु स्वयं हिन्दुओं ने बुद्धिविभ्रम के कारण स्वधर्मरक्षा के ताबीज के रूप में अपने पैरों में ठोक लिया। ये स्वदेशी बेड़ियाँ थी।"

लेखक की हिन्दू-उन्नति की भावना प्रशंसनीय होते हुए भी खेद है कि शास्त्र, धर्म तथा जातिभेदसम्बन्धी उसके विचार भ्रान्तिपूर्ण ही हैं। इसका कारण यही है कि उन्होंने हिन्दू-शास्त्रों का परम्परा से अध्ययन नहीं किया। पाश्चात्य इतिहासों एवं विचारों की समालोचना करते हुए भी वे उनसे अपने को अप्रभावित नहीं रख सके। जड़ विकासवादी पाश्चात्यों ने ही माना है कि 'कोई ईश्वर या स्थायी प्रामाणिक शास्त्र एवं स्थायी धर्म नहीं है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार शास्त्र-स्मृतियाँ तथा धार्मिक-सामाजिक नियम बदलते हैं। जबतक वे लाभदायक हों, उनसे लाभ उठाना चाहिए। जब वे हानिकारक सिद्ध होने लगें, तब उन्हें तोड़ फेंकना चाहिए।' श्री सावरकर, श्री गोलवलकर आदि सभी इन विचारों से प्रभावित थे।

वेद अनादि-अपौरुषेय हैं, इस विषय में हमारा संस्कृतभाषा में 'वेदस्वरूप-विमर्शः' और हिन्दी-भाषा में 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' पढ़ें। इतिहासवेत्ता भी संसार के पुस्तकालयों में ऋग्वेद से प्राचीन पुस्तक कोई नहीं है, ऐसा मानते हैं। मनु, व्यास वेद को अनादि कहते हैं। उन वेदों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्णों की उत्पत्ति परमेश्वर के मुख आदि अङ्गों से हुई है और उन वर्णों के अनुसार ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि आश्रमों की व्यवस्था है। वर्ण-संकरता, रक्तसंकरता से बचकर माता की असपिण्डा, पिता की असगोत्रा विवाहिता कन्या से उत्पादित सन्तान ही धर्म-कर्म तथा ईश्वराराधन के सुयोग्य हो सकती है। क्षत्रिय-साध्य राजसूय आदि कर्मों में ब्राह्मण का भी अधिकार नहीं है। कर्मों की व्यवस्था जाति-व्यवस्था पर निर्भर है। फलतः प्रमाद से संकर उत्पन्न हुए। प्रतिलोम संकर अत्यधिक निन्द्य एवं अनुलोम संकर कुछ कम निन्द्य हुए। संकरों में भी सांकर्य होने से फिर अनेक उपजातियों का होना स्वाभाविक ही था।

वेदों के अनुसार ही मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा संकरों के धर्म-कर्म की व्यवस्था की है। यह सारी हूणों के पराभव के बाद की

व्यवस्था नही, किन्तु अनादि वेदों एवं तदाधारित आर्षग्रन्थों की व्यवस्था है। अतिप्राचीन, लाखों वर्ष पूर्व से भगवान् राम और उनकी रामायण द्वारा भी यह व्यवस्था आहत थी। मनु तथा अन्य स्मृतिकारों, महाभारत, गीता, ब्रह्मसूत्र आदि के निर्माता व्यास आदिकों ने इसीका पोषण किया है। तर्कदृष्टि से भी जाति जन्मना ही सिद्ध होती है। मनुष्य, श्वान, शूकरादि जातियों का सम्बन्ध जन्म से मरण पर्यन्त वही रहता है। अच्छा-बुरा या मृत-जीवित अश्व अश्व ही रहता है, गाय गाय ही रहती है। उसमें रद्दोबदल नहीं होता। यदि यह कल्पनामात्र माना जाय और उसमें रद्दोबदल में कोई आपत्ति नहीं तब तो फिर हिन्दू-जाति और हिन्दू-राष्ट्र के भी परिवर्तन में क्या हर्ज है और उसकी रक्षा के लिए इतने त्याग-बलिदान की क्या आवश्यकता है? प्राचीनता की दृष्टि से वेदादि-शास्त्रों में ब्राह्मणादि जातियाँ ही प्रसिद्ध हैं। यदि उन्हींका उच्छेद हो सकता है तब जिस हिन्दू का स्पष्ट रूप से वेद, रामायण, भारत तथा मन्वादि धर्मशास्त्रों में उल्लेख भी नहीं है, उसकी अनुच्छेद्यता कैसे सिद्ध होगी? यदि धर्म केवल काल्पनिक ही है, तो उसकी रक्षा के लिए ही इतना भगीरथ प्रयत्न क्यों?

अतः ब्राह्मणादि जातिभेद को कुछ राजपूतों के नेतृत्व में कल्पित व्यवस्था मानना सर्वथा भूल है। यदि किसी जाति की लड़की से किसी जाति के लड़के के सम्बन्ध में कोई भेद नहीं, धर्म भी काल्पनिक है तो ईसाई और मुसलमान आदि से भी परहेज क्यों? इसीलिए जातिरक्षा एवं तन्मूलक धर्म की रक्षा के लिए रोटी-बन्दी, बेटा-बन्दी, स्पर्शबन्दी आदि ठीक ही हैं।

जाति-बहिष्कार भी कोई अनहोनी बात नहीं। किसी भी संस्था में स्थायित्व तभी रह सकता है, जब उसमें अनुशासन हो और नियमोल्लङ्घन का दण्ड हो। जो संस्था सदस्यसंख्या-वृद्धि के प्रलोभन में नियमोल्लङ्घन की परवाह नहीं करती, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। हाँ, परवशता में नियमोल्लङ्घन का प्रायश्चित्त तो प्राचीन वैदिक-समाज में भी था ही। सच पूछें तो स्थिर-शास्त्र स्थिर-धर्म पर आधारित स्थिर जन्मजात जाति-व्यवस्था और जाति-बहिष्कार के कारण ही अभीतक शुद्ध ब्राह्मणादि वर्ण और वेद तथा वैदिक-धर्म अल्पमात्रा में ही सही, सुरक्षित है। हिन्दू-समाज का विनाश, संघटन और उसकी आश्चर्यजनक स्थिरता का यही मूल है। बीज-रक्त की संकरता से बचकर अविकृत शुद्ध परम्परा की रक्षा एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आज तो गायों, घोड़ों और कुत्तों के भी नस्ल-सुधार का ध्यान रखा जाता है। फिर क्या हिन्दू के बीज-रक्त की शुद्धता मिटाकर आततायी म्लेच्छों का रक्त-साङ्कर्य सम्पादन करके उसका विनाश करना उचित था या हो सकता है?

स्मृतिकार ऋषियों का अनुवंश-विज्ञान श्रमविभागात्मक सामुदायिक जीवन का विचार ही नहीं, अपितु पारलौकिक-ऐहिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस भी उसी

व्यवस्था पर अवलम्बित था। वह हजारों नहीं, लाखों वर्षों से अनेक संकटों को पार करती कोटि-कोटि स्पृश्य-अस्पृश्य सब प्रकार के हिन्दुओं पर अपनी अमिट छाप डालती जीवित है। अनेक ईसाई-मिशनरियों ने माना है कि जाति-व्यवस्था ही हमारे ईसाइयत-विस्तार में बाधा है। यह न होती तो अबतक सारे भारत को ईसाई बना लिया होता। असंख्य जाति-समूहों के कारण विच्छिन्न दीखनेवाले राष्ट्र के भीतर से जिस अदम्य एकात्मभाव की भावना के स्फुरण में लेखक हिन्दुत्व एवं हिन्दू-राष्ट्र की कल्पना करते हैं, उसका भी आधार अनादि वेदादि-शास्त्र एवं तदुक्त धर्म में अडिग विश्वास ही है।

आपके (श्री सावरकर के) अनुसार 'दीखनेवाले इस जातिभेद के स्वायत्त, किन्तु संयुक्त सङ्घ को जिस आन्तरिक 'अन्तर्यामी एवं अनिर्वाच्य एकात्मभावना ने एकजीव कर रखा है', वह राष्ट्रिय-भावना हिन्दुत्व या हिन्दू-धर्म भी स्थिर शास्त्र एवं तदाधारित धर्म पर ही निर्भर है। यदि शास्त्र, कर्म तथा जाति कोई वास्तविक तात्त्विक और प्रामाणिक नहीं, तो फिर सब भावना ही है। गुञ्जा-पुञ्ज में वह्नि-भावना तथा विधुर-परिभावित कामिनी-भावना भी भावना ही है। बिना प्रामाणिक आधार के भावनामात्र अकिञ्चित्कर ही होता है।

जाति-बहिष्कार

वस्तुतः जाति तो नित्य होती है। वह जन्म से लेकर मरणपर्यन्त व्यक्ति से पृथक् नहीं होती। किन्तु प्रकृत में शास्त्रानुसारी तथा लौकिक विशेष ढङ्ग के धर्म, आचार-विचार से विशिष्ट तत्तद् ब्राह्मणादि समाज ही जाति है। उसके निर्धारित शास्त्रीय नियमों का उलङ्घन करनेवाले को उस समाज से पृथक् कर देना ही जाति-बहिष्कार था। यह कभी भी लाचारी हालत में ही होता था। जैसे जब कभी शरीर का कोई अङ्ग सड़ जाता है और दुश्चिकित्स्य हो जाता है तभी उसकी शल्यचिकित्सा (आपरेशन) की जाती है। शरीर-रक्षा के लिए अनिवार्य अङ्गविच्छेद का उद्देश्य भी शरीर-रक्षा ही है, अङ्ग-विच्छेद नहीं। सामान्यतया कोई भी अपना अङ्ग-विच्छेद नहीं चाहता। भरसक चिकित्सा कर प्रत्येक अङ्ग की सुरक्षा ही अभीष्ट होती है। ठीक इसी तरह आज जैसे ही नाना प्रकार के पापों के प्रायश्चित्त सर्वदा थे और आज भी हैं। बलात् धर्मान्तरित तथा पतित लोगों के लिए प्रायश्चित्त एवं शुद्धि का विधान है ही। उसके न करने पर ही बहिष्कार की बात अपनायी जाती थी। इतिहासकारों ने सोमनाथ-मन्दिर-सम्बन्धी जैसा भ्रामक प्रचार किया, जाति-बहिष्कार के सम्बन्ध में भी वैसा ही मिथ्या प्रचार किया है। शास्त्रीय रोटीबन्दी, बेटीबन्दी तथा स्पर्शास्पर्शव्यवस्था अभिमन्त्रित, रत्नजटित रक्षाबन्धन ही है। ब्राह्मण या हरिजन को यदि अपनी जाति पर गर्व नहीं होता तो हिन्दुत्व पर ही गर्व क्यों होना चाहिए? व्यष्टि

के बिना समष्टि कभी टिक ही नहीं सकती। जातिभेद के बिना उसका स्वायत्त-संयुक्त सङ्घ भी सम्भव कहाँ ?

हम सब समान देश, समान धर्म, समान शास्त्र, समान ईश्वर को माननेवाले हैं, इसीलिए एक हैं, यही एकात्मभाव है। फिर किन्हीं अवान्तर जाति, अवान्तर धर्म से भिन्न होते हुए भी एक हैं। पर जिनकी शास्त्र, देश, धर्म और ईश्वर किसीमें समानता नहीं है, उनमें एकात्मता का अनुभव नहीं होता। भारत को पितृभू, पुण्य-भू मानने की शर्त भी हिन्दुत्व के लिए अधूरी है। कई मुसलमान (कादियानी अहमदी) आदि भी भारत को पितृ-भू मानते हैं, साथ ही अपनी मस्जिद को भी पुण्यभूमि मानते हैं। कई हिन्दू भी नास्तिक होने से भारत को पुण्यभूमि नहीं मानते। जो हिन्दू-नेता कोई शास्त्र या पुण्य मानता ही नहीं, वह भी हिन्दू कैसे रहेगा, क्योंकि शास्त्र के बिना पुण्य-पाप का निर्णय होना सम्भव ही नहीं।

लेखक का यह कहना सही नहीं है कि "हिन्दुओं की इन जातियों में किसी व्यक्ति द्वारा जाने या अनजाने जातीय आचरण भ्रष्ट हुआ या किसीने किसी दूसरी जाति का पानी पी लिया या किसीसे शरीरसम्बन्ध कर लिया, तो ऐसे जातीय धर्म के विपरीत आचरण करनेवाले हिन्दू को कड़ी से कड़ी सजा दी जाती थी।" क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रियों, वैश्यों तथा अनेक सच्छूद्रों में पानी पीने से जाति-बहिष्कार की प्रथा कभी भी नहीं थी और न आज ही है। इतना ही क्यों, विपरीत भोजन या विवाह हो जाने पर भी प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। प्रायश्चित्त न स्वीकार करने पर ही पाप की लघुता-गुरुता के अनुसार दण्ड की व्यवस्था थी। जाति-बहिष्कार से राजा-प्रजा सभी काँप उठते थे, यह तो उचित ही था। तभी तो दोषों से बचने का प्रयत्न होता था। जिस हिन्दुत्व में सबको सब जगह रोटी-बेटी की छूट है, उसे क्या किसी भी आचरण से आज नियन्त्रित किया जा सकता है ? ऐसे लोग वस्तुतः हिन्दू-अहिन्दू किसीमें नहीं गिने जा सकते।

श्री सावरकरजी आगे लिखते हैं : "जातिभेद का यह कुण्ठित अस्त्र मुसलमानों पर धार्मिक प्रत्याक्रमण कर उनका विनाश करने में तनिक भी उपयोगी नहीं हुआ। किन्तु इसके कारण कोटि-कोटि हिन्दुओं का धर्मान्तरण करना सरल हो गया। मुसलमानों को हिन्दू बनाने का कार्य हिन्दुओं के लिए नितान्त असम्भव हो गया। हिन्दुस्थान आने के पूर्व अरब आदि के मुसलमानों ने ईरान, तूरान, मध्यएशिया के राष्ट्रों अफ्रीका, मध्ययूरोप, स्पेन आदि के राष्ट्रों के ईसाइयों, पारसियों आदि गैर-मुस्लिमों की तलवार के बल पर अत्याचार किये एवं बलात् मुसलमान बनाया। परन्तु उन्होंने भी कभी यह स्वीकार नहीं किया कि रोटी का सम्बन्ध होनेमात्र से वे उनके सहधर्मी हो गये और उनका मूलधर्म नष्ट हो गया। यद्यपि सैकड़ों वर्षों तक उनपर

धर्मान्तरण की तलवार लटकती रही, परन्तु जैसे-जैसे जहाँ मुस्लिम-सत्ता समाप्त हुई, वैसे ही एक झटके के साथ वे राष्ट्र मुसलमानों को हराकर हरा झण्डा फेंककर अपने पूर्वजों का धर्म और झण्डा फहरा देते थे। अतः ईसाई और इजराइली धर्मावलम्बियों को धर्मान्तरण के बाद मुसलमान बना रखना उनकी शक्ति के बाहर की बात थी। मुस्लिम राज्यशक्ति को शताब्दियों तक अपने सशक्त सैनिकों द्वारा सतर्कतापूर्वक इस बात की देखभाल करनी पड़ती थी कि धर्मान्तरित लोग मुस्लिम-धर्म के विरुद्ध अथवा अपने धर्म में वापस जाने के लिए कोई षड्यन्त्र या विद्रोह तो नहीं कर रहे हैं!

"इसी प्रकार स्पेन, ग्रीस, सर्विया आदि के ईसाईयों ने कत्लेआम करके मुसलमानों को ईसाई बना लिया, तो उनको ईसाई बनाये रखने के लिए ईसाई-राजसत्ताओं को भी सशस्त्र कड़ा पहरा रखना पड़ता था। कारण धर्मान्तरित मुसलमान यह नहीं मानते थे कि ईसाइयों के साथ सम्बन्ध रखने से उनका स्वधर्म नष्ट हो गया। किन्तु ईसाई राजसत्ता के कमजोर होते ही वे तत्काल विद्रोह कर अपने कन्धे से ईसाई-धर्म का जुआ फेंककर अपना इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लेते थे और ईसाइयों को मुसलमान बनाकर अत्याचारों का बदला भी लेते थे।

"उपर्युक्त अनुभवों के आधार पर अरब आदि के नेता इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दुओं को मुसलमान बनाकर उन्हें सैकड़ों वर्षों तक इस्लाम-धर्म में पकड़कर जबरदस्ती रखना पड़ेगा। परन्तु सिन्ध-आक्रमण के बाद उन्हें निश्चय हो गया कि दुनिया के अन्य लोगों की अपेक्षा धर्मनिष्ठ और कट्टर होने के कारण हिन्दुओं को यद्यपि मन से मुसलमान बनाना कठिन है, तो भी वे शरीर से सरलतापूर्वक मुसलमान बनाये जा सकते हैं।

"ईसवी सन् के प्रथम चार शतकों में सीरियन ईसाइयों ने धर्मान्तरण आरम्भ किया तो उनको विदित हुआ कि एक रोटी का टुकड़ा और भातमात्र उनके मुख में ठूँस देने से उन्हें स्वधर्म से भ्रष्ट किया जा सकता है। जिस कुएँ से वे पानी पीते हैं, उसमें एक जूठी डबलरोटी का टुकड़ा, बिस्कुट या गोमांस का टुकड़ा डाल देने से गाँव के गाँव जीवनभर के लिए धर्मभ्रष्ट हो जाते हैं। उन्हें और उनके कुटुम्ब को फिर हिन्दू-धर्म में लेने की कोई व्यवस्था नहीं है।

"पुर्तगीज ईसाइयों ने भी हिन्दुओं की छुआछूत और धर्म का भोलापन देख आनन्दित होकर कहा कि 'इन मूर्ख हिन्दुओं के हिन्दुस्थान को देखते-देखते ईसाई बना डालेंगे। इस तरह हिन्दुओं ने शस्त्रों की लड़ाई में अनेक बार सफलतापूर्वक परकीयों के आक्रमण का मुकाबला किया, पर धार्मिक-आक्रमण समाप्त करने का उनके

पास कोई शस्त्र नहीं था। जिन्हें मुसलमान धर्मभ्रष्ट करते थे, उन्हें हिन्दू अपनी जाति-बहिष्कार की प्रचलित रूढि के आधार पर कठोरतापूर्वक निकाल बाहर कर देते थे। मुसलमानों के पंजाब पहुँचने तक धर्मभ्रष्ट हिन्दुओं की संख्या कई लाख हो गयी। उनके बहुत-से लोग अपने धर्म में वापस आना चाहते थे, पर हिन्दुओं के इस जाति-बहिष्कार के कठोर विधान में शुद्ध होकर हिन्दू-धर्म अथवा हिन्दू-समाज में वापस आने का कोई प्रकार अथवा प्रायश्चित्त था हो नहीं। शुद्धि-बन्दी के ही कारण उनका वापस हिन्दू बनना असम्भव था। इस तरह अपने पैरों में ही हिन्दुओं ने कुल्हाड़ी मार ली।

"जो स्वार्थसाधन के लिए मुसलमान बनता, उसके लिए तो जाति-बहिष्कार दण्ड ठीक था। स्वेच्छा से धर्मान्तरण करनेवालों के लिए यह दण्ड उचित था। परन्तु जो मुसलमानों के अत्याचारों से त्रस्त, विकल और स्वधर्मग्लानि से आत्म-हत्या के लिए तत्पर हैं, ऐसे लोगों को जाति से बहिष्कृत कर, माँ-बाप भाई-बहन, पति-पुत्रादि से जीवनभर 'अपना' कहकर स्वीकार न करना उन्हें और भी विपत्ति में डालना है!

"मुसलिम अत्याचार, धार्मिक आक्रमण और बलात्कार के शिकार हुए निर-पराध लोगों को तो जाति-बहिष्कार का दण्ड मिला, पर राक्षसी अपराध करनेवाले मुसलमानों को क्या दण्ड मिला? उनका तो इससे बाल भी बाका न हुआ। चोर को छोड़ दिया गया और साहूकार को फाँसी दे दी गयी! उल्टे जाति-बहिष्कार के दण्ड ने मुसलमानों के धार्मिक आक्रमण में प्रत्यक्ष और पर्याप्त सहायता पहुँचायी। यहूदी, ईसाई आदि अहिन्दू लोगों को मुसलिम बनाने में मुसलमानों को सौ-सौ वर्ष तक सशक्त और कड़ा पहरा रखना पड़ता था, परन्तु लक्षाधिक हिन्दुओं को अत्यन्त क्रूरतापूर्वक मुसलमान बनाने के बाद उन्हें सदैव के लिए केवल एक दिन का ही थोड़ा-सा कष्ट करना पड़ता था। एक दिन अन्न-जल-सम्भोग और सहवास करने-मात्र से हिन्दू पूरा मुसलमान हो जाता है। वह अपने पुत्र, पौत्र आदि को भी मुसल-मान बनाने का कठिन काम अपना धार्मिक कर्तव्य समझकर करता है। हिन्दुओं की इस बन्दी के कारण ही जो लोग मुसलमानों को चकमा देकर भाग आये थे और पुनः हिन्दू बनने की आशा लगाये थे, उन्हें भी निराश होकर मुसलमान ही बने रहने को बाध्य होना पड़ा। वे मुसलमान रहकर ही भारत में सुखपूर्वक रहते थे। सैकड़ों वर्ष बाद जब मुसलमानों का फिर दिल्ली की ओर आक्रमण हुआ, तो मुसलमानों को अप नीउन गुलाम मुसलिम-टोलियों को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। मुसलिम देशों में कोई हिन्दू-टोली सुख-शांति से नहीं रह सकती थी। उसे या तो मुसलमान बना लिया जाता या फिर मृत्यु के घाट उतार दिया जाता था!"

आम तौर पर उक्त कथन की पाठकों पर यही प्रतिक्रिया हो सकती है कि 'हिन्दूशास्त्र, हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-समाज अदीर्घदर्शी तथा अप्रबुद्ध ही था। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। श्री सावरकर की दृष्टि में खान-पान, स्पर्शास्पर्श, विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध अनुचित हैं। ईसाई, मुसलमानों के समान ही हिन्दुओं को भी सबके साथ स्पर्शास्पर्श, विवाह आदि करना चाहिए। परन्तु क्या इससे अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दुओं को विधर्मियों की ओर प्रवृत्त होने का प्रोत्साहन नहीं मिलता? जब हिन्दू का कोई स्थिर प्रामाणिक शास्त्र नहीं, स्मृतियाँ सामान्य नेताओं के बनाये भ्रान्ति एवं अदूरदर्शितापूर्ण नियम हैं, तो क्यों न प्रगतिशील ईसाई, मुसलिम-धर्म अपना लिया जाय? भले ही लेखक मुसलमानों की क्रूरता का भी वर्णन करते हैं, पर अन्त में वे हिन्दुओं को भी तो वही सब कुछ करने के लिए प्रेरित करते हैं। तभी तो उनके अनुसार गुरुगोविन्दसिंह के लड़कों के साथ मुसलमानों ने जैसा व्यवहार किया था, टीपू के लड़के के साथ पेशवाओं को भी वैसा ही व्यवहार करना चाहिए था। जैसे मुसलमानों ने हिन्दू औरतों को रखेल बना लिया, वैसे ही हिन्दुओं को भी मुसलिम औरतों को रखेल बना लेना चाहिए। जब लेखक के अनुसार हिन्दू-शास्त्र, धर्म तथा समाज में सुधारकर उन्हें ईसाई-मुसलमानों के आदर्शानुसार बनाना है तो बने-बनाये ईसाइ, मुसलिम-समाज को ही क्यों न अपना लिया जाय? किन्तु कोई भी समझदार इसे आत्मघात ही समझेगा।

क्या मनुष्य भी कुत्ते को काट खायें?

मनुष्य को कुत्ता काट लेता है। उसे दण्डाघात से दण्डित करना उचित हो सकता है, पर कुत्ते का अनुकरण कर मनुष्य भी उसे काट खाये, यह उचित नहीं। इसी प्रकार मुसलमानों का अनुकरण कर उनके धर्मग्रन्थों, धर्म-संस्थानों का अपमान करना, उनको औरतों का बइज्जत करना, क्रूरतापूर्वक उनके बच्चों को मारना उचित नहीं कहा जा सकता। हाँ, अन्यायी व्यक्तियो को घोर से घोर दण्ड दिया जा सकता है।

आखिर धर्म है क्या?

यदि कोई स्थिर धर्मग्रन्थ मान्य नहीं है, किसीकी रोटी खाने से, किसीका जूठा खाने से, गोमांस खाने से, ईसाई-मुसलमान स्त्रियों को पत्नी बनाने या हिन्दू-स्त्रियों का मुसलिम-ईसाइयों के सम्पर्क से धर्म नष्ट नहीं होता, तो आखिर धर्म क्या है? कहा जाता है कि 'धर्म कच्चे सूत का धागा नहीं, छुई-मुई नहीं, जो खाने-पीने या स्त्रियों, पुरुषों के सम्बन्धमात्र से नष्ट हो जाय।' परन्तु यदि धर्म फौलादी लोहा है, लूट-पाट, हत्या या व्यभिचार से किसी तरह भी वह नष्ट नहीं होता तब तो

बताना होगा कि आखिर वह धर्म क्या है? फिर तो मातृ-गमन, भगिनी-गमन, ब्रह्मघात आदि को भी 'अधर्म' कहना कठिन हो जायगा !

वस्तुतः ईश्वरीय संविधान ही परम धर्ममूल प्रसिद्ध है। गीता में तो भगवान् कृष्ण स्पष्ट शब्दों से यही कहते हैं कि जो शास्त्रविधि का उल्लंघन कर कुछ भी मनमानी करता है, उसे सुख, सिद्धि परागति कुछ भी नहीं मिलती :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

अतः कार्य-अकार्य की व्यवस्था में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र मनमानी किसी व्यक्ति या समाज का बनाया नहीं, किन्तु अनादि वेद ही शास्त्र है। संसार के सर्वप्रथम संविधान-निर्माता मनु भी कहते है कि "जो धर्म जानना चाहता, उसके लिए परम प्रमाण श्रुति ही है :

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

साथ ही मनु के अनुसार श्रुति-अविरुद्ध स्मृति और श्रुति-स्मृति-अविरुद्ध सदाचार एवं इन सबसे अविरुद्ध आत्मतुष्टि भी धर्म में प्रमाण हैं :

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतत् चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

इस दृष्टि से तो श्रुत्यादि के अनुसार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की सभी चेष्टाएँ (हलचलें) धर्म हैं और श्रुत्यादिविरुद्ध देहादि की सभी चेष्टाएँ अधर्म। अतः खाना, सोना, रोना, डरना, मरना, सन्तान उत्पन्न करना, पूजा-पाठ, जप, अग्निहोत्र ज्योतिष्टोमादि सभी शास्त्रानुकूल होने से धर्म होते हैं। तद्विपरीत अधर्म ठहरते हैं। शास्त्रानुसार धर्माचरण से ईश्वर और धर्म की सहायता मिलती है, समाज और लोक की भी उसमें सहानुभूति और सहायता मिलती है।

ईसाई, मुसलमानों को भी अपने धर्मग्रन्थ का ही सहारा है। लेकिन इधर सुधारक हिन्दू किसी भी शास्त्र या धर्म पर आस्था न रखकर मनमानी तोड़-फोड़ कर शास्त्र एवं समाज को अपनी बुद्धि के अनुसार बनाना चाहता है तो उधर ईसाई, मुसलमान अपनी बाइबिल, कुरान, हदीस पर दृढ़ आस्था रखते हैं, उनमें वे रद्दोबदल की बात भी नहीं सोचते। उनके अपमान से उत्तेजित होकर बड़ा से बड़ा बलिदान कर सकते हैं। शास्त्र-धर्म का अविश्वासी, ढुलमुल सुधारक कभी भी उनका मुकाबला नहीं कर सकता। किन्तु जो वैदिक डेढ़-दो हजार साल के बने बाइबिल, कुरान से कोटिगुणित अपने अनादि-अपौरुषेय ईश्वरीय वेदों एवं तदनुसारी आर्ष-

ग्रन्थों में सुदृढ़ विश्वास रखकर अपने सामाजिक, धार्मिक नियमों का पालन करता है, वही अन्त में बिजयी होता है। कभी सूर्य भी कुहरे से ढँक जाते हैं, पर अन्त में कुहरे का तमस्तोम सूर्य के सामने पराजित ही होता है।

बौद्ध ही मुसलमान बने !

श्री सावरकर, श्री गोलवलकर आदि सुधारक यह तो मानते ही हैं कि शास्त्र, धर्म, जाति-पाँति में विश्वास न रखनेवाले बौद्ध ही मुसलमान बने। अतएव भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमा पर बौद्धों की ही बड़ी से बड़ी संख्या थी। उनका सुस्थिर धर्म तथा जाति में विश्वास नहीं था। वे ही बिना अधिक प्रतिरोध के मुसलमान बने। दिल्ली, लखनऊ, उत्तर प्रदेश पर बादशाहों, सुलतानों, नवाबों का सदियों तक शासन रहा। वहाँ विविध अत्याचार होने पर भी वेदादि-शास्त्रों तथा जाति-पाँति में विश्वास रखनेवालों लोगों ने तो गुरु गोविन्दसिंह के बालक वीर हकीकत आदि के समान हँसते-हँसते प्राण दे दिये, पर धर्म नष्ट नहीं होने दिया। क्या श्री सावरकर आदि सुधारकों की नीति के अनुसार शिखा के दो बाल न देकर सिर देने की भी हिम्मत रखनेवाला कोई व्यक्ति पैदा हो सकता है? जिसके यहाँ शास्त्र का, शिखा का कोई महत्त्व नहीं; खान-पान, आचार-विचार का कोई महत्त्व नहीं, वह किस धर्म के लिए प्राणों को खतरे में डालने को प्रस्तुत होगा? जहाँ कहीं धोखे से या बलात्कार से शास्त्रविश्वासी जातिवादी को भ्रष्ट किया जाता है, वहाँ वे जातिवादी धर्म-विश्वासी स्वेच्छापूर्वक कठोर से कठोर प्रायश्चित्त करने को प्रस्तुत होते हैं। वे स्वयं ही अपने सम्बन्ध से अपनी जाति को अपवित्र नहीं करना चाहते। भारत में आज भी यह पद्धति है कि यदि किसीसे भूलकर गौ के बछड़े आदि की डण्डा मारने से मृत्यु हो जाय, तो वह स्वयं ही पण्डितों को पूछकर प्रायश्चित्त करता रहता है, और तबतक समाज से, कुटुम्ब से पृथक् रहता है। सूतक-पातक में ब्राह्मण आदि भी स्वयं को समाज से पृथक् रखते हैं।

बलात् भ्रष्ट होने पर प्रायश्चित्त आवश्यक

यदि किसी शत्रु ने बलात् हमारी देह से मलिन विष्ठा, मांस आदि का संसर्ग कर दिया तो उसका प्रक्षालनादि द्वारा शुद्ध करना आवश्यक होता ही है। इसी तरह बलात् धर्मभ्रष्ट किये जाने पर भी शास्त्रीय प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। धर्मभ्रष्ट का कोई प्रायचित्त नहीं, यह कहना गलत है। धर्मशास्त्रों में इच्छा-पूर्वक या अनिच्छापूर्वक किये गये सभी पापों का प्रायश्चित्त है। हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में गोमांसभक्षण, सुरापान, ब्रह्मवध जैसे महापातकों के भी प्रायश्चित्त हैं। फिर 'इच्छा या अनिच्छापूर्वक मुसलमान बन जाने या उसकी रोटी खाने, पानी पीने

तथा यौन-सम्बन्ध करने का हिन्दू-धर्म में कोई प्रायश्चित्त नहीं, यह कहना जनता की आँखों में धूल झोंकना है। अन्त में तो भगवन्नाम, भगवद्भक्ति, भगवत्तत्त्व-ज्ञान, गङ्गास्नान सभी ज्ञात-अज्ञात पापों के सर्वोत्कृष्ट प्रायश्चित्त हैं ही। भगवान् के नाम में जितनी पाप मिटाने की शक्ति है, पापी प्राणी उतना पाप कर ही नहीं सकता :

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥

प्रायश्चित्त से जातिग्राह्यता भी

धर्मभ्रष्ट होने, ईसाई, मुसलमान बनने पर शीघ्र ही शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त कर लेने पर जातिग्राह्यता भी हो जाती है। विलम्ब होने पर या म्लेच्छ स्त्री-पुरुषों से अधिक दिन यौन-सम्बन्ध रहने तथा सन्तान होने पर भी प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त कर लेने पर पारलौकिक पूर्णशुद्धि हो जाती है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आदि जो पहले था, वही फिर भी रहेगा। वह शिखादि आदि हिन्दू-चिह्नों को धारण कर सकता है। मात्र जाति तथा आनुवंशिक रक्तशुद्धि के लिए उसकी पृथक् श्रेणी रहेगी। उसी श्रेणी में उसके विवाह, खान-पान आदि चल सकते हैं। कहा जा चुका है कि जाति नित्य होती है, उसका कभी नाश नहीं होता। जैसे उत्तम-मध्यम सिंह सिंह ही होता है वैसे ही उत्तम-अधम ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ब्राह्मणादि ही रहेंगे। हिन्दू-धर्म में जब प्रतिलोम संकर चाण्डालादि को भी स्थान है, तो कृतप्रायश्चित्त धर्मान्तरित हिन्दू को स्थान क्यों नहीं? हिन्दू-समाज में अनेक श्रेणियाँ हैं। धर्मान्तरित ब्राह्मणादि प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध हो जाते हैं।

इतना ही नहीं, जन्मना मुसलमान ईसाई, अंग्रेज, यहूदी आदि को यदि विचार-पूर्वक स्वेच्छा से हिन्दू होना चाहें, तो उनको भी हिन्दू-समाज में एक श्रेणी हो सकती है।

'धर्मभ्रष्टों को पुनः शुद्धि नहीं' : मिथ्या-प्रचार

जैसे सोमनाथ-मन्दिर के पुजारियों के सम्बन्ध में विरोधी विदेशी तथा अनभिज्ञ भारतीयों ने अण्ट-सण्ट प्रचार कर रखा है, वैसे ही 'हिन्दुओं में धर्मभ्रष्टों की पुनः शुद्धि नहीं हो सकती' यह भी मिथ्या-प्रचार ही है। जैसे बौद्धों की शुद्धि हुई थी, वैसे ही धर्मान्तरित होकर मुसलमान बननेवाले बौद्धों की भी शुद्धि हो सकती थी। उन्हें भी हिन्दू-समाज में स्थान मिल सकता था। पर जो लोग स्वेच्छा से हिन्दू-बनना नहीं चाहते थे या समाज द्वारा निर्धारित जातिभेद स्वीकार करना नहीं चाहते थे वे ही मुसलमान बने रहे। जो लोग छल-छद्म से ऊपर से हिन्दू बन-

कर हिन्दू-लड़कियों से विवाह कर (रक्त-सांकर्य पैदा कर), हिन्दू-समाज को दूषित कर, पुनः मुसलमान हो जाने का इरादा रखते हैं, 'अब्दुल्ला' से 'रामपाल' बनकर कुछ हिन्दू-लड़कियों को साथ लेकर पुनः 'अब्दुला' बनने की बात सोचते हैं, उन्हें हिन्दू-समाज में बिल्कुल स्थान नहीं है।

समाजरक्षार्थ कठोर अनुशासन

कहा जा चुका है कि शास्त्रानुसार खान-पान, आचार-विचार सब धर्म हैं। अतः रोटी-बेटी का कड़ा नियम आवश्यक है। इसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यदि आपस में भी रोटी-बेटी का व्यवहार करते हैं, तो उससे सांकर्य फैलता ही है। धर्मशास्त्रानुसार पूर्वयुगों में ब्राह्मणादि अपने से निम्नवर्णों की लड़की से विवाह करने तथा आंशिक भोजनसम्बन्ध से भी पतित नहीं होते थे। उनकी सन्तानें 'अनुलोम-सङ्कर' कहलाती थीं। किन्तु विपरीत क्रम से शूद्रादि अपने से उत्कृष्ट वर्णों के साथ विवाह करने पर पतित होते थे और उनकी सन्ताने' प्रतिलोम संकर और अधिक निन्द्य मानी जाती थीं।

यदि वैश्यजाति का कोई व्यक्ति अपने से छोटी जातिसे रोटी-बेटो संबंध कर ले तो उसे जाति से बहिष्कृत होने पर भी किसी पतित मानी जानेवाली जाति के साथ होकर रोटी-बेटी का सम्बन्ध करना पड़ता है। उनकी स्वतन्त्र जाति बन जाती थी। वह भी हिन्दू-जाति का अंग रहता है और हिन्दू-समाज से बहिष्कृत नहीं होता। यह कहना गलत है कि 'ऐसे वैश्य आदि को जीवनभर मुसलमान बना रहना पड़ता है, अथवा उसमें और मुसलमान में कोई अंतर नही माना जाता, इसलिए जाति-बहिष्कृत होना समान ही है'; क्योंकि उक्त बातें प्रमाणशून्य हैं। पतित हिन्दू भी गंगास्नान करता है, रामनाम लेता है, रामायण-भागवत सुनता, गोहत्या से बचता और गोपूजा करता है। अतः उसका पतित होना या मुसलमान बन जाना दोनों बराबर नहीं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय या वैश्य अपने से निम्नजाति से विवाह आदि करने पर अपनी जाति से खान-पान, विवाह-सम्बन्ध न होने पर भी, वे सर्वथा जातिच्युत नहीं होते, किन्तु पतित ब्राह्मण आदि हो जाते हैं। यह पतन भी अपेक्षाकृत ही होता है। अनुलोम संकरों को तो मातृतुल्य जाति का मानकर उन्हें उपनयन, वेदाध्ययन का भी अधिकार प्राप्त होता है, फिर उनको मुसलमान के तुल्य समझना कितना विरुद्ध है? रोटी-बेटीबन्दी मुसलमानों के प्रति अस्त्ररूप में प्रयुक्त नहीं किया जाता। वह तो आनुवंशिक रक्तशुद्धि, वर्णशुद्धि की दृष्टि से प्रयुक्त है और सफल ही होता है। शुद्धिबन्दी का आरोप तो सर्वथा गलत ही है, क्योंकि पारलौकिक शुद्धि तो बड़े से बड़े पापो में भी होती है, व्यवहार्यता में अवश्य कुछ सीमा तक प्रतिबन्ध रहता है।

इतना ही क्यों, आधुनिक लोग तो यह भी कहते हैं कि 'अस्पृश्यता या ऊँच-नीच के कारण ही निम्नश्रेणी के हिन्दू मुसलमान हो गये; क्योंकि वे हिन्दू-समाज में अपमानित होकर नहीं रहना चाहते। मुसलिम आदि समाज में उनको बराबरी का दर्जा मिलता है।' किन्तु यह सब कथन प्रतारणामात्र है। कारण, आज भी हिन्दू-समाज में चमार, पासी, धोबी आदि बहुत-सी जातियाँ हैं जिनका ब्राह्मण आदि से रोटी-बेटी-संबंध नहीं होता। तो भी वे अपने आपको अपमानित नहीं समझती। वे मुसलमान बनने की कल्पना भी नहीं करतीं और मुसलमान का पानी पीने से भी धर्महानि समझती हैं। प्रत्युत ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा पण्डित कहे जाने-वाले लोग ही, जिनको अस्पृश्य नहीं कहा जाता, धन या स्त्री के प्रलोभन में आकर ईसाई-मुसलमान बनते हैं।

इस तरह 'धर्मभ्रष्ट, धर्मान्तरित मुसलमान, ईसाई बने हिन्दुओं की शुद्धि नहीं होती, उनको हिन्दू-समाज में नहीं लिया जा सकता; इसलिए मुसलमान-ईसाइयों की संख्या बढ़ी हैं' आदि कल्पनाएँ सर्वथा निराधार, मिथ्या तथा दुष्टप्रचार मात्र है। जाति-पाँति न माननेवाले, वेदादि-शास्त्रों में विश्वास न रखनेवाले हिन्दू लोग ही अधिकांश मुसलमान बने हैं, ईसाई बनने की प्रेरणा में अधिकतर धन, स्त्री, नौकरी आदि का प्रलोभन ही था। कुँआ या तालाब से पानी पीने या उनमें रोटी डालकर उनका पानी पीने से गाँव का गाँव भ्रष्ट होकर ईसाई-मुसलमान हो गये, यह कल्पना भी वैदिक सनातन धर्म के विरुद्ध सुनियोजित प्रचार है। कारण शास्त्र वे ही अब हैं और वे ही तब भी थे। इस समय की अपेक्षा उस समय शास्त्रमर्मज्ञ अधिक थे। ऐसे धोखे से होनेवाले धर्मभ्रंश का प्रायश्चित्त जब आज है तो तब क्यों न रहा होगा? हिन्दू-समाज के भीतर विभिन्न श्रेणियों के रूप में रहने पर तो कभी भी प्रतिबन्ध था ही नहीं।

ईसाई, मुसलमान, यहूदी आदिकों के जातीय आचार-विचार समान हैं, अतः उनमें एक दूसरे की रोटी खाने, पीने तथा यौनसम्बन्ध से पतन की कल्पना नहीं होती। हिन्दुओं में शैव, वैष्णव आदि धर्मों में भी खान-पान, यौन-सम्बंध से पतन नहीं माना जाता, क्योंकि उनमें उतनी विषमता नहीं है। किंतु सर्वथा विभिन्न जाति के ईसाई, मुसलमान आदि के साथ—जिनका बे-रोक-टोक भाई-बहन तथा विमाता से भी यौन-सम्बंध होता है, गोमांस-भक्षण जिनमें साधारण बात है—संबंध का अर्थ है हिन्दू-रक्त, हिन्दू-धर्म और मान्यताओं की पूर्ण समाप्ति! हिन्दू के यहाँ जिस मिट्टी के पात्र से शौच जाते हैं, उसे ही पीने के काम में नहीं लिया जा सकता। किंतु मुसलमान आदि के यहाँ ऐसा कोई विचार नहीं है। अशुचि मृत्तिका-पात्र से पानी पीनेवाले मृत्तिकापात्र को मिला देने से पानी पीनेवाला पात्र ही अशुद्ध

होगा, अशुद्ध पात्र का क्या बिगड़ेगा ? परन्तु आचारशून्य लोगों को यह सामान्य-सी बात भी समझ में नहीं आती।

सद्गुण-विकृति

चौथे अध्याय में श्री सावरकरजी कहते हैं कि "परोपकार, दया, अहिंसा, परधर्म-सहिष्णुता, शरणागत-वत्सलता, शत्रु पर उपकार करना, परस्त्री का अपहरण न करना, शरणागत शत्रु को क्षमा करना आदि का गलत पात्र और समय के अनुसार उपयोग दुर्गुण ही है। संसार में सत्त्व, रज, तम तीनों गुण हैं। सारा संसार सत् के धागे से नहीं बुना है। जो विजेता बनकर जीवित रहना चाहता है, कम से कम जो अन्यायियों, अत्याचारियों से पराजित होना नहीं चाहता, उसे सत्त्व, रज, तम तीनों परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए त्रिशूलवत् साधनों का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दू-मुसलिम-युद्ध में इन गुणों का विपरीत प्रयोग हुआ है। गीता के मुख्य मर्म पात्रापात्र का विवेक भी खो दिया गया था।

"शरणागत को जीवन-दान देना एक सद्गुण है, इस कारण मुहम्मद गोरी और नजीब खाँ को हिन्दू-राजाओं के हाथ आने के बाद भी जीवित छोड़ दिया गया। भूखे को अन्न देना, प्यासे को पानी पिलाना एक सद्गुण है, इस पाठ को रटकर नागों और दुष्ट साँपों को दूध पिलाना आरम्भ कर दिया गया। वे दुष्ट राक्षस, मुसलमान हमारे पवित्र मन्दिरों का विध्वंस करते रहे। सोमनाथ की मूर्तियाँ तोड़ते रहे, फिर भी साधु-संत यही उपदेश देते रहे कि 'पराये ने दुःख दिया, तो बदला न लो, भोगो, ईश्वर उसे दण्ड देगा—यह सोचकर चुप बैठो।' इसी कारण अनुकूल परिस्थिति आने पर भी हिन्दुओं ने मस्जिदों का एक पत्थर भी नहीं तोड़ा।"

आगे लेखक प्रभावशाली शब्दों में लिखता है : "जिन सद्गुणों के कारण दुराचार और पञ्च महापातकों से भी भयानक पाप होते हों, उनकी अपेक्षा ग्रन्थों में वर्णित महान् दुर्गुण भी मानव एवं राष्ट्र-हित के घातक नहीं कहे जा सकते। उन्हें कदापि धिक्कारा नहीं जा सकता। विवेकशून्य, बुद्धिभ्रष्ट मनुष्य ऐसे गुणों को सद्गुण समझते है और धर्म समझकर हठपूर्वक उनका व्यवहार करते हैं। उनका व्यक्तिशः, राष्ट्रशः विनाश अटल है। उन्हें कोई बचा नहीं सकता। ये सड़े गुण सड़ियल विषैले खाद्यान्न के समान प्राणघातक होते हैं।

"परधर्म-सहिष्णुता भी तभी सद्गुण है, जब दूसरा धर्म भी हमारे धर्म के साथ सहिष्णुता का व्यवहार करे। पर जो काफिरों का उच्छेद करना ही अपना मजहब मानता हो, उन ईसाई-मुसलमानों के प्रति तो उनके असहिष्णु कृत्य का बदला लेने के लिए, अत्याचार का प्रतिशोध लेनेवाली संक्रुद्ध असहिष्णुता ही सच्चा सद्गुण है।

मुसलिम आक्रान्ताओं ने मथुरा एवं काशी के मन्दिरों को ध्वस्त किया, अत्यन्त पूज्य पवित्र रामेश्वर तक की मूर्तियों को आगरा, दिल्ली ले जाकर उल्टी कर अपने महलों की सीढ़ियों में चुनवा दिया। इतना ही नहीं, उन पवित्र मूर्तियों का उपयोग मल-मूत्रोत्सर्ग करने के स्थानों पर किया। ऐसे अनेक उत्पातों को ही जिन्होंने अपना धर्म माना, उनके साथ सहिष्णुता का व्यवहार सद्गुण-विकृति ही है और वह नारकीय पाप के समान है।

"इसी पापाचार को पुण्य समझकर हिन्दुओं ने कईबार मुसलिम राज्य सत्ताओं, को ध्वस्तकर राजसत्ता प्राप्त करने पर भी काशी, मथुरा, रामेश्वर आदि के द्वारा मंदिरों के स्थान पर बनायी मस्जिदों को तोड़कर उनके अवशेषों को रास्ते के कंकड़ों-पत्थरों से मिलाकर उन्हें सद्गति नहीं दी।

"बहुत हुआ तो गिराये गये मंदिरों को फिर से बना लिया। हिन्दू-शासकों ने आक्रामकों द्वारा बनायी गयी मस्जिदों के लिए स्थायी आय की सम्पत्ति देकर उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व भी ग्रहण किया। महमूद गजनवी द्वारा ध्वस्त सोमनाथ के मंदिर का हिन्दुओं द्वारा पुनरुद्धार किया गया, पुनः आक्रमण कर मुसलमानों ने उसे तोड़ दिया। इन्हीं संघर्षों के बीच एक हिन्दू-राजा की सत्ता पुनःस्थापित हुई, मंदिर का पुनः निर्माण हुआ। अरब के जहाजी यात्री मुसलमानों ने नीति से मस्जिद के लिए जमीन माँगी। उचित तो यह था कि आस-पास की सब मस्जिदें तोड़ दी जातीं, अरबों का आना-जाना बन्द कर दिया जाता। परन्तु सौजन्यपूर्ण व्यवहार करते हुए राजा ने सहर्ष जमीन दे दी, सोमनाथ-मन्दिर के सामने उन्होंने फिर से मस्जिद बना ली। राजा ने उसके वार्षिक व्यय की व्यवस्था भी कर दी। इस परधर्म-सहिष्णुता का फल थोड़े दिनों बाद मिला। अलाउद्दीन आदि आक्रमणकारियों ने गुजरात पर आक्रमणकर हिन्दू-ललनाओं के साथ बलात्कार, हिन्दुओं का कत्ले-आम और मंदिरों का विध्वंस किया। उनकी बर्बर सेनाओं ने सोमनाथ-मंदिर को भी पुनः छिन्न-भिन्न कर डाला। जो दुर्गति महमूद गजनवी ने की थी, उससे भी अधिक दुर्गति इसने की। श्री सोमनाथ की मूर्ति तथा गर्भगृह की शिलाएँ दिल्ली ले जाकर मस्जिद की सीढ़ियों में चुनवा दीं।

"इस तरह मुसलमानों के उक्त काल में इसी सद्गुण-विकृति के कारण काश्मीर से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण देश में मंदिर-ध्वंस, बलात्कार कत्ले-आम, धर्मान्तरण आदि हुए। न्याय-अन्याय, स्वधर्म-परधर्म, उदारता-असंकुचितता आदि गुणों को स्वयमेव सद्गुण समझने की भ्रान्ति में हिंदू फँस गया। गुजरात के अन्हिलवाड़ा प्रदेश का राजा सिद्धराज बहुत ही पराक्रमी था। उसमें न्याय-अन्याय का पर्याप्त विवेक था। एकबार खंभात में हिन्दू-मुसलिम झगड़ा हुआ। मुहम्मद ओफी

लेखक ने इसके संदर्भ में 'आम जवानी उल्हिनकायत' पुस्तक में लिखा है कि 'बाद काफिर हिन्दुओं ने आक्रमण कर ८० मुसलमानों को मार दिया, मस्जिद की मीनार गिरा दी, मस्जिदें जला दीं। इमाम खती अली ने हिन्दू-राजा की प्रशंसा में कविता लिखी जिसमें हिन्दुओं के अत्याचारों का वर्णन किया गया था और रक्षा की माँग की गयी। राजा ने उदारतापूर्वक न्याय किया।' राजा ने राजधर्म की पुराणपन्थी बातें रट रखीं थीं। इन वाक्यों का देश, काल, पात्र आदि का विवेक रखते हुए कैसे अर्थ लगाना चाहिए, यह गुरुमन्त्र बतानेवाले चाणक्य-सूत्र उनकी सात पीढ़ियों तक को याद न थे। उसने हिन्दुओं को कठोर दण्ड दिया और मुसलमानों को एक लाख बलोत्रा सिक्कों की भारी धनराशि देकर गिरी मस्जिद की मीनारों को बनवा दिया। वह राजा शिवभक्त था, सोमनाथ की पैदल यात्रा करता था। सोमनाथ जैसे अनेक मंदिरों को विध्वंस करनेवालों की गिरी मस्जिदों को बनवाकर संरक्षण प्रदान किया। किन्तु महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी आदि के राज्य में कोई अपने मंदिरों के सम्बन्ध में एक अक्षर भी उच्चारण करने का साहस नहीं करता था। उस क्षेत्र के हिन्दू नर-नारियों को गुलाम बनाकर मध्यएशिया, काबुल, कंधार आदि में बेचा जाता था। परन्तु परधर्मसहिष्णुता के कारण हिन्दू-राजाओं के राज्य में विधर्मी मुसलमानों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ आदर-सम्मान के साथ रहती थीं। शरणार्थी बनकर निवास करनेवाले कपटी मुसलमान किसी मुसलिम-शक्ति द्वारा हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने पर विद्रोही बनकर, उनका साथ देकर हिन्दू-राजा को नष्ट करने की जी तोड़ कोशिश करते थे। हिन्दू-स्त्रियों के अपहरण के कारण हिन्दुओं की संख्या क्षीण और मुसलिमों की संख्या वृद्धिगत हुई।

मुसलमानों के इन दुष्कृत्यों को बर्बरता, धर्मान्धता एवं पागलपन कहकर नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता। किन्तु वह संख्या बढ़ाने की योजना थीं। गायों के झुण्ड में साँड़ों की संख्या यदि गायों से अधिक होती है तो संख्या तेजी से नहीं बढ़ती। यदि गायों की संख्या साँड़ों से बहुत अधिक होती हैं तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी संख्या बढ़ती ही जायगी। इसी सृष्टि क्रम के अनुसार यह नियम मनुष्यों में लागू है। वन्य मनुष्यों की टोलियों में भी यही नियम चलता था। अफ्रीका की विद्यमान वन्य मानव-टोलियों में विजयी टोली पराजित पक्ष के केवल पुरुषों की हत्या करती है। विजय के बाद टोलियों का बँटवारा आपस में कर लेते हैं। अपना संख्याबल बढ़ाना धर्म समझा जाता है। नागा लोगों में यदि स्त्री लड़ने को आगे बढ़ती है, तो उसे विषैले बाण मारकर तुरन्त समाप्त कर दिया जाता है। वे कहते है कि पकड़ में न आनेवाली स्त्री का हनन करना उस टोली के पाँच पुरुषों के मारने के बराबर है। उनकी जनसंख्या को हानि पहुँचाना है। इसी भाँति मुसलमानों में काफिरों पर विजय पाने के बाद वसूल किये जानेवाले हरजाने में आधा अंश पैसे का और आधा

स्त्रियों का होता था और ईमानदार सिपाहियों में उन्हें दस-दस के नियम से बाँट दिया जाता था। वहाँ संख्या बढ़ानेवाले सेनापतियों को 'गाजी' की उपाधि दी जाती थी। रावण ने भी कहा था :

राक्षसानामयं धर्मः परदाराभिमर्षणम्।

अर्थात् दूसरा की स्त्रियों का अपहरणकर उनके साथ बलात्कार करना हम राक्षसों का परम धर्म है। इसी रावणी निर्लज्जता और धर्मान्धता के कारण मुसलमान सिपाहियों से लेकर सुलतान तक स्त्रियों के बँटवारे में शामिल होते थे। इसे वे इस्लाम का पवित्र धर्म मानते थे। मुसलिम स्त्री-समाज भी हिंदू-स्त्रियों का शील नष्ट करने में सहायक होता था। शान्तिपूर्ण स्थिति में भी वे हिंदू-स्त्रियों को फँसने की चेष्टा करती थीं।

"शत्रुओं की महिलाओं के प्रति हिन्दुओं के सौजन्य के कारण स्वयं मुसलिम स्त्रियों को कोई भय नहीं था; क्योंकि हिन्दुओं की विजय होने पर भी उनपर अत्याचार नहीं होता था। हिन्दू विजयी होकर विजित स्त्रियों को ससम्मान शत्रुओं के शिविर में भेज देते थे। छत्रपति शिवाजी द्वारा कल्याण के सूबेदार की वधू को सालंकार उसके पति के पास वापस पहुँचाने और चिमणाजी अप्पा द्वारा पुर्तगीज-किला विजित करने के पश्चात् उनकी स्त्रियों को ससम्मान भेजने की घटनाओं का वर्णन आजके हिन्दू बड़े गर्व से करते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी और अलाउद्दीन खिलजी आदि सुलतानों द्वारा दाहिर की राजकन्याओं, कर्णावती के राजा की कमलदेवी और उसकी सुन्दर राजकुमारी देवलदेवी आदि सहस्रों हिन्दू-राजकुमारियों के साथ किये गये बलात्कार और लाखों स्त्रियों की प्रतिष्ठा की याद उन्हें नहीं आती। यदि वैसा ही अत्याचार, बलात्कार उनपर किया जाता तो उन लोगों के मन में दहशत बैठ जाती और वे भी आगे से वैसा अत्याचार करने में हिचकते। लेकिन सद्गुण-विकृति के वशीभूत शिवाजी आदिकों ने मुसलिम स्त्रियों के साथ वैसा बर्ताव नहीं किया। 'मातृवत् परदारेषु' (परस्त्री मातृवत्) के धर्मघातक सूत्र के कारण मुसलिम स्त्रियों द्वारा लाखों स्त्रियों के त्रस्त किये जाने के बाद भी उन्हें दण्ड नहीं दिया जा सका। हिन्दुओं को मुसलिम स्त्रियों के सम्बन्ध से पाप होने की मूर्खता पूर्ण धारणा बनी थी। अतः मुसलमानों को रत्तीमात्र भी भय नहीं था कि हमारी स्त्रियों को भी हिन्दू छीन लेंगे और हिन्दू बना लेंगे। यदि हिन्दू-विजय के साथ मुसलिम स्त्रियों को आत्मसात् कर लिया जाता, तो उन्हें भी इस बात का भय होता कि हिन्दुओं की विजय होने पर हमारी स्त्रियों की भी यही दुर्गति होगी। इससे लक्षावधि हिन्दू माता-बहनों, कन्याओं पर अत्याचार रुक जाता!

"शत्रु-स्त्री के आदर के कारण हिन्दुओं की अधिकाधिक दुर्दशा हुई है। हिन्दुओं ने सहस्रों मुसलिम स्त्रियों को सादर उनके खेमों में पहुँचा दिया, पर

इसका उनपर कोई असर नहीं पड़ा। उन्होंने कोई उपकार नहीं माना, प्रत्युत उसका मखौल उड़ाया। इन्होंने इसे हिन्दुओं की कायरता और नामर्दी समझा और यह समझा कि हमारी स्त्रियों की ओर तिरछी नजर से देखने का साहस ही हिन्दुओं में नहीं है।"

हमारे पूर्वजों का उदाहरण

श्री सावरकर लिखते हैं : "चाहे जो भी काटने दौड़े, नाग या नागिन, उसे कुचल ही डालना चाहिए। तभी तो प्रभु रामचन्द्र ने ऋषियों का यज्ञभङ्ग करनेवाली ताड़का को मार गिराया। लक्ष्मण ने सीता को खाने के लिए प्रवृत्त शूर्पणखा के नाक-कान काटकर भगा दिया था। आर्यों की सहस्रों ललनाओं को हरण करनेवाले नरकासुर को मारकर, बन्दिनी आर्य-ललनाओं को संकटमुक्त कर सामाजिक बदला भी लिया। ऐसी अविवेकी विचारधारा के अनुसार कृष्ण ने उन्हें असुरों को वापस नहीं किया। पौराणिक-काल के बाद भी हमारे विजेता यवन, शक, हूण आदि परकीय राजाओं, सेनापतियों को पराजित करके उनकी कन्याओं से खुल्लमखुला विवाह कर लिया करते थे।

"वस्तुतः उचित यही था कि मुस्लिम राजसत्ता उखाड़ फेंकने के बाद, मुस्लिम आक्रमणकारियों के ग्रामों, नगरों को मुस्लिमविहीन बनाकर उनका कत्लेआम कर उनके अत्याचारों का बदला लेते। यदि वैसा किया होता तो शुद्धिबन्दी का आचरण भी इस मार्ग में बाधक न बनता। प्रश्न तो केवल मुसलमानों को मिटा देने का था। 'परन्तु इस काम में सब धर्म समान हैं, राम-रहीम एक ही हैं' यही रूढ़ी बाधक बनी। हिन्दू-मुस्लिम-युद्धों में यही भयानक पराजय का कारण बना!"

वस्तुतः उक्त विचारों में ग्राह्य, अग्राह्य दोनों अंशों का विचित्र विमिश्रण है। धर्म-अधर्म, सद्गुण-दुर्गुण की परख में शास्त्रों का ही प्राधान्य होता है। लेखक ने बार-बार सोमनाथ की मूर्ति और रामेश्वर आदि में श्रद्धा प्रकट की है, उन्हें परम-पूज्य, परम पवित्र भी कहा और माना है। पर यह भी शास्त्रों के बल पर ही सिद्ध है। शास्त्र और परम्परा की मान्यता त्याज्य हो, तो फिर अमुक-अमुक पाषाणमयी मूर्तियों की पूज्यता और पवित्रता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः जैसे उन्हीं शास्त्रों को प्रमाण मानकर काष्ठमयी, धातुमयी, पाषाणमयी मूर्तियों में देवता का आवाहन-प्रतिष्ठापन कर हिन्दू उनकी पूजा करते हैं, उन्हें परम पूज्य और पवित्र मानते हैं, उनके अपमान में अपने धर्म तथा राष्ट्र का अपमान समझते हैं और उसका बदला लेने के लिए उत्तेजित होते हैं, जिसको सोमनाथ, रामेश्वरम् तथा काशी-विश्वनाथ, अयोध्या, मथुरा के राम तथा कृष्ण के मन्दिरों एवं मूर्तियों के अपमान में

भी उत्तेजना नहीं, उसे निस्तेज तथा कायर कहा जाता है, उन्हीं शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट मन्दिर-मर्यादा तथा जाति-पाँति तथा खान-पान तथा यौन-सम्बन्ध-विवेक भी मानना ही चाहिए। मनमानी खान-पान तथा यौन-सम्बन्ध से तो रक्त पवित्र न होने के कारण जाति-सांकर्य भी उत्पन्न होगा ही।

हिन्दू-जाति धर्ममूलक

वस्तुतः श्रुतियों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियाँ तो गो, अश्व, शूकर आदि जातियों के समान नित्य जातियाँ हैं। उनका विनाश शरीर-स्थितिपर्यन्त होता ही नहीं। परन्तु हिन्दु-मुस्लिम आदि जातियाँ तो धर्म के ही आधार पर निर्धारित होती हैं। अतः इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लेने पर किसी ब्राह्मण को भी हिन्दू नहीं कहा जाता। अंग्रेज, चीनी, फ्रैंच भी इस्लाम-धर्म ग्रहण करने पर मुसलमान ही होगा। इसी तरह कोई अरबी मुसलमान भी ईसाई धर्मग्रहण करने पर ईसाई हो जाता है।

सुधारक हिन्दू तो किसी अंग्रेज, इटालियन, फ्रैंच या अरबी को हिन्दू बनाकर उसे हिन्दू मानने लगता है। जैसे ईसाई तथा मुसलमानों ने ईसाई-धर्म या इसलाम-धर्म का आधार बाइबिल या कुरान माना है, वैसे ही हिन्दू-धर्म का आधार अनादि-अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारी आर्षधर्म ग्रन्थ हैं। ईसाई, मुसलमान बाइबिल, कुरान से मुँह नहीं मोड़ता। वह उनकी प्रामाणिकता को न झुठलाता है और न उनमें रद्दोबदल की बात ही सोचता है। परन्तु सुधारक हिन्दू वेद आदि के प्रामाण्य का झुठलाना भी मानता है। तो भी वेदादि-शास्त्रों के अधिकांश को ठुकराकर भी कुछ अंश को मानता है और उसमें मनमानी अर्थ का अनर्थ करता तथा उनमें रद्दोबदल के लिए भी जी-जान से प्रयत्न करता है। सुधार के आवेश में आकर वह सर्वथा शास्त्र एवं तदुक्त नियमों को ठुकरा देता है। जाति-पाँति, खान-पान, यौन-सम्बन्धों में मनमानी करना चाहता है। यह ऐसी स्थिति है कि जिसे देखकर एक तटस्थ विचारक यही सोच सकता है निराधार निष्प्रमाण तथा अस्थिर क्षणभङ्गुर तथा ईसाई-मुसलमानों के धार्मिक सामाजिक आदर्शों अनुकरणों के आधार पर बने हिन्दू-धर्म की अपेक्षा तो ईसाई, इस्लाम-धर्म ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उनका कोई सुस्थिर अधार है और वे अपेक्षाकृत सुस्थिर भी हैं। उस समाज में उसकी रक्षा के लिए बलिदान की भावना भी है। इन दृष्टियों से भी अनादि-अपौरुषेय शाश्वत वेदों तथा तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों का सम्मान ईसाई आदि की अपेक्षा कोटि-कोटि गुणित होना चाहिए। उनके शाश्वत नियमों का भी पालन करने में अडिग निष्ठा रखनी चाहिए।

सद्-ग्रन्थों में सभी समस्याओं का समाधान

अन्यायी अपराधी को कठोर दण्ड देना ही धर्म है। उसके सामने क्षमा और दया दिखाना पाप और कायरता है, यह गीता भी स्पष्ट कहती है :

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

कौरवी, पाण्डवी दोनों सेनाओं के बीच खड़े होकर अर्जुन ने जब दोनों ओर के लड़नेवाले अपने सगे-सम्बन्धियों को देखा तो उसका मन कार्पण्यदोष से अभिभूत हो गया। उसने सोचा कि इन सबको मारकर भोग भोगना रुधिर-प्रदिग्ध ग्रास का खाना है, त्रैलोक्य-राज्य के लिए भी इनका वध करना उचित नहीं है। ये लोग भले ही हमें मार दें, पर मैं इन्हें कदापि न मारूँगा। लेकिन जिन भगवान् कृष्ण ने इसी गीता में कहा कि सुहृद्, मित्र, अरि, उदासीन, पापी, पुण्यात्मा सबमें समान बुद्धि होनी चाहिए; विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता चाण्डाल सबमें पण्डित समदर्शी होते हैं, उन्हीं कृष्ण भगवान् ने कहा कि 'अर्जुन यदि तुम आनायास प्राप्त अनावृत स्वर्गद्वार के समान इस धर्मयुक्त संग्राम से मुँह मोड़ लोगे तो तुम्हारा स्वधर्म नष्ट हो जायगा, कीर्ति का विनाश होगा। इतना ही नहीं, तुम पाप के भी भागी होगे। अर्जुन तुम अस्वर्ग्य, अनार्यजुष्ट क्लैब्य का त्यागकर उठो और स्वधर्म, स्वजाति के सम्मानार्थ पूर्वजों की मान-मर्यादाओं के रक्षार्थ युद्ध करो :

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।....
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

महाभारत का यह भी कहना है कि जिसके साथ जो जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा बर्ताव करना धर्म है। मायावी के साथ माया का एवं साधुओं के साथ साधुता का बर्ताव करना ही उचित है :

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व-राजधर्म)

हमारे साहित्यिकों ने और भी बढ़कर कहा है कि जो मूढधी मायावियों के साथ मायावी नहीं होते, वे पराभव को प्राप्त हो जाते हैं :

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।

(किरातार्जुनीय)

यह सब केवल शब्दों में ही नहीं था। कौरवों ने द्रौपदी को अपमानित किया, भीमसेन ने प्रतिज्ञा की कि दुःशासन की भुजा उखाड़कर उसकी छाती फाड़कर

उसका रक्तपान करूँगा और वैसा ही कर दिखाया। दुर्योधन का ऊरूभंग करने की प्रतिज्ञा कर वह भी पूरी कर दिखायी।

इस तरह हिन्दू-शास्त्रों और आदर्शों में कहीं भी कमी नहीं है। कभी किसी देश, काल, परिस्थिति में कोई वैसा न कर सका तो यह व्यक्तिगत, कालगत दोष हो सकता है, शास्त्रों एवं आदर्शों का दोष नहीं। संसार में सात्त्विक, राजस, तामस तीनों ही प्रकार के प्राणी होते हैं। अतएव भीम का स्वभाव पृथक् है, युधिष्ठिर का आदर्श उससे पृथक् है। वे कर्तव्यपालन में किसीसे पीछे नहीं। क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध भी करते थे। शल्य जैसे वीर को रणाङ्गण में मार गिराया, फिर भी दुर्योधन को कभी दुर्योधन नहीं कहा, 'सुयोधन' ही कहते रहे।

दुर्योधन युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को अपमानित करने के लिए ही वन में गया था। उसका ही पक्ष लेकर जयद्रथ ने वन में द्रौपदी का हरण किया, जो पाण्डवों से पराजित हुआ था। चित्रसेन गन्धर्व दुर्योधन को पराजित कर बाँध (गिरफ्तार) कर ले ही जा रहा था, कि उसके मन्त्रियों ने लाचार होकर युधिष्ठिर की शरण ली तो युधिष्ठिर ने तत्काल अपने भाइयों को दुर्योधन की सहायता के लिए भेज दिया। भीमसेन ने स्पष्ट कहा कि 'चित्रसेन ने हम लोगों का ही काम किया है, ऐसे अत्याचारी दुष्ट दुर्योधन को चित्रसेन द्वारा और अपमानित होने दिया जाय। शत्रु का शत्रु अपना मित्र ही होता है।' 'परन्तु युधिष्ठिर ने कहा। ऐसा मत सोचो। आपस के युद्ध में दुर्योधन आदि सौ और हम पाँच हैं, पर अन्य के साथ युद्ध में हम सब मिलकर एक सौ पाँच हैं' :

परस्परं विरोधे तु वयं पञ्च शतं तु ते।
अन्यैः सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्॥

भीमसेन ने द्रौपदी को अपमानित करने के कारण दुर्योधन, दुःशासन का सर्वनाश कर बदला तो चुकाया, पर उसी तरह दुर्योधन की पत्नी तथा दुःशासन की पत्नी को भरी सभा में नग्न करने की बात नहीं सोची। क्या यहाँ भी चोर को छोड़ने और निरपराध को फाँसी पर लटकानेवाली बात याद रखनी चाहिए? इसी तरह छत्रपति शिवाजी आदि वीर-पुत्रकों ने आततायी मुसलमानों को रणाङ्गण में पछाड़ा, पूरा बदला चुकाया; परन्तु अपने आदर्श के अनुसार उनकी बहू-बेटियों को दण्डित न कर ससम्मान उनके खेमों में पहुँचा दिया। भले ही कोई निर्लज्ज, बेहया उन वीर-पुंगवों की मखौल उड़ाये और उन्हें अशक्त या नामर्द कहे, पर संसार के सभी सत्पुरुष उनके आदर्श की प्रशंसा किये बिना नहीं रहेंगे। पाण्डवों द्वारा चित्रसेन की कैद से छूटकर दुर्योधन ने भी अपनी गोष्ठी में यही शेखी बघारी थी कि 'पाण्डव हमारे गुलाम थे, हमारी सेवा करना, हमारी ओर से लड़ना उनका कर्तव्य

ही था।' किन्तु जिसने सुना, उसने उसकी इस घोर कृतघ्नतापूर्ण निर्लज्जता की भर्त्सना ही की।

शत्रु का उन्मूलन करना हिन्दू-संस्कृति का भी उद्घोष है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'ऋणशेष, अग्निशेष से भी शत्रुशेष अत्यधिक हानिकारक होता है।' इसी दृष्टि से राम ने रावण का और पाण्डवों ने कौरवों का समूलोन्मूलन कर डाला था। फिर भी कोई भी जाति की जाति सदोष होती है, यह भी बुद्धिमानी का अजीर्ण ही कहा जायगा। किसी जाति में अच्छे व्यक्ति हो ही नहीं सकते, यह कहना तर्कसङ्गत नहीं। रावण की लङ्का में भी कई लोग ईमानदार थे जो रावण के दुष्कर्मों से घृणा करते थे, उसे समझाते भी थे। विभीषण तथा उसके अनेक साथी प्रसिद्ध ही हैं। स्त्रियों में त्रिजटा इतर राक्षसियों से विलक्षण साध्वी थी। दुर्योधन के बन्धुओं में विकर्ण ने द्रौपदी के अपमान के समय कड़ा विरोध किया था। छत्रपति शिवाजी के समय भी कुछ मुसलमान छत्रपति के साथियों में थे। इसीलिए युद्ध-काल में हिन्दू आदर्शवीरों ने शत्रुओं का समूलोन्मूलन करते हुए भी अपने आदर्शों को नहीं भुलाया, जातिमात्र से विद्वेष नहीं किया। अनेक की रक्षा भी की। उनकी दृष्टि में असुरों में भी प्रह्लाद जैसे अच्छे लोगों के होने की सम्भावना थी। विश्वासघाती तो अपने अन्दर भी हो सकते हैं। दुर्योधन पाण्डवों का भाई ही तो था। रावण भी ब्राह्मण ही था, वेन भी क्षत्रिय ही था। अतएव आस्तिक लोग ब्राह्मण-राज या क्षत्रिय-राज न चाहकर धर्मनियन्त्रित राज्य ही चाहते थे। अन्यथा ब्राह्मण लोग रावण-राज का, क्षत्रिय वेन-राज का विरोध न करते। आजतक ब्राह्मण रामराज्य का गुणगान करते और रावण का जनाजा निकालते हैं।

अपराधियों को भी दण्ड न देना, यह परम्परा पूर्वकाल से प्रचलित नहीं है। ताड़का के आक्रमण करने पर प्रभु श्रीराम के मन में कुछ ऐसी ही बात आयी तो गुरु विश्वामित्र ने स्पष्ट कहा : 'राघव, गो-ब्राह्मण के हितार्थ इस दुर्वृत्त यक्षी का निश्चय ही वध करो। स्त्री होने के कारण इसके वध से घृणा न करो। राजपुत्र को चातुर्वर्ण्य के रक्षा के लिए नृशंस कार्य करने में भी संकोच नहीं करना चाहिए। प्रजारक्षण के लिए नृशंस-अनृशंस, पातक-युक्त, धर्म या पातक भी करना पड़े तो करना चाहिए। कारण राज्यधर्म बड़ा धर्म है, उसकी रक्षा के लिए एक सीमा में सदोष कर्म भी किये जा सकते हैं।' विश्वामित्र ने यह भी कहा कि 'विरोचन की पुत्री मन्थरा सम्पूर्ण पृथ्वी का विनाश करना चाहती थी, इसीलिए इन्द्र ने उसका वध किया। सम्पूर्ण लोगों को निद्रारहित एवं इन्द्रशून्य बनाने की इच्छावाली काव्य-माता, भृगुपत्नी का विष्णु ने ही वध किया। इस तरह पूर्वोक्त तथा अन्य भी अनेक राजाओं एवं राजपुत्रों ने अधर्मयुक्त नारियों का वध किया था। अतः तुम मेरी आज्ञानुसार घृणा त्यागकर इसका वध अवश्य करो;

गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम् ।
नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम ॥
चातुर्वर्ण्यहितार्थाय कर्तव्यं राजसूनुना ।
नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात् ॥
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा ।
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः ।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ···· ॥
श्रूयते हि पुरा शक्रो विरोचनसुतां नृप ।
पृथ्वीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्थरामभ्यसूदयत् ॥
विष्णुनाऽत्र पुरा राम भृगुपत्नी पतिव्रता ।
अनिन्द्रलोक मिच्छन्ती काव्यमाता निषूदिता ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभी राजपुत्रैर्महात्मभिः ।
अधर्मसहिता नार्यो हताः पुरुषसत्तमैः ॥

(वाल्मी० रामा० १.२५.१५–२२)

स्त्रीवध अधर्मयुक्त होने पर गो-ब्राह्मणहितार्थं चातुर्वर्ण्य-पालनार्थं प्रजा-रक्षणार्थं अधर्म, दुर्वृत्त, दुष्ट स्त्रियों का वध करना अनुचित नहीं है।

अनृतवदन (मिथ्या-भाषण) पातक है, सत्य-वदन पुण्य है। परन्तु यदि सत्य-वदन से अनेक सत्पुरुषों का वध होता हो, तो अनृत-भाषण कर उनका प्राण बचाना पुण्यकर्म होता है। यही नहीं, कुछ गायों या साधुपुरुषों का पीछा करते हुए दुष्ट लोग उनका पता पूछते हुए आयें, तो उसका ज्ञान होने पर भी दुष्टों को न बताना ही धर्म है। वहाँ सत्य बोलना ही पाप है। हाँ, न बोलने से काम चलता हो तो न बोलकर काम चलायें। परन्तु यदि न बोलने से शङ्का होती हो तो झूठ बोल-कर भी उनकी प्राणरक्षा करनी चाहिए, यह सब महाभारत शान्तिपर्व में स्पष्ट है।

इन सब दृष्टियों से दुष्ट स्त्रियों का वध करना युक्त हो सकता है। परन्तु अपराधिनी स्त्रियों का ही वध उचित है। कुछ स्त्रियों के अपराध से सबका वध करना उचित नहीं कहा जा सकता। किसी वाइसराय पर दिल्ली में बम फेंका गया, कुछ सैनिक अधिकारियों ने उसके प्रतिशोध में कत्लेआम करना चाहा। पर समझ-दार लोगों ने इसका विरोध किया और अपराधी को ही ढूँढ़कर दण्डित करने का समर्थन किया। वाइसराय ने भी अन्तिम पक्ष का ही समर्थन किया!

इसी तरह अपराधिनी मुस्लिम औरतों को अपनी पत्नी बनाकर उनके सदोष रक्तों का अपने हिन्दुओं में सम्मिश्रण कर उसे भी सदोष बनाना उचित नहीं कहा

जा सकता। रावण ने भी परदाराभिमर्षण 'राक्षसों का ही परमधर्म' कहा है। क्या हिन्दू भी उसी धर्म का आश्रयण कर राक्षस बन जायँ?

मुसलमान शरणार्थी बनकर हिन्दू-राज्यों में हिन्दुओं का टुकड़ा खाकर जीते रहे। मुस्लिम शक्तियों के आक्रमण के समय उन्होंने उनका साथ देकर राष्ट्र के साथ विश्वासघात किया, तो वे परम दण्ड्य हैं। ऐसे लोगों को शरण में लेने में खूब छान-बीन होनी चाहिए। राजनीति में धोखा देना उतना पाप नहीं होता जितना कि धोखा खाना। इसलिए विभीषण को शरण में ग्रहण करने में बड़ी सावधानी बरती गयी। श्रीराम के मन्त्रिगण सर्वथा विभीषण को गिरफ्तार कर बन्दी बना रखना चाहते थे। उन सबका समाधान करके ही राम ने विभीषण को ग्रहण किया। राम में वह शक्ति थी कि इच्छा करने पर अङ्गुल्यग्र भागमात्र से समस्त भूमण्डल के दैत्य-दानव, राक्षसों का वध कर सकते थे। इसी बल पर उन्होंने विभीषण को शरण में ग्रहण किया था:

पृथिव्यां दानवान् सर्वान् पिशाचान् गुह्यकांस्तदा।
अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्मि इच्छन् हरिगणेश्वर॥

इसी बलपर उन्होंने (श्रीरामने) कह दिया कि विभीषण ही नहीं, रावण भी शरण आवे तो उसकी रक्षा की जायगी:

विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्।

बहते हुए जलप्रवाह में बढ़ते व्यक्तियों को बचाना ठीक है, पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं बचाने की धुन में बचानेवाला ही न बह जाय। अतः अपनी स्थिति मजबूत करके ही बहनेवाले को बचाने का प्रयत्न अच्छा है। अतः अपने धनक्षय, जनक्षय, शक्तिक्षय का ध्यान रखकर, साथ ही शरणागत की ईमानदारी की परख करके ही शरणागत का ग्रहण उचित है। राम की देखादेखी असमर्थ प्राणी द्वारा कपटी शत्रुओं को शरण में लेना वैसा ही है, जैसे किसी घोड़े के पैर में नाल ठुकवाते देख मेढकी भी अपने पैर में नाल ठुकवाने की चेष्टा करे!

संख्या-क्षय का प्रश्न!

अपनी संख्या की रक्षा और वृद्धि का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, पर इसके प्रलोभन में आकर अवैध मार्गों का अपनाना कभी उचित नहीं। कई बार शक्ति-सम्पन्न अल्पसंख्यक लोग निर्बल बहुसंख्यकों को पराजित करते ही हैं। भेड़-बकरियों की संख्या बहुत होने पर भी शक्तिशाली सिंह का सामना करना उनके लिए असम्भव ही होता है। शुद्ध रक्त, शुद्ध परम्परा के विद्वान्, बलवान् थोड़े लोग भी बहुत कुछ कार्य कर सकते हैं। आजकल तो अन्न-संकट मिटाने के लिए भारतीय

शासक जनसंख्या घटाने की चिन्ता में व्यस्त होकर करोड़ों रुपये की धनराशि खर्च कर रहे हैं, यद्यपि खाद्यसमस्या का समाधान खानेवालों को समाप्त करना नहीं। गोपालन, गोरक्षण आदि पर शक्ति खर्च करने से अनायासेन सब समस्याओं का समाधान हो सकता है। फिर भी संख्या बढ़ाने के लोभ में अवैध असंख्य स्त्रियों का संग्रह, अवैध लोगों को मिलाकर सांकर्य फैलाना परिमाणतः अत्यन्त अनिष्टकर ही है। मनु, गीता और कौटिल्य आदि ने वर्णसङ्करों के विस्तार से राष्ट्रविप्लव का ही खतरा बतलाया है।

ध्यान रहे कि गायों, वन्य मनुष्यों के झुण्डों के आदर्श पर हिन्दू-समाज का निर्माण नहीं हुआ है। अतएव उनका अनुकरण भी आवश्यक नहीं। ब्रह्मचर्य-व्रत, एकपत्नी-व्रत, पातिव्रत्य, सदाचारपूर्ण जीवन मनुष्य की विशेषताएँ हैं। खाना-सोना, रोना, डरना-मरना, सन्तान पैदा करना आदि मनुष्य और पशु-पक्षी में समान होते हुए भी धर्मनिष्ठा, सदाचार-पालन मनुष्य की ही विशेषता है:

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।

मनुष्य की सभी हलचलें धर्मनियन्त्रित होती हैं। मनुष्य की राजनीति भी धर्म से ओत-प्रोत होती है। संक्षेप में कहा जा सकता है विवाह-प्रथा, उत्तराधिकार-व्यवस्था मनुष्य की असाधारण वस्तु है। पशुओं में विवाह का कोई नियम नहीं। पशु पिता एवं माता, भगिनी, पुत्री आदि को नहीं पहचानता। इसीलिए उसके लिए सब समान हैं। परन्तु मनुष्य को पिता-माता की पहचान होती है। मनुष्य पत्नी, भगिनी, पुत्री में भेद मानकर यथायोग्य व्यवहार करता है। पशु अपने बेटे, पोते को उत्तराधिकार के रूप में कुछ नहीं छोड़ जाता; पर मनुष्य तो खेत-खलिहान, मकान, दूकान, उद्योग-धन्धा अपने बेटे-पोतों को छोड़ जाता है।

विवाह और उत्तराधिकार दोनों ही शब्द-प्रमाण पर निर्भर हैं। व्यवहार में प्रत्यक्ष एवं अनुमान का उपयोग तो पशु भी करता है। दण्ड लेकर आते, आक्रोश करते मनुष्य को अनिष्टकारी समझकर वह भागता है। पुचकारते, रोटी या घास लेकर आते पुरुषों को देखकर उधर प्रवृत्त होता है। 'अयं दण्डो मदनिष्टकरः दण्डत्वात्, पूर्वानुभूतदण्डवत्' इत्यादि अनुमान उसकी प्रवृत्ति-निवृत्ति के मूल होते हैं। परन्तु शब्द-प्रमाण का आदर न होने से वह अपने पिता को नहीं जान सकता, पुत्री-भगिनी को भी नहीं जान पाता। उत्तराधिकार में पिता की संपत्ति का अधिकारी बनने के लिए अपना पिता प्रमाणित करना पड़ता है। मनुष्य प्रत्यक्ष-अनुमान से भिन्न शब्द या आगम-प्रमाण भी मानता है। अतः मनुष्य में विवाह-प्रथा और उत्तराधिकार-व्यवस्था संभव है, पशु में वह संभव नहीं।

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वा नराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

जहाँ प्रत्याक्षानुमान पर निर्भर बुद्धि जाती है, वहाँ जानेवाले वानर होते हैं। किन्तु जहाँ शास्त्र जाते हैं, वहाँ चलनेवाला मनुष्य होता है।

अतः सभ्य मनुष्य-समाज में पशु-समूहों और वन्य मनुष्यों का अनुकरण कर संख्या बढ़ाना लक्ष्य नहीं हो सकता। नियमित स्त्रियों के काम सीमित होता है, अपरिमित स्त्रियों के होने पर काम-प्रवृत्ति उद्दाम होती है। परन्तु जहाँ संयम ब्रह्मचर्य एवं पातिव्रत्य का महत्त्व होता है, वहाँ काम की उद्दाम प्रवृत्ति कभी अभीष्ट नहीं होती।

जनतन्त्र या बहुमत के राज्यों के समय यद्यपि संख्या-बाहुल्य पर ही शासन-व्यवस्था आधारित होती है, अतः वहाँ संख्यावृद्धि का महत्त्व अवश्य है। संग्रामों में भी संख्या का महत्त्व कम नहीं होता। फिर भी संख्या-वृद्धि के मोह में पड़कर अपने धर्म-कर्म, सभ्यता-संस्कृति की तिलाञ्जलि नहीं दी जा सकती। यदि धर्म, संस्कृति, सभ्यता आदि कोई स्थिरवस्तु नहीं है तो संघर्ष या संग्राम भी किसकी रक्षा के लिए होगा? स्वत्व मिटाकर स्वराज्य का भी क्या महत्त्व है? स्वत्व को रक्षा के लिए ही स्वतन्त्रता का भी महत्त्व है। यदि सिंह स्वतन्त्र होकर गदर्भ हो जाय तो इस तरह स्वतन्त्रता से तो कटघड़े में बन्द रहकर सही सिंह रहना ही श्रेष्ठ है।

अतः स्वतन्त्रता, स्वराज्य, शासन-सत्ता सबका महत्त्व अपने धर्म-संस्कृति, सभ्यता एवं जाति की स्वत्व-रक्षा में ही है। अतः उनकी रक्षा के साथ ही संख्या-वृद्धि अभीष्ट हो सकती है। फिर भी केवल संख्या नहीं, धीर, धर्मनिष्ठ, सदाचारी, बुद्धिमान्, बलवानों की वृद्धि ही संख्यावृद्धि का आधार होना चाहिए। यही एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति का रहस्य है।

आततायी स्त्री-पुरुषों को दण्डित करना उचित होने पर भी अपना आर्यत्व सुरक्षित रखना ही चाहिए। ताड़का, शूर्पनखा को उचित दण्ड देने पर भी श्रीराम और उनकी सेना ने रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि की स्त्रियों को अपमानित नहीं किया और न उन्हें बन्दरों में बाँटा। किन्तु उनके साथ यथायोग्य बर्ताव ही किया गया।

नरकासुर की बन्दिनी राजकन्याएँ

श्री सावरकर ने लिखा है कि "श्रीकृष्ण ने असुर-राज्य पर आक्रमण कर नरकासुर को मार डाला। इस सामाजिक-राजनीतिक बदले से ही सन्तुष्ट न होकर उन्होंने नरकासुर के बन्दीगृह की बन्दिनी आर्य-ललनाओं को संकट मुक्त कराकर

उन्हें अपने राज्य में लाकर सामाजिक बदला भी लिया। असुरों द्वारा भ्रष्ट की गयी कन्याएँ भ्रष्ट हो जाने के भय से असुरों के हाथ ही नहीं सौंप दी गयीं। किन्तु सहस्रों स्त्रियों को वापस लाकर सामाजिक-जीवन में उन्हें ससम्मान समरस बना दिया। उनके संरक्षण एवं पोषण का भार भूपति कृष्ण ने स्वयं वहन किया, अपने राष्ट्र का स्त्रीसंख्या-बल कभी क्षीण नहीं होने दिया।" श्री गोलवलकर ने भी अपने 'विचार-नवनीत' में श्रीकृष्ण के उक्त कार्य का 'विधवा-विवाह' कहकर समर्थन किया है।

कहना न होगा कि यह सब शास्त्रविरुद्ध एवं सत्य का अपलाप है। स्पष्टतः श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने बन्दिनी राजकन्याओं के साथ उनकी रुचि के अनुसार विवाह किया था। वे शुद्ध कन्याएँ हो थीं, यह भी भागवत से प्रमाणित है।

लङ्का-विजय के पश्चात् श्री हनुमान् ने इच्छा प्रकट की कि जिन राक्षसियों ने सीता को लङ्का के वासकाल में बे-रहमी से सताया था, उनको उचित दण्ड दिया जाय। पर सीता ने ही इस क्रूर नृशंस कार्य को आर्यजनोचित आनृशंस्य के विपरीत कहकर हनुमान् को रोक दिया :

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥
(वाल्मीकि० रामा० ६.११३.४३)

अर्थात् वधार्ह स्त्रियों पर भी आर्यजनों को करुणा ही करनी चाहिए।

श्रीकृष्ण के राजकन्याओं के साथ विवाहकार्य से विधवा-विवाह और पर-स्त्रियों तथा म्लेच्छ-स्त्रियों से विवाहकर समाज को वर्णसङ्कर बनाने का समर्थन करना सर्वथा घृणित कार्य है।

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम्।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः॥
तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवीरं विमोहिताः।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम्॥
(भाग० १०.५९.३३-३४)

इन वचनों में स्पष्ट ही कहा गया है कि श्रीकृष्ण ने भौमासुर द्वारा जीतकर लायी गयी सोलह हजार क्षत्रियकन्याओं को देखा। वे कृष्ण को देखकर मोहित हो गयीं और उन्होंने कृष्ण को मन से पतिरूप में वरण किया।

सैनिकों द्वारा उचित, विरोधी-विधर्मियों की कन्याओं से विवाह कर लेना क्षम्य हो सकता है, परन्तु धर्मदृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं। एतावता हूण, शक आदि की विवाहिता, अविवाहिता सभी स्त्रियों से विवाह करने या उन्हें वैसे ही

अपनी पत्नी बनाकर हिन्दू-समाज में समरस कर लेने आदि की कल्पनाएँ निष्प्रमाण हैं। यदि विधर्मी, म्लेच्छों एवं उनके समाज को आत्मसात् कर लेने को पाचन-शक्ति, पौरुष या पराक्रम माना जाय तब तो कहना पड़ेगा कि सर्वाधिक पाचन शक्ति म्लेच्छों में ही थी और है, जिनके लिए कोई भी स्त्री किसी समाज की हो, सबकी खपत हो जाती है। शास्त्रों एवं तदनुसारी धर्मों, सदाचारोंके कारण ही मूर्ख से लेकर विद्वान् तक, ब्राह्मण से लेकर भङ्गी तक सभी रोटी-बेटी के सम्बन्ध में शास्त्रीय विचारों का आदर करते थे। उसी निष्ठा का प्रभाव था कि आपके शब्दों में ही "सहस्रों हिन्दू-स्त्रियों ने जौहर-ज्वालाओं को सतत धधकाये रखा। परधर्मी उनका शरीर भ्रष्ट न कर सके। इसीलिए लाखों हिन्दू-स्त्रियों एवं पुरुषों ने तालाबों और कुँओं में कूदकर जलसमाधि ली। नन्हें-मुन्ने, दूध-मुँहे बच्चों को छाती से चिपकाकर चिताओं की ज्वालाओं का वरण किया, लाखों ने मुसलमानों के हाथों में पड़ने से पहले ही प्राणान्त कर दिया। मुसलमानों के चंगुल में 'हम मुसलमान नहीं बनेंगे' की वीर गर्जना करते हुए छत्रपति सम्भा, सिखगुरु तेगबहादुर, वीर बन्दा बैरागी आदि के समान उन्होंने दुःसह यातनाओं को स्वीकार कर अपने मांसके लोथड़े नुचवा दिये, पर मरणपर्यन्त झुके नहीं।

आप तो यह भी कहते हैं कि 'क्या हम उन बलिदानियों को कभी भूल सकेंगे ?' परन्तु जिन आप जैसे सुधारकों की दृष्टि में शास्त्र कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है, धर्म भी कोई अडिग वस्तु नहीं, तो क्या आपके तथाकथित प्रगतिशील सुधरे समाज में ऐसा कोई एक भी बलिदानी हो सकता है ? आपकी दृष्टि से तो वे सब बलिदान जाति-भेद, शुद्धिबन्दी, सद्गुण-विकृतिरूप मूर्खता के कारण ही हुए हैं। फिर भी आप उन्हें 'हिन्दू-रक्षा का कवच' मानते हैं, यही आश्चर्य है !

हम कह चुके हैं कि शुद्धि पर भारतीय-धर्म में कभी प्रतिबन्ध नहीं था। सदा-सर्वदा धर्म-भ्रंश होने पर उसका प्रायश्चित्त शास्त्रों में है ही। कभी भी धर्म-भ्रष्टों को बहिष्कृत कर विधर्मियों को सौंप देने की नीति नहीं रही। मिताक्षरा आदि में स्पष्ट उल्लेख है कि धर्म-भ्रष्ट स्त्री का भी त्याग विहित नहीं है; क्योंकि त्यक्त स्त्रियों द्वारा और अधिकाधिक पाप होने की सम्भावना होती है। अहिंसा, सत्य, परधर्मसहिष्णुता, स्त्रीरक्षण, अक्रूरता का व्यवहार सदा ही सद्गुण माने गये और सद्गुण रहेंगे। इन घोषणाओं को राष्ट्रघातक कहना ही घातक है।

'सब धर्म समान हैं, राम-रहीम समान हैं, परधर्मसहिष्णुता' आदि उक्तियाँ यद्यपि वस्तुस्थिति से सम्बन्ध नहीं रखतीं, क्योंकि धर्म प्रत्यक्ष अथवा अनुमानगम्य वस्तु नहीं है। पौरुषेय ग्रन्थों में पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि अनेक दोषों की सम्भावना रहती है। अतः अपौरुषेय अनादि वेद ही धर्म में मुख्य प्रमाण

है। आर्ष-ग्रन्थ भी वेद से अविरुद्ध ही आदरणीय होते हैं। अतः कोई भी हज़ार दो हज़ार वर्षों के पौरुषेय ग्रन्थ एवं उन पर आधारित धर्मों को वैदिक-धर्म के समान नहीं कहा जा सकता। फिर भी किसीपर बलात् किसी धर्म का थोपा जाना उचित नहीं, विचारपूर्वक ही उचित समझा जा सकता है। विशेषतः जिस राष्ट्र में विभिन्न धर्मों के लोग बसते हों, उस राष्ट्र के शासक को परधर्म-सहिष्णुता या सर्वधर्म-समानता का सिद्धान्त सर्वसामञ्जस्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत आवश्यक है। परन्तु जहाँ सामूहिक तौर पर अन्याय और अत्याचार द्वारा धर्मद्वेष के कारण हिन्दू-धर्म, हिन्दू-समाज के विनाश का प्रयत्न हो रहा हो, वहाँ इस नारे का कोई उपयोग नहीं है। वहाँ तो हर मूल्य पर आततायी को दण्डित कर समूल उन्मूलित कर देना ही धर्म है। फिर भी लम्बे इतिहास में अनेक अवस्थाएँ आती हैं। कभी आक्रामक शक्तियों का मुकाबला करने के लिए राष्ट्र की विद्यमान शक्तियों को सङ्गटित होना भी आवश्यक हो सकता है। अनेकबार ऐसा होता है। कई बार हिन्दू-मुस्लिम सम्मिलित शक्तियों ने अंग्रेजों का सामना किया था अथवा कभी अमानवीय सिंह, व्याघ्रादि शक्तियों का सामना करने के लिए संगठित शक्ति की अपेक्षा हो सकती है। उस समय विरोधी शक्तियों से लाभ न उठाना भी बुद्धिमानी नहीं है। क्षीर-समुद्र का मन्थन करने के लिए देवताओं को परामर्श देते समय भगवान् विष्णु ने असुरों से भी सन्धि करने के लिए कहा था।

अरयोऽपि हि सन्धेया सति कार्यार्थगौरवे।

कार्यार्थ गौरव होने पर शत्रुओं से भी सन्धि कर लेनी चाहिए, उसी स्थिति में जब कि किसी बड़े कार्य का एकपक्षीय यत्न से हो सकना सम्भव न हो। ऐसे अवसर पर निरर्थक अपनी जाति, धर्म या समाज का सर्वोत्कर्ष वर्णन करना अनावश्यक है। अतः किसी स्तर पर साधर्म्य-प्रदर्शन आवश्यक हो जाता है। सभी पदार्थों में साधर्म्य-वैधर्म्य किसी न किसी अंश में होता ही है।

पाँचवें अध्याय में श्री सावरकरजी ने देवल-स्मृतिकार और भाष्यकार मेधातिथि द्वारा हिन्दू-धर्म-परिष्कार का महत्त्व वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में "उन दिनों हिन्दू-संख्याबल घटानेवाली शुद्धिबन्दी एवं सद्गुण - विकृति आदि आत्मघातक रूढ़ियों को उस समय का हिन्दू-समाज अपना प्रमुख धर्म मानने लगा था। यदि उस अन्ध-परम्परा के काल में उन सब किताबी जंगलों का उच्छेदन करने के लिए यत्र-तत्र विभिन्न देशों में धैर्यवान्, दूरदर्शी, सुधारक राजनीति-धर्म की महान् विचारक, कर्मवान् न हुए होते। अपने प्रभाव से राष्ट्र, धर्म की रक्षा के पराक्रम का मार्ग उन्होंने प्रशस्त न किया होता और म्लेच्छ-शत्रुओं को उस धर्म-समर में वे पराजित न करते, तो हिन्दू-धर्म का संख्याबल एवं राष्ट्र के बल का विनाश अवश्यंभावी था।

"स्मृतिकार महर्षि देवल और मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि उन तेजस्वी पुरुषों में थे, जिनका तेजस्वी व्यक्तित्व सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। हिन्दू-राष्ट्र के आपत्तिकालीन क्षणों में पराक्रमपूर्ण विजिगीषा, उक्त नये आचरण, नये शास्त्र और नयी समस्याओं की आवश्यकतापूर्ति के लिए ही उन्होंने वे ग्रन्थ लिखे थे। मुसलमानों द्वारा हिन्दू-संख्याबल को क्षति पहुँचायी गयी। इस क्षति की पूर्ति के लिए अपने आचार-धर्म में सुधारकर धार्मिक अत्याचारों का धार्मिक अत्याचार द्वारा तेजस्वी एवं प्रबल प्रतीकार करने के विचार से प्रथमबार सिन्धु-प्रदेश में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कर्मशील पुरुषों का संगठन निर्माण किया गया।

सिन्धुतीरमुपासन्नं देवलं मुनिसत्तमम्।

उपर्युक्त श्लोकांश से आरम्भ होनेवाले धर्म-भ्रष्टीकरण अध्याय से स्पष्ट विदित होता है कि सिन्धुनदी के तटपर देवल ऋषि के आश्रम में एकत्रित हिन्दू-नेताओं ने देवल ऋषि से प्रश्न किया था कि म्लेच्छों ने अपने शस्त्रबल से जो धर्मविनाश आरम्भ किया है, जो स्त्री-पुरुष उसके शिकार होकर धर्म-भ्रष्ट हो गये हैं, क्या उनके लिए प्रायश्चित्त का कोई ऐसा मार्ग है, जिससे वे पुनः अपनाये जा सकें? उस समय की इस चर्चा और देवल ऋषि द्वारा अन्तिम रूप से अपनी स्मृति में साधिकार शब्दों में शुद्धीकरण के अनुकूल आचारों का किया गया उल्लेख देवल-स्मृति के श्लोकों में प्राप्य है। बिलकुल सनातन माने गये उस समय के हिन्दू-आचारों के कारण हिन्दू-संख्या दिनों दिन घट रही थी। इस नये स्मृतिग्रन्थ के प्रेरकों, लेखकों और अनुयायियों ने यह निश्चय किया कि शास्त्रों द्वारा वर्णित आचार आपत्तिकाल में शास्त्रविहित नहीं हो सकता। प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने के लिए 'आपद्धर्म' नामक एक प्रगतिशील शास्त्र हमारे धर्मशास्त्रों के शास्त्रागारों में सुरक्षित था, पर उस शास्त्र का उपयोग करनेवाले नेतृत्व की आवश्यकता थी।" देवल का समय उनके अनुसार आठ सौ तथा नौ सौ ईसवी के बीच का है।

श्री सावरकरजी की दृष्टि में "महर्षि देवल ने सुधारक होकर कुछ अंशों में सुधार किया। उन्होंने पुरानी रूढ़ि के शास्त्रों को ठुकराकर 'देवल-स्मृति' में स्पष्ट आदेश दिया कि मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट किये गये हिन्दू स्त्री-पुरुष यदि कुछ वर्षों के भीतर हिन्दू-धर्म में पुनः आना चाहें तो साधारण उपवासादि प्रायश्चित्त कर उन्हें हिन्दू बना लिया जाय। उन्होंने यह भी उदारता प्रदर्शित की कि मुसलमानों द्वारा बलात् भ्रष्ट की गयी स्त्रियों को मासिक ऋतुदर्शन होते ही शुद्ध समझकर हिन्दू-धर्म में ले लेना चाहिए। मुसलमानों के पास से छीनकर लायी गयी गर्भवती हिन्दू-स्त्रियों को भी प्रसूति के पश्चात् उनके पेट का वह शल्य निकलते ही हिन्दू वैसा ही शुद्ध मानें जैसे अग्नि-परीक्षा के बाद शुद्ध सोना।"

श्री सावरकर जैसे आधुनिक सुधारकों को इतनेसे ही सन्तोष नहीं हुआ। वे कहते हैं : "आश्चर्य है, देवल-स्मृति ने उनके उदर से उत्पन्न शिशुओं को शुद्धकर हिन्दू-धर्म में सम्मिलित कर लेने की व्यवस्था क्यों नहीं दी ?"

वस्तुतः इन सुधारकों की दृष्टि में स्थिर प्रामाणिक 'शास्त्र' और 'धर्म' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। इनका धर्म और शास्त्र सब काल्पनिक हैं और आवश्यकतानुसार बनते-बिगड़ते रहते हैं। फिर भी ये लोग स्वतन्त्र प्रगतिशील नये धर्म या शास्त्र को चुनने की हिम्मत नहीं रखते। किन्तु विधर्मियों, म्लेच्छों का पदानुसरण कर उन्हीं आदर्शों पर, अपने उसी पुराने 'हिन्दू' नाम पर नया शास्त्र और धर्म गढ़ना चाहते हैं !

वेदादि-शास्त्रों एवं तदाधारित स्मृतियों से विरुद्ध कोई भी स्मृति, शास्त्र या आचार तथा धर्म कभी भी हिन्दुओं को मान्य नहीं हुआ। वेदानुसारिणी वेदाविरुद्ध स्मृतियों का परस्पर समन्वित अर्थ ही उन्हें मान्य होता है। इसीलिए मिताक्षरा, हेमाद्रि, पराशरमाधव, निर्णयसिन्धु आदि ने परस्पर विरुद्ध भासमान विषयों को मीमांसासम्मत तर्कों से समन्वित करके ही सनातन-धर्म-तत्त्व का वर्णन किया है।

श्री सावरकरजी का यह उद्धरण भी असत्य है कि "बाल-विधवा-प्रसूति, कौमार्य-संकर की बहिष्कार-सरीखी घटनाओं के घटित होने पर बदनामी के भय से शास्त्रिजनों ने युक्ति निकाली थी कि गाँव को नदी के उस पार के रहनेवाले मुसलमानों के बाड़े के मुसलमान को बुलाकर वह शिशु उसे सौंप दिया जाता था। वह बड़े आनंद से उसे घर ले जाकर अपनी संख्या बढ़ाता था।" श्री सावरकर आदि के अनुसार वर्णशुद्धि, सतीत्व-पालन जैसी महत्त्वपूर्ण कोई वस्तु है ही नहीं, तो उनकी दृष्टि में जौहर करके अग्निज्वालाओं में लाखों स्त्रियों का प्राण देना भी शुद्ध मूर्खता ही ठहरती है ! म्लेच्छों, मुसलमानों के जो भी पाप, अत्याचार हैं और उनका वे वर्णन करते हैं, उनकी दृष्टि में वे सब धर्म बन जाते हैं, यदि वे सब काम हिन्दू करें। यदि वे सब अत्याचारी म्लेच्छ हिन्दू होकर सब कुछ वही करते रहें, तो सब ठीक हो जाता है।

हिंदू-शास्त्रानुसार तो ऐसी सब स्त्रियों की भगवन्नामादि से पूर्ण पारलौकिक शुद्धि हो जाती है। लोक के लिए भी उन्हें हिंदू-धर्म की नवनिर्मित श्रेणी में रखा जा सकता है। उन शिशुओं को भी त्रिशल्लक्षणवान् मानवधर्म का[1] पालन

१. देवर्षि नारद ने बदरिकाश्रम में साक्षात् नारायण के मुख से श्रुत त्रिंशल्लक्षणवान् मानवधर्म का निरूपण किया है, जो निम्नलिखित है।

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे। वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥
यो ऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः। लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥

कराकर उनकी भी पृथक् श्रेणी हो सकती है। हजारों श्रेणियों में एक-दो श्रेणियाँ बढ़ जाने में कोई बाधा नहीं पड़ती। लेकिन रक्तसाङ्कर्य करने पर तो शुद्ध ब्राह्मणादि वर्णमूलक वैदिक-धर्म ही समाप्त हो सकता है।

श्री सावरकरजी कहते हैं : "चाहे कुछ भी हो जाय, जाति भी नष्ट हो जाय, तो भी जाति शुद्ध ही रहनी चाहिए, यह विचार जो हम हिन्दुओं में घुसा, वह निरा पागलपन है।" वे यह भी मानते हैं कि देवल-स्मृति में यह निर्देश नहीं मिलता कि जन्मजात मुसलमान को भी शुद्धकर हिन्दू बनाया जा सकता है। परन्तु आजकल के तथाकथित नये सनातनी सुधारक तो पहले से कहते हैं कि 'मुसलमान ईसाई कोई जन्म की जाति नहीं। ईसाई सूर्यवंशी और मुसलमान सोमवंशो क्षत्रिय ही हैं और उन्हें गङ्गाजल या शालिग्राम, नर्मदेश्वर का चरणोदक पिलाकर सर्वथा शुद्ध किया जा सकता है।' पर श्री सावरकर की दृष्टि में 'उस समय हिन्दू किसी जाति को अपनी जाति में मिलाना भयङ्कर पाप समझते थे। संकरता से गीता जैसे शास्त्र-निर्माता भी चिन्तातुर दिखायी देते हैं।

काशी के कुछ विद्वान् एवं इन तथाकथित सुधारक सनातनियों के मतानुसार मेधातिथि की दृष्टि में विलायत-यात्रा से धर्महानि नहीं होती, क्योंकि मेधातिथि के अनुसार कोई भूमि स्वतः अशुद्ध नहीं रहती; किन्तु म्लेच्छ आदि के संसर्ग से अशुद्ध होती है। भूमि की दाहन, प्लावन, गोक्रमण आदि दशविध संस्कारों से शुद्धि हो

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः। स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(भाग० ७. ११. ५–१२)

अर्थात् १. सत्य, २. दया, ३. तप, ४. शौच, ५. तितिक्षा, ६. ईक्षा, ७. शम, ८. दम, ९. अहिंसा, १०. ब्रह्मचर्य, ११. त्याग, १२. स्वाध्याय, १३. आर्जव, १४ संतोष, १५. समदृष्टि, १६. ग्राम्येहोपरम, १७. मनुष्यों के सुख चाहने पर भी दुःख का मिलना, १८. मौन, १९. आत्मविचार, २०. प्राणियों में अन्नादि का संविभाग, २१. प्राणियों में आत्म-बुद्धि, विशेषतः मनुष्यों में भगवद्बुद्धि, २२. श्रवण, २३. कीर्तन, २४. स्मरण, २५. सेवा, २६. यज्ञ, २७. नमस्कार, २८. दास्य, २९. सख्य और ३०. आत्मसमर्पण यह त्रिंशत्-लक्षण सामान्य-धर्म मानवमात्र के लिए कल्याणकारी बताया गया, जिससे सर्वात्मा परमेश्वर सर्वथा सन्तुष्ट, प्रसन्न होते हैं।

जाती है। मेधातिथि के अनुसार म्लेच्छों के आक्रमण और अधिवास से भारतभूमि भी अयज्ञीय बन जाती है। हिन्दुओं द्वारा म्लेच्छदेशों पर आक्रमण कर सबको चाण्डाल घोषितकर वहाँ वर्णाश्रम का प्रतिष्ठापन करने पर वह म्लेच्छभूमि भी यज्ञीय भूमि हो जाती हैं। पर यह सब मेधातिथि की सनक और सुधारवाद का भूतावेश ही है। क्योंकि जैसे गङ्गाजल की पापनाशकता स्वाभाविक है, वैसे ही कर्मनाशा की पुण्य-नाशकता भी स्वाभाविक है। वैसे ही काशी आदि सप्तपुरियों की मोक्ष-दायिकता भी स्वाभाविक है। वैसे ही पाप्मा का आश्रय होने से विलायतादि म्लेच्छदेश-प्रत्यन्तदेशों की अशुद्धता भी स्वाभाविक ही है। अतएव उनकी दशविध संस्कारों से शुद्धि नहीं हो सकती। काशी आदि भूमि सदा ही शुद्ध रहेगी, भारत सदा ही यज्ञीय देश रहेगा। इतर देश सदैव अयज्ञीय रहेंगे। इस सम्बन्ध में **'नान्त-मियात्, न जनमियात्'** (बृह० उप० ३) तथा—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशः म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥

यह मनु-वचन ही प्रमाण है।

वस्तुतः मेधातिथि का भाष्य उनके सुधारवाद के भूतावेश का ही परिणाम है। वह मनु के अभिप्राय से कोसों दूर है। श्री सावरकर आदि ही नहीं, प्राचीनकाल से ही मेधातिथि को सुधारक पण्डित ही माना जाता रहा है। यही कारण है कि मनुस्मृति के प्रामाणिक टीकाकार कुल्लकभट्ट स्थान-स्थान पर 'मेधातिथि-भाष्य' का खण्डन करते हैं। मेधातिथि देवलों से भी अधिक प्रगतिशील सुधारक थे। श्री सावर-कर की दृष्टि में उनके मन-लायक पूर्ण सुधारक मेधातिथि थे।

श्री सावरकर लिखते हैं : "देवलस्मृति के पतित-परावर्तन आदि धार्मिक तथा राजनीतिक मोर्चे के महत्त्व का वर्णन मुसलमान लेखकों ने किया है : 'प्रबल हिन्दू-काफिरों के भय से हम अरबों के बाल-बच्चे, स्त्री-पुरुष, जङ्गल-जङ्गल मारे-मारे फिरते हैं। हमारे जीते गये सिन्धप्रान्त के अधिकांश भागों को पुनः जीतकर हिन्दुओं ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। राजकीय मोर्चे पर ही हम अरबों को धूल चाटनी नहीं पड़ी, किन्तु दाहिर-राजा का कत्ल करने के बाद जिन हजारों हिन्दुओं को सौ वर्ष के परिश्रम से हमने धर्मभ्रष्ट कर मुसलमान बनाया था, हिन्दू स्त्रियों को दासी बनाकर मुसलमानों के घरों में घुसेड़ रखा, उस धार्मिक-मोर्चे पर भी हमारी वैसी ही दुर्गति हुई। हिन्दुओं में उत्पन्न क्रान्तिकारी आन्दोलन के कारण इस्लाम द्वारा भ्रष्ट किये गये स्त्री-पुरुषों ने फिर अपना काफिर हिन्दू-धर्म अपना लिया।" यद्यपि प्राचीन शास्त्रों के अनुसार पतित-परावर्तन की व्यवस्था है ही, तथापि बे-रोक-टोक निस्सीम निर्मर्याद शुद्धि द्वारा सबको हिन्दू-धर्म में श्रेणीभेद

आदि के बिना सर्वथा मिला लेना सुधारवाद का ही प्रभाव है वह सर्वमान्य कभी भी नहीं रहा और न रहेगा।

सुधारक मेधातिथि

मेधातिथि की चर्चा करते हुए श्री सावरकरजी कहते हैं कि "ईसवी सन् ८५० में होनेवाले मेधातिथि ने मुसलमानों के दुष्ट सशस्त्र आक्रमण को गिराने के लिए वैसी ही सशस्त्र प्रत्याक्रमणकारी क्रान्ति की जो लहर उठी थी, उसे पूरा सहारा दिया। हिन्दुओं का अत्यन्त प्रभावपूर्ण मार्गदर्शन कर अखिल आर्यावर्त की फिर से वर्धिष्णु एवं जगज्जेता साम्राज्यवाद की शिक्षा देनेवाले चाणक्य के समान एक महान् शास्त्रपूजक, शास्त्रकार हिन्दुओं के सौभाग्य से प्रकट हुए। वे हैं मनुस्मृति के भाष्यकार श्री मेधातिथि। उन्होंने निराश, मार्गविहीन समाज में प्राण फूँकने का काम किया। हिन्दू-समाज को साहसपूर्ण प्रत्याक्रमण करने का धैर्य प्रदान करते हुए मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व होनेवाले प्रचण्ड पराक्रमी आर्य-साम्राज्यवादी एवं विस्तारवादी चाणक्य के उपदेशों का ज्योतिःस्तम्भ पुनः प्रस्थापित करने का प्रयास किया। उस समय उनके समान वे ही एकमेव और सम्भवतः अन्तिम स्मृतिकार धर्मपुरुष और लोकनेता थे। उनका कार्य था प्रायशः (?) मुस्लिम-आक्रमणों के पूर्वकाल के समान आर्यसाम्राज्य द्वारा राक्षसों के प्रति अपनायी गयी पराक्रमी एवं तेजस्वी रणनीति का आलम्बन कर प्रत्याक्रमण द्वारा उनका विनाश कर देना; पहले के समान आर्यावर्ती साम्राज्य स्थापित करना और आर्यावर्त से बाहर भी दिग्विजय करके म्लेच्छों का राज्य जीतकर सशस्त्र बलपूर्वक वहाँ आर्यधर्म की स्थापनाकर म्लेच्छों को भी आर्यधर्मीय आर्यावर्त के सम्राज्य में समाविष्ट कर लेना।

"इस समय जातियाँ दया-धर्म, छुआछूत की श्रुतियुक्तता का बहाना करनेवाले उसे स्मृतियुक्त बताकर अधिकार चलाने का प्रयत्न करनेवाले निर्बल एवं राष्ट्रियदृष्टिशून्य आचार-विचारों ने हिन्दू-समाज में अव्यवस्था फैला रखी थी। मेधातिथि ने 'मनुस्मृति का भाष्य' लिखकर, विशेषकर राजनीतिक संघर्ष जो कुछ कहा गया है, उसे चाणक्य के निकष पर परखा। इस तरह एक हाथ में आर्यावर्तियों की मूल की 'मनुस्मृति' और दूसरे हाथ में चाणक्य का साम्राज्यवादी दिग्विजय सक्षम (?) 'अर्थशास्त्र' लेकर मेधातिथि ने उस समय निर्बल, मूर्खतापूर्ण अहिंसाधर्म के कारण पङ्गु बने सभी आचार-विचारों को वेदबाह्य घोषित किया। जाति-पाँति के पागल आचारों को ही उस समय की जाति और धर्म बतलानेवाली स्मृतियों को भी यह कहकर निर्माल्यवत् निर्जीव कर दिया कि :

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्तान् विपरीतार्थान् वेदवित् न समाचरेत् ॥"

उनके अनुसार "जब शत्रु कमजोर हो, तभी म्लेच्छ-शत्रु पर आक्रमण कर उसे पीस डालना चाहिए।" उनके अनुसार "पड़ोसी···राज शत्रु है, यही उसका अपराध है, अवसर मिलते ही उसे धूल में मिला दें।···आर्यावर्त पर म्लेच्छों की चढाई के पूर्व ही उन पर आक्रमणकर देना चाहिए। फिर दयादि का विचार न कर शत्रु को कुचल कर उसकी चटनी ही बना डालनी चाहिए। परकीय कपटी शत्रु को आवश्यक निमित्त बनाकर उसे कपट से ही मार गिराना चाहिए। युद्ध में ढीलापन, भोलापन, सीधापन, सभ्यपन आदि तथाकथित सद्गुण दुर्गुण ही हैं। आर्य अपने को आर्यावर्त में ही बन्द न रखें। शास्त्रों का मर्म यह है कि आर्यावर्त के बाहर के म्लेच्छों पर चढ़ाई कर उन्हें जीत लेना चाहिए। सर्वत्र आर्यधर्म का प्रचारकर म्लेच्छदेशों को भी आर्यावर्तीय साम्राज्य में मिला लें।

"चाणक्य के आदर्शानुसार चन्द्रगुप्तकालीन राज्य भरतखण्ड की सीमा के बाहर जाकर म्लेच्छदेशों पर दिग्विजयी आक्रमण कर रहे थे। इसी धार्मिक प्रेरणा से दक्षिण के हिन्दू-राज्य—कलिङ्ग, पाण्ड्य, चेल, चोल आदि के हिन्दू-राजा समुद्र पारकर पश्चिम, दक्षिण और पूर्वी सागरों के आस-पासस्थित म्लेच्छ-राज्यों पर आक्रमण करके अफ्रीका तक पहुँचे। आश्चर्य है कि जिस समय मुहम्मद गोरी, महमूद गजनवी हिन्दुओं की एक के बाद दूसरी राजधानी छीन रहे थे, मन्दिर तोड़ रहे थे, उसी समय दक्षिण में भुवनेश्वर के समान विशाल मन्दिर खड़े किये जा रहे थे। राजेन्द्र चोल के समान हिन्दू-सम्राट् ब्रह्मदेश, पेगू, अण्डमान, निकोबार आदि पूर्वी समुद्र के द्वीपसमूहों को अपनी विशाल जलवाहिनियों की वीरता से जीतते तथा उसके बहुत पूर्व से स्थापित जावा से लेकर हिन्दचीन, इण्डोनेशिया तक हिन्दू-राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करते जा रहे थे। इधर पश्चिमी समुद्र में स्थित लाव-द्वीप माल-द्वीप और अन्यान्य द्वीपसमूहों को जीतकर सिंहल-द्वीप (लङ्का) पर भी अपना राज्य स्थापित किया था। उस समय दक्षिण महासागर में हिन्दुओं का अजेय ध्वज लहरा रहा था। महासमुद्र पारकर, अनेक देशों का दिग्विजयकर उन्हें आर्य-साम्राज्य में प्रविष्ट करने का जो कार्य किया गया था, उसकी नींव में मेधातिथि के समान चाणक्य की स्फूर्ति से तेजःपुञ्ज बना शास्त्र का प्रज्वलित भाष्य ही कार्य कर रहा था!"

पूर्वोत्तर उद्धरणों में जहाँतक हिन्दू-जागरण, हिन्दू-संघटन, हिन्दू-दिग्विजय और हिन्दू-साम्राज्य-विस्तार और प्रत्याक्रमण कर म्लेच्छों को पराजित करने की बात है, वह सब शास्त्रसम्मत ही है। किन्तु जाति-पाँति मिटाकर, भोजन-पान,

विवाहादि के नियम तोड़कर, सर्वसांकर्य फैलाकर, प्राचीन स्मृतियों को बहिष्कृत करनेवाली बात सर्वथा अशुद्ध एवं असंगत ही है। मेधातिथि सुधारक होते हुए भी श्री सावरकर तथा आजके कथित सनातनियों के समान प्रखर 'प्रगतिशील नहीं थे, क्योंकि उनके सामने मनुस्मृति जैसा शास्त्र था। वे इन सबकी अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् भी थे। फलतः वे अत्यन्त उच्छृङ्खल नहीं हो सकते थे। महर्षि चाणक्य तो पूर्ण आस्तिक, शास्त्रप्रामाण्यवादी थे। उन्होंने स्पष्टतया घोषित किया था कि 'आर्यमर्यादाओं की सम्यक् व्यवस्थापना करनेवाला तथा वर्णाश्रम-स्थिति को दृढ रखनेवाला, ऋक्, साम और यजुः इस वेदत्रयी से सुरक्षित राष्ट्र ही नष्ट न होकर उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है :

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

और भी, 'कौटलीय अर्थशास्त्र' की दृष्टि से वैदिक सनातनधर्म का ही पूर्व समर्थन होता है। विवाह-विच्छेद आदि के सम्बन्ध में कौटल्य को प्रगतिशील कहा जाता है, पर उन्होंने जहाँ परस्परद्वेषान्मोक्षः--अर्थात् परस्पर द्वेष होने पर स्त्री-पुरुष का मोक्ष, विवाह-विच्छेद या तलाक का समर्थन किया है, वहीं उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि यह मोक्ष (तलाक) धर्मविवाहों में नहीं हो सकता : अमोक्षो धर्मविवाहानाम्।

दिग्विजय, कण्टक-शोधन या शत्रून्मूलन आदि राजनीतिक अभ्युत्थानों आदि से तो वेद या धर्मशास्त्र किसीका विरोध है ही नहीं।

एतान् द्विजातयो देशानाश्रयेरन् प्रयत्नतः। (मनु०)

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ (मनुः)

इन स्थलों पर भाष्य में यद्यपि मेधातिथि ने यह कहा है कि म्लेच्छदेश भी आर्यों द्वारा विजित होने पर यज्ञिय देश हो सकते हैं, और यह श्रुति तथा मनु से विरुद्ध ही है, तथापि वहाँ उन्होंने यह नहीं कहा कि 'म्लेच्छों को आर्य बना लेना चाहिए।' प्रत्युत यही कहा कि 'आर्यों द्वारा म्लेच्छों को चाण्डाल घोषितकर सर्वत्र वर्णाश्रमधर्म प्रसार करने से म्लेच्छदेश भी यज्ञिय देश हो सकते हैं।'

मेधातिथि ने कहीं जाति-पाँति का खण्डन भी नहीं किया है। कर भी कैसे सकते थे ? क्योंकि मूल मनुस्मृति तथा तन्मूलभूत श्रुतियों में भी जन्मना वर्णव्यवस्था का ही प्रतिपादन है। वेदों के पुरुषसूक्त में विराट् पुरुष के मुख, बाहू, ऊरू, पाद से ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति कही गयी है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

मनुने उसीकी व्याख्या कर दी है : मुखबाहूरुपज्जाताम् (मनु०) 'मुख, बाहु, ऊरू तथा पाद से उत्पन्न होनेवाले ब्राह्मणादि चारों वर्णों के···।' इन श्लोकों पर भी मेधातिथि का भाष्य है।

मनु ने श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा आत्म-तुष्टि को, पूर्व-पूर्व के अविरुद्ध होने पर धर्म में प्रमाण माना है। अतः किसीको भी स्वतन्त्र स्मृति-निर्माण या धर्म-व्यवस्था का अधिकार हो ही नहीं सकता। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् (ऋ० सं०) इस मन्त्र का यह अर्थ कथमपि नहीं कि म्लेच्छ, दस्यु आदि जातियों को आर्य बना लिया जाय; क्योंकि ऋक् के इस मन्त्र में इन्द्र ने दस्युओं के लिए 'आर्य' नाम प्रदान नहीं किया है। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से वैश्य एवं स्वामी को 'आर्य' नहीं कहा जा सकता। उसे तो 'अर्य' ही कहा जाता है : अर्यः स्वामिवैश्ययोः (पा० सू० ३. १. १०३)।

उक्त मन्त्र का अर्थ तो यही है कि 'हे ऋत्विजो ! आप लोग सोम आदि सभी द्रव्य को आर्य (श्रेष्ठ) बनाते हुए कार्य करें। दिग्विजय, शत्रून्मूलन के प्रसङ्ग से शत्रु-कृत आक्रमण या अश्वमेध-प्रसङ्ग से प्रत्यन्तगमन उपस्थित होता है। शत्रुकृत आक्रमण का प्रसङ्ग आपद्धर्म के रूप में हो सकता है। अश्वमेध-प्रसङ्ग में विशेष विधान के बल से अपवादरूप में प्रत्यन्तगमन की अनुमति हो सकती है। अन्य युगों में उसकी प्राय-श्चित्त से पूर्णशुद्धि होती है, पर कलि में मात्र पारलौकिक शुद्धि होती है। लौकिक व्यवहार में श्रेणिभेद की व्यवस्था भी है। क्षत्रिय वृत्तिवाले लडाकू शूद्रों की संख्या भारत में बहुत है। उन्हींकी सेना प्रत्यन्तों में जाकर अनायासेन शत्रून्मूलन कर ही सकती है।

छठे अध्याय में श्री सावरकर ने लिखा है कि "सातवीं शती से और विशेषतः ग्यारहवीं शती से अठारहवीं शती तक बराबर मुसलमानों का भारत पर आक्रमण होता रहा तो भी मुसमान सफल नहीं हुए, जब कि मुसलमानों ने हिन्दुस्थान के समीपवर्ती प्रदेशों के मूलनिवासियों के धर्मों को पूर्णरीत्या नष्ट कर दिया था। स्पेन, अफ्रीका महाद्वीप का उत्तरी भूभाग तथा हिन्दुस्थान तक फैले एशिया महा-द्वीप के प्रदेशों में जहाँ-जहाँ वे गये, वहाँके निवासियों को इस्लाम-धर्म में दीक्षित कर डाला; किन्तु हिन्दुस्थान में मुसलमानों को सफलता नहीं मिली।" इसका कारण वे 'मेधातिथि की सक्रियता' मानते हैं। किन्तु हिन्दू-धर्म, हिन्दू-समाज और हिन्दू-शास्त्र यहाँ आज भी चमक रहा है और करोड़ों व्यक्ति इसके आज भी अनुयायी बने हैं। संसार के दर्शनों में हिन्दू-दर्शनों का सामना करनेवाला अन्य कोई दर्शन है ही नहीं। हमारी दृष्टि में इसका कारण मेधातिथि नहीं, किन्तु भारतीय जनता का स्थायी अनादि-अपौरुषेय वेदादिशास्त्रों तथा तदुक्त वैदिक सनातनधर्म में अडिग विश्वास एवं उसके लिए महान् त्याग और बलिदान ही है। सुधारक और बौद्धों ने

एक-एक कर बहुत से शास्त्रों या शास्त्रांशों तथा तदुक्त धर्मों को त्याग दिया, उसके कारण हिन्दू-धर्म नहीं बचा। त्याग-बलिदान करनेवालों में सुधारक एक भी नहीं था। जौहर करनेवाली लाखों स्त्रियाँ और धर्म के नाम पर अपने शरीर का मांस नुचवानेवाले, शिखा के दो बाल भी न देकर सिर देनेवाले शास्त्र एवं धर्म के कट्टर विश्वासी ही लोग थे।

हाँ, यह तो ठीक कहा है कि भीम तथा राणा प्रताप आदि राजपूतों तथा विजयनगर के हिन्दू-राजा आदि ने सशस्त्र प्रतीकार कर मुसलमानों की राजकीय सत्ता को झकझोरा और अत्यन्त क्षीण एवं ढीलाढाला कर डाला। पर यहाँ भी याद रखना चाहिए कि राणा प्रताप कट्टर शास्त्रवादी और परम्परावादी थे। इसीलिए अन्य सुधारक राजाओं के समान उन्होंने मुसलिम बादशाहों को न अपनी बहू-बेटियाँ दीं और न कभी उनके साथ बैठकर भोजन ही किया। प्रसिद्ध है कि मानसिंह राजा के साथ भोजन न करने के कारण ही मानसिंह उनका घोर विरोधी हो गया था। पेशवाओं ने अटक तक हिन्दू-विजय-वैजयन्ती फहरायी। पेशवा लोग भी कट्टर परम्परावादी वैदिक थे। भोजन, विवाह आदि में कट्टर वैदिक सनातनी ही थे। मुसलमानों की यह पराजय विश्वविश्रुत है।

'मेवाड़ के बप्पा रावल ने यवनकुमारी से विवाह कर लिया, उससे उत्पन्न सन्तानों का सूर्यवंशी के रूप में सम्मान हुआ' यह सर्वथा ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। राजकीय कारणों से हिन्दू-राजा जब परधर्म की कन्याओं को ग्रहण करता है, तो उसकी सन्तान कभी भी राज्य की अधिकारिणी नहीं होती। ऐसे ही विवाहों में कौटल्य ने मोक्ष (तलाक) स्वीकार किया है, धर्मविवाहों में नहीं। फिर यदि बप्पा ने व्यक्तिगत नियम त्याग दिया, तो वह उसका व्यक्तिगत प्रमाद ही माना जायगा, न कि दूसरों के लिए आदर्श होगा। पेशवा लोग भी अपने धर्म को सुरक्षित रखकर विजयी हुए। अतएव उन्होंने बाजीराव की मस्तानी की सन्तानों को अपने धर्म में नहीं मिलाया। जैसलमेर के रावल चेचक, मारवाड़ के मल्लीनाथ राठौर के पुत्र जगमल, मेवाड के राणा कुम्भा आदि की वीरगाथा का ही हिन्दूसमाज ने आदर किया। उनके कतिचित् धर्मविरुद्ध आचरण एक सैनिक योद्धा की हैसियत से क्षम्य थे। वे कोई धर्माचार्य नहीं थे। अतः उनके आचरणों का प्रभाव हिन्दू-समाज पर कुछ भी नहीं पड़ा।

श्री सावरकरजी लिखते हैं कि "तवारिखे इसोना' नामक पुस्तक के अनुसार हिन्दू सैनिक तुर्क, मुगल और अफगान स्त्रियों को पकड़कर ले गये, बे-फिक्री से उनसे विवाह कर लिया। अवसर मिलते ही समूह की समूह मुसलिम स्त्रियों को पकड़कर हिन्दू बना लेते थे। अजमेर के अनासागर नामक सरोवर तथा जैसलमेर

के सरोवर में स्नान कराकर भ्रष्ट होकर मुसलमान बननेवालों को शुद्ध कर लिया जाता था। स्मृतिकार देवल ऋषि, भाष्यकार मेधातिथि के समान हिन्दुओं में प्रतिभाशाली प्रत्याक्रमणकारी शास्त्राधार उत्पन्न करनेवाले थे। वे शत्रुविनाश के लिए नया शास्त्र भी गढ़नेवाले थे। उन्होंने मुसलमानी राज्य उलटकर हिन्दू-राज्य की स्थापना की। क्रान्तिपीठ का भी आचार्यत्व उन्हींने किया। उन्होंने हिन्दू-राष्ट्र के हितार्थ केवल धार्मिक-शुद्धि की ही शास्त्रोक्त व्यवस्था नहीं बनायी, किन्तु मुसलमानों द्वारा बलपूर्वक भ्रष्ट किये गये हरिहर और बुक्क नामक दो तरुण-वीरों का प्रकट रूप से शुद्धि-संस्कार भी करवाया। इन दोनों बन्धुओं ने तलवार के जोर पर मुसलमानों को अनेक लड़ाइयों में बार-बार हराकर १३३६ में अपेक्षित हिन्दू-राज्य स्थापित किया। विद्यारण्य ने अपने हाथों शुद्धीकृत हरिहर का हिन्दू-सम्राट् के रूप में राज्याभिषेक किया। इन्हीं विद्यारण्य ने गोमान्तक में मुस्लिम राज्यसत्ता का उच्छेदकर धर्मभ्रष्ट हिन्दुओं को शुद्ध करने के लिए माधव-तीर्थ नामक एक तीर्थ बनवाया, धर्मभ्रष्ट हिन्दुओं को मन्त्रपूर्वक स्नान करवाकर उन्हें सामूहिक रूप से शुद्ध किया और इस प्रकार की शास्त्रीय व्यवस्था लागू कर दी जिससे आगे भी इसी प्रकार शुद्धीकरण चलता रहे।

"रामानुजाचार्य एवं उनके शिष्य रामानन्द तथा बङ्गाल के चैतन्य महाप्रभु आदि धार्मिक नेताओं ने म्लेच्छों द्वारा भ्रष्ट किये गये सैकड़ों हिन्दुओं को वैष्णव-धर्म की दीक्षा देकर शुद्ध किया। छत्रपति शिवाजी ने बालाजी निम्बाळकर और नानाजी पालकर को, भ्रष्ट होकर मुसलमान हो जाने के उपरान्त ही, शुद्धकर फिर से हिन्दू बना लिया था।

"जब औरंगजेब चतुरङ्गिणी सेना लेकर मराठों पर हमला करने जा रहा था, तो रास्ते की राजपूती को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए उसने राजपूतों पर धार्मिक आक्रमण किया। किन्तु उसके दक्षिण की ओर बढ़ जाने के बाद हिन्दुओं ने अपमान और संख्या की भरपाई के लिए धार्मिक प्रत्याक्रमण कर दिया। उस समय महाराज जसवन्त सिंह और दुर्गादास राठौर के नेतृत्व में औरंगजेब द्वारा मन्दिर तोड़कर बनायी गयी मस्जिदों को ही नहीं, किन्तु अधिक-से-अधिक मुसलमानों को भी हिन्दू बना लिया। हिन्दू-मन्दिरों में मुसलमान गोमांस फेंकते थे, उसके बदले हिन्दुओं ने सूअर काट-काटकर फेंकने का 'शठे शाठ्यम्' के अनुसार बर्ताव किया। मुसलिम स्त्रियों को हिन्दू बनाकर दासी बना लिया गया। इस तरह मुसलिम स्त्रियों को घर में रख लेने पर भी जाति-बहिष्कार नहीं हुआ।

"आठवीं शती से आसाम से लगे वर्मन सालस्वम्भ और पाल-घराने के हिन्दू-राज्य आसाम के उस ओर बिखरी अनेक टोलियों में से शान-टोली की अहोम नामक

शाखा का—जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी से लड़ाई-झगड़े, लूट-पाट करती हुई जीवन बिताती थी—प्रभाव बढ़ने लगा। अन्त में उस राज्य में १२२८ ई० में चूकूक राजा की सत्ता स्थापित हुई। स्वयं अपने को और प्रजा को अहोम (बेजोड़) कहलवानेवाला वह पहला राजा था। इस राजा ने मुगल-सत्ता का सफलतापूर्वक सामना किया। अपने राज्य को भी 'अहोम' नाम से प्रख्यात किया। कहा जाता है कि 'असाम' 'अहोम' का ही बिगड़ा नाम है। प्राणवान् हिन्दू-धर्म के प्रचारकों ने उन दिनों भी अनेक पार्वत्य (पर्वतीय) टोलियों में हिन्दू-धर्म के तत्त्वों और संस्कारों को भर दिया था। कुषाण, हूणों को तरह शान-टोली के विजेता राजा ने भी हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया। अहोम राजा क्षत्रिय हो गये।"

ठीक है, एक बड़े राष्ट्र में देश, काल, परिस्थिति के अनुसार अनेक घटनाएँ घटती हैं। कई घटनाएँ शास्त्रविरुद्ध भी होती रहती हैं। यह हम बता ही चुके हैं कि प्राचीनकाल से ही हिन्दू-शास्त्रों में विविध ज्ञात-अज्ञात पापों के प्रायश्चित्त की व्यवस्था है ही। तदनुसार प्रायश्चित्त तो उचित ही था, हो सकता है। कई स्थलों में कुछ मनमानी भी प्रायश्चित्त हुआ हो, परन्तु वह प्रमाण रूप से मान्य नहीं होता। क्योंकि धर्म में इतिहास या हिस्ट्री प्रमाण नहीं होती। कारण स्पष्ट है कि घटनाएँ कई दुर्भाग्यपूर्ण होती हैं तो कई सौभाग्यपूर्ण भी। किन्तु शास्त्राविरुद्ध, सौभाग्यपूर्ण घटनाएँ ही समाज के लिए आदरणीय होती हैं। समाज में रावण और राम दोनों तरह के पुरुष होते हैं। युधिष्ठिर भी ऐतिहासिक पुरुष हैं और दुर्योधन भी। तथापि समाज के नेता सावधान करते रहते हैं कि 'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' अर्थात् आस्तिक जनता को राम तथा युधिष्ठिर आदि के समान ही बर्ताव करना चाहिए। वही आदर्श आजतक चला आ रहा है। लाखों वर्षों से हिन्दू-धर्म और कट्टर वैदिक सनातनधर्म चला आ रहा है, आज भी प्रचलित हैं। आज भी कम लोगों में सही, वर्णाश्रम-धर्म प्रचलित है। खान-पान-विवेक, विवाह-विवेक प्रचलित है। वर्णसङ्करता से परहेज किया जाता है। मुसलमान, ईसाई आदि की रोटी-बेटी की कौन कहे, पानी पीने में भी परहेज किया जाता है। इस जातिभेद को मिटाने के लिए सुधारकों ने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। सुधारकों की सरकार ने धर्म-विरुद्ध, जाति-विरुद्ध कानून बनाकर, इनाम बाँटकर भी सबकी रोटी-बेटी एक करने की हजारों चेष्टाएँ कीं और बराबर करती जा रही है। फिर भी शास्त्र-धर्मवादी हिन्दुओं की दृष्टि में सब व्यर्थ है। इतना ही नहीं, निर्वाचनों के दिनों में तो सुधारकों के सिर पर चढ़कर उनके 'जातिवाद का भूत' बोलने लगता है। जाति-पाँति के विरोधी, पानी पी-पीकर जाति-पाँति को गाली देनेवाले भी जाति के नाम पर वोट माँगते फिरते हैं!

महाराणा प्रताप और पेशवाओं का आदर्श ही आस्तिक हिन्दुओं को मान्य है।

वे सब अपने शास्त्र और धर्म की रक्षा करते हुए ही विजयी हुए हैं। अन्य लोगों की ऐतिहासिक स्थिति इतनी स्पष्ट भी नहीं है। हिन्दू-वीरों में तो उनकी गणना की जा सकती है, परन्तु शास्त्रविरुद्ध मनमानी करनेवाले किसी बड़े-से-बड़े वीर का भी धार्मिक नेता के रूप में आदर नहीं किया जा सकता। ऋषि देवल तथा मेधातिथि को शास्त्र की कसौटी पर कसकर ही माना जा सकता है। ध्यान रहे कि हिन्दुओं ने वेदविरुद्ध बोलने के कारण अवतारी बुद्ध की सम्मतियों को भी ठुकरा दिया था !

> तुलसी महिमा वेद की…।
> जेहि निन्दत निन्दित भये, विदित बुद्ध अवतार ॥

फिर देवल, मेधातिथि की गणना ही क्या हो सकती है! नया शास्त्र गढ़नेवाला हिन्दू-शास्त्र को कदापि मान्य नहीं।

आपने स्वयं ही लिखा है कि 'वे लोग नये शास्त्राधार उत्पन्न करनेवाले थे, नये शास्त्र भी गढ़नेवाले थे।' बस, यही उनकी कमजोरी का मूल है, क्योंकि मनु के अनुसार तो धर्म-जिज्ञासुओं के लिए परम प्रमाण वेद ही है, अन्य कोई नहीं :

> धर्मं जिज्ञासमानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनु)

जो नया शास्त्राधार या नया शास्त्र बना सकता है, वह हिन्दू-शास्त्र एवं हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-जाति से ही क्यों बँधा रहेगा? शास्त्रवादी हिन्दू की दृष्टि में अन्य विधर्मियों के समान वह भी त्याज्य है।

श्री विद्यारण्य स्वामी के सम्बन्ध का विशृङ्खल इतिहास तथ्यहीन है। 'विद्यारण्य स्वामी ने क्रान्तिपीठ का आचार्यत्व किया, मुसलिम-राज्य का उच्छेद कर हिन्दू-राज्य स्थापित किया, हिन्दुओं का मार्ग-दर्शन किया। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार उन्होंने धर्मभ्रष्टों को प्रायश्चित्त कराकर शुद्ध किया।' यहाँतक तो शास्त्रों तथा उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों के अविरुद्ध होने से प्रामाणिक कहा जा सकता है। 'माधवतीर्थं, सरोवर-तीर्थं की स्थापना और शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त-परम्परा कर दी' यह भी ठीक है। किन्तु 'विद्यारण्य स्वामी ने जाति-पाँति का भेद नहीं माना, सबको भोजन-विवाह की छूट दे दी, मुसलमान स्त्रियों को घर में पत्नी बनाकर रख लिया तथा मुसलमानों को अपनी जाति में मिलाकर, समरस कर ब्राह्मण आदि बना लिया' यह सब विद्यारण्य स्वामी के नाम से प्रख्यापन करना विद्वानों की आँखों में धूल झोंकना ही है।

संन्यास से पूर्व वे ही 'विद्यारण्य स्वामी' 'सायणाचार्य' एवं 'माधवाचार्य' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। अनेक शाखाओं की मन्त्र-संहिताओं एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों पर उनका सायण-भाष्य प्रसिद्ध है। अपने भाष्य में उन्होंने हरिहर और वीरबुक्क की चर्चा

भी की है । पूर्वोत्तर-मीमांसाओं पर भी उनकी 'अधिकरण-न्यायमाला' है । हेमाद्रि के समान ही उनका 'पराशर-माधव' नामक धर्म-निर्णायक महान् निबन्ध-ग्रन्थ है । इन सब ग्रन्थों में उन्होंने शुद्ध-वैदिक सनातनधर्म का ही निरूपण किया है । कहीं भी प्राचीन धर्म-मर्यादाओं के विरुद्ध उन्होंने कुछ भी नहीं कहा । विद्यारण्य स्वामी के रूप में भी उनके अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें 'पञ्चदशी, अनुभूति-प्रकाश (उपनिषद्-टीका), वार्तिकसार' आदि प्रसिद्ध हैं । इन ग्रन्थों में भी उन्होंने वर्णाश्रम-मर्यादाओं का ही समर्थन किया है । उनके विरुद्ध एक अक्षर भी नहीं कहा । अतः विद्यारण्य स्वामी के नाम पर उच्छृङ्खल सुधारवाद का समर्थन तो कथमपि नहीं किया जा सकता । इस बात का प्रमाणभूत कोई इतिहास-ग्रन्थ भी नहीं मिलता । श्री सावरकरजी स्वयं मानते हैं कि 'विदेशी इतिहासकार तथा उनके अनुयायी स्वदेशी इतिहासकार भी तोड़-मरोड़कर ही इतिहास लिखते थे ।' हम भी कह सकते हैं कि 'श्री सावरकरजी ने भी सुधारवाद के आवेश में आकर विद्यारण्य स्वामी को भी अपने समान ही सुधारक मान लिया है, जो तथ्यहीन है ।'

श्री रामानुजाचार्य तथा श्री रामानन्द ने भी कोई कार्य शास्त्र-विरुद्ध नहीं किया । वैष्णव-दीक्षा देकर वैष्णव बनाना पृथक् वस्तु है और किसी मुसलमान को ब्राह्मण-क्षत्रिय बनाकर उससे जन्मना ब्राह्मण की लड़की की शादी कर देना सर्वथा भिन्न वस्तु । पहली बात सम्भव है, पर दूसरी नहीं । चैतन्य महाप्रभु ने भी वही सब किया है, जो शास्त्रविरुद्ध नहीं था । अन्य सब बातें प्रमाणशून्य तथा सुधारकों की कल्पनामात्र है ।

अस्त्रबल शस्त्रबल, सैनिक-संघटन तथा बौद्धबल, बाहुबल से सम्पन्न होकर विधर्मी राज्यों की उखाड़ कण्टक-शोधन कर हिन्दू-राज्य की स्थापना करना, हिन्दू-बल बढ़ाना, विदेशों में दूर-दूर तक हिन्दू-राज्य को स्थापना करना, भ्रष्ट हिन्दू-स्त्री-पुरुषों को शास्त्रीय प्रायश्चित्तों द्वारा शुद्ध करना उचित है । सामरस्य के अयोग्यों को भी शुद्ध कर, श्रेणीभेद स्थापित कर उनको भी हिन्दू-समाज के भीतर ही रखना, यह सब शास्त्रसम्मत है । पतित-परावर्तन, अहिन्दुओं का हिन्दूकरण शास्त्रमर्यादा के भीतर हो सकता है । हिन्दू, अहिन्दू स्त्रियों के सम्बन्ध में भी यही नीति अव्याहत है ।

इसी तरह आगे श्री सावरकरजी अटक या समुद्र-पार-गमननिषेध क्यों हुआ, इसका कारण बतलाते हुए कहते हैं : "हिन्दुओं की अनेक जातियाँ अपने-अपने विभिन्न जाति-शिविरों में, किन्तु एक ही झण्डे के नीचे सुखपूर्वक बसती थीं । कुछ शिविरों की संख्या बढ़ जाती थी । उनके कुछ आचार-विचार तो अपनी जाति तक ही सीमित रहते थे । शेष सब व्यवहार हिन्दू-स्मृति-निबन्धों के अनुसार सबके समान रूप से चलते थे ।" यहाँतक तो ठीक ही है, पर आगे आप कहते हैं :

"अटक-बन्दी अर्थात् सिन्धु लाँघकर म्लेच्छदेशों में जाना हिन्दू-धर्म के अनुसार निषिद्ध और जाति-बहिष्कार के योग्य अपराध की जो बात हमारी स्मृतियों, धर्मसंहिताओं में प्रविष्ट हो गयी, उसे भी उस समय की परिस्थितियों के अनुसार सनातनधर्मियों ने हिन्दू-धर्म-रक्षण के विचार से प्रविष्ट किया होगा। क्योंकि महमूद गजनी के बाद भी सिन्धु पारकर सम्पूर्ण प्राचीन भारत के भाग को हिन्दू-राजाओं ने ठीक हिन्दूकुश-पर्वत तक फिर से जीत लिया था। खोनन तक (खोस्त तक) हिन्दू-राज्यों का विस्तार था, यह तथ्य अब भलीभाँति सिद्ध हो चुका है। अतः पहले सिन्धुनदी का पार करना निषिद्ध नहीं था, किन्तु 'आर्यधर्म-प्रचारार्थ सर्वत्र संचार करो' की छूट थी।

"किन्तु जब हिन्दू-राज्यों का पराक्रम-सूर्य अस्त हो गया, मुसलिम जैसे राक्षसी समाज द्वारा हिन्दुओं को नारकीय यन्त्रणाएँ दी जा रही थीं, उनके अपने शस्त्रबल का कोई आधार शेष नहीं रह गया, उस समय लिखी गयी स्मृतियों में अटक न लाँघने की आज्ञा समाविष्ट कर दी गयी होगी। सिन्धु-पार की भूमि म्लेच्छ-भूमि मानी जाने लगी होगी। तभी भविष्यपुराण के अनुसार हिन्दुस्थान की सीमा-रेखा निर्धारित हुई।

सिन्धुस्थानमिति प्राहुः राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।
म्लेच्छस्थानं परं सिन्धोः कृतं तेन महात्मना॥

—मुहम्मद गोरी के बाद ही स्मार्त-व्यवस्था में यह व्यवस्था हुई होगी। बहुत कर यह व्यवस्थापक महाराजा भोज हो सकता है। श्लोकार्थ यह है कि 'सिन्धु-स्थान' (हिन्दुस्थान) ही आर्यों का उत्तम राष्ट्र है, इसके बाद का देश म्लेच्छ-स्थान है, यह व्यवस्था उस महात्मा ने की।"

श्री सावरकर के अनुसार "समुद्रयात्रा-वर्जन की आज्ञा स्मृतिकारों ने नहीं दी; क्योंकि हिन्दुओं का सामुद्री-दल हिन्द-चीन (इण्डोचीन) तक था, सारे ईशान-कोण से पश्चिम सीमातक हिन्दू-राष्ट्र की अप्रतिम सत्ता बड़े ठाठ से विराजमान थी। सिंहल, लङ्का में भारतीय राजवंश राज्य करते थे। लक्षद्वीप, मालद्वीप में भी यही बात थी। अफ्रीका तक के सारे द्वीपपुञ्ज उस समय हिन्दू-सत्ता के नीचे थे। अतः यह कल्पना पागलपन है कि वैदिक हिन्दू-स्मृतियों ने समुद्र-पार जाना निषिद्ध कर दिया होगा। किन्तु जैसे अटकबन्दी हुई, वैसे ही जब हिन्दू-समाज दासता के कारण अत्यन्त पंगु हो गया था, तब आनेवाली परिस्थिति का सामना करने के लिए स्मृतियों को आवश्यक विधि-निषेध की व्यवस्था करनी पड़ी होगी। इसकी सुविधा के लिए युग-ह्रास और 'कलिवर्ज्य-प्रकरण' की युक्ति स्वीकार की गयी।

"देवल एवं मेधातिथि के बाद में रचित स्मृतियों में ही :

समुद्रयातुः स्वीकारः कलौ पञ्च विवर्जयेत् ।

समुद्रयात्रा करनेवाले व्यक्ति को अपने धर्म में अपनी जाति में ग्रहण न करने की 'उसे वापस लेने की कोई प्रायश्चित्तविधि नहीं है' आदि प्रचार की कड़ी मर्यादा लगायी गयी मिलती है। यह वह समय है, जब हमारे पश्चिमी समुद्र में ईसाइयों का, विशेषतः पुर्तगालियों का प्रभाव बढ़ा, जिस समय उन्होंने गोमन्तक को जीतकर वहांके हिन्दुओं पर सशस्त्र आक्रमण किया था। वहांके हजारों स्त्री-पुरुषों को मुसलमानों की भाँति ही अत्याचारपूर्वक भ्रष्ट करते हुए ईसाई बनाने का जोर-शोर से प्रयत्न आरम्भ किया था।

"जिस समय अरबों ने अपनी नौ-सेनाएँ इकट्ठी कर हिन्द-महासागर में आगे बढ़कर जावा, सुमात्रा, हिन्दचीन तक हमले किये और हिन्दुओं बौद्धों, पर अत्याचार, बलात्कार किया, परिस्थिति के अनुसार तब उक्त निषेधाज्ञाएँ ठीक थीं। जहाँ अपने धर्म अथवा राष्ट्र के लोगों की अवहेलना होती हो, जहाँ ईसाई, मुसलमान आदि धर्म अपने लोगों पर लादे जाते हों और जिस राष्ट्र में उसके प्रतीकार के लिए सैनिक सामर्थ्य न रह गयी हो, ऐसी अवस्था में राष्ट्ररक्षा के लिए एक ही उपाय शेष रहता है—'वह यह बन्दी लगा दे कि इस राष्ट्र का कोई व्यक्ति या नागरिक उस शत्रुदेश में न जाय।' पर इसपर एष धर्मः सनातनः की परम्परागत स्मृति-शास्त्र की अधिकृत मुद्रा लगा दी गयी, यही भूल थी। इसीके कारण अटक पार, कर अफगानिस्तान आदि पर चढ़ाई कर उन्हें जीतने की शक्ति होने पर भी उक्त बन्दी या प्रतिबन्ध के कारण हिन्दू-सैनिक वैसा न कर सके। पेशवाओं और रणजीत-सिंह के समय राज्यसत्ता का प्रखर प्रताप होने पर उस परिवर्तित परिस्थिति में उक्त बन्दी हिन्दू-हितघातक सिद्ध हुई। अटक-पार जाना पाप है, यह समझकर धर्म-भीरु वीर रुक गये। (यह सब ऐतिहासिक तथ्य के प्रतिकूल है। कारण, मुसलिम शासनकाल में भी राजा यशवन्तसिंह आदि राजपूत वीरों ने अफगानिस्तान तक विजय प्राप्त की, ऐसे समाचार इतिहास में भरे पड़े हैं। —स्वामीजी)।

"यदि आधुनिक शास्त्रकारों ने स्पष्ट बता दिया होता कि कृतयुग में हमारा आर्य-राष्ट्र समुद्र लाँघकर द्वीप-द्वीपान्तरों में राज्य करने में समर्थ था। राजेन्द्र चोल तक हमने त्रिसमुद्राधीशत्व प्राप्त कर रखा था। उस समय धर्मप्रचार, राज्य-प्रसार के लिए समुद्र लाँघना आवश्यक था, पुण्यप्रद था। परन्तु दुर्दैववश नौसैन्य-शक्ति तथा सिन्धुस्वामित्व नष्ट हो गया। अतः जबतक हम उस शक्ति को पुनः प्राप्त नहीं कर लेते तबतक और केवल तभीतक दुर्बलता की दशा में समुद्र की ओर शत्रुराष्ट्रों में अपने व्यक्ति भेजना राष्ट्र के लिए घातक और अतएव पापप्रद होता। उतने समय के लिए ही सिन्धु-बन्दी थी। युगह्रासानुरूपतः का यही अर्थ है कि

शक्ति-ह्रास के अनुसार ही यह संकोच है। परन्तु जब इन बन्दियों का तोड़ना हितावह हुआ, तब भी कलौ पञ्च विवर्जयेत् कहकर कलियुग की समाप्ति तक अर्थात् प्रलयपर्यन्त का प्रतिबन्ध लगा दिया गया! उसे तोड़ने के लिए भावुक हिन्दू-समाज तैयार न था।"

आगे चलकर ईसाई-आक्रमणों की चर्चा करते हुए श्री सावरकर ने लिखा है कि 'ईसाई-कथाओं के अनुसार सीरिया में पहले-पहले ईसाइयत में ईसाई-धर्म का प्रचार होने लगा तब स्वयं ईसा को फाँसी पर टाँगनेवाले ज्यू-धर्मीय लोगों ने ईसाइयों का बड़ी निर्ममता से उत्पीडन किया। उस समय कुछ ईसाइयों को हिन्दुस्थान का जलमार्ग मालूम था। वे लोग भागकर हिन्दुस्थान में जामोवित नामक राजा के पास आश्रयार्थ आये। उचित था कि इन विधर्मियों को बिना किसी शर्त अपने समुद्र-तट पर पैर न रखने देना चाहिए था, किन्तु आश्रय और साथ ही कुछ भूभाग भी दान में दे दिया गया। ग्राम-पञ्चायत में उन्हें समान अधिकार का पट्टा भी ताम्रपट पर लिख दिया गया। धीरे-धीरे उनको यह समझ में आ गया कि हिन्दू खिलाने-पिलानेमात्र से भ्रष्ट होकर ईसाई बन सकते हैं। तब उन्होंने वैसा ही करना प्रारम्भ कर दिया। इंग्लैण्ड में जब कोई ईसाई नाम भी नहीं जानता था, उसी समय कपटपूर्वक हिन्दुस्थान में ईसाई बनाया जा रहा था। छलकर पानी पिलाकर ईसाई बनाया गया। ग्रामों के तालाबों में डबल रोटी डाली गयी। जब लोगों ने उनका पानी पी लिया तब ईसाइयों ने प्रचार कर दिया कि 'हम लोग ईसाई हैं, हिन्दू नहीं। हमारी रोटी इस तालाब में पड़ी है। तुम लोग इस तालाब का पानी पीकर ईसाई हो गये। इससे खूब गड़बड़ी फैल गयी, जाति-बहिष्कार हुआ, ईसाईयों की संख्या तेजीसे बढ़ने लगी!

विभिन्न देशों की ईसाई-मिशनरियाँ आपस में एक-दूसरे से लड़ती थीं और छल-कपटपूर्वक सैकड़ों गिरोहों में ईसाइयत फैला रही थीं। मनचाहे अत्याचार कर उन्हें ईसाई बनानेवालों में सबसे प्रबल पादरी सेण्ट (सन्त) जेवियर (अक्षवीर्य) था। उसने अपने पुर्तगाल-बादशाह को लिखकर ईसाइयत के प्रचार में शासकीय अधिकारियों की सहायता प्राप्त की। वह ब्राह्मणों को अपने प्रचार में सबसे बड़ा बाधक मानता था। सरकारी अधिकारियों की मदद लेकर वह मठाधीशों, आचार्यों और धनवान् लोगों की मरम्मत करता, मन्दिरों-मूर्तियों को तोड़ता और घोर अन्याय-अत्याचार कर ईसाइयत फैलाता था। अन्य लोग भी उसका अनुकरण करते थे। इस तरह ईसाई-राष्ट्रों ने दक्षिण समुद्र पर अपनी सत्ता स्थापित की, वे हिन्दचीन तक फैले। हिन्दू-धर्म अपनी गलतियों से कूपमण्डूक बना हुआ था। उसने समुद्रतट जाना ही मना कर रखा था। समुद्रयातुः स्वीकारः कलौ पञ्च विवर्जयेत्।

आगे वे कहते हैं। "उचित यह था कि विद्यारण्यस्वामी, छत्रपति शिवाजी, दुर्गादास राठौर, जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह, रामानन्द, चैतन्य आदि सन्त-महन्तों ने जो शुद्धिसम्बन्धी मोर्चे पर सशस्त्र जवाबी हमले का उपक्रम किया था, उस सशस्त्र आक्रमण को सतत जारी रखा जाता। मुसलिम स्त्री-पुरुषों को हिन्दू बनाने का धूम-धड़ाका जारी रखते हुए, पुरानी रूढ़ियों को तिलाञ्जलि देकर उसे उस समय के हिन्दुओं का युगधर्म बना डालना चाहिए था। पर दुर्भाग्यवश वैसा नहीं हुआ।"

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अत्याचार, अन्याय कर ईसाइमत फैलाने में ईसाई मुसलमानों से भी बढ़े-चढ़े थे। ईसाई और मुसलमान दोनों शक्तियों ने धर्म के नाम पर काला कलङ्क लगाया। आज भी वे छल-कपट से, गरीबी का अनुचित्त लाभ उठाते हुए हिन्दुओं को धर्म-भ्रष्ट करके ईसाई, मुसलमान बनाने में जुटे हुए हैं। प्राचीन काल से ही शास्त्रों में प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। अतः भ्रष्टों को प्रायश्चित्त कराकर अपने धर्म, दर्शन तथा शास्त्रों का प्रचार करना परमावश्यक है।

देवल, मेधातिथि की कोई प्रामाणिक नवीन व्यवस्था नहीं है। विद्यारण्य-स्वामी की भी कोई ऐसी व्यवस्था उपलब्ध नहीं है, जिसमें यह कहा गया हो कि 'हमें जाति-पाँति, वर्ण-व्यवस्था नहीं माननी चाहिए, सबके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध करना चाहिए। जन्मना ईसाई, मुसलमान, तुर्क, मुसल, ईरानी, अंग्रेज, फ्रेंच, पुर्तगीज को ब्राह्मण, क्षत्रिय बना लेना और उनको अपनी बहन-बेटी दे देनी चाहिए।' अतः वैसी सुधारकों की कल्पना निर्मूल है।

चैतन्य रामानुज, रामानन्द आदि की भी ऐसी कोई व्यवस्था उपलब्ध नहीं है। चैतन्य महाप्रभु का ग्रन्थ अभी भी जीवित है। उनके अनुयायी उनके भक्ति-विषयक ग्रन्थों का पाठ करते हैं। स्वयं श्री सावरकरजी मानते हैं कि 'इस महापुरुष ने मुसलमानों से सशस्त्र बदला लिया', पर इसका उल्लेख तक उनमें नहीं है। उनके द्वारा मुसलमानों पर हुए सशस्त्र धार्मिक आक्रमण अथवा बड़ी-बड़ी शुद्धियों की गाथा कहनेवाला एकआध वीरकाव्य भी उस समय के भाटों अथवा चारणों द्वारा रचा गया हो तो इस समय प्राप्त नहीं है। बहुजन-समाज को भी इसकी आवश्यकता प्रतीत नही हुई कि वह उन स्मरणीय प्रसङ्गों की मौखिक चर्चा ही परम्परानुसार जारी रखता। ऐसी स्थिति में एक शास्त्रवादी को कहना पड़ता है कि वस्तुतः विद्यारण्य के समान ही रामानुज, रामानन्द, चतन्यादि ने भी कभी कोई धर्मविरुद्ध व्यवस्था नहीं दी। वैष्णव-धर्म या शैव-शाक्तधर्म में ईसाई अथवा हरिजन भी प्रविष्ट होकर भगवन्नाम जपें, भगवद्भक्ति करें, इसमें किसीको कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु वैदिक वर्णाश्रमधर्म में तो जन्मना शुद्ध वर्णों का ही सन्निवेश है।

यद्यपि श्री सावरकर ने मेधातिथि को बहुत बड़ा क्रान्तिकारी बताया और उनके आविर्भाव को हिन्दुओं का परम सौभाग्य कहा। किन्तु उन्हींके वर्णन से प्रतीत होता है कि उनका कोई स्थायी प्रभाव समाज पर नहीं पड़ा। इसलिए लेखक के अनुसार वह समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। छत्रपति शिवा, दुर्गादास, राजा जसवन्तसिंह आदि ने जो कुछ भी किया हो, परन्तु श्री सावरकर के अनुसार वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। न तो मुसलिम स्त्री-पुरुषों को हिन्दू बनाने का धूम-धड़ाका और पुरानी रूढ़ियों को तोड़ने का काम चला और उसे युगधर्म नहीं बनाया जा सका। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त बातें ऐतिहासिक तथ्य न होकर अधिकांश सुधारकों की कल्पना ही है। यदि किसी अंश में ऐतिहासिक भी हों तो भी शास्त्रवादी आस्तिक-समाज की दृष्टि में उसका न तो तब कोई महत्त्व था और न अब है। आस्तिक तो शास्त्रानुसार शुद्धि तब भी चाहते और करते थे और अब भी करते हैं।

सिन्धु-पार अथवा समुद्र-पार जाने की निषेधसम्बन्धी कथा श्री सावरकरजी की अपनी मनगढ़न्त है। यह महमूद गजनी या मुहम्मद गोरी के आक्रमण या ईसाईयों के अत्याचारों के कारण प्रवर्तित नहीं हुई और न उसमें कहीं भूल ही है। वस्तुतः यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार।.......नान्तमियात्, न जनमियात् (बृहदारण्यक-उपनिषद् १. ३) के अनुसार यह कहा गया है कि 'प्राणदेवता ने वागादि देवताओं में से पाप्माओं को छुड़ाकर इन प्राची आदि दिशाओं के अन्त में खदेड़ दिया। वहाँ श्रौतस्मार्त धर्मनिष्ठ मनुष्यों और उनके निवासभूत भारतवर्ष को दिक् मानकर उससे भिन्न देशों और तन्निवासी मनुष्यों को 'दिगन्त' या 'प्रत्यन्त' तथा 'विजन' माना गया है और उन्हें पाप्माओं का आश्रय मानकर, वर्णाश्रम-धर्मनिष्ठ को वहाँ जाना निषिद्ध किया गया है। इसीलिए नान्तमियात् न जनमियात् इन दो निषेधों से उस देश एवं उस जन दोनों का ही संसर्ग वर्जित किया गया है। आद्य शङ्कराचार्य, सुरेश्वराचार्य तथा आनन्दगिरि ने उक्त श्रुति का वैसा ही अर्थ किया है, जैसा कि हमने ऊपर कहा है।

इन्हीं श्रुतियों के अनुसार मनु ने भारत से भिन्न देशों को 'म्लेच्छदेश' कहा है। 'जहाँ स्वभावतः कृष्णसार मृग विहरण करता है, वह यज्ञिय देश है, उससे भिन्न सब देश म्लेच्छदेश हैं : म्लेच्छदेशस्त्वतः परम्। फिर एतान् द्विजातयो देशानाश्रयेरन् प्रयत्नतः—यह मनु ने आग्रहपूर्वक कहा है : द्विजाति लोग यत्न करके ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, मध्यदेश आदि देशों में ही रहें। हाँ, वृत्तिकर्शित होने पर शूद्र अन्य देशों में भी रह सकते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त वचन प्रक्षिप्त हों, मूल मनु के नहीं, क्योंकि आपके क्रान्तिकारी भाष्यकार मेधातिथि ने उन दोनों श्लोकों पर भाष्य लिखा है। यह बात पृथक् है कि उनका भाष्य मूल के विरुद्ध है और कलि के

लिए ही नहीं, किन्तु यह निषेध सदैव के लिए है। तब भी हिन्दू त्रिसमुद्रा ही नहीं, सप्तसमुद्रा पृथिवी का अधिपति और सप्तद्वीपा भूमि अधिपति था।

श्रीमद्भागवत आदि पुराणों के अनुसार मांधाता, दिलीप, पृथु, सुरथ आदि का अखण्ड भूमण्डल पर शासन था :

सुरथो नाम राजाऽभूत् समस्ते क्षितिमण्डले। (दुर्गा-सप्तशती)

और, ऋग्वेदकाल के भुज्यु प्रभृति नरेश तो अपनी अन्तरिक्षगामिनी शतारित्र नावों द्वारा दस्युओं पर आक्रमण करते रहे हैं। अश्वमेध तथा राजसूय के प्रसङ्ग में दिग्विजय की यात्रा करते रहे हैं। विशेष-धर्म से सामान्यधर्म का बाध होता ही है। अतः उक्त विशेष परिस्थिति में राजा तथा योद्धा सेनाएँ प्रत्यन्तों में भी जाकर राज्य-व्यवस्थापन करके, लौटकर प्रायश्चित्त कर लेते थे। **समुद्रयातुः स्वीकारः कलौ पञ्च विवर्जयेत्** यह वचन का अभिप्राय श्री सावरकरजी ने नहीं समझा। साथ ही उक्त वचन के साथ **कलौ पञ्च विवर्जयेत्** का अशुद्ध पाठ उन्होंने अपनी तरफ से जोड़ दिया है।

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

इस वचन का यह अन्तिम चरण है। इसका अर्थ यह है कि 'अश्वालम्भ, गवालम्भ, पल-श्राद्ध, संन्यास तथा देवर से सुतोत्पत्ति – इन पाँचों का कलि में वर्जन करना चाहिए। 'समुद्रयातुः स्वीकारः' का अर्थ है कि 'प्रत्यन्त (विलायत)-यात्रा के लिए समुद्री नौका द्वारा यात्रा करनेवाले का प्रायश्चित्त करने पर जाति में स्वीकार करना कलि में वर्ज्य है। इसी अर्थ का दूसरा भी वचन है :

समुद्रस्य तु नौयातुः शोधितस्याप्यसंग्रहः।

अर्थात् समुद्र-नौका द्वारा प्रत्यन्त-यात्रा करनेवाले का, प्रायश्चित्त से शोधित होने पर भी, संग्रह करना कलिवर्ज्य है। इस प्रसङ्ग में 'एष धर्मः सनातनः' आदि कोई वाक्य नहीं है, यह सब लेखक ने अपने मन से धर्म के प्रति घृणा व्यक्त करने के लिए जोड़ा है।

विष्णुपुराण आदि में भी भारत की भूमि को 'यज्ञभूमि' कहा गया है, मनु के अनुसार भी भारत यज्ञिय-भूमि है, भारतेतर द्वीप प्रत्यन्त, दिगन्त, म्लेच्छभूमि हैं। द्विजातियों को प्रयत्न करके भारत में ही रहना चाहिए। **नान्तमियात् न जनमियात्** इस श्रुति के अनुसार प्रत्यन्त-देशों एवं तन्निवासियों से संसर्ग वर्जन करना चाहिए। यह निषेध अतिप्राचीन एवं सदा के लिए है। फिर भी अश्वमेध-प्रसङ्ग या कण्टक-

शोधन, दस्युवधार्थं अपवादरूप द्वीपान्तरों की यात्राएँ होती थीं। इतर युगों में उस यात्री का प्रायश्चित्त द्वारा जाति में ग्रहण होता था, परन्तु कलि में प्रायश्चित्त द्वारा पारलौकिक शुद्धि होती है, लेकिन जातिग्राह्यता नहीं होती। यही उक्त कलिवर्ज्य का अभिप्राय है। कलि में अश्वमेध भी वर्ज्य है। दिग्विजयार्थ, दस्युवधार्थं प्रत्यन्त-यात्रा की स्थिति भी कलि में नहीं रह गयी, फिर भी दस्युवधार्थं क्षात्रधर्मानुयायी—गूजर, जाट, मराठा, मद्रासी, सिख, गोरखों की हिन्दू-सेनाएँ जा सकती हैं। क्योंकि उक्त निषेध जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यवर्णों के लिए ही मान्य है। इस दृष्टि से आज भी दिग्विजय यात्री हिन्दू के लिए किसी देश में जाने की कोई रुकावट नहीं है। समुद्र-नौका प्रत्यन्तगमन के साधन का उपलक्षण है। अतः वायुयान आदि द्वारा भी समुद्र-यात्रा निषिद्ध ही है। इस सम्बन्ध में हमारी 'प्रत्यन्त-गमन पर शास्त्रीयपक्ष' पुस्तक है। कुछ आदर्श वर्णों के लिए ही यह सीमित है।

आगे सातवें अध्याय में हिन्दू-पीडक टीपू सुलतान की चर्चा करते हुए कहा गया है कि "मराठों ने दिल्ली के मुगलसाम्राज्य को उलट डाला, हिमालय से कन्याकुमारी तक कोई मुसलिम-सत्ता नहीं थीं। ऐसे समय में भी मैसूर के छोटे से रजवाड़े के अधीन रहकर भी हैदर अली मुसलमान अपने अधिकार-पद पर बढ़ते-बढ़ते महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँचा और अन्त में अपने मालिक राजा को हटाकर स्वयं वहाँ अधिकार कर बैठा। उसने मराठों पर भी चढ़ाई की, किन्तु मराठों ने उसकी ऐसी मरम्मत की कि आगे न बढ़ सका।

"इसने एकबार अंग्रेजों पर धावा बोल दिया। १८८२ में हैदर अली के मरने के बाद उसका लड़का टीपू सुल्तान बना। हाथ में सत्ता आते ही उसने हिन्दू-राजा का नाम, गाँव मिटाकर स्वयं को मैसूर के स्वतंत्र मुसलिम-राज्य का शासक घोषित कर दिया और एक आम-दरबार में यह घोषणा कर दी कि 'मैं सभी काफिरों को मुसलमान बनाकर ही दम लूँगा।' तुरन्त ही उसने हिन्दुओं को मुसलमान बन जाने का फरमान जारी किया और अधिकारियों को हुक्म दिया कि बल-पूर्वक सभी हिन्दुओं को मुसलमान बनाकर, हिन्दू-स्त्रियों को पकड़कर रखैल बना लो, मुसलमानों में बाँट दो। गाँव-गाँव भीषण अत्याचार शुरू हो गये। अक्षम, असहाय, निरस्त्र, बाल, वृद्ध हिन्दुओं को घेर-घेरकर, मार-मारकर भ्रष्ट किया गया। मुसलिम गुण्डों और मौलवी-मुल्लाओं ने गाँव गाँव भ्रष्टीकरण की आग फैलाकर त्राहि-त्राहि मचा दी। सारा मुसलिम-समाज टीपू का कृतज्ञ हो गया। विशेषकर, कर्नाटक से लेकर त्रावणकोर तक के सभी मुसलमानों ने कन्धे से कन्धा भिड़ाकर उस अत्याचार में हाथ बँटाया।

"पूना में इसकी प्रतिक्रिया हुई। पेशवा के मुख्य फणनवीस नाना ने मरहठा

सरदारों को टीपू पर आक्रमण की आज्ञा दे दी। यह सुनकर टीपू ने आग-बबूला होकर नरगुंदा और फित्तूर, दो मराठी इलाकों पर आक्रमण किया। दोनों के अधीश्वर ब्राह्मण थे। वीरोचित वृत्ति से दोनों ने टीपू का सामना किया। पूना की सहायता समय पर न पहुँचने के कारण दोनों की सेनाएँ टीपू की बड़ी सेना के सामने हार गयीं। दोनों के सेनापति भावे और पेठे पकड़े गये। उनको असह्य यातनाएँ दी गयीं। राजस्त्रियों की टीपू ने स्वयं अपने मुसलिम दस्तकों से विडम्बना करवायी। युवतियों, लड़कियों पर तरह-तरह के बलात्कार किये गये। राजघराने की सर्वोत्तम तरुणी को टीपू ने अपने जनानखाने में बन्द किया। धनी लिङ्गायतों और सामान्य नागरिकों गुलाम बनाकर वह साथ ले गया।

"इस बीच मराठों की सेना ने उन राज्यों को फिर से जीत लिया। सरदार, पटवर्धन, फड़के बेहरे, होलकर, भोंसले की सेनाओं ने मुसलिम सेनाओं को मार-मारकर पछाड़ते हुए सारा-का-सारा कर्नाटक जीत लिया। टीपू का मैसूर तक पीछा किया। आखिर वह घिर गया! इसी समय अंग्रेजों ने टीपू को फँसा देख मौका साधा। वे भी टीपू पर टूट पड़े। मराठों की तीखी तलवारों से मुसलिम-सेना का शैतानी धर्मोन्माद उतरने लगा। उसका दम उखड़ता गया। हिन्दू-धर्मद्वेष्टा होने पर भी वह हिन्दू देवी-देवताओं की माला जपने लगा। एकाएक उसने हिन्दू मठ-मन्दिरों को दान देना आरम्भ कर दिया। मुसलमानों द्वारा तोड़े गये मन्दिरों को फिर से बनवाकर देवताओं की प्रतिष्ठा कराने लगा। ब्राह्मणों द्वारा भी मन्दिरों में पूजा-प्रार्थना करवायी। दान, दक्षिणा, अनुष्ठानों के बड़े-बड़े आयोजन कराये। शङ्कराचार्य महाराज का वहाँ सम्मान किया और उनसे राज्य पर आये सङ्कट को टालने लिए आशीर्वाद लिया। कांची-क्षेत्र के हिन्दू-देवता की रथयात्रा में स्वयं टीपू सुलतान उपस्थित हुआ। उसने अपने हाथों आतिशबाजी सुलगायी, अपने खर्च से दोलोत्सव किया। फिर भी दो-तीन आक्रमणों में ही उसका सारा राज्य मराठों और अंग्रेजो ने छीन लिया। आगे चलकर टीपू मारा गया। उसके राज्य का बँटवारा हुआ। त्रिवाँकुर, मैसूर का टीपू द्वारा जीता गया क्षेत्र वहाँके राजघराने को लौटाकर उन्हें पुनः प्रतिष्ठित किया गया। टीपू का सारा राज्य नष्ट हो गया!

"पर हिन्दू-धर्म का उच्छेद करने के लिए मुसलमानों का जो धार्मिक-सामाजिक हमला हुआ था—जिसमें लाखों हिन्दू स्त्री-पुरुष धर्मभ्रष्ट किये गये; हिन्दू-राष्ट्र, हिन्दू-पौरुष का मानभङ्ग किया गया; जिसके कारण मुसलमानी धर्म, समाज और सत्ता निरन्तर बढ़ रही थी—उस सामाजिक अपमान का बदला लेने के लिए मराठों ने कुछ भी नहीं किया। मराठों के इस प्रत्याघात से मुसलमानी राजसत्ता तो चकनाचूर हो गयी, पर दो-तीन लाख भ्रष्ट किये गये हिन्दू स्त्री-पुरुष मुसलमानी

दासता और उनके जनानखानों में सड़ते रहे; क्योंकि उनको शुद्धकर तुरन्त हिन्दू नहीं बनाया गया। आगे चलकर उनमें भी हिन्दू बनने की इच्छा दूर हो गयी और अपने समान ही वे अन्य हिन्दुओं को भी मुसलमान बना लेना अपना कर्तव्य समझने लगे। उस समय सब अपने धर्म में लौटने को तैयार थे। टीपू की मुसलिम सल्तनत को दफनाकर सरदार पटवर्धन, होळकर की मराठा सेनापतियों की विजयी घुड़सवार सेनाएँ अपने-अपने रणक्षेत्र से 'हर हर महादेव' का रणघोष करती हुई, भगवा-ध्वज फहराती हुई, विजय-दुन्दुभि बजाती हुई, जिन नगरों-कस्बों से निकलती थी, वहाँ के लाखों भ्रष्टकर मुसळमान बने हिन्दू स्त्री-पुरुष और खासकर जिन हजारों स्त्रियों को रखैल-दासी बनाकर घरों में कैद कर रखा गया था, उनमें अनेक पतिता-दु:खिता हिन्दू-कन्याएँ, कान्ताएँ थीं। उन सबको समझ में आ गया होता कि हिन्दुओं की विजय हुई और मुसलिमता का सत्यानाश हुआ! वे खिड़कियों द्वारा और झोपड़ियों के रन्ध्रों से झाँकने के लिए आ डटी होंगी। हिन्दू-वीरों की विजय-शोभायात्रा के समय उन हजारों बहनों के हृदय में ऐसी आकांक्षा स्वाभाविक रूप से जगी होगी कि 'लो, वे आये हमारे हिन्दू-धर्म के भाई! इन अत्याचारी मुसलमानों की छाती रौंदते हुए आखिर हमारे छुटकारे के लिए आ ही पहुँचे। किन्हीं-किन्हींके सगे बाप, भाई, पति-पड़ोसी आदि प्रत्यक्ष भी दिखाई पड़े होंगे।

"उस समय गाँव-गाँव में सञ्चार करती विजयी हिन्दू-सेनाएँ चाहतीं तो इन हिन्दू-अबलाओं का राह चलते उद्धार कर दिया होता; क्योंकि उस समय मुसलिम-समाज में सामना करने की कोई हिम्मत न थी। उस समय उस सेना के आह्वान-मात्र से समस्त हिन्दू भाई तथा बहनें तत्काल सैनिक-विभाग में आकर मिल गयी होतीं। लेकिन शुद्धि का विचार ही नहीं आया। मराठा सैनिकों, शङ्कराचार्यों पूना, के पेशवाओं, सतारा-कोल्हापुर के छत्रपतियों में से किसीके मन में सहज शुद्धीकरण बात आयी ही नहीं! मुसलमान राक्षसों के बन्दीखाने में पड़ी हजारों अपनी माँ-बहनों को वैसा ही तड़पते छोड़ आगे बढ़ जाने में किसीको शर्म न आयी! वे भ्रष्ट हिन्दू स्त्री-पुरुष निराश हो गये। अत्याचारी मुसलमान अपने अत्याचारों का दण्ड न पाकर पुनः आश्वस्त होकर निर्भय हो गये। अब सभी पुराने लेखों, पत्रों का प्रकाशन, मुद्रण हो जाने से इन सब अत्याचारों का पूरे-पूरे प्रमाण मिल रहे हैं।

खर्डा के विजय-युद्ध में हुई घटना का उल्लेख एक पत्र में यों किया गया है: मराठा राजसत्ता के सेनापति श्री हरिपन्त फड़के ने मराठी-साम्राज्य के कर्णधार नाना साहब को सूचित किया कि 'टीपू ने अपनी हार के बाद जो करार किया था, उसका पालन करने के लिए आश्वासन के रूप में उसने अपने दो पुत्र मराठा अंग्रेज सेनापति के पास बंधक (धरोहर) के रूप में रहने के लिए भेजे।' यह लिखकर

शायद वे यह जनाना चाहते थे कि मराठों ने शत्रु को कितना दीन-हीन, लाचार कर डाला। फिर उन्होंने आगे लिखा कि 'लार्ड कार्नवालिस ने वे दोनों पुत्र मेरे पास भेजे। मैंने (हरिपन्त ने) जब उन्हें देखा तो वे 'भूख-भूख' की रट लगा रहे थे। मैंने उन्हें पास के तम्बू में भेजकर भरपेट भोजन करने की आज्ञा दी। कुछ देर बाद उन्हें अंग्रेजी-शिविर में कार्नवालिस के पास पहुँचा दिया।

"इस घटना से सन् १७०० के आरम्भ के दस वर्षों के आस-पास पञ्जाब के दसवें गुरु श्री गोविन्दसिंहजी के पुत्रों का बरबस स्मरण हो आता है। वे दोनों बारह वर्ष से कम आयु के ही थे। मुसलमानों ने अपने धर्म के अनुसार उसके साथ कैसा व्यवहार किया और टीपू सुलतान के दो पुत्रों के मराठों के हाथ लगने पर भी उन्होंने अपने धर्माचार के अनुसार उनसे उतना करुणापूर्ण व्यवहार किया!

"इधर गुरु गोविन्दसिंहजी के दोनों पुत्रों के अपने चंगुल में फँसते ही उनसे प्रश्न किया गया: 'क्या तुम मुसलमान बनते हो? यदि बनते हो तो प्राण-दान और जो कुछ चाहो, दिया जायगा, अन्यथा कुछ भी नहीं।' बच्चों ने उत्तर दिया: 'हम मुसलमान नहीं बनेंगे, प्राण जाते हों तो चले जायँ।' इतना कहते ही राक्षसी न्याय ने हुक्म दिया: 'बच्चों को तुरन्त दीवाल में चुनवा दो!' और वे जिन्दा दीवाल में चुने जाने लगे। एक-एक ईंट जुड़ती और बच्चों से वही प्रश्न पूछा जाता। हरबार बालक यही उत्तर देते: 'मुसलमान नहीं बनेंगे!' दोनों पर अन्तिम ईंटें चढ़ीं और साँस बन्द हो गयी! आज भी जब कोई असली हिन्दू उस स्थान पर, उस वातावरण में प्रवेश करता है तो उसके कानों में 'मैं मुसलमान नहीं बनूँगा, नहीं बनूँगा, भले ही हम हिन्दू, हम सिख मृत्यु का वरण कर लेंगे' के स्वर गूंजने लगते हैं।

"मान लें कि टीपू के हाथ में पेशवा के दो पुत्र पड़े होते, तो टीपू हमारे हिन्दू-हृदय सेनापति फड़के की तरह उन्हें खिला-पिलाकर पेशवाओं के पास वापस कभी न भेजता। इस कार्य को उसने अपने धर्म के विपरीत और नामर्दी का लक्षण समझा होता। वह तो अपनी परम्परा के अनुसार उन्हें दीवारों में चुनवा देता या हाथी के परों तले कुचलवा डालता। लेकिन हिन्दू सद्गुण-विकृति के कारण ऐसा न कर सके!

"वस्तुत: "सङ्कटग्रस्त शत्रु पर आक्रमण न करो, रथी से रथी, तलवारिया से तलवारिया ही लड़े। वह शत्रु बेहोश हो तो उस बेसुध शत्रु को होश में आने दो'—यह रणनीति महाभारत-काल में उचित रही हो। कारण युद्धरत दोनों दल उस नियम का पालन करते थे। रणनीति का पालन विवेक के अनुसार चाहिए।

"इस तरह खर्डा की ऐतिहासिक लड़ाई में जो १७९५ में हुई, हिन्दू-छत्रपति के मराठों वीरों ने निजाम की मुसलिम सत्ता को पस्त कर दिया, परन्तु सद्गुण-विकृति-रूप असाध्य रोग के कारण वे स्वयं खतरे में पड़ गये। रणनीति के दाँव-पेच में

मराठों ने निजाम को निर्जन और निर्जल देश में घेर लिया। उसकी विशाल सेना को रसद-पानी मिलना असम्भव हो गया। पानी के अभाव में मुसलिम सिपाही डाबरों का पानी पीने लगे, जहाँ जानवर भी न पीता होगा। निजाम की आँखों में पानी आ गया, किन्तु पीने का पानी नहीं मिला। उधर मराठों की तोपों की गड़गड़ाहट से आकाश गूँजने लगा। लेकिन 'रणांगण में मूर्छितावस्था में पड़े होने के कारण उस पर हथियार न चलाना चाहिए, उसकी सहायता करनी चाहिए' हिन्दुओं की उदारता के पुरातन पागलपन की इस लहर का पेशवाओं के मन्त्रिमण्डल पर भी एकाएक हमला हुआ। अपने मुख्य शत्रु निजाम को जो प्यासे मरे जा रहे थे, जिन्दा कैद कर लेने और सारी सेना को नष्ट कर देने का मौका हाथ में आ जाने पर भी 'क्षत्रियोचित दया दिखाना एक सच्चे वीर का का कर्तव्य हैं, ऐसे करुणपूर्ण विचार से पेशवा ने अपनी सेना के लिए संगृहीत पानी में से निजाम और उसके कुटुम्बियों के लिए पर्याप्त पानी की व्यवस्था कर दी, और सो भी ऐन जोर-शोर की लड़ाई के बीच! यही कमी, वीररूप भूषण में सद्गुण-विकृति का नमूना है।

"इस नीति से हिन्दुओं को संख्याबल की हानि हुई। भूक्षेत्र की भी हानि हुई। मराठों की जीत के बाद भी मुसलिम जायदादें मुसलिम नागरिकों ही बनी रहीं। पेशवाओं के शासन में पूना, सतारा, कोल्हापुर, बड़ौदा, नागपुर, देवास, धार, इन्दौर, ग्वालियर, जोधपुर, मैसूर, उदयपुर, अमृतसर और लाहौर तक हजारों-हजारों की मुसलिम-आबादी भरी पड़ी थी और उन सबको मुसलिम-स्वामित्व प्राप्त था।

"वास्तव में राक्षस से लड़ाई जीतनी हो तो उससे सवाया राक्षस बनकर ही लड़ना चाहिए। यदि इसलामी धर्मसत्ता को धूल में मिलाने के लिए महाराष्ट्रीय वीरों को आदेश पत्र मिला होता और यह भी आदेश निकला होता कि 'ऐसे हिन्दू-स्त्री-पुरुषों को, जो मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट होकर मुसलमान बने हैं, एक निरोधन-शिविर में रखकर, उनके खान-पान जीवन-यापन में कोई कमी न रहती और प्रत्येक ग्राम के मुसलिम घर के ऐसे भ्रष्ट करनेवाले मुसलमान स्त्री-पुरुषों को बेड़ी-ठोककर कारागृह में बन्द किया जाता और उनके घरों में बन्दी हिन्दू बाल-बालिकाओं को मुक्तकर निरोधन-शिविरों में भेज दिया जाता। मुसलिम तरुण सैनिकों को पकड़कर बेड़ियाँ ठोक दी जाती और शुद्धि-सप्ताह का आयोजन कर निरोधन-शिविर के सभी स्त्री-पुरुषों को शुद्ध कर लिया जाता!

"जसे टीपू ने हिन्दू-स्त्रियों को मुसलमान बनाकर मुसलिम सैनिकों में बाँटा था, वैसे ही मुसलमानों की सुन्दर तरुण-स्त्रियों को हिन्दू बनाकर मराठे सैनिकों से विवाह करा दिया जाता और अत्याचारी राक्षसों को एक-एक कर उनके अत्याचारों

का बदला उससे भी कोटिगुणित क्रूरता से चुकाया जाता तो उसकी प्रतिध्वनि सर्वत्र फैल जाती। परन्तु यहाँ तो यह धारणा बनी थी कि जो जन्मना हिन्दू नहीं, उसे गङ्गास्नान भी करायें तो भी वह जातिवन्त हिन्दू कैसे बन सकता है? कारण जाति तो जन्म से ही निश्चित होती है। ब्राह्मणादि ही नहीं, मेहतर, गोंड़ और भील भी-जन्मजात मुसलमान के हिन्दुत्व स्वीकार कर लेने पर उसको जन्मना जाति में मिलाने को तैयार नहीं था, पंक्ति में बिठलाने को तैयार नहीं था, जन्मना जात म्लेच्छ-स्त्री से विवाह करने को तैयार नहीं था। इसे वह असम्भव और अधर्म मानता था। इसी मान्यता के कारण हिन्दू-समाज शुद्धि न कर सका।' अच्छा हुआ कि हिन्दू-नेताओं ने शुद्धिबन्दी को तरह राज्यबन्दी की घोषणा नहीं की। अन्यथा एकबार मुस्लिम-राज्य-सत्ता स्थापित होने पर पुनः उसको हिन्दू-राज्य भी न बना पाते!

"मुस्लिमों से पदाक्रान्त होकर भी स्पेन ने (जब आगे चलकर मुसलमान आपस में लड़ने लगे तब), फ्रांस की सहायता और पोप के प्रोत्साहन से स्पेन के ईसाइयों ने पुराने राजवंश के नेतृत्व में मुसलिम-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया और १५वीं शती में ईसाइयों ने मुसलिम-सत्ता उखाड़ फेंकी। ईसाइयों ने मुसलिम धर्म-सत्ता को नष्ट कर दिया; क्योंकि उनके यहाँ रोटी-बन्दी, बेटी-बन्दी, शुद्धि-बन्दी नाम की कोई बेड़ियाँ नहीं थीं। उन्होंने 'बपतिस्मा' देकर फिर से सबको ईसाई बना लिया। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि स्पेन में किसी मुसलमान मनुष्य एवं मस्जिद का अस्तित्व ही न रहने पायेगा। शासन की ओर से अवधि निश्चित कर दी गयी कि 'इतने दिनों के भीतर सब मुसलमान ईसाई बन जायँ अथवा परिकर-सहित स्पेन से बाहर हो जायँ। जो ऐसा न करेंगे, उन सभी मुसलमान स्त्री-पुरुषों के सिर धड़ से अलग कर दिये जायँगे।' स्पेन को जीतकर मुसलमानों ने ईसाई जनता के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था, इससे भी अधिक क्रूर अत्याचार किये थे। तब राजपथों और गली-कूचों में मुसलमानों ने ईसाई-रक्त के नाले बहाये थे तो अब ईसाई लोग मुसलमानों के खून के नाले बहाने चले। उक्त अवधि बीतते ही ईसाइयों ने देश के सभी मुसलमानों को समाप्त कर दिया और स्पेन मुस्लिम-विहीन हो गया! 'स्पेन' बना रहा, पर 'मोरक्को' नहीं बना। पोलैण्ड, बल्गेरिया, सर्बिया, यूनान आदि सभी ईसाई-देशों में मुसलमानों की यही दुर्दशा हुई। सबने मुसलमानी राज्य और धर्म से दबे अपने देश को स्वतन्त्र कर मुसलिम-विहीन बना दिया!"

लेखक वीर सावरकरजी भी मन से हिन्दुस्तान को वैसा ही मुसलिमहीन और शक्तिशाली बनाना चाहते हैं, यह ठीक है। परन्तु परिस्थितियाँ सर्वत्र एक-सी नहीं होतीं। धर्म-भेद शैवों, वैष्णवों, शाक्तों, सौरों और गाणपत्यों में भी होता है, पर उनमें एक दूसरे की रोटी-बेटी में धर्मनाश का प्रश्न नहीं उठता। इसी प्रकार ईसाई, मुसलमानों में धर्म-भेद होने पर भी उनके खान-पान तथा स्त्री-सम्बन्ध से धर्म-

नाश का प्रसङ्ग नहीं आता। अतः वे वैसा-का-वैसा बदला चुका सकते थे। पीछे कहा ही जा चुका है कि जैसे कुत्ता मनुष्य को काट खाता है, वैसे मनुष्य उससे बदला नहीं चुका सकता; क्योंकि बदला चुकाने के साथ अपने धर्म-कर्म, आचार-विचार को भी देखना पड़ता है। एक विवेकशून्य व्यक्ति ने किसीके घर से थाली माँगकर उसमें माँस रखकर खा लिया, तो उससे अधिक दूसरे अविवेकी ने बदला चुकाने की दृष्टि से कहा कि 'मैं उसके घर की थाली में विष्ठा रखकर उसका बदला चुकाऊँगा।' क्या यही उससे बदला चुकाना है? अपने भ्रष्ट होने का कुछ भी विचार नहीं?

यदि सुधारकों के अनुसार हिन्दू में ब्राह्मण आदि कोई जाति मान्य नहीं और कोई भी व्यक्ति सरलता से मुसलमान, ईसाई बनकर भी पुनः हिन्दू-जाति में मिल सकता तथा जन्मजात ब्राह्मण आदि से भिन्न अरब, तुरक, मुगल, अंग्रेज आदि भी ब्राह्मण-क्षत्रिय हो सकते, तो फिर दीवारों में चुनवाये जाने पर भी, अन्तिम ईंट चढ़ने तक भी 'हम मुसलमान नहीं बनेंगे, नहीं बनेंगे, मृत्यु को गले लगायेंगे, हम हिन्दू, सिख, क्षत्रिय हैं' इस प्रकार वीरोचित सिंहनाद क्या कभी सुनने को मिलते?

ठीक इसी तरह कुछ गोमांसभक्षियों ने विवेक खोकर हमारे भाई-बहनों को धर्म-भ्रष्ट किया तो उसके बदले में हम उनको भीषण से भीषण दण्ड दें। अपने भाई-बहनों को अपनी परम्परा के अनुसार छीनकर शास्त्रानुसार शुद्ध करें। स्थिति सामान्य होने पर उन्हें शुद्ध कर सर्वथा मिलाया भी जा सकता है। यदि वैसी स्थिति न हो तो भी शुद्धकर हिन्दू-समाज में नवीन श्रेणी का निर्माण करके उसमें उन्हें रखा जा सकता है। उनका रोटी-बेटी का सम्बन्ध उसी श्रेणी में हो, अन्य सब व्यवहार समान रूप से हिन्दू-समाज में किये जायँ। सारांश, शास्त्रीय अधिकार के अनुसार ही वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक और धर्म-उपासनाओं की व्यवस्था हो सकती है।

हिन्दू-समाज में बहुत-सी श्रेणियाँ और जातियाँ हैं, सबका सबसे रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं होता। ब्राह्मण ब्राह्मण सब समान होते हुए भी कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, गौड़, मैथिल, उत्कल का तथा उन सबका पञ्चद्राविड़ों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार हिन्दू हिन्दू समान होने पर भी विभिन्न जातियों का रोटी-बेटी का सम्बन्ध पृथक्-पृथक् रहता ही है।

ईसाई, मुसलमान भी धर्माधर्म का निर्णय अपने धर्म-ग्रन्थों बाइबिल, कुरानादि के आधार पर करते हैं और उसमें मनमानी रद्दो-बदल की कल्पना भी नहीं करते। वेदों की स्थिति तो उनसे भी अत्यधिक दृढ़ तथा पवित्र है। प्रायः सभी धार्मिक अपने-अपने धर्म का ईश्वरीय धर्म-ग्रन्थ के अनुसार निर्णय करते हैं। कारण धर्म-अधर्म की जानकारी और उनके फल देने की क्षमता ईश्वर में ही होती है। वही अनन्त ब्रह्माण्ड तथा उनके अनन्तानन्त प्राणियों तथा उनके अनन्तानन्त जन्मों तथा

अनन्तानन्त कर्मों को जान सकता है। प्रकृति जड़ है, जीव अल्पज्ञ होते हैं। अतः उक्त ज्ञान तथा उक्त क्षमता उनमें नहीं होती। यदि कर्मफल भी जीव के हाथ में हो तो कोई भी जीव अपने अच्छे ही कर्मों का फल भोगना चाहेगा। फिर अनिष्ट कर्मों का फलभोग हो ही नहीं सकेगा।

जो फल देने की सामर्थ्य रखता है, वही धर्म में रद्दो-बदल कर सकता है। किसी नेता या नेतृसमूह या पार्लमेण्ट या कार्यपालिका या शासक में वैसा ज्ञान अथवा सामर्थ्य नहीं है। महात्मा गान्धी, पंडित नेहरू, लेनिन, कार्लमार्क्स या हिटलर, राष्ट्रपति विलसन अपने किन-किन कर्मों के अनुसार कहाँ पर हैं, कैसे हैं, कौन फल भोग रहे हैं—यह किसी राष्ट्रिय नेता या पार्लमेण्ट को विदित नहीं। श्री सावरकर, श्री गोलवलकर आदि सुधारक धर्म में सुधार करना चाहते हैं। धर्म और अधर्म पारलौकिक सुख-दुःख एवं उन्नति-अवनति के साधन होते हैं। खेती-बारी, वाणिज्य, शिल्प आदि का फलाफल लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से विदित होता है। अतः उन्हीं प्रमाणों के आधार पर उनमें रद्दो-बदल की बात सोची-समझी जा सकती है। परन्तु अश्वमेध, राजसूय, ज्योतिष्टोम आदि का फलाफल प्रत्यक्षादि से विदित नहीं होता। सीमित सुरापान पाप है या पुण्य, परस्त्रीगमन पुण्य है या पाप, ब्राह्मण-कन्या की मुसलमान से या मुस्लिम-कन्या को ब्राह्मण से शादी पुण्य है या पाप, यह प्रत्यक्ष आदि से सर्वथा अज्ञेय हैं। भाई-बहन में भी शादी होने से कोई लौकिक हानि-लाभ दृष्ट नहीं है। यह सर्वज्ञ ईश्वरीय वेदों एवं तदनुसारी आर्षग्रन्थों के अनुसार ही पुण्य-पाप का लाभ होता है। उस धर्म में तभी उलट-फेर हो सकता है जब ईश्वर भी उस उलट-फेर को स्वीकार करके मान्यता प्रदान करे। सहस्रों नेताओं, करोड़ों मनुष्यों, सहस्रों पार्लमेण्टों के मान्यता प्रदान करने पर भी ईश्वरीय धर्म-अधर्म में उलट-फेर नहीं हो सकता; क्योंकि फल देने की क्षमता ईश्वर में ही है, नेता आदि में नहीं। अतएव उनकी मान्यताओं का कोई मूल्य नहीं। फल देने की क्षमतावाले परमेश्वर की मान्यता से ही धर्माधर्म की व्यवस्था हो सकती है। जबतक उसकी मान्यता की मुहर नहीं लग जाती तबतक नेताओं के किसी उलट-फेर को धार्मिक महत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए देवल, मेधातिथि, विद्यारण्य ही नहीं, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, कणाद, कपिल आदि भी धर्म बनाने-बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। ईश्वर की मृत्यु हो या ईश्वर बदल जाय किंवा वह पराजित हो जाय या स्वयं अपनी भूल मान ले, तभी ईश्वरीय धर्म में रद्दो-बदल की बात सोची जा सकती है। लेकिन ईश्वर नित्य, अमर, अजेय, अपरिवर्तनीय एवं सर्वज्ञ है, अतः उसके धर्म में परिवर्तन करने की क्षमता किसीमें नहीं है।

कहा जा चुका है कि स्मृतियों, पुराणों ने स्वतन्त्र रूप से कभी भी धर्म का निर्माण या परिवर्तन नहीं किया। अनादि वेदों के अनुसार ही आपत्ति-सम्पत्ति-भेद

से या कृत, कलि आदि भेदों से कहीं परिवर्तन हैं। श्रुतिमूलकता का अनुमान करके ही प्रत्यक्ष श्रुति से अविरुद्ध स्मृति का प्रामाण्य होता है। अतः शास्त्रप्रामाण्यवादी सर्वथा अक्षुण्ण रूप से शास्त्र का आदर करते हैं और करेंगे। इसी आधार पर उनके स्तुत्य त्याग-बलिदान इतिहास के स्वर्णपृष्ठों में अङ्कित हैं।

प्रतिशोध और बदला चुकाने का भी अपना असाधारण महत्त्व है, फिर भी अन्त में धर्मविधान का उद्देश्य बदला चुकाना न होकर अपराधी की आत्मशुद्धि ही होता है। अन्त में प्राणिमात्र की समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृता का व्यवहार ही अभीष्ट है। कारण प्राणिमात्र परमेश्वर की सन्तान है। अतएव सच्चिदानन्द ईश्वर का चेतन, अमल, सहज सुखराशि अंश ही है। जैसे आकाश से गिरनेवाला जल स्वच्छ ही होता है, पर शुभ-अशुभ भूमि के संसर्ग से ही उसमें शुद्धि-अशुद्धि आती-जाती रहती है।

भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहि माया लपटानी॥

सावन-भादों के दिनों में गङ्गा का पानी भी मटमैला हो जाता है, पर सदा वैसा ही नहीं रहता। निर्मली बूटी से वह फिर से निर्मल हो सकता है। कभी का डाकू वाल्मीकि भी कालान्तर में महर्षि वाल्मीकि भी बन सकता है।

हिन्दुओं में, ब्राह्मणों में भी रावण जैसे हो सकते हैं; क्षत्रियों में वेतन हो सकते हैं। मुसलमानों में भी कई लोग अच्छे होते हैं। ईसाइयों-अंग्रेजों भी कई न्यायशील, निष्पक्ष, ईमानदार होते हैं। महाभारत में एक धर्मशील न्यायनिष्ठ दस्यु का वर्णन मिलता है। कौरवों ने पाण्डवों को लाक्षागृह में दग्ध करने की साजिश की थी, भीमसेन को विष प्रदान भी किया था, पाण्डवों की पत्नी को भरी सभा में नग्न करने की चेष्टा की थी। पाण्डवों ने उसका बदला अवश्य लिया, परन्तु ठीक उसी रूप में नहीं। अन्तिम विजय सत्य की ही होती है, अनृत की नहीं। अतएव रावण और दुर्योधन की विजय नहीं हुई, राम और युधिष्ठिर की ही विजय हुई। अखण्ड शास्त्र-धर्मनिष्ठा के कारण ही हिन्दू-शास्त्र, हिन्दू-धर्म आज भी सुरक्षित है। इससे पुराने कोई भी धर्म आज जीवित नहीं। इतनी पराधीनता तथा विपत्तियों की घनघोर घटा से सूर्य के समान बाहर निकलकर आज भी वह विश्व को ज्योति प्रदान कर रहा है। आपत्तियाँ, परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, किन्तु ईमानदारी-बेईमानी, नृशंसता-अनृशंसता की चर्चा चलती ही रहती है।

गुरु गोविन्दसिंह के लड़कों के साथ मुसलमानों का दुर्व्यवहार सर्वत्र निन्दित रहेगा, टीपू के लड़कों के साथ हरिपन्त फड़के का व्यवहार सत्पुरुषों में सदैव प्रशंसनीय रहेगा। गुरु गोविन्दसिंह के लड़कों की धर्मनिष्ठा और त्याग-बलिदान की निष्ठा आपके (श्री सावरकर के) अनुसार भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। माया-

चारो मायया वर्तितव्यः' की नीति भी भारतीय नीति ही है। परन्तु उससे भी ऊँची नीति है 'दुर्जन को सज्जन बनाओ, सज्जन को शान्ति दो, शान्त पुरुष मुक्त हो और मुक्त अन्य लोगों की मुक्ति के मार्ग में लग जायँ :

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तस्त्वन्यात् विमोचयेत्॥

श्री प्रह्लाद भगवान् से कहते हैं 'विश्व का स्वस्ति (कल्याण) हो, खल की खलता मिटे, उसे मनःप्रसाद मिले। सब आपस में एक दूसरे का शुभ-चिन्तन करते हुए शोषक न होकर पोषक बने, भक्षक न होकर रक्षक बनें। सब एक दूसरे के पूरक होकर वर्ग-समन्वय, श्रेणी-सामंजस्य, जातियों व्यक्तियों के सामनस्य के लिए प्रयत्नशील हों। सबका मन भद्रदर्शी हो, सबकी पवित्र प्रज्ञा अधोक्षज भगवान् में प्रतिष्ठित हो :

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि मिथः शिवं धिया।
मनश्च भद्रं भजतामधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

भगवान् वेद का भी यही आदेश है कि दान से अदान को, अक्रोध से क्रोध को, सत्य से असत्य को जीतो : दानेनादानमक्रोधेन क्रोधम् (सामवेद)। पर यह सब होते हुए भी सत्य-अहिंसा के नाम पर असुरों की कूटनीति का शिकार बनना भी सर्वथा निन्द्य है। दूसरों पर अन्याय-अत्याचार करना पाप अवश्य है, पर दूसरों के अत्याचार-अन्याय का शिकार बन जाना है महापाप ! मारना पाप है, तो मार खाना उससे अधिक पाप है। जबतक संसार के अन्य लोग अहिंसा, दया, क्षमा आदि सात्त्विक गुणों को नहीं अपनाते तबतक कोई साधु-पुरुष अपनी साधुता के कारण दुष्टों की कूटनीति का शिकार हर्गिज नहीं बनना चाहिए।

असल में बहुत दिनों से भारतीय दर्शन, धर्म-नीतिसम्बन्धी सद्ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन शिथिल होने से शास्त्र तथा धर्म के प्रति श्रद्धा भी शिथिल हो गयी। सम्भव है, उस मुसलमानी अत्याचार-काल में वे लोग शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त के लिए प्रस्तुत न हुए हों अथवा भिन्न श्रेणी में रहना पसन्द न किये हो, तभी वे मुसलमान रह गये होंगे। अन्यथा शास्त्रीय व्यवस्थानुसार तो हिन्दू-समाज के भीतर श्रेणिभेद से अन्त्यज, चाण्डाल और मुसलमान तक को भी रहने के लिए स्थान है ही। अन्यथा आप सुधारकों के अनुसार देवल के मत से म्लेच्छों द्वारा गर्भिणी स्त्रियों के भी ग्रहण की व्यवस्था थी ही। मेधातिथि, आपके अनुसार, देवल से भी अधिक उदार थे। उन्हींके द्वारा मुसलमान स्त्री-पुरुषों को भी, आपके अनु-

सार, हिन्दू-जाति में समरस कर लिया जाता। आपके अनुसार उनका प्रादुर्भाव ८००-९०० सन् में हो ही चुका था।

पुनश्च महमूद गजनी, मुहम्मद गोरी आदि के आक्रमण से लेकर १८वीं सदी तक ईसाई-मुसलिम मोर्चों पर इस शुद्धि का काम क्यों नहीं हुआ और फिर टीपू को समाप्तकर पेशवाओं ने भी उस समय मुसलिम स्त्री-पुरुषों को हिन्दू क्यों नहीं बना लिया? अतः कहना होगा कि उनका शास्त्रवादी समाज पर असर न होकर कुछ सुधारकों पर ही था। वेदादि प्रामाण्यवादी विद्वानों की दृष्टि से भी प्रायश्चित्त आदि व्यवस्था अवश्य हो सकती थी, परन्तु उधर सुधारकों की प्रवृत्ति नहीं थी। जिनको यथासमय प्रायश्चित्त करने का अवसर मिला, वे पूर्ण शुद्ध होकर समाज में मिले। जिनके लिए वैसा अवसर न मिला, कालातिक्रमण के कारण उन्हें श्रेणिभेद में रखना अनिवार्य था; वह उन्हें स्वीकार न हुआ होगा।

आक्रामक शत्रु निजाम को विपत्ति के समय पानी देकर अनुग्रह करनेवाले, बेहोश-निःशस्त्र शत्रु पर आक्रमण और शस्त्र न चलानेवाले मराठा-वीरों ने अपनी परम्परा की ही रक्षा की है। वैसा न करने पर शत्रु अनायास वशीभूत हो सकता था, यह ठीक है। किन्तु जो शक्तिशाली, सशस्त्र, सावधान शत्रु को भी नीचा दिखा सकता है, हरा सकता है, उसे इस कमजोरी की प्रतीक्षा की क्या आवश्यकता थी?

महाभारत में भी मूर्च्छितावस्था में पड़े शत्रुओं पर प्रहार न करना, निःशस्त्र पर शस्त्र न चलाना पाण्डवों की नीति रही। कौरवों में गिने-चुने भीष्म, द्रोण आदि ही इसे मानते थे, अन्य लोग नहीं। अतएव एक बालक अभिमन्यु पर सात-सात महारथों ने आक्रमण कर धर्म-नीति का पालन नहीं किया। फिर भी

हिंस्रः स्वपापेन विहिंस्यते किल,
साधुः समत्वेन भयात् प्रमुच्यते।

हिंस्र प्राणी अपने पापों से स्वयं मारा जाता है और साधु-पुरुष समत्व के माहात्म्य से भयविमुक्त हो जाता है।

अन्त में समन्वय एवं सामञ्जस्य का मार्ग ही अपनाना पड़ता है। भगवान् परशुराम ने पिता का बदला चुकाने के लिए २१ बार सारी पृथ्वी को क्षत्रियविहीन बनाकर, उनके रक्त से अनेक महान् सरोवर भरकर उनसे तर्पण किया था:

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा। (महाभारत ३.५८.४)

श्रीरामचन्द्र ने ऋषियों की हत्या करने का बदला लेने के लिए प्रतिज्ञा की थी:

निशिचर-हीन करौं मही, भुज उठाइ प्रन कीन्ह।
सकल ऋषिन के आश्रमनि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

फिर भी आखिर विभीषण और उसके साथी अनेक राक्षसों को अपवादरूप से सुरक्षित करना पड़ा। परशुराम को भी इसी तरह अपवादरूप में क्षत्रियों को छोड़ना पड़ा, तभी तो २१ बार उनकी वृद्धि हो सकी और तभी दशरथ आदि रघुवंशी नरेश बच सके। छत्रपति शिवाजी आदि के यहाँ भी जुल्फे खां आदि कुछ ईमानदार मुसलमान सुरक्षित थे ही। आधुनिक युग में भी रफी अहमद किदवई साहब जैसे भी मुसलमान आदरणीय कोटि में रहे हैं। नोआखाली के उपद्रव के प्रसङ्ग में भी कई ईमानदार मुसलमानों ने अपने प्राणों को खतरे में डालकर भी हिन्दुओं की रक्षा की ही थी।

इस विषय को पूर्ण करने के पूर्व वीर सावरकर को निबन्धकार मेधानिधि के तथाकथित 'सुधारवादी' होने की जो भ्रान्त-धारणा हुई है, उसे दूर करने के लिए मेधातिथि के वास्तविक स्वरूप का भी सप्रमाण उल्लेख अनुचित न होगा।

मेधातिथि वर्ण-जाति के कट्टर पक्षपाती

मेधातिथि प्राचीन परम्परा से किसी अंश में कुछ ३१ मतभेद रखते हुए भी वर्णाश्रम धर्म, जाति-पाँति, भोजन-विवाह आदि के सम्बन्ध में इतर आस्तिकों के समान ही व्यवस्था मानते थे। आश्चर्य है कि श्री सावरकर ने मेधातिथि के नाम उच्छृंखल सुधारवाद का कैसे समर्थन किया!

मनुस्मृति की टीका लिखते हुए मेधातिथि ने भी वर्णाश्रम-व्यवस्था को स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि स्वकर्मस्थ तीनों वर्ण द्विजाति अध्ययन करें, परन्तु उनमें प्रवक्ता, प्राध्यापक ब्राह्मण ही होना आवश्यक है; क्षत्रिय, वैश्य, अध्यापक नहीं होने चाहिए :

प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतरानिति निश्चयः।

मनु के इस वचन पर मेधातिथि ने भी यही माना है।

इसी तरह आगे चलकर ब्राह्मणादि का निरूपण करते हुए मनु कहते हैं कि सभी वर्णों में अपने वर्ण की अक्षतयोनि पत्नी में उत्पन्न होनेवाली सन्तान ही ब्राह्मण होती है :

सर्वं वर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेया···॥

यहाँ भी मेधातिथि ने इसीका समर्थन किया है। वे कहते हैं कि 'व्यक्ति के ज्ञान से जाति का ज्ञान होता है, स्वावयवसंस्थान-विशेषरूप व्यक्तियों का भेद विदित होता है। प्रकृत में गो, अश्व आदि के समान ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का भेद विदित

नहीं होता। जैसे अतः घटत्व घटादि में समवेत होने से घटत्वादि जाति विदित होती है, वैसे ही ब्राह्मणत्वादि जाति विदित नहीं हो पाती। जैसे विलीन घृत और तेल में गन्धक-रसादि के भेद से भेद विदित होता है, वैसे ही ब्राह्मणादि का भेद विदित नहीं होता। शौच, आचार पिङ्गल केश आदि धर्मों से भी ब्राह्मणादि का भेद विदित नहीं होता; क्योंकि उक्त धर्मों का अन्यत्र भी सांकर्य दृष्ट हुआ करता है। व्यवहार के आधार पर भी ब्राह्मणादि का निर्णय नहीं होता; क्योंकि व्यवहार पुरुषाधीन होने से अव्यवस्थित होता है। पुरुषों में विप्रलम्भ अधिक होता है। इसलिए ब्राह्मणादि जातियों का लक्षण बतलाना आवश्यक है।

सभी वर्णों में समान जाति में उत्पन्न तथा विवाहिता पत्नी में उत्पन्न होनेवाले ही उस उस जाति के माने जाते हैं। प्रायः माता-पिता की जो जाति होती है, विवाहिता पत्नी में उत्पन्न सन्तान उसी जाति की होती है। 'पत्नी' शब्द सम्बन्धी शब्द है, अतः उसका वोढा, विवाह करनेवाला ही पिता होता है। जिसने जिससे विवाह किया, उसमें उत्पन्न सन्तान भी उसीकी होती है।

यहाँ विराट् पुरुष के मुख, बाहु आदि से ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति हुई है, उस परम्परा में ब्राह्मण की विवाहिता एवं अक्षतयोनि ब्राह्मणी से उत्पन्न होनेवाला ब्राह्मण है।' यहीं उन्होंने याज्ञवल्क्य का भी उद्धरण दिया है।

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धनाः ॥ (याज्ञ० स्मृ० १.९०)

अगले वचनों में मनु ने संकर-जातियों की उत्पत्ति बतलायी है। उन श्लोकों पर भी मेधातिथि की टीका है ही। अतः उन वचनों को मूल मनुवचन ही मानना चाहिए।

आगे यह भी कहा है कि स्वजाति की कन्याओं से या अनन्तर-जन्य अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिय-वैश्यकन्याओं एवं क्षत्रिय से वैश्य-कन्या में उत्पन्न अनुलोम संकर द्विजाति-धर्मवाले होंगे, अन्य संकर शूद्रधर्मा ही होंगे (१.४१)। इतना ही ही नहीं,

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
.....................सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥

की भूमिका में मेधातिथि ने स्पष्ट लिखा है :

ये चैते दिगन्तवासिनः किरात-वेन-दरदादयस्तेषामप्राप्तरूपं वेदेनानूद्यते, 'न जनमियात् नान्तमियात्' (बृह० १ ३. १०)। अर्थात् किरात, वेन, दरद आदि जो दिगन्तवासी हैं, उनके अप्राप्तरूप का ही वेद अनुवाद करता है : 'न जनमियात्, नान्तमियात्।' एतावता उनकी दृष्टि से भी भारत से बहिर्भूत देश ही

दिगन्त हैं। यत्रासां दिशामन्तः के अनुसार वही देश दिशाओं के अन्त, अतएव दिगन्त है। 'न जनमियात्' आदि निषेधों में उन्हींका संसर्ग निषिद्ध है। 'मुखबाहूरूपज्जानाम्' (१०. ४५) के अनुसार मेधातिथि ने भी 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों को विराट् के मुख, बाहु, ऊरु एवं पाद से उत्पन्न माना है। उनसे भिन्न जातिवालों को दस्यु' कहा है।

मेधातिथि भी चाण्डाल, श्वपच आदि के लिए ग्राम से बाहर रहना और उनके लिए सौवर्ण, राजत से अन्य पात्र रखने का विधान मानते हैं। (१०.५१)।

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रियैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥ (कौ० १०.६१)

के अनुसार मनु ने कहा है कि जहाँ वर्णदूषक वर्णसंकर पैदा होते हैं; वहाँ राष्ट्रवासी जनों के साथ वह राष्ट्र भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। मेधातिथि भी कहते हैं :

तस्माद् वर्णसङ्करो राज्ञा वर्जनीयः।

अतएव राजा का यह कर्तव्य है कि वह वर्णसांकर्य न होने दे। कौटल्य भी कहते हैं : लोकः सङ्करादुच्छिद्यते। अर्थात् सांकर्य से लोक नष्ट हो जाता है।

सोचने की बात है कि जब चातुर्वर्ण्य में ही सांकर्य से राष्ट्र का नाश होता है, तब दस्युओं-म्लेच्छों को मिलाकर उनसे रोटी-बेटी एक करने के भीषण सांकर्य से कितना लोकक्षय हो सकता है! ऐसी स्थिति में यह कहना अशुद्ध ही है कि मेधातिथि ने यह व्यवस्था दी है कि मुस्लिम-मुगल, ईरानी, तुर्क आदि के साथ रोटी-बेटी एककर उनको मिला लेना चाहिए।'

५३वें श्लोक में यह भी स्पष्ट कहा है कि धर्मानुष्ठान के समय चाण्डालादि से दर्शन आदि व्यवहार ब्राह्मण करें। ऋण, दान, ग्रहण आदि व्यवहार और विवाह आदि भी उन लोगों को अपने समान जाति में ही करने चाहिए :

व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह। (मनु० १०.५२)

श्लोक १०.६७ में यह भी कहा है कि ब्राह्मण से शूद्र में उत्पन्न आर्य होता है, पर ब्राह्मण में शूद्र से उत्पन्न अनार्य ही होता है।

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ताः निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥ (मनु० १२.९५)

यहाँ भी मेधातिथि यही कहते हैं :

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यञ्चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ (१२.९४)

अर्थात् कहा गया है कि देव-पितर-मनुष्यों के लिए वेद ही चक्षु है। जैसे चक्षु से रूप का बोध होता है, वैसे ही वेद से ही धर्मादि का दर्शन होता है। वेद सनातन, अपौरुषेय है, वेद की अनन्त शाखाएँ हैं: अनन्तत्वाद् वेदशाखानाम् (मेधातिथि) एतावता धर्म, ब्रह्म में अपौरुषेय वेद ही प्रमाण है और पौरुषेय, वेदबाह्य चैत्यवन्दनादि-बोधक बौद्धादि-स्मृतियाँ अप्रमाण ही हैं। यहाँ मेधातिथि ने चैत्यवन्दनेन स्वर्गो भवति इत्यादि बौद्ध-जैनादि स्मृतियों को अप्रमाण ही कहा है। स्पर्शास्पर्शादि-बोधक स्मृतियों को अप्रमाण नहीं कहा है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "पुरुषों में अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शन की शक्ति नहीं है: पुरुषाणामतीन्द्रियदर्शनशक्त्यभावात्। अतः अमुक सर्वज्ञ है, उसके द्वारा यह ग्रन्थ निर्मित है, आदि कथन में कोई प्रमाण नहीं है।"

मनु के अनुसार (श्लोक १०.५३) जहाँ द्विजातियों का चाण्डाल, श्वपच आदि से व्यवहार भी निषिद्ध है और विवाह वर्जित है वहाँ सुतरां म्लेच्छादि से विवाहादि वर्जित ही समझना चाहिए। प्रतिलोम संकरों की जीविकाएँ भी मनु ने श्लोक १०.४८ से अनेक श्लोकों में पृथक् वर्णित हैं। उनको चैत्य-द्रुम, श्मशान, पर्वत, उपवनों आदि में निवास करना कहा गया है। मृतक-वस्त्र-परिधान, भिन्न भाण्डों में भोजन, कार्ष्णायस (लौहमय) अलंकार कहे गये हैं। उन्हें ग्रामादि में जाते समय राज-शासनों से चिह्नित होकर ही जाना चाहिए:

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः। (मनु० १०.५५)

इससे स्पष्ट है कि मनु और मेधातिथि को जाति-पाँति, आचार-विचार, विवाह आदि का भेद मान्य ही है। उक्त सभी श्लोकों पर मेधातिथि का भाष्य है।

लाक्षा, लवण, मांसादि के विक्रय से ब्राह्मण पतित हो जाता है, और क्षीर-विक्रय से ब्राह्मण तीन दिनों में शूद्र हो जाता है। (मनु० १०.९२)।

मनु ने यह भी कहा है:

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात् पूर्वकृतेन वा।
न संसर्गं व्रजेत् सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः॥

अर्थात् दैवजात प्रमाद से या अन्यशरीरकृत पाप से प्रायश्चित्ती होकर द्विज जबतक प्रायश्चित्त न कर ले, तबतक साधु-पुरुषों से याजन, अध्ययन, विवाह, भोजनादि संसर्ग न करें। मेधातिथि भी इसकी व्याख्या ऐसी ही करते हैं।

इतना ही क्यों,

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात् तत्संसर्गविशुद्धये॥ (मनु० ११.१८०)

इस श्लोक में कहा गया है कि जो पुरुष जिस पतित से संसर्ग करता है, उसके लिए भी वही प्रायश्चित्त है जो उस पतित का प्रायश्चित्त है। मेधातिथि भी कहते हैं: तस्मात् तत्समानं पतितत्वं भवति। अतः किञ्चिदूनं तत्समानं प्रायश्चित्तम्।

…संसृजेद् वर्षं सोऽपि तत्समतामियात्।
पादन्यूनं चरेत् सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः॥

इस व्यासवचन के अनुसार जो जिस पतित के साथ वर्षभर निवास करता है, वह उसके तुल्य ही हो जाता है। अतः तत्सम को भी पाद-न्यून वही व्रत करना चाहिए।

मुखबाहूरूपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्। (मनु० १.८७)

यहाँ मनु ने स्पष्ट ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को प्रजापति के मुख, बाहू तथा ऊरू एवं पाद से उत्पन्न होना माना है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

इस पुरुषसूक्त मन्त्र की ही व्याख्या उक्त श्लोक है। पादान्त में वर्णों के अनुसार ही उनके पृथक्-पृथक् कर्मों का भी विधान है।

श्लोक ९३ में मनु ने उत्तमाङ्ग मुख से उद्भूत होने और ब्रह्म-वेद को धारण करने के कारण ब्राह्मण का उत्कर्ष कहा है। श्लोक ११.१०३ में कहा गया है कि मनुस्मृति के प्रवचन, अध्ययन का अधिकार भी ब्राह्मण को ही है, अन्य को नहीं। श्लोक २.६ में मेधातिथि भी वेद को ही धर्म का मूल-प्रमाण कहते हैं। तदनन्तर वेदमूलक मन्वादि-स्मृति और तदनुसारी सदाचार, तदविरुद्ध आत्मतुष्टि को धर्म में प्रमाण माना है। श्लोक २.६ में कहा गया है कि मन्त्रों द्वारा जिसके निषेकादि-श्मशानान्त सब संस्कार समन्त्रक होते हैं, वही मनुस्मृति के अध्ययन का अधिकारी होता है। मनु के श्लोक २.२३ में मेधातिथि ने कहा है कि यदि साधु-आचार क्षत्रिय सभी म्लेच्छ-देशों को जीतकर वहाँ वर्णाश्रम की स्थापना कर म्लेच्छों को चाण्डाल व्यवस्थित कर दे तो वहाँ भी यज्ञ हो सकता है: यदि कश्चित् क्षत्रियो राजा साध्वाचरणो म्लेच्छान् पराजयेत, चातुर्वर्ण्यं च वासयेत्, म्लेच्छांश्चाप्यार्यावर्त इव चाण्डालान् व्यवस्थापयेत्, सोऽपि स्याद् यज्ञियो देशः। ज्ञातव्य है कि उन्होंने यहाँ यह कभी नहीं कहा कि म्लेच्छों को ब्राह्मणादि हिन्दू बना लिया जाय।

मनु ने श्लोक ३.१५ में कहा है कि मोहवशात् जो द्विजाति हीनजाति की स्त्री के साथ विवाह कर लेता है, वह अपने कुल को ही शूद्र बना देता है। मेधातिथि भी यहाँ यही कहते हैं कि "वह पुत्र-पौत्रादिसहित शूद्र हो जाता है।" तब क्या मेधातिथि म्लेच्छ-कन्याओं से विवाह की अनुमति दे सकते हैं?

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानाभिशूद्रताम् ॥ (२.१७)

यहाँ मनु कहते हैं कि शूद्रा को अपनी शय्या में लेने पर ब्राह्मण की ब्राह्मणता ही नष्ट हो जाती है। तब क्या मुगलानी के संसर्ग से ब्राह्मणता बनी रहेगी ? 'वृषली-फेनपान से तथा उसके निःश्वासोपहत होने पर पाप की निष्कृति ही नहीं है' ऐसा माननेवाले मेधातिथि मुगलानियों से विवाह की अनुमति कैसे दे सकते हैं ? आश्चर्य है कि श्री सावरकर ने अपनी पुस्तक में मेधातिथि के नाम पर अपनी बातों का समर्थन कैसे किया ! अतः निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मनु का मेधातिथि-भाष्य श्री सावरकर की धारणा के बिलकुल विपरीत है। कदाचित् कुल्लूकभट्ट आदि कई टीकाकारों द्वारा मेधातिथि का खण्डन सुनकर उन्हें वे सुधारक समझ बैठे हों।

अन्त में स्वर्गीय स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर की अपनी पितृभूमि पुण्यभूमि की रक्षा के लिए की गयी बलिदान-परम्परा का हृदय से समादर करते हुए भी कहना पड़ता है कि उनका यह ज्ञान आधुनिक पाश्चात्यशिक्षा की देन है। प्राचीन अनादि-वेदशास्त्रों के वास्तविक तात्पर्य का उन्हें ज्ञान नहीं था और उन्होंने श्रद्धा और गहराई से उसे प्राप्त करने का प्रयास भी नहीं किया। यदि वे ऐसा करते तो सोने में सुहागा का काम करता। और तब उन्हें इस तरह अपने वेद-शास्त्र, उनके अनुयायी, सच्चे ब्राह्मण्य एवं शास्त्र के अनुयायियों की तीक्ष्ण समालोचना करने का कभी प्रसंग ही न आता। उनकी राष्ट्रभक्ति की उत्तम भावनाओं में इस राष्ट्र की मौलिक धारणा की अनभिज्ञता की जो कमी रही, उसीकी पूर्ति-हेतु हमारा यह विनम्र प्रयास है।

ग्रन्थ के उपसंहार में हम परमपिता परमात्मा से यही विनम्र प्रार्थना करेंगे कि वह भारतसहित निखिल भूमण्डल के समस्त देशवासियोंको भारतीय वैदिक-संस्कृति की इन दिव्य पीयूष-धाराओंसे अभिसिञ्चित एवं आप्यायित करें :

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ।
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥